

ॐ ओ३म् ॐ

कृष्ण गोपाल ग्रन्थमालाका चतुर्थ रत्न



चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड

सम्पादक

श्री० स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज

संस्थापक

कृष्ण-गोपाल धर्मार्थ औषधालय

संशोधक और भूमिका लेखक

श्री० पण्डित श्रीगोवर्धनजी शर्मा छांगानी

प्राणाचार्य, मिषक्केसरी,

भूतपूर्व अध्यक्ष-निखिल भारतवर्षीय
आयुर्वेद महामण्डल ।

प्रथम संस्करण

२१००

{ सन् १९४२ ई० { मू० अजिल्द ५॥) रु०
{ मू० सजिल्द ६) रु०

प्रकाशकः—

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय पो० कालेड़ा-बोगला (जिला अजमेर)

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः ।

अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥

॥ सु० स० सू० स्था० अ० ३५-१६ ॥

हिताहितीये यच्चोक्त नित्यमेव समाचरेत् ।

ततः प्राप्स्यति सिद्धिं च यशश्च विपुलं भिषक् ॥

॥ सु० सं० उ० अ० ६०-१२ ॥

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।

जितहस्ता जितात्मनस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥

॥ च० स० सू० स्था० अ० २६-१२ ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥

॥ च० स० वि० स्था० अ० ४-१५ ॥

मुद्रक—

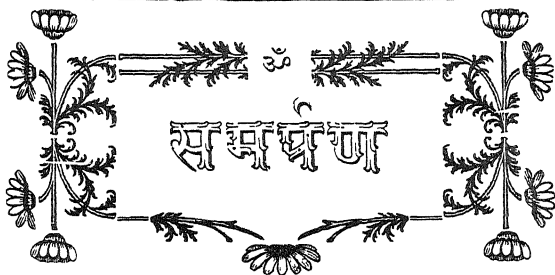
सत्यपाल शर्मा,

कान्ति प्रेस, आगरा ।

श्री डिग्गी पुराधीश्वर श्री महाप्रभु कल्याणराय



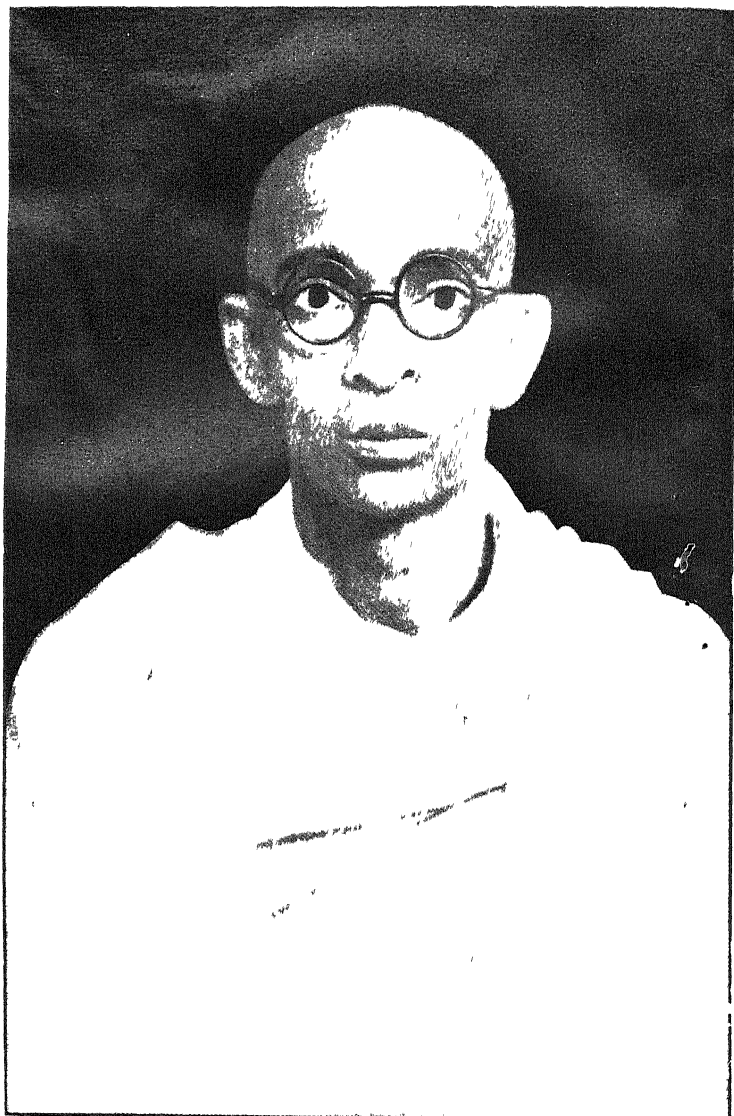
डिग्गी (जयपुर स्टेट)



नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्त्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटियुगधारिणे नमः ॥
अखिल संसार के आधार-स्वरूप
चराचर विश्व में विराजमान
सनातन-पुराण-पुरुष
श्री० महाप्रभु कल्याणराय
के अनंत करकमलों में
चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड के समान
यह द्वितीय खण्ड भी
सादर व सप्रेम
समर्पित ।

—लेखक

स्वामीजी महाराज श्री १८८ श्री कृष्णानन्दजी महाराज



सस्थापक—कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,
पो० कालेड़ा-बोगला, जिला अजमेर ।

ठाकुर नाथूसिंह वर्मा इस्तमरारदार



संचालक—कृष्णगोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,
पो० कालेड़ा-बोगला, जिला अजमेर ।

हरि ॐ

निवेदन

यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वं सर्वतश्च यः ।

यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

महाप्रभु कल्याणरायकी महती कृपासे चिकित्सातत्त्वप्रदीप का द्वितीय खण्ड, प्रातःस्मरणीय, परमपूज्य श्री स्वामी कृष्णानन्दजी महाराजसे तैयार कराकर आज पाठकोंकी सेवामें समर्पित करता हूँ ।

इस ग्रन्थमें आयुर्वेदिक निदान, चिकित्सा आदि विषय प्रथमखण्डके समान ही प्राचीन शास्त्रोंके आधार पर लिखे गये हैं; जिसमें पाश्चात्य निदान आदि कितने ही मराठी पुस्तकों, व्याधि विज्ञानादि हिन्दी पुस्तकों तथा अंग्रेजी ग्रंथों और कलकत्ताके स्वर्गस्थ सुप्रसिद्ध डाक्टर राधागोविन्द कर एल० आर० सी० पी० कृत ग्रन्थोंसे भी सहायता मिली है । इन सब ग्रन्थकार महानुभावोंके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

पारिभाषिक शब्दोंका निर्णय आयुर्वेद साहित्यमें जैसा चाहिये वैसा अभी तक नहीं हुआ । भिन्न-भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दोंकी रचना की है । इनमें से अधिक उपयुक्त परिभाषाओंको ही इस ग्रंथमें स्थान दिया गया है, और कुछ शब्द नये भी गढ़ लिए गए हैं ।

श्री० पं० श्रीगोवर्धनजी शर्मा छांगानी, प्राणाचार्य, भिषक-सरी, भूतपूर्व अध्यक्ष निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-महा मण्डलने इस ग्रंथका संशोधन निःस्वार्थभावसे कर दिया है,

साथ ही आपने भूमिका लिख देनेकी भी कृपा की है। अतः मैं आपका हार्दिक आभार मानता हूँ।

सामान्य ज्ञानवाले साधारण चिकित्सक जो अंग्रेजी नहीं पढ़ें, वे अंग्रेजी नाम आदिको तो न जान सकेंगे; परन्तु सरल भाषा में लिखे हुए अंग्रेजी निदान आदिसे उनको भी कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

यह ग्रंथ आयुर्वेदिक साहित्यकी वृद्धि करने, विद्यार्थिवर्ग और सामान्य बोधवाले वैद्योको सहायता पहुँचाने, और कृष्ण-गोपाल धर्मार्थ ओषधालय द्वारा गरीबोंकी सेवा करनेके निमित्त लिखा गया है। ऐसा करनेमें कितने अंशमें सफलता मिली है, इस बातका निर्णय विद्वान् चिकित्सक ही कर सकेंगे।

मुझे विश्वास है कि, युद्धजन्य इस दुष्कालके समय ग्रंथका आकार-प्रकार, कागज, छपाई, महंगाई आदिका विचार करके इस सचित्र पुस्तकका मूल्य अधिक नहीं बढ़ाया गया है।

डाक्टरी चिकित्सा देने न देनेके सम्बन्धमें मैं कोई विशेष निर्णय नहीं कर सका। अधिकांश चिकित्सकोंने डाक्टरी चिकित्साके विरोध में सम्मति दी है। किन्हीं-किन्हीं महानुभावों ने तो इसके विरुद्ध कठोर शब्दोंका भी प्रयोग किया है। “मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना” (Many men many opinions) इस कहावतके अनुसार पृथक्-पृथक् दृष्टिसे विविध विचार मिले। अतः मुझे क्या करना चाहिये, यह मैं महामहारथियों द्वारा जानना चाहता था। इस संबंध में, मैंने एक प्रार्थनापत्र आयुर्वेद-महासम्मेलनपत्रिकामें प्रकाशनार्थ भेजा; परन्तु स्थानाभाववश सम्पादक महोदय उसे प्रकाशित न कर सकें। अन्ततोगत्वा प्रथम खण्डकी तरह इस द्वितीय खण्डमें भी डाक्टरी चिकित्सा यावच्छक्य भली भाँति दे दी गई।

यह तो निर्विवाद बात है कि आयुर्वेदिक चिकित्सा सर्वोपरि,

चिकित्सा है। मरणासन्न रोगियोंको प्राणदान देनेमें आयुर्वेदीय रसोपरसादि सिद्धप्रयोग अन्य पद्धतियोंके औषधोंकी अपेक्षा अपना विशेष वैशिष्ट्य रखते हैं; किन्तु जहाँ-तहाँ उनकी उपलब्धि न होने पर यह भी जाना गया है कि, कई डाक्टरी प्रयोग भी वह कार्य कर सकते हैं, जो आयुर्वेदिक महौषधियोंसे होता है। कुछ फुटकर विषय ऐसे हैं कि, जिनका आयुर्वेदके प्राचीन ग्रन्थों में नामो निशान तक नहीं है। इनमेंसे कितनेक शीघ्र संहारक नूतन रोगोंमें एलोपैथिक ओषधियाँ आयुर्वेदिक ओषधियोंकी अपेक्षा आशु फलप्रदायिनी सिद्ध हुई हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि, आयुर्वेदोक्त ओषधियोंमें गुण या प्रभाव कम है। नहीं, दोनों बातें पूर्ण रूपसे विद्यमान होते हुए भी उनमें शीघ्र चमत्कार दिखानेकी शक्ति उतनी नहीं है, जितनी एलोपैथिक इन्जेक्शन आदिमें है। एवं डाक्टरी निदानपद्धति भी शरीरके प्रत्येक अवयव का प्रत्यक्षीकरण करनेके बाद स्थिर की गई है। भगन्दरादिके लिए उनकी शस्त्रक्रिया भी बहुत ही प्रशंसनीय सिद्ध हुई है।

आयुर्वेद एवं एलोपैथी, इन दोनोंका ध्येय रोगीको नीरोग करना है, अतः सोचा गया है कि इस ग्रन्थमें दिये हुए डाक्टरी निदान आदिसे वैद्य बहुत कुछ परिचित हो जावें; और सहज-साध्य देशी चिकित्सापद्धतिसे डाक्टर बन्धुभी। ऐसा होनेपर सोनेमें सुगन्धिवाली कहावत चरितार्थ हो जाय। बस, इसी धारणाको लेकर इस चिकित्सातत्त्वप्रदीपमें उक्त दोनों पद्धतियों का गङ्गा-यमुनाके संगमकी तरह समावेश किया गया है। इस लिये नहीं कि, अमुक पद्धति हेय है और अमुक उपादेय।

कितने ही अनुभूत प्रयोग भारतीय प्रसिद्ध प्रयोगशालाओं और फार्मसियोंके पास हैं। उनकी मान्यतानुसार वे भारतकी सेवा कर रहे हैं; परन्तु जब तक वे प्रयोग आयुर्वेद-चिकित्सकोंकी जानकारीके लिए प्रकाशित कर समर्पित न किये जावें, तब तक

वे प्रयोग आयुर्वेदिक होने पर भी आयुर्वेदके प्रचारमें सहायक नहीं हो सकते ।

कितनेक रोगोंके सफल प्रयोग कितनेक आयुर्वेदिक महा-सहारथियों और वंशपरम्परागत कार्य करनेवालोंके पास है भी, तथापि वे आयुर्वेदिक सब चिकित्सकोंके लिये उपयोगी नहीं है । ऐसे अनेक अमोघ प्रयोगोंको प्राप्त कर, परमात्माकी दया हुई तो शीघ्र ही आप सबकी सेवामें भेंट करूँगा ।

प्रथम खण्डमें डाक्टरी निदान सक्षिप्त रूपसे दिया गया है; परन्तु इस द्वितीय खण्डमें अनेक चिकित्सकोंकी सम्मतिसे विस्तार-पूर्वक दिया है । पहले संक्षेपमें लिखे हुए निदानको रद्द कर फिर दूसरी बार लिखा है । एवं आर्थिक अनुकूलता मिलनेमें देर होने से भी ग्रन्थप्रकाशनमें एक वर्ष निकल गया है । इस सम्बन्धमें पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ ।

यह भी स्पष्ट है कि, समस्त संसार या समाजके संरक्षणार्थ कोई भी एक नियम या मार्ग समान रूपसे समाधानकारक नहीं हो सकता । एक पद्धतिमें एक प्रकारसे बाधा आती है; तो दूसरीमें दूसरे प्रकारसे । अपवादरहित सार्वभौम विधान कोई भी नहीं बन सकता ।

भूगोलका अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि, विद्वानोंने भिन्न-भिन्न विचार लेकर देशान्तररेखाओं के जाल (Projection) भेदसे लगभग ३० प्रकारके भौगोलिक चित्र बनाये हैं । परन्तु इन सबमें दूसरी दृष्टिसे विचार करने पर कुछ न कुछ दोष अवश्य ही दृष्टगोचर होते हैं ।

इस तरह धर्मविद्यान पर दृष्टि डालनेसे भी विदित होता है; कि 'अहिंसा परमो धर्मः' अर्थात् अहिंसाका पालन करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है, वेदानुयायी और जैन मतावलम्बी आदि सब इस बातको स्वीकार करते हैं । परन्तु इस सिद्धान्तको भी अपवादरहित नहीं

कह सकते । राजपुरुषोंके लिए युद्ध, पागल कुत्ते आदि जीवोंसे मनुष्यका संरक्षण, डाकुओंसे असहायोंका बचाव और अपराधियोंको उचित दण्ड आदि कर्तव्योंके पालन करनेमें हिंसा होती ही है । माता पिता बालकोंको ताड़ना करते हैं, यह भी हिंसा है । किसान खेती करता है, उसमें भी हिंसा होती है अतः यह सर्वसम्मत नियम भी सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा निरपवाद नहीं हो सकता ।

भीष्म पितामहने महाभारतके शान्तिपर्वमें धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए ठीक ही कहा है कि—

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते ।

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः ॥

अभिप्राय यह है कि इस ग्रन्थको भी विवेकक दृष्टिसे देखने पर उसमें दोष दिखाई देना अस्वाभाविक नहीं है ।

प्राचीन आचार्योंने, आयुर्वेदको समझने-समझाने और व्यवहारमें लानेके लिए अधिक सुविधाजनक मार्गका अनुसरण किया है । आयुर्वेदकी परीक्षा और चिकित्सा, शहरोंके समान ग्रामोंमें और जंगलोंमें भी हो सके; अमीर और गरीब रोगी समान रूप से लाभ उठा सकें ; इसी बातको लक्ष्यमें रखकर इस ग्रन्थमें रोगसंज्ञा, परीक्षापद्धति और चिकित्साशैलीको सरल योजना की गई है । परन्तु ऐतौपैथीमें यह ध्यान नहीं रखा गया । वह निर्धन, ग्राम-वासियों और जंगलमें रहनेवालोंके लिए नितान्त निष्फल है । एक अच्छा अनुभवी डाक्टर भी बिना साधनके डाक्टरी दृष्टिसे रोगपरीक्षा नहीं कर सकता क्योंकि परीक्षाके जो साधन हैं; वे अति मूल्यवान् हैं, सब जगह नहीं मिल सकते । साथ ही इन साधनोंका उपयोग सामान्य बुद्धिवाले कर भी नहीं सकते । एवं इन महा मूल्यवान् साधनोंका उपयोग

करने पर भी संशय का पूर्णरूपसे निवारण नहीं होता। रोगके कारण का ठीक-ठीक बोध नहीं हो पाता। फिर भी केवल सार-ग्राही दृष्टिसे ऐलोपैथी की आवश्यक बातोंका ज्ञान वैद्योंके लिये हितकारी हो सकता है। इसी विचारसे इस ग्रन्थमें ऐलोपैथिक निदान आदिको भी स्थान दिया गया है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनार्थ जो रकम पहले मिली थी, उसकी सूची रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहके तृतीय संस्करणमें दे दी है। इसके पश्चात् निम्नानुसार रकम उधार मिली है:—

५००) श्री पं० राधाकृष्णजी द्विवेदी प्रिंसिपल-निजाम आयु-वैदिक कॉलेज—हैदराबाद (दक्षिण) ।

३००) श्री० शास्त्री रामप्रतापजी रिटायर्ड प्रोफेसर-ब्यावर ।

२००) श्री० जे० के० सोनेजी एन्ड कंपनी अजमेर ।

१००) श्री० पं० श्रीगोवर्धनजी शर्मा छांगाणी-नागपुर ।

१००) श्री० ठाकुर रघुराजसिंहजी—बोसला (जि० अजमेर)

१००) श्री महाराजा साहब गोपालसिंहजी, अमलेटा-रतलाम ।

१०१) श्री० देवकीप्रसादजी वंशीधरजी मितल-नसीराबाद ।

५०) श्री० गणेशदासजी धूलचंद्र जी—सौसर (छिदवाड़ा) ।

१३५१)

आप सब सहायकोको धन्यवाद देता हूँ। अभी और ८००) रु० उधार लेने की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि, इस सम्बन्धमें महाप्रभु कल्याणराय ही सब कुछ करेंगे।

कल्याण चिकित्सामन्दिर फण्डमें ता० २२-६-४१ तक मिले हुए रु० ११६८) की यादी वैज्ञानिक विचारणामें दी है। तथा फिर ता० ७-४-४२ तक मिली हुई रकम १८५८(=) + ५५७) = २४१५(=) की सूची रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहके तृतीय संस्करणमें दे दी है। इसके पश्चात् निम्नानुसार रकम मिली हैं।

- २००) श्री० सेठ छगनलालजी कालीदासजी, बम्बई नं० ३
 १००) श्री सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला-कलकत्ता ।
 ५१) श्री० सेठ आनंदीलालजी रामदेवजी पोद्दार, नवलगढ़
 ५१) श्री० सेठ रामरखदासजी परसरामजी, नवलगढ़
 ५१) श्री० सेठ गोवर्धनदासजी गोविंदरामजी सेखसरिया,
 ५१) श्री० सेठ सूरजमलजी शिववहारायजी जयपुरिया ।
 ५१) श्री० सेठ रामसहायमल्लजी मोर, नवलगढ़ ।
 ५१) श्री० सेठ सीतारामजी रामनाथजी केडिया—फतेहपुर ।
 ११) श्री० सेठ रामधनदासजी मुरलीधरजी पोद्दार „
 ११) सौभाग्यवती बाई उच्छबकुंवर-कालेड़ा-बोगला ।
 १०) श्री० जे० के० सोनेजी एण्ड कंपनी अजमेर ।
 १०) सौ० बहन ब्रह्मादेवी, देहली ।
 ५) सौ० माताजी विष्णुदेवी, देहली ।
 ४) बिलोंमें धर्मादा लगाया जाता है उसके लिए कुछ दिनों
 से एक नियम बनाया गया है कि ५) से अधिक की
 ओषधि खरीदने वालोंके बिजमें एक आना कल्याण
 चिकित्सा मन्दिर फण्डके लिये बढ़ा दिया जाय ।
 ताकि, गरीबों की सेवार्थ सहायता मिलती रहे ।

६५७)

कल्याण चिकित्सामंदिर-फण्डमें सहायता देनेवालोंका
 मैं पुनः आभार मानता हूँ और इस धर्मार्थ ओषधालयकी सेवाको
 सफल सेवा समझनेवालोंसे रुग्णालय (रोगिनिवासमन्दिर—
 Hospital) बनवानेमें सहायता देनेके लिये प्रार्थना करता हूँ ।

श्री० पं० राधाकृष्णजी द्विवेदी भिषगाचार्य, प्रिंसिपल-निजाम
 आयुर्वेदिक कॉलेज-हैदराबाद दक्षिणने निःस्वार्थभावसे आयुर्वेद

साहित्यकी सेवा समझ कर ग्रन्थके प्रचारार्थ अनेक प्रकारसे सहायता की है; और अधिक सहायता करनेका आश्वासन दिया है, एवं ग्रन्थके प्रकाशनार्थ ५००) रु० उधार भी दिये है। अतः मैं आपका अन्तःकरणसे आभार मानता हूँ।

चार रोगोके सम्बन्धमें ग्रन्थ छपानेके समय लेख नहीं मिले, औषधालयके कर्मचारियोंके प्रमादवश वे गुम हो गये, जिससे तुरन्त नये लिखने पड़े। एवं श्वासरोग की दुबारा कॉपियां तैयार करनेके समय कुछ प्रारम्भिक पृष्ठ नहीं मिले। इस हेतुसे दाह, वमन, अम्लपित्त और यकृतपक्रान्ति तथा श्वास रोगके प्रारम्भिक लेखमें कुछ न्यूनता रह जाना सम्भव है। इनके अतिरिक्त भूल, प्रमाद और अज्ञानवश ग्रन्थमें अनेक त्रुटियां हुई होगी, जो क्षान्तव्य है। पाठकोसे मेरी प्रार्थना है कि, उन्हे इस पुस्तकमें जो दोष दिखाई दें, उनकी सूचना निःसंकोचभावसे देने की कृपा करें। उनका परिमार्जन दूसरे संस्करणमें किया जायगा।

कितने ही रोगोका विवेचन अभी शेष रह गया है, वह तृतीय खण्डमें दिया जायगा। तृतीय खण्ड महासमरकी समाप्ति पर ही छपाया जा सकेगा।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें दिये हुए प्रयोगोके अतिरिक्त कितनेक अनुभूत प्रयोग शेष रहे हैं, तथा कितने ही प्रयोग परिचित चिकित्सकोसे मिले हैं, जो चिरकालके परीक्षित हैं, उन सबको ग्रन्थरूपसे अगले अगस्त से नवम्बर तक तैयार कर 'अनुभूत प्रयोग संग्रह' नामक ग्रन्थद्वारा जनताजनार्दनकी सेवा में समर्पित करनेका विचार है। यथासम्भव ग्रन्थ अगले एप्रिल मासमें छपवाया जायगा।

पो० कालेड़ा-बोगला

(जिला अजमेर)

सा० १५।७।४२

जनता जनार्दन का कृपाकांक्षी

नाथूसिंह वर्मा

॥ श्रीधन्वन्तरये नमः ॥



“अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

इस पद्यमें यह स्पष्ट निर्देश भल्लक रहा है कि उदारचरित सज्जन विद्वानोंके विचार कैसे रहते हैं। उदारचरित भूमण्डलवर्ती समस्त गुणीजनोंको अपना कुटुम्ब समझने हुए, यह कदापि नहीं सोचते कि गुणगणके आगार केवल हम ही हैं। उनकी यह नीति रहती है कि “अमेध्यादपि काञ्चनं ग्राह्यम्” सुवर्ण यदि मैलेमें भी पड़ा हुआ हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।

हमारा आयुर्वेद सर्वोपरि है। यह ठीक है किन्तु यह बात भी तो भुलाई नहीं जा सकती कि किसी जमानेमें यूनानके तथा वर्तमानमें इंग्लिस्तान आदिके प्राणाचार्योंने भी शारीरिक चिकित्सा आदिके विषयमें कम उन्नति नहीं की है। यदि सच कहा जाय तो वे कई वैज्ञानिक विषयोंमें हमसे बहुत आगे बढ़ गए हैं। चिकित्सामें सहायता पहुँचानेवाले कई ऐसे यन्त्रों, तन्त्रों एवं प्रयोगोंका उन्होंने आविष्कार किया है कि जिन्हें देख कर हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। यदि इन सबका साकल्येन वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी महाभारत-सा पोथा बन सकता है। अस्तु,

उपर्युक्त कथनानुसार यह किसीसे छिपा नहीं है कि आयुर्वेदकी तरह अन्य पेशियोंने भी बड़ी उन्नति की है। केवल

आयुर्वेदका वर्णन करनेवाले बहुतसे ग्रन्थ हैं, और बनते जाते हैं, परन्तु ऐसे ग्रन्थोंकी भी बड़ी आवश्यकता वर्तमान समयमें लोग अनुभव करते थे कि आयुर्वेदीय चिकित्साके साथ साथ तुलनात्मक दृष्ट्या ग्रन्थ बनें, जिनमें एलोपैथीका भी वर्णन साथमें रहे। ऐसा होनेसे वैद्य एवं डॉक्टर दोनों परस्पर लाभ उठा सकते हैं और पारस्परिक प्रेम भी बढ़ सकता है। इसी उद्देश्यको सामने रखकर चिकित्सातत्त्वप्रदीप ग्रन्थ लिखा गया है। लेखक को इसके लिखनेमें बड़ी सफलता मिली है। अनुमान है कि यह ग्रन्थ तीन खण्डोंमें जाकर पूरा होगा। इसका प्रथम खण्ड सन् १९४०में प्रकाशित हो चुका है। इसमें पाँच प्रकरण पूरे अर्थात् उपोद्घात प्रकरण, रोगपरीक्षा प्रकरण, शरीरशुद्धि प्रकरण, चिकित्सासहायक प्रकरण और ज्वर प्रकरण, पूरे आए हैं और छठे पंचनेन्द्रिय संस्था व्याधिप्रकरणका कुछ भाग आया है। ये प्रकरण बड़ी छानबीनके साथ लिखे गए हैं।

पहले उपोद्घात प्रकरणमें निदानपचक, चिकित्सापद्धति, लघन-वृंहण चिकित्सा, आम-निराम वातादि दोष-धातु, इनके क्षय-वृद्धि लक्षण, देशकाल, प्रकृति आदिके विषयमें गम्भीर गवेषणापूर्वक विचार किया गया है।

दूसरे रोगपरीक्षा प्रकरणमें तो लेखकने कमाल कर दिया है। नाड़ीकी परीक्षा अर्थात् नाड़ीकी गति-यति-संहति-आकृति-रक्तबल-रक्तभार आदि विषयोंमें अच्छा विवेचन किया है। नाड़ीपरीक्षा यन्त्र, तापमान यन्त्र, श्रवणपरीक्षा (वायुकोषीय-नाद-नालीयनाद-शब्दनाद-आगन्तुकनाद-हार्दिक नाद आदि आदि) छेपनपरीक्षा, मूत्र-मल-जिह्वा-शब्द-स्पर्श परीक्षा, मुख नेत्र-दर्शन और प्रश्नपरीक्षा बड़े विस्तारसे आयुर्वेद एवं एलोपैथीके मतसे

लिखी है। इसके अनन्तर स्वप्नपरीक्षा, अनुमान परीक्षा, कालज्ञान तथा साध्यासाध्यका भी वर्णन कर दिया गया है।

तोसरे शरीर शुद्धि प्रकरणमें स्नेहन, वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य, धूम्रपान, गण्डूष, कवल, प्रतिसारण, कर्णतर्पण, नेत्र-शोधन, शिराव्यध, दम्भविधि, स्नोटविधि, तैलाभ्यङ्ग, व्यायाम, मुखलेप, शिरोवस्ति तथा स्नानविधिका वर्णन किया है।

चतुर्थ चिकित्सासहायक प्रकरणमें अनुपान, ओषधिसेवन-काल, पथ्यापथ्य, हिताहित, षड्रसगुणदोष, दोषशामक द्रव्य, बालकोंकी औषधमात्रा, संक्रामक रोगोंके चय, प्रकोप एवं प्रशमके कालका वर्णन है।

पांचवें ज्वरप्रकरणमें देशी और विदेशी इन दोनों पद्धतियोंके अनुसार समस्त ज्वरों के विषयमें विस्तारसे लिखा है।

छठा पचनेन्द्रिय संस्थाव्याधि प्रकरण है, जो कि बहुत बड़ा होनेसे प्रथम खण्डमें समाप्त नहीं हुआ है। केवल अतिसार, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, ग्रहणी, आन्त्रिक क्षय, कोष्ठबद्धता, अर्श, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विलम्बिका और कृमि-रोगके निदान तथा चिकित्साविषयमें यावच्छक्य भली भांति वर्णन किया गया है।

चिकित्सातत्त्वप्रदीपका यह द्वितीय खण्ड आपके सामने है। इसमें प्रथम खण्डका शेष रहा हुआ पचनेन्द्रिय संस्था व्याधि प्रकरण पूरा किया गया है। इसमें अरोचक, छर्दि, तृष्णा, दाह, शूल, नागविषजशूल, पित्ताशमरी, अम्लपित्त, गुल्म, उदर, अन्त्र-पुच्छदाह, उदावर्त, कामला, यकृतप्रदाह, यकृतपक्रान्ति, पित्ताशयप्रदाह, हिक्का, अग्न्याशयविकार और उदर्याकलाप्रदाह, इन रोगोंकी निदान-चिकित्सा सांगोपाङ्ग दी गई है। इसके अनन्तर

रक्तारचनाविकृति, रवसनसंस्था आदिके अनेक रोगोंका वर्णन किया है।

इस खण्डकी पृष्ठ संख्या प्रथम खण्डसे अधिक है। और इस खण्डमें भी अनेक चित्र आर्ट पेपर पर तथा लेख के साथ दिए गए हैं। ग्रन्थको उपादेय बनानेका भरसक प्रयत्न किया गया है।

लेखकके कथनानुसार शेष रोगोंका विषय तृतीय खण्डमें सांगोपाङ्ग लिखकर इस ग्रन्थको समाप्त किया जायगा। लेखकके इस अदम्य उत्साह तथा अथक परिश्रमको देखते हुए मैं आयुर्वेद-संसारकी ओरसे उसे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और वैद्य-विद्याविलासियोंसे विशेष विनम्र विनय करता हूँ कि वे ग्रन्थको अपनाकर जनता—जनार्दनकी सेवाके ही अर्थ चलनेवाले कृष्णगोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालयकी सहायता करें। परम पिता परमात्मा लेखकको उत्तरोत्तर अधिक बुद्धि और बल दे, ताकि वह ऐसे अन्य ग्रन्थोंकी रचना कर वैद्य संसारकी सेवामें भेट कर सके।

सीतावर्डी नागपुर, }
१५ जून १९४२ ई०

श्रीगोवर्धन शर्मा छांगारणी ।

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१—पचनेन्द्रिय संस्था व्याधि प्रकरण	१
२—सार्वाङ्गिक व्याधि-शोथ रोग	५०६
३—रक्त रचना विकृति प्रकरण	५५६
४—श्वसन संस्था व्याधि प्रकरण	६८३

पचनेन्द्रिय संस्था व्याधि प्रकरण ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ अरुचि—एनोरेक्सिया	६	पथ्यापथ्य	७७
चिकित्सोपयोगी सूचना	१४	५ शूल रोग—कॉलिक	७९
चिकित्सा	१६	परिणाम शूल	७८
पथ्यापथ्य	२१	अन्नद्रव शूल	८०
२ छर्दि—वॉमिटिंग	२२	डाक्टरी निदान	८१
डाक्टरी निदान	२५	आमाशयशूल-गेस्ट्राल्जिया	८१
चिकित्सोपयोगी सूचना	३१	आन्त्रि शूल-एण्टेराल्जिया	८७
चिकित्सा	३५	आन्त्रिक व्रण—ड्युओडि-	
पथ्यापथ्य	४५	नल अलसर	६६
३ तृषा—थर्स्ट	४६	आमाशयिक व्रण—गेस्ट्रिक	
चिकित्सोपयोगी सूचना	५०	अलसर	६८
चिकित्सा	५३	चिकित्सोपयोगी सूचना	१०८
पथ्यापथ्य	६१	चिकित्सा	११४
४ दाह्रोग-बर्निंग सेन्सेशन	६२	पथ्यापथ्य	१३५
डाक्टरी निदान	६५	६ नागविपज शूल—लेड-	
चिकित्सोपयोगी सूचना	६६	कॉलिक	१३८
चिकित्सा	६८	७ पित्ताशमरी—गोल्स्टोन	१४३

विषय	पृष्ठ
८ अम्लपित्त—हाइपर-	
एसिडिटी	१५४
डाक्टरी विवेचन	१५६
चिकित्सोपयोगी सूचना	१६१
चिकित्सा	१६४
पथ्यापथ्य	१६८
९ गुल्म—एन्डोमिनल	
ट्यूमर्स	१७०
रक्तगुल्म निदान	१७६
डाक्टरी निदान	१८८
आमाशयिक कर्कसफोट—	
केन्सर आफ धी स्टमक	१८८
आन्त्रिक कर्कसफोट—	
इण्टेस्टाइनल केन्सर	१९६
कुमिज रसाबुर्द—हाइ-	
डेटिड ट्यूमर	१९६
गर्भाशयस्थ गुल्म—यूटे-	
राइन फाईब्रस ट्यूमर्स	२०३
बीजकोषस्थ अर्बुद—	
ओवेरियन ट्यूमर्स	२०५
बीजकोषस्थ जलोदर—	
ओवेरियन डोप्सि	२०६
चिकित्सोपयोगी सूचना	२११
चिकित्सा	२१८
रक्तगुल्म चिकित्सा	२२७
पथ्यापथ्य विचार	२३१

विषय	पृष्ठ
१० उदर रोग	२३३
डाक्टरी निदान	२४७
यकृद्वाल्ग्युदर—सिरोसिस	
ऑफ धी लिवर	२४८
विशीर्णनायुक्त यकृद्वा-	
ल्युदर	२४८
विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्ग्युदर	२५६
बालपैत्तिक यकृद्वाल्ग्युदर	२५६
यकृत् मे रक्ताधिक्य—कान्जे-	
शन ऑफ धी लिवर	२६२
प्लीहावृद्धि—स्प्लैनिक	
एन्लाजमेण्ट	२६५
प्लीहोदर—स्प्लैनिक	
एनिमिया	२७०
जलोदर—एन्डोमिनल	
ड्राप्सि	२७३
बद्ध गुदोदर—इम्पेक्शन	
ऑफ फोरिन बोडिस	२८१
क्षतोदर—अल्सरेटिव	
एण्टराइटिस	२८४
उण्डु रुप्रदाह—टाइफला-	
इटिस	२८६
चिकित्सोपयोगी सूचना	२८७
चिकित्सा	३०७
पथ्यापथ्य	३२२
११ अन्त्रपुच्छप्रदाह—	

विषय	पृष्ठ
एपेण्डि-साइटिस	३५
चिकित्सा	३४३
१२ उदावर्त	३४६
मलनिरोधज उदावर्त—	
इएटेस्टाइनल—	
ऑब्स्ट्रक्शन	३५०
अन्त्रान्त्रप्रवेश—इएटसस-	
सेप्शन	३५२
अन्त्रावरोध निर्णायक	
कोष्ठक	३५७
चिकित्सोपयोगी सूचना	३६४
चिकित्सा	३६८
पथ्यापथ्य	३७३
१३ कामला—जॉण्डिस	३७४
डाक्टरी निदान	३८२
पित्त प्रणालीय प्रदाहज	
कामला-कैटार्हल जॉण्डिस	३८६
रक्तवेनाशज कामला—	
हिमोलिटिक जॉण्डिस	३९१
बालकामला—इक्टेरस-	
नियोनेटोरम्	३९१
प्लीहावृद्धि युक्त कामला—	
अकोल्युरिक जॉण्डिस	३९३
यकृच्छोषज कामला—	
एक्जुट यलो एट्रोफी ऑफ	
बी लिवर	३९४

विषय	पृष्ठ
संक्रामक कामला—एक्जुट	
इन्फेक्शियस जॉण्डिस	३९६
कुम्भ कामला—क्रॉनिक	
इक्टेरस	३९७
चिकित्सोपयोगी सूचना	४०३
चिकित्सा	४०७
पथ्यापथ्य	४१७
१४ यकृतप्रदाह—हिपेटाइटिस	४२२
१५ यकृतपक्रान्ति—डिजिनरे-	
शन ऑफ धी लिवर	४३०
सिवथापक्रान्ति	४३०
मेदोभरण	४३५
पथ्यापथ्य	४३६
१६ पित्ताशय प्रदाह—कोलेसि-	
स्टाइटिस	४४०
१७ हिक्का—हिक्कप	४४४
डाक्टरी निदान	४५८
चिकित्सोपयोगी सूचना	४६३
चिकित्सा	४६६
पथ्यापथ्य	४७५
१८ अग्न्याशय विकार	
डिजीजिज ऑफ धी	
पेन्क्रियाज	४७७
१९ उदर्याकलाप्रदाह—पेरिटो-	
नाइटिज	४८३
आशुकारी प्रदाह	४८८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
चिरकारी प्रदाह	४६६	पथ्यापथ्य	१०८
चिकित्सा	५०४		

सार्वार्जिक व्याधि-शोथरोग ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ शोथ रोग—अनासर्गा	५०८	जनपद व्यापी शोथ—एपि-	
डॉक्टरी निदान	५२१	डेमिक ड्राग्सि	५३७
रक्तरस सग्रहज शोथ	५२१	चिकित्सोपयोगी सूचना	५४७
सार्वार्जिक घनशोथ—		चिकित्सा	५४४
मिक्सिडिमा	५३५	पथ्यापथ्य	५५६

रक्तरचनाविकृति प्रकरण ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
रक्त रचना	५६१	सिब परनिशियस-	
रक्त कण	५६२	एनीमिया	५६५
रक्तरजक	५६३	हलीमक—क्लोरोसिस	५६८
श्वेतकण	५६७	कृमिज पाण्डु (हलीमक)—	
शूद्धमचक्रिकाएँ	५७१	ट्रोपिकल क्लोरोसिस	६०१
रोगनिरोधक शक्ति	५७४	श्वेत जीवाणु वृद्धि मय-	
रक्तमें परिवर्तन	५७६	श्लैष्मिक पाण्डु—ल्युकी	
रक्त परीक्षामें विचार-		मिया	६०३
णीय बातें	५७६	मज्जा-प्लीहा-वृद्धिजन्य	
१ पाण्डु—एनिमिया	५८४	श्वेताणुवृद्धि—स्प्लीनो-	
डॉक्टरी निदान	५८०	मेड्यूलरो ल्युकीमिया	६०३
पाण्डु एनिमिया	५८०		
साक्षिपातिक पाण्डु—प्रोग्रे-		लसीकाग्रन्थि-वृद्धिजन्य	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
श्वेताणुवृद्धि-लिम्फैटिक		रक्तवमन-हिमेटेमेसिस	६४२
ल्युकीमिया	६०६	कुपकुसीय रक्तसाव-पल्म	
लसीकाग्रन्थिवृद्धि सह		नरी हिमोहेज	६४४
घातक पाण्डु-एनिमिया		नासा रक्तसाव-एपिस्टे-	
लिम्फेटिका	६०७	क्सिज़	६४७
लसीका घातु वृद्धिजन्य		कफरक्त रक्तपित्त-स्कर्वी	६४८
असाध्य पाण्डु-स्टेटस		त्रिदोषन रक्तपित्त—	
लिम्फेटिकम लिम्फेटिज़म	६१२	पप्युरा	६५१
चिकित्सोपयोगी सूचना	६१३	रक्तसावीय प्रकृति-हिमो-	
चिकित्सा	६१७	फीलिया	६५४
पथ्यापथ्य	६२६	चिकित्सोपयोगी सूचना	६५६
२ रक्तपित्त-हिमोहेजिक		चिकित्सा	६६१
डिज़ीज़िज़	६३१	पथ्यापथ्य	६७५
डाक्टरी विवेचन	६३८		

श्वसन संस्था व्याधि प्रकरण ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
वक्षःप्रदेशके विविध स्थान	६८७	वायुकोष प्रणालीय नाद	७१८
वक्षः परीक्षा	६६४	श्वासोच्छ्वास ताल	७२०
दर्शन परीक्षा	६६४	आगन्तुक ध्वनि	७२०
परिमाण परीक्षा	६६६	शब्द प्रतिध्वनि	७२८
स्पर्श परीक्षा	७०१	सहवर्ती भौतिक चिह्न	७२६
ठेपन परीक्षा	७०१	नासःरन्ध्रका वातावरोध	७०५
श्रवण परीक्षा	७०४	नासापथमें वातावरोध	७०६
वायुकोषीय नाद	७१५	असनिकामें वातावरोध	७०६
नालीय नाद	७१७	स्वरयन्त्रमें वातावरोध	७१०

विषय	पृष्ठ
बृहच्छ्वासनलिकामें वातावरोध	७१२
श्वासप्रणालिकामें वातावरोध	७१५
कास	७३०
स्वरयन्त्र विकारज कास	७३०
कुपकुस विकारज कास	७३२
कफ	७३६
श्वासोच्छ्वास	७३६
श्वासयन्त्रमे वेदना	७४१
श्वासकृच्छ्रता	७४२
श्वासग्रहणमे कष्ट	७४४
श्वास त्यागमें कष्ट	७४५
१ स्वरभेद—होर्सनस	७४५
डाक्टरी स्वरयन्त्र विवेचन	७५१
कण्ठस्वर विकृति	७५६
वेदना आदि विविध लक्षण	७५८
स्वरयन्त्र परीक्षा	७६१
आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह—	
एक्युट लेरिञ्जाइटिस	७६२
चिरकारी स्वरयन्त्रप्रदाह—	
क्रोनिक लेरिञ्जाइटिस	७६४
क्षयज स्वरयन्त्रप्रदाह—	
लेरिञ्जियल थ्युबरकुलो-	
सिस	७६५
उपदशज स्वरयन्त्रप्रदाह—	
लेरिञ्जियलसिफिलिस	७६५
स्वरयन्त्रविद्रधि—अल्सर-	

विषय	पृष्ठ
ऑफ धी लेरिक्स	७६६
स्वरयन्त्र द्वार शोथ—ईडिमा	
ऑफ धी ग्लोटिस	७६७
स्वरयन्त्रका साक्षेप सकोच—	
लेरिञ्जिसमस स्ट्रिड्यूलस	७६६
साक्षेप स्वरयन्त्रप्रदाह—	
सैज्मॉडिक लेरिञ्जाइटिस	७७१
आशुकारी फिल्लीमय स्वर-	
यन्त्र प्रदाह—ट्यू क्रुप	७७२
स्वरयन्त्र वध—पैरेलिसिज	
ऑफ धी लेरिक्स	७७८
चिकित्सोपयोगी सूचना	७७८
किचित्सा	७८४
पथ्यापथ्य	७८४
२ कास—कफ	७८३
डाक्टरी विवेचन	८०८
श्वासनलिका प्रदाह—	
ब्रोकाइटिसज	८०६
आशुकारी श्वासनलिका-	
प्रदाह	८१०
आशुकारी कैशिक श्वास-	
नलिका प्रदाह	८१४
चिरकारी श्वासनलिका-	
प्रदाह—क्रोनिक ब्रोकाइटि-	
ज	८१७
कृत्रिम कला निर्माणकारी	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
श्वासनलिकाप्रदाह—		४ वायुकोष प्रसारण—	
रूपस ब्रोंकाइटिज़	८२०	एम्फिसिमा	६१७
कुक्कुर कास-हुपिंग कफ	८२०	५ फुफ्फुसोंमें रक्ताधिक—	
श्वासनलिका प्रसारण—		काब्जेरान ऑफ धी	
ब्रोंकिएक्टेसिज़	८२५	लंग्ज	६२६
चिकित्सोपयोगी सूचना	८२६	६ फुफ्फुस संकोच—रल्मनरि	
चिकित्सा	८३७	कोलेस	६३०
गलशुण्डिका विकृतिजन्य		७ फुफ्फुस शोथ—इडिमा	
कास-चिकित्सा	८६२	ऑफ धी लंग्ज	६३२
प्रतिश्यायजन्य कास-		८ फुफ्फुस विधानान्तर्गत	
चिकित्सा	८६३	चिरकारी प्रदाह—क्रोनिक	
बालकों के कास रोगकी		इण्टरस्टिशियल न्युमोनिया	६३४
चिकित्सा	८६४	९ उरस्तोय—प्लुरिसि	६३७
काली खांसीकी चिकित्सा	८६५	आशुकारी फुफ्फुसावरण-	
डाक्टरी चिकित्सा	८६६	प्रदाह	६३६
पथ्यापथ्य	८७१	चिरकारी उरस्तोय	६४८
३ श्वास रोग—डिस्पनिया	८७४	रक्तपूयभृत उरस्तोय	६५०
डाक्टरी विवैचन	८८४	चिकित्सोपयोगी सूचना	६५३
तमक श्वास-ब्रोंकियल-		चिकित्सा	६६०
एज़मा	८८६	पूयभृत उरस्तोय-	
फुफ्फुस संन्यास-रल्म-		चिकित्सोपयोगी सूचना	६६४
नरी एपोप्लेक्सी	८९०	१० रसभृत फुफ्फुस वरण—	
चिकित्सोपयोगी सूचना	८९३	हाइड्रो थोरेक्स	६६६
तीव्र प्रकोपमें चिकित्सा	९००	११ वायुभृत फुफ्फुसावरण-	
सामान्यावस्थामें चिकित्सा	९०४	न्यूमो थोरेक्स	६६७
पथ्यापथ्य	९१४	वायुभृत फुफ्फुसावरण-	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
चिकित्सा	६७१	यल थाइसिज	१०१७
१२ राजयक्ष्मा-थाइसिज	६७२	चिरकारी राजयक्ष्माके	
आयुर्वेदिक निदान	६७६	लक्षण	१०१८
डाक्टरों विवेचन	६६३	सर्वाङ्गिक क्षय	१०२३
क्षय निदान	६६८	राजयक्ष्मा विनिर्णय	१०३०
आशुकारी पिटिका युक्त		क्षय कीटाणुओं की	
क्षय-एक्युट मिलियरी		अर्क-विधि	१०३३
पलमनरी ट्यूबरक्युलो-		अर्क द्वारा क्षय-यरीक्षा	१०३४
सिज	१००७	क्षयप्रसारके प्रतिबन्धक	
आशुकारी फुफुस-		उपाय	१०३६
खण्डीय प्रदाहज		क्षयकीटाणु-प्रतिबन्धक	
राजयक्ष्मा-एक्युट लोवर		उपाय	१०४०
न्युमोनिक थाइसिज	१००६	स्वास्थ्यगृह और	
आशुकारी फुफुस-		दिनचर्या	१०४१
प्रणालीय प्रदाहज क्षय—		सूर्य स्नान	१०४६
एक्युटकेटर्हल थाइसिज	१०१०	कृत्रिम वातचिकित्सा	१०४८
चिरकारी सौत्रिक तन्तु-		चिकित्सोपयोगी सूचना	१०४९
मय क्षय-क्रोनिकफाइ-		चिकित्सा	१०५०
ब्रोइड थाइसिज	१०११	लक्ष्य देने योग्य सूचना	१०६६
लसीका ग्रन्थि प्रदाहज-		मानसिक चिकित्सा	१०६७
राजयक्ष्मा-स्कोप्युलोस		डाक्टरों चिकित्सा	११०१
थाइसिज	१०१४	पथ्यापथ्य	११०७
क्षतकासज राजयक्ष्मा-		प्रसह आदि विविध पशु	
हेमोर्हेजिक थाइसिज	१०१७	पक्षी प्रकार	१११०
स्वरयन्त्रक्षय-लेरिजिज-			

आयुर्वेदिक प्रयोग-सूची ।

योग	पृष्ठ	योग	पृष्ठ
अभयादि वटी	२२५	कुलिञ्जनाद्य चूर्ण	७८८
अम्बुपित्तान्तक रस	१६५	कुलिञ्जनाद्यवलेह	७९०
अमृत लतादि घृत	६२७	कुलथीका यूष	६१५
अम्बुष्ठादिगण	६७८	कुष्माण्डावलेह	१६६
अमृतार्णव रस	८४०	गुड़ार्द्रक योग	५४५
अमृतादि काथ	६०५	गोमूत्रादि क्षार	६२५
अमृत प्राशावलेह	१०७५	गोरक्ष वटी	७८६
अर्कादि वटी	८४६	डामरेश्वराभ्र	६०७
अर्केश्वर रस	६७०	चन्दनादि काथ	५६
अश्वगन्धादि काथ	१०६६	चन्दनादि कषाय	७८८
अहिफेनादि चूर्ण	८४८	चव्यादि चूर्ण	७८८
इमलीका पानक	१८	चित्रकादि घृत	५४८
एरण्ड द्वादश काथ	१२४	छागलाद्य घृत	१०८०
एलादि चूर्ण	१७	जम्बूवादि चूर्ण	१०८५
कटफलादि काथ	८४१, ८५३	जीर्णकासान्तक वटी	८३८
कण्टकार्यादि घृत	८४१	जीवन्त्यादि घृत	१०८०
कफकुञ्जर रस	८४६	जीवन्त्यादि यवागू	५५७
कलहंस	२२	तरुणानन्द रस	८५८
कृष्णादि चूर्ण	१६, ५४४	त्र्यम्बकाभ्र	७८६
कारव्यादि गुटिका	२०	तालीसाद्य चूर्ण	१०८१
कांजिक तैल	७०	तालीसादि मोदक	८५४
कासमर्दन घृत	७८५	त्रायमाणादि घृत	२२२
कासान्तक वटी	८३८	त्रिवृतादि मोदक	६६१
कुलिञ्जनाद्य गुटिका	७८८	तेजोवत्यादि घृत	४७३

योग	पृष्ठ	योग	पृष्ठ
त्रैलोक्योडुम्बर रस	३१७	पलाश घृत	२२६
वृषान्त वटी	५८	पानीयभक्त वटिका	१६६
दन्ती हरीतकी	२२५	प्राणवल्लभ रस	२२८
दन्त्यादिक्षीर	५४६	पिप्पलीघृत	१३०
दन्त्यादि गुटिका	२२८	पिप्पल्यादि लोह	३१८, ४७३
दशमूलादि काथ	३१५	पिप्पल्यादि काथ	८४७
दाघिक घृत	२२२	पिप्पल्यादि चूर्ण	८५६
द्राक्षादि गुटिका	८४२	प्रियंगवादि गण	६७६
द्राक्षादि अवलेह	६०	पीत श्वासकुठार	६०३
देवदारवाद्य लेप	३१०	पुनर्नवा गुग्गुलु योग	३१०
देवदारवाद्य काथ	६०५	पुनर्नवादि चूर्ण	३१५
घात्री लोह	१२८	पुनर्नवादि काथ	६२६, ३१६
धात्र्यवलेह	६२७	पुनर्नवाद्यरिष्ट	५४८
धनुस्वराकुश	८४१	फलत्रिकादि काथ	६१८
धान्यकादि काथ	६६३	बबूलाद्यरिष्ट	१०७६
न्यग्रोधादिगण	६५८	बलादि घृत	७८८
नागरस	८६१	बलादि क्षीर	१०८०
नाड़ीस्वेद	१०८७	बृहद् विद्याधराभ्र	१२७
नाराच रस	३१६	बृहन्नारिकेल खण्ड	१६७
नारिकेल क्षार	१३०	बृहत्पिप्पली खण्ड	१६७
नारिकेल खण्ड	१६६	ब्राह्म्याद्यवलेह	७६०
नीबूका पानक	१८	भल्लातक मोदक	३१०
पञ्चानन रस	२२८	भल्लातकारिष्ट	५४७
पञ्चामृत लोहमण्डूर	६२४	भृङ्गराज घृत	७८५
पटोलमूलादि कषाय	५४७	भार्ङ्गीगुड	६१२
शथ्यादि काथ	५४५	भार्ङ्ग्यादि लेह	८३८

योग	पृष्ठ	योग	पृष्ठ
भेदनीया वटी	३१६	वासादि क्वाथ	४०८
मण्डूर वटक	६२५	वासा कषाय	६६२
मधुकादि तैल	७८७	वासाकुष्माण्ड खण्ड	६७१
मधुयष्ट्यादि गुटिका	८४३	व्याघ्री घृत	७६१
मनःशिलादि धूम्रपान	६०३	विदारीगन्धादि गण	१०५०
मृगनाभ्यादि अवलेह	७८६	विन्ध्यवासि योग	१०६८
मृगाङ्ग रस	१०७६	विश्वादि क्वाथ	१२४
महाचिन्दु घृत	३१६	विशाला क्षार	६२६
मानमण्ड	३२४	विश्वादि लेह	८३८
मूँग का यूष	६१६	वेतसादि तैल	५५१
यक्षुदरि लोह	३१८	वैश्वानर वटी	३१७
यवागू तीन प्रकार	६१६	वैद्यनाथ वटी	३७२
रक्तपित्तान्तक रस	६७०	शंखचूड़ रस	४७३
रत्नगर्भ पोटली रस	१०७६	शतावरी मण्डूर	१२८
रसमण्डूर	१३१	शिग्रु क्वाथ	३०६
रसामृत रस	६७१	शिलाजत्वादि लोह	१०६६
रसोनाद्य घृत	२२०	शुष्कमूनाद्य घृत	३७१
रसोन योग		शुण्ठ्य दि क्वाथ	५४६
राजमृगाङ्ग रस	१०७७	शूलगजकेसरी रस	११५
रास्नादि क्वाथ	६०४	शूलहर वटी	११५
रोहितक योग	३०६	शैलेयादि तैल	५५१
लोकेश्वर पोटली रस	१०७८	शोथहर गुटिका	५५३
लोह गुग्गुल	१२६	श्ववधुघाती रस	५४६
वचादि चूर्ण	२२४, ३७०	शृङ्ग्यादि लेह	८३८
वटप्ररोहादि गुटिका	५६	शृङ्गारभ्र	८६१
वड़वानल क्षार	३१५	शृङ्ग्यादि चूर्ण	४७०, ६०६

योग	पृष्ठ	योग	पृष्ठ
श्वासकृच्छ्रान्तक वटी	८४४	हरिद्रादि चूर्ण	८४६
श्वास-कास चिन्तामणि	६०८	हरिद्रादि लेह	६०५
श्वासदमन गुटिका	६०६	हरीतक्यादि क्वाथ	३१५
षडगयूष	१११६	हरीतकी खण्ड	१३१
सप्तामृत लोह	१२७	हिग्वादि चूर्ण	२२४, ३६६
समशर्कर चूर्ण	८४७	हिगुल वटी	६०३
सामुद्राद्य चूर्ण	१२६, ३१४	हिग्वादि द्विरुत्तर चूर्ण	३७२
सारस्वत घृत	७६०	हर्बेरादि क्वाथ	६६३
सालसारादि गण	६७६	क्षय केसरी लोह	१०६६
सिंहादि क्वाथ	६०५	क्षय केसरी योग	१०८६
स्थिराद्य घृत	३७१	क्षय नाशक घृत	१०७६
हपुषाद्य घृत	६२०	क्षारादि मण्डूर	६२५
हपुषाद्य चूर्ण	३१४	क्षुद्रामृत प्राश्य	८४१

शारीरिक अवयव वर्णन ।

पृष्ठ विषय

१ पचनेन्द्रिय संस्था

४७ क्लोम

६४ मर्मस्थान

६०, उदरकी मांसपेशियां

उदरच्छदा

उदरदण्डिका

वस्तिचूडिका

फलकोष कर्षिणी

१७६ गर्भाशय

१८२ बीजाशय

२५० प्रतिहारिणी शिरा-कार्य

२६५ प्लीहा

२७४ परिनाभिका योजनी शिरायें

३२६ अन्त्रपुच्छ

पृष्ठ विषय

४४४ ग्रसनिका

४५० श्वासनलिका

४५० अन्न-नलिका

४५६ महाप्रचीरा पेशी

४८३ उदर्याकला

५०८ त्वचा

५१२ स्वेद ग्रन्थियां

५६१ आग्नेय रस

५६१ रक्त

६८४ उरोगुहा

७४५ स्वरयन्त्र

७६५ बृहच्छ्वासनलिका

८५७ पशुकाँ

८५८ उपपशुकाँ

चित्र सूची ।

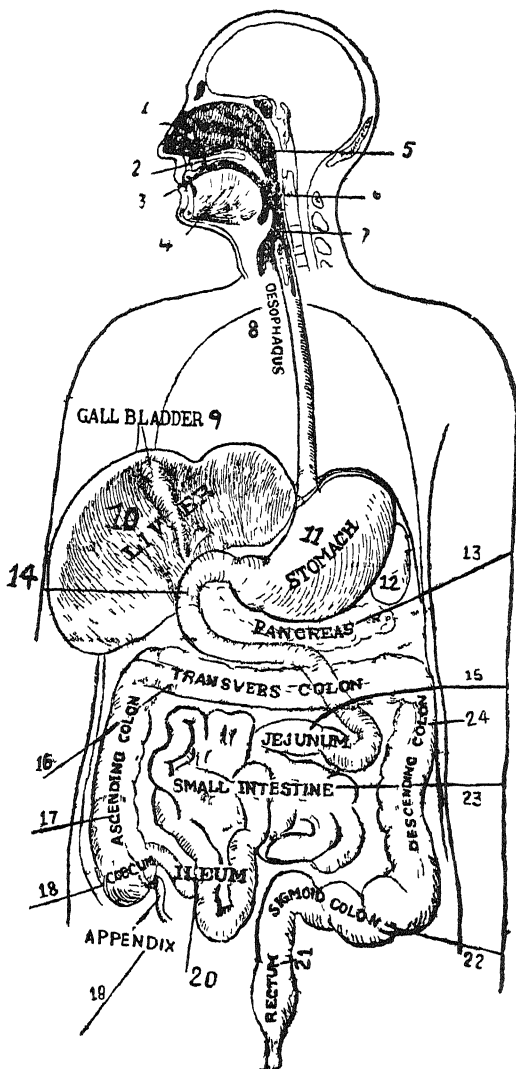
(आर्ट पेपर पर छपे हुए चित्र)

नम्बर पृष्ठाक	नाम	नम्बर पृष्ठाक	नाम
१	१ महास्रोत	१	६०४ मजावृद्धिजन्य श्वेताणु-
२	१ नाक, मुख, कण्ठ और स्वरयन्त्र		वृद्धि में रक्त
३	४४८ असनिकाकी मासपेशिया	१०	,, लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य
४	४५० अन्ननलिका और महा- प्राचीरा पेशी		श्वेताणुवृद्धिमें रक्त
५	४८२ उदर्याकलाके दोनों कोष	११	६६७ धड़में आगेकी ओरकी
६	५६६ रक्तके भीतर विविध जीवाणु		मासपेशिया
७	५६६ घातक पाण्डुमें रक्तरचना	१२	६६७ धड़में पीछेकी ओरकी
८	५६६ राजयक्ष्माके कीटाणु		मासपेशिया
		१३	७२० आगन्तुक ध्वनिदर्शक चित्र
		१४	फुफ्फुसोंके वायुकोष समूह

ग्रन्थ के कागज पर छपे हुए चित्र ।

नम्बर पृष्ठ	चित्र	नम्बर पृष्ठ	चित्र
१	६० उदरकी मासपेशिया (दो चित्र)	६	६८७ वक्षप्रदेशके विविध स्थान (३ चित्र)
२	१८० गर्भाशय	७	७११ वायुकोषीयनाददर्शक चित्र
३	३२६ आरोगी अन्न और अन्न- पुच्छ	८	७१६ नालीय नाददर्शक चित्र
४	४४५ कपोल और असनिकाकी मासपेशिया	९	७४६ स्वरयन्त्रकी मांसपेशिया
५	४६० महाप्राचीरा पेशी	१०	७४६ अधिजिह्वा
		११	७६६ स्वरयन्त्र और श्वास- नलिकाके तरुणास्थि
		१२	६१६ वायुकोष सघ

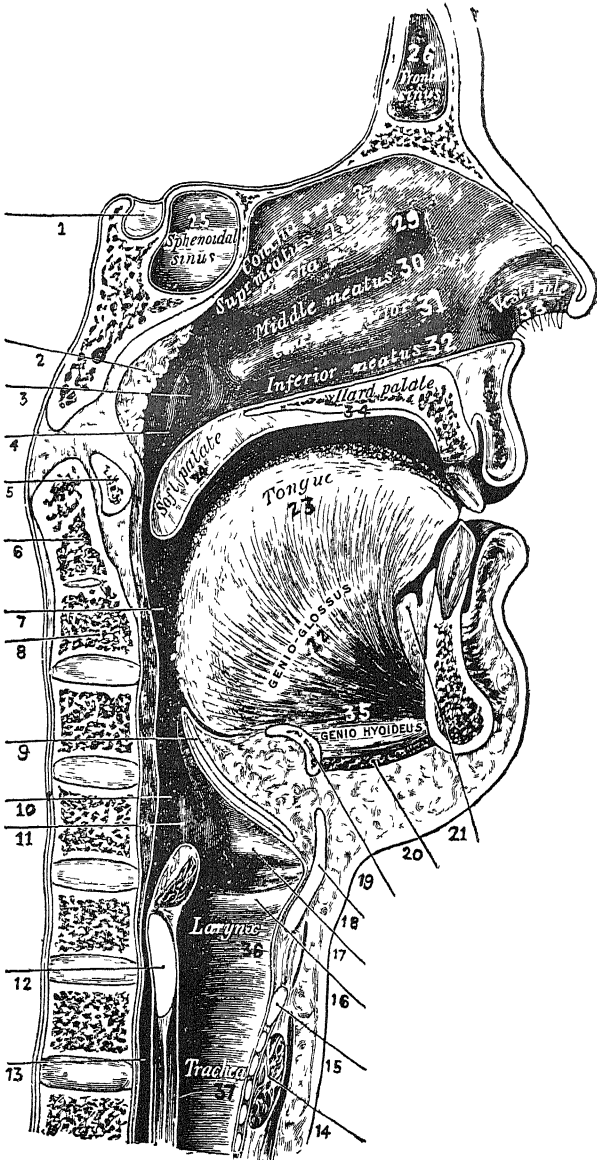
महास्रोत



महास्रोत

- १ नासागुहा Nasal Cavity.
- २ तालु Palate.
- ३ मुख Mouth Cavity.
- ४ जिह्वाका निम्न प्रदेश Inferior surface of Tongue.
- ५ नासागुहा पश्चिम Nasal part of Pharynx.
- ६ गल बिल Oral part of Pharynx.
- ७ स्वरयन्त्र पश्चिम Laryngeal part of Pharynx.
- ८ अन्ननलिका Oesophagus.
- ९ पित्ताशय Gall bladder.
- १० यकृत Liver.
- ११ आमाशय Stomach.
- १२ प्लीहा Spleen.
- १३ अग्न्याशय Pancreas.
- १४ ग्रहणी Duodenum.
- १५ मध्यान्त्रक Jejunum.
- १६ अनुप्रस्थ अन्त्र Transvers Colon.
- १७ आरोही अन्त्र Ascending Colon.
- १८ उगडुक Coecum.
- १९ अन्नपुच्छ Appendix.
- २० शेषान्त्रक Ileum.
- २१ गुदनलिका Rectum.
- २२ कुण्डलिका प्रदेश Sigmoid Colon.
- २३ लघु अन्त्र Small Intestine.
- २४ अवरोही अन्त्र Descending Colon.

नाक, मुख, कण्ठ और स्वरयन्त्रके भीतरकी रचना ।



नाक, मुख, कण्ठ और स्वरयन्त्रके भीतरकी रचना ।

- १ पोषणिका ग्रन्थिखात—Hypophysis (Pituitary Fossa).
- २ ग्रसनिका ग्रन्थि—Pharyngeal tonsil (Adenoids).
- ३ श्रुति सुरंग द्वार—Orifice of auditory tube.
- ४ ग्रसनिका नासागुहा पश्चिम—Nasal part of Pharynx.
- ५ प्रथमा ग्रीवा कशेरुका—Anterior arch of atlas.
- ६ द्वितीय ग्रीवा कशेरुका—Dens of axis.
- ७ ग्रसनिका (गलद्वार पश्चिम)—Oral part of Pharynx.
- ८ ग्रीवा कशेरुका पिण्ड—Body of axis.
- ९ अधिजिह्विका—Epiglottis.
- १० ग्रसनिका स्वरयन्त्र पश्चिम—Laryngeal part of Pharynx.
- ११ गोजिह्वा घाटिका पेशीकी पर्त—Aryepiglottic fold.
- १२ कृकाटकका पिछला हिस्सा—Cricoid cartilage.
- १३ अन्ननलिका—Oesophagus.
- १४ ग्रैवेयक ग्रन्थि संधानक—Isthmus of thyroid gland.
- १५ कृकाटक तरुणास्थि—Cricoid cartilage.
- १६ स्वरतन्त्री—Vocal fold.
- १७ स्वरयन्त्र द्वार—Ventricular fold.
- १८ अवटुक तरुणास्थि—Thyroid cartilage.
- १९ कण्ठिकास्थि—Hyoid bone.
- २० मुखभूमि कण्ठिका पेशी—Mylohyoid muscle.
- २१ जिह्वाकी कलामय सेवनी—Frenulum linguae.
- २२ जिह्वा चिबुक कण्ठिका पेशी—Genio Glossus muscle.
- २३ जिह्वा—Tongue.
- २४ कोमल तालु—Soft palate.
- २५ जातूक कोटर—Sphenoidal sinus.

- २६ ललाट कोटर—Frontal sinus
 २७ ऊर्ध्व शुक्रिका—Concha supr.
 २८ ऊर्ध्व सुरंग—Supr Meatus
 २९ मध्य शुक्रिका—Concha media
 ३० मध्य सुरंग—Middle meatus
 ३१ शुक्रिकास्थि—Concha inferior
 ३२ अधः सुरंग—Inferior meatus.
 ३३ नासालिद—Vestibule.
 ३४ कठोर तालु—Hard palate
 ३५ चिबुक कण्ठिका पेशी—Genio Hyoideus.
 ३६ स्वरयन्त्र—Larynx.
 ३७ बृहच्छ्वास नलिका—Trachea.



❁ श्री धन्वन्तरये नमः ❁

चिकित्सातत्त्वप्रदीप

द्वितीय खण्ड

पचनेन्द्रिय संस्था व्याधि प्रकरण ।

Diseases of the Digestive System.

इस पचनेन्द्रिय संस्था (Digestive System) में मुख, दाँत, जिह्वा, लाला ग्रन्थियाँ (Salivary Glands), ग्रसनिका (Pharynx), अन्ननलिका (Oesophagus), आमाशय, पक्वाशय (लघु अन्न), बृहदन्न, यकृत, अग्न्याशय (Pancreas) और उदर्याकला (Peritoneum), इतने अवयव रहे हैं । इन सबको कार्यक्षम बनानेके लिये वातवहा नाडियाँ (Nerves) सबके साथ रही हैं ।

प्राचीन शारीरविदोने मुख, ग्रसनिका, अन्ननलिका, आमाशय, लघु अन्न और बृहदन्न, इन ६ को मिलकर बने हुए एक मुख्य मार्ग को 'महास्रोत' ऐसी योग्य और अर्थगर्भ संज्ञा दी है । कारण गर्भावस्था

मे ये सब इन्द्रियाँ महास्रोतके विभाग रूप ही होती हैं, और अनेक जाति के प्राणियोंमे यह महास्रोत एक सलग (Continuous) नली रूपसे आजीवन प्रतीत होता है ।

यह महास्रोत जो शरीरविदोके अभिप्राय अनुसार मुख द्वारसे गुदा द्वार तक रहा है; वह लगभग ३० फीट (२० हाथ) लम्बा है । यह किसी किसी स्थान पर मन्थन आदि क्रियाओंके लिये अधिक चौड़ा है; तो किसी किसी स्थान पर कम चौड़ा (संकुचित) बना है ।

प्रारम्भ के मुखकुहरमे भोजनके बारीक टुकड़े बन, उसमे लाला (Saliva) मिश्रित हो जाता है । फिर वह प्रसनिकामे जाता है । वह आगे रही हुई अन्ननलिका नामक सकीर्ण मार्गमे धकेल देता है । पश्चात् वहाँसे भोजन आमाशय रूप विस्तृत मुख्य आशयमे पहुँच जाता है । मनुष्य जो अन्न-जल लेता है, वे सब इस आमाशय (मैदे) मे संग्रहित होते हैं; और उस पर पचन क्रिया प्रारम्भ होती है ।

फिर आगे महास्रोत एक पतली सकड़ी (संकुचित) नलीके रूपमें बन जाता है; उसे लघु अन्न कहते हैं । इस स्थानमे भोजन पचन होता हुआ धीरे धीरे आगे गति करता रहता है; और पचन हुए भोजनके सत्व (रस) का सिरा और रसायनियों द्वारा शोषण होने लगता है । इस तरह आहारके परिपाककी क्रिया लघु अन्नमें होनेसे प्राचीन आचार्योंने उसे पक्वाशय नाम दिया है ।

पुनः मार्गकी आकृति बदल जाती है, महास्रोत मोटी चौड़ी नलीकी तरह बृहदन्न रूप बन जाता है । इस स्थानमें पचन क्रियाके अन्तमे मलरूपसे रहे हुए त्याज्य अंशके प्रवाही भागका शोषण होता है । इस हेतुसे इस स्थानको मलाशय सज्ञा दी है । इस मलाशयमें प्रवाही भागका शोषण होता जाता है, और मल शनैः शनैः आगे गति करता जाता है । फिर उसे महास्रोतके अन्तिम गुदद्वार नामक संकुचित स्थान मेसे बाहर निकाल दिया जाता है ।

इस महास्रोतके मुख्य अवयव आमाशय और आत हैं । कारण,

इनमें आहारकी पचन क्रिया होती है । शेष अवयव पचन क्रियामें उपकारक (Helper) होनेसे पचनेन्द्रिय संस्थाके गौण भाग हैं ।

प्राचीन आचार्योंके प्रश्नोत्तर रूपसे अनियमित कहे हुए समस्त रोगोंको माधवाचार्यने नियमबद्ध क्रमशः लिखा है । उनका हो सके उतने अंशमें अनुसरण किया जाय, तो आयुर्वेदीय चिकित्सकोंको अधिक सुविधा रहेगी । इस हेतुसे चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डमें ज्वर प्रकरण पहले लिखा; और फिर पचनेन्द्रिय संस्था व्याधि प्रकरण का प्रारम्भ किया ।

इस सस्थामें अनेक इन्द्रियाँ रही हैं; और एक एक इन्द्रियके भी अनेक रोग हैं । इन सबका समावेश प्रथम खण्डमें नहीं हो सका । अतः शेष रहे हुए रोगोंको इस द्वितीय खण्डमें स्थान दिया है । पचनेन्द्रिय संस्थाकी निम्न व्याधियाँ प्रथम खण्डमें लिखी हैं:—

संख्या	व्याधि	पृष्ठ संख्या
१	अतिसार—Diarrhoea	५६८
२	नाभि टलना	६१७
३	गुदभ्रंश—Rectal Prolapse	६३०
४	प्रवाहिका—Dysentery	६३८
५	ज्वरातिसार—Diarrhoea with Fever	६४६
६	ग्रहणी—Chronic Diarrhoea	६५३
७	संग्रह-ग्रहणी—Sprue	६५६-६७३
८	अन्त्रक्षय—Intestinal Tuberculosis	६६२
९	कोष्ठबद्धता-आनाह—Constipation	६६६
१०	अर्श—Haemorrhoids	७१३
११	अग्निमान्द्य—Atonic Dyspepsia	७४५
१२	भस्मक—Bulimia	७४६-७६१
१३	चिरकारी आमालशय प्रदाह—Chronic Gastritis	७५४
१४	अजीर्ण—Acute Gastritis	७६४

१५ आमाशय विस्तार—Dilatation of the Stomach	७६६
१६ विसूचिका—Cholera	७८३
१७ अलसक-विलम्बिका-दण्डालसक	७६८
१८ कृमि—Worms	८०२

इस द्वितीय खण्डके भीतर पचनेन्द्रिय सस्थाकी निम्न व्याधियोंको स्थान दिया है:—

१ अरोचक—Anorexia ।

२ छर्दि—Vomiting ।

३ तृष्णा—Thirst ।

४ दाह—Burning Sensation ।

५ शूल—Colic ।

१—परिणाम शूल—आन्त्रिक व्रण—Duodenal Ulcer ।

२—अन्नद्रव शूल—आमाशयिक व्रण—Gastric Ulcer ।

६ नागविषज शूल—Lead Colic ।

७ पित्ताश्मरी—Biliary Calculus

८ अम्लपित्त—Acid Dyspepsia ।

९ गुल्म—Abdominal Tumours ।

१—त्रिदोषज गुल्म—

(अ) आमाशयिक कर्कसफोट—Cancer of the Stomach ।

(आ) आन्त्रिक कर्कसफोट—Cancer of the Intestine ।

(इ) यकृत का कर्कसफोट—Cancer of the Liver ।

(ई) कृमिज रसाबुद—Hydatid Tumours ।

२—रक्तगुल्म—

(अ) गर्भाशयके अबुद—Uterine Fibrous Tumours ।

(आ) बीजाशयके अबुद—Ovarion Tumours ।

१० उदर रोग

- १—यकृद्वाल्ग्युदर—Cirrhosis of the Liver ।
- २—बालपैत्तिक यकृद्वाल्ग्युदर—Infantile Biliary Cirrhosis ।
- ३—यकृत् में रक्ताधिक्य—Congestion of the Liver ।
- ४—प्लीहा वृद्धि—Splenic enlargement ।
- ५—प्लीहोदर—Splenic Anaemia ।
- ६—जलोदर—Ascites ।
- ७—वद्वोदर—शल्यज अन्त्रावरोध—Impaction of foreign Bodies ।
- ८—क्षतोदर—Ulceration of Bowels ।

११ अन्त्रपुच्छप्रदाह—Appendicitis ।

१२ उदावर्त

- १—मलनिग्रहज उदावर्त—Intestinal Obstruction ।
- २—पाशित अन्त्र विकार—Strangulation ।
- ३—अन्त्रावर्त्तन—Volvulus of Intestine ।
- ४—अन्त्रविवर्त्तन—Kinking of Intestine ।
- ५—अन्त्रान्त्रप्रवेश—Intussusception ।

१३ कामला—Jaundice ।

- १—आशुकारी असाध्यकामला—यकृच्छोष—Acute Yellow Atrophy of the Liver ।
- २—बालकामला—Icterus Neonatorum ।
- ३—घातक त्रिदोषज कुम्भकामला—यकृन्मांसाबुद—Cancer of the Liver ।

१४ यकृत्प्रदाह—Hepatitis ।

१५ यकृदपक्रान्ति—Degeneration of the Liver ।

- १—सिक्तापक्रान्ति—Waxy Liver ।
- २—यकृत्में मेदोभरण—Fatty Liver ।

१६ पित्ताशय प्रदाह—Chole-cystitis ।

१७ हिका—Hiccup ।

१८ अग्न्याशय विकार—Diseases of the Pancreas ।

१९ उदर्याकला प्रदाह—Peritonitis ।

मुखगत (ओष्ठ, दाँत, जिह्वा, तालु और कण्ठ आदि प्रदेशके) रोगों का विवेचन तृतीय खण्डमें शीर्ष स्थानीय रोगोंके भीतर किया जायगा । मुख, कर्ण, नासा, और नेत्र, इन इन्द्रियोके विकारोंको एक साथ दिया जायगा । एवं अन्नवृद्धि (Hernia), विद्रधि आदि विकारोंको भी इस खण्डमें नहीं लिया है ।

आयुर्वेदमें इस सस्थाकी कतिपय व्याधियाँ माधवाचार्यजीके क्रमसे अन्य सस्थाओंकी व्याधियोंके पश्चात् कही हैं; और इस ग्रन्थके क्रमसे एक साथ देनेमें नवीन अभ्यासियोंके लिये विशेष सुविधा रहेगी; ऐसा मानकर एक साथ दी हैं । माधवाचार्यजीके क्रमका पूर्ण अंशमें अनुसरण नहीं हो सका । एवं पाश्चात्य क्रमको भी बदलना ही पड़ा है । डॉक्टरोंमें पचनेन्द्रिय सस्था व्याधियोंके प्रारम्भमें मुखगत रोगोंका वर्णन मिलता है । फिर गल ग्रन्थि, ग्रसनिका, अन्ननलिका आदि अवयव जैसे-जैसे आते हैं; उस क्रमसे लिखा है । यह क्रम डॉक्टरों मर्यादाके अनुसार बिल्कुल सही है । किन्तु ऐसा करनेमें प्राचीन क्रमका सर्वांशमें त्याग हो जाता है ।

इस पचनेन्द्रिय संस्थामें रहे हुए अवयवोंमें से आमाशय, लघु अन्न, बृहदन्न, यकृत, उदरगुहा, उदर्याकला, लाला ग्रथिया, ग्रहणी, गुदनलिका और गुदवेष्टन सिराचक्र, इन स्थानोंका शारीरिक वर्णन प्रथम खण्डमें किया है । शेष अवयवों का वर्णन आगे उनसे सम्बन्ध वाली व्याधियों के साथ यथास्थान किया जायगा ।

पाश्चात्य वैद्यकमें रोगोंके चिकित्सा भेदसे दो वर्ग बनाये हैं । शस्त्रक्रिया साध्य और औषधसाध्य । इनमें से शस्त्रक्रिया साध्य रोगोंमें से भी कितनेक रोग काय चिकित्सा (औषधि चिकित्सा) विभाग में आ जाते हैं । अतः इनका विचार भी औषध चिकित्साके साथ करना चाहिये ।

जो केवल शस्त्रक्रिया साध्य है; उनका सम्यक् बोध अनुभवसे मिलता है; वह केवल ग्रंथोंके लेखों द्वारा प्राप्त नहीं होता । अतः शस्त्रचिकित्सा का वर्णन काय चिकित्साके साथ विशेष रूपसे नहीं किया जायगा ।

आयुर्वेदमें सब इन्द्रियोंके व्रण, विद्रधि, कर्कस्फोट आदिके निदान, चिकित्सा एक साथ लिखे हैं । कारण अनेक स्थानोंके व्रण-विद्रधि आदि रोगोंकी चिकित्सा बहुधा समान ही होती है । बारबार पृथक्-पृथक् लिखनेमें अनावश्यक विस्तार होता है । किन्तु जब प्राचीन आयुर्वेदके किसी रोग विशेषके साथ व्रण-विद्रधि आदिका सम्बन्ध आता है; तब उसे वहाँ पर लेना पड़ता है । जैसे परिणाम शूल और अन्नद्रव शूलका सम्बन्ध आन्त्रिक व्रण (Duodenal Ulcer) और आमाशयिक व्रण (Gastric Ulcer) के साथ रहा है । अतः इन दोनोंका डाक्टरी वर्णन शूल रोगके अन्तर्गत किया है ।

कतिपय रोगोंकी चिकित्सा परस्पर सहायक होनेसे ऐसे रोगोंको शास्त्रकारोंने साथमें लिखा है । जैसे पाण्डु और कामला, ये रोग डाक्टरी मर्यादानुसार पृथक्-पृथक् स्थानोंके हैं । पाण्डु रोग रक्तसंस्थाका और कामला यकृद् विकार होनेसे पचनेन्द्रिय संस्थाका है । हिक्का और श्वास, दोनोंके हेतु और चिकित्सामें समानता होनेसे प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थोंमें स्थान दृष्टिसे विभाग न होनेसे दोनोंको एक साथ कहा है । परन्तु इस ग्रन्थमें स्थान दृष्टिसे रोगोंका विवेचन किया जायगा । इस हेतुसे हिक्काको पचनेन्द्रिय संस्थामें और श्वासको श्वसनेन्द्रिय संस्थामें लिखा जायगा ।

कचित् आयुर्वेदके एक रोगमें डाक्टरी अनेक स्थानोंके रोग आ जाते हैं । जैसे उदर रोगमें यकृद्वाल्स्युदर, प्लीहोदर और जलोदर, तीनों रहे हैं । डाक्टरी मर्यादा अनुसार यकृद्वाल्स्युदरको पचनेन्द्रिय संस्थामें, प्लीहोदरको अंतःस्त्रावी ग्रन्थियों (Ductless Glands) के विकारमें तथा उदर्याकलाके भीतर जल-संचयसे उत्पन्न जलोदरको उदर्याकलाके रोगोंमें (पचनेन्द्रिय संस्थामें) स्थान देना चाहिये । किन्तु आयुर्वेदकथित

एक मुख्य रोगके टुकड़े करना अनुचित माना । इसलिये सबको एक स्थान पर ही लिखा जायगा ।

शूल रोगके भीतर सब स्थानोंके शूलोका अन्तर्भाव हो सकता है । प्राचीन आचार्योंने—सुश्रुतसंहिताकारने पार्श्वशूल, दृक्शूल, बस्तिशूल, मूत्रशूल और विट्शूलको शूल रोगके साथ लिखा है । किन्तु माधवाचार्यजीने केवल पचनेन्द्रिय सस्थाके शूल ही लिखे हैं । पार्श्वशूल आदि व्याधियोंको शूलरोगके साथ स्थान नहीं दिया, तथा वृक्कशूलका उल्लेख अश्मरी और शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्रमे मिलता है । अतः इस खण्डमें पचनेन्द्रिय सस्थाके शूलोको स्थान दिया है । शेष शूलोका विवेचन तृतीय खण्डमें यथा स्थान किया जायगा ।

यकृच्छूल बहुधा पित्ताशयकी अश्मरीजन्य होता है । पित्ताशयकी अश्मरी और यकृच्छूल, दोमे से एकका स्पष्ट रूपसे विवेचन प्राचीन ग्रन्थों में अश्मरी या शूल रोगके अन्तर्गत नहीं मिलता । अतः इस रोगको पचनेन्द्रिय सस्थाके रोगोंमें पित्ताशयाश्मरी नामसे लिखा है ।

प्राचीन आचार्योंने गुल्म रोगके भीतर महास्रोतकी व्याधिके साथ ही रक्तगुल्मको प्रजनन सस्थाकी व्याधि होने पर भी लिखा है । संस्था विभाग अनुसार दोनों रोग पृथक् पृथक् स्थान पर होने चाहिये । किन्तु किसी रोगके टुकड़े न करनेके हेतुसे इस ग्रन्थमें रक्तगुल्मको गुल्म रोगके साथ ही लिखा है ।

अनुमान है कि, त्रिदोषज गुल्म आम्लाशयिक कर्कस्फोट (Cancer of the Stomach), आन्त्रिक कर्कस्फोट (Cancer of the Intestine) और यकृतमें उत्पन्न कर्कस्फोट (Cancer of the Liver) होना चाहिये । अतः इन रोगोंका वर्णन गुल्मरोगके अन्तर्गत किया है । इनमेंसे यकृतके कर्कस्फोटसे ५० प्रतिशतको कामला रोगकी संप्राप्ति हो जाती है । अतः इसका सम्बन्ध कामलाके साथ भी किया है ।

उदावर्त्त रोगके अन्तर्गत प्राचीन आचार्योंने अनेक सस्थाओंके रोग लिखे हैं । स्थानमर्यादा अनुसार मस्तिष्कगत (Cerebral) विकृति

वाले उदावर्त्तोंको शालाक्यतन्त्रमें और मूत्रनिरोधज बस्तिगत विकार युक्त उदावर्त्तको मूत्रेन्द्रिय संस्थाके रोगोंमें लिखना चाहिये । किन्तु अनेक प्रकारके उदावर्त्तोंमें महास्रोतविकृतिकारक मलनिग्रहज उदावर्त्स ही प्राधान्य होनेसे उदावर्त्त व्याधिको पचनेन्द्रिय संस्थामें ही लिखा है । इस तरह अन्यान्य स्थानोंमें भी आवश्यक परिवर्तन किया है ।

डाक्टरी ग्रन्थोंमें अनेक गौण रोगोंका भी विस्तारसे विवेचन मिलता है । परन्तु उतने विस्तारकी आयुर्वेदिक चिकित्सकोंके लिये आवश्यकता नहीं मानी । अतः कितनीक गौण व्याधियोंके वर्णनका त्याग किया है ।

पचनेन्द्रिय संस्थाके आमोशय, अन्न, यकृत, उदर्याकला आदि रोगोंमें परीक्षार्थ नाडी परीक्षा, श्रवण परीक्षा, ठेपन परीक्षा, मूत्र परीक्षा, मल परीक्षा, जिह्वा परीक्षा, शब्द परीक्षा, स्पर्श परीक्षा तथा मुख, धीवन, ओष्ठ, गन्ध, नेत्र आदिकी परीक्षा, दर्शन परीक्षा, प्रश्न परीक्षा आदि आदि प्रथम खण्डमें विस्तारसे लिख आये हैं । अतः इस खण्डमें इनकी पुनरावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है ।

अरुचि रोग ।

अरुचि—अरोचक Anorexia—एनोरेक्सिया ।

वातादि दोषप्रकोप, शोक, भय, अति लोभ, क्रोध, ग्लानि उत्पन्न करे, ऐसे भोजन, अरुचिकर रूप या गन्ध, उच्छिष्ट या कृमियुक्त भोजनकी प्राप्ति होने पर अथवा अन्य किसी कारण से भोजन करनेकी इच्छा निवृत्त हो जाय, वह अरोचक कहलाता है ।

इस अरुचिको भक्तोपघात, भक्तद्वेष और अभक्तच्छन्द भी कहते हैं । भोज संहिताके मतसे मुँहमें डाला हुआ अन्न बेस्वादु लगे, उसे अरुचि रोग; और देखने, स्पर्श करने या चिन्तन करने पर घृणा उत्पन्न हो, उसे भक्तद्वेष कहा है । इस मतके विरुद्ध दूसरे ग्रन्थकारोंने अन्न पर रुचि न हो, उसे अरुचि; और मुँह में डालने पर बेस्वादु लगे, उसे भक्तद्वेष माना है ।

वातज, पित्तज, कफज और त्रिदोषज अरुचिका आश्रय-स्थान जिह्वा और हृदय माना है, तथा आगन्तुक अरुचिका आश्रय मन कहा है ।

डाक्टरीमे इस रोगको स्वतंत्र रोग नहीं माना, अनेक व्याधियोंका सामान्य लक्षण कहा है । इस हेतुसे पाश्चात्य ग्रन्थोमे इसके निदान संप्राप्ति, चिकित्सा आदि का विवेचन स्वतंत्र रूपसे नहीं मिलता ।

डाक्टरी मतानुसार सार्वजनिक व्याधियों तथा आमाशय और अन्न के विकारोंके हेतुसे क्षुधानाश होकर अनियमित रूपसे अरुचिकी प्राप्ति होती है । एव सब प्रकारके आशुकारी ज्वर, शारीरिक और मानसिक थकावट, शोक, भय, क्रोध, अपमान आदि जनित मानसिक सन्ताप, शराबका अति सेवन, कोष्ठबद्धता, आमाशायिक व्रण, आमाशायिक कर्कसफोट आदि रोगोमे क्षुधा लोप होकर अरुचिकी उत्पत्ति होती है ।

इस रोगके वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और आगन्तुक भेदसे ५ प्रकार है ।

(१) वात प्राधान्य अरुचि लक्षण—दांत आम जाना, हृदय-शूल, कसैला मुँह, मलाबरोध और मैले रंगके शुष्क हस्त आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(२) पित्तप्राधान्य अरुचि लक्षण—दुर्गन्धयुक्त, कड़वा, खट्टा, बेस्वादु मुँह, तृषा, दाह, चूसने समान पीड़ा, मुँहसे भाफ निकलना, बेचैनी आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(३) कफ प्राधान्य अरुचि लक्षण—खारा, चिकना और मीठा मुँह, शरीर भारी होना, आलस्य, ठंडी, बद्धकोष्ठ, खुजली, मुँहमें कफ आना और जुखाम आदि लक्षण होते हैं ।

(४) त्रिदोषज अरुचि लक्षण—हृदयशूल, काटने समान पीड़ादि वातसे, तृषा, दाह, हड़फूटनादि पित्तसे; कफ गिरना, शरीरमें भारीपन आदि कफसे; तथा मनकी व्याकुलता, जड़ता, बेचैनी आदि मिश्रित लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(५) आगन्तुक लक्षण—शोक, भय, अति लोभ, क्रोध, अप-
वित्र या ग्लानि उत्पन्न करनेवाले अप्रिय भोजन, अप्रिय दर्शन,
अप्रिय गन्ध आदि कारणोंसे उत्पन्न अरुचिमें मानसिक
व्याकुलता, मोह, जड़ता, बेचैनी, उबाक आदि उपद्रव होते हैं ।

भय लगने पर पाँचों प्रकारके वायुमें क्षोभ उत्पन्न होता है ।
फिर पित्त और कफका हीन योग होता है । हृदयस्थ प्राणवायुके
अतियोग होने पर साधक पित्तका हीन योग होकर मेधा और
ओजका ह्रास होता है; तथा ग्लानि उत्पन्न होती है । व्यान वायु
के अतियोगसे चर्मसे सम्बन्ध वाले आजक पित्तका हीन योग
होकर मुखमण्डल आदि स्थानोंकी त्वचा निस्तेज बन जाती है ।
कोष्ठस्थ समान वायुमें अति योग होनेसे पाचक पित्तका हीन-
योग होता है; जिससे अग्निमन्द हो जाती है । अपान वायुका
अतियोग होने पर मलाशयमें रहे हुए संश्लेष्मक कफका मिथ्या-
योग होकर बद्धकोष्ठता या अतिसारकी उत्पत्ति हो जाती है ।
उदान वायुके अतियोगसे बोधक (रसन) कफका हीन योग
होकर जिह्वाकी शुष्कता और भोजनमें अरुचि होती है ।

नैसर्गिक नियम, राज्यके कानून या समाज मर्यादाके विरुद्ध
वर्ताव होने पर भयकी उत्पत्ति होती है । जिससे वायुमें क्षोभ
उत्पन्न होता है; फिर समान वायु प्राणवायुमें मिल जाती है ।
साधक पित्तका ह्रास और अवलम्बक कफका मिथ्या योग हो
जाता है; परिणाममें उदान और प्राणवायुके प्रकोपसे हृदयमें
आघात पहुँचता है, हृत्स्पन्द बढ़ जाता है; श्वासकी दीर्घता कम
होती है, और घबराहट होने लगती है । साधक पित्तके निर्बल
बननेसे ओजसका ह्रास होता है; और पूज्य या सत्तावाले
मनुष्यको देख कर लज्जाकी प्राप्ति होती है । उदानवायुके अति
योगसे तर्पक कफका शोषण होता है; जिससे मुखसे शब्दका
स्पष्ट उच्चारण भी नहीं निकल सकता । व्यानवायुके अतियोगसे

आजक पित्तका हीनयोग और क्लेदक कफका मिथ्यायोग होकर देह कोपने लगती है; और त्वचा निस्तेज हो जाती है। एवं उदानवायुके अतियोग होनेसे आलोचक पित्तका भी हीन योग और स्नेहन (तर्पक) कफका मिथ्या योग हो जाता है। जिससे नेत्रेन्द्रियसे कार्य सम्यक् नहीं होता, चक्कर आता है और कभी मूर्च्छा भी आ जाती है। कोष्ठस्थ समान वायुका अतियोग होने से लुधा मन्द हो जाती है। एवं बोधक कफका हीनयोग हो जानेसे जिह्वा शुष्क बन जाती है; और रुचि नष्ट हो जाती है।

भय का आघात हृदय, मस्तिष्क, आमाशय, अन्त्र, मूत्राशय आदि अनेक यन्त्रोंपर पहुँच जाता है। हृदयपर आघात पहुँचनेसे रक्तकी गति मन्द हो जाती है, और कम्प होने लगता है। मस्तिष्कको हानि पहुँचनेसे स्मरण शक्तिका लोप और भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं, आमाशयपर असर हो जानेसे पचन क्रिया मन्द हो जाती है। आंतोपर आघात होनेसे तुरन्त दस्त निकल जाता है। पतले गरम दस्त लगते रहते हैं। मूत्राशयपर आघात होनेसे तुरन्त मूत्र निकल जाता है। फिर थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है; या बूँद बूँद मूत्र टपकता रहता है। इस तरह भयके हेतुसे देह जड़ निस्तेज हो जाती है।

शोककी संप्राप्ति होनेपर पाँचों प्रकारके कफमें अतियोग होता है। मस्तिष्कमें अवस्थित तर्पक कफ, हृदयस्थ अवलम्बक कफ और कण्ठस्थ बोधक कफ, तीनोंका अतियोग होनेसे उन स्थानोंकी वायुका हीन योग और पित्तमें मिथ्या योगकी प्राप्ति होती है। परिणाममें नेत्रसे अश्रुस्राव, नासिकासे श्लेष्मस्राव और मुखमेंसे लालास्राव होने लगते हैं। हृदयमें रहे हुए अधिक पित्त और प्राणवायुका मिथ्या योग होनेसे हृदय शिथिल बन जाता है। एवं क्लेदक कफकी वृद्धि होनेपर आमाशयमें स्थित पाचक पित्त और समान वायुमें हीन योग होता है। परिणाममें

लुधाका लोप होता है; और मुख स्वाद हीन हो जाता है । फिर अरुचिकी उत्पत्ति होती है ।

लोभकी अत्यन्त वृद्धि होनेपर आहार, विहार, विश्रान्ति, व्यावहारिक कार्य, ईश्वर और पूज्योंकी सेवा तथा नीति अनीति आदि बातोंका सम्यक् बोध नहीं रहता । भोजन और पेय पदार्थ यथा समय योग्य मात्रामें न मिलनेपर पाचक पित्त देहस्थ रस-रक्त आदि सब धातुओंका शोषण करने लगता है । फिर शरीर कृश होता जाता है । इस तरह जब पाचक पित्त सातों धातुओंको जलाने लगता है; तब समानवायु प्रकुपित होकर पित्त और कफका शोषण करती है । फिर पित्त और कफकी क्रियामें शिथिलता आने लगती है । परिणाममें समान वायुसे आहार रसका सम्यक् विभाग नहीं होता । रंजक पित्त रसको यथोचित रंजित नहीं कर सकता । साधक पित्त मेधा और ओजका पोषण नहीं कर सकता । भ्राजक पित्त त्वचामें तेजको स्थिर नहीं रख सकता । इस तरह वात, पित्त, कफ, तीनोंके कार्यमें अव्यवस्था हो जानेसे लुधा मन्द हो जाती है; और अरुचिकी उत्पत्ति हो जाती है ।

इच्छित वस्तु अप्राप्त होने और आज्ञा पालन न होनेपर मानसिक क्षोभ होकर क्रोधकी उत्पत्ति होती है । फिर तत्काल पित्तमें अतियोग, कफमें मिथ्यायोग और वायुमें हीनयोग हो जाता है । पाचक पित्त साधक पित्तमें और साधक पित्त आलोचक और भ्राजक पित्तमें मिल जाता है । इसी हेतुसे समानवायु, प्राणवायु और उदानवायुमें हीनयोग होजाता है । पश्चात् भ्राजक पित्तकी वृद्धि और उदानवायुके हीनयोगके हेतुसे मुख और नेत्रपर रक्त वृद्धि हो जाती है; जिससे मुख-मण्डल रक्तवर्णका बन जाता है । संश्लेषक कफमें हीनयोग होनेसे संधियोंमें शिथिलता आजाती है; और कम्प होने लगता

है । अबलम्बक कफ और प्राणवायुका मिथ्यायोग हो जानेसे हृदयमें घबराहट होता है; तर्पक कफके मिथ्यायोगसे मस्तिष्क में तमोगुणकी वृद्धि होती है; जिससे नेत्रके समक्षमें अंधकार आकर चक्करकी उत्पत्ति हो जाती है । बोधक कफका हीनयोग होकर मुखमें थूककी वृद्धि होती है; लाला टपकने लगती है, और कोष्ठमें क्लेदक कफका अतियोग हो जाता है । परिणाममें अग्नि मन्द होकर अरुचिकी उत्पत्ति हो जाती है । साथ-साथ त्रिदोष विकृतिके हेतुसे कान्ति, बुद्धि, मेधा और प्रज्ञाका भी विनाश होजाता है ।

इस तरह मानसिक विकार जन्य चार प्रकारके दोषयुक्त अरुचिकी प्राप्ति होती है । अप्रिय वस्तुके दर्शन या प्राप्ति जन्य जो तिरस्कार उत्पन्न होता है; उसका अन्तर्भाव क्रोधमें होता है ।

इनके अतिरिक्त हस्तमैथुन या अति व्यवाय जनित शुक्ल-क्षय होनेपर लुधाकी निवृत्ति होकर भोजनपर अरुचि आजाती है ।

आगन्तुकके स्थानपर कितनेक आचार्योंने इस मानस दोष जनित चारो प्रकारकी अरुचिको पृथक् कहकर अरुचिके ८ प्रकार कहे हैं ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

वातप्रकोपमें बस्ति, पित्तप्रकोपमें विरेचन, कफजमें वमन और मानसिक विकारमें मनको प्रसन्न करनेका उपाय करना चाहिये ।

यदि कुत्सित पदार्थोंके दर्शन, गंध या स्वादसे अरुचि हुई हो; तो ऐसे रोगियोंको अम्ल, मधुर और कटु (चरपरा) रस के मिश्रण वाला आहार देनेसे रुचिकी उत्पत्ति हो जाती है ।

साधक पित्तके अतियोगसे अरुचि हुई हो; तो इमलीका पानक या आममोरा देनेसे अरुचि शमन हो जाती है । अथवा

अनारके रसमें कालीमिर्चका थोड़ा चूर्ण और शहद मिला, गरम कर चटाने या पिलानेसे अरुचि दूर होती है।

यदि कोष्ठस्थ समान वायु और हृदयस्थ प्राणवायु और कण्ठस्थ उदानवायुका अतियोग और पाचक पित्तका हीनयोग हुआ हो; तो बिजौरेकी केशर, सैंधानमक और शहद मिलाकर दें। अथवा अनन्नास (Pine-apple) या सन्तरेको काली-मिर्च, सैंधानमक और शकरका चूर्ण लगा कर खिलानेसे अरुचि नष्ट हो जाती है।

यदि कफका अतियोग, पित्तका हीनयोग और वायुका मिथ्यायोग होकर अरुचि उत्पन्न हुई हो; तो अदरक, कालीमिर्च, नीबूका रस, जीरा, सैंधानमक और किसमिस मिलाकर चटनी करें। इसको बार-बार जिह्वा पर लगाते रहनेसे जिह्वा साफ होती है; लालारसकी उत्पत्ति होती है; और रुचिकी प्राप्ति होती है।

इस तरह कफके अतियोग, पित्तके हीनयोग और वायुके मिथ्यायोग जनित अरुचिमें कालीमिर्चकी चाय भी पिलाई जाती है; अर्थात् कालीमिर्चके चूर्णको जलमें उबालें। फिर सैंधानमक और नीबूका रस मिला कर निवाया निवाया पिलाने से रुचि उत्पन्न हो जाती है।

शोकातुर मनुष्यकी अरुचिमें मनको प्रसन्न करने वाला वार्त्तालाप, भयभीतको धैर्य्य धारणके उदाहरण और उपदेश, लोभ पीड़ितको वस्तुकी प्राप्ति रूप आशा देना तथा क्रोधातुरको शान्ति, सहनशीलता और वैराग्यकी शिक्षा देकर मूल हेतुको दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

वातप्राधान्य अरुचिमें बचका काथ पिलाकर वमन करावें। फिर पेयादिका पान करावें। तत्पश्चात् वस्ति और कृष्णादि चूर्ण का सेवन करावें।

पित्तज अरुचिमें मैनफल, मुलहठी और मिश्रीको मिला

काथ कर वमन करावें । फिर मिश्री और सैधानमक शहदमें मिलाकर चटावे ।

कफज अरुचि पर नीमकी अंतर छालके काथमें शहद मिला कर वमनार्थ देवें । फिर अमलतासकी फलीके गूदाका काथ, शहद और अजवायनका चूर्ण मिलाकर दें ।

त्रिदोषज पर तीनों दोषोको शान्त करनेवाली चिकित्सा करे ।

मानसिक विकृतिसे उत्पन्न आगन्तुक अरुचिमें मनकी प्रसन्नता हो, ऐसे कथा, वार्तालाप, खेल आदि करें । मानसिक अरुचि में शोक, भय, लोभ या क्रोध, जो निमित्त कारण हो, उसे दूर करना चाहिये, अन्यथा लाभ नहीं होता ।

अरुचि चिकित्सा ।

कृष्णादि चूर्ण—पीपल, बायविडंग, जवाखार, सम्हालुके बीज, भारंगी, रास्ना, छोटी इलायचीके दाने, भुनी हींग, सैधानमक और सोठका चूर्ण बनाकर ३-३ मासे चूर्ण निवाये जलसे देनेसे वातज और कफज अरुचि दूर होती है ।

(२) कूठ, कालानमक, सफेद जीरा, शकर, कालीमिर्च और बिड़नमकको पीस शहदमें मिलाकर मुँहमें कवल धारण करानेसे वातज विकार शमन होता है ।

कवलके लिये औषधि १ तोला ले । कुछ समय तक मुँहमें रख कर चाबें । आधी चाबनेके बाद थूक दें; और रस उत्पन्न हुआ हो, उसे निगल लें । कवल धारणके लिये चरक संहिताके मूल पाठमें शहदके साथ तैल भी मिलानेको लिखा है । अनुकूल हो, तो मिला लेना चाहिये ।

(३) आँवला, इलायची, पद्माख, खस, छोटी पीपल, सफेद चन्दन और नीलोफरको चटनीकी तरह पीस शहद या अनार का रस मिलाकर मुँहमें कवल धारण करनेसे त्रिदोषज अरुचि दूर हो जाती है ।

(४) दालचीनी, दारुहल्दी और अजवायन या दालचीनी, नागरमोथा, छोटी इलायचीके दाने और धनिया, इनका कवल धारण करनेसे सब प्रकारकी अरुचि दूर होती है ।

(५) पक्की इमली, दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने और कालीमिर्च, सबको गुड़के जलके साथ मिला कवल धारण करनेसे भोजनमें रुचिकी उत्पत्ति हो जाती है ।

(६) काला जीरा, सफेद जीरा (भुना हुआ), कालीमिर्च, मुनक्का, अनारदाना, आमचूर, कालानमक, गुड़ और शहद मिलाकर कवल धारण करनेसे सब प्रकारकी अरुचि दूर होती है ।

(७) अनार रसमें शहद और बिड़लवण मिलाकर कवल धारण करनेसे असाध्य अरुचि दूर होती है ।

(८) भोजनके समय अदरकके छोटे-छोटे टुकड़े कर ऊपर नीबूका रस निचोड़ नमक मिलाकर सेवन करनेसे रुचिकी उत्पत्ति होती है ।

(९) नीबूके टुकड़े पर शक्कर लगा जीभ पर रगड़ कर भोजन करें; तथा भोजनके बीचमें भी ४-६ समय इस रीतिसे जीभ पर रगड़ें, तो अरुचि दूर हो जाती है ।

वातिक अरुचिनाशक चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें आई हुई औषधियाँ—शिवाक्षारपाचन चूर्ण (२० ६७५), स्वादष्टि शर्बत (२० ८१७), धनंजय वटी (२० ६३६), यवानीखाण्डव चूर्ण (२० ६७७), लुब्धबोधक रस (२० ६०७), द्राक्षासव (२० ७५६) और कण्ठसुधारक वटी (२० ६४२), ये सब औषधियाँ वातिक अरुचिको दूर करनेमें हितावह हैं ।

(२) एलादि चूर्ण—ओटी इलायचीके दाने, नागकेशर, दालचीनी, तेजपात, तालीसपत्र, वंशजोचन, मुनेक्का, अनारदाने,

धनियों, जीरा, कालाजीरा ये ११ औषधियाँ २-२ तोले लें । पीपल, पीपलामूल, चन्ध, चित्रकमूल, सोंठ, कालीमिर्च, अजवायन, आमचूर (कोकम आमचूर), अम्लबेंत, अजमोद, असगन्ध और कौच, ये १२ औषधियाँ १-१ तोला तथा मिश्री १६ तोला लें । सबको कूट चूर्ण बनाकर ४-४ माशे जलके साथ दिनमें २ समय सेवन करें ।

यह चूर्ण रुचिकर, हृद्य तथा कण्ठ और जिह्वाका विशोधन करता है । इस चूर्णके प्रभावसे युवावस्थाकी प्राप्ति और रुचिकी वर्द्ध होती है । प्लीहा, अर्श, श्वास, शूल और ज्वर दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है वातशमन, बल और वर्णकी प्राप्ति होती है ।

(३) इमलीका पानक—बीज निकाली हुई नई पक्की इमलीको गुड़, शक्कर या खजूरके साथ जल मिला मिट्टी के बर्तनमें भिगो एक घण्टे बाद मसल कर छान लें । फिर दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने और कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर कवल धारण करें, अथवा कुल्ले करें या भोजनके साथ सेवन करें, तो भोजनमें स्वाद आने लगता है । पनाके लिये प्रायः खजूर और गुड़ तीन गुने और शक्कर चार गुनी लेने का रिवाज है । स्वाद की दृष्टिसे न्यूनाधिक कर सकते हैं । और जल १६ गुना या न्यूनाधिक मिला ले ।

(४) नीबूका पानक—पक्के नीबूका रस १ भाग, ६ भाग शक्कर और आवश्यकतानुसार जल मिला लें । फिर निवाया कर लें और कालीमिर्चका चूर्ण डालकर सेवन करनेसे वातप्रकोप दूर होता है । अग्नि प्रदीप्त होकर रुचिकी उत्पत्ति होती है; तथा समस्त आहार पाचन हो जाता है ।

मलशुद्धि अर्थ—मलावरोध रहता हो, तो रसतन्त्रसारमें लिखी हुई औषधि—स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (२० ६७६), विरेचन

चूर्ण (२० ६८१), पंचसकार चूर्ण (२० ६८२) या अन्य सारक औषधि देना चाहिये ।

पैत्तिक अरुचि चिकित्सा ।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें कही हुई पित्तप्राधान्य अरोचक शामक औषधियाँ—शौक्तिक भस्म (२० २१८), सितोपलादि चूर्ण (२० ६७४), स्वादिष्ट पाचन चूर्ण (२० ६७५), अदरखका शर्बत (२० ८१८), नीबूका शर्बत (२० ८१८), यवानीखाण्डव चूर्ण (२० ६७७), एलादि वटी (२० ६४२), कंठसुधारक वटी (२० ६४२), गंधक वटी (२० ६६०) लवंगादि चूर्ण (२० ६८५), आरग्वधादि कल्क (२० ७२४) और द्राक्षावलेह (२० ८०४), ये सब औषधियाँ पित्त वृद्धिका शमन कर रुचिको उत्पन्न कराती हैं ।

श्लैष्मिक अरुचि चिकित्सा ।

रसतन्त्रसारमें लिखे हुए कफप्राधान्य अरुचिनाशक प्रयोग—धनंजयवटी (२० ६३१), यवानीखाण्डव चूर्ण (२० ६७७), स्वादिष्टपाचन चूर्ण (२० ६७५), अदरखका शर्बत (२० ८१८), और आर्द्रकावलेह (२० ८१४), ये सब औषधियाँ कफवृद्धिसे होने वाली अरुचिमें अति हितकारक हैं ।

आंतमें आमवृद्धिके हेतुसे अरुचि होने पर अग्निकुमाररस (२० ४२४), लघुक्रव्याद् रस (२० ४३०) या रामबाण रस (२० ४२०) में से अनुकूल औषधिका सेवन कराना चाहिये ।

अन्त्रपुच्छ विद्रधिसे अरुचि होने पर अग्नितुण्डी वटी दिनमें २ से ३ समय जलके साथ एक मास तक देते रहना चाहिये ।

त्रिदोष अरुचि चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसारमें लिखी हुई त्रिदोषज अरुचिहर औषधियाँ—यवानी खाण्डव चूर्ण (२० ६७७), धनंजय वटी (२० ६३६)

या क्षुद्रोधक रस (१० ६०७) दिन में दो समय देते रहें ।

(२) कारव्यादि गुटिका—कालाजीरा, भुना जीरा, कालीमिर्च, मुनक्का, आमचूर, अनारदाने, काला नमक और गुड़ को समभाग मिलाकर शहदके साथ ३-३ माशेकी गोलियाँ बना लें । इनमेंसे १-१ गोली प्रातः-सायं सेवन करनेसे सब प्रकारकी अरुचि दूर होती है ।

आगन्तुक अरुचि चिकित्सा ।

मानसिक विकृति जय अरुचि होनेपर—द्राक्षासव या अनार का शर्बत या नीबूका शर्बत पिलावें । अथवा धनंजय वटी या कण्ठसुधारक वटी मुँहमें रखकर रस चूसनेके लिये दें । विशेषतः मानसिक चिन्ता, शोक आदिको दूर करनेके लिये शान्त्वना देना तथा मनोनुकूल वर्त्ताव करना चाहिये ।

उपद्रव रूप अरुचि चिकित्सा ।

क्षयरोगमें अरुचि होनेपर—रसतन्त्रसार कथित अन्नक भस्म (१० १८०), एलादि वटी (१० ६४२) द्राक्षासव, (१० ७५६), कर्पूराद्य चूर्ण (१० ६८६), च्यवनप्राशावलेह (१० ७६७), सुवर्णमालिनी वसंत (१० ३८४), सितोपलादि चूर्ण (१० ६७४), या महामृगाङ्ग रस (१० ४५५) देना चाहिये । विशेष चिकित्सा क्षयरोगमें लिखा जायगी ।

कामला रोगमें अरुचि होनेपर—ताप्यादि लोह (१० ४३७) दिनमें २ या ३ बार मूलीके रस और मिश्रीके साथ दें ।

जीर्ण ज्वरके बाद अरुचि होनेपर—रसतन्त्रसार कथित सुवर्ण-मालिनीवसन्त (१० ३८४), सितोपलादि चूर्ण (१० ६७४) (अनार शर्बतके साथ), सुदर्शन चूर्ण (१० ६७२), अमृतारिष्ट (१० ७५६), द्राक्षारिष्ट (१० ७५६) या अन्नक भस्म (१० १८०)

(शहद-पीपलके साथ) दिनमें २ या ३ समय कुछ दिनों तक देते रहना चाहिये ।

शुक्रक्षय जनित अग्निमान्द्य होकर अरुचि होनेपर शुक्रवर्द्धक औषधियाँ वंग भस्म आदि देनी चाहिये ।

सूचना—इस रोगमें भोजन प्रारम्भमें अदरखको नीबूके रस और नमकके साथ मिला कर खाना लाभदायक है । जिनके मूत्रकी प्रतिक्रिया क्षारीय हो (अम्ल न हो), ऐसे अरुचि वालोंको भोजनके अन्तमें कालीमिर्च, जीरा और नमक मिली हुई तक पीना हितकार है किन्तु कफ की वृद्धि हुई हो तो तक नहीं देना चाहिये ।

पथ्यापथ्य विचार ।

पथ्य—आस्थापन वस्ति, विरेचन, मृदु शिरो विरेचन, वमन, धूमपान, निम्बादि कड़ुवे वृक्षकी दतौन, कवलधारण, कांजीमें नमक मिलाकर कुल्ले करना, ज्वर आदि उपद्रव न हों तो तालाब आदि जलाशयोंमें स्नान, चन्दन आदि का लेप, मन प्रसन्न हो ऐसे विविध अन्नपान, आनन्ददायक वर्त्ताव, संगीत-श्रवण, खुली वायुमें भ्रमण, पवित्र वस्त्र धारण, आश्वासन, नाना प्रकारके रस, सोरबा, लघु भोजन, जौ, गेहूँ, मूँग, अरहर की दाल, पुराने शालि और सांठी चावल, लहसुन-पोदीनेकी चटनी, ककोड़ा, बेंतके अंकुर, कोमल मूली, परवल, जिमीकंद, सुहिंजनेकी फली, बैंगन, कच्चे केलेका शाक, पका केला, सूअर, बकरे, खरगोश और मृग आदि पशुओंका मांस, मछली, मछली के अण्डे, दूध, घी, दही, मट्ठा, कांजी, पना, शर्बत, रायते, अचार, पुरानी शराब, नागरबेलका पान, खट्टे और चरपरे पदार्थ, अदरख, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, छोटी इलायची, बांसके अंकुर, रसाला (ताजे मीठे दहीकी शिखरिणी), अनार, कमरख, अंगूर, मुनक्का, संत्रा, मीठा नीबू, मुसम्बी,

कागजी पक्के नीबू, पक्का कैंथ, बेर, खसका जल, नारियलका जल, मिश्री, हरड़, अजवायन, मिर्च, हींग, शीतल मिर्च, कपूर, चिरौजी, आंवलेका मुरब्बा, आमका मुरब्बा, गुलकन्द और घानका लावा आदि पथ्य है ।

कलहस—सुहिंजनेके बीज १८ नग, कालीमिर्च १० नग, छोटी पीपल २० नग, अदरक ४ तोले, गुड़ ४ तोले, कांजी १२८ तोले, आवश्यकतानुसार बिड़ नमक (लगभग ४ तोले) और सुगन्धिके लिये इलायची, दालचीनी, तेजपात और नागकेशर (चारो १-१ तोला) ले । इन सबको मिला मथनीसे मथकर पिलाने से भोजनमें रुचि उत्पन्न हो जाती है ।

राग (रायता)—आमचूर, फालसा, मिश्री, सैधा नमक और काला नमक, इन सब वस्तुओंको योग्य (स्वादिष्ट हो चले) परिमाणमें जामुनके रसमें मिलावे फिर राईको पीसकर मिलानेसे रायता तैयार हो जाता है । इसमेंसे थोड़ा-थोड़ा भोजनके साथ लेनेसे भोजन रुचिकर लगता है ।

अपथ्य—तृषा, डकार, छिष्का, जुधा और नेत्राश्रु आदि के वेगका धारण, मन या हृदयको हानि पहुँचावे ऐसा व्यवहार, इच्छा विरुद्ध भोजन, खून निकलवाना, क्रोध, लोभ, भय, शोक, चिन्ता, दुर्गन्ध, प्रतिकूल दर्शन, श्रवण, देरसे पचन होनेवाला भोजन, ज्यादा भोजन, बार-बार भोजन और आप्रह पूर्वक भोजन, ये सब अपथ्य है ।

छर्दि रोग ।

छर्दि—वमन—वान्ति—कै—Vomiting—वॉमिटिंग ।

रोग परिचय—खाया पीया हुआ अन्न जल मुँहसे निकल जाता है, उसे छर्दि, वमन, कै, उल्टी, रद और वान्ति कहते हैं ।

निदान—अति पतले, अति स्निग्ध, अप्रिय, अति नमकीन,

असमयपर भोजन, अत्यन्त भोजन, प्रकृतिसे प्रतिकूल भोजन, अपक्व अन्न रस शेष रहजाना, भोजन करके, तुरन्त परिश्रम करना, भय, उद्वेग, अजीर्ण, कृमि, गर्भ रहनेसे वात धातुमें विकृति होना, बहुत जल्दी-जल्दी भोजन करना, ग्लानि आना, उदरमें जगह न रहनेपर भी खाते रहना, दांतोंमें से पीप निकलकर आमाशयमें जाना, आमाशयमें व्रण होजाना, भोजनमें मक्खी आजाना और क्षय रोग, पित्ताशय शूल, वृक्क शूल आदि कारणों से वमन रोगकी प्राप्ति होती है ।

पूर्व रूप—उवाक आना (,जी मचलाना), डकारका रुकना, मुँहमें जल आते रहना, मुँहमें नमकीन स्वाद, अरुचि और बेचैनी आदि लक्षण होते हैं ।

संप्राप्ति—अति पतले प्रवाही पदार्थ आदिके सेवनसे आमाशयमें रहे हुए वात, पित्त, कफ, तीनों पृथक्-पृथक् या मिलकर प्रकुपित होते हैं । फिर प्राणवायु सह ये दोष उछल कण्ठमें स्थित उदानवायुके साथ मिल आमाशयमें रहे हुए अन्न, जल, रस, पित्त और कफ, सबको मुँहमें ला अति संतापपूर्वक तथा अङ्गभेद सह बाहर निकाल देते हैं ।

छर्दि प्रकार—वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, आगन्तुज और कृमि भेदसे छर्दि रोगमें ६ प्रकार हैं ।

१—वातज छर्दि लक्षण—हृदय और पसलियोंमें पीड़ा, मुख शोष, शिर और नाभिमें शूल, शुष्क कास, स्वर भेद, तोड़ने समान पीड़ा, बड़ी आवाजके साथ डकार आना और अत्यन्त कष्टसे भागयुक्त, दूटीसी, मैले काले रंगकी कसैली थोड़ी कै होना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

२—पित्तज छर्दि लक्षण—मूर्च्छा, प्यास, मुख शोष, मस्तक, तालु और नेत्रमें संताप, चक्कर आना, अति पीड़ा होना, तथा

हरी, पीली, कड़वी, दुर्गन्ध युक्त बहुत गरम, धुएँ और दाह सहित वमन होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

३—कफज छर्दि लक्षण—तन्द्रा, मुँहमें मीठापन और चिकनापन, मुँहमें कफ आना, भोजन खूब कर लिया है ऐसा भास होना, निद्रा, अरुचि, देहमें भारीपन, रोमांच खड़े होना और थोड़ी तकलीफसे गाढ़ी, मीठी कफयुक्त सफेद वमन होना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं ।

४—त्रिदोषज छर्दि लक्षण—हृदय और उदरमें शूल, अन्न का परिपाक न होना, अरुचि, दाह, तृषा, श्वास, बेहोशी तथा खारी, खट्टी, नीले रंगकी गाढ़ी, गरम और रक्त मिली हुई वमन होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

५—आगन्तुज छर्दि लक्षण—ग्लानि, गर्भ रहना, अपचन आदिसे आम प्रकोप होना, अहितकर भोजन, विषप्रकोप, और उदरमें कृमि होना, इन कारणों से होनेवाली वमनको आगन्तुज छर्दि कहा है । भोजनमें मक्षिका आजानेसे वमन होती है; उसका अहितकर भोजनमें समावेश किया गया है ।

६—कृमिज वमनके लक्षण—उदरशूल, अति हृल्लास (उबाक) तथा अन्य कृमिज हृद् रोगके समान लक्षण प्रतीत होते हैं ।

वमनके उपद्रव—इस वमन रोगमें कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृषा, बेचैनी, हृदय पीड़ा और चक्कर आना आदि उपद्रव प्रकाशित होते हैं ।

असाध्य वमनके लक्षण—जब वायु प्रस्वेद, मल, मूत्र और रसवाहिनियोंके मार्गको निरुद्धकर ऊर्ध्वगामी होती है, और पित्त, कफ, प्रस्वेद या अन्य दुष्ट धातु (मलों) को भीतरसे उठाकर मुँहसे बाहर निकालती है, तब रोग असाध्य माना जाता है । असाध्य वमनमें मलमूत्रकी-सी दुर्गन्ध, रंगभी प्रायः मलमूत्रादि जैसा होना, तृषा, श्वास, हिक्का, अति पीड़ा और अति वेगपूर्वक

वमन इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । यह रोगीको बड़ी जल्दी ही मार देती है ।

जो वमन क्षीण मनुष्यको अधिक उपद्रवों सह, रुधिर और पीप मिली हुई तथा मयूरचन्द्रिका समान वर्ण वाली हो, वह भी असाध्य मानी जाती है ।

डाक्टरी मतानुसार निदान—लक्षण ।

डाक्टरी मतमें वमनको महत्वका लक्षण माना है । महाप्राचीरा पेशी तथा आमाशय और उदरकी मांसपेशियाँ आदि अवयवोंका बलपूर्वक संकोच होनेपर प्रतिफलित क्रिया द्वारा आमाशयस्थ पदार्थ वमन होकर बाहर निकल जाता है । ये उबाक और वमन आमाशय विकार, वात-प्रकोप और अन्तर्विष, इन ३ हेतुओंसे होती हैं ।

आमाशयविकारज वमन—इस प्रकारके हेतु आधवनिदानमें जो कहे हैं; इनके अतिरिक्त कितनेक दाहक पदार्थोंके सेवन होनेपर जिह्वासे आमाशय तक श्लैष्मिक कलामें दाह होने, कितनेक प्रकारके विष-भक्षण और व्रण या कर्कसफोटकी उत्पत्ति होनेसे भी वमन होने लगती है । कितनेक प्रकारके अपचनमें वमन हो जाती है । क्वचित् अजीर्ण रोगमें वान्ति कष्टसाध्य लक्षण रूपसे उपस्थित होती है ।

आमाशय विस्तार होनेपर आहार सड़कर वमन द्वारा बाहर आ जाता है । यह वमन किसी दिन होती है; किसी दिन नहीं होती । साथमें दीर्घकालस्थायी अजीर्ण, खट्टी डकार आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । इस रोगमें वमन बहुधा प्रातःकाल या रात्रिको होती है । कभी-कभी रक्त-वमन होती है । वान्तपदार्थ लाल-काले रंगका और अत्यन्त अम्ल गुण विशिष्ट होता है । पड़ा रहने पर ऊपरमें श्लैष्मा आ जाता है; और घन पिङ्गल वर्णका पदार्थ नीचे बैठ जाता है ।

चिरकारी आमाशयदाह-शोथमें बहुधा वमन प्रातःकाल होती है; और केवल कफ निकलता है ।

आमाशय ग्रण (Ulcer) होनेपर भोजन करने पर तुरन्त या १-१॥ घण्टा बाद वमन होती है । यदि आमाशयके अधोमुख द्वारके पास ग्रण होता है, तो भोजनके २-३ घण्टे पश्चात् वमन होती है, वमन हो जाने पर ग्रण दुःख कम हो जाता है । इस ग्रणजनित वमनमे बार-बार हाइड्रोक्लोरिक एसिड निकलता है ।

यदि कर्कसफोट (Cancer) हुआ हो, तो वमन कम समय होती है परन्तु वमन होनेपर भी वेदना शमन नहीं होती । वमनमे लेक्टिक एसिड, स्फोटकी तन्वा और रक्त आता है; तथा जुधानाश, कृशता, आफरा, सतत वेदना आदि लक्षण भी होते हैं ।

अग्निमान्द्य और अपचन (Indigestion) विकारजनित वमन होनेके पहले प्रायः उबाक होती है, परन्तु किसी-किसी समय बिना उबाक वमन होती है । ऐसे रोगियोंको शिरःशूल, बार बार मूच्छा आना, शरीर शीतल, मुखमण्डल और ओष्ठ निस्तेज, तथा नाड़ी क्षुद्र और क्षीण आदि लक्षण होते हैं । फिर अधिक लालाखाव होकर वमन होनेका प्रयत्न होता है । पश्चात् आमाशयस्थ पदार्थ बाहर निकल जाता है ।

कितनेक बच्चे और स्त्रियोंको बिना कष्ट वान्ति होती रहती है । यह वेदना रहित वमन प्रातःकाल या रात्रिको होती है । अत्यन्त शराब पीने वालोंको वमन अपचन होकर प्रातःकाल होती है ।

तीव्र अजीर्ण (आमाशयकी श्लैष्मिक कलाका प्रदाह—Acute Gastric Catarrh) होनेपर अत्यन्त उबाक आती है । साथमें जुधालोप, निःश्वासमे दुर्गन्ध, अतिशय तृषा, आमाशयमें वेदना और मन्द ज्वर आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । फिर-किसी किसीको वमन होती है । प्रारम्भमें भुक्त द्रव्य जो न पचा हो वह निकलता है । फिर चिकना कफ, कड़ुवा और खट्टा पदार्थ तथा अन्तमे पित्तमय तीक्ष्ण द्रवमय वमन होती है । उष्ण डकार, आमाशयमे भारीपन, आमाशय पर दबानेसे पीड़ा होना, बद्धकोष्ठ, आन्मान, छातीमे दाह आदि उत्पन्न होते हैं । यदि अन्नप्रदाह है, तो बद्धकोष्ठके बदले अतिसार हो जाता है ।

पूयोत्पादक आम्राशय प्रदाह (Suppurative Gastritis) होने पर अत्यन्त उबाक और वमन उपस्थित होती है । साथ-साथ शीत लगाना, कम्प, बीच-बीचमें अनियमित शीत लगकर कांटे आना, ज्वर, अत्यन्त प्यास, शिरदर्द, लुधानाश, मूत्रमें न्यूनता, उदरमें पीड़ा आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । वान्तपदार्थकी परीक्षा करने पर कफ, आम्राशयस या पित्त और कभी-कभी पूयकी प्राप्ति होती है ।

वातवहा नाड़ी प्रकोपज वमन—इस प्रकारमें २ विभाग हैं । सह-स्वार चक्र और सुषुम्णा काण्डमें रही हुई वातवहा नाड़ियोंकी उत्तेजना (सेरिब्रोस्पाइनल इरीटेशन—Cerebrospinal Irritation) और उदरस्थ इडा पिङ्गलाके तन्तुओंकी उत्तेजना (सिम्पेथेटिक इरीटेशन—Sympathetic Irritation), इन दोनों प्रकारमें वान्ति होती रहती है ।

मस्तिष्कगत वातकेन्द्र विकृति जन्य वमन—(१) हिस्टीरियामें क्वचित् दूध देने पर वमन हो जाती है; और कठोर भोजनसे नहीं होती; ऐसा विरुद्ध परिणाम भी प्रतीत होता है ।

किसी-किसी रोगी को कभी-कभी आम्राशयमें पीड़ा या अपचन आदि कोई भी लक्षण वर्त्तमान न होने पर भी प्रतिदिन स्वाभाविक अत्यन्त वमन हो जाती है । ऐसे रोगियोंके जीवनका संदेह हो जाता है । ऐसी वमन बहुधा युवा स्त्रियों पर आक्रमण करती है । बहुधा यह वमन हिस्टीरिया की प्राप्ति होनेपर होती है । इस वमनके साथ मासिक धर्म का सम्बन्ध रहता है । कभी-कभी भोजन करनेके पहले यह प्रकाशित हो जाती है । इस वमन विकारमें आश्चर्य यह है कि, दीर्घकाल पर्यन्त प्रतिदिन वमन होती रहती है; तथापि रोगिणी अधिक कृश नहीं भासती । इस परसे विदित होता है कि, वान्ति हो जाने पर भी भुक्त पदार्थ यथेष्ट परिमाणमें आम्राशयके भीतर रह जाता है ।

(२) अर्धावभेदक (मिग्रेन—Migraine) से पित्तप्रकोप होकर खट्टी वमन हो जाती है ।

(३) मस्तिष्कस्थ अर्बुद, मस्तिष्कगत विद्रधि, मस्तिष्क. प्रदाह,

कर्णेन्द्रिय विकारजन्य शिरःशूल (Meniere's Disease), शीर्षा-
वरण प्रदाह (Meningitis), काली खासी या अन्य प्रबल कास
जनित श्वासोच्छ्वास केन्द्रमें अत्यन्त उत्तेजना, संन्यास, विकृत ज्वर,
आदि कारणों से वमन उपस्थित हो जाती है । इस वमनका भोजनसे
कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उबाक नहीं आती । केवल जरा-सा चलने-
उठने पर वमन हो जाती है । इस प्रकारकी वमनके साथ चकर आना
आदि मस्तिष्क विकारके लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(४) शकुन्तगति रोग (Locomotor Ataxia) में तीव्र उदर
शूल होने पर वमन हो जाती है ।

(५) अनेक मनुष्योंको हिंडोले पर झूलना, जहाज़, रेल, मोटर
आदिसे प्रवास करना, लम्बी सीधी सीढ़ी या पर्वत पर चढ़ना, चक्कर
खाना इत्यादि कारणोंसे मस्तिष्क गत वातवहा नाड़ियोंकी उत्तेजना होकर
वमन हो जाती है ।

इडापिंगला नाड़ियोंकी उत्तेजनाजन्य वमन—उरोगुहा और
उदरगुहामें स्थिति वातनाड़ियोंकी उत्तेजनासे उत्पन्न अनेक रोगोंमें
वमन होती है । उदर्याकलाका प्रदाह, अग्न्याशयका प्रदाह, उदरशूल,
वृक्कशूल, पित्ताशयशूल, उदावर्त्त, उदरकुमि, बालकोकी काली खासी,
बालकोके दात आना, अलसक, अन्त्रावरोध, अन्त्रान्त्रप्रवंश, अन्त्रवृद्धि,
उदरमें अर्बुद या गुल्म, तीव्र ज्वर, गर्भावस्था और गर्भाशय या स्त्री-
बीजोंमें विकृति इत्यादि कारणोंसे उबाक होकर कै हो जाती है । इनके
अतिरिक्त उदरपर शस्त्रक्रिया करनेके पश्चात् टाके लगाने, वमनकारक
औषध या शराबका सेवन अथवा धूमपानसे वातवहानाड़ियोंमें उत्तेजना
आकर वमन हो जाती है ।

उन्माद, हिस्टीरिया, वातशूल आदि रोगोंके हेतुसे आम्राशय गत
वातवहा नाड़ियोंकी विकृति (Neurosis) होने पर उदरमें गुड़गुड़ाहट
होता है; और बिना उबाक वमन हो जाती है । यह विकृति स्त्रियोंको
अधिक होती है ।

अनेक स्थलोंमें राजयक्ष्मा रोगके प्रारम्भमें अन्य लक्षणोंके उत्पन्न होनेके पहले वमन उपस्थित होती है। स्वभावगत वान्ति आमाशयिक वातवहा नाड़ियोंके विकारजनित मान लेनेके पहले फुफ्फुसमें राजयक्ष्मा के कीटाणुओंकी कोई ग्रन्थि उत्पन्न हुई है या नहीं? एवं अन्य कोई चिह्न वर्तमान है या नहीं? इस बातके निर्णयार्थ विशेष परीक्षा करनी चाहिये; तथा रोगीको पूर्व इतिहास अवश्य पूछना चाहिये।

अनेक स्त्रियोंको गर्भावस्थामें कितनेक सप्ताह तक नियमपूर्वक वमन होती है; यह इसका प्रधान लक्षण माना जाता है। साथ साथ बद्ध-कोष्ठ भी उपस्थित होता है। यदि उबाक और वमन सामान्य अवस्थामें हो; तो चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। यदि चिरकारी वमनके साथ अतिसार भी वर्तमान हो; तो वृक्कविकार (Bright's Disease) होनेका संदेह होता है। इनके अतिरिक्त विविध विष—मल्ल, एन्टिमनी, बच, जमालगोटा आदि द्वारा वमन और अतिसार उपस्थित होते हैं।

अंतर्विषज वमन—रक्तमें मूत्रविषका प्रवेश, चिरकारी वृक्कप्रदाह, अपचन आदिसे अन्त्रमें विषोत्सृष्टि, क्षय, कामला, घातक पायडू रोग, अम्लपित्त, संक्रामक ज्वरमें विषवृद्धि, वेशुद्धि लानेवाली औषधि, इन कारणोंसे अंतर्विष की वृद्धि होकर वमन हो जाती है।

दोनों मूत्रपिण्डोंके ऊपरके सिरे पर रही हुई निःस्रोतस्क त्रिकोणाकार ग्रन्थि—अधिवृक्कके कोष (Suprarenal Capsule) की यक्ष्मा-कीटाणुजनित व्याधि (एडिसन्स डिजीज—Addison's Disease) होने पर बहुधा वमन मुख्य लक्षण रूपसे प्रकाशित होती है।

इसके अतिरिक्त शिरःशूल भी वान्तिका एक कारण है। मस्तिष्कमें विद्रधि होने पर किसी किसी स्थान पर केवल दुर्दमन वमन ही उपस्थित होती है। महत्वके अन्य लक्षण नहीं जाने जाते। इन सब स्थानोंमें प्रारम्भमें वेचैनी या उबाक नहीं होती। मस्तिष्कको थोड़ा सा फिराने पर या थोड़ासा उठने पर अकस्मात् वमन हो जाती है। रोगी लेटा रहने पर वमन कम; और बैठा या खड़ा होने पर वमन अधिक होती है।

वान्तिकर औषधियोंके सेवनसे वमन होने लगती है । इसमें दो प्रकार हैं । स्थानिक और सार्वज्ञिक इनका विस्तारपूर्वक विवेचन वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ८१ से ८६ तक किया है ।

परिवर्तित वमन— (Cyclical Vomiting) यह बालकों का वमन रोग है । जो वर्षमें एक दो बार आ जाता है । इस वमनका प्रारम्भ होने पर यह कुछ दिनों तक रह जाती है । इसके प्रकोपसे श्वास में मधुर वास आती है । यह प्रकार अतर्विषजनित होगा, ऐसी कितनेक पाश्चात्य विद्यावालीकी समझ है ।

रक्त वमन—अनेक हेतुओंसे थूकके साथ रक्त आता है; वमनमें कुछ रक्त जाता है; और कभी कभी केवल रक्तकी वान्ति होती है, इसका विचार माधवनिदानकारने रक्तपित्तमें किया है; अतः हमने भी इसका विवेचन रक्तपित्त व्याधिमें दिया है ।

स्वस्थ शिशुओंको क्वचित् दूध विशेष मात्रामे या शीघ्रातिशीघ्र चूसने पर वमन हो जाती है । जब चूसते समय दूधके साथ वायु नीचे चली जाती है; और पुनः ढकार रूपमें बाहर आती है; तब वायुके साथ कुछ दूध निकल जाता है । इसके लिये चिकित्साकी आवश्यकता नहीं है । यदि दूध दूषित होनेसे वमन होती है; तो तुरन्त सम्हालना चाहिये ।

किसी हेतुसे अन्ननलिकाकी मासपेशियाँ शिथिल हो जाने पर भोजन निगलनेमें त्रास हांता है, जिससे अनेक बार भोजन करते-करते बाहर आ जाता है । इस तरह अन्ननलिकाके ऊपर ग्रन्थि आदिसे दबाव आता है; तो भी भोजनकी गतिमें अवरोध होनेसे वह बाहर आ जाता है ।

क्वचित् गलेमें मासकी एक छोटीसी थैली बन जाती है । फिर भोजन करते समय थोड़ा-थोड़ा भोजन उसमें एकत्रित होता रहता है । जब वह बहुत भर जाती है; तब क्षोभ उत्पन्न होकर भोजन बाहर आ जाता है; और वह थैली रिक्त हो जाती हैं । कुछ दिनोंके अनन्तर यह थैली पुनः भर जाती है । तब फिर क्षोभ होकर खाली हो जाती है । इस तरह

मांसदृष्टिके हेतुसे वमन होनेपर वान्तद्रव्यमें अम्ल रसका सर्वथा अभाव रहता है (जो नीले लिटमिस पेपरको डुबोनेसे सहज निर्णय हो जाता है) ।

कोमल तालुकी निश्चेष्टता (पैरेलिसिस ऑफ थी सॉफ्ट पलेट—Paralysis of the Soft Palate) और ग्रसनिकाकी निश्चेष्टता (पैरेलिसिस ऑफ थी फेरिंक्स—Paralysis of the Pharynx) में भोजन निगलने में कठिनाई होती है । जिससे भुक्त द्रव्य नासा मार्गसे बाहर आ जाता है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

वमनकी चिकित्सा करनेके पहले मूल कारणको जानकर कूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये । रोगीको पूर्ण आराम दें । सिगरेट, गांजा आदिका व्यसन हो तो छुड़ा देना चाहिये ।

यदि वमन अजीर्णसे या दूषित आहार आमाशयमें रहनेसे होती हो; तो उसको नहीं रोकनी चाहिये । ऐसी वमन होनेमें ही रोगीका हित होता है । वमनको बन्द करनेमें नाना प्रकारके उपद्रव उत्पन्न होते हैं ।

तीव्र प्रकोप कालमें लङ्घन करावें; और थोड़ा-थोड़ा शीतल जल पिलाते रहें । या इलायची, सौंफ और पोदीनाका अर्क या अजवायनका अर्क मिलाकर जल पिलाते रहें । अथवा अजीर्ण न हो, तो जलमें शर्बत मिला दें । अधिक आवश्यकता होनेपर रोगी थोड़ा दूध (गरम करके शीतल किया हुआ) एक-एक घूँट (Sip) ले लेकर शान्तिसे पीवें ।

तीव्र प्रकोप दीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर भी शमन न होता हो; तो आमाशयपर राईका प्लास्टर लगाना चाहिये ।

छर्दिकी चिकित्सा करनेके पहले वातज छर्दिको छोड़कर अन्य प्रकारकी छर्दिमें प्रथम लंघन कराना चाहिये । अथवा रुफज छर्दिमें वमन और पित्तज में विरेचन देकर कोष्ठका संशो-

धन करना चाहिये । कभी-कभी वमन रोगमे वमन कराने वाली औषधि देनी पड़ती है । इसे व्याधि विपरीत अर्थकारी कहा है ।

यदि वातज छर्दिमें विरेचन औषधि देनी हो; तो एरंड तैल निवाये नमकीन जलके साथ देना चाहिये ।

जो बहुत दोष वाली वमन अति बलपूर्वक हो रही हो, तो उसे रोकना नहीं चाहिये । वमन करा देना ही हितावह है । फिर औषधिसे क्षोभको शमन करना चाहिये । ज्वरघ्नकषाय (वातज छर्दिमें वातघ्न, पित्तज छर्दिमें पित्तघ्न और कफजमें कफघ्न) का भी क्षोभ नाशार्थ उपयोग हो सकता है ।

छर्दि रोग जीर्ण होनेपर वातघ्न चिकित्सा करे, और पौष्टिक लघु भोजन देवें ।

पित्तज छर्दिमे मुनक्का, विदारीकन्द और ईखके रसके साथ निसोतका चूर्ण या गुलकन्द देवें । यदि पित्त बहुत बढ़ा हो; तो मधुर द्रव्य मुलहठी आदि मिलाकर वमन भी करावें ।

कफात्मक वमनमें कफ और आमाशयकी शुद्धि अर्थ वमन करानेके लिये पीपल, सरसों और नीमकी अन्तरछालका क्वाथ, मैनफल और सैधानमक मिलाकर पिलावें ।

ग्लानिसे उत्पन्न वमनमें हृदयके प्रिय पदार्थोंसे चिकित्सा करनी चाहिये ।

सगर्भाके वमनको सन्तरा, मीठा नीबू आदि फलोंके सेवनसे शमन करनी चाहिये । भोजन लघु और अति कम मात्रामें दिनमें ३-४ बार देना चाहिये । उत्तेजक पदार्थ बिल्कुल नहीं देना चाहिये ।

असात्म्य भोजन जनित वमनको लंघन, वमन और सात्म्य (पथ्य) भोजनसे; और कृमि दोषज छर्दिको कृमिनाशक औषधियोंसे दूर करनी चाहिये ।

किसी विषाक्त वस्तुके प्रयुक्त होने पर वमन होती हो; तो उसकी प्रतिशोधक ओषधि देकर वमनका निवारण करना चाहिये ।

मस्तिष्क गत वातवहानाड़ियोंकी विकृतिजन्य व्याधियाँ, कण्ठनलीमें अबुद्, अन्ननलिकाके मांसपेशियोंकी शिथिलता, गलेमें मांसकी थैली बन जाना, तालुविकार और आमाशयगत कर्कस्फोट, इन व्याधियोंमें पाचक, रुचिकर, या वान्तिशामक ओषधिके प्रयोगसे लाभ नहीं होता; मूल व्याधियोंकी चिकित्सा करनी चाहिये ।

अन्ननलिकाकी मांसपेशियाँ विस्तृत होकर मार्ग रोक देती हैं; तब कण्ठमें बार-बार नाड़ीयन्त्र (बूजी Bougie) चला लेना चाहिये । एवं दोनों समय भोजनके पहले या आवश्यकता पर आमाशय नलिका (Stomachtube) का प्रयोग कर आमाशयको धो लेना चाहिये । इस नलिकाकी उपयोगविधि अजीर्ण-चिकित्सामें पहले कही है । यह प्रयोग सर्वथा सरल होनेसे प्रत्येक मनुष्य सहजमें कर सकता है ।

अन्ननलिकामें मांसथैली बन जाने पर शल्यकर्म द्वारा निकलवा देना चाहिये । जब शल्य क्रियासे हानिका भय हो; तब भोजनके अंतमें, तथा रात्रिके समय मांसथैलीको रबरकी नली, या अन्य साधन द्वारा शुद्ध जलसे धोकर रिक्त कर देना चाहिये; जिससे वहाँ अन्न रुककर सड़ने न पाये ।

किसी-किसीको समुद्र-यात्रा-जनित वमन अतिशय कष्टदायक होती है; जिसका सरलतासे निवारण नहीं होता । यदि वेदना सहन हो सके; तो बिना औषध चिकित्सा आरोग्यकी प्राप्ति हो जाती है । परन्तु जब त्रास अधिक पहुँचता है; उबाक, अति बेचैनी, बार-बार दुःखपूर्वक वमन, शिरमें भारीपन, चक्कर आना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं, तब सन्तरा, अंगूर, अनन्नास, नीबूका शर्बत आदि देना चाहिये । किसी-किसीको अफीम

क्षार मिश्रित ओषधि विशेष लाभ पहुँचाती है । इस तरह काम-दूधारस, वान्तिहृद्द्रस, सूतशेखर आदि हितावह होती है ।

शराबीको अपचन होकर वमन हो, तो कुचिला प्राधान्य ओषधि लाभदायक होती है ।

यदि मलमिश्रित वमन होती है, तो अफीम, या कुचिला वाली ओषधि नहीं देनी चाहिये । आरोग्यवर्द्धिनी हितकारक होती है । एवं शराबसे आमाशयमें विकृति होकर प्रतिदिन वमन होती रहती हो; तो सुवर्णमालिकभस्म, या राजावर्त्तभस्मका सेवन कराना हितावह है ।

राजयक्ष्माकी वमनके सम्बन्धमें राजयक्ष्माकी चिकित्सामें आगे विस्तारपूर्वक लिखा जायगा ।

जब मस्तिष्ककी वातवहा नाड़ियोंकी विकृति-जनित वमन होती हो; बिना उबाक अकस्मात् अधिक वान्ति होती हो; तब जातिफलादि वटी (अपचन), या अफीमके क्षार मिश्रित ओषधि सत्वर लाभ पहुँचाती है ।

यदि वमनके साथ बद्धकोष्ठ हो, तो बस्तिद्वारा कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिये । कोष्ठ शुद्ध होने पर अनेकोंकी वमन सरलता-पूर्वक शमन हो जाती है ।

किसी-किसी समय वमन इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है कि, किसी ओषधिसे शमन नहीं होती । शीतल जल, बर्फ, चावलका मण्ड आदिसे लाभ पहुँच जाता है । ओषधिका अधिक उपयोग हो जानेसे आमाशयमें ऐसी उत्तेजना आ जाती है कि, कोई भी ओषधि लेनेके साथ क्रै हो जाती है ।

जब भोजन लेनेपर तत्काल वमन हो जाती है, आहार द्रव्य आमाशयमें नहीं रह सकता; तब बस्ति द्वारा दूध या सिद्ध घृत चढ़ाया जाता है । यह बस्ति बार-बार थोड़े-थोड़े दुग्ध आदिकी देनी चाहिये । परन्तु अन्त्र और गुदनलिकामें संचित

नलको पहले उष्ण जल, एरंड तैल, या ग्लिसरीनकी पिचकारी देकर निकाल देना चाहिये । अन्यथा उचित लाभ नहीं पहुँचता ।

वान्त पदार्थमें भुक्त भोजन दूषित होकर निकल रहा हो; तब उसे रोकना नहीं चाहिये । फिर दोष निकल जानेपर रसतन्त्रसारमें आई हुई जातिफलादि वटी, विसूचिकाहर वटी, कर्पूर अर्क, जीवनरसायन अर्क, संजीवनी वटी, शिवाचार पाचन चूर्ण, स्वादिष्ट पाचन वटी, धनञ्जय वटी आदि ओषधियों में से प्रकृति अनुरूप ओषधि देनेसे सत्वर लाभ पहुँच जाता है ।

जब वान्तपदार्थमें रक्त हो; तब वासास्वरस, वासावलेह, कुटजावलेह, कामदूधारस आदि ओषधियाँ देनी चाहियें । यदि आमाशय क्षत, या आमाशयिक कर्कस्फोट जनित रक्त वमन हो, तो मूल रोगकी शामक चिकित्सा करनी चाहिये ।

यदि उदरकृमिके हेतुसे वान्ति होती हो; तो कृमि-नाशक चिकित्सा—मुस्तादि क्वाथ, कृमिघ्न चूर्ण, कृमिकुठार रस आदि देना चाहिये । एवं एरण्ड तैल आदिका विरेचन देना चाहिये ।

बालकोंको दांत आनेके समय वमन होती हो, तो पिप्पल्यादि चूर्ण, प्रवाल पिष्टी, या दन्तोद्भेदगदान्तक रस देना चाहिये । काली खांसी जनित वमन में प्रवाल पिष्टी और कामदूधारस दिया जाता है ।

इनके अतिरिक्त वमन निवारक (Antiemetics) ओषधियोंका गुण-धर्म-सह विवेचन वैज्ञानिक विचारणके पृष्ठ ८६ से ८८ तक किया है ।

वातज हृदि चिकित्सा ।

(१) घी २-४ तोले गरम कर थोड़ा सेंधानमक मिलाकर पिलानेसे वातज वमन दूर होती है ।

(२) दूध और जल मिला उबाल शीतल कर पिलानेसे वातज वमन रुक जाती है ।

(३) मुरगेंका मांस-रस, घी और सेंधानमक मिलाकर पिलानेसे वमन दूर हो जाती है ।

(४) दही और अनारदाना मिलाकर भोजनके साथ देनेसे वातज वमन शमन होती है ।

(५) छुहारे की गुठलीको जलमें घिस मिश्री मिलाकर पिलानेसे वान्ति निवृत्त होती है ।

(६) इन्द्रजौ, भूनी हींग, अतीस, बच, काला नमक और हरड़को मिला चूर्ण कर १॥-१॥ माशा चूर्ण निवाये जलके साथ देनेसे वमन, हृद्‌रोग और उदरशूल दूर होते हैं ।

(७) जीवन रसायन अर्क (२० ७८६), या वान्ति हृद्‌रस (२० ४७०) देनेसे वातज छर्दि की निवृत्ति हो जाती है ।

(८) गरम दूधमें थोड़ा दही डाल दूध को फाड़ छान कर जल पिलानेसे वातज वमन दूर होती है ।

(९) पीपल (अश्वत्थ) की राख शहदमें चटानेसे वातज छर्दि निवृत्त होती है ।

(१०) मूगका यूष, आंवलेका चूर्ण, घी और सेंधानमक मिलाकर पिलानेसे वातज वमनका निवारण होता है ।

(११) हरड़ ३ माशेको शहदके साथ चटानेसे वमन रुक जाती ।

(१२) छर्दिरिपु वटी (२० ६३५) जलके साथ १-१ गोली ४-६ समय आध-आध घण्टे पर देनेसे वमन बन्द हो जाती है ।

पित्तज छर्दि चिकित्सा ।

(१) सफेद चन्दनका चूर्ण ४ माशे, आँवलोका रस १२ तोले और शहद ६ माशे मिलाकर पिलानेसे, या पित्तपापड़ेका

काथ शहद मिलाकर पिलानेसे पित्तज वमन शमन हो जाती है ।

(२) पित्तज वमनमें मुनक्का, विदारीकन्द और ईखके रसके साथ १ से २ माशे निसोतका चूर्ण देनेसे अनुलोमन क्रिया हो कर वमन शमन हो जाती है ।

(३) हरड़का चूर्ण शहदके साथ चटानेसे वमन दूर हो जाती है ।

(४) त्रिफला, नीमकी छाल, गिलोय और पटोलपत्रका काथ (शहद और मिश्री मिलाकर) पिलानेसे पित्तज वमन दूर होती है ।

(५) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—वान्तिहृद् रस (२० ४७०), कर्पूरसव (२० ७८१), छर्दिरिपु वटी (२० ६३५), सूतशेखर रस (२० ५५७), लघुसूतशेखर (२० ५७०), प्रवालपिष्टी (२० २०८), (गिलोय सत्व और अनार शर्बतके साथ) वराटिका भस्म (२० २२२), जहर-मोहरा भस्म (२० २२६), तृष्णाग्नि गुटिका (२० ६५५), कुमुदेश्वर रस (२० ४७२), तृषासह वमन हो तो सुवर्णमाक्षिक भस्म (२० १७०), ये सब ओषधियाँ वमन शमन करानेमें अति हितकारक हैं । इनमेंसे अनुकूल ओषधिका उपयोग करना चाहिये ।

(६) पित्तकी तीव्रता होवे; तो—वराटिका भस्म (२० २२१), मौक्तिक पिष्टी (२० २०२), एलादि चूर्ण (२० ६७०), एलादि वटी (२० ६४२), प्रवाल पिष्टी (२० २०६), या पुष्पराग पिष्टी (२० २००) में से अनुकूल ओषधि देनेसे पित्तकी उष्णता और तीक्ष्णता कम होकर छर्दि निवृत्त हो जाती है ।

वात पित्तानुबन्ध होवे, तो—सूतशेखर रस (२० ५५७) देनेसे क़ै जल्दी बन्द हो जाती है ।

कफज छर्दि चिकित्सा ।

(१) बायबिडंग, त्रिफला और सोठका चूर्ण, या बायबिडंग, नागर मोथा और सोठका चूर्ण, अथवा जामुनकी गुठलीकी गिरी और बेरकी गुठलीकी गिरीका चूर्ण, या नागरमोथा और काकड़ासिगी का चूर्ण शहदके साथ चटानेसे कफज वमन शान्त हो जाती है ।

(२) धमासा का चूर्ण शहदके साथ देने, या धमासे का काथ पिलानेसे वमन दूर हो जाती है ।

(३) आरोग्यवर्द्धिनी (२० ५३०), जलके साथ, या रस-सिन्दूर १ रत्ती धनिया, भूना जीरा, त्रिकटु और शहद मिलाकर देनेसे श्लेष्म-विकार और वमन दूर हो जाते हैं ।

(४) छर्दि रिपु वटी (२० ६३५), आध-आध घण्टे पर एक एक गोली देते रहनेसे २-३ घण्टेमें कै बन्द हो जाती है ।

त्रिदोषज छर्दि चिकित्सा ।

(१) गिलोय या बेलका शीत कषाय पिलानेसे त्रिदोषज वमन दूर होती है ।

(२) कैथका रस, छोटी पीपल और कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे सब प्रकारकी वमन शमन होती है ।

(३) वान्तिहृद् रस (२० ४७०), या एलादि चूर्ण (२० ६७८), देनेसे त्रिदोषज वान्तिकी शान्ति हो जाती है ।

आगन्तुज छर्दि चिकित्सा ।

भोजनमें मक्षिका, या अन्य दूषित पदार्थ आ जानेसे वमन होती हो, तो नमक मिला निवाया जल पिला आमाशयगत दूषित-आहार-रसको बाहर निकाल कर ओषधि देना चाहिये ।

(१) स्वादिष्ठ शर्बत (२० ८१७), पोदीनेका फूल (२० ५५),

या जीवन रसायन अर्क (२० ७८६) देनेसे मक्खीके हेतुसे, या अजीर्णसे वमन होती हो; तो दूर हो जाती है । किन्तु अजीर्ण-जन्य छर्दिमें पहले लंघन करा फिर पोदीनेका फूल, या अन्य ओषधि देना चाहिये ।

(२) अग्निकुमार रस (२० ४२४), जीवन रसायन अर्क (२० ७८६), शङ्ख वटी (२० ४१४) और स्वादिष्ठ शर्बत (२० ८१७), इनमेंसे अनुकूल ओषधि देने; या आमाजीर्णमें कहे अनुसार चिकित्सा करनेसे अजीर्ण जन्य वमन दूर होती है ।

(३) कृमि जन्य वमन होने पर—कृमि मुद्गर रस (२० ४३४), या अन्य कृमिघ्न चिकित्सा करनी चाहिये ।

(४) सगर्भा स्त्रियोंके कष्टप्रद वमन और उबाक पर—प्रबाल-पिष्टी (२० २०६), गर्भ चिन्तामणि रस (२० ५७६), गर्भपाल रस (२० ५७७), कामदूधा रस (२० ४७४), या अभ्रक भस्म (सितोपलादि चूर्ण, अथवा एलादि चूर्णके साथ) दिनमें २ या ३ समय कुछ दिनों तक देते रहना चाहिये ।

(५) खरैटीके मूलका काथ कर पिलानेसे सगर्भाकी वमन दूर हो जाती है ।

(६) नागरमोथा, धनियाँ, सोंठ और मिश्रीका काथ पिलाने से सगर्भाकी वमन दूर हो जाती है ।

(७) अन्त्र पुच्छ विद्रधि जन्य वमन हो, तो—अग्निगुण्डी वटी (२० ४३०) सेवन कराना हितकारक है ।

(८) आमाशय त्रणसे वमन होनेपर—वंग भस्म (२० १४७), नाग भस्म (२० १५८), या गन्धक रसायन (२० ४७६) का सेवन कराना चाहिये ।

(९) दुष्टाबुद (कर्कस्फोट) से वमन होती हो, तो—ताम्र भस्म (२० १२४), या वंग भस्म (२० १४६) का सेवन कराते रहें । या कपूरासव (२० ७८१), प्रथम विधि विषघ्न होनेसे

अथवा अहिफेनासव पीड़ाहर और संज्ञानाशक होनेसे सेवन करानेसे पीड़ाका भान कम होता है ।

(१०) कण्ठस्थ मांसपेशियोकी विकृति जन्य वमनमें सुवर्ण-भूपति रस (२० ३०२), वृहद् योगराजगूगल (२० ४६६), या महावातविध्वंसन रस (२० ४६१) देना चाहिये, तथा सोवा सौफ, सोहागाका फूला और अजवायनका चूर्ण शहदके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे और रात्रिको सोनेके समय थोड़ा निवाया जल पिलाते रहनेसे उत्तम प्रस्वेदन होकर वमनका प्रास कम होता है ।

यदि पहले उपदंश होजानेसे कण्ठस्थ मांसपेशियोंमें विकृति हुई हो; तो अष्टमूर्ति रसायन, या धात्रीभल्लातक वटी (२० ६६०) देना चाहिये ।

(११) मस्तिष्क गत विकारमें मूल हेतुको दूर करने पर ही वमन दूर होती है ।

(१२) आमाशय गत वातवहानाड़ियोंके संकोचमें बादाम-रोगन, या नारायण तैलका पान करावें । अथवा वृहद् योगराज-गूगल (२० ४६६), या अभ्रकभस्म और रससिद्धरका मिश्रण (च्यवनप्राशावलेह के साथ) दिनमें दो समय देते रहना चाहिये । भोजन लघु, पौष्टिक और वातशामक देना चाहिये ।

(१३) अन्न-नलिकासे बाहर ग्रन्थि जन्य वमन होने पर—लोकनाथ रस (२० ५३६), या कांचनार गूगल (२० ६५६) मूल दोषको दूर करनेके लिये देवें । साथमें एलादि चूर्ण (२० ६७८), या सूतशेखर (२० ५५७) आदि ओषधि छर्दि-निग्रहके लिये देते रहे ।

रक्तज छर्दि चिकित्सा ।

रक्तसह वमन होनेपर विशेष चिकित्सा रक्तपित्तमें लिखे अनुसार करनी चाहिये ।

(१) तृणकान्तमणि पिष्टी (२० २२७), हीबेरादि क्वाथ (२० ७२७), कामदूधा रस (२० ४७४), बोलबद्ध रस (२० ४२२), या चन्द्रकला रस (२० ४४६), इनमेंसे अनुकूल ओषधि देनेसे रक्तसह वमन की निवृत्ति हो जाती है ।

(२) सुवर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती और प्रवालपिष्टी २ रत्ती को गुलकन्द २ तोलेके साथ मिलाकर देनेसे रक्तवमन, विष-प्रकोप, रक्तमें लीन दोष और दाह आदि उपद्रवों की निवृत्ति हो जाती है ।

(३) मुलहठी और रक्त चन्दन का चूर्ण दूधके साथ देनेसे रक्त वमन दूर हो जाता है ।

छार्दिनाशक सरल प्रयोग ।

(१) पीपल (अश्वत्थ) की छाल की राख को १६ गुने जलमें ३ घण्टे भिगो ऊपरसे नितरा हुआ जल निकाल, उसमेंसे ४-४ तोले जल बार बार पिलाते रहनेसे व्यास और वमन बन्द हो जाती है ।

(२) कृष्ण अनंत मूल (सारिवा) की छाल ६ माशेको जलमें पीस छान, मिश्री मिलाकर पिलानेसे वमन बन्द हो जाती है ।

(३) केलेके कन्दका स्वरस २ तोले और शहद ६ माशे मिलाकर पिलाने से वमन शान्त हो जाती है ।

(४) बेलगिरी अथवा बेल की छालके क्वाथमें शहद मिलाकर पिलाने से छर्दि का नाश होता है ।

(५) आमकी गुठली और बेलगिरीके क्वाथमें शहद और शकर मिलाकर पिलानेसे आमाशय-शोथ और क्रै दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

(६) जामुनके पत्ते और आमके पत्तेके क्वाथमें धानकी

खीलोका आटा और शहद मिलाकर पिलानेसे वमन, अतिसार और घोर तृषा सब नष्ट हो जाते हैं ।

(७) गिलोय या बेलगिरीका शीत कषाय पिलानेसे सब प्रकारकी वमन दूर होती है ।

ओषधिके चूर्णको गरम जलमें रात्रिको भिगो दें । सुबह मलकर छानलेनेको शीत कषाय कहते हैं । यहां पर गिलोयका चूर्ण २ तोले लेना चाहिए । बेलका चूर्ण लेना हो, तो ४ तोले ले ।

(८) मूर्वाके चूर्णको चावलोके धोवन में मिलाकर पिलानेसे त्रिदोषज छर्दि दूर होती है ।

(९) कच्चे नारियलका जल, या बर्फका जल पिलानेसे वमन रुक जाती है ।

(१०) हरड़ और जहरी नारियल १-१ तोला, अतीस ६ माशे, चोपचीनी ६ माशे और कवीठ ४ तोले सबको मिला कूट चूर्ण कर ४-४ माशे दिनमें ३ समय सेवन करानेसे सुबह होनेवाली उवाक और वमन निवृत्त होती हैं ।

(११) बड़ी इलाइचीको भून थोड़े थोड़े दाने खानेसे प्यास और वमन शमन होते हैं ।

(१२) भयंकर वान्ति जब बन्द न होती हो, तब राई २ तोले और कपूर ६ माशेको जलमें पीसकर कागज या कपड़े पर लगावे । बाद में आमशय पर घी वाला हाथ लगाकर लगा दें । जलन होनेपर (१५ मिनट बाद) उतार कर वहाँपर घी लगा लें । इस प्लास्टरके लगानेपर हैजेकी वमन भी बन्द हो जाती है ।

(१३) कृमिजन्य वमनपर हींग और बचको मट्टेमें घिसकर पिलावें; अथवा घोड़ेकी लीदको जलमें मसल छान, हींग मिलाकर पिलानेसे कृमिज वमन दूर होती है ।

(१४) जीरा, कालीमिर्च, मिश्री और काला नमकका चूर्ण शहदके साथ चटानेसे वमन दूर हो जाती है ।

(१५) बड़की जटाके क्वाथमें मिश्री मिलाकर पिलानेसे रक्त मिश्रित वमन बन्द हो जाती है ।

(१६) पोदीना, इमली, कालीमिर्च, जीरा और नमक मिला चटनी बनाकर थोड़ी थोड़ी ३-४ समय चटाने से वमन बन्द हो जाती है ।

(१७) बचको जला राखकर शहदके साथ १-१ रत्ती एक एक घण्टेपर चटानेसे असाध्य वमन भी शमन हो जाती है ।

(१८) भिगोया हुआ चूना और सोरा, दोनोंको समभाग मिला नीबूके रसमें खरलकर मटर समान गोलियां बना लेवें । इनमेंसे १-२ गोली आंवलेके रस या मुनक्काके जलके साथ देनेसे यकृद्-वृद्धि और अम्लपित्त-जनित वान्ति दूर होती है । ये गोलियां दिनमें दो, या तीन बार देने की चाहियें ।

(१९) मकाके दाने निकाले हुए भुट्टेको जला राखकर १-१ माशा शहदके साथ देनेसे कौ बन्द हो जाती है ।

(२०) बेंत की लाठीको चन्दनकी तरह जलके साथ घिस लगभग १-१ तोलाको जलके साथ मिलाकर पिलानेसे सब प्रकार की वमन शान्त हो जाती है ।

(२१) घीमें भुने हुए कुचले का चूर्ण २-२ रत्ती दिनमें २-३ बार देनेसे सगर्भा की छर्दिका निवारण होता है ।

(२२) संजीवनीवटी १ रत्ती और इलायची छिलका सहित दो नगको मिला जलके साथ पीसकर पिला देनेसे सूर्यके तापमें अमण-जनित वमन और घबराहट की निवृत्ति होती है ।

(२३) इमलीका पानक या आमभोरा पिलानेसे अंशुघातज ज्वर, बेचैनी और वमन दूर होते हैं । विशेष वर्णन चि० त० प्र० प्रथमखण्डके भीतर अंशुघात चिकित्सामें पृ० ५२६ पर लिखा है ।

(२४) लोबानके फूल, जीरा, हरड़, नागकेशर, कालीमिर्च और सोंफ, इन ६ औषधियोंको समभाग मिला १-१ माशा शहदके साथ चटानेसे वमन बन्द हो जाती है ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

छूर्दि रोग पर डाक्टरीमे निम्नानुसार औषधि देते हैं ।

(१) केलोमल Hydrarg Subchlor १ ग्रेन

सोडा बाईकार्ब Soda Bicarb ३० ग्रेन

दोनोंको मिलाकर ६ विभाग करे । १-१ मात्रा १-१ घण्टे बाद शीतल जलके साथ ६ बार देवे । यदि बीचमें वमन बन्द हो जाय, तो औषधि बन्द करें ।

(२) बिसमथ सबनाईट्रास Bismuth Subnit १ ग्रेन

सोडा बाईकार्ब Soda Bicarb ५ ग्रेन

म्यूसिलैज एकेशिया Mucilage Acacia ३ ड्राम

एसिड हाइड्रोस्येनिकडिल० Acid Hydrocyundil २ बूँद

ग्लिसरीन Glycerine २ ड्राम

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform १ औंस तक

सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह २-२ घण्टे पर ३-४ बार देनेसे क्रै बन्द हो जाती है ।

(३) वातवहा नाडियोकी विकृति जन्य प्रकोप में—

सोडा ब्रोमाइड Soda Bromide २० ग्रेन

एक्वा एनेथी Aqua Anethi १ औंस

दोनोंको मिलाकर भोजनसे पहले पिला देनेसे वमन नहीं होती ।

(४) आमाशय व्रण जनित वमन पर—

क्रियोसोट Creosote २ बूँद

एसिड एसिटिक Acid Acetic ३ बूँद

मोर्फिया एसिटाट Morph Acetate १/४ ग्रेन

जल Aqua

१ औंस

सबको मिलाकर पिला देनेसे आमाशय-व्रण-जनित वमन रुक जाती है ।

(५) वमन करानेके लिये—

वाइनम एण्टीमनी Vinum Antimony

२ ड्राम

,, इपिकाक Vinum Ipecac

३ ड्राम

सिरप सिला Syrup Sillue

१ औंस तक

सबको मिला १-१ ड्राम दोष शमन हो; तब तक ४-४ घण्टे पर पिलाते रहें । इससे वमन होकर विष-विकार सरलतापूर्वक बाहर निकल जाता है ।

(६) जिंक सल्फेट Zinc Sulphate

२० ग्रेन

जल Aqua

३ औंस

इनको मिलाकर जल्दी पिला दें । आवश्यकता हो, तो फिरसे दूसरी बार एक घण्टे बाद दें । इस औषधिसे वमन होकर दोष निकल जाता है ।

पथ्यापथ्य विचार ।

पथ्य—विरेचन, वमन, लङ्घन, स्नान, आमाशयका मार्जन, खीलोंका माण्ड, मटर, जौ, गेहूँ, मूँग, मसूरका सत्तू, पुराना चावल, लाल चावल, खरगोश, मोर, तित्तिर, लावा और भृगु आदि जङ्गली पशुओंका मांसरस, भुर्गेका मांसरस, मनको प्रिय हों ऐसे नाना प्रकारके मांस रस, आमका मुरब्बा, काँजी, राग- (रायता), शहद, मिश्री, शराब, बाँसके अंकुर, बेर की गुठली-की गिरी, मुनक्का, नारियलका जल, आँवला, आम, हरड़, अनार, जायफल, सौंफ, चन्दन, सुगन्धित पदार्थ, नीम, अड़सा, नागकेशर, बर्फ, शर्बत, वमन कराने पर खीलोंका मन्थ, शहद मिश्री मिला हुआ, परवल, कच्चा केला, गूलर, बैंगन, नीबू, पक्का कैथ, साबूदाना, यवागू, खट्टे मीठे पदार्थ, सुगन्ध युक्त भोजन,

लघु, रुचिकर और वात अनुलोमन कारक भोजन, चन्दन आदि का लेप, आँवलेका मुरब्बा, गुनकन्द, जामुनका शर्बत, पोदीना, कालीमिर्च, सोठ, पीपल, लौंग, इलायची, धनिया, जीरा, संतरा, मीठा नीबू, अंगूर, किसमिस, फालसा, मीठे बेर, अनार, जामुन इत्यादि पथ्य हैं ।

अपथ्य—नस्य, बस्ति, स्वेदन, स्नेहन, रक्तस्त्राव, अञ्जन, दातौन करना, नया अन्न, घृणित पदार्थोंका देखना, भय, उद्वेग, गरम भोजन, गरम चाय, गरम दूध, दुष्ट अन्नपान, सेम, लौकी, सोंपकी छतरीका शाक, महुआ, कन्दूरी, घिया तोरई, सरसो, देवदासी, इन्द्रायन, चित्रक, व्यायाम, प्रकृतिके विरुद्ध भोजन और सूर्यके तापका सेवन आदि हानिकारक हैं ।

तृषा रोग ।

तृष्णा-तृषा-पिपासा-प्यास-थर्स्ट-Thirst ।

जब बार बार जल पीने पर प्यासका शमन नहीं होता, तब तृषा रोग कहलाता है ।

निदान पूर्वक सम्प्राप्ति—भय, परिश्रम, बलक्षय, शुष्क या रुक्ष पदार्थ सेवन, या उपवास आदिसे वातप्रकोप होता है; तथा मदिरापान, या चरपरे, खट्टे और गरम पदार्थके सेवन और क्रोध आदिसे पित्तप्रकोप होता है । पश्चात् दूषित वात और दूषित पित्त सौम्य धातुओंका शोषण कर रस वाहिनियों, रक्त वाहिनियों, जिह्वा, कण्ठ, तालु, क्लोम इन सबका शोषण कर अत्यन्त तृषा की उत्पत्ति कर देते हैं । फिर बार बार जल पीते रहने पर भी तृषा शमन नहीं होती । पिये हुए जलका आमाशय मेंसे बार बार शोषण हो जाता है । यह तृषा रोग अनेक रोगोंमें देह निर्बल हो जाने पर घोर उपद्रव रूपसे भी उत्पन्न हो जाता है ।

सूर्यके तापमें भ्रमण, अग्नि सेवन, मद्यपान, आमवृद्धि, तमाखू सेवनसे रस क्षय और शस्त्रका घाव लगकर रक्तस्राव हो जाना, इन हेतुओंसे भी दोष प्रकोप होकर तृषा रोग की उत्पत्ति हो जाती है ।

क्लोम किसको कहना, इस विषयमें विद्वानोंके ४ मत हैं । (१) अग्न्याशय (Pancreas), (२) टेंटुआ अर्थात् श्वास नलिका (Tyachea), (३) गलद्वार पश्चिम (Gral Part of The Pharyngo-प्रसनिता एक भाग) और (४) पित्ताशय (Gall Bladder), इन ४ स्थानोंको क्लोम कहा है । इन चारोंमेंसे प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने किसे क्लोम माना है, यह अभीतक निर्णीत नहीं हुआ ।

अनेक विद्वानोंने अग्न्याशय की विकृति होने पर मधुमेहमें तृषा बढ़ती है; इस परसे अग्न्याशयको क्लोम कहा है । इनके विरुद्ध श्री० महामहोपाध्याय गणनाथसेन सरस्वती महोदयने प्रत्यक्ष शारीरमें श्वास-नलिकाको क्लोम लिखा है; और अपने वैदिक साहित्यके अनेक वचन प्रमाण रूपसे दर्शाये हैं; किन्तु आप आयुर्वेदिक साहित्यमें श्वासपथको क्लोम माननेके लिये प्रबल प्रमाण नहीं दे सके ।

कितनेक विद्वानों की मान्यतानुसार स्थूल दृष्टिसे तृषा लगने पर कण्ठस्थानमें शुष्कताका अनुभव होता है । उनके मतमें गलद्वार ही क्लोम है । स्व० श्री० पं० हरिप्रपन्नजी ने पित्ताशयको क्लोम लिखा है । आपने अपने मतकी सिद्धिके लिये आयुर्वेद साहित्यके अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं । यदि और बातोंको छोड़कर पिपासा-स्थानको क्लोम कहा जाय; तो शास्त्रदृष्टि अनुसार आपका मत विचारणीय है । फिर भी मण्डल सन्धिका स्पष्टीकरण इस मतसे नहीं हो सकता ।

तृषा के पूर्व रूप—तालु, ओष्ठ, कण्ठ और मुखमें शोष अर्थात् जल पीने की चाह बनी रहना, ये लक्षण पूर्व रूपमें प्रतीत होते हैं ।

सामान्य लक्षण—सन्ताप, मोह, प्रलाप, तालु, ओष्ठ, कण्ठ, जिह्वादि कर्कश हो जाना, मुखशोष, स्वरभेद, भ्रम, जिह्वा

बाहर निकल जाना, अरुचि, बधिरता, मर्मस्थानोंमें वेदना और हृदय की क्षीणता आदि सामान्य लक्षण उपस्थित होते हैं ।

इस तृषा रोगके वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, रस क्षयज, आमज और भक्तज (चरपरे या तैल मिश्रित या शुष्क भोजन जनित), ये ७ प्रकार हैं ।

वातज लक्षण—निस्तेज चेहरा, कनपटी और मस्तिष्कमें पीड़ा, रस वाहिनी और जल वाहिनी नाड़ियोंमें रुकावट, मुँहका स्वाद चला जाना, कण्ठ और तालुमें शुष्कता, शीतल जलपानसे तृषा की वृद्धि होना तथा निद्रा नाश, ये लक्षण प्रतीत होते हैं ।

पित्तज तृषा के लक्षण—मूर्च्छा, अरुचि, प्रलाप, दाह, नेत्रमें लाली, अत्यन्त शोष, शीतल जल वायु की इच्छा, मुँहका स्वाद कड़ुवा रहना, अत्यन्त सन्ताप होना, मुख और मल-मूत्रमें पीलापन आदि लक्षण होते हैं ।

कफज तृषा के लक्षण—मधुर, अम्ल, लवण आदि रसोंका अति सेवन और अजीर्णके हेतुसे जठराग्नि कफसे आच्छादित होने पर होने वाले पित्त कफात्मक तृषा रोगमें, निद्रावृद्धि, तन्द्रा, मस्तिष्क या सारे शरीरमें भारीपन, मीठा मुँह, मुँहमें कफ आते रहना, अरुचि, अपचन और अति कण्ठ शोष होने पर भी जल पीने की इच्छा न होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

क्षतज तृषा के लक्षण—रक्त निकल जानेके कारणसे तृषा रोग होता है । इसमें वात प्रकोप और वातज तृषाके लक्षण प्रतीत होते हैं ।

क्षयज तृषा के लक्षण—रस धातुके क्षय होनेसे जो तृषा रोग उत्पन्न होता है; उसे क्षयज तृषा कहते हैं । इस रोगमें हृदयमें पीड़ा, कम्प, शोष और शून्यता आदि लक्षण होते हैं । इस रोगमें बार बार जल पीते रहने पर भी तृषा की सम्यक् शान्ति नहीं होती ।

आमज तृषा के लक्षण—यह तृषा अजीर्ण जनित आम-वृद्धि से होती है। इस रोगमें हृदयशूल, ग्लानि, मुँहमें बार-बार थूक और कफ आते रहना, जठराग्नि अति मन्द हो जाना, और अति अफारा आदि लक्षण होते हैं। इस आमज तृषाको किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने त्रिदोषज तृषा भी कहा है।

भक्तज तृषा के लक्षण—विशेष स्निग्ध, पक्के, खट्टे, चरपरे, उष्ण और नमकीन भोजन करने से भी अधिक जलपान करना पड़ता है, किन्तु इसको तृषा रोग नहीं माना। इसको सामान्य प्राकृतिक तृषा और भक्तज तृषा कहा है।

असाध्यलक्षण—यदि तृषा रोगमें दीन स्वर, मोह, दीनता कण्ठ, तालु और मुँह सूखना, ज्वर, क्षय, कास, श्वास और अतिसार आदि उपद्रव हो जायँ तो रोग कष्टसाध्य माना जाता है।

तृषा रोग बहुत बढ़गया हो ; शरीर अत्यन्त कृश होगया हो; और वमन आदि घोर उपद्रव हों; तो रोग को असाध्य माना है।

डॉक्टरी निदान—डॉक्टरीमें तृषा रोगको स्वतन्त्र व्याधिरूप, या महत्त्वके लक्षण रूप नहीं माना। सामान्य लक्षण मानने से डाक्टरी ग्रन्थोंमें इसका विवेचन और स्वतन्त्र चिकित्सा नहीं मिलती। इस तृषाके उत्पत्ति-भेदसे दो प्रकार हैं। स्थानिक और सार्वज्ञिक।

स्थानिक तृषा—मुख, तालु, कण्ठविल आदिकी शुष्कता होने पर जो प्यासका बोध होता है; उसे स्थानिक तृषा कहते हैं। शारीरिक तृषा अधिक परिश्रम, मार्गगमन, सूर्यके ताप या अग्निका सेवन, भोजनके लिये जितना चाहिये उतना जल न पीना, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदिका सेवन इत्यादि कारणोंसे कण्ठमें शुष्कता आकर तृषाका बोध होता है।

सार्वज्ञिक तृषा—रक्तमें द्रवणीय पदार्थ, वसा, शक्कर, क्षार आदि में से किसीके परिमाणकी वृद्धि होने या रक्तमें जलका परिमाण न्यून होने पर शारीरिक रक्ताभिसरण व्यापारमें क्षति पहुँचती है; जिससे तृषा-

की उत्पत्ति होती है; अथवा मास्तिष्कगत तृष्णा उत्पादक केन्द्रोमें उग्रता होनेसे तृषाका भान होता है, उसे सार्वज्ञिक तृषा कहते हैं ।

अतिवमन, अतिविरेचन, प्रस्वेद लानेवाली ओषधिका सेवन, रक्त-साव, क्रोध, सूर्य और अग्निका सेवन, घृत, तैल, मिर्च, शराब, शुष्क अन्न आदिका अधिक सेवन इत्यादि कारणोंसे इस पिपासाकी उत्पत्ति होती है । इसके अतिरिक्त विविध प्रकारके ज्वर आदि रोगोंमें शारीरिक उत्तापकी वृद्धि होकर पिपासाकी वृद्धि होजाती है । एवं मधुमेहमें यकृद् विकृतिके हेतुसे रक्तके भीतर शर्करकी वृद्धि होकर अत्यधिक तृषाकी उत्पत्ति होती है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

केवल कण्ठशोषज तृषा होने पर जल से मुँह धोने और कुल्ले करनेसे लाला-निःसरणमें वृद्धि होकर उसका दमन होता है ।

पान सुपारी, लौंग, सौफ आदि मुख में धारण करने या चाबने पर लालासाव बढ़ता है, और कण्ठशोषका निवारण होजाता है ।

नीबूका रस या सिरका-मिश्रित जलपान करने पर पिपासा दूर होजाती है ।

मुँहके भीतर चिकने पदार्थ—शहद, ग्लिसरीन, शर्बत आदि लगाने पर शुष्कता दूर होकर स्थानिक तृषाका ह्रास होता है ।

सार्वज्ञिक पिपासाके निवारणार्थ शरीरमें जलका प्रवेश कराना चाहिये । यदि क्षार या शर्कर आदि की मात्रा रक्तमें बढ़ गई है; तो उसका ह्रास करना चाहिये । यदि वात नाड़ी केन्द्रकी उत्तेजनाके हेतुसे तृषाका अनुभव होता है; तो उग्रता को शमन करना चाहिये । अन्यथा पिपासा-निवारणकी चेष्टा निष्फल होती है । अहिफेन तृषा केन्द्रपर शामक असर

पहुँचाता है । इसी हेतुसे मधुमेह में अहिफेन प्रधान ओषधि दी जाती है ।

तृषानिवारक (Refrigerants) ओषधियोंके गुणधर्मका विचार वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ८८ में किया है ।

तृषारोगकी चिकित्सार्थ बाग्भट्टाचार्य लिखते हैं कि :—

तृष्णासु वातपित्तघ्नो विधिः प्रायेण युज्यते ।

सर्वासु शीतो बाह्यान्तस्तथा शमनशोधनम् ॥

सब प्रकारके तृषा रोगोंमें बहुधा सब प्रकारकी वातपित्तहर चिकित्सा की जाती है । बाहर और भीतर, दोनों प्रकारके शीतल उपचार तथा शमन और शोधन-विधि करनी चाहिये ।

दाह ज्वरमें कहे हुए लेपोंको भी तृषा-शमनार्थ प्रयोगमें लाना चाहिये ; तथा मूलकारण को जानकर दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

सब जातिके तृषा रोगमें पित्तको शमन करने वाली क्रिया करनी चाहिये । कारण, पित्त शमन हुए बिना तृषा दूर नहीं होती ।

किसी भी अवस्थामें जल पिलानेका निषेध न करें । इस विषयमें शास्त्रकारोंने कहा है कि :—

तृष्यन्पूर्वामयचीणो न लभेत जलं यदि ।

मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्परितं ततः ॥

जो मनुष्य रोगाक्रान्त होनेसे चीण हो गया है; उसे तृषा लगने पर यदि जल न दिया जाय, तो उसकी तुरन्त मृत्यु हो जाती है; या उसे किसी चिरकारी रोगकी प्राप्ति हो जाती है ।

तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान् विमुञ्चति ।

तस्मात्सर्वास्वस्थासु न क्वचिद्भारि वार्यते ॥

तृषासे पीड़ित मनुष्यको यदि जल नहीं पिलाया जाय, तो वह व्याकुल होकर मोहित (मूर्च्छित) हो जाता है। फिर प्राण का त्याग हो जाता है। इसलिये किसी भी अवस्थामें तृषातुरके लिए जलपानका निषेध नहीं करना चाहिये।

मूच्छ्रा, वमन, तृषा, अफारा, स्त्री-सेवन और मद्यपानसे पीड़ितोंको शीतल जल पिलाना चाहिये। मद्यपीकी तृषामें रक्त-पित्त और मदात्यय रोगोंमें कहे हुए अन्नपान और हितावह ओषधियोंसे चिकित्सा करनी चाहिये, या शराबमें २-३ गुना जल मिलाकर पिलाना चाहिये।

तालुमें प्रदाह होनेसे शोष उत्पन्न हुआ हो, तो शीतल ओषधि के गण्डूप धारण करना चाहिये। मुँहमें शोष-शामक ओषधि रखना चाहिये। जल एक साथ अधिक मात्रामें नहीं पिलाना चाहिये। बार-बार थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहना चाहिये।

प्राचीन आचार्योंने कहा है, कि:—

**अत्यम्बुपानात्प्रभवन्ति रोगाः निरम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्बुधः प्राणविवर्धनार्थं मुहुर्मुहुर्वारिपिवेदभूरि ॥**

एक साथ अति जलपान करनेसे अथवा तृषा लगने पर जल न पीनेसे नाना प्रकारके विकारोंकी उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये बुद्धिमानको चाहिये कि, प्राणके सरक्षणार्थ बार-बार थोड़ा-थोड़ा जलपान कराते रहे।

वातज तृषामें वातपित्त-शामक (विदारीगन्धादि गणकी ओषधियों द्वारा), मृदु, लघु और शीतल ओषधि तथा अन्नपान का उपयोग करना चाहिये। विदारीगन्ध (शालपर्णी) आदि गणकी ओषधियों वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ १६ में लिखी है।

पित्तज तृषामें सारिवादि गणकी ओषधियों (अनन्त मूल, मुलहठी, सक्रेद चन्दन, पद्माख, महुआ, गंभारीफल, नेत्रवाला,

खस) से या अन्य पित्त-शामक ओषधियोंसे सिद्ध दूध या शीत-कषाय पिलाना चाहिये ।

कफज तृषामें नीमके काथसे वमन करानेके पश्चात् ओषधि देनी चाहिये ।

रस आदि धातुक्षय जनित तृषा पर धारोष्ण दूध या दूध-जल, या मांसरस, या शहदमिश्रित जल पिलाना चाहिये । क्षयजनित तृषामें कदापि वमन नहीं कराना चाहिये ।

क्षतोत्थित तृषामें मांसरस या रक्त पिलाना लाभदायक है । जब तक घावकी बेदना दूर न हो; तब तक तृषा-शमनार्थ विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिये । इच्छानुसार जल पिलाते ही रहें ।

निर्बल, कृश, और अति रूक्ष मनुष्योंको धारोष्ण दूध पिलावें, या बकरेके मांसरसको घीमें भून शीतल कर मधुर द्रव्य (अनार-रस आदि) मिलाकर पिलाने चाहिये ।

आमज (अजीर्ण जनित) तृषामें निवाया जल पिलाना चाहिये; और दीपन-पाचन ओषधियोंका काथ देना चाहिये ।

उदरमें जल अधिक भर जाने पर भी शोष होता हो; तो शहद और शीतल जल (वैद हिस्सा) मिला कण्ठ पर्यन्त पिलाकर वमन करा देनेसे तृषा शमन हो जाती है ।

गुरु अन्न भोजन करने पर जल पीनेसे यदि तृषा शमन न होती हो; तो गरम जल पिलाकर वमन करा देना चाहिये ।

तृषा रोग होनेपर अधिक मिर्च, अधिक तैल, वातवहा नाड़ियों को उत्तेजित करने वाले पदार्थ, तथा शराब, सिगरेट, गांजा आदि के धूम्रपानका व्यसन (यदि हो, तो) छुड़ा देना चाहिये । एवं अग्नि और सूर्यके तापका सेवन भी कम कर देना चाहिये ।

तृषा-शामक सरल उपाय ।

(१) सुवर्ण, रौप्य, लोह, बालू पत्थर या ईंटको तप्त

लाल कर जलमें बुझावें । फिर उस जलको छानकर निवाया थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहनेसे तृषाका शमन हो जाता है ।

(२) सुवर्णका वर्क आध रत्ती शहदमें मिलाकर चटानेसे तृषाका निवारण होता है ।

(३) शीतल जलमें शहद, या शक्कर मिलाकर पिलानेसे तृषा शान्त होती है ।

(४) शीतल जलमें, या नारियलके जलमें धनिया, जीरा और सौफ भिगो छान मिश्री मिलाकर पिलानेसे प्रबल प्यास भी दूर हो जाती है ।

(५) नीलोफर, जामुन, गुलाब, चन्दन, नीबू, अनार, संतरा, या सेमलके फूल, या अन्य शीतल फलोंके रसका शर्बत जल मिला कर पिलानेसे पिपासाकी निवृत्ति होती है ।

(६) षडंगपानीय (२० ७२४) थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहनेसे ज्वर, दाह और तृषा, तीनों दूर होते हैं ।

(७) दूध, ईख का रस, शहद मिश्रित जल, शाली या आम-चूर मिलाया हुआ गुड़का जल, आमचूर मिली हुई कांजी, या नीबू के रस मिश्रित जलके गण्डूष धारण करनेसे (मुँहमें रखकर फिर कुल्ले करनेसे) प्यास-शमन हो जाता है ।

(८) छोटी इलायचीके दानोको इमलीके रसमें खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनावें । इनमेंसे १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे पिपासा निवृत्त होती है ।

(९) छुहारेकी गुठली को मुँहमें रखकर रस चूमते रहनेसे प्यास दूर हो जाती है ।

(१०) केवल शहद का गण्डूष मुखमें धारण करनेसे मुँह स्वच्छ होता है, दाह और तृषा की निवृत्ति होती है, तथा मुँहमें उत्पन्न ब्रण का घाव भर जाता है ।

(११) कांजीमें थोड़ा नमक मिलाकर कुल्ले करनेसे मुख-

शोष दूर होता है । यदि मुँहमें दुर्गन्ध और बेस्वादपन हो; तो कांजी को निवायी कर कुल्ले कराये जाते हैं ।

(१२) खट्टे बेर, खट्टे अनारदाने, कोकम आमचूर और चूका इनको पक्की इमलीके रस (जल) में मिला मुखके भीतर लेप करने और जिह्वापर रगड़नेसे तृषा तत्काल दूर होती है ।

(१३) विजौरेके फूलों की केशर का चूर्ण, अनारदानों का रस, शहद और सैंधानमक, सबको मिला मुखमें लेप करने और जिह्वापर रगड़नेसे जिह्वा, कण्ठ, तालु और गलबिल आदि स्थानों का शोष शमन होता है । इस ओषधि को मस्तिष्कपर लगानेसे भी तृषा की शान्ति होती है ।

(१४) गीले वस्त्रपर सोनेसे या गीला वस्त्र पहननेसे तृषा और दाह दोनों दूर होते हैं ।

(१५) लाल शालि (चाबलों) का भात बना, शीतल होने-पर शहद मिलाकर खिलाते रहनेसे जीर्ण तृषा रोग और छर्दि दूर हो जाते हैं ।

तृषा-शामक शास्त्रीय ओषधियाँ ।

(१) कुमुदेश्वर रस (२० ४७२), रसादि चूर्ण (२० ४७२), तृष्णाघ्नित गुटिका (२० ६५५) और पन्नापिष्टी (२० १६६) तृषाशमनार्थ लाभदायक है ।

रसादिचूर्ण—में रक्त की उष्णता, या विष विकार को शमन कर तृषाको नष्ट करने का गुण अधिकांशमें रहा है । अतः यह रसायन मदात्यय, विष प्रकोप, ज्वर जनित उष्णता, अग्नि या सूर्यके तापके सेवनसे आई हुई शुष्कता, दाह, विसूचिका, अतिसार आदि व्याधियोंमें उत्पन्न हुई तृषाको शान्त करता है ।

कुमुदेश्वर रस—में विशेषतः पित्ताशयके पित्त को नियमित बनाकर

तृषा को शमन करने का गुण रहा है । कुमुदेश्वररस आमप्रकोप, पित्त प्रकोप और मधुमेह आदि रोगोंसे उत्पन्न तृषाका निवारण करता है ।

पत्रा पिष्टी—विशेषतः आमशय की उष्णताको शमन कर तृषाको नष्ट करती है ।

तृषार्घी गुटिका—सामान्य ओषधि होनेपर भी आमशयस्थ रस और रक्तपर अच्छा प्रभाव पहुँचाती हैं । तथा वमन सह तृषा को तत्काल दूर करती है ।

(२) ताम्रभस्म और वंगभस्म १-१ रत्ती मिला चन्दनके शर्बतके साथ देनेसे, या सितोपलादि चूर्ण दिनमें तीन समय अनार-शर्बतके साथ देनेसे तृषा निवृत्त हो जाती है ।

(३) यदि रक्तपित्त-प्रकोप जन्य तृषा हो, तो—कुष्माण्डा-बलेह (२० ८-२), या चन्द्रकला रस (२० ४४६) का सेवन करानेसे दाह और रक्तस्राव सह तृषा दूर हो जाती है ।

(४) **चन्दनादि क्वाथ**—सफेद-चन्दन, अनन्तमूल, नागर-मोथा, छोटी इलायची और नाग केशर, इन ५ ओषधियों को मिलाकर २ तोले, और २ तोले धान की खील लेकर १६ गुना जल मिलाकर अर्धावशेष क्वाथ करें । फिर छानकर थोड़ा थोड़ा पिलाते रहनेसे तृषा रोग शमन हो जाता है ।

(५) **वटप्ररोहादि गुटिका**—बड़के अंकुर, आंवले, मीठी कूठ, नीलोफर और धान की खीलोंको समभाग मिलाकर शहदके साथ छोटे बेर समान गोलियां बना लेवे । एक एक गोली मुँहमें रख कर रस चूसते रहने से बढ़ी हुई तृषा तत्काल दूर हो जाती है ।

वातज तृषा चिकित्सा ।

(१) २-२ तोले गिलोय का स्वरस २-२ घण्टेपर ३-४ बार पिलानेसे वातज तृषा शमन हो जाती है ।

(२) दहीमें गुड़ मिलाकर पिलानेसे वातज तृषा दूर होती है ।

(३) मांस रस पिलानेसे वातवहा नाड़ियोंकी विकृति दूर होकर तृषा शमन हो जाती है ।

(४) कुश, कास, शर, दर्भ और ईख, इन पञ्चतृण-मूल का क्वाथ कर निवाया पिलानेसे वातज तृष्णा नष्ट होती है ।

(५) घी को थोड़ा तपाकर या घृतमण्ड (गायके घीमें उपर रहा हुआ प्रवाही भाग) पिलानेसे वातज तृषामें उत्पन्न हुआ तालुशोष दूर होता है । किन्तु मूर्छा-पीड़ित और सगर्भा के तालु-शोष में घृत पान नहीं कराना चाहिये ।

पित्तज तृषा चिकित्सा ।

(१) नीम, परबल और अडूसेके पत्ते का चूर्ण शीतल जलके साथ देकर वमन करावें । फिर नीम की अन्तरछाल धनियाँ, सोंठ और मिश्री का क्वाथ पिलानेसे दाह सह तृषा निवृत्त हो जाती है ।

(२) ईखका रस पिलानेसे पित्तप्रकोपज तृषा और दाह दूर होते हैं ।

(३) गूलरका रस पिलानेसे बढ़ी हुई ज्यास मिट जाती है ।

(४) गंभारीका फल, पद्माख, खस, मुनक्का, मुलहठी, सफेद चंदन और नेत्रवालाका क्वाथ (शीत कषाय) कर शक्कर मिला कर पिलानेसे पित्तज तृषा दूर होती है ।

(५) सारिवा, मुलहठी, सफेद चंदन, रक्तचंदन, गंभारीके फल, महुएका फूल और नेत्रवालाका शीत कषाय पिलानेसे बढ़ी हुई पित्तज तृष्णा नष्ट होती है ।

(६) तृण पञ्चमूल का शीत कषाय पिलानेसे पित्तज तृषा का निवारण होता है ।

(७) सब प्रकारके कमलके फूल ३ तोले और मुलहठी ६ माशे मिला शीत कषाय कर पिलानेसे पित्तज तृषा शमन हो जाती है ।

(८) रात्रिको धनियाको जलमें भिगो, सुबह छान मिश्री मिलाकर पिलानेसे तत्काल तृषा शान्त होती है ।

(९) गूलरके पके हुए फलोंका रस या गूलरके मूलका रस मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तज और अन्य सब प्रकारकी तृषा शमन हो जाती है ।

(१०) रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रहमें लिखे हुए प्रयोगोंमें से चन्दनका शर्बत (२० ८१७) नीबूका शर्बत (२० ८१८), पन्ना भस्म (२० १६६), पर्पटादि क्वाथ (२० ७१६) या तृष्णाघ्न गुटिका (२० ६५५) इनमेंसे किसी एकका सेवन करानेसे पित्तज तृषा दूर हो जाती है ।

(११) **तृषान्तवटी**—नीम की सींक ४ तोले और काली-मिर्च १ तोला मित्रा जलके साथ पीस २-२ रत्ती की गोलियां बना लेवे । इनमेंसे २-२ गोली १५-१५ मिनट पर ३-४ बार एक-एक घूँट जलके साथ देनेसे सब प्रकारके तृषा रोग निवृत्त हो जाते हैं ।

कफज तृषा चिकित्सा ।

(१) जीरा, अदरक और कालानमकका काथ बनाकर आधा जल शेष रहनेपर पिलानेसे कफ पित्तात्मक प्यास दूर होती है ।

(२) शीतल दूधमें कालीमिर्चका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे कफज तृषा दूर होती है ।

(३) बेलकी छाल, अरहर, धायके फूल, पञ्चकोल (पीपल,

पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ), तथा दर्भ इन ६ ओषधियोंका काथ कर पिलानेसे कफज तृषाका नाश होता है ।

(४) हृदयके प्रिय शराबमें अदरख, जीरा, कालानमक और समान शीतल जल मिलाकर पिलानेसे कफज तृषा शमन होती है । ❀

क्षतज तृषा चिकित्सा ।

(१) किसी अन्य निरोगी मनुष्यके रक्तका शिरा द्वारा प्रवेश करानेसे तृषाकी उत्पत्ति नहीं होती ।

(२) मांस रस, या धारोष्ण दूध पिलानेसे क्षतज तृषाका शमन होता है ।

(३) शिराद्वारा नमक मिश्रित जलका प्रवेश करानेसे पिपासा निवृत्त होती है ।

त्रिदोषज तृषा चिकित्सा ।

(१) बेलगिरी और बच, या सोंठ, मिर्च, पीपल आदि दीपन ओषधियों का काथ पिलानेसे त्रिदोषज (आमवृद्धि जन्य) तृषा निवृत्त होती है ।

(२) आम और जामुनकी गुठलीकी गिरी, या दोनोंके पत्तोंको उबाल थोड़ा-थोड़ा जल और शहद मिलाकर देते रहनेसे आमजन्य प्यास, वमन और दस्त बन्द होते हैं ।

(३) अंगूरका रस, या मुनक्काका अर्धावशेष क्वाथ नाक द्वारा (या मुखसे) पिलानेसे दारुण तृषा रोगकी भी निवृत्ति हो जाती है । इसी तरह ईखका रस, दूध, मुलहठीका अर्धावशेष

❀ आवश्यकता पर औषधि रूपसे शराब, तमाखू आदिका उपयोग करना हितकारक है । किन्तु व्यसन रूपसे हानिकर है । व्यसन होने पर ये चीजें औषधि रूपसे लाभ नहीं पहुँचा सकतीं ।

क्वाथ, शहद मिश्रित जल और नीलोफरका अर्धावशेष काथ इनमेंसे कोई भी पिलाया जाता है ।

(४) बड़के अंकुर, मिश्री, लोध, खट्टे अनारदाने और मुलहठीको मिला कल्क करें । फिर कल्क और शहदको चावलके धोवनमें मिलाकर पिलानेसे दूषित आमसे उत्पन्न तृषा और वमन दूर होती है ।

(५) तले हुए स्निग्ध भोजन अधिक करनेसे तृषा लगी हो; तो गुड़ मिश्रित जल पिलाने से शमन होती है ।

(६) स्निग्ध भोजनसे अजीर्ण होने पर निवाया जल पिलाने से अजीर्ण और तृषा, दोनों दूर होते हैं ।

(७) द्राक्षादि अवलेह—किसमिस १२ तोले, तथा काली मिर्च, पीपर और छोटी इलायचीके दाने १-१ तोला मिलाकर पीस लें । फिर शहद २० तोले और अदरकका रस १५ तोले मिलाकर चासनी करें । इसमें किसमिसकी चटनी मिलाकर अवलेह बना लें । इस अवलेहमेंसे ३ से ६ माशे तक दिनमें ३-४ समय सेवन करानेसे आम और कच्चे मलका पचन होता है; मुखमें रसकी वृद्धि होती है; तथा कण्ठशोषकी निवृत्ति होती है ।

(८) धनंजय वटी, या गन्धक वटी देनेसे अरुचि, अजीर्ण, आम प्रकोप और तृषा सब शमन होजाते हैं ।

(९) अनार, आंवला और विजौरा को पीस चटनी बनाकर जिह्वा पर रगड़नेसे कण्ठ शोष दूर होकर तृषाकी निवृत्ति होती है । तृषा शमनार्थ शीतल रस और शीतवीर्य ओषधिसे चिकित्सा करनी चाहिये ।

(१०) यदि मुँह बेस्वाद हो ; तो खट्टे पदार्थोंके कुल्ले करें ; या आलूबुखारा, अथवा आंवलाको मुँहमें रख कर रस चूसनेसे रुचि उत्पन्न होती है, तथा तृषा दूर होती है ।

(११) सूर्यके ताप से तृषा बढ़ने पर जौके सत्तूमें बेर, मिश्री और जल मिला मन्थ बनाकर पिलावे ; तथा कांजीमें तिल का कल्क मिला सारे शरीर पर लेप करनेसे दाह, व्याकुलता और कण्ठशोष का निवारण होता है ।

बाह्यक्रिया—(१) अनार, बेर, लोध, कैथ और बिजौरा को अनारके रसमें पीस शिर पर लेप करनेसे भीतरका दाह और तृषा शमन होजाती है ।

(२) एक कांसीके कटोरेमें गोबरीकी थोड़ी राख डाल नाभि पर रख ऊपरसे शीतल जलकी धारा डालनेसे दाह और प्यासका शमन होता है ।

पथ्यापथ्य विचार ।

पथ्य—शोधन, शमन, निद्रा, स्नान, कवलधारण कोदों, पुराना चावल, लाल शालि चावल, पेया, लपसी, धानके खीलोंका सत्तू, चावल्लोंका मंड, विलेपी, शक्कर, मिले हुए खट्टे मीठे जलपान, भुने मूंग या भुने मसूर, अथवा भूने चनेका यूष, केले के फूलका शाक, परवल, काशीफल, पोदीना, खजूर, अनार, आंवले, बिजौरा, इमली, पक्के करौंदे, ज्वर न हो तो शीतल लेप, स्नान, धनियां, जीरा, मिश्री शर्बत, मुनक्का, संतरा, मीठा नीबू, अनन्नास, ईखका रस, शहद, आलूबुखारा, महुएका फूल, छोटी इलायची, आंवलेका मुरब्बा, आमका मुरब्बा, बतासा, नारियलका जल, गोदुग्ध, बकरीका दुग्ध, मांस रस, श्रीखण्ड, पोईका शाक, नेत्रवाला, शतावरी, ताड़के कच्चे फलका रस, जायफल, हरड़, कपूर, सोहागाका फूला, शीतलवायु, पन्ना आदि रत्न-आभूषणोंका धारण और स्त्रियोंके साथ मधुर वार्त्तालाप इत्यादि पथ्य हैं ।

इनके अतिरिक्त जिह्वाके नीचेकी जो दो बड़ी नीली शिरा प्रतीत

होती हैं, उन पर हल्दीको दीपकाग्निसे तपा कर दाग देनेसे तृषा शमन होजाती है; ऐसा प्राचीन आचार्यों का लेख है।

अपथ्य—स्नेहन, अंजन, स्वेदन, धूमपान, व्यायाम, नस्य, सूर्यके ताप या अग्निका सेवन, दतौन, स्त्री समागम, तैलाभ्यङ्ग, गुरुअन्न, अति खट्टे, अति नमकीन, कसैले, चरपरे और तीक्ष्ण पदार्थ, दुष्ट जल, सोंठ, पीपल, लालमिर्च, राई, तैल, चाय, कॉफी, दिनमें शयन, उग्रवीर्य या तीक्ष्ण पदार्थ, जड़ान्न और मनको उद्वेग कराने वाला भोजन इत्यादि अपथ्य है।

बर्फ, आइसक्रीम आदि अति शीतल पदार्थोंका सेवन भी हानि पहुँचाता है ?

दाह रोग ।

दाह-जलन—बर्निंग सेन्सेशन—Burning Sensation ।

दाह परिचय—विविध कारणोंसे पित्त प्रकुपित होकर नेत्र, हाथ-पैरोंके तल और सारे शरीरमें जलन उत्पन्न कर देता है, उसे दाह रोग कहते हैं।

इस दाहके निम्न ७ प्रकार हैं। (१) मद्यज, (२) रक्तज, (३) पित्तज, (४) तृषा-निरोधज, (५) शस्त्र-घातज, (६) धातु-क्षयज और (७) अभिघातज ।

(१) मद्यज दाह लक्षण—जब मद्यपानजनित ऊष्मा पित्त और रक्तसे मूर्च्छित (प्रेरित) होकर त्वचामें प्राप्त होती है, तब भयंकर दाह उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्सा पित्तज मदात्यय के समान करनी चाहिये। इसका विशेष विचार मदात्यय रोगमें किया जायगा।

(२) रक्तज दाह लक्षण—जब सारे शरीरके रक्तमें उफान आने लगता है (किसी अङ्गमें रक्त आवश्यकतासे अधिक बढ़ जाता है), तब अत्यन्त दाह होने लगता है। जिससे मनुष्यको

चूसने (अत्यंत नाड़ियाँ खिंचने) और जलनेके सदृश वेदना होती है । शरीर और नेत्र लाल-लाल ताम्बेके समान हो जाते हैं । देह, मुँह और श्वासोच्छ्वासमें लोहेकी सी गन्ध (तप्त लोहे पर जल डालनेसे उत्पन्न गन्धके समान वास) आती है; और देह अग्निसे जल रही हो ऐसा भास होता है ।

(३) पित्त प्रकोपज दाह लक्षण—पित्त-प्रकोप होनेपर दाह हो जाता है । इसमें पित्तज्वरके सदृश लक्षण होते हैं । पित्त-ज्वरमें आमाशय दुष्टि आदि लक्षण अधिक होते हैं । वे लक्षण इस दाह रोगमें नहीं होते । तथापि पित्तशमनार्थ चिकित्सा दोनोंमें एक सी की जाती है ।

(४) तृषा निरोधज दाह लक्षण—तृषाका अधिक निरोध होनेसे अब् धातु (रस) का क्षय होकर और अग्नि (शारीरिक उष्णता) बढ़ जाती है । जो सारे शरीरको भीतर और बाहर जलाती है । इस प्रकारमें कण्ठ, तालु और ओष्ठ सूखते हैं । रोगी जिह्वाको बाहर निकाल देता है; और काँपने लगता है ।

(५) शस्त्रघातज दाह लक्षण—तीर, तलवार, भाले, छुरी आदि शस्त्रका गहरा प्रहार होजानेसे कोष्ठमें रुधिर भर जाता है । फिर उससे दाह होने लगता है । यह दाह दुःसह माना गया है ।

कोष्ठ स्थान—आयुर्वेदने ८ कोष्ठके स्थान कहे हैं । आमाशय अग्न्याशय, पक्वाशय (अन्न), मूत्राशय (वस्ति), रुधिराशय (यकृत), हृदय, उण्डुक (वृश्चिक का एक भाग) और कुप्कुप्त ।

(६) धातु क्षयज दाह लक्षण—रस, रक्त आदि धातुओंके क्षयसे भी दाह होता है । यह रोग शनैः-शनैः बढ़ता जाता है । फिर इस दाहमें मूच्छर्मा, तृषा, आवाज बैठ जाना, अत्यंत अशक्ति, भयंकर पीड़ा होना इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं । इस रोग की चिकित्सा यथा समय न होने पर रोगी दुःख भोग-भोगकर मृत्यु-मुखमें चला जाता है ।

(७) अभिघातज दाह लक्षण—मर्मस्थानो (मस्तिष्क, हृदय, बस्ति आदि) मेंसे किसी स्थान पर चोट लगनेसे दाह होता है । इस दाहको असाध्य माना है ।

मर्मस्थान—(Vital harta) जिस स्थान पर चोट लगने पर मृत्यु हो जाती है, उसे मर्मस्थान कहते हैं । भगवान् धन्वन्तरिजीने सुश्रुत संहितामें मासमर्म, शिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म और सधिमर्म ये पाँच प्रकारके मर्मस्थान मिलाकर मानव शरीरके भीतर १०७ मर्म कहे हैं । इनमें ११ मासमर्म, ४१ शिरामर्म, २७ स्नायुमर्म, ८ अस्थिमर्म और २० सधिमर्म हैं । इनमेंसे ११-११ दोनों पैरों और दोनों हाथोंमें मिलकर ४४ हैं । उदर और छातीमें १२, पीठमें १४ और ग्रीवासे ऊपर ३७ मर्मस्थान हैं ।

इन सब मर्मोंके परिणाम भेदसे निम्नानुसार ५ प्रकार हैं ।

१—सद्यः प्राणहर १६ हैं ।

२—कालान्तरमें प्राणहर ३३ हैं ।

३—विशल्यन्न अर्थात् शल्य निकालने पर प्राण हरण करने वाले ३ मर्म हैं ।

४—वैकल्य कर अर्थात् विकलता कारी ४४ है ।

५—रुजाकर अर्थात् अति व्यथा उत्पादक ८ हैं ।

इनमेंसे पहले प्रकारके मर्मस्थान पर अधिक चोट लगने पर ७ दिनके भीतर मृत्यु हो जाती है । इस प्रथम प्रकारके सद्यः प्राणहर मर्मोंमें ४ शृगाटक, १ अधिपति, २ शङ्ख, ८ कण्ठ शिरा, १ गुदा, १ हृदय, १ बस्ति और १ नाभि मिलकर १६ मर्मस्थान हैं ।

सुश्रुत संहिता और जेज्जट आचार्यके मतानुसार रक्तज-दाहका मद्यज दाहमें अन्तर्भाव होता है और क्षतज तथा शोकज दाह सातवां कहा है । इन क्षतज और शोकज दाहोंके लक्षण निम्नानुसार है ।

क्षतज और शोकज दाह लक्षण—जहरी वाणोंसे मारे हुए

पशुओंके मांसका सेवन और अपने देह या आप्तवर्ग या धन आदिका नाश होनेपर शोक करनेसे अत्यन्त अन्तर्दाह उत्पन्न होजाता है । इसमें तृषा, मूच्छ्रा, प्रलाप आदि लक्षण होते हैं ।

इस तरह कभी-कभी उपवाससे भी पित्त प्रकुपित होकर दाह की उत्पत्ति होजाती है ।

साध्यासाध्यता—जिस रोगीका शरीर बाहरसे शीतल होगया हो; और भीतरमें भयंकर दाह होरहा हो, उस रोगीका रोग असाध्य माना गया है ।

डाक्टरी विवेचन ।

डाक्टरीमें दाहको पित्तज विकार नहीं माना । रक्ताभिसरण क्रियामें जिस-जिस स्थानपर प्रतिबन्ध होता है; उस-उस स्थानपर दाह की उत्पत्ति होती है । जब रक्त जितने वेगपूर्वक प्रवेश करता है, उतने ही वेगपूर्वक वापस नहीं लौटता—अर्थात् कुछ काल रुकता है, तब वहाँपर दाह होने लगता है । मद्य और विष-सेवनजनित दाह, तथा व्रण स्थानमें रक्तनिरोधज दाह सब इसी नियमानुरूप होते हैं ।

दाहमें शारीरिक उत्ताप की वृद्धि नियम पूर्वक नहीं होती । जब तक मस्तिष्क स्थित उत्ताप-नियन्त्रक केन्द्र स्थानमें उत्तेजना न हो जाय; तब तक शारीरिक उत्तापमें वृद्धि नहीं होती । जितने अंशमें केन्द्रस्थान उत्तेजित होता है; उतने अंशमें शारीरिक उत्ताप की वृद्धि होती है । चाहे सार्वज्ञिक (सारे शरीर के) या स्थानिक (किसी एक विधान या अवयवके) आभ्यन्तरिक भागमें जलन होतो हो; परन्तु जब तक केन्द्र-स्थान उत्तेजित नहीं होता, तब तक शारीरिक उत्तापपर अधिक प्रभाव नहीं पहुँचाता ।

मद्य और विषज दाह सार्वज्ञिक होता है । परन्तु उनमें ज्वरके समान शारीरिक उत्ताप की वृद्धि नहीं होती ।

अधिक मिर्च आदि दाहके पदार्थ का सेवन करनेपर आमाशय की

श्लैष्मिक कलामे प्रदाह उत्पन्न होता है । उसमे आम्राशयिक रस की तीव्रता मानी जाती है । फिर वमन हो जाय, तो कण्ठ आदि प्रदेशमें जलन हो जाती है । एव उसी हेतुसे नेत्रोमे भी उष्णता पहुँचकर अश्रु-स्त्राव होने लगता है; तथा उस रस का अंश रक्तमे शोषण हो जानेपर उसे जलाने की क्रिया होने लगती है; तत्र दाह उत्पन्न होने लगता है । गरम चाय आदि पीनेवालो को और वातरक्त आदि व्याधि पीड़ितों को हाथ-पैर आदि में जो दाह होता है; वह विजातीय परमाणुओंके साथ युद्धके हेतुसे होता है । उस समय रक्त की गति पीड़ित स्थानमें ही हो जाती है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

सामान्यतः सब प्रकारके दाह रोगमें पित्त की प्रधानता रहती है, अतः पित्तनाशक उपचार करना चाहिये । दाह रोगमें उदर को शुद्ध रखना चाहिये ।

दाह शामक ओषधियो का विवेचन वैज्ञानिक विचाराणाके पृष्ठ १४२-१४४ में किया है । एवं उस ग्रन्थ के भीतर पित्तशामक ओषधियोंमेंके भीतर पृष्ठ ४१ में काकोल्यादि गण, न्यग्रोधादि गण, पञ्चतृण मूल लिखे हैं । वे सब दाह को नष्ट करते हैं । एवं पित्तपापड़ा और श्वेतचन्दन तथा आंवला दाहशमनार्थ उपयोगमें अधिक लिये जाते हैं । पतली और कंसरी ओषधिके गुणोका वर्णन वैज्ञानिक विचारणा पृष्ठ ४६ में और आंवले का वर्णन पृष्ठ ४७ किया है । अतः यहाँ इनका विशेष विवेचन नहीं किया ।

मद्यज दाहमें लंघन करा कर संतर्पण भोजन कराना चाहिये । (इस संतर्पणकी विधि चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ५६७ में दी है ।) एवं जंगलके जीवोके मांस का रस दें । फिर भी दाह शमन न हो; तो रोहिणी नाड़ीको खोलकर रक्त निकालना।

चाहिये । इसका वर्णन चि० त० प्र० प्रथम खण्डके शिरावेध विचारमें पृष्ठ २७४ से २८२ तक किया गया है ।

दाह रोगीके शरीरमें घीको सो बार धोकर मालिश करें । अथवा जौके सत्तू, बेरके पत्ते तथा आँवले सहित धान्याम्ल नामक काँजीका लेप करें, अथवा रोगीको काँजीमें भीगे हुए वस्त्र से ढकें या शरीर पर चन्दन का लेप करें । मद्यज दाहमें उपद्रव शमन हो गये हों; तो उसकी विरेचन आदि क्रियासे संशुद्धि करके चिकित्सा करनी चाहिये ।

रोगीको कमलके पत्र और केलेके पत्तोंकी शय्या पर सुलावें । चन्दन मिले हुए जलके कण जिनमेंसे गिरते हों; ऐसे पंखोंसे पवन करें । दाह और तृषाको शमन करनेके लिये जलका सिंचन करना, जलमें घुसकर स्नान करना और शीतल जलका ही उपयोग करना चाहिये । थोड़ा-थोड़ा मिश्री मिला जल, दूध, ईखका रस, फालसे, सन्तरे या मुसम्बीका रस या मन्थ पिलाना चाहिये ।

मन्थके अनेक प्रकार हैं । मन्थ फाँटका भेद है । ४ पल शीतल जलमें १ पल ओषधि द्रव्य मिला मिट्टीके बर्तनमें भिगो फिर मथकर उसमेंसे दो पल पिलाया जाता है ।

खजूर, दाड़िम, द्राक्षा, पक्की इमली आदिका इसी तरह मन्थ बनाकर पिलाया जाता है । या सत्तूका मन्थ पिलाया जाता है । सत्तूके मन्थको 'तृष्णा-दाहस्य पित्तहा' अर्थात् तृषा, दाह और रक्तपित्तका नाशक कहा है ।

फूल प्रियंगू, लोध, सुगन्धवाला, खस, नागकेशरके पत्ते, केवटी, मोथा और पीत चन्दन, इनका रस निकालकर प्रलेप करने से दाह रोगमें लाभ पहुँच जाता है ।

जिस सरोवरमें रंगविरंगे मनोहर कमल खिल रहे हों, उसमें स्नान करना, और जिस मकानमें फुहारे छूट रहे हैं, ऐसे

भवनमें बैठना, तथा सर्वाङ्गमें चन्दनका लेप लग रहा हो ऐसी स्त्रीसे वार्त्तालाप करना आदि उपचारोंसे दाहकी निवृत्ति होती है ।

सुगन्ध वाला, पद्माख, खस, चन्दन और कमलसे सुवासित किया हुआ जल एक टबमें भर देवें और उसमें दाह-पीड़ित मनुष्यको बैठानेसे तत्काल दाहकी निवृत्ति होती है ।

रक्तसंचय जनित दाहमें सद्योव्रण चिकित्साका आश्रय लेना चाहिये । आमाशयमें रक्तसंचय होनेपर वमन करावें । पक्काशयमें रक्तसंचय होनेपर विरेचन करावे ।

धातुक्षयज दाहमें रक्तपित्तके समान स्निग्ध और वात शामक उपचार करना चाहिये ।

दाह चिकित्सा ।

(१) चन्दनादि कषाय—सफेद चन्दन, पित्तपापड़ा, सुगन्धवाला, खस, नागरमोथा, कमलगट्टा, कमलकी नाल, सौफ, धनियॉ, पद्माख और आँवले इन ११ ओषधियोंको समभाग मिला अर्धावशेष काथ बनावें । इस काथको दिनमें ३ समय मिश्री और (शीतल होने पर) शहद मिलाकर पिलानेसे उग्र दाह का भी शमन हो जाता है ।

(२) प्रवालपिष्टी २ रत्ती, गिलोयसत्व ४ रत्ती और सितोप-लादि चूर्ण २ माशे मिलाकर शर्बत अनारके साथ देनेसे दाह सत्वर शमन होता है ।

(३) धनियॉ, सौफ और जीरा, तीनों मिलाकर २ तोलेको रात्रिके समय मिट्टीके पात्रमें भिगो सुबह मसल-छान मिश्री मिलाकर पिलानेसे दाहकी निवृत्ति होती है ।

(४) बेरकी गुठलीका मगज और आँवलोंके रसको जौके सत्तूमें मिलाकर खिलानेसे दाहका नाश होता है ।

(५) काँटे वाली चौलाईका मूल, धनियॉ और सौफको दूध

में पीस छान मिश्री मिलाकर पिलानेसे दाहका निवारण हो जाता है ।

(६) गिलोय या पित्तपापड़ेका स्वरस या हिम पिलानेसे दाह दूर हो जाता है ।

(७) मद्यज दाह पर—रसतन्त्रसारमें लिखे हुए प्रयोग राजावर्त्त भस्म (२० २०१), या राजावर्त्त रस (२० ४७३) का सेवन कराना विशेष हितकारक है ।

(८) पित्तप्रकोपज दाह पर—रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ पर्पटादि काथ (२० ७१६), रसादि चूर्ण (२० ४७२), अथवा मौक्तिक पिष्टी (२० २०२ अमृतासत्व और शर्वत गुलाबके साथ), का सेवन कराना चाहिये ।

(९) रक्तपित्तज दाह पर—रसतन्त्रसारोक्त चन्द्रकला रस (२० ४४६); कुष्माण्डावलेह (२० ८०२), वासावलेह (२० ७६६), एलादिवटी (२० ६४२), या भृङ्गराजासव (२० ७७७) का सेवन हितकारक है ।

(१०) किनाइन-जनित दाह पर—सुवर्णमालिक भस्म, प्रवाल पिष्टी और अमृतासत्व मिलाकर शहद या शर्वत अनार के साथ सेवन करावें । अथवा मौक्तिक पिष्टी और गिलोयसत्व दूध के साथ देवें ।

(११) अन्त्रदाह पर—जसद भस्म और मिश्री मिलाकर दूधके साथ सेवन करावें । या रौप्यभस्म च्यवनप्राशावलेहके साथ देवें ।

(१२) जीर्णज्वर-जनित दाह पर—रसतन्त्रसारमें लिखी हुई औषधियाँ—संशमनीवटी (२० ४० ३६६) सुवर्णमालिनी वसंत (२० ३८४) लघुमालिनी वसन्त (२० ३६३), चन्दनादि लोह (२० ३८४), या अमृतारिष्ट (२० ७५६) का सेवन कराना चाहिये ।

(१३) उपदंशज दाह पर—अष्टमूर्ति रसायन (२० ३०५) या गंधक रसायन (२० ४७६) और प्रवालपिष्टी देवें ।

(१४) सुजाक जनित दाह पर—चन्द्रप्रभावटी (२० ६४२), गोक्षुरादि गूगुल (२० ६५५), या प्रमेहान्तक वटी (२० ५२६) का सेवन कराना चाहिये ।

(१५) मलावरोध को दूर करने के लिये—रसतन्त्रसारोक्त स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (२० ६७६), गुलकंद (२० ८०१), त्रिवृ-दष्टक मोदक (२० ६३०) या आरग्वधादि काथ (२० ७०६ उदर में कच्चा मल या विष हो तो) का सेवन कराना चाहिये ।

(१६) बाह्यलेप—(अ) खसको दहीमें पीसकर लेप करे ।

(आ) चन्दनको जलमें घिसकर पतला पतला लेप करे । सूखने पर बारबार कपड़े से पोछ कर हटा देवे, और नया लेप करें ।

(इ) दहीको कपड़ेमें बाँध जल निकाल देवें । फिर उसकी मालिश करनेसे दाह की निवृत्ति हो जाती है ।

(ई) नीमके पत्तोंको पानीमें पीसकर कल्क करें । फिर जल में धोल मन्थन करें । उसमें भाग आवें उनकी मालिश करनेसे दाह शमन होता है । मद्यज दाह आदिमें शरीरका वर्ण काला हो जाता है, वह भी इस मालिशसे सुधर जाता है ।

(उ) शतघौतघृतमें जौका सत्तू मिलाकर मालिश करे ।

काँजिक तैल—६८ तोले तिल तैलको १०२४ तोले काँजीमें मिला मन्दाग्नि पर पकावें । पाक होने पर कड़ाही को उतार तुरन्त तैलको छान लेवे । इस तैल की मालिशसे दाह और व्याकुलता दूर होती है ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—पित्तशामक और कड़वी (किन्तु शीतल गुणवाली)

वस्तुका सेवन अत्यंत हितकारक है। उ्वर न हो, तो शीतल जलसे स्नान, चंदनादिका लेप, शतधौत घृतकी मालिश, शर्बत, शीतलवायु और चंद्र किरणोंका सेवन, ईखका रस, ताजा गोदुग्ध, दूधमेंसे निकाला हुआ मक्खन, दहीमें से निकाला हुआ मक्खन, घृत, सिरकामें भिगोया हुआ कपड़ा कपाल पर रखना, बालिकाओंकी तोतली भाषा, कुमारिकाओंका गान सुनना, सन्तरा, मीठा नीबू, मुसम्बी, सेव, मीठा अनार, फालसा, अंगूर, मुनक्का, किसमिस, खजूर, शालि चावल, साँठी चावल, मूंग, मसूर, चना, जौ, जंगलीपशुओंके मांसका रस, धानका लावा, मण्ड, पेठा, ककड़ी, केला, पनस, परवल, मीठी तुम्बी, कड़ुवी तुम्बी, कंदुरी, कसेरू, साबूदाना, कच्चे नारियलका जल, चौलाई, पपीता इत्यादि पथ्य हैं।

अपथ्य—व्यायाम, सूर्यके तापका सेवन, मट्ठा, ताम्बूल, शहद, हींग, सरसों, राई, विदाही पदार्थ, पित्तवर्धक पदार्थ, लालमिर्च, तेज खटाई, मैथुन, चरपरी, कड़वी (किन्तु उष्ण गुण वाली) और उष्ण वस्तु, जुधा तृषा आदिके वेग धारण, शराब, धूम्रपान, गरम चाय आदि उत्तेजक पदार्थोंका सेवन, तैल, नारियलकी गिरी इत्यादि अपथ्य हैं।

(१६) शूलरोग

शूल, वज्र-उल-मेअदा, कॉलिक-Colic ।

रोग-परिचय—शूल (कांटे) चुभकर टूट जाने समान पीड़ा होने पर शूलरोग कहलाता है। यह शूल आमाशय, अन्न, फुफ्फुस, वृक्क, पित्ताशय, हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक स्थानों में निकलता है। यह शूल जब अंत्रमें चलता है; तब अन्नकी मांसपेशियोंकी दीवारोंमें साक्षेप संकोच होता है। बहुधा यह नाभि प्रदेशके पास प्रबल वेगपूर्वक उत्पन्न होता है। उदर दबाने

पर शूल शमन होजाता है । उस अन्नके शूलके समय हृदय की क्रिया क्षीण होजाती है । इस अन्नके अतिरिक्त आमाशय, यकृत वृक्क आदि स्थानोंमें भी शूल उत्पन्न होजाता है । इन सब स्थानों के शूलोंमें से अन्न, आमाशय और पित्ताशय, इन स्थानोंके शूलका यहाँ प्रधानतासे विवेचन किया जायगा । शेष शूलोंका वर्णन यथा स्थान करेंगे ।

डाक्टरीमें पृथक्-पृथक् स्थानोंके शूलों के नाम निम्नानुसार पृथक्-पृथक् रखे हैं ।

- (१) उदरगुहाके किसी भी प्रदेशका शूल—कॉलिक-Colic ।
- (२) अन्नशूल—एन्टराल्जिया—Enteralgia ।
- (३) आमाशय शूल—गेस्ट्राल्जिया—Gastralgia ।
- (४) यकृतशूल—हेपटिक कॉलिक—Hepatic Colic ।
- (५) पित्ताशयकी अश्मरीजन्य शूल—बिलियरी कॉलिक—Biliary Colic ।
- (६) अन्नपुच्छमें शूल—एपेन्डिक्स्युलर कॉलिक—Appendicular Colic ।
- (७) लाला ग्रन्थियोंमें पीड़ा—सेलाइवरी कॉलिक—Salivary Colic ।
- (८) उदरमें वात वृद्धि जन्य शूल—कॉलिक फ्लेच्युलेण्ट—Colic Flatulent ।
- (९) मल वृद्धिजन्य शूल—कॉलिक स्टर्कोरेसियस—Colic Stercoraceous ।
- (१०) शुष्कमलजनित शूल—कॉलिक सिबेलस—Colic Seybalous ।
- (११) स्त्रियोंके मासिकधर्ममें शूल—मेनस्ट्रुअल कॉलिक Menstrual Colic ।

(१२) स्त्रियोंके बीजकोषमें शूल—ओवेरियन कॉलिक—Ovarial Colic ।

(१३) वृक्क स्थानमें शूल—रेनल कॉलिक—Renal Colic ।

(१४) वातवहा नाड़ियोंकी विकृतिजन्यशूल—न्यूरेलजिया—Neuralgia । इस शूलके स्थान भेदसे विविध नाम हैं ।

(१५) नाग (सीसा) धातुका विषजन्य शूल—लेड कॉलिक—Lead Colic ।

इस तरह हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस आदि प्रदेशोंके शूलोंको भी पृथक्-पृथक् संज्ञा दी है ।

जब वातकी वृद्धि करने, पित्तका ह्रास करने और कफका मिथ्या योग करने वाले आहार विहार; अथवा पित्तका अतियोग, वायुका हीनयोग और कफका मिथ्या योग कराने वाले आहार-विहार; अथवा कफका अतियोग, पित्तका हीनयोग और वायु का मिथ्या योग कराने वाले आहार-विहारका सेवन किया जाता है, तब इस शूल रोगकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् वात, पित्त, कफ, इन तीनों धातुओंमें अति, हीन या मिथ्या योग होने पर शूल प्रकाशित होता है । उदरशूलोंमें विशेषतः प्राण, अपान, और समान वायुका अतियोग होता है । पित्तका मिथ्या योग हो तो दाह सह शूल होता है; तथा कफका मिथ्या योग होने पर आध्मानसह शूल चलता है ।

यह रोग वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, आमज, वात पित्तज, वात कफज और पित्त कफज, इन भेदोंसे ८ प्रकारका है । इन सब प्रकारके शूलोंमें वायुकी प्रधानता रहती है । इन शूलोंके अतिरिक्त परिष्काम शूल और अन्नद्रवशूलको आचार्योंने पृथक् माना है । अलावा पित्ताशयशूल, हृदयशूल, कृमिजशूल, शिरःशूल, पार्श्वशूल (उरस्तोय-कुक्ष्युदर), कर्णशूल, दन्तशूल,

वृक्षशूल, बस्तिशूल आदि भिन्न-भिन्न स्थानोमें शूल चलते हैं । इनका वर्णन मूल रोगोके साथ यथा स्थान किया जायगा ।

शूल निदान-लक्षण ।

वातज शूल निदान—व्यायाम, रथ, घोड़ा आदि पर सवारी, अति मैथुन, रात्रिमें जागरण, अधिक शीतल जलपान, मटर, मूँग, अरहर या कोदो आदि रुक्ष, वात प्रकोप कर अन्नका अति सेवन, भोजन पर मोजन, चोट लगना, कसैली और कड़ुवी वस्तुओका अधिक सेवन, अंकुर निकले हुए (मूँग, चना, मोठ आदि) अन्नका अधिक सेवन, दूध-मछली आदि विरुद्ध पदार्थोंका सेवन, शुष्क मास, भिण्डी, गुंवार आदि सूखे शाक, मल-मूत्र, अधोवायु या वीर्य आदिके वेगका अवरोध, शोक, उपवास, अति हँसना, अति बोलना इत्यादि कारणोसे वायु प्रकुपित होकर हृदय, पार्श्वपृष्ठ, त्रिक स्थान और मूत्राशय आदि स्थानोमें (और अन्न पचन सस्थामे) शूल उत्पन्न करता है ।

वात प्रकोप काल—भोजन पचन होजाने पर प्रातः सायं दोनो सन्ध्याओमें, वर्षाऋतु और शीतकालमें वायु अधिक प्रकुपित होता है । अतः इन समयो पर बहुधा वातिक शूल की उत्पत्ति होती है ।

वातिक शूल लक्षण—बार बार शूल की उत्पत्ति और शमन, मल-मूत्रावरोध, तोड़ने और भेदन करने समान पीड़ा, स्वेदन, सेक, तैलमर्दन, स्निग्ध और उष्ण भोजन करनेसे शान्त होजाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

निराहार अवस्था (आहार करनेके पहले और पच जानेके पश्चात्) में तीव्र शूल चले, शरीर स्तब्ध होजाय, श्वासोच्छ्वास कष्टपूर्वक चले, अधोवायु और मल-मूत्र त्याग कष्टपूर्वक हो, ये वातिक शूलके लक्षण सुश्रुत संहितामें लिखे हैं ।

पित्तज शूल निदान—क्षार, अति तीक्ष्ण (राई आदि), उष्ण (मिर्च आदि), विदाही (वांसके अंकुर, करीर, केर आदि), तैल, निष्पाव (सेम), तिलकी खल, कुलथीका यूष, चरपरी और खट्टी वस्तु मिलाकर जौके आटेमेंसे बनाई हुई कांजी, सिरका, क्रोध, अम्लिका सेवन, परिश्रम, सूर्यके तेज तापमें ज्यादा फिरना, अधिक मैथुन और पित्तप्रकोपक अन्य वस्तुओंके सेवनसे पित्त दूषित होकर नाभिमें शूल उत्पन्न करता है ।

पित्तज शूल लक्षण—तृषा, मोह, दाह, नाभिमें पीड़ा, प्रस्वेद, मूच्छा, अम और तोड़ने समान पीड़ा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । यह शूल प्रायः मध्याह्न कालमें, अर्धरात्रि, ग्रीष्मऋतु, शरद-ऋतु और भोजन पाक होना, इन समयोंमें अधिक होता है । शीतकाल, शीतवीर्य भोजन, शीतल भोजन और मधुर रससे शमन होजाता है ।

कफज शूल निदान—अनूप देशके और जल-चर जीवोंके मांस, किलाट (दूधमें मट्ठा डाल फाड़कर मावा आदि मिठाई बनाना), खीर, दही, ग्राम्य पशुओंके मांस, ईखका रस, उड़द आदिके बड़े, दहीबड़े, खिचड़ी, तिल, कचौरी और अन्य कफको बढ़ाने वाली वस्तुओंके अति सेवनसे श्लेष्म प्रकुपित होकर शूल उत्पन्न होता है ।

कफज शूल लक्षण—उत्राक, खॉसी, अंग दूटना, अरुचि, मुँहमें बार बार कफ आना, आमाशयमें भारीपन और पीड़ा, बद्धकोष्ठ, शिरमें भारीपन, सर्वदा भोजन कर लेने पर शूल चलना, सूर्योदयके समय एवं शिशिर और वसन्त ऋतुमें अधिक शूल निकलना आदि लक्षण होते हैं । कफज शूलका भोजन करने पर तुरन्त प्रारम्भ होजाता है ।

वातज शूल भोजन पचन होजानेके पश्चात्, पित्तज शूल

भोजनके पचन कालमें और कफज शूल भोजन करने पर तुरन्त होता हैं। इस दृष्टिसे तीनोंके समयमें अन्तर रहा है।

त्रिदोषज शूल लक्षण—जो शूल, हृदय, पार्श्व, पीठ, त्रिक, मूत्राशय, नाभि और आमाशय आदि सब स्थानोंमें चलता है; जिसमें अति कष्ट हो, और वात, पित्त, कफ तीनोंके लक्षण प्रतीत होते हों, उसे त्रिदोषज शूल कहते हैं। यह रोगीको अति कष्ट देता है। इसको शास्त्रकारोंने असाध्य माना है।

कुक्षि शूल लक्षण—वायु प्रकुपित होकर जब जठराग्नि पर आक्रमण करती है, तब किया हुआ भोजन स्तब्ध हो जाता है, पचन नहीं होता। श्वास भर जाना, कच्चे अन्न (आम) के दस्त, बार-बार उदरमें शूल निकलना और बैठने, लेटने, या खड़े रहनेमें चैन न पड़ना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

आम शूल निदान—बार-बार अधिक भोजन करनेसे जठराग्नि मन्द होकर उदरमें वात-वृद्धि होती है। फिर वायु अन्नके चारो ओर रह बीचमें अन्नका पचन नहीं होने देता; फिर उसमेंसे आम बनकर शूल उत्पन्न कर देता है। उसे सुश्रुत संहितामें कुक्षि शूल संज्ञा दी है।

आम शूल लक्षण—आफरा, उषाक, वमन, देहमें भारीपन, मन्दता, उदरमें आम और मलका अवरोध, मुँहसे लार गिरना, तथा कफ शूलके समान लक्षण होते हैं।

अन्य ग्रन्थोक्त आम शूल लक्षण—मूर्च्छा, अध्मान, अपचन, दाह, हृदयमें पीड़ा, विलम्बिका रोगके लक्षण उपस्थित होना, कम्प, वमन, थोड़ा-थोड़ा दस्त आना और प्रमेह आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

यद्यपि इस आमशूलमें कफशूलके समान लक्षण प्रतीत होते हैं, तथापि यह शूल पहले आमाशयमें चलता है, फिर दोष-

सम्बन्ध होकर अन्न, मूत्राशय, नाभि, हृदय, पार्श्व और उदर देशमें होने लगता है ।

पूर्वाचार्योंने दोष भेदसे शूलके स्थान-सम्बन्धमें कहा है किः—

**वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् ।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं सर्वेषु देहेषु च सन्निपातात् ॥**

वातात्मक शूल बस्ति स्थानमें, पित्तात्मक नाभि स्थानमें, कफात्मक हृदय, पार्श्व और उदरमें, तथा त्रिदोषज सारे शरीरमें चलता रहता है ।

द्विदोषज शूल—कफवातज शूल, मूत्राशय, हृदय, पसलियों और पीठमें चलता है । कफपैत्तिक शूल उदर, हृदय और नाभि में, तथा वातपैत्तिक शूल सारे शरीरमें घोर पीड़ा, दाह और ज्वर सह चलता रहता है ।

साध्यासाध्यता—एक दोषज शूल साध्य, द्विदोषज शूल कष्ट-साध्य और वेदना, तृषा, मूर्च्छा, अनाह, भारीपन, अरुचि, कास, श्वास, हिक्का, ज्वर, भ्रम, बलक्षय आदि घोर उपद्रवों सह त्रिदोषज शूलको असाध्य माना है ।

जिस शूलमें वात, पित्त, कफ तीनों दोषोंके मिश्रित लक्षण मिलते हों; तथा रोगी क्षीण मांस वाला, निर्बल और मन्दाग्नि वाला हो, उसके रोगको असाध्य माना है ।

पार्श्व शूल लक्षण—जब कोंख और पसलियोंमें स्थित कफ वायुका अवरोध करता है । तब निरुद्ध वायु तुरन्त अध्मान और उदरमें गुड़गुड़ाहट उत्पन्न करता है । फिर सुई चुभानेके समान पीड़ा, कष्ट पूर्वक श्वासोच्छ्वास चलना, अन्नकी इच्छा न होना और निद्रा न आना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

हृत्पूल—जब वायुका कफ और पित्तसे अवरोध हो जाता है; तब वायु रसवाहिनियोंमें प्रवेश कर रसके साथ मिलकर

हृदयके समीप देशमें शूल उत्पन्न करती है । जिससे श्वासोच्छ्वास का अति अवरोध होता है । इस रोगको हृद्रोग मान कर प्रयत्न करना चाहिये ।

बस्ति शूल—जब मल, मूत्र और अधोवायुके वेगका निग्रह किया जाता है, तब वायु प्रकुपित होकर बस्ति स्थानमें आवर्त्त (चक्कर) रूपसे घूमने लगती है । फिर बस्ति, वक्ष्य स्थान और नाभिमें शूल चलता है; तथा मल, मूत्र और अधोवायु का अवरोध हो जाता है ।

मूत्रशूल—जब प्रकुपित वायु मूत्रप्रसेक (मूत्रेन्द्रियकी नालिका) में प्रवेश कर अवरोध कर देती है; तब नाभि, वक्ष्य, पार्श्व भाग और उदर स्थानमें शूल चलने लगता है । इसे मूत्र-शूल कहते हैं ।

विट्शूल—रूक्ष आहार करने पर वायु प्रकुपित होकर मलको कोष्ठमें रोक देती है; अग्निको मन्द कर देती है । तथा मार्गको रोककर तीव्र शूल उत्पन्न करती हुई दाहिनी या बाँयी कोंखमें पहुँचती है । पश्चात् तुरन्त सारे उदरमें गुड़-गुड़ाहटके साथ तीव्र शूल चलने लग जाता है । इस शूलमें तीव्र तृषा, भ्रम, मूर्च्छा, मलमूत्रके त्याग होने पर भी शान्ति न होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

परिणामशूल (पक्तिशूल)

परिणाम शूल निदान—जब अपने कारणोंसे कुपित हुई बलवान वायु, कफ और पित्तके साथ मिल जाती है । तब शूल उत्पन्न करती है । यह शूल भोजन पचनेके समयमें चलने लगता है ।

यह शूल रसवाहिनियोंके मार्गमें विकृति होजानेसे होता है, और थोड़ा-सा खा लेने पर, या वमन होजाने पर, या अन्नपचन

होजाने पर शमन होजाता है । पित्त और कफके अनुबन्धसे नाभि, मूत्राशय, स्तनोंके बीच (कौड़ी प्रदेश), पीठ, स्कन्ध और पार्श्व-भागोंमें भी शूल निकलता रहता है ।

यह शूल नियत परिणाम कालयुक्त होनेसे पित्तोत्त्वण माना गया है । अम्ल विपाक वाले आहारसे शूल बढ़ता है और मधुर विपाक वाले आहारसे शमन होता है । इसी हेतुसे चावल और कुलथीके सेवनसे (अम्ल विपाक होनेसे) शूल बढ़ता है; और सोंठ, धनियाँ आदि मधुर विपाकी द्रव्योंसे शमन होता है ।

वातिक परिणाम शूल लक्षण—आफरा, गुड़गुड़ाहट, मल-मूत्रावरोध, बेचैनी, कम्प, स्निग्ध और उष्ण पदार्थके सेवनसे शमन होना इत्यादि लक्षण होने पर वात प्रधान परिणामशूल कहलाता है ।

पैत्तिक परिणाम शूल लक्षण—तृषा, दाह, बेचैनी, पसीना, चरपरे, खट्टे और नमकीन पदार्थोंके सेवनसे शूल-वृद्धि होना और शीतल पदार्थ सेवनसे शान्त होना इत्यादि चिन्ह होनेपर पैत्तिक परिणामशूल कहलाता है ।

कफज परिणाम शूल लक्षण—वमन, उबाक मोह, दीर्घकाल तक मन्द मन्द पीड़ा बनी रहना तथा चरपरे और कड़वे पदार्थके सेवनसे शमन होजाना इत्यादि लक्षण वाले शूलको कफज-परिणाम शूल कहते हैं ।

यदि दो दोषोंके लक्षण प्रतीत होते हैं; तो द्विदोषज और तीनों दोषोंके लक्षण प्रतीत होनेपर त्रिदोषज माना जाता है । जिसमें बल, मांस और अग्निका क्षय हुआ हो ऐसे त्रिदोषज शूलको असाध्य कहा है ।

यह त्रिदोषज परिणाम शूल आन्त्रिक व्रणके हेतुसे उत्पन्न होनेका अनुमान है । इस आन्त्रिक व्रण रोगमें निम्न शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ण रूपसे प्रतीति होती है ।

भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णे चाग्ने प्रशाम्यति ।

षष्ठिकव्रीहिशालीनामोदनेन च वर्धते ॥

अर्थात् कुछ खा लेने पर या वमन हो जाने पर, अथवा अन्न पचन होजानेके पश्चात् शूल शमन होजाता है, शालि या साठी चावल खाने पर (आमाशयगत लवणाम्ल द्रवमें तीक्ष्णता आ जानेसे) बढ़ जाता है । इस वचनमें कहे हुए परिणाम शूलके लक्षण अन्वय और व्यतिरेक, दोनों दृष्टिसे आन्त्रिक व्रणमें प्रतीत होते हैं । डॉक्टरों के अनुसार इस आन्त्रिक व्रणका निदान आगे लिखा जायगा ।

अन्नद्रव शूल ।

यह अन्न विदाहज शूल पित्तमें भयंकर अम्लता और उष्णता की वृद्धि होनेपर उत्पन्न होता है । यह शूल भोजन पचनके समय में और भोजन पच जानेपर भी चलता रहता है । पथ्य भोजनसे, अपथ्य भोजनसे तथा भोजनका त्याग कर देने पर भी नियम-पूर्वक शमन नहीं होता । इस हेतुसे इसको आचार्योंने असाध्य माना है ।

लक्षण—इस शूलमें आनाह (अधोवायु और मलका अवरोध), भारीपन, वमन, भ्रम, तृषा, ड्वर, अरुचि, कृशता, बलक्षय और अति वेदना, अर्थात् शूल रोग कथित दशाके उपद्रव मिलते हैं । इस हेतुसे इस शूलको त्रिदोषज और घातक माना है । इस शूलको डॉक्टरोंमें आमाशयिक व्रण-जनित माना है । आमाशयिक व्रण होने पर निम्न शास्त्रीय लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हैं ।

अन्नद्रवाख्य शूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।

वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति ॥

अर्थात् इस अन्नद्रव शूलमें जब तक वमन नहीं होती; तब तक शान्ति नहीं होती । वमन होजाने पर जला हुआ पित्त निकल जाने पर तत्काल शूल दूर होजाता है । इस आमाशयिक व्रणका वर्णन डॉक्टरी मतानुसार आगे लिखा जायगा ।

शूलरोग का डाक्टरी निदान—लक्षण ।

आमाशय शूल—(गेस्ट्रालजिया—गेस्ट्रो डाइनिया और कर्डिया-ल्लजिया—Gastralgia gastrodynia and Cardialgia)
डॉक्टरीमें इस विकार को स्वतन्त्र रोग रूप नहीं माना; महत्त्व का लक्षण कहा है । इस रोगमें आमाशयके भीतर तीव्र वेदना, वमन, सुधानाश आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

आमाशयशूल निदान—आमाशय शूल की उत्पत्तिमें अनेक बार आहार की अनियमितताके हेतुसे और अनेकवार आमाशयस्थ वातवहा नाड़ियोंकी उत्तेजना होनेपर इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

एवं अत्यधिक भोजन करनेपर, परिश्रम का अभाव, अतिशय मानसिक चिन्ता, क्रोध, हिंसा, भय या अन्य मानसिक वेदना और शीत लग जाना ये भी इस रोगके उत्पादक कारण हैं । मद्यपान, चाय, कॉफी या विषारी तमाखू आदि उत्तेजक पदार्थों का अधिक सेवन, विषम ज्वर, वातरक्त, वात प्रधान पीड़ा, आइस क्रीम आदि शीतल पदार्थों का अधिक सेवन, ग्रीष्मकाल में अकस्मात् शीत लग जाना आदि कारणोंसे भी इस व्याधि की संप्राप्ति हो जाती है ।

यदि वातवहा नाड़ियों (प्राणदा नाड़ियों) में उत्तेजना होनेपर व्याधि हुई है; तो आमाशयकी रचनामें कुछ भी अन्तर नहीं हो जाता । केवल बाह्य हेतुजन्य उत्तेजनावश हृदयाधारिक प्रदेशमें शूल सदृश वेदना होती रहती है । यह वेदना अति प्रबल और सविराम (थोड़े थोड़े समय बाद शूल सदृश वेदना) होती है । इस प्रकार शूल का आक्रमण अकस्मात् होता है । यह रोग स्त्रियों को विशेष होता है । स्त्रियोंमें भी

३० से ५० वर्ष की आयु वाली अधिक आक्रमित होती है । बहुधा चंचल या मृदुस्वभाव और पाण्डु रोग (रक्तमे रक्ताणुओं की न्यूनता) से पीड़ित स्त्रियोपर इस रोगका हमला होता है ।

आमाशय शूल लक्षण—शूल या वेदना ही प्रधान लक्षण है । वेदना आमाशयमेसे प्रारम्भ होती है । इसके अतिरिक्त उबाक, वमन, दाह, तीव्र क्षुधा, व्याकुलता, क्षीण नाड़ी, शीत लगना और मलावरोध आदि इतर लक्षण भी प्रतीत होते हैं । कभी कभी हृत्स्पंदन, क्षीणता और मूर्छा भी आ जाती है ।

प्रारम्भमे आमाशय खाली है, ऐसा जाना जाता है । फिर वेदना की वृद्धि होती है । सज्ञावह या प्राणदा नाड़ियोंके आक्षेप जन्य विकारों का एक विशेष लक्षण यह है कि, उदरको थोड़ा दबानेपर वेदना होती है, और बल पूर्वक दबानेपर वेदना शमन हो जाती है, या न्यून हो जाती है । कभी वेदना एक स्थान पर होती है, कभी वेदना चारों ओर फैल जाती है । यह रोग बहुधा प्रातःकाल प्रकाशित होता है । कभी आहार कर लेनेसे वेदनाकी वृद्धि हो जाती है ।

इस रोगमे प्रायः वमन होती है । इसमें आहार द्रव्य बाहर निकलता है, और कभी-कभी खट्टा गरम पित्त निकलता है । बमन होजानेपर अनेकों की वेदना शान्त हो जाती है । आमाशयमे कभी-कभी वायु सग्रहित हो जाती है; परन्तु डकार आनेपर वायु निकल जाती है । वेदना शमन होनेपर रोगी को निर्बलता आ जाती है । अधिक परिमाणमें पेशाब उतरता है, और स्पर्श करनेपर आमाशय कड़ा लगता है ।

यह विकार जीर्ण हो जानेपर वेदनाकी तीव्रता घटती जाती है; किन्तु बार-बार आक्रमण होता रहता है; और वेदना दीर्घ काल तक रहती है । इस प्रकारके शूल रोगोंकी वेदना शान्त हो जानेपर आमाशय-क्रियामें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता ।

यदि रोग अग्रचन जनित हो; तो आजीर्णके लक्षण सहवर्त्ती होते हैं । एव इस विकारमें ज्वर नहीं रहता । अजीर्ण जनित पीड़ा बनी रहती

है । परन्तु इस प्रकारके शूलमें थोड़े-थोड़े समय वेदना होती है । तब अपचन जनित शूलमें ज्वर भी हो सकता है ।

वातवहा नाड़ियों की विकृति वाले रोगीके अन्य स्थानोंमें भी शूल चलता रहता है । किसी-किसी रोगीको इस शूलके साथ श्वास और कासका दौरा भी हो जाता है । बाहर शीतल वायुका आघात होनेपर इस शूलका पुनः आक्रमण हो जाता है । किसी-किसी रोगीको विषम ज्वर आ जानेके पश्चात् भी वातवहा नाड़ियोंके शूलकी उत्पत्ति हो जाती है । ऐसे रोगीपर आक्रमण निश्चित समयपर होता रहता है ।

वातवहा नाड़ियोंके उत्तेजना जनित दौरेका बहुधा भोजनके साथ सम्बन्ध नहीं है । इस शूल की उत्पत्ति होने पर आमाशय प्रदेशमें अत्यधिक वेदना तथा वहाँ से ऊर्ध्व वक्ष प्रदेश तक और निम्न उदर भागमें थोड़ी-थोड़ी वेदना होती रहती है । किसी-किसी को पृष्ठ देशमें और स्कंध पर भी बिंधनेके समान कभी-कभी पीड़ा हो जाती है । इस वेदना वाले भाग को दबानेपर वेदना शमन हो जाती है; किसी-किसी को भोजन करनेपर वेदना का शमन हो जाता है; या हास हो जाता है ।

आमाशयस्थ वातवहा नाड़ियों की विकृति-जनित व्याधिमें आमाशय रसका स्राव अत्यधिक होता है, या अति न्यून होता है । अति योगमें केवल लवणाम्ल द्रव ही अधिक नहीं होता, सब प्रकारके द्रव अधिक होते हैं । ऐसे प्रकार को डाक्टरीमें अधिक आमाशय रस स्राव अर्थात् गेस्ट्रोसकोर्हिया (Gastro-succorhea) कहते हैं । आमाशय रसमें केवल लावणाम्ल द्रव ही अधिक हो; तो वह हाइपरक्लोरहाइड्रिया (Hyperchlorhydria); लवणाम्ल द्रव का हीन योग हो; तो वह हाइपोक्लोर हाइड्रिया (Hypochlorhydria) और आमाशय रसके स्राव का अभाव हो, तो एकिलिया गेस्ट्रिका (Achylia Gastrica) कहलाता है ।

अधिक आमाशय रसस्राव जन्यशूल—अत्यधिक आमाशय रस-स्राव (गेस्ट्रोसकोर्हिया) जन्य विकार बीच-बीचमें होने वाला यह

सतत भी होता है। बीच-बीचमें आक्रमण होने पर वह गेस्ट्रोक्सिया (Gastroxia or Gastroxynsis) कहलाता है। यह आक्रमण बहुधा रात्रिको खाली पेट होने पर होता है। इसमें शूलके अतिरिक्त खट्टी वमन होती है। यह विकार क्वचित ही होता है। इस प्रकारके विकारमें आमाशय अधोमुख-मुद्रिका द्वार (Pyloric Crifice) का सकोच होता है। फिर इस हेतुसे आमाशयकी वृद्धि हो जाती है।

न्यून आमाशय रससाव जन्य वेदना—आमाशयका चिरकारी प्रदाह, व्रण और कर्कसफोट आदि रोगोंमें आमाशय रसके अम्लसावका हीनयोग होता है। यह विकार बैठे रहने वाले मनुष्यों, मासिक धर्म बन्द होने वाली स्त्रियो तथा हिस्टीरिया और ओज क्षय (Neurasthenia) रोगीको होता है। इस विकारमें माधवनिदानकारके कहे हुए अजीर्णके लक्षण उपस्थित होते हैं।

कितनेक हिस्टीरिया आदि वानवहानाडियोंके रोगी और कितनेक जातमूर्खों (Idiots) को आमाशयमें से आहारको फिर ऊपर चढ़ाने का और चलाने का अभ्यास (मेरिसिज्म Merycism) भी हो जाता है।

इस प्रकारके सावके हीनयोगमें अतियोगके सदृश तीव्र वेदना नहीं होती, परन्तु अजीर्ण बना रहता है, जिससे अजीर्णके लक्षण प्रतीत होते हैं।

आमाशय रक्तसावके अभावजन्य पीड़ा—यह विकार आमाशय गत वातवहानाडियों की विकृतिसे एव आमाशय गत श्लैष्मिक कला नष्ट होने पर भी होता है। इस प्रकारके रोगीको भोजनके पश्चात् वमन करा देनेसे लगभग भोजन जैसा का तैसा ही निकलता है। ऐसे रोगी को प्रारम्भिक अवस्थामें पिताशय, अग्न्याशय और अन्त्रके रससे पचन क्रिया होती है, परन्तु शनैः-शनैः अजीर्णके लक्षण तीव्र होते जाते हैं।

(५) कितनेक नाजुक प्रकृति वालोको आहार-विहारके सामान्य परिवर्तन होने पर अकस्मात् सामान्य उदर पीड़ाकी उत्पत्ति होती है।

उसे डाक्टरोंमें गेस्ट्रलगोकेनोसिस हंगरपेन (Gastralgokenosis Hunger-pain) कहते हैं । यह पीड़ा थोड़ा-सा खा लेने पर शमन हो जाती है ।

आमाशयमें पीड़ा अनेक कारणोंसे होती है । अतः इस शूलका स्थान, स्वरूप (तीव्रता, मंदता, मुहुर्मुहुः, सातत्य आदि) और भोजन के साथ सम्बन्ध है या नहीं ? शूल कब चलता है ? अर्थात् भोजन पचन होजाने पर, या भोजन पचन कालमें, अथवा भोजन कर लेने पर तुरन्त, इन सब बातोंके निर्णयकी आवश्यकता है ।

स्थान—विशेषतः आमाशयशूल कौड़ी प्रदेशमें होता है; क्वचित् यह शूल स्कंधोंमें या पीठमें भी हो जाता है । यदि पीड़ा दवाने पर बढ़ती हो; सहन न होती हो; तो व्रणजनित मानी जाती है ।

स्वरूप—(Character) इस शूलके हेतु भेदसे निम्नानुसार लक्षण पृथक्-पृथक् होजाते हैं ।

(१) चिरकारी आमाशय दाह तथा अग्निमांद्यसे होने वाले अपचनमें शूलके साथ उदरमें जड़ता, या आफरा-आ जाता है ।

(२) अम्लपित्तसे उत्पन्न वेदनाके साथ उदरमें दाह होता है ।

(३) आमाशय की वातवहा नाड़ियोंके खिंचाव होनेपर आमाशय संकोच, या आमाशय द्वारका संकोच होता है; जिससे ऐंठन (Spasm) से तीव्र पीड़ा होती है ।

(४) आमाशयमें व्रण या कर्कस्फोट होनेपर तीव्र पीड़ा सतत रहती है । सुई चुभाने समान या काटने समान वेदना बनी रहती है ।

आमाशयस्थ शूल निर्णय ।

(१) आमाशय की शिथिलताजन्य-अपचन, तीव्र आमाशय-दाह, आमाशयस्थ व्रण और कर्कस्फोट, इन व्याधियोंमें भोजन करनेपर तुरन्त उदर पीड़ा होने लगती है ।

(२) आमाशयमें सामान्य व्रणजनित वेदना हो; तो वमन हो

जानेपर शमन हो जाती है, तथा प्रवाही पदार्थके भोजनसे पीड़ा कम तथा कठोर भोजनसे अधिक होती है ।

(३) अग्निमान्द्यके रोगी को अपचन और तीव्र आम्लाशय प्रदाह होनेपर पीड़ा होती है, तो वह चिरकाल तक बनी रहती है ।

(४) भोजनके १-२ या ३ घण्टे पश्चात् उदरपीडा होने लगे, तो वह लवणाम्ल द्रवका अधिक स्राव दर्शाती है । यह पीड़ा खालेने पर, या अम्लविरोधी क्षारादि ओपधि लेने पर दब जाती है ।

यदि आमविकार (Fermentation) से दुग्धाम्ल (लक्टिक एसिड) या ब्यूटिरिक एसिड (Butyric Acid) की उत्पत्ति होकर शूलका प्रारम्भ हुआ हो, तो कुछ खा लेने पर शूलका शमन नहीं होता । लवणाम्ल द्रवजन्य और आमविकारजन्य शूलमे यह अन्तर है ।

(५) भोजन पचन होजाने पर उदरपीडा प्रारम्भ होकर दूसरी समय भोजन करने पर्यन्त यदि रहती हो, तो अन्त्रव्रणजन्य शूल माना जाता है ।

(६) जिस शूलका भोजनके साथ सम्बन्ध न हो, उदर दबाने पर कुछ अच्छा मालुम हो; अनिश्चित समय पर उत्पन्न होकर अनिश्चित समय पर शमन हो जाता हो, उसे वातवहा नाडियोंकी विकृतिजन्य शूल (गेस्ट्रालजिया Gastralgia) समझना चाहिये ।

आमाशय शूलका इतर शूलोंसे भेद निर्णय ।

इस उदरपीडाके समान कितनेक ऐसे रोग हैं कि जिनमें कौड़ी प्रदेश में व्यथा होती है । अतः इन रोगोंके भेद करानेके लिये निम्नानुसार इतर शूलोंके भेद लक्षणोंको लक्ष्यमें रखना चाहिये ।

(१) पित्ताशमरी जन्यशूल (Biliary Colic) यह तीव्रतम पैत्तिकशूल है । यह शूल आमाशयस्थ वातवहा नाडियोंकी विकृतिजन्य शूल (Gastralgia) के सदृश भासता है, किन्तु यह शूल तीव्रतम होता है । इसका वेग दक्षिण उपपशुका और दक्षिण स्कंधकी ओर

जाता है । अनेक रोगियोंको शूलके पश्चात् कामला हो जाता है; यह रोग विशेषतः ३० वर्षसे बड़ी आयु वाली स्त्रीको होता है ।

(२) यकृतमें सामान्य वेदना (Hepatalgia) होने पर पीड़ा दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशमें होती है; इस हेतुसे यह आमाशय शूलसे पृथक् हो जाता है ।

(३) पशु'कान्तर (Intercostal) प्रदेशमें वातवहा नाड़ियों का शूलविकार होने पर सामान्यतः पीठ की ओर कशेरुकाके समीप, तथा पार्श्वकी ओर पशु'कान्तरमें—अर्थात् दोनों स्थानोंमें वेदना प्रतीत होती है । अतः आमाशयशूलसे इसका सहज भेद हो जाता है ।

(४) उदरके पीछे रहे हुए पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के किसी कसेरुकामें क्षय-कीटाणुओंकी आबादी होजाने पर भ्रान्तिवश आमाशय प्रदेशमें वातजशूल होनेका भास होता है । इस तरह फुफ्फुसोंकी व्याधियों में और कर्कसफोटमें भी भ्रम हो जाता है । किन्तु इतर लक्षणों परसे रोग विनिर्णय सहज हो जाता है ।

(५) हृदयशूल (Angina Pectoris अंजायना पेक्टोरिस) अन्नशूल (Intestinal Colic) और वाम पार्श्वमें रहे हुए अग्न्याशयके हिस्से पर प्रदाह जनित पीड़ा, ये तानों अवयव, आमाशय के समीप होनेसे इनके शूल भ्रम उत्पन्न कराते हैं ।

(६) अनेक रोगियोंमें सुषुम्णाके पिछले हिस्सेमें अपक्रान्तिसे उत्पन्न शकुन्तगति रोग (Locomotor Ataxy) होनेसे वातवहानाड़ियाँ खिंचती हैं; जिससे भयंकर उदरशूल (Gastric Crisis) की उत्पत्ति होती है; परन्तु मूल स्थानके इतर लक्षणों परसे भेद हो जाता है ।

आन्त्रिकशूल ।

आन्त्रिकशूल—एन्टराल्जिया—Enteralgia ।

यह शूल नाभिप्रदेशके समीप होता है; इस व्याधिमें उदर दबाने

पर वेदना शमन हो जाती है । यह रोग स्त्री और पुरुष, उभय पर ही आक्रमण करता है । बाल्यावस्थामे यह पीडा अधिकतर होती है; एव मध्य आयु उत्तीर्ण होने पर इस रोगका आक्रमण बहुधा नहीं होता ।

निदान—अधिक शीतल पदार्थ, आइसक्रीम या बर्फ आदिका अति सेवन, मद्यपान, आध्मान, मलावरोध, अन्न कृमि, विषमज्वर, उपदश, वातरक्त, हिस्टीरिया और अन्य वातविकार आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

इनके अतिरिक्त जो निर्बल रोगी बारबार जुलाब लेते रहते हैं, और फिर कठोर भोजनका सेवन करते हैं, उनको भी इस अन्नशूलकी संप्राप्ति हो जाती है ।

इस अन्नशूलके कारण भेदसे एव इतर शूलोंको डाक्टरीमे निम्नानुसार पृथक्-पृथक् सजा दी है ।

(१) अपथ्य गुरु भोजन और दृढ़ मल-जनित शूलको कालिक सिवेलस (Colic Seybalous) ।

(२) उदरमे दूषित वायुकी उत्पत्तिसे शूल हो, तो कालिक फ्लैट्युलेण्ट (Colic Flatulent) ।

(३) मलसग्रह जनित शूलको कालिक स्टर कोरेसियस (Colic Stercoraceous) ।

(४) सीसा धातुके विषजन्य शूलको कालिका पिक्टोनम (Colica Pictonum) ।

अनेक बार अपचन या अन्य कारणसे अन्नमे अवरोध होता है; तब उस अवरोधको दूर करनेके लिये अन्नस्थ प्रचोदन शक्तिकी वृद्धि होती है, इस हेतुसे शूलकी उत्पत्ति होती है । यदि इस शूलोत्पादक शक्तिकी अत्यधिक वृद्धि हो जाय, तो अन्तमें काटने सदृश वेदना उपस्थित होती है ।

लक्षण—इस अन्न शूलकी प्रबलता और स्वभाव भेदसे लक्षणों मे भेद हो जाता है । पचन क्रियाके विकृति जन्य शूलमें सामान्यतः

उदासीन मुख मण्डल, शीतल प्रस्वेद, क्षीण नाड़ी, क्षुधा नाश, आमाशयमें भारीपन, गर्म गर्म बाष्प युक्त डकार आना, अन्नमें वायुकी गड़गड़ आवाज, उष्ण और वमन आदि लक्षण प्रारम्भमें प्रकाशित होते हैं । इस शूलमें नाभिके चारो ओर फैली हुई प्रबल ऐंठन सदृश वेदना होती है । यह वेदना कुछ सैकण्डोसे कुछ मिनटों तक रहती है; फिर कुछ मिनटों या कुछ घण्टों तक वेदना शमन हो जाती है, या बिल्कुल दूर हो जाती है । यदि रोग बृहदन्नमें हो; तो वेदना अनुपाश्विक (Hypochondrium) प्रदेशमें होती है; और उदर दबाने पर वह कम हो जाती है ।

किसी-किसी रोगी को वेदना स्वल्प होनेसे कष्ट नहीं मालूम पड़ता; जिससे वह अपना कार्य-व्यवहार कर सकता है । और किसी-किसीको इतनी तीव्र व्यथा हो जाती है, कि वह अति व्याकुल होकर चिल्लाता रहता है; आंघा पड़ा रहता है, मुट्ठियों को बन्द कर उदर को दबाता रहता है; अथवा उदरके नीचे सिरौना रख कर हाथ पैर पटकता रहता है, तथा शूल चुभोने और काटने समान पीड़ा होती है ।

किसी-किसी को आध्मान होकर उदर फूल जाता है; और किसीको पहले उदर नहीं भी फूलता । सामान्यतः अपचनजनित अन्नशूलमें आध्मान होनेपर उदर फूल जाता है; और अतिशय व्यथा होनेपर उदरमें गुड़ गुड़ आवाज होती रहती है । यदि उदर फूला हुआ न हो; तो उदरकी स्पर्श परीक्षा करने पर अन्नवलय आक्षेप होकर फसे हुए भासते हैं; तथा अन्नकी कृमिवत् गति मंद प्रतीत होती है । वेदना शमन होनेपर अन्नकी कठोरता या अन्नमें गांठ अथवा अन्नका संचरण कुछ भी नहीं रहता; उदर नर्म लगता है ।

कभी-कभी उदरकी मांस पेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं; और वक्षस्य सुरंगमें रही हुई फल कोषकर्षणी पेशी (क्रिमेस्टर मसल—Cremaster Muscle) संकुचित हो जाती हैं ।

यदि यह रोग हिस्टीरिया जनित है; तो उदर प्रदेशकी त्वचा स्पर्श-

सहन नहीं कर सकती । स्पर्श करनेपर विषम वेदना होती है । परन्तु बलपूर्वक उदर दबाया जाय, तो वेदनाका उपशम हो जाता है ।

सामान्यतः इस व्याधिमें ज्वर नहीं होता । गात्र और शाखाएँ शीतल चिकने प्रस्वेदयुक्त होते हैं, नाड़ी तेज गतियुक्त होती है, परन्तु अति वेदना कालमें अनियमित और मदगति वाली बन जाती है । रोगी व्यथा कम होनेकी आशामे पैरोको जानु मन्धि से मोड़ लेता है; एव कायाको भी विविध प्रकारसे मोड़ता है ।

इनके अतिरिक्त उबाक, वमन, श्वासोच्छ्वासमे कष्ट, वक्ष प्रदेशमे दबाव, मूर्च्छा, कम्प और चक्कर आना आदि लक्षणोंमें से कोई-कोई उपस्थित हो जाते हैं । बहुधा मल विसर्जन की भावना होती है, परन्तु मल त्याग नहीं होता; केवल अधोवायु निर्गत होता है । विशेषतः कोष्ठबद्धता रहती है; मलको बलपूर्वक प्रवाहण करना पड़ता है । क्वचित् अतिसार भी होजाता है । यह शूल रोग निवृत्त होनेपर भी कुछ दिनों तक उदर दबाने पर पीड़ा होती है ।

उदरमे मध्य रेखाके दोनों ओर ५-५ मास पेशिया रही हैं । ३-३ उदरच्छदा, १-१ उदर दण्डिका, तथा १-१ बास्ति चूड़िका अवस्थित हैं ।

उदरच्छदा आदिमा—(एक्सटर्नल ओब्लिक-External Oblique) यह बड़ी विशाल पेशी उदरके आगेके हिस्से और पार्श्व भागको ढकती है । तीनों उदरच्छदामे यह बाहर अथवा ऊपर रही हुई है । इसके आठ मासमय मूल, निम्न प्रदेशमे रही हुई आठ पशुकाओ परसे निकलते हैं । इस पेशीकी पीछेकी धारा बिल्कुल मुक्त है; वह कटि त्रिकोण नामक खाली स्थान की एक बाजू रूप प्रतीत होती है ।

इस मासपेशाके अनेक मासमय तन्तु भिन्न-भिन्न दिशाओंमे गति करते हैं, और एक कला कण्डरा (एपोन्युरोसिस-Aponeurosis) की अर्थात् चौड़ी-पतली, चिकनी ओर दृढ़ श्वेत डोरीसदृश शिराकी रचना करते हैं ।

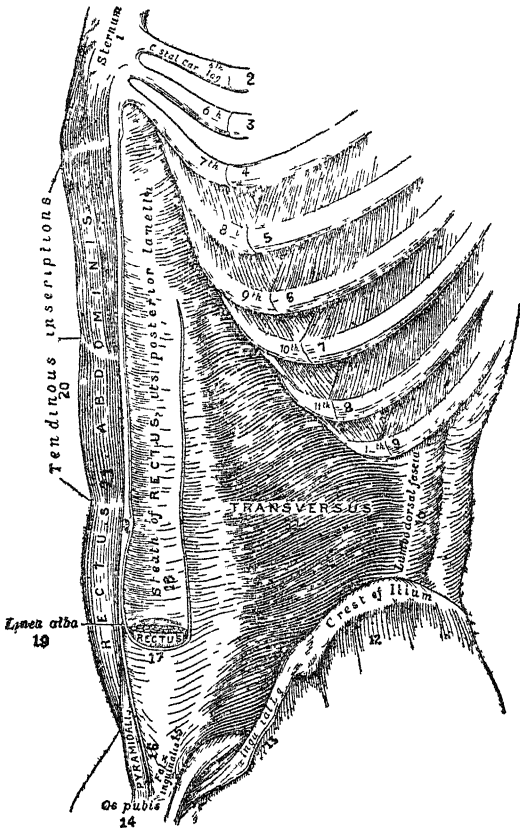
उदरपेशियाँ ।

(वाम उदरच्छदा चरमा और दक्षिण उदरदण्डिका)

१. उरःफलकास्थि—Sternum.
- २ से १ उपपशुकापं Costal cartilages.
२ से १ तकके अङ्गोंसे पशुका और उपपशुकाओंके बीचका संधान जाना जाता है । इनके बीचमें पशुकान्तरिका पेशियाँ अवस्थित हैं ।
- १० कटिपृष्ठप्रच्छदा प्रावरणी Lumbo dorsal fascia.
- ११ उदरच्छदा चरमा पेशी Transversus muscle.
- १२ जघन चूड़ा Crest of Ilium.
- १३ बन्तणिक स्नायु रज्जु Inguinal ligament.
- १४ भगास्थि Os pubis.
- १५ उदर की दीवार का अधो पार्श्वसंयोजित स्नायु Falx inguinalis ligament.
- १६ बस्तिचूड़िका पेशी Pyramidalis muscle.
- १७ वाम उदरदण्डिका (सरल उदरच्छदा) Rectus abdominis.
(कटा हुआ भाग)
- १८ उदर दण्डिका कंचुक (पिछली ओर का) Sheath of Rectus, its posterior lamella.
- १९ उदर सीवनी Linea alba.
- २० अर्धेन्दु लेखा Tendinous inscriptions.
- २१ उदरदण्डिका पेशी Rectus abdominis Muscle.

उदरपेशियाँ ।

(बाम उदरच्छदा चरमा और दक्षिण उदरदण्डिका)



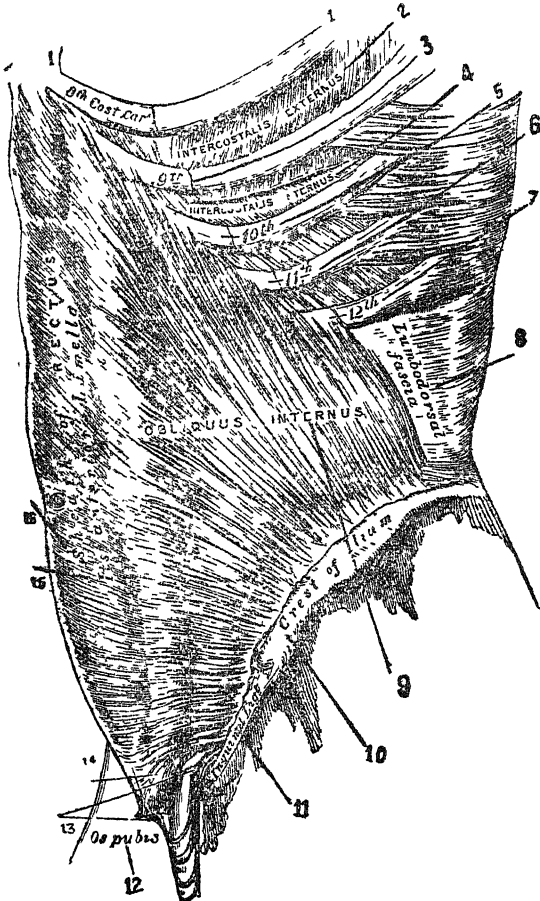
उदरपेशियाँ ।

(वाम उदरच्छदा मध्यमा आदि)

- १, ३, ५, ६, ७—उपपशुकाणं ८ मी से १२ मी तक 8th. to 12th,
Costal Cartilages.
- २, ४—बहिःस्थ पशुकान्तरिका पेशी Intercostalisse externus
- ८—कटिपृष्ठच्छदा प्रावरणी Lumbo dorsal fascia.
- ९—उदरच्छदा मध्यमा Obliquus internus.
- १०—जघन चूड़ा Crest of Ilium.
- ११—वृंक्षणिक स्नायु रज्जु Inguinal ligament.
- १२—भगास्थि Os pubis.
- १३—फलकोषकर्षणी Cremaster.
- १४—अन्तर्वृंक्षणीय दात्रिका कलाकण्डरा Inguinal aponeurotic
falx.
- १५, १६—उदरदण्डिका कंचुक और उसकी आगेकी पर्त Sheath of
Rectus, its anterior Lamella.

उदरपेशियाँ ।

(वाम उदरच्छदा मध्यमा आदि)



इस कला कण्डराकी निम्न धारा श्रोणिफलकके ऊर्ध्वतन पुरःकण्टक से भगास्थिके मुण्ड तक लगी है; वह वंक्षणिक स्नायु रज्जु (इङ्ग्वा-यनल लिगामेण्ट—Inguinal Ligament) कहलाती है । इस स्नायु रज्जु और भगास्थिके शृङ्गके बीचका त्रिकोणाकार स्थान जो खाली है; वह वंक्षणदरी (फेमोगल केनाल—Femoral Canal) नामसे प्रसिद्ध है ।

इस कला कण्डरामें भगास्थिके मुण्डके समीप एक त्रिकोणाकार छिद्र प्रतीत होता है; उसे बहिर्वंक्षणीय छिद्र (सबक्युटेनियस इङ्ग्वा-यनल रिंग (Subcutaneous Inguinal Ring) संज्ञा दी है । यह केवल त्वचा और मेदोधरा कला (Superficial fascia) से ही आच्छादित है । पुरुषोंमें यह छिद्र बड़ा रहता है; इस हेतुसे कभी वृषण बन्धनी (स्पर्मेटिक कोर्ड—Spermatic Cord) स्वस्थानसे बाहर निकल जाती है । स्त्रियोंमें यह कुछ छोटा है; और उसमें गर्भाशयको आधार देने वाला एक स्नायु (Round Ligament of the uterus) रहा है ।

उदरच्छदा मध्यमा—(इन्टरनल औब्लिक—Internal Oblique) यह मांसपेशी पतली और आदिमा की अपेक्षा छोटी तथा उसके पीछे रही है । इसकी उत्पत्ति निम्न प्रदेशमें श्रोणिफलककी जघनधाराके बाह्य किनारे परसे ऊपर कहे हुए वंक्षणिक स्नायु रज्जुके पीछेकी ओर रहे हुए अर्ध भाग परसे, एवं पीछे रही हुई कटि पृष्ठच्छदा-लम्बोडोर्सल फेसिया (Lumbo-dorsal fascia) नामक गम्भीर प्रावरणी अर्थात् मांसधरा कलामेंसे होती है ।

इसके मांसमय तन्तु तिर्यक् गति करके ऊर्ध्व, अधो और मध्यरेखा की ओर फैले हुए हैं । कुछ मांसतन्तु, जो वंक्षणिक स्नायु रज्जु पर से निकलते हैं; वे धनुष्य समान मुड़कर पुरुषोंमें वृषण बन्धनी और स्त्रियोंमें गर्भाशय बन्धनी पर होकर चरमा उदरच्छदाके निम्न मूलोंके साथ मिल जाते हैं; तथा फिर आगे भगास्थिके मुण्ड पर और बस्तिकण्ठिका रेखाको लगे हुए हैं । एवं इन तन्तुओंने वंक्षण सुरंगकी छत

और पीछेके हिस्सेमे भी मध्यरेखाकी ओर गति करने वाले तन्तु एक कला कण्डरा निर्माण करते हैं । इस कला कण्डराके दो स्तर हैं । ये दोनो उदर दण्डिकाकी चारो ओर फैल कर एक स्थलीकी उत्पत्ति करते हैं । फिर आगे जाकर मध्यरेखामे रही हुई उदरसीवनी नामक कण्डरा-मय पट्टी (लिनिया आल्बा-Linea-Alba) मे मिल जाते हैं ।

ऊपर जाने वाले तन्तु निम्न उपपशुकाओ पर लगे हुए हैं ।

उदरच्छदा चरमा—ट्रान्सवर्सलिस मसल (Transversalis Muscle) यह पेशी दोनो उदरच्छदाकी अपेक्षा नीचे रही हैं । यह नीचे वक्षणिक स्नायु रज्जुके पीछेके एक तृतीयांश भाग परसे, जघन-धारा (Iliac Border) की भीतरकी किनारी परसे, पीछे की ओर कटि पृष्ठ प्रच्छदा प्रावरणी परसे तथा ऊर्ध्वभागमे निम्नस्थ ६ उपपशुकाओ परसे उत्पन्न होती है । इस अन्तिम स्थानमे रही हुई मूल महा प्राचीरा पेशीके परिधके सम्बन्ध में आती है ।

इस विशाल प्रभव स्थानसे उत्पन्न हुए कोमल मास तन्तु निम्न प्रदेशमे और मध्यरेखाकी ओर गति करते हैं । इनमेंसे मध्यरेखाकी ओर गमन करने वाले तन्तु एक कलाकण्डरा निर्माण करते हैं । जो उदर-सीवनी, भगास्थिमुण्ड और बस्तिकण्डिका रेखाको लगे हुए हैं । इस कला कण्डरामे भगास्थिके मुण्डके समीप अन्तर्वक्षणीय छिद्र (एब्डो-मिनल इङ्ग्वायनलरिंग-Abdominal Inguinal Ring) रहा है । जिसमे वक्षण सुरंगसे निकलने वाली वृषण बंधनी (पुरुष देहमे) या गर्भाशय बंधनी (स्त्री शरीरमे) प्रतीत होती है ।

तीनों उदरच्छदा का कार्य—तीनों उदरच्छदा पेशी उदरस्थ आशयों को आधार देती हैं; और इनको बारबार दबाती हैं । जब ये इनको दबाती हैं; तब इनके दबनेसे महाप्राचीरा पेशी ऊर्ध्व ओर उठती रहती है । इस हेतुसे फुफ्फुसोंमें गई हुई वायु बाहर निकलती रहती है । सक्षेपमे इन पेशियोंका मुख्य कार्य महाप्राचीरा पेशीको ऊँचे उठाकर निःश्वासको बाहर निकालना है । जैसे महाप्राचीरा पेशी प्राणवायुको

भीतर लानेका कार्य करती है; वैसे ये दूषित वायुको बाहर निकालती रहती है। जब श्वास आदि व्याधियोंमें निःश्वासको बाहर फेंकनेमें त्रास होता है; तब ये मांस पेशियां अति संकुचित होकर कार्य करनेका प्रयत्न करती हैं।

इनके अतिरिक्त ये हिक्का, उबासी, हंसना आदि कार्योंमें भी सहायता करती है। क्योंकि इन सब क्रियाओंमें वायु कुछ-न-कुछ अंशमें बाहर निकलती ही है; एवं उदरके आशयोंको दबाकर वान्ति, मलमूत्र विसर्जन और प्रसवक्रिया करनेमें भी सहायता पहुँचाती है।

उदर दण्डिका—(रेक्टस एब्डोमिनिस—Rectus Abdominis) इस नामकी लम्बी एक-एक मांस पेशी मध्यरेखाकी उभय ओर में रही हैं। इस पेशीका संकोच होने पर वह उदर सीवनीकी दोनों ओर एक दण्ड-सी भासती है। यह भगास्थि मुण्ड और भगास्थि संधान पर रही हुई दो कण्डरामय मूलसे उत्पन्न होती है। यह पेशी ऊपर जाकर ५-६ और ७ वीं उपपशुकाको लगी है। यह मांसपेशी भीतरकी ओर उदरसीवनीके साथ लगी हुई है। इस मांसपेशीके चारों ओर मध्यमा उदरच्छदाकी कलाकण्डराने थैली भी बनाई हैं। इस मांसपेशीके भीतर आगे की ओर अर्ध चन्द्राकारकी तीन तिर्यक् रेखा प्रतीत होती हैं; जो स्नायु सूत्रमें से बनी हैं। इनको अर्धेन्दु लेखा (टेन्डिनस इन्स्क्रिप्शन्स—Tendinous Incriptions) संज्ञा दी है।

इस उदर दण्डिका पेशीका कार्य संकुचित होकर मध्यकायको आगे नमाती है; अथवा श्रोणिगुहाके अगले हिस्सेको ऊंचा उठाती है।

वस्ति चूडिका—(पिरामिडलिस मसल—Pyramidalis Musculi) यह मांसपेशी उदर दण्डिकाके कंचुकमें निम्न प्रदेशके आगेकी ओर रही है; इसका आकार मन्दिरके शिखर सदृश भासता है। यह भगास्थि-संधान परसे उत्पन्न होकर उदरसीवनमें लगी हुई है; और यह पेशी उदरसीवनीको तंग करती है।

फलकोष कर्षिणी—(क्रिमेस्टर—Cremaster) उपरोक्त इन

मासपेशियोंके अतिरिक्त एक छोटी-सी मासपेशी फलकोष कर्षिणी नामक उदरमे रही है । यह पेशी उदरच्छदा आदि परके थोड़े मास तन्तुओंसे बनी है । यह स्वतन्त्र मासपेशी (Involuntary Muscile) होनेसे अपना कार्य स्वतन्त्र रूपसे करती है । इस पर अपनी आज्ञा नहीं चल सकती । इसके तन्तु अति पतले हैं, वृषणबंधनीकी चारों ओर गुच्छ बन कर लगे हैं, तथा वृषणबंधनीके साथ फलकोषमें प्रवेश करते हैं । यह पेशी फलकोषको ऊंचे खींचती है ।

रोग विनिर्णय—इस रोगके समान आमाशय शूल, यकृच्छूल, वृक्क शूल, उदर्याकला प्रदाह, अन्त्रावतरण, धमनीमें रक्तवृद्धि, गर्भाशय शूल और बीजकोष शूल आदि व्याधिमें भी शूल चलता रहता है । अतः इन सबका प्रभेद करनेकी आवश्यकता रहती है ।

(१) आमाशय शूल (Gastralgia) शूलमें वेदना अन्त्र-शूल सदृश होती है, परन्तु वेदना अपेक्षा कृत ऊर्ध्व प्रदेशमे होती है । यदि आमाशय विकार भी हो, तो रोग सरलता पूर्वक निर्णित हो जाता है ।

(२) यदि यकृत् (पित्ताशय) में वेदना हो, तो दबाने पर कौड़ी प्रदेशमें वेदना होती है । वेदना अपेक्षा कृत दीर्घकाल स्थायी और सतत बनी रहती है । एवं इससे कामला रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

(३) वृक्क विकारमें वेदना एक ओर होती है; ओर अन्त्र शूलकी अपेक्षा दीर्घकाल स्थायी होती है । वेदनाका स्थान वृक्कसे समीप भगास्थि (Pubis) की ओर ऐसा होता है । एवं क्वचित् वेदना कालमें रक्तमिश्रित पेशाब होता है; अन्त्र शूलमें वेदना स्थान पृथक् है; और मूत्रमें रक्त भी नहीं जाता ।

(४) उदर्याकलाप्रदाहमें ज्वर और तीव्र नाड़ी वेग होते हैं; रोगी स्थिर भावसे पड़ा रहता है; उदरप्रदेश पर दबाने से पीड़ना-

क्षमता (पीड़ा अधिक भासना) होती है; और वेदनाका विराम नहीं होता । इस अन्त्र शूलमें सब लक्षण विपरीत होते हैं । अर्थात् ज्वर नहीं होता; तीव्र वेदना कालमें नाड़ी वेगवती और अनियमित बन जाती है; रोगी छटपटाता है; उदर दबाने पर वेदना शमन हो जाती है; और बीच बीचमें वेदनाका उपशम होता रहता है ।

(५) अन्त्रावतरण रोगमें नाभि प्रदेशमें अत्यन्त वेदना सतत बनी रहती है । इस रोगमें अन्त्रावरोध होता है; वमन उपस्थित होता है; प्रारम्भमें सामान्य फिर बान्तपदार्थमें मल आने लगता है । इस तरह लक्षण-भेदसे रोग-भेद हो जाता है । तथापि इस रोगका भेद करनेके लिये भली भाँति परीक्षा करनी चाहिये । कारण, दोनों रोगोंका स्थान एक ही है ।

(६) उदरस्थ धमनीमें रक्त संचय होने पर वेदना अपेक्षा कृत मन्द और दीर्घकाल स्थायी होती है । इसके साथ उबाक, वमन, अतिसार आदि पचनेन्द्रिय विकारके लक्षण नहीं होते । ध्वनि बाह्य यन्त्रसे परीक्षा करने पर धमनी विकृतिका स्पष्ट बोध हो जाता है ।

(७) गर्माशय शूलमें वेदना बस्तिप्रदेशमें होती है; एवं मासिक धर्मकी विकृति साथमें होती है । बीजकोषोंमें शूल होने पर उस स्थान पर दबानेसे वेदना प्रतीत होती है; और हिस्टीरिया के लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(८) यदि उदरके किसी भी यन्त्रमें प्रदाह हो जाता है; तो दबाने पर वेदना शमन होती है; और ज्वर नहीं रहता ।

इनके अतिरिक्त क्वचित् बालकोंके अन्त्रान्त्र प्रवेश (इन्टसस-सेप्शन-Intussus capton) अर्थात् लघु अन्त्रबलयका सिरा बृहदन्त्रमें प्रवेश कर जाता है । यह विकार देखनेमें कम आता

है । इसमें पीड़ा अत्यन्त होती है, और इसका परिणाम भी मृत्यु ही होता है ।

आन्त्रिक व्रण ।

आन्त्रिक व्रण—(ड्यूओडिनल अलसर Duodenal ulcer)

आन्त्रिक व्रणके और आमाशयिक व्रणके निदान, सम्प्राप्ति और आकृति समान होते हैं । इस हेतुसे आमाशयिक व्रणमें विशेष विवेचन किया है । दोनोंके लक्षण अधिकांशमें मिलते हैं । आमाशयिक व्रणमें कहे हुए कारणोंसे ही आन्त्रिक व्रण हो जाता है । इनके अतिरिक्त अग्निदग्ध व्रण अधिक विस्तारमें होना, आन्त्रिकज्वर, पित्ताशय प्रदाह, अन्त्रपुच्छ प्रदाह, राजयक्ष्मा, उपदंश आदि रोगोंसे उत्पन्न रक्तविकार और पूयमय श्क्तरोग, इन हेतुओंसे भी कभी-कभी आन्त्रिक व्रण हो जाता है । यह आन्त्रिक व्रण प्रौढ़ आयुके पुरुषोंको अधिक होता है । ग्रहणी-कलामे जहाँ आमाशयिक रस अनम्ल हो जाता है, इसके कुछ ऊपर—आमाशय रसकी अम्लताको क्षारीय बनाने वाले पित्ताशय का पित्त और अग्न्याशयका आग्नेय रस जिस स्थानमें नहीं जा सकता, तथा जहाँ पर अंत मुड़ती है—वहाँ पर यह व्रण होता है । यह भाग स्थिर होनेसे इस पर आघात अधिक होता है ।

लक्षण—इस रोगकी वृद्धि चिरकारी रूप से होती रहती है । आरम्भ में कुछ मास तक तो इस व्याधि की प्राप्ति होने का बोध ही नहीं होता । आरम्भ में देर से पचन होने वाला भोजन करने पर उदर में भारीपन और कुछ उदरशूल सहश वेदना होती है । फिर शनैः शनैः शूल मे वृद्धि होती जाती है । कुछ समय के पश्चात् अकस्मात् निद्रावस्था में शूलका आरम्भ हो जाता है । फिर रोगी शयन नहीं कर सकता । इस शूल के समय जुधा का भास

भी होता है । यदि कुछ खा लिया जाय; तो शूल शमन हो जाता है । कभी-कभी शीतकालमें रोगका त्रास कम हो जाता है ।

फिर शनैः शनैः प्रति दिन नियमित रूपसे भोजनके २-४ घण्टे पश्चात् दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशमें शूलका प्रारम्भ होता रहता है । यदि भोजन लघु और स्वस्थ प्रमाणमें किया जाय; और शूल होने पर थोड़ा खा लिया जाय तो फिर शूल दब जाता है, अतः इस शूल को डॉक्टरीमें हंगरपेन (Hunger pain) संज्ञा दी है । जब आमाशयमें से अन्त्रमें आहार-मिश्रित आमाशय-रस जाता है; तब वेदनाका प्रारम्भ हो जाता है । यदि व्रण-स्थान पर दवाया जाय; तो वेदना अधिक होती है । व्रण-स्थान पर रही हुई उदर दण्डिका पेशी (Rectus Abdominis) संकुचित और कड़ी हो जाती है । ये सब लक्षण और इनके अतिरिक्त मला-वरोध, जुधामान्द्य आदि भी इस व्याधि में प्रतीत होते हैं ।

यद्यपि रोगारम्भ में अधिक कृशता नहीं आती; तथापि व्याधि प्रवृत्त होने पर जब बड़ी धमनी या कोई सिरा फट जाती है, और रक्त निकल कर अन्त्र में गति करता हुआ मल के साथ निकलने लगता है; और भोजन वमन होकर बाहर निकलता रहता है; तब बल क्षय अधिक होने लगता है ।

उपद्रव—व्रण फूटने पर कभी-कभी उदर्याकला प्रदाह हो जाता है; और महाप्राचीरा पेशी के निम्न प्रदेश (सब फ्रेनिक Suvphrenic) में अन्तर्विद्रधि हो जाता है ।

रोगविनिर्णय—इस रोगके सदृश कितनेक व्याधियोंमें समान लक्षण होते हैं । अतः औरों से प्रभेद करनेकी आवश्यकता है । आमाशयिक व्रण प्रभेद आमाशयिक व्रणमें दर्शाया है । अनेक शूलोंके लक्षण आन्त्रिकशूल-वर्णनमें लिखे हैं । इन सब व्याधियोंमें से पित्ताशमरी शूलके लक्षणोंके साथ अधिक समता है । यह शूल भी दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशमें होता है;

परन्तु यह खा लेने पर नहीं दबता, और उसमें कामला भी हो जाता है । इन हेतुओंसे वह पृथक् हो जाता है ।

आमाशयिक व्रण ।

आमाशयिक व्रण गोस्ट्रिक अल्सर—Gastric ulcer ।

रोग परिचय—आमाशयस्थ पाचक रस जहाँ रहता है; उस स्थान की श्लैष्मिक कलामें व्रण उत्पन्न हो जाता है, यह व्रण बहुधा एक ही होता है । इस विकारके सहवर्त्ती लक्षण आमाशय में वेदना, आमाशय दबाने पर पीड़नाक्षमता (अधिक पीड़ा), परिपाक विकृति, वमन, सामान्यतः रक्त वमन और शीर्णता आदि प्रकाशित होते हैं । सामान्यतः यह रोग पाण्डु रोगसे पीड़ित स्त्रियो अथवा दुर्बल, आलसी और शारीर श्रम न करने वाली युवा स्त्रियो को विशेष रूपसे होजाता है । क्वचित् प्रौढ़ आयुके पुरुषोंको भी हो जाता है ।

निदान—जीर्ण आमाशय-प्रदाह, आमाशयमें पाचकरस-लवणाम्ल द्रव अधिक बनना, दांत, मुँह, कण्ठ या अन्न नलिकामें से पूय आमाशयमें जाना; भोजनमें मछलीका कांटा आजाना, अत्यधिक शराब सेवन, क्षय-कीटाणु, पाण्डुरोग, मासिक धर्म की विकृति, बाह्यव्रणका अकस्मात् निवारण होजाना, अर्शका रक्त-स्राव अकस्मात् हो जाना और गर्भावस्था आदि हेतुओंसे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

कितनेक डॉक्टरों की मान्यता है कि, आमाशय पोषक धमनी में स्थानिक शल्य (Thrombosis) उत्पन्न होने या बाहरसे परिभ्रामक शल्य (Embolism) आकर रक्त प्रवाह होने पर उसके बलका ह्रास होता है, और रक्तप्रवाहका अवरोध होता है । फिर वहाँ व्रण की उत्पत्ति हो जाती है ।

आमाशय रसमें अम्लता और तीक्ष्णताकी अत्यधिक वृद्धि

होनेपर या आमाशयकी दीवारमेंसे क्षारत्व गुणका अत्यधिक ह्रास होनेपर आमाशयमें क्षत हो जाता है; यह अधिक संभवित है ।

संप्राप्ति—इस रोगकी संप्राप्तिमें सर्वमान्य बात केवल यही है कि, व्रणकी उत्पत्ति होनेके पहले वह स्थान शक्ति हीन या निर्जीव (Devitalised) हो जाता है; और फिर उस स्थानमें रहे हुए रसोत्पादक ग्रन्थियोंकी आच्छदक कला (Epithelium) सड़ जाती है । परन्तु व्रणस्थल क्यों निर्जीव होता है ? इसका निःसंदेह निर्णय नहीं हुआ । कितनेक रोगियोंमें व्रण स्थानकी केश वाहिनियाँ रुद्ध हो जाने (Thrombosed) से स्थानिक रक्त पोषणमें कमी हो जाती है; परन्तु यह प्रकार अनेक रोगियोंमें नहीं होता । इस हेतुसे विद्वानोंको कृमि, विष, दाहकद्रव्य आदिका अनुमान करना पड़ता है ।

सामान्यतः स्वस्थावस्थामें आमाशयकी क्रिया द्वारा आहार का पचन होता रहता है; और आमाशयको हानि कभी नहीं पहुँचती । कारण, आमाशय विधानमें संचालित क्षारविशिष्ट गुणयुक्त स्वस्थ रक्त द्वारा अम्ल और तीक्ष्ण गुणकी क्रियाका दमन होता रहता है । किन्तु जब आमाशयके किसी स्थानमें रक्त संचालन क्रियामें व्याघात होता है; तब उस स्थानका आमाशय रस द्वारा पाक होने लगता है, जिससे क्षत उत्पन्न हो जाता है । धमनीमें शल्यसे अवरोध होना, या आमाशयस्थ श्लैष्मिक कला में रक्ताधिक्य हो जाना; ये दोनों रक्त-संचालनमें व्याघात होने के कारण हैं ।

व्रण प्रकार—आमाशयमें सामान्यतः दो प्रकारके व्रण प्रतीत होते हैं । आशुकारी और चिरकारी ।

आशुकारी व्रण स्वरूप—आशुकारी व्रण बहुधा युवतियोंको होता है । यह क्षत गोल, या अण्डाकार होता है; यह व्रण चिरकारी व्रणकी अपेक्षा छोटा, तीक्ष्ण धारा युक्त (Sharply-

cut), गम्भीर और विदारणकारी (Perforating) होता है । यह श्लैष्मिक कला और मांस मय वृत्तिका भेदन करके भीतर प्रवेश कर जाता है । इस व्रणकी धार तेज होती है, इसमें प्रदाह-जनित स्थूलता नहीं होती । यदि आमाशयकी दीवारका भेदन होता है, तो रक्तस्राव होने लगता है; अथवा तल भाग (floor) उदर्या कलासे संयुक्त होता है, और घातक उदर्या कला प्रदाह की उत्पत्ति करा देता है । इसी तरह यह व्रण क्वचित् यकृत, अग्न्यशय और लीहा आदि स्थानोंके संयोग शील प्रादाहिक क्रिया द्वारा आमाशयमें संलग्न कर देता है, तो आमाशय-विषका उदर्या कलामें प्रवेश नहीं हो सकता, इस हेतुसे उदर्या कला प्रदाहकी भोति बहुधा दूर हो जाती है । यह व्रण आमाशयके भिन्न-भिन्न भागोंमें होता है । विशेषतः आमाशयके मध्य प्रदेश में, उभय धारा (आमाशय क्रोडिका और आमाशय तालिका धारा—Lesser and greater curvature) ओके पास होता है । इनमें भी आमाशय क्रोडिका धाराके पास अधिकांशमें उत्पत्ति होती है । कभी-कभी आमाशयकी पीछेकी दीवारमें भी होता है ।

यह आशुकारी व्रण यदि केवल श्लैष्मिक कलामें ही हो, तो उसका चिह्न-चकता (Scor) मृदु होता है । यदि व्रण बड़ा होकर मांसमय वृत्ति तक चला गया हो; तो व्रण भर जाने पर उसमें सौत्रिक तन्तुकी उत्पत्ति होकर आमाशयको संकुचित कर देता है । जिससे आमाशयकी आकृति विकृत हो जाती है । यदि यह व्रण मुद्रिका द्वारके पास हो, तो अधिक स्रोतसंकोच होनेसे पाचित आहार अंतमें सत्वर नहीं जा सकता । इस हेतुसे आमाशय शनैः शनैः विस्तृत और शिथिल हो जाता है । यदि यह व्रण आमाशयके मध्य प्रदेशमें हुआ हो; तो रोग उपशम हो जाने पर सौत्रिक तन्तुओके संकोचसे आमाशयकी आकृति रेत-घड़ी सदृश (Hour glass stomach) हो जाती है ।

यह व्रण पीछेकी ओर होने पर पीछेकी ओर फूटता है; तथा आगेकी ओर होने पर आगेकी ओर फूटता है। फिर उदर्याकला, धमनी, सिरा, फुफुसावरण, महाप्राचीरापेशी आदिमेंसे जिसको पूय लगता है; उसको भी हानि पहुँचा देता है ।

चिरकारी व्रण स्वरूप—चिरकारी व्रण बहुधा स्त्री-पुरुष, उभयजातिको युवावस्थामें और क्वचित् वृद्धावस्थामें भी होता है। यह व्रण बहुधा आमाशयके दाहिने अर्ध प्रदेशमें मुद्रिका-द्वार (Pyloric Crifice) के पास उत्पन्न होता है। यह व्रण भीतर तक अतिशय कड़ा होता है। इसकी किनारी मोटी और कठोर होती है। यह व्रण अधिक गंभीरता रहित, विषम व्रण मात्र युक्त और अनियमित चतुः सीमा वाला होता है। इसमें एक प्रकार का गोंद सदृश चिकना पदार्थ प्रतीत होता है; जो अंत में सौत्रिक तन्तु रूप बन जाता है। इस प्रकारके व्रणमें आमाशय समीपस्थ अन्य यन्त्रोंके साथ संलग्न हो जाता है। इस हेतुसे यह नहीं फूटता है; और न उदर्या कलाप्रदाह होता है।

व्रण उपद्रव—यदि व्रणका उदर्या कलासे सम्बन्ध होता है; तो उदर्याकलाका प्रदाह होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है। एवं व्रणका निम्न भाग में प्रवेश होने पर यदि बड़ी धमनी, या बड़ी शिरा आ जाती हैं; तो भी भयंकर रक्तपात होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह कभी व्रण फुफुसावरणमें फूटता है; कभी आमाशय और ग्रहणी संलग्न हो जाने से नाड़ी व्रण (Fistula) हो जाता है। क्वचित् उदर्याकलाके लघु कोषमें फूटकर अंतर्विद्रधि की उत्पत्ति हो जाती है। यह महाप्राचीरापेशीका निम्न प्रदेश (Sub diaphragmatic) होनेसे महाप्राचीरा के नीचे अनेक विद्रधि होते हैं; उनमें इसकी गणना होती है। क्वचित् इस व्रणस्थान पर कर्कस्फोट भी हो जाता है।

चिरकारी व्रणके नीचेका हिस्सा जड़ मांसमय वृत्ति, या बहि-वृत्ति पर्यन्त गति करता है। फिर समीपके अन्य अवयव को चिटक जाता है। इस हेतुसे चिरकारी व्रण जल्दी नहीं फूटता और उदर्याकलामें प्रदाह भी नहीं होता। किन्तु धीरे-धीरे समीपस्थ, यकृतप्लीहा, अग्न्याशय आदि इन्द्रयोके साथ चिटक कर उसे दूषित कर देता है। फिर बड़ी शिरा या धमनीका संयोग हो जाने पर भयंकर रक्तपात कराकर रोगी को मार डालता है।

लक्षण—इस रोगके लक्षण कोई कोई समय स्पष्ट रोग दर्शक (Typical) होते हैं, तब कभी कभी बिल्कुल अनिश्चित (Ill-defined) होते हैं। सामान्यरूपसे लक्षण निम्नानुसार प्रतीत होते हैं।

(१) जिस तरह अन्य व्रणोंमें वेदना और पीड़नाक्षमता (दबाने पर अधिक पीड़ा) बनी रहती है, उस तरह इस व्रण पर भी वेदना बनी रहती है। यह पीड़ा भोजन के १-२ घण्टे पश्चात् आहारके दबावसे बढ़ जाती है। पीड़ा-स्थल मुख्य कौड़ी स्थान होने पर भी व्रणके अनुसार कुछ कुछ भिन्नता रहती है। किसी किसी को पश्चात् मेरूदण्डमें व्यथा होती रहती है। एवं द्रवमय स्निग्ध और मृदु पदार्थके भोजनसे व्यथा कम, तथा शराब, शुष्क कठोर और अम्लविपाक वाले भोजनसे अधिक हो जाती है। इस व्रणके हेतुसे वाम उदरदण्डिका पेशीके स्नायुओंका संकोच हो जाता है।

यदि व्रण आमाशयकी दक्षिण सीमाके समीप है, तो भोजन करने पर तुरन्त पीड़ा होने लगती। इन सब स्थानोंमें आमाशय की संवेदनाधिकता (Hypersthesia) हो जानेसे व्यथा की उत्पत्ति होती है। यह संवेदना वृद्धि सामान्य रूपसे हो सकती है। एवं आमाशय प्रसेक जनित भी हो सकती है।

व्रण आमाशय प्रदाहके सहवर्ती न हो ऐसे अनेक रोगियोंमें

आमाशय खाली होने पर वेदना प्रारम्भ होने पर अपेक्षाकृत न्यूनकाल तक रहती है । यदि वेदना दीर्घकाल स्थायी हो, और वमन श्लेश्मा प्रचुरमात्रामें मिश्रित होता हो; तो व्रणके साथ आमाशय प्रदाह भी है; ऐसा अनुमान किया जाता है ।

(२) जुधा लगती है, परन्तु अधिक भोजन करने पर अधिक उदरव्यथा हो जायगी; इस भयके हेतुसे रोगी डर-डर कर थोड़ा ही खाता है । किसी-किसी को अपचन भी बना रहता ।

(३) वमन—आशुकारी व्रणमें विशेषतः भोजनके पश्चात् १-२ या ३ घण्टे पर, या कम ज्यादा समय पर वान्ति हो ही जाती है । व्रण स्थान हार्दिक द्वारसे जितनी दूरी पर होगा; उतना ही अधिक देर वमनमें होती है । वमनमें रक्त ५० प्रतिशत होता है । रक्त कभी कम, कभी ज्यादा और कचित् अत्यधिक होता है । यदि रक्तस्राव अधिक होता है; तो आँतोंमें भी चला जाता है; फिर वह मलके साथ बाहर निकल जाता है । कभी-कभी प्रारंभमें रक्त वमनकी प्रतीति नहीं होती; और रक्त आँतोंमें जाकर मलके साथ निकल जाता है । किसी-किसी समय अधिक रक्तस्रावके हेतुसे ही रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

व्रणके ऊपर आया हुआ रक्तवर्णका मृदु आच्छादन (Granulation tissue) आहार द्रव्य, या आमाशयकी तीव्रतासे फूटने पर, या केश बाहिनियाँ फटने पर जब न्यूनाधिक रक्तस्राव होता है; तब वह रक्त वमन (Hæmatemesis) होकर मुखसे और मलमें मिश्रित (Melaena) होकर गुदासे बाहर निकल जाता है ।

(४) वान्त पदार्थ—किसीके लिये भोजन पदार्थ अपरिवर्तित निकलता है; किसी-किसीको कुछ अंशमें जीर्ण, कचित् विकृत

आमाशय रस मिश्रित, किसी स्थानमें श्लेष्मा मिश्रित और किसी-किसी को रक्त मिश्रित होकर निकलता है । यदि श्लेष्मा अधिक है; तो आमाशय प्रसेक माना जाता है । वमन भोजन कर लेने पर तुरन्त होती है, तो क्षत हार्दिक द्वारके समीप माना जाता है; और दीर्घ कालके पश्चात् या अधिक बार वमन होती है, तो ब्रण मुद्रिका द्वारके समीप होनेका अनुमान होता है । यदि भोजनके दीर्घ कालके पश्चात् वान्ति होती है, तो वान्त पदार्थ का परिमाण अत्यधिक होता है ।

जब वान्त पदार्थकी परीक्षा करने पर लवणम्ल द्रव अधिक मात्रामें प्रतीत होता है, तब वमन होने पर कण्ठदाह, नेत्रमें जल आ जाना तथा चरपरी और खट्टी डकार आदि अम्लपित्त के लक्षण भी प्रतीत होते हैं ।

(५) यदि वमन हो जानेके पश्चात्, या वमन करा रोगीको चित लिटाकर आमाशय पर थोड़ा सेक किया जाय; तो दर्द शमन हो जाता है ।

(६) उपर्युक्त लक्षणोंसे इस रोगका अनुमान हो सकता है । विशेष निर्णयार्थ विस्मथ मिश्रित भोजन कराकर ऐक्स 'X' रे द्वारा चित्र खिचने पर ब्रणका निर्णय निःसंदेह हो जाता है ।

(७) आशुकारी ब्रण व्याधिका मुख्य लक्षण वमन है । इस व्याधिसे पीड़ित युवती नीरक्तावस्था (पाण्डु) से ग्रसित होती है । किन्तु उसके रक्तकी अल्पता होनेपर भी शीर्णता या त्वचामें मलिनता नहीं आती । बहुधा रोगिणी स्थूल काय और स्वच्छ चर्म युक्त भासती है । मासिक धर्ममें विलक्षणता (रजोल्पता या रजोलोप) हो जाती है । अनेक रोगिणी आशुकारी वात रोगके बशवर्त्ती बन जाती हैं—अर्थात् इनको सरलतापूर्वक वात विकार हो जाता है ।

(८) चिरकारी क्षतमें रोगी शीर्ण और शक्तिहीन (Cachexia) हो जाता है । चिरकारी व्याधिमें अशुकारीकी अपेक्षा वेदना कम होती है । यह व्रण विस्तृत प्रदेशमें होनेसे आमाशय पर दबानेसे सामान्य रूपसे सब भागमें वेदनाका अनुभव होता है । इस प्रकारके व्रणमें वमन अतिक्रष्टसे होती है; और बार-बार होती रहती है । वान्त पदार्थमें बहुधा लवणाम्ल द्रव अधिक होता है । प्रायः वमन रक्त मिश्रित पिसी हुई काफी सदृश रंग वाली (Coffee grounds) या पिंगल-कृष्ण (tawny) वर्णकी अथवा विविध वर्ण युक्त होती है ।

(९) उपर्युक्त लक्षणोंके अतिरिक्त सामान्य लक्षण रूपसे लुधानाश, कचित् लुधावृद्धि, विरुद्ध आहारकी इच्छा, विशेषतः अम्ल पदार्थकी इच्छा, कोष्ठबद्धता, कचित् अतिसार, शिरदर्द, विशेषतः सन्मुख कपालमें व्यथा, शूल, श्वास मन्दता, हृदय कम्प, महाधमनीमें स्पंदन, कानोंमेंसे शब्द निकलनेका भास होना, चक्कर आना आदि लक्षण होते हैं । रोग जीर्ण होनेपर रोगी निर्बल और कृश हो जाता है ।

रोग विनिर्णय—आमाशयके चिरकारी प्रदाह (Chronic gastritis), आमाशयस्थ कर्कस्फोट और आन्त्रिक व्रण आदि रोगोंमें इस व्याधिके समान लक्षण होते हैं । अतः इन सबका प्रभेद दो कोष्ठक रूपसे आगे दर्शाया है ।

साध्या साध्यता—अधिकांश रोगी आरोग्य प्राप्त कर लेते हैं । यदि आमाशयका भेदन होकर उदर्याकलाका प्रदाह हो जाता है; या अत्यधिक रक्तस्राव होता है; तो मृत्यु हो जाती है ।

आमाशय व्रण

आमाशय-कर्क स्फोट

चिरकारी आमाशय प्रदाह

(१) विशेष युवती पर आक्रमण ।

४० वर्षसे अधिक आयु वाले पर आक्रमण ।

मच आयुमे विशेषतः मध्य वय और वृद्धावस्थामें ।

(२) भोजन कर लेने पर कौड़ी-प्रदेशमें वेदना वृद्धि, आहार पचन हो जाने या वमन हो जाने पर वेदना शमन, समय-समय पर वेदना का सम्पूर्ण शमन ।

वेदना कौड़ी स्थानमें आरम्भ हाकर विस्तृत होती है; रह-रह कर वेदना वृद्धि होती है । क्वचित् काटने सहश व्यथा । वेदनाका आहारके साथ सम्बन्ध नहीं है । वेदनाका अभाव कभी नहीं होता । वमन होने परभी वेदना नहीं मिटती ।

कौड़ी प्रदेशमें वेदना, आहार कर लेने पर वेदना की कुछ वृद्धि होती है । वेदना विराम विहीन, या समय समय पर कुछ कम ज्यादा होती है ।

(३) क्वचित् सामान्य अपचन, लुधा लगती है ।

अजीर्ण, लुधानाश, आमाशयमें अत्यधिक अम्लता ।

अजीर्ण, लुधा अनिश्चित ।

(४) वमन बहुधा होती है । वमन में लवणाम्ल द्रव होता है ।

व्रणकी अपेक्षा कम बार वमन ।

कमी-कमी सुन्नह श्लेष्मकी वमन ।

- (५) रक्तस्त्राव होने पर अधिक;
परन्तु बार-बार नहीं ।
वमनमें कुछ रक्त निकलनेसे वान्त-
पदार्थका वर्ण पिसी हुई कौफी
सदृश होना ।
क्वचित् ही थोड़ा रक्तस्त्राव ।
- (६) सामान्य मलावरोध ।
अत्यधिक मलावरोध ।
मलावरोध ।
- (७) ज्वर विहीनता ।
क्वचित् सामान्य ज्वर ।
कभी-कभी ज्वर आ जाना ।
- (८) अत्यन्त कृशता और निस्ते-
जता ।
क्रमशः निर्बलता और शीघ्रता,
लसीका ग्रन्थियाँ, विशेषतः कण्ठके
ऊपरमें रही हुई ग्रन्थियोंकी वृद्धि ।
सामान्य रूपसे एक दो वर्षमें मृत्यु ।
- (९) रोगका स्थायित्व अनि-
श्चित, आरोग्य न हो, तो
आमाशयका भेदन होकर
मृत्यु, या अनेक वर्षों तक
रोगका रहना ।
रोग दीर्घकाल स्थायी होने पर
आरोग्य हो सकता है ।
- (१०) आर्बुद नहीं होता ।
आर्बुद कौड़ी प्रदेशमें होता है ।
आर्बुद नहीं होता ।

आमाशयिक और आन्त्रिक व्रण प्रभेद ।

आमाशयिक व्रण	आन्त्रिक व्रण
(१) २० से ३० वर्ष की आयु वाली युवतियों पर अधिक	३० से ४० वर्ष की आयु वाले पुरुषों पर आक्रमण ।
आक्रमण ।	
(२) भोजन कर लेने पर थोड़े ही समय में वेदना ।	भोजन कर लेनेके २ से ४ घण्टे पर वेदना ।
(३) कौड़ी प्रदेशमें वेदना ।	दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशमें वेदना ।
(४) वमन होने पर वेदना का विराम ।	वमन होने पर भी वेदना शमन नहीं होती । कुछ खा लेने पर वेदना शमन होती है ।
(५) वमनमें पित्त, कफ और भुक्त आहार निकलता है ।	वमन अति विरल ।
(६) आमाशयमें भोजन पचन नहीं होता है ।	आमाशयमें भोजनका पाक होता है ।
(७) आमाशयमें से बारबार रक्त वमन ।	आन्त्रमें से रक्तस्राव होनेसे रक्त-मिश्रित काला मल ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

वातिकशूलकी शान्तिके लिये स्निग्ध और उष्ण वस्तुओं, पित्तिकशूलमें शीतल पदार्थ, तथा कफज शूलमें चरपरे और कड़वे पदार्थोंका सेवन करायें । मिले हुए दो-दो दोषोंकी शान्तिके लिये दोषानुसार द्रव्योंको मिलाकर योजना करनी चाहिये ।

वमन, लंघन, स्वेदन, पाचन, फलवर्त्ति, क्षारमिश्रित ओषधियाँ ये सब शूलरोगमें हितावह हैं । खीर, खिचड़ी, स्निग्धपिष्टी, मांसपिण्ड या शक्करके हलवेसे सेक करना चाहिये ।

सब प्रकारके शूलरोगमें पहले वातको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये । तीव्र शूल होने पर हींग मिश्रित ओषधियोंका उदर पर लेप या सेक करना हितकारक है ।

वातज शूलमें स्वेदन क्रिया; पित्तजमें मधुर ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना, विरेचन और निरुह बस्ति; तथा कफजमें कडुवी और चरपरी ओषधियोंका काथ और वमन हितकारक हैं ।

मिट्टीको जलमें घोलकर गरम करें । गाढ़ी हो जाने पर पोटली बनाकर या तिलको कूट, गरम कर पोटली बनाकर उदर पर सेक करनेसे वातज शूल शमन होता है ।

एक लोटेमें गरम जल भर एक मुट्ठी भर नमक डाल पेट पर एरंड तैल लगा लोटेसे सेक करने, या रबरकी थैलीमें गरम जल भरकर सेक करनेसे शूल शमन होता है ।

पैत्तिक शूलमें मैनफलके चूर्णको, परवलके पत्ते और नीम की अन्तरछालके काथ, या दूध अथवा ईखके रसमें मिला पिला कर वमन कराना हितावह है ।

पैत्तिक शूलमें गरम आहार-विहार और गरम ओषधियों का त्याग करना चाहिये ।

कफप्रधान शूलमें वमन, लंघन, शिरोविरेचन, शहदमेंसे बनी हुई शराब, गोहूँ, यव, अरिष्ट, शुष्क और चरपरे पदार्थ हितकारक हैं ।

आमशूलमें कफशूलघ्न, अग्निप्रदीपक और आमपाचक चिकित्सा करनी चाहिये । आमशूल (कुक्षि शूल) में वमन और शक्ति अनुसार लंघन करना लाभदायक है ।

आन्त्रिकशूलमें चिकित्सा सावधानता पूर्वक लक्षणोंके अनुसार करनी चाहिये । आन्त्रशूल रोगमें वेदना और आक्षेपका सबसे पहले निवारण करना चाहिये । तत्पश्चात् शूलोत्पादक

कारणको दूर करना चाहिये । यदि वेदना प्रबल न हो, तो रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखे हुए शंखवटी (२० पृ० ४१४), हिगुलवटी (२० पृ० ४१८), जातिफलादि वटी (२० ४१७), शखद्राव (२० ७८६), अग्निकुमार रस (२० ४२४), क्रव्याद रस (२० ४२६) आदि ओषधियोंमें से अनुकूल ओषधिका सेवन कराना हितावह है ।

उदर प्रदेश पर एरंड तैल लगा फिर नमक मिलाये हुए गरम जलसे सेक करना चाहिये । या राईका प्लास्टर लगाना चाहिये । यदि असह्य वेदना होती हो; तो तत्काल दबानेके लिये श्वासोच्छ्वासमें क्लोरोफार्म या इथर सुंघाना, या अफीमसत्व (मोर्फिया) का इन्जेक्शन करना चाहिये ।

यदि अपचनके हेतुसे अन्त्रशूल उत्पन्न हुआ हो, तो पचनेन्द्रिय संस्थामें से उग्रतासाधक पदार्थको दूर करनेके लिये मृदु-विरेचन (आरग्वधादि काथ, एरंड तैल, मेगनेशिया सल्फास, अथवा अन्य ओषधि) देना चाहिये ।

यदि अपचनके हेतुसे अत्यधिक उदरवातकी उत्पत्ति हुई हो; तो पचनक्रिया बढ़ाने वाली आग्नेय और वातहर ओषधि देनी चाहिये । रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—हिग्वष्टक चूर्ण, शिवाक्षार पाचन, अग्निकुमार रस, क्रव्यादरस, जातिफलादि वटी (अपचन), शंखवटी आदिमेंसे किसी एकका प्रयोग करना चाहिये ।

यदि आध्मान अधिक हो; बाह्य सेक आदि प्रयोगसे लाभ न हो; तो हीग और एरंड तैल मिले हुए निवाये जलकी बस्ति देनेसे सत्वर आफरा उतर जाता है । डाक्टरीमें हीगके अर्क और अफीमके अर्क १-१ ड्रामको गोदके जलमें मिलाकर पिचकारी देनेका रिवाज है । इससे भी आफरा और वेदनाका निवारण हो जाता है । इस तरह गुदा पर तैल वाला हाथ लगा रबर

की मृदुनलिका (Cotheter) या आमाशय नलिका (Stomach tube) को गुदनलिकामें प्रवेश करानेसे अन्त्रस्थ वाष्प निकल जाती है ।

कदाचित् अन्त्रमें अत्यधिक वायुसंचित हो जानेसे अन्त्र फट जाने का, या आसन्न मृत्यु होनेका संशय रहता हो; तो ब्रीहिमुख यन्त्रको उदरकी दीवारमें प्रवेश करा वायुको निकाल देना चाहिये ।

परिणाम शूलमें कड़ुवी और मीठी ओषधियोंसे वमन, विरेचन, निरुह बस्ति और शहद मिली तैलकी बस्ति देना चाहिये ।

अन्नद्रव शूलमें प्रायः पित्तकी अधिकता रहती है; अतः उसे वमनसे और कफको विरेचन से दूर करें ।

अन्नद्रव शूलके रोगीको हो सके तो भोजन थोड़ी-थोड़ी मात्रामें :दिनमें ४ समय देना चाहिये । नित्यप्रति प्रातःकाल थोड़ा बादाम रोगन या जैतुनका तैल देते रहनेसे मलावरोध दूर हो जाता है । और आमाशयमें से लवणाम्ल द्रव तैलके साथ निकल जानेसे वेदना कम होती है ।

परिणाम शूल (आन्त्रिक व्रण) और अन्नद्रव शूल (आमाशयिक व्रण) दोनों व्याधियोंकी चिकित्सा लगभग समान है । अन्नद्रव शूलमें अनेक बार आमाशयिक रसमें तीव्रता और अम्लता अत्यधिक हो जाती है; इस हेतुसे कुछ भेद हो जाता है । आगे अन्नद्रव शूलकी चिकित्सा-निमित्त सूचना विस्तारसे लिखी हैं, ये सब परिणामशूलके लिये भी उपयोगी मानी जाती हैं ।

अन्नद्रव शूल (आमाशयिक व्रण) होने पर रोगीको पूर्ण विश्रान्ति करना चाहिये । शारीरिक श्रमका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये । आमाशयको धक्का न पहुँचे, उस तरह पूर्ण सम्हाल रखना चाहिये । आमाशय व्रणके रोगीको चाहिये कि

जिस तरह बैठने या लेटनेसे पीड़ा कम होती हो; उस तरह भोजनके कुछ काल तक बैठे या लेटे रहे । ब्रण स्थान पर भुक्त पदार्थका जितना दबाव कम पड़ता है; उतना ही कष्ट कम होता है । बाईं करवट, दाहिनी करवट, चित्त और औंधे लेट कर, एवं मित्र-भिन्न रीतिसे बैठ कर रोगीको अनुभव कर लेना चाहिये; जिससे दीर्घकाल तक त्रासमे न्यूनता हो ।

इस हेतुसे भोजनमें, खटाई, अधिक घृत, गरम मसाला, प्याज, लहसुन, चावल आदि हानिकर पदार्थ, गुरु भोजन, अपक्व भोजन और उग्रपदार्थोंका त्यागकर देना चाहिये । शराब, चाय, कॉफी, तमाखू और अन्य उत्तेजक पदार्थोंका भी उपयोग नहीं करना चाहिये ।

यदि इस रोगकी उत्पत्ति दन्तपूय या गलग्नन्थिप्रदाहके हेतु से हुई हो; तो धूम्रपान बिल्कुल छोड़ा देना चाहिये । नारियलके तैलकी मालिश करना अति हितकर है । जैसे-जैसे आहार पचन होता जाय; वैसे वैसे लघुपौष्टिक भोजनको बढ़ाते जाना चाहिये ।

दूध और प्रवाही भोजन निर्विघ्नतासे पचन हो जाता है । मांसाहारियोंके लिये मांसरस या अण्डेका पचन हो जाता है । जिन रोगियोंको दूध सहन न हो, उनको दूसरे लघु भोजन देना चाहिये । किसी-किसी रोगीको कोई भी पदार्थ सहन नहीं होता; उनको वस्ति द्वारा पथ्य आहार, दूध, दूध का मक्खन या अण्डे का रस, या अन्य द्रव चढ़ाना चाहिये । वस्ति ३-४ घण्टे पर ४-६ औंस प्रवाही की दिनमें ३-४ समय देना चाहिये । परन्तु रोज सुबह साबुन मिले जल की वस्ति देकर बृहदन्त्र को शुद्ध कर लेना चाहिये ।

जो वस्तिमें चढ़ाया हुआ द्रव जल्दी निकल आता हो; तो द्रवके साथ कुछ बूँद अफीमके अर्क की मिला देनी चाहिये । एवं कोष्ठ बद्धता भी न हो; इस बात की भी सम्हाल रखना चाहिये ।

शक्ति संरक्षण पर खूब ध्यान देना चाहिये । यदि वृष अनु-
कूल है; एवं मांसाहारियों को मांसयूष का पचन हो जाता है;
तो अधिक चिन्ता नहीं रहती । जिनको अर्धपाचित दुग्ध
(पेप्टोनाइज मिल्क) अनुकूल रहता है, उनको वह देना चाहिये ।
दूधके साथ बादाम का तैल भी अति हितकर है ।

यदि अत्यधिक दुर्बलता आगई हो, तो द्राक्षासव, या लक्ष्मी-
विलास रस अभ्रक मिश्रित, अथवा और कोई हृदय पौष्टिक
ओषधि देनी चाहिये ।

रोग बढ़ने पर ओषधि-चिकित्सासे लाभ होने की आशा
कम रहती है । शल्यक्रिया का ही आश्रय लिया जाता है ।
बहुधा शल्य चिकित्सक आमाशय व्रणके कुछ ऊपर छिद्र करके
उसका सम्बन्ध ग्रहणीके साथ जोड़ देते हैं, जिससे व्रणको
त्रास नहीं पहुँचता ; आमाशय-रसमिश्रित भोजन व्रण-स्थानकी
ओर नहीं जाता ; सीधा ग्रहणी में चल जाता है ; और व्रण भी
थोड़े ही दिनों में भर जाता है ।

यदि आमाशयप्रदाह हो; तो शौक्तिक, वराटिका, या शंख-
भस्मका सेवन कराना चाहिये । ये भस्म आमाशय रसकी अम्लता
और उग्रताको शमन करती हैं; तथा व्रणको सुखानेमें सहायता
पहुँचाती हैं । अथवा आमाशयरस की अम्लता नष्ट करनेके लिये
सज्जीखार या सोड़ा बाई कार्ब देना चाहिये । सोडा बाई कार्ब
भोजनके पहले २०-२० ग्रेन दिनमें ३ समय देना चाहिये ।

यदि शूल अत्यधिक हो; तो शंखवटी (२० पृ० ४१४), या
अफीम मिश्रित जातिफल्लादि वटी (२० पृ० ४१७) देनी चाहिये ।
अथवा बस्तिमें अफीमका अर्क २०-२० बूँद मिला देना चाहिये ।
इनके अतिरिक्त राईका प्लास्टर आमाशय पर लगानेसे भी
तुरन्त लाभ हो जाता है ।

अत्यधिक वेदना होने पर स्टमकट्यूबसे आमाशयको

धोकर साफ कर लेवें, और गरम जलकी बोतलसे आमाशय पर सेक करे । सेक करानेसे रक्त-संचालन-क्रियामें वृद्धि होती है; व्रण-स्थानमें रक्त संचाप होने लगता है; जिससे व्रण सत्वर भरने लगता है ।

यदि रक्तवमन होती है; तो कासीस भस्म और प्रवालपिष्टी मिलाकर १ तोला वासावलेह या गुलकदके साथ, या हरड़के मुरब्बाके साथ देते रहना चाहिये । तार्पिनके तैल की ५-५ बूँद दिनमें २ बार आवश्यकता पर देते रहनेसे रक्तस्रावका रोध होता है । (इस तैल को अधिक मात्रामें नहीं देना चाहिये; अन्यथा रक्तस्राव ज्यादा होने लगता है ।)

एलोपैथिक और होमियोपैथिक मत अनुसार मल्ल (Arsenic) प्रधान ओषधियां आमाशयिक और आन्त्रिक व्रण-व्याधियों पर अति हितकर मानी जाती है । मल्लके अति सूक्ष्म मात्रामें सेवनसे भयानक शूल, व्याकुलता, दाह, अस्थिरता, निद्रानाश और वमन आदि लक्षणों पर सत्वर लाभ पहुँचता है ।

कितनीक ओषधियां गुण-धर्म-विवेचन-सह वैज्ञानिक विचारणामें उदरवातघ्न और वातशूलघ्नके साथ पृष्ठ ३० से ३६ तक लिखी हैं । वहाँ पर कितनीक सूचनाएँ भी की हैं ।

वातज शूल चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें आई हुई ओषधियाँ—
हिंगुल रसायन दूसरी विधि (२० ५०७), हिगवादि चूर्ण (२० ६६८), हिग्वष्टक चूर्ण (२० ६७५), शिवाक्षार पाचन (२० ६७५), ताम्र भस्म (२० १२१ भूनी होंग, त्रिकटु, मुलहठी, काला नमक, और इमलीके क्षारके साथ), अग्नितुण्डी वटी (२० ४३०) और शूल वाज्रिणी वटी (२० ५०६) ये सब अति लाभदायक ओषधियाँ हैं ।

(२) शूल गजकेसरी रस—कुचिले ८ तोले लेकर १२८ तोले गोदुग्धमें डाल मंदाग्नि से उबालें । कुचिले नरम होजाने पर धोकर साफ करें । फिर ऊपरसे छिजके और बीचमेंसे जिब्भी निकाल बारीक पीसैं । पश्चात् पीपल, पीपलामूल, कालीमिर्च, सोंठ, बच, बेलगिरी, हरड़, दोनों प्रकारके करञ्जकी गिरी, सज्जी-खार, जवाखार, सैधानमक, कालानमक, बिड़नमक और शुद्ध गन्धक १-१ तोला तथा भूनी हींग, सोहागेका फूला और अज-वायन २-२ तोले मिला अदरखके रसमें ३ दिन खरल कर एक-एक रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १ से ३ गोली तक निवाये जलके साथ देनेसे वातज, कफज, आमज और त्रिदोषज, शूल नष्ट होते हैं । इस ओषधिसे सेवनसे आमाशय और अन्न की पुरःसरण क्रिया बलवान बनकर शूल शमन हो जाता है । इसके अतिरिक्त इस ओषधिसे हृदय और वातवहानाड़ियाँ भी सबल होती हैं ।

सूचना—जब पित्त अति तेज हो, छातीमें दाह, पसीना, मुँहमें छाले, खट्टी बमन आदि उपद्रव हों, या मूत्रपिण्ड-विकृति हो, अथवा संवेदना तन्तुमें उत्तेजना बढ़ी हो (हिस्टीरिया आदि रोगोंमें), तब इस रसको नहीं देना चाहिये ।

(३) शूलहर वटी—सुवर्ण वंगके चारको १२ घण्टे अदरखके रसमें खरल करें । फिर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनाकर सुवर्ण वंगमें डालते जाँय, जिससे गोलियोंके चारों ओर सुवर्ण-वंग लगकर गोलियाँ सुवर्ण सदृश हो जायँगी । सुवर्णवंगमें न डालना हो; तो सोंठके चूर्णमें डालना चाहिये । इन गोलियोंमेंसे २-२ गोली निगलवाकर एक दो घूँट जल पिला देनेसे अपचनसे उत्पन्न उदरशूल तत्काल दूर हो जाता है ।

(४) वात वाहिनियों की विकृतिसे शूल और दाह पर—रौप्य

भस्म च्यवनप्राशावलेह या आँवलोके मुरब्बाके साथ दें । या महा वात विध्वंसन रस देवें । तीव्र शूल जो आमाशय या अन्य स्थानोंमें हो; सब शूलों पर महा वात विध्वंसन रस दिया जाता है । मन्द वेदनामें और जीर्ण रोग पर रौप्य भस्म देवें । शूल-वज्रिणी वटी और शूल गजकेशरी तीक्ष्ण पीड़ा और जीर्ण व्याधि, दोनोंमें हितकर है ।

(५) खरैटीकी जड़, पुनर्नवाकी जड़, एरंड-मूल, छोटी कटेली, बड़ी कटेली और गोखरूका काथ कर २ रत्ती भूनी हींग और २ माशे काला नमक मिलाकर पिलानेसे वातज शूल नष्ट होता है ।

(६) भूनी हींग, अतीस, सोठ, मिर्च, पीपल, बच, काला नमक, और बड़ी हरड़का चूर्ण ३ माशे निवाये जलके साथ देने से वातज शूल और विबन्ध नष्ट हो जाता है ।

(७) तुम्बरुके फल, बड़ी हरड़, भूनी हींग, पुष्करमूल, सैधा-नमक, कालानमक, समुद्र नमक, जवाखारका चूर्ण कर ३-३ माशे जौ के क्वाथके साथ पिलानेसे वातशूल, गुल्म और अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) शमन हो जाते हैं ।

(८) अजवायन, भूनी हींग, सैधानमक, जवाखार, काला-नमक और बड़ी हरड़ को समभाग मिला चूर्ण कर, ३ माशे चूर्ण शराब के साथ देनेसे वातज शूल नष्ट हो जाता है ।

(९) सागके बीज (नये) का चूर्ण १-१॥ माशे निवाये जलके साथ देने, या गुड़में गोली करके देनेसे तत्काल शूलकी निवृत्ति हो जाती है । वमन, घबराहट भी दूर होते हैं ।

(१०) एरण्डमूल और सोंठका काथ कर भूनी हींग और काला नमक मिलाकर पिलानेसे वातज शूल नष्ट होते हैं ।

(११) सेके हुए करंजके बीजोंकी गिरि, भूनी हींग, सजीखार,

अजवायन, कालानमक और आम्राहल्दीका चूर्ण निवाये जलसे देनेसे वातज, पित्तज, कफज और परिणामज शूल दूर होते हैं ।

(१२) बिजौरे की जड़का ६ माशे चूर्ण खिला कर ऊपरसे ४ तोले घी पिला देनेसे वातज शूल नष्ट हो जाता है ।

(१३) मालिशार्थ—नारायण तैल, महाविषगर्म तैल, वात-शूल हर मलहम, या शिरःशूलान्तक मलहम की मालिश करानेसे वेदना दूर हो जाती है ।

(१४) लेप—मैनफल को कांजीमें मिला पीस गरम कर नाभिके ऊपर लेप करनेसे पक्वाशयमें चलने वाला शूल तुरन्त शमन होता है ।

(१५) देवदारु, वच, कूठ, सोवा, हींग और सेंधानमक को कांजीमें मिला गरम कर उदर पर मोटा-मोटा लेप करनेसे शूलकी निवृत्ति होती है ।

(१६) स्वेदन—बेल की छाल, तिल और एरंड मूलको कांजी के साथ पीस गरम कर गोला बनावें । फिर कपड़ेमें लपेट कर उदर पर सेक करनेसे शूल नष्ट हो जाता है । इस तरह केवल काले तिलसे भी सेक किया जाता है ।

(१७) तार्पिन के तैलकी मालिश करके निवाये जलसे सेक करनेसे सत्वर शूल शमन हो जाता है ।

पित्तज शूल चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—शंख भस्म (२० २२३), शंख वटी (२० ४१४), बृहत्यादि काथ दूसरी विधि, (२० ७२२) और गुल्म कुठार रस (२० ५०८, शूल गुल्मके हेतुसे है तो), इनमेंसे प्रकृतिके अनुकूल ओषधि देनेसे पैत्तिक शूल सत्वर नष्ट हो जाता है ।

शंख भस्म और शंख वटीमें आम्राशय-रसकी अम्लता और

उष्णताको दूर करने का गुण रहा है, अतः जब उदरमे आफरा, मुख पाक, खट्टी डकार, तृषा वृद्धि, दाह आदि लक्षण हों, तब इनसे सत्वर लाभ होता है । इनमे शख बटी तो विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्णसे उत्पन्न शूलको भी तत्काल दूर करती है ।

बृहत्यादि क्वाथ—सामान्य होने पर भी आम प्रकोप, वात प्रकोप तथा पित्त प्रकोप जन्य शूलको त्वरित निवृत्त करता है ।

गुल्म कुठार—में ताम्र भस्मका परिमाण अधिक है, अतः यकृत पित्तका स्त्राव जब कम होनेसे शूल उत्पन्न हुआ हो, तब उपयोग किया जाता है । गुल्म कुठारकी मात्रा अति कम देनी चाहिये, अन्यथा उबाक और बेचैनी घण्टों तक होती रहती है ।

(२) मैमफलका चूर्ण ३ माशे खिला ऊपरसे परबलके पत्ते और नीमकी अन्तर छालका काथ पिलाकर वमन करा देनेसे शूल की निवृत्ति होती है ।

(३) शतावरीका स्वरस शहद मिलाकर पिलानेसे पैत्तिक शूल और दाहकी निवृत्ति होती है ।

(४) आँवलेका रस, अंगूरका रस या आँवलेका चूर्ण, इन तीनोंमेसे किसी एकमें मिश्री मिलाकर जलके साथ देनेसे पैत्तिक शूल नष्ट हो जाता है ।

(५) शतावरी, मुलहठी, खरैटी, कुश और गोखरूका काथ कर पुराना गुड़, शकर और शहद मिलाकर पिलानेसे रक्तपित्त, दाह, शूल और दाह युक्त ज्वर दूर हो जाते हैं ।

(६) हरड़, बहेड़ा, आँवला और अमलतासका गूदा मिलाकर पिलानेसे रक्तपित्त और शूल नष्ट हो जाते हैं ।

(७) हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीमकी अन्तर छाल, मुलहठी, कुटकी, और अमलतासके फलका गूदा मिला काथ कर पिलाने से दाह युक्त पैत्तिक शूल, और कोष्ठबद्धताका निवारण होता है ।

(८) एरंड तैल मुलहठीके काथके साथ पिलानेसे पैत्तिक शूल और पैत्तिक गुल्म दूर हो जाते हैं ।

(९) आंवलेका चूर्ण ४ माशे शहद के साथ चाटनेसे पित्तज शूल शान्त हो जाता है ।

(१०) काँसी, रौप्य, ताम्र या पीतलके बर्तनमें शीतल जल भर कर शूलके स्थान पर रखनेसे पैत्तिक शूल नष्ट होता है ।

कफज शूलचिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—आनन्द भैरवरस (२० ४०१), अग्नि तुण्डी वटी (२० ४३०), जीवन रसायन अर्क (२० ७८६), संजीवनी वटी (२० ६२७), शूलगजकेशरी वटी (वातजशूल चिकित्सामें लिखी हुई), शूल वज्रिणी वटी (२० ५०६), हिंगुल रसायन दूसरी विधि (२० ५०७), बिल्वादि काथ (२० ७२२), ये सब ओषधियाँ कफजशूलको नष्ट करनेमें अति लाभदायक हैं । इन सबको अनेक बार प्रयोगमें ला चुके हैं । शूल गजकेशरी और शूल-वज्रिणी, ये दोनों तो शूलके लिये मुख्य ओषधियाँ हैं । एवं हिंगुल रसायन भी तत्काक गुण दर्शाती है ।

अग्नि तुण्डी वटी जीर्ण व्याधि और उपान्त्र विकारमें हितावह है । संजीवनी वटी निर्भय, सौम्य और उत्तम ओषधि है ।

अपचन जनित शूल, जिसमें आमाशयमें शिथिलता आगई हो; या यकृतके पित्तका स्राव पूरे परिमाणमें न होता हो, ऐसे प्रकारके शूलों पर ये सब ओषधियाँ हितकारक हैं ।

(२) पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ, सैधानमक, कालानमक, सांभर नमक और हींग को मिला चूर्ण कर ३ माशे निवाये जलके साथ देनेसे कफज शूलका विनाश होता है ।

(३) दशमूल काथमें २ माशे सैधानमक और ४ रत्ती

जवाखार मिलाकर पिलाने से हृद्रोग, गुल्म, कास, श्वास और कफ जनित शूल शमन होते हैं ।

(४) पञ्चकोलके काथमें यवागू सिद्ध करके खिलाने से कफज शूल नष्ट होता है ।

(५) छोटी कटेलीका पञ्चाङ्ग ताजा लेकर मोटा-मोटा कूटे । फिर हांडीमें भर पातालयन्त्रकी विधिसे अर्क निकाल लें । यह अर्क ६-६ माशे दिनमें ३ समय देनेसे कफज शूल, हृदय शूल और सांधाओं के शूल निवृत्त होते हैं ।

(६) नागरमोथा, बच, कुटकी, हरड़ का छिलका और मूर्वा को सम भाग मिलाकर ४ माशे चूर्ण गोमूत्रके साथ देनेसे कफज-शूल नष्ट होता है, और आमका पचन होता है ।

पार्श्व शूल चिकित्सा ।

(१) महावातराज रस, (२० ५६६—मलावरोध न हो तो), लक्ष्मीविलास रस अथवा प्राधान (२० ३७४—फुफ्फुसावरण विकृति जन्य मंद या चिरकारी हो तो), शृंगभस्म (२० २३६), महावातविध्वंसन रस (२० ४६१—तीक्ष्ण वातज हो तो) और शूल बज्रिणी वटी (२० ५०६) ये सब ओषधियाँ अति हितकर हैं । इनमेंसे रोगानुसार ओषधिको प्रयोगमें लावें । फुफ्फुसावरण विकृति जन्य शूलका विशेष वर्णन उरस्तोयमें आगे किया जायगा ।

(२) बिजौरेके रस या सुहिजने की छाल के काथमें जवाखार और शहद मिलाकर पिलानेसे हृदय, पार्श्व और मूत्राशय के शूल नष्ट होजाते हैं ।

(३) एरंड मूलके काथमें जवाखार मिलाकर पिलानेसे हृदयशूल, पार्श्व शूल और कफ जनित शूल नष्ट होते हैं ।

(४) हींग, त्रिकटु, कूठ, जवाखार और सैधा नमकका चूर्ण

कर बिजौरेके रसके साथ देनेसे प्लीहा-वृद्धि और शूल नष्ट होते हैं ।

(५) जीवन्तीकी जड़का कल्क तैल मिला गरमकर पसलियों पर लेप करनेसे पार्श्वशूल नष्ट हो जाता है ।

हृदयशूल चिकित्सा ।

(१) एरंड मूल, बेलछाल, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, बिजौरे नीबूके वृत्तकी छाल, पाषाण भेद और गोखरूकी जड़, इन सबको मिला क्वाथ कर भूनी हींग, कालानमक और एरंड तैल मिलाकर पिला देनेसे श्रोणिस्थान (कमर), कंधे, मूत्रेन्द्रिय, हृदय और स्तन इन सब स्थानोंके शूल निवृत्त होते हैं ।

(२) शृंगभस्म ४-४ रत्ती गोघृतके साथ दिनमें ३ समय देनेसे हृदयशूल, पार्श्वशूल और वृक्षशूल नष्ट होते हैं ।

(३) त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, (२० ३५०), रससिंदूर (२० २७८), पूर्णचन्द्रोदय रस (२० २७४) इनमेंसे कोई भी एक ओषधि शहद, पीपल या अदरकके रस और शहदके साथ देनेसे हृदयशूल निवृत्त हो जाता है । विशेष उपचार तृतीयखण्ड में हृदय चिकित्साके भीतर यथास्थान लिखा जायगा ।

आमजशूल चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें लिखी हुई ओषधियां— शंखवटी (२० ४१४), जातिफलादि वटी (२० ४१७), हिंगुल-रसायन दूसरी विधि (२० ५०७), नीबूद्राव (२० ७८५), लघु-शंखद्राव (२० ७८६), शंखद्राव (२० ७८६), जम्भीरीद्राव (२० ७८७), स्वादिष्ठ शर्बत (२० ८१७), अग्निकुमार रस (२० ४२४), क्रव्याद रस (२० ४२६), जीवन रसायन अर्क (२० ७८६), शूलगज केसरी (वातजशूलमें लिखा हुआ),

अश्विनीकुमार रस (२० ५२३), थोड़ा थोड़ा ज्वर, बार-बार दस्त और कोष्ठ शूल हो, तो) आनन्द भैरव रस (२० ४०१), लुद्धोधक रस (२० ६००), संजीवनी वटी (२० ६२७), वज्रचार (२० ६८४) और गंधकवटी (२० ६६१) ये सब ओषधियां लाभदायक हैं । इनमेंसे रोग की तीव्रता या मंदता अनुरूप ओषधि की योजना करें । ये सब ओषधियां आमको पाचन कर शूलको नष्ट करती हैं ।

शखवटी—विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण जनित शूल, दोनों प्रकारोंमें लाभदायक हैं । जातिफलादि आम प्रकोपसे अपचन और पतले दस्त लगते हो तब उपयोगी है ।

अग्निकुमार, कव्याद रस, शखद्राव, नींबूद्राव, ये सब अति अग्निप्रदीपक हैं । उदर की विष्टब्धतामें हितकर हैं ।

लुद्धोधक रस आम पाचक है, तथा अग्निमान्द्य को दूर करनेके साथ अपचन जनित शूलको नष्ट करता है । निर्भयता पूर्वक इसको सर्वत्र प्रयोगमें ला सकते हैं ।

नींबूका शर्बत, स्वादिष्ट शर्बत, ये सौम्य ओषधियां हैं ।

संजीवनीवटी, **आनंद भैरव रस** या **अश्विनीकुमार** ज्वरावस्थामें दिये जाते हैं । अश्वनीकुमार में अफीम और जमालगोटा दोनों होनेसे दूषित मलको फेंकना, अन्त्रका सकोच करना, शूलका शमन करना और ज्वर को नष्ट करना, ये सब कार्य एक साथ हो जाते हैं ।

(२) **आम विरेचनार्थ**—उदरमें आम और मल संचय अधिक हो ; तो एरंड तैल, पञ्चसम चूर्ण, (२० ६८१) पञ्चसकार चूर्ण, (२० ६८२) आरग्वधादि काथ (द्वितीय विधि २० ७०६), या नारायण चूर्ण (२० ६७८), इनमेंसे अनुकूल ओषधि देकर उदर शोधन करा लेना चाहिये ।

(३) **चित्रकमूल**, **पीपरामूल**, **एरंडमूल**, सोठ और धनिया का काथ कर भूनी होग, बिड़नमऊ और खट्टे अनारका रस

मिलाकर पिला देनेसे आमशूल, आफरा और मलावरोध दूर होते हैं ।

(४) घोड़ेकी लीदके ६ माशे रसमें १ रत्ती भुनी हींग मिलाकर देनेसे तत्काल शूलकी निवृत्ति होती है ।

(५) अजवायन, सैधानमक, छोटी हरड़ और सोंठ को सम भाग मिलाकर ४ माशे निवाये जलके साथ देनेसे आमशूल को दूर कर अग्नि प्रदीप्त करती है ।

(६) धीकुंवारका अर्क पाताल यन्त्रसे निकाल २ तोले अर्कमें १ माशा सज्जीखार मिलाकर पिलानेसे शूल तुरन्त बन्द हो जाता है ।

(७) बायविडंगका चूर्ण अगस्त्यके स्वरसके साथ चाटनेसे शीघ्रही अपचन जानित शूल शमन हो जाता है ।

(८) लुधावटी (चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ ७५८) देने से सत्वर उदरशूल और अपचनकी निवृत्ति होती है ।

द्वन्द्वज शूल चिकित्सा ।

(१) सब प्रकारके द्वन्द्वज शूलों पर—शूलवज्रिणी वटी (२० ५०६) लाभदायक है ।

(२) वातपित्त की प्रधानता हो, तो—सूतशेखर (२० ५५७), या सुवर्ण भूपति रस (२० ३०२) देना चाहिये ।

(३) अन्त्र की शिथिलता हो तो—नाग भस्म (२० १५७) अदरखके रस और शहदके साथ देते रहनेसे शूल शमन हो जाता है ।

(४) कफ पित्तज कोष्ठ शूल—शंख भस्म, या मंझूर-मात्तिक भस्म, अथवा इन दोनोंको मिलाकर घृतके साथ देनेसे कफ-पित्तज उदर शूल निवृत्त हो जाता है ।

(५) बृहत् पञ्चमूलका काथ शहद मिलाकर पिलानेसे वात-पित्तात्मक शूल दूर होता है ।

(६) परबलके पत्ते, त्रिफला और नीमकी अंतरछालका काथ कर शहद मिलाकर पिलानेसे कफ-पित्त-ज्वर, वमन, दाह और शूल रोग दूर होते हैं ।

(७) लहशुनका रस शहद मिलाकर सेवन करानेसे वात-कफात्मक शूल नष्ट होता है ।

त्रिदोषज शूल चिकित्सा ।

(१) शंख द्राव (२० ७८६), जम्भीरी द्राव (२० ७८७), शूलवज्रिणी वटी (२० ५०६), या शंख वटी (२० ४१४) देनेसे त्रिदोषज कोष्ठशूलकी निवृत्ति होती है ।

सूचना—यदि तेज ओषधि सहन होती हो; तो शंखद्राव या जम्भीरी-द्राव देवें । आमाशय-रसमें अम्लता बढ़ गई हो, तो जम्भीरी द्राव नहीं देना चाहिये । शूल वज्रिणी और शंख वटी, ये दोनों निर्भयता पूर्वक प्रयोगमें लाई जाती है । यदि व्रणजन्य शूल है, तो परिणाम शूल-चिकित्सामें कहे अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

(२) विश्वादि क्वाथ—सोठ, एरंड मूल, दशमूल और जौ, इन १३ ओषधियोंको मिलाकर काथ करें । फिर काथमें जवाखार, सज्जीखार, भूनी हींग, सैधानमक, बिड़नमक और पुष्करमूलका चूर्ण प्रक्षेप रूप डालकर पिलानेसे हृदय, पसलियाँ, कमर जकड़ना, आमाशय, पक्काशय, कंधे आदि स्थानोंकी तीव्र वेदना, ज्वर, गुल्म, शूल ये सब नष्ट होते हैं ।

(३) एरंड द्वादशक क्वाथ—एरंड बीजकी जिन्मी निकाली हुई गिरी, एरंड मूल, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, गोखरू, मुद्ग-पर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी सहदेवी, पृष्ठपर्णी (दूसरी-

वार) और ईखकी जड़, इन १२ ओषधियोंको मिला जवाखार डालकर पिलानेसे वातज, पित्तज, कफज, द्विदोषज एवं त्रिदोषज शूलकी निवृत्ति होती है ।

(४) मण्डूर भस्म या लोह भस्म त्रिफला, शहद और घृत मिलाकर चाट लेनेसे त्रिदोषज शूल नष्ट होता है । (घृत पहले मिलावे, फिर शहद मिलावे ।)

(५) विदारी कन्दके और अनारके रसमें शहद, त्रिकटु, और सैधानमक मिलाकर पिलानेसे त्रिदोषज शूल तुरन्त नष्ट हो जाता है ।

(६) शंख भस्म, कालानमक, भूनी हींग और त्रिकटुको मिला निवाये जलके साथ देनेसे त्रिदोषज शूल नष्ट होते हैं ।

(७) लोह भस्म २ रत्ती, गोमूत्रमें पकाई हुई छोटी हरड़ ३ माशे और गुड़ ६ माशे मिलाकर खिलानेसे समस्त प्रकारके शूल शमन होते हैं ।

(८) कांटावाले करंजके बीज ३ तोले, कालानमक, डीका-माली, एलुवा, सजीखार और कालानमक १-१ तोला तथा हींग ३ माशेका चूर्ण कर गरम जलमें चटनीकी तरह पीसैं । फिर निवाया-निवाया बालकोंके पेट पर लेप करनेसे उदरका भारीपन, उदर शूल, कोष्ठवद्धता, कृमि और अपचन दूर होते हैं ।

(९) राई, सुहिंजनेकी छाल, कालानमक, सजीखार और हल्दीको कूट बारीक चूर्ण करें । फिर धीकुंवारके रसमें खरल कर पतले दहीके समान प्रवाही बना लेवें । इसे निवाया कर लेप करने से उदरशूल, पार्श्वशूल, संधिशूल, कटिशूल आदि नष्ट होते हैं । वमनमें कौड़ी प्रदेश पर लेप करें । यकृद्वृद्धि और स्त्रीहा वृद्धि पर लेप करनेसे वेदना शमन होती है; और वृद्धि दूर होती है । इस तरह कफ-वृद्धि होनेपर इसका लेप फुफ्फुसों पर किया जाता है ।

(१०) शुद्ध बच्छनाग, बच, सोठ, भूनी हींग और सैन्धा नमक इन सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। फिर चूर्णके समान गुड़ मिलाकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लें। इसमेंसे १-१ गोली दिनमें २ या ३ बार देनेसे सब प्रकारके उदर शूल शमन हो जाते हैं।

(११) रक्त वाहिनियोंमें अवरोध-जन्य शूल होनेपर—लोह-भस्म शकरके साथ दें, या शहद-पीपलके साथ दिनमें ३ समय देते रहे।

(१२) सधिगत और अस्थिगत शूल हो तो—नाग भस्म सोंठका चूर्ण और शहदके साथ दिनमें ३ समय देनेसे शूलकी निवृत्ति होती है।

(१३) पित्ताश्रमरी जन्य शूल पर—अश्रमरी बहुत बड़ी हो गई हो; तो ऑपरेशन करके पित्त कोषमेंसे निकाल डाले। अश्रमरीके छोटे-छोटे कण हों; तो अगस्ति सूतराज रस, त्रिकटु और शहद के साथ देनेसे तीव्र वेदना शमन होती है। अथवा अगस्ति सूतराज जवाखार और घृतके साथ, या त्रिकटुकादि काथसे दें।

(१४) पित्ताश्रयसे अश्रमरी तोड़कर निकालनेके लिये—ताम्र भस्म (कुटकीके चूर्ण या करेलेके रसके साथ), या सूतशेखर रस (२ तोले त्रिफलाके काथके साथ) देनेसे अश्रमरी जनित तीव्र वेदना शान्त होती है। विशेष उपचार आगे पित्ताशयाश्रमरीके साथ लिखा जायगा।

परिणामशूल और अन्नद्रवशूल चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें लिखी हुई ओषधियां—
शूलवज्रिणी वटी, (२० ५०६) ताम्रभस्म (२० १२१ कफ-पित्तात्मक है, तो), मण्डूर माक्षिक भस्म (२० १७६), पित्तात्मक है, तो शम्बुकभस्म (२० २४६) शंखभस्म (२० २२३), वरा-

टिका भस्म (२० २२१ वातपित्तज या पित्तज हो तो), ये सब ओषधियां अति हितकारक हैं । इनमेंसे प्रकृतिका विचार करके योजना करनी चाहिये ।

शूलवज्रिणीके सेवनसे आमाशयके रसकी तीव्रता कम होती है । यकृत पित्तका स्राव अधिक होता है, और आमाशयमेंसे अन्नमें अन्न जानेके समय त्रास न्यून होता है ।

यकृतके पित्तस्राव को जहां बढ़ाने की आवश्यकता हो; वहां पर ताम्रभस्म को प्रयोगमें लाना चाहिये । मण्डूरमाक्षिक, शम्बुक, शंख, वराटिका आदि आमाशयकी अम्लता और उम्रताका ह्रास कराते हैं, एवं वमनको शमन भी कराते हैं ।

(२) सप्तामृत लोह—मुलहठी, त्रिफला और लोहभस्म इन ५ वस्तुओं को घी और शहदके साथ मिलाकर चाट लेवें । ऊपर गौ का दूध पीवें; तो वमन, तिमिर, परिणाम शूल, अम्ल-पित्त, ज्वर, ग्लानि, वायुका निरोध, मूत्रावरोध और शोथ-विकार दूर होते हैं ।

(३) बृहद् विद्याधराभ्र रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, बायबिडंग, नागरमोथा, निसोत, दन्तीमूल, चित्रकमूल, मूसाकानी और पीपरामूल, ये १५ ओषधियाँ १-१ तोला, अभ्रकभस्म ४ तोले और लोह भस्म १६ तोले लेवें । पहले पारद और गंधक की कज्जली करें । फिर भस्म मिलावें; अंतमें काष्ठादि ओषधियोंका चूर्ण मिला ५ तोले गोघृत डालकर खरल करें । फिर आवश्यकता हो उतना शहद डाल ६ घण्टे खरल कर मटर समान गोलियाँ बनालें । छायामें सन्हालपूर्वक पतले वस्त्रसे ढककर रखनेसे ५-६ दिनमें सूख जाती हैं । बादमें चौड़े मुँह की बोतलमें भर लेवें, अथवा चूर्ण ही रख लें । चूर्ण की मात्रा ४ रत्ती या गोली १ से

२ प्रातःकाल गो दुग्ध या नारियलके जलके साथ सेवन करानेसे आमाशय रस बहुत अंशमें आंतमें चला जाता है, जिससे अन्न-द्रव शून्य और परिणामशून्य आदि नष्ट हो जाते हैं। यह रसायन वातपित्तज शूल, एक दोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज और परिणामशूल, आमवातज शूल, कृशता, विवर्णता, आलस्य, तन्द्रा और अरुचि आदि को नष्ट करता है। साध्य और असाध्य, नूतन और जीर्ण, सब प्रकारके शूलों को दूर करता है। आमाशयमें तीव्र रसका संचय होने पर यह रसायन उसे सत्वर आंतोंमें भेजवा देता है। फिर मलशुद्धि कर बाहर निकाल डालता है। आमाशयको भी सबल बनाता है, और शूलको भी शान्त करता है। यह इस रोगके लिये उत्तम ओषधि है।

(४) धात्री लोह—आंवलेका चूर्ण ३२ तोले, लोहभस्म १६ तोले और मुलहठी ८ तोले मिलाकर आंवलेके स्वरस की ७ भावना देवें। बार बार भावनाके अंतमें सूर्यके तेज तापमें सुखा लेवें। इस चूर्णमेंसे १-१ माशा घी और शहद मिलाकर दिनमें २ समय भोजनके प्रारंभ मध्य, और अन्तमें सेवन करावें। प्रारंभके सेवनसे पित्त और वातसे उत्पन्न दोष, मध्यमें लेनेसे विबंध (मलावरोध) दूर होता है, और अन्नका विदाह नहीं होता, अंतके सेवनसे अन्नपानके दोष नष्ट होते हैं। अन्न सुखपूर्वक पचन होता है। इस रसायनके सेवनसे आन्त्रिक व्रण-जनित असह्य परिणामशूल शमन होता है।

यह योग विदग्ध पित्त को तुरन्त नष्ट करता है। नेत्रों को हितावह और पलितनाशक (बालों को काला करनेवाला) है। कफपित्तसे उत्पन्न रोगों को दूर करता है ; तथा रक्त का प्रसादन करके पाण्डु और कामला का निवारण करता है।

(५) शतावरी मण्डूर—मण्डूरभस्म, शतावरी का स्वरस,

दही और दूध, प्रत्येक ३२-३२ तोले और गो-घृत १६ तोले लेवें। सबको मिला मन्दाग्निपर पिण्ड सदृश हो, तब तक पाक करें। फिर शीतल होनेपर अमृतवान या खुले मुँह की बोतलमें भर लेवें। इसमेंसे ४-४ रत्ती भोजनके प्रारम्भ, मध्य और अंतमें लेनेसे वातज और पित्तज परिणामशूल निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं।

इस मण्डूरके साथ, नागरमोथा, पीपल, जीरा, धनिया, बड़ी हरड़, दालचीनी और छोटी इलायची का चूर्ण ३-३ माशे अनुपान रूपसे मिला लेनेसे सत्वर लाभ होता है।

(६) लोह-गुग्गुलु—हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, बायबिडंग, पुष्करमूल, बच, चित्रक-मूल और मुलहठी, ये १२ ओषधियाँ ४-४ तोले; लोहभस्म और शुद्ध गुग्गुलु ३२-३२ तोले लेवें। सबको यथाविधि मिला घृत ढाल अच्छी रीतिसे कूट ४८ तोले शहद मिलाकर रखलें। इसमेंसे १-१ माशा निवाये जलके साथ सेवन करनेसे परिणाम शूल और अन्य सब प्रकारके उदर शूल शमन होते हैं। इनके अतिरिक्त यह गुग्गुलु पाण्डु, कामला, हलीमक, दुःसाध्य आमवात, शोथ और जीर्ण विषम ड्वर को भी नाश करता है। वातवहा नाड़ियों की विकृतिजन्य जीर्ण शूल और व्रणजनित शूलमें यह अच्छा काम देता है।

(७) सामुद्राय चूर्ण—समुद्र नमक, सैधानमक, जवाखार, सज्जीखार, काला नमक, सांभर नमक, बिड़नमक, दन्तीमूल, लोहभस्म, मण्डूरभस्म, निसोत, जिमीकन्द सब समभाग लेवें। फिर दही, गोमूत्र और दूध, तीनों चूर्णसे ४-४ गुना मिला, कड़ाहीमें ढाल, मन्दाग्निपर पाक करें। द्रव सूख जानेपर चूर्ण को ढक दें; और ३ घण्टे तेज अग्नि देकर अन्तर्धूम भस्म बना

लेवें। इसमेंसे २-२ माशे चूर्ण निवाये जलके साथ दिनमें २ समय भोजनसे १-२ घण्टे पहले देवें। फिर जुधा लगनेपर घृतसे पकाये मांस आदि भोजन करानेसे नाभिशूल, यकृच्छूल, हृदयशूल, कफवातज शूल, गुल्म, प्लीहा शूल, विद्रधि, अष्ठीलासे उत्पन्न शूल, ग्रहणी शूल, अन्नद्रवशूल और इतर सब प्रकारके शूल शमन हो जाते हैं। शूलो को नष्ट करनेके लिये इससे परे ओषधि नहीं है। इनमें भी परिणाम शूलमें यह विशेष लाभदायक है।

(८) लोह भस्म २ रत्ती, त्रिफला चूर्ण ३ माशे (या मुलहठी का चूर्ण ३ माशे) और शहद ६ माशे मिलाकर चाटनेसे अन्नद्रव-शूलमें उत्पन्न जरत्पित्त नष्ट हो जाता है।

(९) पिप्पली घृत—२ सेर पीपल को ८ गुने जलमें मिला अर्धावशेष क्वाथ करे। फिर यह क्वाथ, गो घृत २ सेर और पीपलका कल्क ४० तोले मिलाकर घी सिद्ध करें। इस घृतमेंसे २-२ तोले चतुर्थांश शहद मिलाकर सेवन करावे, ऊपर दूध पिलाते रहे, और पथ्य का आग्रहपूर्वक मालन करें; तो अम्लपित्त, जरत्पित्त और बड़े हुए परिणामशूलका निवारण हो जाता है।

(१०) नारिकेलचार—जलभरे नारियल में छोटा छेदकर रह सके उतना सैधानमक भरें। फिर ऊपरसे कपड़मिट्टी कर सुखा १० सेर गोबरीकी अग्नि देवें। स्वांग शीतल होनेपर भीतरसे नमक मिली भस्म को निकाल, पीपलका चूर्ण सम भाग मिला खरलकर बोटलमें भर लेवें। इस चूर्णमेंसे ४ से ८ रत्ती तक शहद या निवाये जलके साथ देनेसे वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक परिणाम शूल नष्ट हो जाता है।

(११) त्रिफला ३ माशे और पीपल ४ रत्ती, दोनोंको शहद के साथ मिला चाट लेवें। ऊपर दहीमें मिलाया हुआ मटर और

जौ का सत्तू खिलाते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें अन्नद्रव शूल निवृत्त होजाता है ।

(१२) **हरीतकी खण्ड**—हरड़ १६ तोले, निसोत १६ तोले, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेश, नागरमोथा, तालीसपत्र, जीरा, पीपल, जावित्री, लौंग, लोहभस्म, अभ्रकभस्म, सोहागे का फूला, ये सब १-१ तोला, गो दुग्ध ६४ तोले और शकर ४० तोले लेवें । पश्चात् गोदुग्ध में ओषधि मिला मन्दाग्नि पर लोहे की कढ़ाईमें खड़ी जैसा बनालें । कुरछी को लगनेपर कढ़ाई को नीचे उतारकर शकर मिला देवें । इसमेंसे नित्य प्रति सुबह १-१ तोला देते रहनेसे आठों प्रकारके शूल, दुर्जय अम्लपित्त, अन्नद्रव शूल, कास, श्वास, वमन, ये सब दूर हो जाते हैं । यह रसायन सर्व शूलनाशक, कान्तिदायक, पुष्टिप्रद, हृदय-पौष्टिक तथा बल, बुद्धि और अग्नि को बढ़ाने वाली है ।

(१३) **रसमण्डूर**—हरड़ १६ तोले, शुद्ध गन्धक ८ तोले, मण्डूरभस्म ८ तोले, शुद्ध पारद २ तोले और भांगरेका रस ६४ तोले लेवें । पारद और गन्धककी कज्जली बना, फिर मण्डूर और हरड़ मिलावें । पश्चात् भांगरेके रसके साथ लोहे की खरलमें या कढ़ाईमें खरल कर बिल्कुल सूखा चूर्ण बनने पर ८ तोले घी मिला लेवें । तदनन्तर ३२ तोले शहद मिला कर रख लेवें । इसमेंसे १-१ तोला रोज सुबह खिलानेसे कफपित्तज व्याधि, अन्नद्रवशूल, अम्लपित्त, ग्रहणी और उग्र कामला रोग का विनाश होता है ।

अन्न पुच्छ विद्रधि जन्य शूल धर—अम्रितुण्डी वटी, (२० ४३०), शूलवज्रिणी वटी (२० ५०६) अथवा शूलगजकेसरी (वातशूल चिकित्सामें कहा हुआ) दिनमें दो समय जलके साथ देते रहनेसे वमन, उबाक और ड्वर सह उपांशशूल निवृत्त

होता है । विशेष विवेचन अन्त्रपुच्छप्रदाह रोगकी चिकित्सामें किया जायगा ।

कोष्ठ बद्धतासे शूल होने पर—एरंड तैल, इच्छाभेदी रस (२० ३६६), नारायण चूर्ण (२० ६७८) या इतर कोष्ठ शुद्धिकर ओषधि देनी चाहिये ।

जीर्ण मलावरोध जनित शूल पर—क्रव्याद् रस, (२० ४२६) अम्रितुण्डी वटी (२० ४३०), या अम्रिकुमार रस (२० ४२४) इनमेंसे किसी एक ओषधिका सेवन करें । या परिणामशूलमें कहे हुए सामुद्राद्य चूर्ण या बृहद्विद्याधराभ्र रसका सेवन कराने से जीर्ण बद्धकोष्ठ दूर होकर शूल शमन होजाता है ।

आमवात (सधिवातज) शूल पर—आमवातारि वटी, दश-मूलादि काथ, रसोनादि कषाय आदि अनेक प्रयोग तथा लेप-मालिश सम्बन्धी विवेचन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ ४८२ से ४८८ तक किया है ।

वातरक्त जन्य शूल होने पर—बृहद् योगराजगूगल (२० ४६६) दशमूल काथके साथ देवें । अथवा लाङ्गुल्यादि लोह (२० ५०५) दिनमें २ बार नवकार्षिक काथके साथ देते रहे । विशेष उपचार मूल रोगके विवेचनके साथ तृतीय खण्डमें किया जायगा ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

गेस्ट्राल्जिया—आमाशयस्थ वातवहानाङ्गियोंकी उत्तेजनासे उत्पन्न शूल पर ।

(१) लाइकर बिस्मथ एट एमोनिया साइट्रेस—Liq Bismuth
et Ammon Cit ६ ग्राम
एसिड हाइड्रोश्येनिक डिल० Acid Hydrocynic Dil

१५ बूँद

टिञ्चर नक्स वॉमिका Tinct Nucis Vom

१ ग्राम

टिञ्चर ऑरेंटी Tinct Aurantii १॥ ड्राम
 शर्वत Syrup Simple १ औंस
 एका क्लोरोफॉर्म Aqua Chloroform. ad ६ औंस तक
 सबको मिला लेवें । फिर ४-४ घण्टे पर ४-४ ड्राम मिश्रण समान
 जल मिला कर पिलाते रहें ।

(२) एसिड आर्सेनिक Acid Arsenic २ ग्रेन
 एक्सट्रेक्ट जेन्सन Ext Gention ६६ ग्रेन
 दोनोको मिलाकर ४८ गोलियों बना लेवें । एक-एक गोली दिनमें
 ३ समय देते रहें । सोंठका चूर्ण गोली बनने लायक मिला लेवें ।

सूचना—इस ओषधिमें आर्सेनिक (सोमल) होने से सम्हाल-
 पूर्वक बड़ी आयु वालोंको ही देना चाहिये ।

अन्नद्रव शूल (Gastric Ulcer) पर

(१) बिस्मथ सब नाइट्रास Bismuth Subnitrates ४ ड्राम
 एसिड हाइड्रोस्येनिक डिल० Acid Hydrocynic Dil १ ड्राम
 लाइकर मोर्फिया हाइड्रोक्लो० Liq Morphina Hydroch ३ ड्राम
 स्पिरिट क्लोरोफॉर्म Spt Chloroform ३ ड्राम
 जल Aqua ad १० औंस तक
 सबको मिला लेवें । भोजन कर लेने पर दिनमें ३ समय ४-४ ड्राम
 समान जल मिलाकर पिलाते रहें ।

(२) लाइकर आर्सेनिक Liq Arsenic १ से २ बूंद
 १॥-१॥ तौला जल मिलाकर दिनमें दो बार भोजनके पश्चात्
 देते रहनेसे शूल, वमन, दाह आदि लक्षणोंका शमन होता है; और रक्त
 में रक्ताणुओंकी वृद्धि होती है ।

रक्त वमन होने पर—

(३) फेरी सल्फ Ferri Sulph ५ ग्रेन

मेग सल्फ Mag Sulph १ ड्राम
 एसिड सल्फ्युरिक डिल० Acid Sulphuric Dil १० बूंद
 एक्वा मेन्था पिप० Aqua Mentha Pip १ औंस तक
 सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह दिनमें ३ बार देते रहनेसे
 अन्नद्रव शूलमें रक्तवमनका शमन होता है ।

आन्त्रिक शूल (Colic Intestinal) पर

(१) एरड तैल Oleum Ricini ४ ड्राम
 एक्सट्रेक्ट ग्लिसराइभा लि० Ext Glycyrrhiza Liq. १ ड्राम
 टिञ्चर ओपियाई Tinct. Opi २० बूंद
 म्यूसिलेज एकेसिया Mucilage Acacia ४ ड्राम
 एक्वा मेन्था पिप० Aqua Mentha Pip. ad १॥ औंस तक
 इन सबको मिला लेवे । फिर बोतलको अच्छी रीतिसे चला कर
 चुरन्त देवें ।

(२) टिञ्चर कार्डामम कम्पा० Tinct. Cardamom Co. ४ ड्राम
 एसिड हाइड्रोश्वेनिक डिल० Acid Hydrocyanic Dil.

४० बूंद

स्फिरिट एमोनिया एरोमेटिक Spt. Ammon. Arom. २ ड्राम
 टिञ्चर जिजीबेरीस Tinct. Zingiberis ३ ड्राम
 एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform. ad ६ औंस तक
 सबको मिला लेवें । इसमें से ४-४ ड्राम आवश्यकता पर देते रहने
 से आन्त्रिक शूलका निवारण होता है ।

(३) तीव्र शूल हो, तो १५ बूंद क्लोरोडाइन अथवा २ बूंद
 काजूपुट, लौंग या पीपरमेण्टके तैलमें से कोई भी एक थोड़ी सी शक्करके
 साथ देवे ।

(४) बालकोंके अन्न शूल पर

एट्रोपिन सल्फास Atropine Sulph. १ ग्रेन
 झिंसी सल्फास Zinc Sulph. ३० ग्रेन

जल Aqua ad. १ औंस
 सबको मिला ३-४ बूंद दिनमें २-३ बार देना चाहिये ।
 (५) मेगनेशिया कार्ब Mag Carb १॥ ग्रेन
 पल्विस् रिहाई Pulv Rhei १॥ ग्रेन
 सोंठका शर्बत Syrup Zingiberis ५ बूंद
 एक्वा मेन्था पिपरेटा Aqua Mentha Pip. ad ४ ड्राम तक
 सबको मिलाकर पिला देवें । २-२ घण्टे पर देते रहें । खानेको
 कुछ भी न देवें । अधिक प्यास लगने पर दूधको फाड़, छानकर थोड़ा-
 थोड़ा जल पिलाते रहें । उदर पर फलालिनको गरम कर सेक करें;
 फिर बाँध देवें ।

(६) एक मासके बच्चेको अत्यधिक वेदना होने पर
 क्लोरल हाइड्रेट Chloral Hydrate ३ ग्रेन
 पोटैस ब्रोमाइड Pot. Bromide १ ग्रेन
 ग्लिसरीन Glycerine ५ बूंद
 एक्वा मेन्था पिपरेटा Aqua Mentha Pip. ad १ ड्राम तक
 इनको मिलाकर पिला देवें । इस तरह आध-आध घण्टे पर २-३
 बार देनेसे निद्रा आ जाती है और वेदना शमन हो जाती है ।

(७) स्पिरिट इथर नाइट्रोसी ५-१० बूँद १-१ ड्राम जलमें
 मिलाकर पिलानेसे सत्वर अपान वायु निकल जाती है; पेशाब साफ
 आजाता है; और थोड़े ही समयमें अन्न शूल शमन होजाता है ।

पथ्यापथ्य-विचार ।

पथ्य—वमन, लङ्घन, स्वेदन, पाचन, विरेचन, फलवर्त्ति,
 क्षारमिश्रित ओषधियों, लेप, निद्रा, एरंड तैल, गोमूत्र, निवाया
 जल, निवाया दूध, गेहूँका दलिया, भूने हुए जौका दलिया, भूने
 हुए जौका माण्ड, परवल, करेला, बथुआ, सुहिंजनेकी फली,
 समुद्र नमक, जङ्गलके पशु-पक्षियोंका मांसरस, लहशुन,

पुराना शालि चावल, नीबूका रस, हलका मोजन, जल और दूधमें बनाई हुई बाली, मूंगका यूष (पंच कोल मिलाया हुआ), परवलका यूष, सूरण, गूलर, पेठा, कच्चा पपीता, पालक, मेथीके पत्ते, हींग, सैधानमक, चौलाई, चोंगेरी, बैंगन, केलेका फूल, आँवला, अंगूर, अनार, पक्के आम, पक्का पपीता, मुसंबी, मीठा नीबू, संतरा, नारियलका जल, पक्के बेलफल, कसेरू, सोया, लौंग, जवाखार, मीठा कूठ, अदरक, सोठ और धनिया आदि हितकारक है । शाक हो सके उतना कम लेना चाहिये ।

सूचना—तीव्र पीड़ाके समय भोजन बिलकुल नहीं देना चाहिये ।

वातज शूलमें—विरेचन और निरुहबस्ति, घी मिला हुआ कुलथीका यूष, लावाका मांस, हींग, सोठ, मिर्च, पीपल, नमक, ये सब हितकर है ।

पित्तज शूलमें—पित्तनाशक विरेचन, खरगोश और लावा (बटेर) का मांसरस, खील और शहदका सन्तर्पण, शहद मिले हुए शीतल पदार्थ, जौके सत्तूकी पेया, आँवला, अंगूर, विदारीकन्दका स्वरस, शतावरीका स्वरस, मधुर ओषधिसे सिद्ध किया हुआ दूध, शीतल वायुका सेवन, शीतल जलमें गोता लगाकर स्नान करना, ये सब पथ्य हैं ।

कफज शूलमें—वमन, लङ्घन, शिरोविरेचन, कड़वी और चरपरी ओषधियोंका काथ, शहदकी शराब, शहद, गेहूँ, जौ, अरिष्ट, आसव, शुष्क और चरपरे पदार्थ, पञ्चकोल मिलाकर सिद्ध की हुई यवागू, हींग, नमक और सोठ आदि हितकर है ।

अन्नद्रव शूलमें—कड़वे और मधुर द्रव्योंसे वमन, विरेचन, निरुह बस्ति, शहद मिश्रित, तैलकी बस्ति, घीमें तले हुए छिल्के वाली उड़द की पिट्टीके बड़े, घी और गुड़ मिला हुआ गेहूँका मण्ड, ठण्डा दूध और मिश्री मिला हुआ गेहूँका मण्ड, सिक्थ रिहत पुराने शालि चावलका निवाया मण्ड, दूध, घी और

शक्कर मिला हुआ जौके सत्तूका मण्ड, शक्कर खिलाकर ऊपर निवाया दूध पिलाना, परवलके पत्तेके यूषके साथ चनेका सत्तू तथा न्यून मात्रामें अन्नपान आदि हितकर होते हैं ।

आमाशयिक व्रण जनित शूलमें—विरेचनार्थ रोज सुबह त्रिफला, हरड़, जैतुनका तैल, या बादाम रोगनका सेवन कराना हितकर है । रोज व्रण स्थान पर सेक करते रहना चाहिये ।

परिणाम शूलमें—यदि जरत्पित्त न हो; तो मलाई सह दही के साथ थोड़े प्रमाणमें मटर और जौके सत्तूका सेवन करनेसे थोड़े ही दिनोंमें शूल नष्ट हो जाता है । इस शूलमें अन्नद्रवशूल-समान पथ्यका पालन करना चाहिये ।

आन्त्रिक व्रण जनित पित्त प्रधान शूल, दाह, अति तृषा, वमन, उ्वर आदि विकार हो; तो जौके सत्तूकी १४ गुने जलमें बनाई हुई पेया बना शीतल होनेपर ऊपरसे जल नितार शहद मिलाकर पिलाना चाहिये; तथा उदरको शुद्ध रखना चाहिये ।

अपथ्य—ज्यायाम, मैथुन, शराब, क्रोध, शोक, अति नमक, तेज मिर्च, द्विदलधान्य (चना, मटर, उड़द, अरहर, सेम, चौला, मसूर, मोंठ), मूंगके अतिरिक्त सब प्रकारकी दाल, मल, मूत्र और अधोवायु आदिके वेगोंका अवरोध, शोक, क्रोध, शुष्क शाक, कमलकन्द, कटहल, पक्का केला, आलू, बिदाही भोजन, विषम भोजन (दूध-मछली, दूध-दही आदि), रात्रिका जागरण, रुक्त, कड़ुवा और कसैला पदार्थ, शीतल भोजन, अति शीतल जल, भारी भोजन और सूर्यके तापमें भ्रमण आदि अपथ्य हैं ।

अन्नद्रवशूल और परिणाम शूल (आमाशयिक और आन्त्रिक व्रण जन्य शूल) में संपूर्ण खट्टे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये । एवं अजीर्ण हो जाय उतना पथ्य भोजन अथवा थोड़ा भी अपथ्य भोजन न करें । भोजन थोड़ा-थोड़ा ही करें । द्विदल धान्य, शराब, स्त्री-सेवन, शीतल वायु, शीतल जल, सूर्यका ताप,

जागरण, क्रोध, शोक, कौजी, खट्टे पदार्थ, इन सबका आग्रह-पूर्वक त्याग करना चाहिये ।

नागविषज शूल ।

नागविषज शूल—लेड कालिक—लेड पोइजनिंग—सेटरनिज्म—प्लम्बिज्म—कालिका पिक्टोनम्—पेइन्टर्स कालिक—डेवोनशायर कालिक—Lead colic—Lead Poisoning—Saturnizm—Plumbism—Colica Pictonum—Painter's colic—Devonshire Colic.

सीसा और क्लर्इमे रोगोत्पादक विष है, ऐसा प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने माना है । इस हेतुमे भावप्रकाशकारने लिखा है कि, अशुद्ध सीसा आक्षेप, कम्प, किलास, कोठ, गुल्म, कुष्ठ, शूल, वातज शोथ, पाण्डु, प्रमेह, भगन्दर, विषके प्रभाव सदृश अनेक प्रकारके रक्त विकार, क्षय, मूत्रकुच्छ, कफ, ज्वर, प्रमेह, अश्मरी, विद्रधि और वृषणविकार आदि रोगोंकी उत्पत्ति करता है । इनमेंसे तीव्र उदर शूल, प्रमेह, पाण्डु, विषप्रकोप, वातविकार आदि प्रत्यक्षमें प्रबल लक्षण रूप प्रतीत होते हैं । यह छापाखानाके कर्मचारियों तथा खिलौने और रंग के कारखानो मे काम करनेवालों पर होनेवाले आक्रमणसे जाननेमे आता है । सीसा या सीसामिश्रित ओषधिका उपयोग खाने, श्वास लेने और व्रण या त्वचापर लगानेमे किया जाता है । फिर भीतर शोषित होकर अपना प्रभाव दर्शाता है । एवं सीसेके नल का जल पीना तथा डिब्बेमे आनेवाले भोजन, खिलौने, सीसेके वर्तनो का उपयोग या सिंदूर, सीसा आदि मिश्रित अन्न खिलाना आदि कारणोसे नागविष खानेमें आ जाता है ।

बच्चोंके लिये खेलनेके खरके जो खिलौने विदेशसे आते हैं, उनपर सीसाका चार लगाया जाता है । बालक इन खिलौनों को मुँहमे डालते रहते हैं, जिससे नागविष आमोशयमें चला जाता है ।

छापाखाना (Printing Press) के कम्पोझीटर, अच्छर ढालने

के कारखाने (Type-foundry) में काम करनेवाले, सीसेके खिलौने, बर्तन, और जेवर बनानेवाले तथा सीसे की गोलियाँ बनानेवालों की अंगुलियों की त्वचा द्वारा नागविष देहमें प्रवेश कर जाता है। एवं रंगके कारखानोंमें रहने वालों को श्वास और त्वचा द्वारा नागविष की संप्राप्ति हो जाती है। इसी तरह नाटकशालाके नट-नटी और वेश्या आदि को शिरके बाल और मुखपर पाउडर आदि लगानेमें नाग द्रव्य का प्रवेश त्वचा द्वारा हो जाता है।

सम्प्राप्ति—सीमान्त अथवा साखान्त (Terminal) वात-वहा नाड़ियों का दाह (Peripheral neuritis) होनेपर विशेषतः हाथ की कलाई का घात (Wrist drop), पैर लूले होना (Foot drop) या नेत्र के वातवहा नाड़ियों की विकृति हो जाती है। इस तरह विष प्रभावसे मस्तिष्कगत विकृति भी हो जाती है।

धमनी कोष काठिन्य युक्त अपक्रान्ति (Arterio Sclerosis Atheroma), फिर हृदय कोष वृद्धि, पश्चात् विस्तार और रक्तक्षय होकर पाण्डु रोग होना, आदि रुधिराभिसरण संस्थामें विष प्रभावसे विकृति हो जाती है। एवं वृक्कप्रदाह और पचनेन्द्रिय संस्थामें भी प्रदाह की प्राप्ति हो जाती है।

पूर्वरूप—रक्तहीनता, लुधा का नाश होजाना, आध्मान, बद्ध-कोष्ठ, अरचि, शिरःशूल, मुख कान्तिविहीन हो जाना, और मसूढ़ेपर काली-काली रेखाएँ होना इत्यादि पूर्व रूप प्रतीत होते हैं।

लक्षण—तीव्र उदरशूल (Lead colic) संतत या खण्डित नाभि के चारों ओर उत्पन्न होता है। इस शूलमें सामान्य रीतिसे प्रारम्भमें वेदना कम होती है, फिर धीरे धीरे प्रचल हो जाती है। शूल ३-४ दिन रहता है; फिर बार-बार आता रहता है; उदर बैठ जाता है; तथा नाड़ी मन्द निर्बल और कठोर हो जाती है।

मुँहमें सीसा धातु का स्वाद जान पड़ना, निःश्वासमें दुर्गन्ध आना, हाथ की कलाई में तीव्र वेदना और किसी-किसी रोगीको वमन होना,

ये लक्षण होने लगते हैं । यदि यह रोग दीर्घकाल तक रह जाता है, तो मस्तिष्कविकृति होकर दोनों हाथों की कलाईओं का वध अथवा पैरोंमें टखनेके पाससे पादतलका वध हो जाता है । क्वाचित् इतर स्थानकी वात-वहा नाड़ियों का भी वंध हो जाता है । पक्षाघात (Colicoplegia) हो जानेपर यह रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है । रोग बढ़नेपर हृदय की वातवहा नाड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं । फिर तीव्र शिरःशूल, स्थान-स्थान में वेदना, आक्षेपक वातप्रकोप और सन्यास होकर रोगी की २-३ दिनमें मृत्यु हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त नागविष का एक तीव्र प्रकार है । इस प्रकारमें उपर्युक्त सब लक्षण हों, यह नियम नहीं है ।

यदि नागविषका आक्रमण सगर्भा स्त्री पर होता है, तो गर्भ-पात हो जाता है, या मृत बालकका जन्म होता है । कदाच जीवित शिशु का जन्म हुआ, तो भी वह थोड़े ही दिनोंमें मर जाता है । इस हेतुसे कितनेक दुष्ट लोग गर्भपात करानेके लिये नागविष को उपयोगमें लेते हैं ।

यदि नागविषसे वृक्कविकृति होती है; तो प्रदाह बढ़ जाने पर वृक्क-सन्यास (Uraemia) हो जाता है ।

रोग विनिर्णय—नागविषज विकार बहुधा सीसेकी वस्तुओंका व्यापार करने वालोंको हो जाता है । रोगीके मसूढ़े पर नील वर्णकी रेखा, तीव्र शूल, इन्द्रियबंध, इन लक्षणोंसे रोगका निश्चय सरलतासे हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यदि रोगी पूर्व रूपका बोध होनेपर ही सीसा या रगके कामको त्याग देता है; तो रोग-निवृत्ति हो जाती है । अन्यथा रोग असाध्य बन जाता है ।

नागविषज शूल चिकित्सा ।

इस रोगमें पहले आमाराध और अन्त्रमें रहे हुए सीसाके अंश को विरेचन द्वारा बाहर निकालना चाहिये ।

विशेष सूचनाएं शूल रोगमें की हैं । नीबूका रस, नीबूका शर्बत और अमलतासकी फलीका गर्भ इस रोगमें विशेष उपकारक हैं ।

विरेचनके लिये रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ आरग्वधादि काथ दूसरी विधि (गिरिमाला पञ्चक २० पृ० ७०६) तीन दिन तक पिलानेसे आँतोंमें रहा हुआ दोष निकल कर शूल शमन हो जाता है ।

तीव्र शूलमें शुभ्रा भस्म (रसतन्त्रसार पृष्ठ २५२) २ माशे तथा अफीम और कपूर आध-आध रत्तीको मिलाकर ४ पुड़ी करें । यह तीन-तीन घण्टेके अन्तर पर जलके साथ दें । फिर दूसरे दिन सुबह आरग्वधादि काथ देकर उदर शुद्धि करने पर नाग विषकी निवृत्ति होकर शूल शान्त हो जाता है ।

शुभ्रा भस्मके समान कच्ची फिटकरी ५-५ रत्ती (रसतन्त्रसार पृष्ठ २५४) देने से भी शूलका निवारण हो जाता है ।

अन्तर्शुद्धि होनेपर—शंखवटी (२० ४१४), गन्धकवटी (२० ६६१), अम्रिकुमार रस (२० ४२४), कव्याद रस (२० ४२६) और स्वादिष्ठ शर्बत (२० ८१७), इनमेंसे अनुकूल ओषधि देवें; तथा प्रातः सायं ताप्यादि लोह का भी सेवन कराते रहें ।

शंख वटी—शूल को सत्वर शमन करती है; अजीर्ण और आफराको दूर करती है; उदरको नरम बनाती है । एवं गन्धकवटी भी शूल शमन और रक्तमें लीन दोषके नाशमें हितकर है ।

अम्रिकुमार—और कव्याद रस वमन और अजीर्ण सह तीव्र शूल को निवृत्त करते हैं । ये दोनों रस सगर्भाको नहीं देना चाहिये ।

स्वादिष्ठ शर्बत—स्वादिष्ठ, सौम्य, सत्वर गुणदायक और अमि-प्रदीपक है । निर्भयतासे बालक, युवा, वृद्ध, सगर्भा, सबको दे सकते हैं ।

जीर्ण रोग पर—(१) नाग भस्म (२० १५८), दशमूल काथ या त्रिकटु और शहद के साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें प्रकृति स्वस्थ हो जाती है ।

(२) रक्तमें लीन हुए विषके निवारणार्थ सारिवासव (२० ७७६) दिनमें २ बार देते रहें ।

विशेष चिकित्सा शूल रोगमे कहे अनुसार करनी चाहिये । पथ्य-पथ्य भी शूलरोग अनुसार पालन करावे ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) शुद्ध फिटकरी *Alumen* १ ड्राम
एसिड सल्फ्युरिक डिल्यूट *Acid Sulph. Dil.* १ ड्राम
नीबू का शर्बत *Syrup Leman* १ औंस
जल *Aqua.* ad ४ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । इनमेंसे ४-४ ड्राम १-१ या २-२ घण्टे बाद देते रहना चाहिये ।

(२) अत्यत पीड़ा सह अति कोष्ठवद्धता हो, तो—

मेग सल्फ *Mag. Sulph* २ औंस
सोडा सल्फ *Soda Sulph* २ औंस
एसिड सल्फ्युरिक एरोमेटिक *Acid Sulph Arom* १ ड्राम
शर्बत सोठ *Syrup Zingiberis* ४ ड्राम
एक्वा सिनामोम *Aqua Cinnamom* ad १२ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर प्रत्येक घण्टे पर २-२ औंस कोष्ठ-शुद्धि हो तब तक देते रहें ।

कोष्ठशुद्धि होने पर पोट्यास आयोडाइड (*Potas Iodide*) मिश्रित ओषधि देते रहें ।

(३) विष प्रकोपके लक्षण शमनार्थ—

मेगनेशिया सल्फास *Mag Sulph.* ६ ड्राम
पोट्यास आयोडाइड *Pot Iodide.* १० ग्रेन
जल *Aqua.* ad ३ औंस तक

इन सबको मिलाकर १-१ औंस दिनमें तीन समय भोजनके पश्चात् देते रहें ।

पथ्यापथ्य विचार—भोजनमें नीबू, अनारदानेकी खटाई, आमचूर, कोकम, मट्ठा आदि अम्ल पदार्थ हितकारक हैं । वातवर्द्धक, बद्ध-कोष्ठकारक, दुर्जर और अधिक घृत-तैल वाले पदार्थ हानिकर हैं ।

विषप्रकोप द्वारा वातनाडियोंकी विकृति होनेसे वृक्षोंको हानि पहुँची हो; तो मूत्रल पदार्थ पथ्य हैं; और मूत्ररोधक पदार्थ हानिकर माने जाते हैं । इस तरह वायु विकारके लक्षण उपस्थित हुए हों, तो वात रोगके अनुसार भी पथ्यका पालन करना चाहिये ।

पित्ताशयाश्मरी ।

पित्ताशयाश्मरी—पित्तशिला-गोलस्टोन-बिलियरी केलक्युलस-कोले लिथियासिस—Gall-stone-Biliary calculus-Chole Lithiasis.

जैसे मूत्रपिण्ड, मूत्राशय आदि भागमें श्लेष्म आदि प्राधान्य पथरी होती है । इसी तरह पित्ताशयमें पित्तज पथरी होती है । इस अश्मरीसे पित्तकोष और पित्तनालिका आदि स्थानोंमें शूल होता है; जो अत्यधिक यन्त्रणाप्रद होता है ।

निदान—बैठे रहना, अनियमित समयपर भोजन, मलावरोध, गर्भ धारण, सुन्दरताके हेतुसे स्त्रियों की कमरपर तंग पट्टा बाँधना, या अभिघात आदि कारणोंसे पित्तावरोध होकर पित्तकोष और पित्तकोष-नालिकामें प्रदाह होना, वसा, अण्डा आदिके अधिक सेवनसे पित्ताशय-प्रदाह होना, अथवा मधुराके कीटाणु, फुफ्फुस खण्ड प्रदाहके कीटाणु, अन्त्रकृमि आदि (विशेषतः अन्त्रकृमि या मधुराके कीटाणु) मेंसे किसीका पित्तकोषमें प्रवेश होना इत्यादि कारणोंसे पित्त दूषित होता है ।

किसी विद्वान् की मान्यतानुसार भोजन अधिक देरसे करते रहनेपर पित्ताश्मरी बननेमें सहायता मिल जाती है । यह नियम है कि, भोजनके

परिपाक कालमें पित्ताशयमेंसे लघु अन्त्रमें पित्त यथेष्ट परिमाणमें निर्गत होता है, किन्तु अधिक दिनो तक देरसे अनियमित समयपर भोजन करते रहनेसे पित्ताशयमें पित्त की स्थिरता अधिक काल तक रहती हैं। फिर कोलेस्टेरिन नीचे सरलतापूर्वक बैठ कर अश्मरी की उत्पत्ति कर देता है। एव स्वाभाविक कोष्ठबद्धता, आलसी स्वभाव, लज्जा, स्थान की प्रतिकूलता और स्त्रियोंके गर्भावस्था आदि कारणोंसे पित्तनिःसारक नलीपर दबाव प्रष्टनेपर इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

पित्तमेंसे वसा सदृश प्रक्षेप कोलेस्टेरिन (Cholesterolin) और रक्त वर्णके पित्त द्रव्य—बिलिरुबिन (Bilirubin) अधिक मिलते हैं। फिर चूना (Calcium) के साथ संयोग होकर उसका पत्थर बन जाता है। इनमें भी अश्मरीउत्पादक केन्द्रीभूत पदार्थ (Nucleus) विशेषतः आन्त्रिक कीटाणु (Bacillus Coli Communis) अथवा आन्त्रिक ज्वर कीटाणु (Bacillus Typhosus) होते हैं।

वसासदृश प्रक्षेप कोलेस्टेरिन की रक्तमें अधिक उत्पत्ति बहुधा चसा, मास अण्डे आदिके अधिक आहार करने वालों को होती है। यह प्रक्षेप उपवृक्क और बीज-कोषोंके मासिक स्रावके हेतुसे स्त्री शरीरमें पुरुष शरीर की अपेक्षा दुगुना अधिक होता है। यह रोग विशेषतः ३० वर्षसे अधिक आयुवाली स्त्री को गर्भधारणके पश्चात् होता है। इससे छोटी आयुवाली स्त्रियोंको प्रायः नहीं होता।

यह अश्मरी एक अथवा असंख्य होती हैं। कभी यह पित्ताशय जितनी बड़ी, कभी छोटे बेर सदृश और कभी-कभी वालुका सदृश असंख्य होती है। एक रोगीके मृत देह की परीक्षा करनेपर उसके पित्ताशयमेंसे २००० अश्मरी निकली थीं।

एक ही अश्मरी होनेपर अण्डाकृति होती है। अनेक होने पर एक दूसरेके दबावसे चपटी हो जाती हैं।

मृत देहको चीरकर पित्ताशयकी परीक्षा करने पर छोटी-छोटी अनेक अश्मरी प्रतीत होती हैं। फिर भी जीवन कालमें इनके अस्तित्व

के कुछ भी लक्षण प्रकाशित नहीं होते । कभी-कभी एक ही बड़ी अश्मरी बन जाती है और उसीसे पित्ताशय परिपूरित हो जाता है उसकी आकृति और अवयव पित्ताशयके अनुरूप बन जाते हैं । कभी-कभी अश्मरी पित्ताशयकी दीवारका भेदन कर अन्त्रमें चली जाती है; और मलके साथ बाहर निकल जाती है । कभी अन्त्रमें फंस जाती है, जिससे अन्त्रावरोध (बद्धगुदोदर) के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं । इस तरह क्वचित् अश्मरी पित्ताशयका भेदन कर उदर्याकलामें प्रवेश करके घातक उदर्याकलाप्रदाहकी उत्पत्ति कर देती है । किसी-किसी समय इस अश्मरीके हेतुसे पित्ताशय उदर्याकलाके साथ संलग्न हो जाता है; और बाह्यनली निर्मित होकर, उस द्वारा अश्मरी निकल जाती है ।

सब अश्मरी पित्ताशयमें अवस्थित होनेपर भी यदि कोई लक्षण प्रतीत न हो, तो रोगी चिकित्साधीन नहीं होता । परन्तु जब एक या अधिक अश्मरी पित्ताशयमेंसे साधारणी पित्तनलिका (Common bile duct) द्वारा लघु अन्त्रमें गमन करनेके लिये उद्यत होती है । तब अत्यंत कष्टदायक लक्षण उपस्थित होते हैं । जब तक पथरी पित्ताशयमें रहती है । तब तक एक भी लक्षण प्रकाशित नहीं होता । अनेक बार अश्मरी छोटी होने पर सरलतापूर्वक पित्तनलीमेंसे अन्त्रमें जाकर फिर मलके साथ बाहर निकल जाती है; और लेशमात्र कष्ट नहीं होता !

यह पित्ताश्मरी बहुधा पित्ताशयमें निर्मित होती है; परन्तु कभी पित्त नलिका (Hepatic duct) में भी उत्पन्न हो जाती है । इसकी आकृतियां भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो जाती हैं ।

अश्मरी रचना—इन अश्मरियोंमें कृष्ण वर्णकी छोटी अश्मरी पित्तवर्ण द्रव्य (Bile Pigment) मेंसे उत्पन्न होती है । यह मृदु होनेसे सहज चूर्ण रूप हो जाती है । बड़ी अश्मरीकी मुख्य रचना कोलेस्टेरिन और पित्त वर्ण द्रव्य, दोनोंमेंसे होती है । यह मृदु होनेसे सहज चूर्ण रूप हो जाती है, और कभी-कभी कठिन होती है । सामान्य रूपसे यह पीताभश्वेत वर्ण की होती है । काटनेपर जाना जाता है कि, एक

कैन्द्रिक स्तर द्वारा यह निर्मित हुई है । इसके मध्यस्थलमेसे बाहरकी ओर आने वाली कितनीक रेखाएँ प्रतीत होती हैं । मन्द रंग वाले बाह्य-स्तरोंके भीतर सब स्तरोंमें अति गाढ़े पीले द्रव्य (Bilifuscin) के या हरे रंग वाले द्रव्य (Biliprasin) के और पाटल (Brown) वर्णके मुख्य द्रव्य (Bilihumin) के स्तर रहते हैं ।

पित्त वर्णके द्रव्यसे उत्पन्न स्तरोंमे एक काला रंग ही होता है । बाह्यस्तरमे यद्यपि कुछ परिमाणमें चूना और क्षार (Lime and Salt) भी प्रतीत होते हैं, तथापि पित्ताश्रयी मुख्यतः कोलेस्टेरिन और पित्तवर्ण मय द्रव्यमेसे बनती है ।

सम्प्राप्ति—पित्तमे कोलेस्टेरिन की मात्रा अधिक हो जानेपर, अथवा कोलेस्टेरिन का परिमाण स्वाभाविक होनेपर भी पित्तके इतर उपादान कारणोंमे परिवर्तन हो जानेसे कोलेस्टेरिन तलस्थ बैठ जाता है । इस कोलेस्टेरिन की उत्पत्ति वातवहा नाड़ियों की निर्बलता होनेपर होती है । जब मानसिक उद्वेग की अधिकता हो जाती है; तब वातवहा नाड़ियों की विकृति होकर पित्तमेंसे कोलेस्टेरिन तलस्थ हो जाता है । स्त्रियोंका वातवहा नाड़ी विधान पित्ताश्रयी रोगके विशेष वशवर्त्ती है । सम्भवतः इनके मस्तिष्क और सुषुम्णाके वातवहा नाड़ी विधानमे उत्तेजना वृद्धि होनेपर पित्तमें कोलेस्टेरिन की अधिक उत्पत्ति होती है, और वह पित्तमे तलस्थ बैठकर पित्ताशयमे अधिक संचित होता है ।

कितनेक स्थलोंमे ऐसा भी देखनेमे आता है कि, पित्ताश्रयीके रोगियों को पहले वातवहा नाड़ियोंमें कोई विकृति नहीं थी; और वे पित्ताश्रयीसे पीड़ित हुए हैं । इनमेसे अनुमानतः निम्न कारण होने चाहिये । कोलेस्टेरिन स्वाभाविक परिमाणमे रहनेपर भी पित्तके मूलभूत तत्त्वोंके रासायनिक परिवर्तनके हेतु से कोलेस्टेरिन अधः पतित हो जाता है । अधिक मासाहाके हेतुसे स्वाभाविक क्षार प्राधान्य पित्त अम्ल-गुणविशिष्ट हो जाता है, जिससे कोलेस्टेरिन नीचे बैठ जाता है ।

अनुमान है कि, पित्ताशय और पित्तनलिकामें प्रदाह होनेपर एक

भागमें श्लेष्मा अथवा रसावरण की श्लैमिक कला (Epithelium) का पिएड बन जाता है । फिर उसकी चारों ओर कोलेस्टेरिन और पित्तमें रहे हुए अन्य कठिन उपादान तत्त्व संग्रहित होकर अश्मरी बन जाती है ।

जब पित्तशिला पित्ताशयमेंसे निकलकर पित्तस्रोतसोंमेंसे पित्तके साथ बाहर जाने का प्रयत्न करती है; या तांत्र पित्ताशयप्रदाह होता है; तब इस विकार की संप्राप्ति का बोध होता है ।

(१) यदि आशुकारी पित्ताशयप्रदाह विशेषतः चिद्रधि जन्य (Suppurative Cholecystitis) हो; तो पित्ताशय फूटता है, या समीपताके हेतुसे उदर्याकलाका दाह-शोथ (Peritonitis) होता है ।

(२) यदि पित्ताशय प्रदाह चिरकारी हो; तो पित्ताशय कोष घन और मोटा होता है; और पित्ताश्मरीके चारों ओर इसका आवरण बन कर (Encapsuled) वह बद्ध हो जाती है । फिर सतत पीड़ा (Irritation) होकर पित्ताशयमें कर्कस्फोट हो जाता है । इस प्रदाहके हेतुसे पित्ताशय समीपस्थ यन्त्रोंके साथ चिटक जाता है । फिर इसी हेतुसे अन्न गति (Movements of Intestines) भी अवरुद्ध हो जाती है ।

(३) यदि पित्ताश्मरी पित्तके साथ सरकने लगती है; तो शूल— (Biliary Colic) की उत्पत्ति होती है; और यह अश्मरी जब अन्नमें पहुँच जाती है; तब तक शूल चलता रहता है ।

(४) क्वचित् पित्ताश्मरी बड़ी होनेपर नलीमें रुक जाती है; तब वहाँ दाह-शोथ होकर समीपके यन्त्रों को चिटक जाती है । फिर दोनों आशयोंमें नाड़ीव्रण होकर अश्मरी, आम्राशय, ग्रहणी, शेषान्त्रक (Ileum), बृहदन्त्र (Colon) या उदर्याकलाके किसी भी स्थानमें निकल जाती है । यदि उदर्याकलामें अश्मरी जाती है; तो वहाँ पर भी प्रदाह की उत्पत्ति कराती है ।

लक्षण—अशुमरीके स्थान और परिस्थितिके अनुसार लक्षण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं । जब पित्ताशुमरी पित्ताशयमे स्वस्थ रूपसे रहती है । तब आम्लाशयगत विकृति, अग्निमान्द्य और अपचनके लक्षण उपस्थित होते हैं । कभी-कभी पित्ताशयमें मृदु शूल निकलने लगता है । क्वचित् अधिक चलने या खेलने पर और गरिष्ठ भोजन करनेके पश्चात् कुछ समय तक पीडा होती रहती है । यह पीडा कोई समय त्वरित और कोई समय देर से होती है । आम्लाशय-प्रदाहके हेतुसे पित्ताशय-प्रदाह की उत्पत्ति होती है, और कुछ काटे आकर ताप आजाता है । फिर प्रस्वेद आता है; तथा अपचन और ज्वरके हेतुसे ठेपन परीक्षा करने पर ध्वनि मद निकलना, श्रम पहुँचने पर उस स्थान पर पीडा होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

जब यह अशुमरी पित्ताशयमे से पित्तवहा नलिका और स्रोतोंमे सरकने लगती हैं, तब आकुञ्चित नलीमे से गुजरने पर भयंकर शूलकी उत्पत्ति होती है । सम्पूर्ण स्वस्थावस्थामे विना किसी कारण अकस्मात् रोगी को तीक्ष्ण वेदना उपस्थित हो जाती है । इस शूल की उत्पत्ति कौड़ी-प्रदेश (Epigastrium) मे होती है, और दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Right Hypochondrium) में होकर (उरःफलकके दक्षिण भागकी ६ वाँ उपपृष्ठाके नीचेसे) पीठमें चुभोने सदृश वेदना उत्पन्न कर फिर वह दक्षिण स्कंध प्रदेशमें गति करता है । यह शूल नीचे कभी नहीं जाता यह शूल इतना असह्य होता है कि, रोगीका बल क्षय होकर वमन, उष्णता न्यूनत्व (Subnormal temperature), उदर की मास-पेशियोंका सकोच, हिक्रा, तथा क्षीण और वेगवती नाड़ी आदि लक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है ।

यकृत प्रदेश पर दबानेसे पीड़नाक्षमता (Tenderness) और यकृद्बृद्धि प्रतीत होती है । इस विषम वेदनाके साथ अतिशय व्याकुलता और अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है । इस शूलसे मूर्च्छा, प्रबल उन्मत्तता, अतिव्याकुलता, और कभी मृत्यु भी हो जाती है । दुर्दमनीय

वमन, निस्तेज, कुंचित और चिन्तातुर मुखमण्डल, कपाल पर शीतल प्रस्वेद आना, क्वचित् अतिशय कम्प, शारीरिक उष्णता बढ़कर १०१ से १०३ डिग्री तक ज्वर आजाना और नाड़ी नुद्र हो जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी कुछ घण्टों के पश्चात् इस वेदनाका कुछ उपशम हो जाता है। यह उपशम पित्तकोषनलिका (Cystic duct) में से साधारणी पित्तनलिकामें अश्मरी प्रवेश कर जाने पर होता है, ऐसा अनुमान है। फिर साधारणी पित्तनलिकामेंसे ग्रहणीमें अश्मरी-प्रवेश कर जाने पर सब लक्षण सहसा तिरोहित हो जाते हैं। किसी-किसी स्थल पर वेदना सत्वर स्थगित नहीं होती। प्रसारित नलियोंमें उग्रता कुछ कालपर्यन्त रह जाती है।

इस रोगका प्रधान लक्षण कामला है। कभी-कभी कामला प्रारम्भ में नहीं होता। अश्मरी साधारणी पित्तनलिकामें कुछ काल तक (१०-१२ घण्टे तक) बद्ध रहने पर सामान्य कामला उपस्थित होता है। यदि दीर्घकाल तक अश्मरीसे पित्तनलिकाका मार्गावरोध हो जाय, या साधारणी पित्तनलिकाके संगम स्थान पर अश्मरी रुक जाय, तो आशु-कारी कामला प्रकाशित होता है और पित्ताशय प्रसारित हो जाता है।

यदि यकृतमेंसे निकलने वाली पित्तनलिका (Hepatic Duct) में अश्मरी फँस जाती है तो यकृद्-वृद्धि, शूल और कामला उपस्थित हो जाते हैं; परन्तु पित्ताशय विस्तार नहीं होता।

इस अश्मरीजन्य शूलके दौरे का प्रारम्भ बहुधा रात्रि को अकस्मात् होता है। क्वचित् शूल शनैः शनैः बढ़ता है। इस शूलमें वमन हो जानेपर कुछ शान्ति प्रतीत होती है। यह शूल २-४ घण्टे तक चलता रहता है क्वचित् ३-४ दिन तक रह जाता है। फिर उदर की मांसपेशियाँ दृढ़ और तनी हुई हो जाती हैं। परन्तु पित्ताशय विस्तार हो जानेसे इसका निर्णय नहीं हो सकता। जब अधिक तीव्र आक्रमण होता है; तब इस रोगमें विषम विषलक्षण (Toxemia) भी उपस्थित हो जाते हैं।

यदि पथरी अन्त्रमे चली जाती है, तो मलके साथ बाहर निकल जाती है । कभी-कभी अश्मरी अन्त्रमें नहीं जाती, पीछे की ओर सरक जाती है तो भी वेदना शान्त हो जाती है । यदि पित्ताश्मरी पित्तकोष-नलिकामें बद्ध हो जाय, तो भी कामला रोग उत्पन्न हो जाता है, परन्तु पित्ताशयमे पित्त सग्रहित हो जाने पर उसका विस्तार हो जाता है । इस हेतुके कामला उपस्थित होनेसे सत्वर शूलशमन हो जाता है । परन्तु पित्ताशयका मोटापना रह जाता है; जिससे सामान्य निस्तेजता, क्षुधानाश, उबाक; वमन, शीर्णता, पीला पेशाब और ज्वर आदि लक्षण ४-६ दिन तक रह जाते हैं ।

इस रोग का एकबार आक्रमण होनेके पश्चात् अनेकबार यह प्रकाशित हो सकता है । यद्यपि पित्ताशयमें पित्ताश्मरी आजीवन रहती है । उसका घातक एक लक्षण भी प्रकाशित न हो; तथापि मृत्युके पश्चात् शवपरीक्षा करनेपर इसमें अश्मरी मिल जाती है ।

रोग विनिर्णय—कितनेक रोगोंमें इस रोगके सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं । तीव्रशूल, वमन, मलावरोध, बलक्षय आदि लक्षण जैसे इस रोगमें होते हैं, वैसे ही अन्त्रशूल और वृक्कशूलमें भी होते हैं । अतः व्यवच्छेदक (Differential) लक्षण निम्न कोष्ठकमें दिये हैं ।

पित्ताश्मरीशूल

अन्त्रशूल

वृक्कशूल

१-दक्षिण अनुपा- र्श्विक प्रदेशमें कथे की ओर गतिवाला सतत वेगयुक्त शूल	नाभि समीप भयकर शूल, दबानेपर कम हो जाने वाला वेगयुक्त ।	पार्श्व भागसे नीचे वृषण या बीजकोष की ओर गति वाला शूल ।
---	--	---

२-स्त्रियोको ३० वर्षसे
अधिक आयु
होनेपर होता है ।

स्त्री और पुरुष, दोनों
को किसी भी आयुमें ।

पुरुषोको युवा या
बाल्यावस्थामे ।

३—अनुगामी कामला मलाबरोध, अतिसार मूत्रशर्करा, मूत्रमें रक्त और यकृद् विकार । और वमन । जाना, बार-बार पेशाब होना या मूत्रकुच्छ ।

पित्ताश्मरी सदृश यकृत्के इतर रोगोंमें भी लक्षण होते हैं । परन्तु इस रोगमें तीव्रता अत्यधिक होती है । इसपरसे इतर यकृद्विकारोंसे भेद हो जाता है ।

पित्ताश्मरी और यकृत्के कर्कस्फोटका व्यवच्छेदक लक्षण कठिन हैं । कारण रोगी की आयु समान होती है । दोनोंमें कामला हो जाता है । इनके अतिरिक्त पित्ताश्मरी होनेके बाद ही कर्कस्फोट होता है । कर्कस्फोट होनेपर कामला दिन-प्रति-दिन वृद्धिगत होता जाता है । फिर भी बार-बार होने वाला कामला किसी मध्य आयुवाली स्त्री को प्रतीत होता हो; तो पित्ताश्मरी होने का अनुमान हो जाता है । ऐसे संशय वाली रोगिणीके मलकी परीक्षा करनेपर पित्ताश्मरी होनेपर अश्मरी-कण मिल जाता है । एवं संशयित रोगिणीको जलोदर हो जाय; तो कर्कस्फोट होने का निश्चय होजाता है ।

साध्यासाध्यता—रोग साध्य माना गया है; परन्तु पुनरावृत्ति होती है । यदि नाड़ीव्रण, उदर्याकला प्रदाह, कर्कस्फोट आदि घातक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं; तो रोगी की मृत्यु भी हो जाती है ।

पित्ताशयाश्मरी चिकित्सा—इसकी चिकित्सा निम्नानुसार दो भागमें विभक्त की जाती है ।

१—पित्तनलिकामें से शिलानिर्गमनकालमें शूल उपस्थित होता है, उसकी उपशमचिकित्सा ।

२—पित्ताश्मरीजन्य शूलके विरामावस्थामें चिकित्सा ।

प्रथम प्रकार की अवस्थामें कष्टदायक सब लक्षणों का निवारण और पित्तनलिकामेंसे अश्मरीके निर्गमनमें सहायता, इन दो उद्देश्यों की सिद्धि अर्थ चिकित्सा की जाती है; तथा द्वितीय प्रकार की अवस्थामें अर्थात् व्यवहित विरामावस्थामें अश्मरी निर्माण का निवारण, पित्ताशयमें

अश्मरी हो, उसका दूरीकरण और हो सके तब तक शिलाको द्रवीभूत करदेना, इन तीन उद्देश्योंके लिये चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्ताश्मरीको लीन करे या उत्पत्तिको निश्चित रूपसे रोके, ऐसी ओषधि अभी तक नहीं मिली । रक्तमे कोलेस्टेरिन बढ़ाने वाले अधिक घृत, चर्बी, अण्डा आदि भोजनका सेवन न करनेसे कुछ अंशमे कारण दूर होता है ।

इस रोग पर आयुर्वेदोक्त अगस्तिसूतराज रसका सेवन आध-आध रक्तीकी मात्रामे १-१ घण्टे पर शूल शमनार्थ ३-४ बार कराया जाता है; अथवा अफीम, ताम्र भस्म और रससिंदूरको त्रिकटु और शहदके साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रामे दिया जाता है ।

वमनको शमन करनेके लिये आरोग्यवर्द्धनी, कुमुदेश्वर रस या वान्तिहृद् रस, इनमेंसे एक ओषधि देनी चाहिये । तीनोंमे पित्ताशयके पित्तको अन्त्रमे डालनेका गुण रहा है, जिससे पित्तशिलाका अन्त्रमें सत्वर प्रवेश होकर वमन शान्त हो जाती है, अथवा जातिफलादि वटी (अपचन) या हिगुल वटी देनेसे वमन और शूल, दोनोंकी निवृत्ति हो जाती है । साथ-साथ वमनके शमनार्थ बर्फके छोटे-छोटे टुकड़े खाने को भी देते रहना चाहिये ।

ताँत्र पीड़ा शमनार्थ अफीम प्राधान्य ओषधि—अगस्ति सूतराज रस (२० ४०५) दिया जाता है, फिर भी पीड़ा अत्यधिक होकर बल-ह्रास हो जाय, तो अफीम सत्वका इन्जेक्शन देना चाहिये । डाक्टरीमे $\frac{1}{4}$ ग्रेन अफीम सत्व (Sulphate of Morphine) और $\frac{1}{4}$ ग्रेन ऐट्रोपिन सल्फेट (Atropin Sulphate) का इन्जेक्शन करते हैं ।

पित्ताशयप्रदाहको दूर करनेके लिये स्थानिक स्वेद, प्याज, लहसुन या सरसोकी पुलिटस और मृदु विरेचन लाभदायक है । जैतूनका तैल ४-५ तोले रोज रात्रिको सोनेके समय देते रहनेसे कोष्ठशुद्धि होकर रोग वृद्धिमें न्यूनता होती है । प्याजका रस निकाल आध-आध तोला १-१ घण्टे पर पिलाते रहनेसे सत्वर लाभ होता है । ताम्रभस्म-युक्त

कुमार्यासबसे इस रोगमें अति लाभ होनेके उदाहरण मिले हैं । सामुद्राद्य चूर्ण (शूल रोगमें लिखा हुआ) निवाये जलके साथ देनेसे शूल जनित वेदना कम हो जाती है ।

इस तरह तीव्र शूलके समय ताम्र भस्म निसोतके चूर्ण, या कुटकीके चूर्ण, अथवा करेलेके रसके साथ देनेसे तीव्र वेदना शमन होती है । तीव्र शूल होने पर डाक्टरीमें पित्तको तरल बनाने के लिये सोडाबाई कार्ब (Soda bicarb) १ ड्राम और सोडा सेलिसिलास (Soda Salicylas) २० ग्रेनको ५० तोले गरम जलमें मिलाकर ४-४ तोले तक बार-बार पिलाते रहते हैं । जितना उष्ण जल सहन होसके उतना उष्ण पिलाना चाहिये । उष्ण जलके योगसे पित्त तरल बनता है; और यकृत पर सेकभी हो जाता है ।

यदि शूल अनेक घण्टोसे हों, यकृतमें दबाने पर वेदना होती हो, तो दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशपर जलौका लगवानेसे सत्वर लाभ प्रतीत होता है ।

यदि बलक्षय या मूर्च्छा की प्राप्ति हुई हो; तो द्राक्षासव या शराब पिलानी चाहिये । या हेमगर्भ पोटली रस (सन्निपात) का सेवन कराना चाहिये ।

यदि उदर में आध्मान हो, तो साबुन मिश्रित निवाये जलमें थोड़ा तारपिन तैल मिलाकर बस्ति देनी चाहिये । अथवा पञ्चसम चूर्ण या त्रिवृदष्टकमोदक देकर उदरशुद्धि कर लेनी चाहिये । या पित्तस्त्राव कराने वाली इतर विरेचन ओषधि देनी चाहिये ।

सूचना—यदि पित्तशिला एक बड़ी होगई है ; और पित्ताशय या पित्तनलिकामें बृहदाकारकी अश्मरीसे विषम वेदना होती हो; तो शस्त्रचिकित्सा द्वारा निकाल देनी चाहिये । एवं साधारणी पित्तनलिका में अश्मरीसे मार्गावरोध होने पर शूल, व्याकुलता और प्रगाढ़ तीव्र कामलाकी उत्पत्ति हुई हो ; पित्ताशय में पूयोत्पत्ति (Empyema) हुई हो ; और सन्निहित स्थान में पूयोत्पत्तिके लक्षण प्रकाशित हुए हों;

अथवा उपद्रवभूत उदर्याकला-प्रदाह हुआ हो ; तो तत्काल शस्त्र-चिकित्साका आश्रय लेना चाहिये ।

पथ्यापथ्य—रोगका पुनः आक्रमण न होनेके लिये अपथ्य आहार-विहारका आग्रहपूर्वक त्याग कर देना चाहिये । शारीरिक श्रम, व्यायाम और रोज सुबह-शाम भ्रमण करना हितकारक है । तेज खटाई, तमाखू सेवन, तग वस्त्र परिधान, कमर पर धोती आदि कसकर बाधना, ये सब हानिकर हैं । यकृद् विकारो पर पथ्यापथ्य कामला रोगमे लिखा है । उनका पालन करना चाहिये । एव अधिक घृत, अधिक तैल, मैदेके पदार्थ, अधिक गुड़ और शकर, ये सब अति अपथ्य हैं, तथा फल, फूल, शाक, भाजी अति हितकारक हैं ।

अम्लपित्त रोग ।

अम्लपित्त—हाइपर एसिडिटी—हाइपर क्लोरहाइड्रिया एसिड डिस्पेप्सिया, गेस्ट्रोसक्रोर्हिया—गेस्ट्रोक्सिया—Hyperacidity Hyperchlorhydria—Acid Dyspepsia—Gastrosu-ccorrhea—Gastroxia.

रोग-परिचय—‘विदाहाद्यम्लगुणोद्विक्तं पित्तमम्लपित्तम्’ अथात् जब विदाही आदि पदार्थोंके सेवनसे पित्तमें अम्ल गुणकी अति वृद्धि हो जाय, तब अम्लपित्त रोग कहलाता है ।

चरक महिताकारके मतमे पित्त मूल स्थितिमे होने पर ईषत्स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु रस (चरपरापन), आमगन्ध आदि स्वाद और गुण युक्त होता है । जब इसमे विकृति होती है, तब निम्नलिखित ४० विकारो की उत्पत्ति होती है ।

(१) ओष—सर्वाङ्गमे तीव्रदाह, स्वेद और अरति होना ।

(२) प्लोष—किञ्चित् जलन, जैसे अग्नि ज्वाला आदिसे किसी एक स्थानमे दाह ।

(३) दाह—सर्वाङ्गमे तीव्र सताप ।

(४) दवथु—नेत्र आदि इन्द्रियोंमे जलन, या हृदयमे धग-धग ।

- (५) धूमक—शिर, कण्ठ आदिसे धुँआँका उठना ।
 (६) अम्लक—अन्तर्दाह और हृदयशूल सह खट्टी डकारें आना ।
 (७) विदाह—हस्त-पाद आदिमें विविध प्रकारका दाह ।
 (८) अन्तर्दाह—कोष्ठ आदि स्थानोंमें दाह ।
 (९) अङ्गदाह—किसी अवयव विशेषका दाह ।
 (१०) ऊष्माधिक्य—शारीरिक उत्तापकी वृद्धि होना ।
 (११) अतिस्वेद—प्रस्वेद (पसीना) अधिक आना ।
 (१२) अङ्ग स्वेद—किसी अवयव विशेषमें प्रस्वेदकी वृद्धि ।
 (१३) अङ्ग गन्ध—किसी विशेष प्रकारकी गन्धका आना ।
 (१४) अङ्गावदरण—किसी अवयवमें टूटनेके समान पीड़ा होना ।
 (१५) शोणितक्लेद—रक्तका काला, दुर्गन्धमय और पतला होना ।
 (१६) मांसक्लेद—मांसका काला, शिथिल और दुर्गन्धमय होना ।
 (१७) त्वग्दाह—बाह्यचर्ममें जलन ।
 (१८) मांसदाह—मांसमें जलन ।
 (१९) त्वग्गवदरण—बाहरकी त्वचाका फटना ।
 (२०) चर्मवदरण—६ या ७ (सब) चर्मोंका फटना ।
 (२१) रक्तकोठ—रक्तके कोठ (चकत्ते) उठना ।
 (२२) रक्तपित्त—रक्तपित्त-व्याधि ।
 (२३) रक्तमण्डल—शरीर पर रक्तके गोल और लाल मण्डल बन जाना ।
 (२४) हरित्वचा—देहका हरा (हरा-पीला) रंग हो जाना ।
 (२५) हारिद्रता—देहका हल्दीके सदृश रंग हो जाना ।
 (२६) नीलिका—मुँह पर नीले दाग होना ।
 (२७) कक्षा—कक्षस्थानमें मांसका विदारण (कॉखबिलाई) ।
 (२८) कामला—कामला (पीलिया) ।
 (२९) तिकास्यता—मुँह का कड़ुवा रहना ।
 (३०) पूतिमुखता—मुँहमें से दुर्गन्ध आना ।

- (३१) तृषाधिक्य—प्यासका बढ़ जाना ।
 (३२) अतृप्ति—भोजन अधिक होने पर भी तृप्ति न होना ।
 (३३) आस्यपाक—मुखपाक (मुँहमे छाते पड़ना) ।
 (३४) गलपाक—गलेका पक जाना ।
 (३५) अक्षिपाक—चक्षुका पाक होना ।
 (३६) गुदपाक—गुदाका पाक ।
 (३७) मेढूपाक—मूत्रेन्द्रियका पाक ।
 (३८) जीवादान—जीवनके आधार रूप रक्तका स्राव ।
 (३९) तमःप्रवेश—अन्धकारमें प्रवेश करनेके सदृश भासना (चक्कर आना) ।
 (४०) हरित-हारिद्रता—नेत्र, मूत्र और मलका हरा-पीला हो जाना ।

ये सब लक्षण असंख्य पित्तविकारों में स्पष्टतम होते हैं ।

उपरोक्त लक्षणोंमें से दाहके स्थान पर अष्टागसग्रहकारने दक्ख लिखा है—अर्थात् मुख, ओष्ठ और तालुमें दाह होना । अङ्गदाहके स्थान पर असदाह—अर्थात् कन्धोंमें दाह होना लिखा है । अङ्ग स्वेदके बदले अवयवसदन अर्थात् अवयवों की शिथिलता, मासदाह और अङ्गावदरण की जगह रक्त विस्फोट (रक्त के फोड़े) और लोहित गन्धास्यता (मुँहसे रक्तकी वास आना) कहा है ।

सुश्रुत-संहिताके मतानुसार पित्तका रस कटु (चरपरा) होता है और उसमें विदग्धावस्थामें अम्लता (खट्टापन) आजाती है ।

अम्लपित्त निदान—विरुद्ध अन्न (संयोगविरुद्ध दूध-मछली आदि), दुष्ट अन्न (बिगड़ा हुआ भोजन), खट्टा, दाहकारक और पित्तको प्रकुपित करने वाले (अम्ल तक्र, सुरा आदि तथा नये उड़द आदि) अन्नपान ग्रहण करनेसे विदग्ध और कुपित हुआ पित्त वर्षा आदि ऋतुओंमें अम्ल विषाकी जलोंसे तथा ऐसी ओषधियोंसे संचित होकर अम्लपित्त रोगकी प्राप्ति करा देता है ।

यद्यपि पित्तको प्रकुपित करने वाले इतना कहने से ही खट्टे और दाहकारकका समावेश होजाता है, तथापि अम्ल और विदाही शब्दोंका भी प्रयोग किया है । अतः आचार्यका अभि-प्राय यह है कि, खट्टे और दाहकारक पदार्थोंसे पित्तका विशेष प्रकोप होता है । छाछ तथा मदिरा आदि पेय पदार्थ और उड़द आदि अन्नको भी पित्त प्रकोपक ही समझना चाहिये ।

अम्लपित्तके लक्षण—इस रोग में अन्न आदि न पचना (भोजन करनेके बाद घण्टों तक आमाशयमें पड़ा रहना और दूषित होना), ग्लानि, उबाक, कड़वी और खट्टी डकारोंका आना, उदरमें भारीपन, हृदय और गलेमें दाह, अरुचि आदि लक्षण होते हैं ।

विकारके गति-भेदसे अम्लपित्तके दो प्रकार होते हैं । ऊर्ध्वगामी और अधोगामी ।

ऊर्ध्वगामी अम्लपित्त के लक्षण—ऊर्ध्वगामी अम्लपित्त होने पर विविध प्रकारके पित्त की वमन होती रहती है । यह वमन हरे, पीले, नीले, काले किञ्चित लाल या लाल रंग की अत्यन्त खट्टी, कभी माँसके धोवनके समान अर्थात् काली-लाल होती है । वान्तिमें अत्यन्त चिकने (पिच्छिल), निर्मल, कफसंयुक्त या खारे, चरपरे और कड़वे स्वाद युक्त पित्त गिरते रहते हैं । ऐसे लक्षण युक्त रोगको ऊर्ध्वगामी अम्लपित्त जानना चाहिये ।

भोजन करने पर जब अन्नका पाक विदग्ध होजाता है; और कोई-कोई समय तो बिना ही भोजन किये कड़वी और खट्टी वमन होती है । डकारें भी कड़वी और खट्टी ही आती हैं । कण्ठ, हृदय और कोखमें दाह होता है । शिरमें पीड़ा, हाथ और पांवोंमें जलन तथा उष्णता होती है । भयंकर अरुचि तथा क्वचित् कफ और पित्त-प्रकोप जनित ज्वर की उत्पत्ति होती है । साथ ही साथ देहमें सर्वत्र खुजली, मण्डलाकार चकत्ते और पिड़िकायें होजाती

हैं । इस तरह देहमें अन्नका विदग्धपाक ग्लानि आदि विकारोके समूहको उत्पन्न करता है ।

अधोग अम्लपित्तके लक्षण—अधोग अम्लपित्तमें तृषा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, मोह, उबाक (परन्तु वमनका न होना), मन्दाग्नि, रोमांच होना, पसीना, अंगोमें पीलापन इत्यादि लक्षण होते हैं । और इस पित्तका स्त्राव कभी-कभी गुदा द्वारसे होता है । इसमें हरे, पीले, काले तथा लाल, ऐसे बहुत से रंग होते और दुर्गन्ध भी होती है । स्त्राव सर्वदा नहीं होता ।

इस विकारमें २-३ रोज पर बहुधा वमन होती है । वमन होनेपर वही खट्टी, कड़वी और गरम होती है । प्रातः काल वेदना अधिक भासती है । भोजनके पश्चात् दाह और वेदनाका शमन होजाता है । इस रोगसे पीड़ितोको तक्र बहुधा अनुकूल रहता है । तक्रके सेवनसे हानि नहीं होती, बल्कि रोगीको शान्ति प्रतीत होती है । ऊर्ध्वग और अधोग अम्लपित्तमें महत्त्वका अन्तर यह है कि, ऊर्ध्वग अम्लपित्तमें बार-बार वमन होजाती है; परन्तु अधोग अम्लपित्तमें वमन नहीं होती । वमन न होनेसे दूषित पित्तका शोषण होकर अधिक हानि पहुँचती है । इस हेतुसे अधोग अम्लपित्त अपेक्षाकृत अधिक हानिप्रद है ।

दोष और लक्षण-भेदसे अम्लपित्तके ३ प्रकार हैं । (१) वात प्राधान्य, (२) कफ प्राधान्य (३) और वात कफ प्राधान्य ।

वात प्राधान्य अम्लपित्तके लक्षण—कम्प, प्रलाप, मूर्च्छा, सब शरीरमें झनझनाहट, ग्लानि, शूल, अन्धकार-दर्शन (चक्कर आना), विभ्रम, मोह और रोमाञ्च होना आदि लक्षण होते हैं ।

कफज अम्लपित्तके लक्षण—कफका थूकना, शरीरमें भारीपन, जड़ता, अरुचि, शीत, ग्लानि, वमन, मुखमें और छातीमें

कफ लिपटा रहना, जठराग्निके बलका नाश, खुजली और निद्रा की वृद्धि आदि, ये लक्षण होते हैं ।

वातकफज अम्लपित्तके लक्षण—इस प्रकारमें उपरोक्त दोनों प्रकारके लक्षण मिश्रित होते हैं—अर्थात् कड़वी, खट्टी और चरपरी डकारें आना; हृदय, कुक्षि और कण्ठ आदि प्रदेशमें दाह तथा अंधकार-दर्शन, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, आलस्य, मस्तकमें पीड़ा मुखसे लारका गिरना और मुखमें मधुरताका होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

साध्यासाध्यता—यह रोग नया होनेपर प्रयत्न-पूर्वक योग्य चिकित्सा करनेसे साध्य हो जाता है । रोग जीर्ण होजाने पर याप्य अर्थात् औषध-आहार-विहारके सम्वालने पर रोग दबा रहे और औषध आदिका त्याग होने पर पुनः दिखाई देने लगता है ; तथा हितावह आहार-विहार-आचार युक्त न रहनेसे किसी रोगीके लिये कष्टसाध्य भी होजाता है ।

अम्लपित्तका डाक्टरी विवेचन ।

डाक्टरीमें अम्लपित्तको रोग नहीं माना; किन्तु इतर रोगोंके लक्षण रूप कहा है । पित्ताशमरी, जीर्ण उपान्त्र प्रदाह, आमाशयिक व्रण और ग्रहणीमें अवरोध आदि रोगोंसे आमाशयके भीतर आमाशयिक रसमें अम्लता (Hydrochloric Acid) की वृद्धि हो जाती है । उसे आयुर्वेदमें अम्लपित्त कहा है ।

कितनेक व्यक्तियोंमें अम्ल रसकी कुछ स्वाभाविका अधिकता होती होती है । फिर भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती । परन्तु आमाशयिक रस अधिक तीव्र बनने पर आमाशयमें व्रण होजानेकी भीति रहती है ।

यदि आमाशय रसमें उदहरिक अम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) की ही वृद्धि हो जाय; तो डाक्टरीमें उसे हाइपरएसिडिटी, हाइपरक्लोर हाइड्रिया और एसिड डिस्पेसिया कहते हैं । रसका स्त्राव अत्यधिक होते

रहने पर उसे गेस्ट्रोसक्कोरिया, और यह रसस्ताव कभी-कभी होता रहे, सर्वदा न होता हो, तो उसे गेस्ट्रोक्सिया कहते हैं ।

गेस्ट्रोक्सियाका आवेग बहुधा रात्रिको खाली पेट होनेपर होता है । उदर शूल और अम्ल वमन होती है । यह व्याधि क्वचित् ही प्रतीत होती है ।

आमाशय रसका अधिक स्ताव होनेपर आमाशय अधोमुखका संकोच होता है, फिर इस हेतुसे आमाशय विस्तार (Dilatation of the Stomach) हो जाता है । फिर अनेक रोगियोंके आमाशयिक रसमें अम्लताकी वृद्धि होती है । खट्टी डकार, अजीर्ण, लाल-काली और अति खट्टी वमन, वान्त पदार्थको रख देनेपर ऊपर श्लेष्मा आ जाना और गाढ़ा पिङ्गल वर्ण तलेमे प्रतीत होना, कोष्ठबद्धता, वमन विशेषतः सुबह और रात्रिको होना, क्वचित् रक्तवमन होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । आमाशय विस्तारका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ७६६-७७० मे किया है ।

अनेक बार आमाशयमे विस्तीर्ण व्रण (Gastric Ulcer) होने पर किसी-किसी रोगीको अम्लपित्तके लक्षण होते हैं । फिर अति खट्टी पित्त और कफमिश्रित वमन होती रहती है । इस आमाशयव्रणका विवेचन पहले शूल रोगमें किया गया है ।

लक्षण—आमाशय रसमे उदहरिक अम्लकी वृद्धि होने पर दाह, व्याकुलता, खट्टी-खट्टी डकार आना, कौड़ी प्रदेशमें वेदना, भोजन कर लेनेके १-२ घण्टेके पश्चात् उदरमे भारीपन आ जाना, भारीपन होने पर सजीखार आदि ज्वारका सेवन करने से कुछ हलकापन हो जाना, मलाबरोध, किसी-किसीको अतिसार होना, फिर दस्तमें कच्चा अर्धपक्व आहार निकलना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

साध्यासाध्यता—रोग नया होने पर साध्य है । आमाशयव्रण या आमाशय विस्तार होने पर कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है ।

अम्लपित्त चिकित्सोपयोगी सूचना ।

अम्लपित्तरोग होने पर जल्दी चिकित्साका प्रारम्भ करना चाहिये । एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर रोग कष्टसाध्य या असाध्य-सा हो जाता है ।

अम्लपित्तके रोगीको प्रथम वमन करावें, पुनः मृदु विरेचन देकर आमाशयका शोधन करें । पुनः स्नेहपान करावें । तत्पश्चात् व्याधि की विषमतानुसार अनुवासन अथवा आस्थापन वस्ति देवें । आमाशय निर्दोष हो जाने पर दोषशामक चिकित्सा करें । ऊर्ध्वगत अम्लपित्तमें वमन द्वारा और अधोगत अम्लपित्तमें विरेचन द्वारा दोषोंका निस्सरण कराना चाहिये तथा तिक्त रस-युक्त (कड़वे) आहार की योजना करके पित्त की अम्लताका ह्रास कराना चाहिये । इस रोगमें गेहूँ, जौ अथवा पुराना शालि चावल, जौका सत्तू, मिश्री, शहद आदि पदार्थ रोगशामक और दोषनाशक हैं । इनके साथ मिर्च आदि तीक्ष्ण पदार्थोंका सम्मिश्रण नहीं करना चाहिये ।

अम्लपित्तरोगमें कड़वे परवल, नीम, अड़ूसा, मैनफल, शहद और सैधानमकके क्वाथसे वमन करावें; तथा निसोतका चूर्ण, शहद और आँवलोंके रससे विरेचन करावें ।

इस रोग की चिकित्सामें दो कार्य करना चाहिये । संचित विकृत पित्तको निकाल देना, और नये उत्पन्न पित्तको विदग्ध न होने देना । आमाशय तक सीमित पित्तको वमन द्वारा निकाल देना चाहिये; और पक्वाशयस्थ विकृतिको विरेचन द्वारा नष्ट करना चाहिये ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, पित्तविकृति होने पर मधुर, तिक्त (कड़वी), कषाय रस युक्त शीतल ओषधि और आहारका सेवन, स्नेहन, विरेचन, प्रदेह (लेप), परिषेक (स्वेद विशेष),

अभ्यंग (मालिश) और अवगाह (स्नान) आदि पित्तहर क्रियाओं द्वारा परन्तु काल (ऋतु आदि समय) को देखकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तको जीतनेके लिये समस्त क्रियाओंमें विरेचनको प्रधानतम कहा है । विरेचन महास्रोतके आदिसे लेकर आमाशय (के अधोभाग ग्रहणी) में प्रवेश कर विकार उत्पादक पित्तमूलको अशेष आकर्षित कर लेता है । इस तरह पित्तके जीते जानेसे शरीरके भीतर उत्पन्न पित्त विकार सब शान्त हो जाता है । जिस प्रकार अग्निको बुझा देनेसे सारा अग्निगृह (आगसे गरम किया जाने वाला घर) भी शीतल हो जाता है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी भी विरेचनकी महिमा दर्शाते हैं किः—

यथौदकानामुदकेऽपनीते चरस्थिराणां भवति प्रणाशः ।

पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः ॥

जिस तरह सरोवर आदि जलाशयोंका जल निकाल देनेसे उसके आश्रित चर (जलजीव), स्थिर (वृक्ष आदि) सबका नाश हो जाता है, उसी तरह पित्त (दुष्टपित्त) का हरण कर लेने पर उससे उत्पन्न पित्तात्मक उपद्रवोंका भी नाश हो जाता है ।

आंवलोंका सेवन भोजनके साथ या औषध रूपसे करना, यह अम्लपित्तरोगीके लिये अति हितकर है । आंवलोंसे अम्लपित्त, वमन, उबाक, अरुचि, दाह, मोह, कण्डु, प्रमेह, शिरदर्द और सब प्रकारके शुक्रदोषका निवारण होता है । ऊर्ध्वग और अधोग, दोनों प्रकारके अम्लपित्तोंमें आंवला हितावह है ।

यदि रोगी सशक्त है; तो वमन अवश्य करानी चाहिये । आचार्योंने कहा है कि 'अचिरोत्थे चिरोत्थे वा वमनं तत्र कारयेत्' अर्थात् अम्लपित्त चाहे नया हो, चाहे पुराना, रोगीको वमन करानी चाहिये ।

रक्तपित्त रोग और पैत्तिक शूलमें जो चिकित्सा लिखी है; वह अम्लपित्त रोगमें हितावह है ।

अम्लपित्तमें चूनाकल्प अर्थात् मौक्तिक, प्रवाल शौक्तिक, शङ्ख और वराटिका की भस्म, आंवले, गिलोयसत्व, च्यवन-प्राशावलेह आदि-आदि अति लाभदायक है । चार प्राधान्य ओषधिके सेवनसे पित्त की अम्लताका ह्रास होता है ।

आमाशय विस्तार हो गया हो, तो मौक्तिक, प्रवाल, वराटिका आदि चार प्राधान्य ओषधिका सेवन कराना चाहिये । निसोत प्राधान्य (त्रिवृदष्टक मोदक आदि) [विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करानी चाहिये । दिन रातमें मिलकर भोजन केवल दो बार ही देना चाहिये । मैदा-निसास्ता प्रधान्य भोजन और मिश्रीका बिल्कुल त्याग करा देना चाहिये । पेय पदार्थ जितना कम दिया जाय, उतना ही अधिक लाभ होता है । आमाशय नलिका (Stomach tube) द्वारा रोज सुबह आमाशयको धो लेना चाहिये । धोने की विधि प्रथम खण्डके पृष्ठ ७७७ में लिखी है । आवश्यकता पर एरंड तैल द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर फिर पौष्टिक रस या दुग्ध की वस्ति देनी चाहिये ।

जो ओषधियां पित्त की अम्लताका ह्रास कराती हैं, वे अम्लपित्तरोगको नष्ट करती हैं । ऐसी ओषधियोंमें अम्लतानाशक (Antacids), यकृदवसाधक (Hepatic Sedatives) और पित्तविरेचक भेदसे ३ प्रकार है । फिर अम्लतानाशक ओषधियोंमें भी साक्षात् फलदायक और दूरवर्ती फलदायक, ऐसे दो विभाग हैं । इन सबका विवेचन वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ४२ से ४६ तक किया है । फिर पित्त विरेचक ओषधियोंका वर्णन वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ४७ में हैं ।

जौ अथवा गेहूँ के बनाये हुए यूष आदि पदार्थ और उनमें मिर्च आदि तीक्ष्ण वस्तु न मिलाई हो, ऐसे पेय पदार्थ अथवा

भोजन देना चाहिये; तथा खीलोके सत्तूमें मिश्री और शहद मिलाकर दोषोका विचार कर पिलाना चाहिये । चावलोका विपाक खट्टा हो जानेसे किसी-किसी को चावलोका सत्तू अनुकूल नहीं रहता । अतः इसका भी विचार करके उपयोग करना चाहिये ।

तुषरहित जौ, अड़ूसा और आँवलेका काथ बना उसमें दालचीनी, तेजपात, इलायची और शहद मिलाकर पिलानेसे अम्लपित्त जनित वमन तत्काल नष्ट हो जाती है ।

अम्लपित्त चिकित्सा ।

(१) गिलोय, नीमके पत्ते और कड़वे परवलके पत्ते को एकत्र पीस शहद मिलाकर दिनमें दो समय पिलानेसे महादारुण अम्लपित्त रोग नष्ट होता है ।

(२) अड़ूसा, गिलोय, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता, भोंगरा, हरड़, बहेड़े, आँवले और कड़वे परवलका काथ बना शहद मिलाकर पिलानेसे अम्लपित्तका नाश होता है ।

(३) अदरक और कड़वे परवलके काथका सेवन करानेसे कफपित्तज अम्लपित्त, दाह, वमन, कण्डु, ज्वर, स्फोटक और अग्निमान्द्य आदि नष्ट होते हैं, तथा पचन-क्रिया की वृद्धि होती है ।

(४) पाद, पटोलपत्र, इन्द्रजौ, धनिया, आंवला, अड़ूसा, दालचीनी, तेजपात, नागकेसर, पीपल, हरड़, मिश्री, कमल और शहद मिला यथाविधि अवलेह बनाकर सेवन करानेसे अम्लपित्त, अरुचि, ज्वर, दाह, और शोषरोगका निवारण होता है ।

(५) बड़ी हरड़का चूर्ण शहद या द्राक्षाके साथ मिलाकर रात्रिको सेवन करानेसे पचनक्रिया सुधरती है । उदर-शुद्धि होती है, तथा अम्लपित्त शमन होता है ।

(६) चूनेका नितरा हुआ जल पिलानेसे आमाशयके पित्तमें

मधुरता आ जाती है। फिर उबाक और वमन की निवृत्ति होती है। परन्तु इस उपाय को सदाके लिये नहीं करना चाहिये।

(७) नारियल की गिरी को जलाकर राख करें। फिर ६-६ माशे दिनमें २ बार जलके साथ सेवन करते रहनेसे पाचनक्रिया सुधरती है, और अम्लपित्तका निवारण होता है।

(८) **अम्लपित्तान्तक रस**—रससिंदूर, अभ्रकभस्म और लोहभस्म, तीनों १-१ तोला और बड़ी हरड़का चूर्ण ३ तोले मिला कर खरल कर लें। फिर इसमेंसे १-१ माशा शहदके साथ दिनमें दो बार संशुद्ध हुए अम्लपित्त रोगी को देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें अम्लपित्त की निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रयोगमें अभ्रकभस्मके स्थान पर कितनेक ग्रन्थोंमें ताम्रभस्म मिलाई है। हमने अभ्रक मिलाकर उपयोग किया है। पित्त विरेचन की आवश्यकता होने पर ताम्रभस्म मिलानी चाहिये।

(९) रसतन्त्रसारमें लिखे हुए प्रयोग—रौप्य भस्म (२० ११५) लीलाविलास रस, (२० ५७१), सूतशेखर (२० ५५७), कामधेनु रस (२० ६१४) अविपित्तिकर चूर्ण (२० ६८५), कुष्माण्डावलेह (२० ८०२), द्राक्षावलेह (२० ८०४), च्यवनप्राशावलेह (२० ७६७) और जीरकादि मोदक (२० ७६६) आदिका सेवन करानेसे अम्लपित्त नष्ट हो जाता है।

यदि शूल अधिक हो तो लीलाविलास रसका सेवन कराना चाहिये। वातपित्त प्रकोप जनित लक्षण होने पर सूतशेखरका सेवन करावें। मलावरोध रहता हो तो अविपित्तिकर चूर्ण देना चाहिये। रक्तपित्त जैसा असर हो, या पित्तप्रकोपजन्य दाह अधिक हो तो कुष्माण्डावलेह देना चाहिये। मृदु सारक ओषधि देना हो तो द्राक्षावलेह देना चाहिये। शक्तिवृद्धिके लिये च्यवनप्राशावलेह हितावह माना गया है। आमामशय की अशक्तिजन्य अम्लपित्त होने पर कामधेनु रस देना चाहिये; तथा आमामशय की

वृद्धि जनित विकार होने पर रौप्य भस्मका सेवन च्यवनप्राशावलेहके साथ कराना चाहिये ।

(१०) अधोग अम्लपित्त हो तो प्रवाल पञ्चामृत (२० ५१३) या कामदूधा रस (२० ४७४) का सेवन कुष्माण्डावलेहके साथ कराना चाहिये ।

(११) पानीयभक्त वटिका—निसोत, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, ये ८ ओषधियों ४-४ तोले तथा शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक २-२ तोले लेवें । लोह-भस्म, अभ्रकभस्म और बायविडंग, तीनों ८-८ तोले लेवें । पहले पारद-गन्धककी कज्जली कर भस्म मिलावें । फिर काष्ठ आदि ओषधियोंका कपड़-छान चूर्ण मिलावें । पश्चात् त्रिफलाके काथमें १ दिन खरल करके २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनावें । इनमेंसे २-२ गोली रोज सुबह तकके साथ सेवन करते रहनेसे उदरशूल, पार्श्वशूल, कुक्षिशूल, बस्तिशूल, गुदाकी पीड़ा, श्वास, कास, कुष्ठ और ग्रहणीविकार सह अम्लपित्त नष्ट हो जाता है । यह रसायन अधोग अम्लपित्त एवं अन्त्रके क्षत जनित विकारमें अधिक हितावह है । इस रसायनके सेवनके साथ कामदूधा रस (२० ४७४) का सेवन कराना विशेष हितावह है ।

(१२) कुष्माण्डकावलेह—पेठेका रस ४०० तोले, गाय का दूध ४०० तोले, आवलोंका चूर्ण ३२ तोले, मिश्री ३२ तोले और गायका घी ८ तोले लें । सबको मिला यथाविधि पका अवलेह जैसा हो जाने पर उतार लेवे । २-२ तोले रोज सेवन करते रहनेसे अम्लपित्त रोग शमन हो जाता है ।

(१३) नारिकेल खण्ड—पिसी हुई नारियलकी गिरी १६ तोले लेकर नारियलके जलमें अथवा गायके दूधमें पकावे । पकते-पकते गाढ़ा हो जाने पर उसमें धनिया, पीपल, नागर मोथा,

दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायचीके दाने और नागकेशर, इन ७ ओषधियोंको ३-३ माशा मिला लेवें । इसमेंसे प्रतिदिन १ से ४ तोले खानेपर पुरुषत्व, निद्रा और बलकी वृद्धि होती है । अम्लपित्त, रक्तपित्त, क्षय और परिणामशूल, ये सब नष्ट हो जाते हैं । पहले नारियलकी गिरीको ४ तोले गो-घृतमें भून लें । फिर नारियलके जलमें पाक करें ।

(१४) बृहन्नारिकेल खण्ड—पत्थर पर बारीक पीसा हुआ नारियल ६४ तोले और छिलके और बीजोंसे रहित पेठेकी गिरी के टुकड़े १२८ तोले लें । इन सबको १६ तोले गायके घी में भूनें । पश्चात् उसमें २५६ तोले गायका दूध और १२८ तोला बूरा मिला चूल्हे पर चढ़ा मन्द-मन्द अग्निसे धीरे-धीरे पकावें । फिर शीतल होने पर छोटी इलायची, धनियाँ, आँवले, पित्त-पापड़ा, नागरमोथा, सुगन्ध वाला, खस, चन्दन, दाख, सिंघाड़े, कसेरु, दालचीनी, तेजपत्र और भीमसेनी कर्पूर, इन प्रत्येक ओषधिका चूर्ण २-२ तोले मिलाकर अवलेह बना लेवें । इस मेंसे २ से ४ तोले रोज प्रातःकाल सेवन करनेसे अम्लपित्त, मन्द ज्वर, पित्त, रक्तपित्त, अरोचक, वातरक्त, तृषा, दाह, पाण्डुरोग, कामला, क्षय और परिमाणशूल आदि नष्ट होते हैं । यह नारिकेल खण्ड शरीरके वर्णको सुधारता है । धातुको पुष्ट बनाता है; कामोत्तेजना करता है; शान्त निद्रा लाता है; तथा बलकी वृद्धि करता है ।

(१५) बृहत् पिप्पलीखण्ड—छोटी पीपलका चूर्ण १६ तोले, गोघृत ३२ तोले, मिश्री ६४ तोले, शतावरीका रस ३२ तोले, आँवलोंका काथ ६४ तोले और गोदुग्ध १२८ तोले लें । घृत और मिश्रीको छोड़ शेष वस्तुओंको पहले उबालें । जब काथ आदिका जल आधा रह जाय, तब मिश्री और घृत मिलाकर पाक करें ।

अवलेह समान होने पर छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपात, हरड़, कालाजीरा, धनिया, नागरमोथा, वंशलोचन और आंवले, इन ६ ओषधियोंका चूर्ण १-१ तोला, तथा जीरा, मीठा कूठ, सोठ, नागकेशर, जायफल और कालीमिर्चका चूर्ण ६-६ माशे मिलावें । शीतल होने पर शहद ८ तोले मिला लें । इसमें से १ से ४ तोले तक देते रहनेसे अम्लपित्तका निवारण हो जाता है । उबाक, अरुचि, वमन, श्वास, कास, क्षय आदि दूर होते हैं । अग्निप्रदीप्त होती है, और हृदय सबल बनता है ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) अति वमन होने पर—

त्रिस्मथ सब नाइट्रास Bismuth Sub Nit २० ग्रेन

एसिड हाइड्रोस्यानिक डिल्यूट Acid Hydrocyanic

Dil. ३ बूद

टिञ्चर कार्डामम क० Tinct Cardamom Co १ ड्राम

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform ad १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह ३-३ घण्टे पर आवश्यकतानुसार दो या तीन बार देवे ।

(२) अम्लोद्गार और दाह अधिक होने पर—

लाइकर स्ट्रिक्निनया Liq Strychnia ४ बूद

सोडा बाई कार्ब Soda bicarb २० ग्रेन

इन्फ्युझम कोलम्बा Inf Calumba १ औंस

इन तीनोंको मिलाकर भोजनके १ घण्टा पहले पिला देनेसे दाह, डकार और अपचन नहीं होते ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—अम्लपित्त रोगमें प्रथम रोगकी गतिको जानना चाहिये । दोष अधोगामी है या ऊर्ध्वगामी ? दोष ऊर्ध्वगामी

होनेपर वमन करावें और अधोगामी होनेपर विरेचन करावें; फिर दोनों प्रकारके अम्लपित्तमें निरूहण बस्ति का उपयोग करें । पुराने शालि चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, जाङ्गल प्राणियों का मांसरस, गरम करके ठण्डा किया हुआ शीतल जल, शक्कर और शहद मिला हुआ जौ का सत्तू, करेला, ककोड़ा, परवल, हुलहुल का साक, बेत की कोंपल, पक्का पेठा, केले का फूल, वथुआ, कैथ, अनार, आंवला, तथा पित्तशामक कड़वे रस वाले फल आदि अम्लपित्त रोगीके लिये पाध्य हैं ।

रोग नया हो या पुराना आमाशयके दोषको निकालनेके लिये वमन हितकारक है; अथवा आमाशयनलिका द्वारा आमाशयको शुद्ध कर लेना चाहिये । इस रोगमें कफपित्तशामक पदार्थ देना चाहिये । कच्चे नारियल का जल हितावह है ।

अपथ्य—नवीन अन्न, स्वाभाविक हानिकारक भोजन, कफ और पित्तको बढ़ानेवाले पदार्थ, वमनके वेगको रोकना, तिल, उड़द, कुलथी, तैल, भेड़का दूध, कांजी, नमकीन, खट्टे, चरपसे और देरसे पचनेवाले पदार्थ, दही और मद्य आदि अम्लपित्त रोगमें अपथ्य हैं ।

इनके अतिरिक्त धूम्रपान, चाय, गरम-गरम भोजन, सूर्यके तापमें भ्रमण, अग्निका सेवन और अधिक क्रोध आदि हानिकर हैं ।

दही और तक्र ऊर्ध्वग अम्लपित्तमें आमाशयस्थ पित्तमें अधिक अम्लता और उष्णता आ जाने पर अपथ्य हैं । परन्तु ये अधोग अम्लपित्तमें अन्नके क्षत वालोंके लिये पथ्य है ।

कितनेक रोगियोंको दूध अनुकूल नहीं रहता । दूध पिलाने पर वमन हो जाती है । अतः जिनको दूधसे वमन हो जाय; उनको दूध नहीं देना चाहिये ।

गुल्म ।

गुल्म—एब्डामिनल ट्यूमर्स—Abdominal Tumours ।

उदर गुहामें स्थिर या अस्थिर (फिरने वाला), धीरे-धीरे बढ़ने वाला या बढ़ने घटने वाला आलू आदि कन्दके समान गोला उत्पन्न होता है, उसे गुल्म कहते हैं ।

निदान—मिथ्या आहार-विहार; आदि भोजन, भोजन पर भोजन, अपथ्य सेवन, विष-प्रकोप, बलवानोसे लड़ाई, साहस कर्म आदि विप्रकृष्ट (दूरके) कारणोंसे वातपित्त और कफ धातुकी विकृति होती है, अर्थात् सन्निकृष्ट (समीपके) हेतुकी उत्पत्ति होती है । फिर दोनो पार्श्व, हृदय, नाभि, बस्ति स्थान (गर्भाशय) और बीजकोष (Ovaries—ओवरीज) में होती है ।

जब वमन, विरेचन आस्थापन बस्ति या ज्वर, अतिसार ग्रहणी आदि रोगोंके हेतुसे शरीरमें कृशता आकर वात-प्रकोप हुआ हो, तब वातवर्धक या शीतल आहारका सेवन, या लुधा लगने पर शीतल कच्चे जलका पान करनाॐ स्नेहन और स्वेदन क्रिया किये बिना बार-बार वमन-विरेचन आदि शोधन क्रिया करते रहना, भोजन कर लेने पर लङ्घन (कूदना, दौड़ना आदि देह संक्षोभि कर्मोंका सेवन) करना या अति क्षोभ उत्पन्न करने वाली गाड़ीमें प्रवास करना, वमनका वेग उत्पन्न न होने पर भी बलात्कारसे वमन करना, अधोवायु और मलमूत्र आदिका वेग उत्पन्न होने पर निरोध करना, नया अन्न या नया जल अति मात्रामें सेवन करना, अति मैथुन, अति व्यायाम, अति मद्य-सेवन, अभिघात, विषम भोजन, विषम शयन, विषम स्थानमें प्रवास या इस तरहके अन्य विपरीत कर्म करना अथवा अधिक

ॐ अनवस्थित-दोषाग्नेर्व्याधि क्षीणबलस्य च ।

नाल्पमप्याममुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत् ॥

मात्रामें विष सेवन, इन कारणोंमेंसे किसीका अतियोग होने पर वातप्रकोप होजाता है । तत्पश्चात् यदि कोई वमन विरेचन आदिका प्रयोग कर तुरन्त बिदाही या कफवर्धक अन्नपानका सेवन करता है; तो प्रकुपित वायु महास्रोत (आमाशय और पक्वाशय) में प्रवेश कर कोष्ठमें फैल जाती है । फिर ऊपर-नीचे के मार्गको निरुद्ध कर कफ, पित्त और रक्तका आश्रय लेकर रुद्धताके हेतुसे बार-बार शूलको उत्पन्न करती है । पश्चात् कठिनताको प्राप्त होकर पिण्ड सदृश बन जाती है ।

जो गुल्म हृदय और वस्तिके भीतर होते हैं; वे कभी चल और कभी अचल होते हैं । आकृतिमें गोल और चयापचयवान् (बढ़ने घटने वाले) होते हैं । किन्तु यह विशेषण “चयापचयवान्” मात्र वातिक गुल्मके लिये है । शेष गुल्मोंके लिये “चयोपचयवान्” अर्थात् शनैः-शनैः दोष संचय होकर बढ़ने वाला माना है ।

जो गुल्म, अग्न्याशय, उदरगन महाधमनि (एब्डोमिनल एओर्टा-Abdominal Aorta), वृक्क, उपवृक्क (अधिवृक्क), गर्भाशय आदि अचल अङ्गोंसे सम्बन्ध वाले हैं; और चल होने पर भी दाह होकर स्थिर अवयवोंसे संलग्न हो गये हैं; उनको अचल माना है । जो गुल्म उरस्या कला (प्लुरा-Pleura), उदर्याकला (पेरिटोनियम-Peritoneum) आदि चल अवयवोंसे सम्बन्ध वाले हैं, उनको चल कहा है । श्वासोच्छ्वास क्रिया करने पर ये गुल्म नीचे-ऊँचे उठते रहते हैं । इस परसे इनका सम्बन्ध उरस्य कला और उदर्या कलासे है; ऐसा जाना जाता है । अन्तसे सम्बन्ध वाले गुल्मोंको चलाचल अर्थात् चल और अचल, उभय विशेषणोंसे युक्त कह सकते हैं ।

गुल्म प्रकार—इस रोगके वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और स्त्रियोंको होने वाला रक्तज, ये ५ प्रकार हैं । जैसे ऊपरमें पित्त की प्राधान्यता रहती है; इस तरह इन सब प्रकारके गुल्मोंमें अनुबन्ध रूपता (मुख्य कारणता) वायु की ही रहती है ।

पूर्वरूप—अति डकार आना, मलावरोध, तुप्ति (भोजन करने की अभिलाषा न होना), सहन न होना, निर्बलता, अँतोंमें गुड़गुड़ाहट, पेट फूल जाना (थोड़ा वायु भरा ही रहना), आध्मान (आफरा) अपचन और अग्निमान्द्य आदि चिह्न प्रतीत होते ।

गुल्मलक्षण—अरुचि, अधोवायु और मल-मूत्र-त्यागमें कष्ट-सा, होना अँतोका बोलना, आनाह (ऊपर नीचे दोनों ओर का मार्ग आम तथा मलसे रुक जाना), अधोवायु की ऊर्ध्व गति (विलोम गति), ये लक्षण सब गुल्मामें प्रतीत होते हैं ।

वातज गुल्म निदान—रूक्ष अन्नपान, विषम भोजन (कभी ज्यादा, कभी कम, एवं कभी जल्दी, कभी देरीसे भोजन और अनियमित जलपान), अति भोजन, बलवानोसे लड़ाई या अति बोझा उठाना आदि विरुद्ध चेष्टा, अधोवायु और मलमूत्र आदि वेगों का अवरोध, शोक, अभिघात (चोट), मल का अतिक्षय और उपवास आदि कारणोंसे वात प्रकुपित होकर गुल्मकी उत्पत्ति कर देते हैं ।

वातज गुल्म संप्राप्ति—धातुओं का कर्षण (क्षीणता) होने पर अथवा कदाचित्, कफ, विष्ठा और पित्तसे मार्गमें रुकावट होनेपर प्रकुपित हुई, वायु कोष्ठ (आमाशय और पक्वाशय) में दूसरों का आश्रय लेकर रूक्षताके हेतुसे कठिनता (पिण्ड भाव) को प्राप्त हो जाती है । यह दुष्ट वायु स्वाश्रय (पक्वाशय) में स्वतन्त्र और पराश्रय (कफ स्थान रूप आमाशय) में परतन्त्र होती है । इस हेतुसे पित्तकफकी प्राप्ति हो जाने पर पिण्ड-रूप बन जाती है । वायु अमूर्त होनेपर भी आश्रय प्राप्त हो जाने से मूर्त सदृश बन जाती है । फिर वह गुल्म रोग कहलाता है ।

वातज गुल्म लक्षण—(अन्न पचन हो जानेपर गोलाके आकार की वायु उठना), शरीरमें स्थान-स्थान पर पीड़ा, कभी

एक स्थानमें तो कभी दूसरे स्थानमें पीड़ा, कभी गुल्म बड़ा, कभी गुल्म छोटा, क्वचित् वेदना अधिक, क्वचित् कम, क्वचित् तोड़ने समान पीड़ा, क्वचित् शूलसे भेदन करने समान पीड़ा, चीटियाँ चलती हों ऐसी पीड़ा होना और अङ्ग फड़कना, अधो-वायु और मलका रुकना, कण्ठ और मुँहमें शोष, विषमग्नि, (कभी भोजन पच जाना, कभी न पचना), श्वासोच्छ्वासमें कष्ट होना, देह श्याम या अरुण रङ्ग की हो जाना, शीत ज्वर, हृदय, कुक्षि, पार्श्व और शिर स्थानमें पीड़ा, भोजन पचन हो जानेपर पीड़ा अधिक होना, भोजन करनेपर पीड़ा न्यून होना; तथा रुक्त्, कसैलै, कड़वे और चरपरे पदार्थों के सेवनसे पीड़ा बढ़ना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

पित्तज गुल्म निदान—चरपरे खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही (करीर आदि) और रुक्त् भोजन, क्रोध, अति मद्यपान, सूर्यके ताप और अग्नि का अति सेवन, आम (विदग्धाजीर्णसे उत्पन्न दुष्ट रस), चोट और रक्तविकार आदि कारणोंसे वातानुबंध-सह पित्त प्रकुपित होनेपर पित्तज गुल्म की उत्पत्ति होती है ।

पित्तज गुल्म लक्षण—ज्वर, प्यास, दाह, बेचैनी, देह का रंग लाल-पीला हो जाना, भोजन पचन होनेके समय अधिक शूल चलना, स्वेद, खट्टी डकार, अन्नका विदाह होजाना, गुल्मपर हाथ लगानेसे त्रणके समान पीड़ा होना और गुल्म स्थानमें दाह आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

श्लैष्मिक गुल्म निदान—शीतल, भारी और स्निग्ध भोजन, बैठे रहना, खूब खाना (वायुके आवागमनके लिये स्थान नहीं रखना), और दिनमें शयन आदि कारणोंसे वातानुबंध सह कफ प्रकुपित होकर कफज गुल्म की उत्पत्ति कर देता है ।

श्लैष्मिक गुल्म लक्षण—शरीर गीला-सा रहना, शीत-ज्वर, अङ्ग टूटना, उबाक, जुखाम, कास, अरुचि, शरीरमें भारीपन,

शरीरमें शीतलता, ग्लानि तथा गुल्म कठिन, बड़ा, ऊँचा उठा हुआ, स्थिर और मन्द वेदना वाला होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

द्विदोषज गुल्म कल्पना—यदि इस गुल्म रोगमें दो दोषोंके निमित्त (कारण) और लक्षणों की प्रतीति होती है; तो दोषोंके बलाबल विचार कर ओषधि कल्पनार्थ वातपित्त, वातकफ, और पित्तकफोत्पन्न गुल्म मान कर चिकित्सा करनी चाहिये ।

त्रिदोषज गुल्म निदान—जब तीनों दोषोंके मिश्रित हेतु मिल जानेसे वात पित्त और कफ, तीनों दोष प्रकुपित होकर गुल्मकी उत्पत्ति कराते हैं, तब त्रिदोषज गुल्म कहलाता है ।

त्रिदोषज गुल्म लक्षण—यह गुल्म ऊपर उठा हुआ पत्थर सदृश दीखता है । इस गुल्मके हेतुसे अत्यन्त वेदना, सारे शरीर में सन्ताप, भोजन कर लेनेपर तुरन्त अन्न का विदाह होना, दारुण वेदना होना, मन, देह, और अग्निके बलका हरण हो जाना—अर्थात् व्याकुलता, कृशता, निर्बलता, विवर्णता और अग्निमांद्य की उत्पत्ति हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस त्रिदोषज गुल्म को शास्त्रकारोंने असाध्य कहा है ।

यह सान्निपातिक गुल्म आम्राशयिक, आन्त्रिक और याकृतिक कर्कसफोट होना चाहिये ।

आमाशयिक कर्कसफोट (Cancer of the Stomach) होने पर रक्त वमन, सतत वेदना, दाह, क्षुधानाश, कृशता, ऊपर उठा हुआ गुल्म, दबाने पर पीड़ा होना, मलावरोध और ज्वर आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

आन्त्रिक कर्कसफोट (Cancer of the Intestine) विशेषतः मलाशयमे होता है । मलत्यागमे पीड़ा, वमन, अपचन, मलावरोध, कभी-कभी अतिसार, पाण्डुता, कृशता और वेदना बनी रहना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

यकृत पर कर्कसोट (Cancer of the Liver) होनेपर रोगी को यकृत पर सुई चुभोने सदृश वेदना, यकृद्वृद्धि, दक्षिण स्कंधपर पीड़ा, कृशता, रक्तविहीनता, कामला, आमाशयिक और आन्त्रिक क्रिया विलक्षण, उदरकी मांस पेशियोंमें दृढ़ता, कभी-कभी ज्वर आ जाना, पैरों पर शोथ, रक्तक्षय और जलोदर आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । आधुनिक विद्वानोंने भी इस रोगको असाध्य माना है ।

यदि त्रिदोषज गुल्म नया हो, ऊपर कहे हुए सब उपद्रव पूर्णांश में प्रकाशित न हुए हों; बलक्षय न हुआ हो; तो चिकित्सासे लाभ हो सकता है ।

जो गुल्म धीरे-धीरे अत्यन्त बढ़ गया हो, उदरके बहुत स्थानको घेर लिया हो, गम्भीर मूलवाला (इतर मांस आदि धातुओंमें जिसका मूल चला गया हो), चारों ओरसे सिराओंसे बद्ध, कछुएकी तरह ऊँचा उठा हुआ, निर्बलता, अरुचि, उबाक, वमन, कास, शूल, बेचैनी, ज्वर, तृषा, तन्द्रा और जुखाम आदि उपद्रव-सह हो, वह असाध्य है ।

पक्व गुल्मके लक्षण—गुल्म पक जानेसे दबाने पर दबता है; और छोड़ने पर ऊँचा आ जाता है । पच्यमान अवस्थाकी अपेक्षा शूल आदि वेदना कम हो जाती है । त्वचा का रंग काला हो जाता है । गुल्म पानीसे भरी हुई मशकको दबाने समान प्रतीत होता है । ऐसे गुल्मकी चिकित्सा तत्काल पक्व विद्रधि अनुसार करनी चाहिये । अर्थात् उसमेंसे रक्त और पीपको निकाल कर व्रणशोधन-रोपण आदि क्रिया करनी चाहिये ।

अपक्व गुल्म लक्षण—कठिन आकार वाला, भारी, मांसके भीतर आश्रय वाला, मूल वर्ण वाला और स्थिर हो, उसे अपक्व गुल्म कहते हैं ।

विदह्यमान गुल्म लक्षण—दाह, शूल, अग्निसे जलाने समान वेदना, निद्रानाश, बेचैनी और ताप, इन लक्षणोंसे युक्त गुल्मको

पच्यमान गुल्म जानकर जल्दी पकानेके लिये सेक आदि उपचार करना चाहिये ।

असाध्य लक्षण—जिस गुल्म रोगमें उवर, श्वास, वमन और अतिसार हो; तथा हृदय, नाभि, हाथ और पैर पर शोथ हो गये हो, वह रोगी को मार डालता है ।

जिस गुल्मके साथ श्वास, शूल, प्यास, अरुचि, अकस्मात् गुल्मका विलय हो जाना तथा अति निर्बलता आदि उपद्रव हो, वह रोगी को मारनेके लिये ही तत्पर होता है ।

रोगनिर्णय—अंतर्विद्रधि और गुल्म, दोनोंके स्थान एक होनेसे दोनोंके निर्णयार्थ भगवान् धन्वन्तरि सुश्रुत संहितामें लिखते हैं कि—

मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः ।

मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्म पाकं न गच्छति ॥

मांस शोणित की प्राधान्यताके हेतुसे विद्रधिका पाक हो जाता है, तथा रक्त मांसका हीन योग होनेसे गुल्मका पाक नहीं होता । किन्तु उत्तर तन्त्रमें फिर कहा है कि—

अशूले सोन्नतेऽस्पंदे दाहपाकरुगन्विते ।

गुल्मे रक्तं जलौकाभिः शिरोमोक्षेण वा हरेत् ॥

जो गुल्म शूल सह हो; ऊपर की ओर उठा हुआ हो; थोड़ा-सा भी न हट सकता हो, दाह पाक होगया हो या होता हो और पीड़ा युक्त हो ऐसे गुल्ममें जलौका लगा या शिरामोक्ष करा रक्त को निकाल लेना चाहिये । इस वचनसे जाना जाता है, भगवान् धन्वन्तरिजीके मतमें भी गुल्मका पाक हो सकता है ।

चरक संहितामें भगवान् आत्रेयने लिखा है कि—

दाहशूलान्निसंचोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः ।

विदह्यमानं जानीयाद्गुल्मं समुपनाहयेत् ॥ चि० स्था० ५-३६

दाह, शूल अग्निसे जलाने समान पीड़ा, निद्रानाश, व्याकुलता और ज्वरआदि उपद्रव हों; तो गुल्म को पकने वाला जान कर उस पर उपनाह—सेक करना चाहिये। अतः चरकसंहिताकार के मतानुसार भी गुल्मका पाक हो जाता है। एवं श्रीअष्टाङ्ग संग्रहके निदानस्थान एकादश अध्यायमें भी लिखा है कि:—

“स्वदोषाधिष्ठानश्च सर्वो भवति गुल्मः । तस्माच्चिरेण नैव वा पाकमेति । भृश-दुष्ट-रक्ताश्रयत्वात्तु विद्रधिः शीघ्र-पाको भवतीति ॥”

अर्थात् वातगुल्म, पित्तगुल्म, कफगुल्म आदि सब प्रकार के गुल्म अपने अपने दोषके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं। इस हेतु से इनका पाक चिरकालमें होता है, या कभी नहीं भी होता। किन्तु विद्रधिके आश्रयभूत रक्तधातु है (त्रिदोष नहीं); वह रक्तधातु दूषित होने पर, इसकी मात्रा अधिक होनेसे विद्रधि शीघ्र पक पाता है। शीघ्रविदाही होनेसे वह विद्रधि कहलाता है।

गुल्म अंतराश्रित होनेसे बस्ति, कुक्षि, हृदय और प्लीहाआदि में वेदना बनी रहती है; जठराग्नि, वर्ण और बलका ह्रास हो जाता है; तथा अधोवायु, मलमूत्र त्याग आदि वेगों की प्रवृत्ति (सम्यक्) नहीं होती। इसके विपरीत विद्रधि को बाहरका (रक्तधातुका) आश्रय होनेसे जठराग्नि, वर्ण और बलका अधिक ह्रास नहीं होता; वेगों की प्रवृत्ति होती है; और बस्ति, हृदय, उदर आदिमें अति शूल नहीं होता। इनके अतिरिक्त गुल्म-प्रदेश की विवर्णता (देहका रंग बदल जाना), और देहका बाह्य प्रदेश उन्नत हो जाना, ये लक्षण अधिक होते हैं।

यद्यपि गुल्म और विद्रधि, दोनोंके लक्षण अनेक अंशमें विपरीत हैं; तथापि पाक हो जाना, इस लक्षणका दोनोंमें प्रवेश होनेसे अनेक आचार्योंने अन्तर्विद्रधिको गुल्मसे पृथक् नहीं कहा। उनके मतानुसार

गुल्म जब पकने लगता है, तब विरेचन, लेप, विम्लापन आदि और पक जाने पर पाटन शोधन, रोपण आदि चिकित्सा करनी चाहिये ।

असाध्य गुल्मके लक्षणोंमें ग्रन्थिमूढता (गुल्मस्याक्स्माद्विलयनम् अर्थात् अक्स्मात् गुल्मका विलय हो जाना), इस लक्षण परसे गुल्म रम पूर्ण थैली अर्थात् कृमिज कोष (Cyst) या महाधमनि विस्तार होकर रक्तपूर्णता (Aneurysm) होना चाहिये । कारण कृमिज कोष और धमनिके बद्ध रक्तका विलय हो सकता है, जड़ गाँठका नहीं हो सकता ।

एकिनोकोकस सिस्ट या हाइडेटिड सिस्ट (Echinococcus Cyst or Hydatid Cyst) अर्थात् कृमिज कोषकी उत्पत्ति कुत्तेके नवजात कीटाणु (The Larva of Taenia Echinococcus of the dog) का आमाशयमें प्रवेश होने पर होती है । एवं स्त्रियो के बीजकोषों पर रसौली अर्बुद होता है; उसमें भी तरल भरा रहता है । अनुमान है कि, इन ग्रन्थियोंके फूटने पर “गुल्मस्य अक्स्माद् विलयनम्” कहा होगा ।

गुल्मका अक्स्मात् विलय हो जाना, इस लक्षणके विपरीत कफज गुल्मके लक्षणमें ‘कठिनोन्नतत्वं’ और सान्निपातिक लक्षणमें ‘अश्म-वद्धन’ अर्थात् पथर समान दृढ़, इन विशेषणों परसे गुल्मको जड़ कहा है । अलावा वातज गुल्मके लिये ‘चयापचयवान्’ विशेषण परसे वातज गुल्मके लिये वातनिरोधज ग्रन्थि या धमनीविस्तारज ग्रन्थि (एन्युरिज्म) मान ली जाय; तो इसका बढ़ना-घटना बारम्बार हो सकता है; और इतर गुल्मों का ‘चयोपचयवान्’ विशेषण मान लिया जाय; तो वे सब क्रमशः बढ़ सकते हैं ।

इन हेतुओं परसे अनुमान होता है कि, वातजगुल्म केवल वात-निरोधसे बनने बिगड़ने वाली, छोटी बड़ी गाँठ, पित्तज गुल्म कालान्तर में पकने वाला अर्बुद और कफज गुल्म पाकरहित जड़ गाँठ होनी चाहिये; तथा त्रिदोषज गुल्ममें पाक रहित जड़ गाँठ, पकने वाली गाँठ और द्रवयुक्त गाँठ (कृमिज कोष), ऐसे अनेक प्रकार होने चाहिये ।

रक्तगुल्मनिदान—गर्भाशयमें गुल्म होने पर डाक्टरीमें यूटेराइन फाइब्रस ट्यूमर (Uterine Fibrous Tumour) और बीजकोषों पर गुल्म होने पर ओवेरियन ट्यूमर (Ovarian Tumour) कहलाता है ।

श्रायुर्वेद के मतानुसार प्रसूतावस्थामें योनिरोग या गर्भस्राव होजाने पर अथवा मासिकधर्म आने पर अपथ्य वातप्रकोपक भोजन, उपवास, भय, रूक्षपदार्थ का सेवन, मूत्र आदि वेगका धारण, दूषित रक्तके प्रवाहको रोकदेना, वमन, योनिविकार या अन्य कारणों से वायु प्रकुपित होकर रक्तको संचित कर दाह और पीड़ा सहित स्त्रियोंके गर्भाशय में सौत्रिक तन्तु युक्त गुल्म या बीज कोषपर गुल्मकी उत्पत्ति करा देती है ।

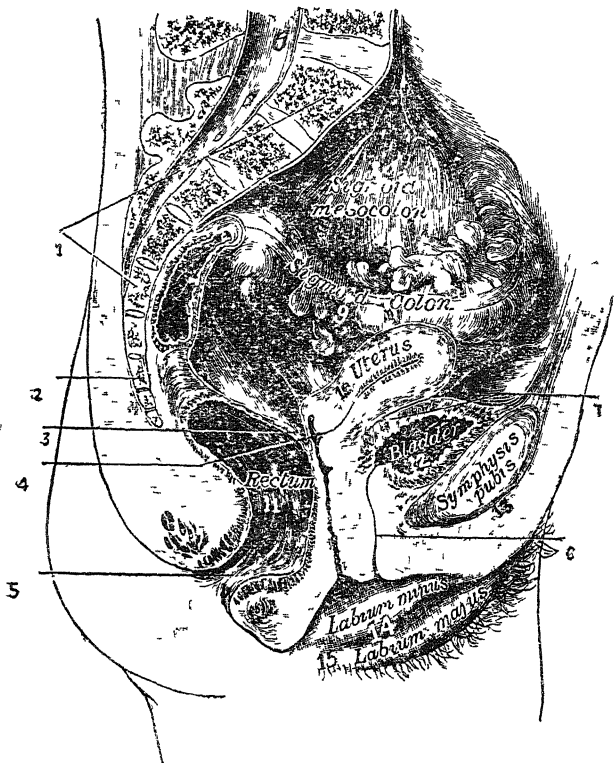
गर्भाशय (Uterus)—यह मोटी मांसपेशियोंकी दीवारसे बनी हुई एक थैली है । इसकी आकृति बाहरसे चिपटी छोटी तुम्बी सदृश और भीतरसे त्रिकोणाकार है । यह यन्त्र बस्तिगुहाके भीतर, बस्तिके पीछे, और गुदनलिकाके आगे रहा है । गर्भ रहनेके पहले युवावस्थामें इसकी लम्बाई ७.५ C.M. सेन्टीमीटर, चौड़ाई ५ C.M. तथा मोटाई २.५ C.M. होती हैं; अर्थात् लगभग ३ इञ्च लम्बाई, २ इञ्च चौड़ाई और १ इञ्च मोटाई होती है । इसका वजन लगभग ३० से ४० ग्राम (२। तोले से ३ तोले तक) होता है ।

गर्भाशयकी रचनाको समझाने के लिये आचार्योंने गर्भाशयके ३ भागों की कल्पनाकी है । मुख, ग्रीवा और शरीर ।

गर्भाशय-मुख—(ओस यूटेराई—Os uterai) यह भाग योनिमार्ग के ऊपर के सिरेको लगा है ; और उसमें ही खुलता है । इस भागके शिखर पर एक लगभग गोल छिद्र रहा है ; जिसे बाह्य गर्भछिद्र (External orifice of the Uterus) कहते हैं । यह छिद्र गर्भाशयके द्वार रूप है । इस छिद्र द्वारा गर्भाशय और योनिमार्ग, दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है । यह छिद्र संकुचित रहता है; किन्तु जब रजोदर्शन

(Menstruation) होता है ; तब रजस्साव करानेके लिये यह छिद्र विकसित होता है ; फिर लगभग १६ दिन तक खुला रहता है । यदि

स्त्री शरीरमें श्रोणिगुहा ।



१—त्रिकास्थि—Sacrum

२—अनुत्रिकास्थि—Coccyx

३—योनि गुदान्तरीय स्थालीपुट—Recto uterine excavation.

- ४—गर्भाशय मुख—External uterine orifice
 ५—गुदद्वार—Anal Canal
 ६—मूत्रप्रसेक—Urethra
 ७—बस्तिगर्भाशयान्तरीय स्थालीपुट—Uterovesical excavation.
 ८—कुण्डलिकान्त्रधारा बन्धनी—Sigmoid mesocolon
 ९—कुण्डलिका भाग—Sigmoid Colon
 १०—गर्भाशय—Uterus
 ११—गुदनलिका—Rectum
 १२—मूत्राशय—Bladder
 १३—भगस्थिसंधान—Spmphysis pubis
 १४—लघु भगोष्ठ—Labium minus
 १५—बृहद् भगोष्ठ—Labium majus

यह छिद्र यथोचित विकसित न हो सके; तो रजःकुञ्च (Dysmenorrhoea) अर्थात् मासिक धर्म कष्टसे आना, इस रोगकी सम्प्राप्ति होती है। यह छिद्र प्रसव-कालमें तो अति चौड़ा होकर बालकको बाहर जाने का मार्ग देता है।

गर्भाशयग्रीवा—(सर्विक्स—Cervix) गर्भाशयमुख और शरीर के मध्यमें जो संकुचित प्रदेश, लगभग दो अंगुल का लम्बा रहा है, उसे गर्भाशय-ग्रीवा कहते हैं। इसकी दीवार लगभग एक चतुर्थांश अंगुल जितनी मोटी है। इसके भीतर रहे हुए मार्ग को ग्रीवासरणि (Cervical Canal) कहते हैं। यह छोटी और पटोल सदृश अर्थात् बीचमें चौड़ी और दोनों सिरे पर संकुचित है। मासिकधर्मके अतिरिक्त कालमें इस मार्ग में गाढ़ा श्लेष्म रहता है। क्वचित् पूयमेह या इतर हेतुसे यह संपूर्ण ग्रीवा सरणि और योनिमार्गका संकोच (Atresia) हो जाता है। फिर उसमें गर्भ धारण नहीं हो सकता। कदाच गर्भधारण होजाय; तो प्रसव कालमें अति कष्ट पहुँचता है।

गर्भाशय शरीर—(बाडी आफ् धी यूटेरस-Body of the Uterus) गर्भाशय का ऊर्ध्वप्रदेश, जो तुम्बी सदृश है, उसे गर्भाशय-देह कहते हैं । इसके भीतर रहा हुआ प्रदेश त्रिकोण आकार है । इस त्रिकोणके ऊपरके दोनों कोणोंमें बीज-वाहिनी का द्वार खुलता है । ग्रीवा सरणिके इस द्वार को आम्यन्तर गर्भ-छिद्र (Internal Orifice of the Uterus) सज्ञा दी है । गर्भाशयके इस स्थान की दीवार लगभग आध अंगुल मेट्टी है, अर्थात् बाहरके भाग की तुलनामें भीतर की पोल कम है । इस शरीरके ऊर्ध्व प्रदेशके आकृतिके अनुसार गर्भ-तुम्बी (Fundus Uterine) नाम दिया है । युवावस्थामे यह मुट्ठी जितना बड़ा होता है । फिर गर्भ धारण हो जानेपर यह शनैः-शनैः बढ़ता जाता है; और इसकी दीवारकी रचनामें भी अन्तर हो जाता है ।

गर्भाशय स्थान—यह गर्भाशय मूत्राशय और गुदनलिकाके बीचमें रहा है । इसे यथास्थान स्थित रखनेके लिये ८ बधनिनाये (Ligaments) निर्माण हुई हैं । यह गर्भाशय उदर्याकलाके भीतर रहा है । गर्भाशय-ग्रीवाके समीप उदर्याकलाके दोनों स्तरोके बीचमें खड्डे प्रतीत होते हैं । इनमेंसे गर्भाशय और मूत्राशयके बीचमें आगे की ओर रहे हुए खड्डे को वस्तिगर्भाशयान्तरीय स्थाली पुट (Vesico uterine Excavation) और पीछे की ओर रहे हुए खड्डे को योनिगुदातरीय स्थालीपुट (Recto.uterine excavation) कहते हैं ।

इस गर्भाशयमें श्वेत तन्तुमय, गोल और मृदु विविध प्रकारके गुल्म हो जाते हैं । जैसे-जैसे गुल्म बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे अधिक निर्बलता, अग्निमाद्य और पाण्डुता आती जाती है । प्रारम्भमें पथ्य पालन सह ओषधि सेवन करायी जाय, तो गुल्म नष्ट हो जाता है । अधिक बढ़कर दृढ हो जानेपर शस्त्रचिकित्सा का आश्रय ही लेना पड़ता है ।

बीजाशय—(Ovaries) गर्भाशयके दोनों ओर एकएक बीजाशय (बीज कोष) हैं । इन बीजकोषों की आकृति अण्डे या बादामके समान हैं । इनकी लम्बाई लगभग ३ सेन्टीमीटर (१॥ इंच), चौड़ाई

१॥ सेन्टीमीटर (पौन इंच) और मोटाई १ सेन्टीमीटर (आध इंच) होती है । इनका वजन लगभग ३-३ माशे होता है । रंग कुछ बैंगनी-सा होता है । इन बीजकोषों की आकृति एक समय प्रसव होजानेके पश्चात् बदल जाती है ।

उभय बीजकोष अर्थात् बीजाधार गर्भाशयके दोनों ओर रहे हुए कोणके समीप तिर्यक पंक्तिमें पक्ष बंधनिकाओं (Broad ligaments) के स्तरके भीतर तथा दोनों बीजवाहिनियोंके पीछे और नीचे रहे हैं । दोनों बीजकोषोंमें भीतर का कोण और बाहर का कोण, ऐसे दो कोण हैं । भीतर का कोण गर्भाशय की ओर रहा है; और वह दो-तीन अंगुल लम्बी बीजाधार बंधनिका (Ligament of the ovary) से जुड़ा हुआ है; और बाहर का कोण बीजवाहिनीके सिरे अर्थात् युष्पित प्रान्त (Fimbriated end) के साथ एक छोटी-सी परिखा (बीजकुल्या) द्वारा सम्बन्धमें आता है । बीजकोषमें जो स्त्रीबीज परिपक्व होते हैं; वे इस बीजकुल्या द्वारा बीजवाहिनीमें प्रवेश करते हैं ।

मासिक धर्मका प्रारम्भ होनेके पहले बीजाधार मसृण, श्वेतवर्णके और चिकने होते हैं । मासिक धर्म आनेके पश्चात् खुरदरे हो जाते हैं । युवावस्थामें देखने पर बीजाधार पीताभ या गुंलाबी वर्णके भासते हैं ।

बीजकोष रचना—बीजकोषके भीतर का भाग रक्ताभ है । और सूक्ष्म स्नायुसूत्रोंसे जाल सदृश बना है । इसका ब्राह्म विधान अपेक्षाकृत घन और मलिन वर्णका है । इस बीजकोषके भीतर असंख्य जालगृहमें रेतके कण सदृश स्त्रीबीज (Ova) बिखरे हुए हैं । ये स्त्री बीज सीप के भीतर रहे मोतीके समान बीजपुटकमें रहे हैं । ऐसे असंख्य बीजपुटक (डिम्बस्थली—Ovisac or Graaffia Vesicles) दोनों बीजकोषोंमें प्रतीत होते हैं । ये बीजपुटक पतले, दृढ़, श्वेत वर्णके संयोजक तन्तुके स्तर द्वारा आवृत हैं । इस आवरणको डाक्टरीमें ट्युनिका एलब्युजिनिया (Tunica Albuginea) संज्ञा दी है । एवं इस आवरणके ऊपर भी बाहरकी और कलमके सदृश रस त्वचाकी लम्बी

श्लैष्मिक कला (Epithelium) का आच्छादन रहा है । और वह भी बन्धनिकाकी श्लैष्मिक त्वचा (Pavement Epithelium) से सम्बन्ध वाला है ।

इन बीजकोषोका अन्तःस्राव (Internal secretion) के हेतुसे मासिकधर्म आता है । मासिकधर्ममें रज ४-५ दिनके भीतर सामान्यतः २०-२५ तोले तक निकलता है ।

इन बीजकोषोमे धमनियोंकी अतिसूक्ष्म शाखाएँ सर्पकी गतिके सदृश टेढ़ी हैं । एव शिराएँ, रसायनियों और वातवहानाडियोंकी अतिसूक्ष्म प्रशाखाएँ फैली हुई हैं । इनमें रही हुई कैशिकाएँ सब डिम्बस्थलियोंके भीतर प्रवेश करती हैं, और घुमावदार (Spiral) गतिसे बीजाधारकी रचना करने वाले विधानके तन्तु (Stroma) का भेदन करके प्रचुर कैशिकाओंके जालमें मिल जाती हैं ।

स्त्रीबीजपुटक—गर्भके भीतर स्त्री सतान (कन्या) होनेपर उसके बीजकोषमें स्त्री बीजोंकी थैलियाँ (डिम्बस्थली) तैयार होने लगती हैं । जब बच्चीका जन्म होता है, तब उसके बीजकोषमें भविष्यमे पकने वाले लगभग ७५००० स्त्रीबीज (अण्डे) रहते हैं । परन्तु इनमेंसे अधिकांश सकुचित होकर नष्ट हो जाते हैं । बहुत कम अण्डे परिपक्व होते हैं । मासिकधर्म आनेपर कितनेक (२-४) परिपक्व हुए बड़े बीजपुटक बीजकोषके भीतरसे बीजकोषकी किनारी पर आ जाते हैं । जब इन डिम्बस्थलीके भीतरके अण्डे पूर्ण पक्व हो जाते हैं, तब इन डिम्बस्थलियोंकी और बीजकोषकी दीवार एक साथ फट जाती है । फिर स्त्रीबीज थोड़े प्रवाही पदार्थके साथ बाहर निकल जाते हैं । इस तरह पृथक् हुए परिपक्व स्त्रीबीज बीजकुल्या द्वारा बीजवाहिनीके सिरेमे चला जाता है; और वहाँ से गर्भाशयमे पहुँच जाता है ।

स्त्रीबीज—इन डिम्बस्थलियोमे डिम्ब (स्त्रीबीज) सलग रहते हैं, वे गोल अण्डे सदृश हैं । इनका व्यास लगभग $\frac{1}{16}$ से $\frac{1}{8}$ मिलीमीटर ($\frac{1}{16}$ इंच) तक है । ये स्तम्भाकार या कलम आकार वाले कोषके

एक एक स्तर द्वारा परिवेष्टित हैं। इन डिम्बोंके भीतर गौंद सदृश चिकना पीले रंगका तरल रहता है। इसको डिम्बकुसुम-जर्दी (Yolk) कहते हैं। डिम्ब तरुण होने पर डिम्बकुसुमके मध्यमें अंकुरविम्ब (Germinal Vesical) रहा हुआ है। यह विम्ब गोल, स्वच्छ और उज्ज्वल है। इसके भीतर कितनेक कण (Granules) और एक या दो जीवकेन्द्र (Nucleus) रहे हैं।

बीज कीरपुट—(Corpus Luteum) बीज पुटक फटकर स्त्री बीज निकल जानेके पश्चात् शेष रहे हुए छिलकेको बीज कीरपुट कहते हैं। इस छिलकेमें रक्तभर जाता है। फिर वह पीला हो जाता है; और लगभग १५ दिन तक बढ़ता जाता है; पश्चात् नष्ट हो जाता है। यदि स्त्री बीज फलता है; अर्थात् स्त्री गर्भधारण करती है; तो यह पीला छिलका नष्ट नहीं होता। ३ मास तक बढ़ता जाता है; और प्रसव-काल पर्यन्त रह जाता है। अनेक बार सुजाक आदि कारणोंसे बीज वाहिनियों में उत्पन्न प्रदाह बीजकोष पर्यन्त बढ़ जाता है; तब बीजकोष विकृत हो जाते हैं; और स्त्री बंध्या हो जाती है। यदि इन दोनों बीजकोषोंको निकाल दिया जाय; तो रजोदर्शन बन्द हो जाता है। एवं गर्भाशय, योनिमार्ग और स्तन आदि अवयव शिथिल हो जाते हैं।

इन बीज कोषोंमें कठिन गुल्म (Tumours) और रसाबुद (सीस्ट्स Cysts) उत्पन्न हो जाते हैं। गुल्मके समान जब द्रवमय कोष अधिक बढ़ता है; तब उदर भी बढ़ने लगता है। रजोदर्शन अनियमित हो जाता है। स्त्री का शरीर अतिकृश और पीला पड़ जाता है। अनेक बार उदरको देखकर गर्भ, जलोदर या सद्रव कोष है, इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है। क्वचित् रसाबुदके साथ गर्भ भी होता है।

गर्भाशयके अबुद और बीजकोषके अबुद, दोनोंमें गर्भ धारण का भ्रम होता है। इनमें भी बीजकोष का अबुद (गुल्म) अधिक संशयमें डालता है। बीजकोषके अबुद की वृद्धि गर्भके सदृश ही होती

है । दोनोंके लक्षणोंमें प्रमेद सत्वर नहीं हो सकता । गर्भाशय और बीज-कोषके इन अर्बुदोंके निदान, लक्षण आदि का वर्णन आगे डाक्टरी मतके विवेचनमें विस्तार पूर्वक किया जायगा ।

पित्तज गुल्मके जो निदान कहे हैं, वे रक्तज गुल्मके भी कारण होते हैं । अलावा गर्भाशय या बीजकोष पर चोट लगनेसे भी कचित् अर्बुद (रक्त गुल्म) की उत्पत्ति होजाती है ।

चरकसंहिता कथित निदानः—

अतावनाहारतया भयेन विरूक्ष्णैर्वैगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥

मासिकधर्मके समय उपवास, भय, शुष्क पदार्थोंका सेवन, अधोवायु, मल-मूत्र आदि वेगोंका धारण, मासिकधर्मको रोकने की क्रिया करना, वमन और योनि रोग, इन कारणोंसे स्त्रियोंको रक्तगुल्म होजाता है ।

इन हेतुओंसे, या गर्भाशयको अति शीत लगजाना, या शीतल जलसे स्नान, शीतल वायुका सेवन या इतर हेतुसे मासिकधर्ममें बाहर निकलने वाला रक्त जब रुक जाता है, तब वायु प्रकुपित होकर उसे गुल्माकार बना देती है । पहले छोटे बेर समान फिर सुपारी समान बनता है । पश्चात् शनैः शनैः बढ़ता जाता है ।

यह रक्त गुल्म पुरुषोंको गर्भाशय और बीजकोष न होनेसे नहीं होता । यदि किसी कारखवश प्रारम्भमें कहे हुए पार्श्व, नाभि आदि स्थानोंमें रक्तपित्त आदि रोगका रक्त रुक जाय, तो वह अन्तर्विद्रधि रूप बन जाता है, गुल्मरूप नहीं होता । इस हेतुसे शास्त्रकारोंने पुरुषोंके लिये रक्तगुल्मका निषेध किया है । मतान्तरमें जिन आचार्योंने गुल्म और विद्रधिको पृथक् नहीं माना, वे पुरुषोंको भी रक्तगुल्म होनेका लिख सकते हैं, किन्तु

भगवान् धन्वन्तरि और आत्रेयके मतानुसार वह अंतर्विद्रधि ही कहलाती है ।

रक्त गुल्म लक्षण—पैत्तिक गुल्मके सदृश उवर, प्यास आदि लक्षणों की प्रतीति, मासिकधर्म न आना, स्तनोंके अग्र भाग काले होजाना, उबाक, मुँहका पीलापन, आहार आदिमें भाव-अभाव, योनिमेंसे दुर्गन्ध युक्त स्राव होना, तोड़ने समान पीड़ा और गर्भसमान गुल्मका फड़कना आदि लक्षण (गर्भ धारणके समान) प्रतीत होते हैं । परन्तु सगर्भाके शरीरमें बालकके हाथ-पैर आदि अङ्ग जैसे फड़कते हैं; ऐसा नहीं होता । बहुत समय के बाद क्वचित्-क्वचित् सारे गुल्म रूप पिण्डका स्पन्दन होनेका भास होता है; साथमें शूल समान वेदना भी रहती है । (गर्भ होने पर ऐसा शूल नहीं चलता) । गर्भ और गुल्ममें यह भेद रहता है ।

रक्तगुल्म विनिर्णय—(१) गर्भ धारणके ५-७ मास होने पर उसके स्थानके हटाने पर गर्भ नहीं हटता; और रक्तगुल्म बाँयी दाहिनी ओर कुछ हट जाता है । फिर स्त्रीको चित्त लेटा, गुल्मको मूल स्थानसे इतर स्थान पर हटा फिर दबाकर रक्खें । पश्चात् स्त्रीको सम्हालपूर्वक बैठी करनेसे दबा हुआ गुल्म अपने स्थान पर आजाता है ।

(२) आठ-आठ अंगुलके चौकोन सफेद कपड़ेको गेरूके जलमें भिगो समान परिमाणमें निचोड़ एक टुकड़ेको गुल्म पर और दूसरेको उदर पर फैलावें । गर्भ होने पर दोनों कपड़े सम समयमें सूख जाते हैं । गुल्म होने पर गुल्म पर रक्खा हुआ कपड़ा देरसे सूखता है ।

(३) ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुननेसे गर्भ होने पर उसके हृदयके स्पन्दन की आवाज सुननेमें आती है । गुल्म होने पर आवाज नहीं आती ।

(४) गर्भाशय और बीजाशयमें गुल्म (अबुँद) होने पर अबुँद गति और स्थानके अनुसार रोग लक्षण भी कुछ प्रकाशित होते हैं । इन गुल्मोंके प्रकार और लक्षणों का वर्णन आगे डाक्टरी निदानमें किया जायगा ।

इस रक्त गुल्म की चिकित्सा दशमास व्यतीत होने पर करनी चाहिये । कारण, १० मास व्यतीत होने पर गर्भाशय आदि अङ्गोंमें चिकित्सा सहन करने योग्य बल आजाता है । कच्चा दोष पक जाता है, और अन्तर्लीन दोष बाहर आकर संचित होजाता है । इन हेतुओंसे अग्निवेश, धन्वन्तरि आदि आचार्यों ने रक्तगुल्मको जीर्ण होने पर सुखसाध्य माना है । इस विषयमें प्राचीन आचार्योंने लिखा है कि:—

ज्वरेतुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्य दूष्यता ।

रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥

ज्वर रोगमें ऋतु और दोष की समानता, प्रमेहमें प्रकृति और वात आदि दूष्यों की समानता, तथा रक्त गुल्मका पुरानापन (१० मास व्यतीत होना), ये सुखसाध्यके लक्षण हैं ।

यदि कोई शङ्का करे कि गर्भ और गुल्मका निर्णय न होने पर १० मास बाद चिकित्सा करनी चाहिये । तो उसके प्रत्युत्तरमें कहते हैं कि, पिण्डित, स्पन्दन और शूल आदि कारणोंसे निर्णय होजाने पर भी व्याधि महिमा की दृष्टिसे १० मासके पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये । डाक्टरी मतानुसार १० मास तक प्रतीक्षा नहीं की जाती । जब रक्त गुल्मका निर्णय होजाय; तब तुरन्त ऑपरेशन कर डालते हैं ।

डाक्टरी निदान लक्षण ।

आमाशयिक त्रिदोषज गुल्म—आमाशयिक कर्कसफोट—केन्सर आफ़ बी स्टमक—Cancer of the Stomach ।

परिचय—यह त्रिदोषज गुल्म केकड़ेके पञ्जे सदृश प्रतीत होता है । इस हेतुसे इसे आयुर्वेदमें कर्कस्फोट संज्ञा दी है । इसे डाक्टरीमें कार्सिनोमा और केन्सर (Carcinoma and Cancer) कहा है । इसमें प्रधान अर्बुदके भीतर इतर गौण अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं । फिर जिस तरह केकड़े की पीठ पर नसें फूली हुई भासती है, उस तरह इस गुल्म की पीठ पर नसें फूली हुई प्रतीत होती है । यह आमाशयिक कर्कस्फोट कौड़ी प्रदेशमें प्रतीत होता है । इस रोगके साथ आमाशयमें तीक्ष्ण शूल वमन, बार बार काफी सदृश वमन, और शीर्णता (Carcinemia) आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

यह गुल्म आमाशयमें इतर स्थानों की अपेक्षा मुद्रिका द्वारके पास विशेष होता है । एवं कर्कस्फोटोंके अनेक प्रकारोंमेंसे सौत्रिक तन्तुओंसे उत्पन्न कठिन कर्कस्फोट (Hard or Scirrhus Cancer) विशेष दृष्टिगोचर होता है । यदि यह आमाशयके हार्दिक द्वार समीप उत्पन्न होता है; तो विशेषतः श्लैष्मिक कलाके कोषाणुओं (Epithelial Cells) से उत्पन्न मृदु कर्कस्फोट (Soft Cancer) होता है । यह व्याधि विशेषतः पुरुषों को ४० वर्ष की आयुके पश्चात् होती है । स्त्रियों को यह रोग पुरुषों की अपेक्षा कम होता है । क्वचित् यह रोग युवावस्था में भी हो जाता है ।

कर्कस्फोट—यह एक प्रकारका घातक अर्बुद है । इसके मुख्य दो विभाग हैं । बाह्य पहलीय और अन्तःपटलीय (Epiblastic and Hypoblastic) घातक अर्बुद, तथा मध्यपटलीय (संयोजक वृत्ति Connective tissue से उत्पन्न) घातक अर्बुद । बाह्य और अन्तःपटलीय घातक अर्बुदमें अनेक प्रकारके कर्कस्फोट (केन्सर और कार्सिनोमा) हैं । तथा मध्यकललीय घातक अर्बुदोंमें नानाप्रकारके मांसाबुद (Sarcoma) हैं । इस कर्कस्फोट की संप्राप्ति अद्यापि पर्यन्त अनिश्चित ही है । इस कर्कस्फोटके अणु-कीटाणुओंकी संख्या अनैसर्गिक रीतिसे तीव्र वेगपूर्वक अमर्यादित रूपसे बढ़ती जाती है । ये कीटाणु रक्ताणु और

लसीकाणुओं पर सवारी करने वाले, स्वच्छन्दी, इतर इतर यंत्रोंमें गमन करने वाले और जहाँ जायँ वहाँ पर, रोगोत्पत्तिके लिये समर्थ माने गये हैं । देहमें इतना घातक तत्त्व क्यों उत्पन्न होता है ? इस बातका निर्णय अभी तक नहीं हुआ ।

इस कर्कस्फोटमें आवरण कला (Epithelium) के कोषाणु विकृत स्वरूप धारण करते हैं; और इसके साथ संयोजक वृत्ति (Connective tissue) के कोषाणुओंमें भी विकृति होने लगती है । कर्कस्फोटमें छोटे-छोटे छिद्र रहते हैं; उसमें आवरणकलाके कोषाणु रहते हैं । इन छिद्रोंका लसीकावाहिनियोंके साथ सगम होता है । फिर इसी मार्ग द्वारा कर्कस्फोटके कीटाणु अति वेग पूर्वक इतर इतर स्थानोंमें गमन करते रहते हैं । यदि स्तन या वृषण स्थानमें इस व्याधि की उत्पत्ति हुई हो, तो अति शीघ्रतासे इतर अवयवों को दूषित बना देते हैं ।

कर्कस्फोटके कीटाणु जिस स्थानमें उत्पन्न हुए हैं; उस स्थानके कोषाणुओंका अनेकांशमें साम्य होता है । यह साम्यता जितनी कम हो उतना ही कर्कस्फोट घातक माना जाता है । कर्कस्फोटके कीटाणु सक्रामक नहीं हैं । जिस देहमें उत्पन्न होते हैं, उसी काया-नगरी को तो नष्ट कर डालते हैं । परन्तु दूसरों पर आक्रमण नहीं करते ।

इस कर्कस्फोट के अनेक प्रकार हैं । जिनका वर्णन चिकित्सातत्त्व-प्रदीप के तृतीय खण्डमें यथास्थान किया जायगा । अनेक प्रकारोंमेंसे उदर गुहामें होनेवाली मुख्य ४ जाति हैं—(१) सौत्रात्मक कर्कस्फोट (स्काईरस और हार्ड केन्सर—Scurrhous or Hard Cancer); (२) मृदु कर्कस्फोट (एन्सेफेलॉइड, मेड्युलरी और सॉफ्ट केन्सर—Encephaloid, Medullary or soft cancer); (३) पिच्छिल कर्कस्फोट (कोलाइड केन्सर Colloid cancer), और (४) आवरण कला विनाशक कर्कस्फोट (एपिथिलिओमा Epithelioma) ।

(१) सौत्रात्मक कर्कस्फोट—यह कर्कस्फोट कठिन होता है ।

इसके चारों ओर कोमल सौत्रिकतन्तु निर्माण हो जाते हैं । क्षतग्रस्त होने पर सामान्यतः गम्भीर और असम बनता है । क्षतकी धारा नष्ट होती है; और वह ऊँची, कठिन और स्थूल सीमा से वेष्टित होता है ।

(२) मृदु कर्कस्फोट—यह कर्कस्फोट कोमल होता है । इसका निर्माण असम होता है । इस विकारमें लसीका ग्रन्थियाँ क्रमशः आक्रान्त होती जाती हैं । इसमें रक्तसंचालन अधिक परिमाणमें होता है । इसकी वृद्धि शीघ्र होती है; जिससे समीपस्थ अवयव सत्वर प्रभावित हो जाते हैं । इस रोगका प्रारम्भ होने पर क्षत जल्दी विस्तृत हो जाता है; और उसमेंसे अधिक मात्रामें रक्तस्राव होता रहता है । अतः इसे आशुकारी (Acute carcinoma) कर्कस्फोट कहा है ।

(३) पिच्छिल कर्कस्फोट—यह कर्कस्फोट कठिन और मृदु कर्कस्फोटका अपक्रान्त स्वरूप है । इसकी सम्प्राप्ति होने पर कर्कस्फोटके भीतर स्वच्छ, गोंद या सरेस (Gelatine) के प्रवाही सदृश चिकना पदार्थ रहता है ।

(४) आवरणकला विनाशज कर्कस्फोट—आवरणकलामें जो कोषाणु तत्तरी सदृश फ़ैले हुए (Squamous) हैं; उनकी विकृति होने से इस कर्कस्फोट की उत्पत्ति होती है । इसकी उत्पत्ति आवरणकला-विशिष्ट स्थानोंमें ही होती है । विशेषतः त्वचा, मुख, जिह्वा, कण्ठ, अन्न-नलिका, स्वरयन्त्र (Larynx), योनिमुख (Vulva), योनिमार्ग (Vagina), गर्भाशयग्रीवा (Cervix), मूत्राशय, मूत्रप्रसेक-नलिका और गुदा, इन स्थानों पर होती है । अनेक बार इसकी उत्पत्ति नाडीत्रण (Sinus) और व्रणरोपण त्वचा (Scar) में से भी हो जाती है । यह कर्कस्फोट नर्चे उतरता ही जाता है । इसके वर्धिष्णु स्वरूप को जीवाणु जाल (Cell-nests) कहते हैं । जो अणुवीक्षण यन्त्रसे दृष्टिगोचर होती है । इसके कीटाणु लसीकाग्रन्थियोंका भेदन करके नहीं जाते ।

कर्कस्फोटोंकी सम्प्राप्ति बहुधा पुरुषोंको ४० वर्षकी आयुमें और

स्त्रियोंको ३५ वर्षकी आयुके बाद होती है। यह व्याधि पुरुषोंमें से ८० प्रतिशतको अन्त्रमें और स्त्रियोंमेंसे ६० प्रतिशतको जननेन्द्रिय और स्तन पर होती है।

इस व्याधिके लक्षण यन्त्रभेद और स्थानभेदसे पृथक्-पृथक् होते हैं। सामान्यतः स्थानिक लक्षण पहले प्रकाशित होते हैं। फिर सार्वार्द्धिक लक्षण उपस्थित होते हैं। कभी-कभी सार्वार्द्धिक सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं; और उसके स्थानिक हेतुका निर्णय नहीं हो सकता। कतिपय रोगग्रस्त यन्त्रोंकी क्रियाका लोप हो जाता है; अथवा आक्रान्त प्रणालिकाओंका अवरोध हो जाता है। इस हेतुसे कभी-कभी अन्ननलिका अथवा पित्तनलिकाका अवरोध हो जाता है। एव इस कर्कस्फोटके समीपस्थ विधान पर दबाव पड़ता है। इस हेतुसे उसके भी विलक्षण लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं।

सामान्य लक्षण—तीव्र शूल चुभोने सदृश वेदना, रक्तस्राव, अस्वाभाविक रसस्राव (दाह-शोथ, पूयोत्पत्ति और कोषाणुके विनाश—Necrosis के हेतुसे रसस्राव), शोफ, बाह्यपदार्थजन्य व्याधि होने पर हेतुनाशार्थ, वमन, कास, अतिसार, उदरशूल, प्रवाहण, मूत्रोत्सर्गमें वेदना और शारीरिक उत्तापकी न्यूनता आदि लक्षणोंमेंसे कितनेक उपस्थित हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त सार्वार्द्धिक घातक लक्षण रूपसे शीर्णता (Cancerous cachexia) की प्राप्ति होती है। यह शीर्णता सत्वर या विलम्बसे आती है। अनेकोंको दो वर्षके पश्चात् प्रतीत होती है। इस शीर्णताकी वृद्धि होने पर रोगीकी मृत्यु हो जाती है। कोई-कोई समय रोगी अति कष्ट भोगता हुआ जीवित रहता है, फिर निस्तेजता, कृशता, देहका वर्ण मलिन हो जाना, देह हाइपिंजरवत् और चर्बी रहित हो जाना, चक्षुकोटरमें प्रवेश किये हुए, शुष्क उदर प्रदेश, नाड़ीकी तेज गति, नासारन्त्र और ओष्ठ कुछ लाल हो जाना, उबाक और चुधानाश आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

यदि कर्कसफोट कठिन है; तो सूची विन्धनवत् तीक्ष्ण वेदना, अना-
वृत स्थानमें दाह, सर्वाङ्गमें वातवेदना सदृश पीड़ा, इसमें भी पृष्ठ देश
और पृष्ठवंशके नीचे अधिक वेदना, रोगग्रस्त दिशाकी ओरके बाहुमें
तीक्ष्ण वेदना, वह बाहु शोफयुक्त और अचल-सा हो जाना, फिर उबाक,
पाचनक्रिया क्षीण हो जाना, अति त्रासदायक खाँसी, पार्श्व प्रदेशमें
तीव्र शूल चलना, नाड़ीक्षीण, सूक्ष्म और तेज गति युक्त होना, देह शव-
सदृश मलिन हो जाना, तथा श्वास-प्रश्वास बड़-बड़ आवाज युक्त हो
जाना आदि विविध कष्टप्रद लक्षण उपस्थित होते हैं । फिर रोगी प्राण
त्याग करता है ।

निदान—आमाशयिक कर्कसफोटका निश्चित हेतु अभी तक नहीं
जाना गया । अनेकोंमें वंशपरंपरा प्रतीत होती है । एवं जिनको आमा-
शयिक व्रण, अम्लपित्त, उपदंशज रक्तविकृति आदि व्याधियाँ होने पर
भी आहार-विहारमें स्वच्छन्दी वृत्ति और अति शराबसेवन आदिसे
आमाशयमें अति उत्तेजना होती रहती है; उन व्यक्तियों को इस घातक
व्याधिकी सम्प्राप्ति होती है । अतिशय मानसिक चिन्ता, दरिद्रता, दूषित
आहार सेवन और दुर्भावना आदि इस रोगके सहायक कारण हैं ।

लक्षण—इसरोगके लक्षण शनैः-शनैः अनुभवमें आते हैं । रोग
की जड़ दृढ़ होने पर आहारका अति देरसे पचन, आमाशयमें शूल
चुभोने सदृश तीक्ष्ण सतत वेदना, बार बार वमन, कर्कसफोट की सिरा
टूटने पर रक्तस्राव होनेसे पीसी हुई काफ़ीके रंगके समान वमन होना,
उदरमें वायु संचय, जुधानाश, मलमें काला रक्त जाना, बहुधा कौड़ी-
प्रदेश पर स्पर्श करनेसे गुल्मका अनुभव होना, कृशता, पाण्डुता और
निस्तेजता, इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं; तथा रोगी दिन-प्रति-दिन
शीर्ण होता जाता है ।

उदर को दबाकर स्पर्श करने पर उरःफलकके अग्रपत्र
(Ensiform cartilage) से नाभि तक और दोनों अनुपार्श्विक
प्रदेशों (Hypochondriac) में से किसी-न-किसी स्थानमें गांठ

प्रतीत होती है, जिसे दबाने पर दर्द होता है। यह ग्रन्थि श्वासोच्छ्वास और स्पर्श करने पर चल (Mobile) भासती है। परन्तु जब अवयव परस्पर चिटक जाते हैं, तब वह अचल बन जाती है। यह गाठ २० प्रतिशत मेदयुक्त रोगियोमे प्रतीत नहीं होती। ऐसे समयपर जीर्ण आमाशयिक प्रदाह (Chronic gastric Catarrh) होनेका भ्रम हो जाता है। रोगी युवा है, तो आमाशयिक प्रदाहका अधिक अनुमान होता है। इस आमाशयिक प्रसेकमे वेदना न्यून होती है। यदि वेदना सतत दृढता पूर्वक (Persistent) बनी रहे और चिकित्सासे लाभ प्रतीत न हो; तो फिर इस कर्कस्फोटका अनुमान किया जाता है।

अनेक बार आमाशयिक व्रणके साथ इस रोगका भ्रम हो जाता है। व्रण होने पर बहुधा भोजन करने पर थोड़े ही समयमे अतिशय वेदना उत्पन्न होकर वमन हो जाती है। इस कर्कस्फोट रोगमे भोजनके कितनेक घण्टे पर वमन होती है। वमन होने पर वेदनाका उपशम होता है, फिर कुछ मिनटों तक वमन स्थगित होती है, और दुष्पाच्य आहार सकुचित मुद्रिका द्वारसे ग्रहणीमे जानेमे व्याघात होने पर पुनः वेदना उत्पन्न हो जाती है। वान्त द्रव की रासायनिक परीक्षा करने पर लवणाम्ल द्रव की न्यूनता या रोग बल अति बढ़ने पर लवणाम्ल द्रवका अभाव जाना जाता है। सर्वदा दुग्धाम्ल प्रतीत होता ही है, साथ साथ कर्कस्फोट के कीटाणु (बोआस ओप्लर-बेसिली—Boas-Oppler bacilli) भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस कर्कस्फोटके फूटनेके पश्चात् कैशिकाओंके फटजानेसे थोड़े परिमाण मे रक्तस्राव भी होता है।

यदि रोगी मेदयुक्त पुष्ट है, तो मुद्रिका द्वारके गुल्मका निर्णय करना कठिन हो जाता है। परन्तु जब रोग अति बढ़ जाता है; तब आमाशयका मुद्रिका द्वार नाभिके नीचे तक पहुँच जाता है।

कर्कस्फोटके स्थान पर ठेपन करनेसे सामान्यतः जड़ प्रतिघात होता है; और आमाशयके इतर प्रदेशपर सौषिर ध्वनि (Tympanitic

Resonance) की उत्पत्ति होती है। इस परीक्षा द्वारा यकृतके वाम-खण्डके कर्कस्फोटका प्रभेद किया जाता है।

आमाशयिक कर्कस्फोट सम्प्राप्ति—इस रोग की उत्पत्ति विशेषतः आमाशयके मुद्रिका द्वारके पास होती है। इसके बाद आमाशयक्रोडिका-धारा (Lesser Curvature) आमाशयस्थ ऊर्ध्व प्रदेश (Cardia) और अन्तमें आमाशय-तलिका धारा (Greater Curvature) प्रभावित होते हैं। इस व्याधिका प्रारम्भ श्लैष्मिक कलाके कोषाणु (Epithelial cells) से होता है। फिर मांसमय वृत्ति (Muscular Coat) और अन्त में उदर्याकलामें विकृति होजाती है। यह रोग खड़ा या टेढ़ा फैलता है।

कठिन कर्कस्फोट होने पर आमाशयके अधोमुखका संकोच होता है। जिससे आमाशयका विस्तार होजाता है। यदि यह व्याधि अन्ननलिका में होती है; तो आहार आमाशयमें जानेमें बाधा पहुँचती है; और ऊपर रही हुई अन्ननलिका फूल जाती है।

इस कर्कस्फोटमें व्रण होने पर वह बढ़ता जाता है; और उसके नीचे रही हुई रक्तवाहिनियां टूटती जाती हैं; जिससे रक्तस्राव होता रहता है।

क्षत-छिद्र (Perforation) होने पर उदर्याकलाप्रदाह और महा-प्राचीरा पेशीके निम्नप्रदेशमें अन्तर्विद्रधि की उत्पत्ति होती है। बहुधा चिरकारी प्रदाहके हेतुसे समीपस्थ इन्द्रियों (यकृत, अग्न्याशय, अम्र) में से किसीके साथ आमाशय चिटक जाता है। इस व्रणकी गति रक्त और लसीका द्वारा, फुफ्फुसावरण, हृदयावरण और अन्नावरण तक हो जाती है; और जहाँ जाता है, वहाँ पर क्षत बना देता है। फिर इसी हेतुसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—कठिन कर्कस्फोट होने पर क्षत और रक्तस्राव होकर निःसंदेह पीड़ा घातक होजाती है। यदि इस गुल्म का दबाव पित्त-नलिका पर आजाय; तो कामलाकी उत्पत्ति होती है; प्रतिहारिणी

शिरा पर दबाव आजाय ; तो जलोदर होजाता है , या प्रतिहारिणी शिरा दबने पर अर्श रोग की प्राप्ति होजाती है ।

रोगविनिर्णय—चिरकारी आमालशयप्रदाह और आमालशयिक व्रणमें इस रोगके अनेक लक्षण प्रतीत होते हैं । अतः सम्हालपूर्वक रोग निर्णय करना चाहिये । इन तीनों रोगों के प्रभेद-दर्शककोष्ठक शूल रोगके अन्तर्गत पृष्ठ १०६ । ७ मे आमालशयिक व्रण-विवेचनमे दिया है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग बिल्कुल प्रारम्भावस्थामे शस्त्रचिकित्सा द्वारा साध्य हो सकेगा, ऐसा अनुमान है, विशेषतः ६ से २४ मासके भीतर रोगीकी मृत्यु होजाती है ।

आन्त्रिक कर्कसफोट ।

आन्त्रिक कर्कसफोट—इन्टेसटाइनल केन्सर—Intestinal Cancer.

यह विकार विशेषतः गुदनलिकामें एव बृहदन्त्रके इतर भाग, जहां से स्वाभाविक अन्न मुड़ता है, उन स्थानों (Flexures) मे होता है । यह व्याधि बहुधा ४० वर्षसे बड़ी आयुवालेको होती है । परन्तु कभी-कभी तरुणावस्थामे भी हो जाती है ।

सम्प्राप्ति—इस गुल्मका स्वरूप मुद्रिकाके सदृश (Annular), अन्न की चारों ओर पाशवत्, टेढामेढा और ग्रन्थियुक्त (Nodular) भी होता है । इसपर व्रण सत्वर होता है । अन्न बन्धनियों (Mesenteries) और लसीका ग्रन्थियों द्वारा इस रोगका इतर यन्त्रपर स्थानान्तर (Metastasis) सहज हो जाता है । कभी-कभी इस कर्कसफोट द्वारा समस्त उदर्याकला प्रभावित हो जाती है । एव यह व्याधि प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृतमें कर्कसफोटकी उत्पत्ति भी करा देती है ।

सामान्य लक्षण—मलावरोध, वमन, अपचन, पाण्डुता और कृशता आदि सामान्य लक्षण प्रतीत हैं । स्थानिक मन्द वेदना सतत बनी रहती है, और बीच-बीचमे तीव्र शूल सदृश वेदना उत्पन्न होती

रहती है । मलविसर्जन कालमें भी वेदना तीव्र हो जाती है । मलावरोध का त्रास अधिक होता है । कभी कभी मलावरोध को हटानेके लिये अतिसार भी हो जाता है । जब अन्त्रावरोध पूर्ण हो जाता है, तब मल-मिश्रित छर्दि होने लगती है ।

प्रौढावस्थामें उदर या गुदनलिकाके भीतर गाँठ प्रतीत होने, रक्त मिश्रित मल निकलने, विशेषतः मलावरोध और बीच-बीचमें रक्ततिसार होनेपर इस रोग का अनुमान किया जाता है ।

गुदनलिकाके कर्कस्फोटके लक्षण—मलावरोध, मलविसर्जन-कालमें कष्ट होना, थोड़ा-थोड़ा मल उतरना, मलमें श्लेष्मा, रक्त और पूय निकलना, दिन-प्रति-दिन पीड़ा बढ़ती जाना, आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । क्वचित् कर्कस्फोटसे मार्गावरोध हो जानेपर पूर्णबद्धगुदोदर की प्राप्ति हो जाती है । उस समय अन्त्र की पुरःसरण क्रिया की स्पष्ट प्रतीति (Visible Peristalsis) होती है ।

प्रतिदिन रक्त और पूय निकलते रहनेपर गुदा द्वारमें अंगुलि डाल कर परीक्षा करनेपर गुदनलिकामें एक कठिन, टेढ़ामेढ़ा, ग्रन्थि युक्त अर्बुद जाना जाता है । एवं इस अर्बुद का दबाव कुकुन्दरास्थि अर्थात् श्रोणिफलकके निम्न पश्चिम भाग (Ischium) प्रदेशसे पैरोमें गमन करने वाली वातवहा नाड़ियोंपर पड़नेपर गृध्रसी (Sciatica) रोग की प्राप्ति हो जाती है ।

यह अर्बुद कभी-कभी बस्तिस्थानपर आक्रमण कर देता है ; जिससे बस्ति गुदनलिकासे संलग्न हो जाती है । फिर मलमें रहे हुए कीटाणु मूत्रस्त्रोत द्वारा ऊपर चढ़कर वृक्कप्रहाह उत्पन्न करा देते हैं ; ऐसा होनेपर रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

अनेक बार उपदंश रोगसे भी गुदनलिकामार्गका संकोच हो जाता है । ऐसे समयपर कर्कस्फोटसे उपदंश को पृथक् करनेके लिये पूर्व इतिहास सहायक होता है । इसके अलावा डाक्टरीमें वासस्मेन परीक्षा (Wassermann's Reaction) से निर्णय हो जाता है ।

उपदश पीडित रोगीके रक्तजल (Serum) को अन्य उपदश रोगीके यकृद्द्रसके साथ मिलाया जाय, तो कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं होती। परन्तु रोगी यदि उपदश पीडित नहीं है; तो विरोधी पदार्थ निर्माण होता है; जिससे विलय क्रिया (Haemolysis) स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इस क्रिया द्वारा उपदशरोगविनिर्णय सहज हो जाता है।

बृहदन्त्रके कर्कस्फोटके लक्षण—बृहदन्त्रके भीतर कर्कस्फोट होने पर अनेक रोगियोंके लिये सत्वर निर्णय नहीं हो सकता। पाण्डुता, कृशता, मलावरोध आध्मान, उदरमें वायुकी गुड़गुड़ाहट और सामान्य उदरशूल आदि लक्षण भासते हैं। रोग बढ़ने पर मलके साथ श्लेष्मा और रक्त जाने लगता है, एव यकृत् आदि इतर स्थानोंमें गौण कर्कस्फोटकी उत्पत्ति हो जाती है।

बाह्य परीक्षा करने पर ४० प्रतिशत रोगियोंके उदरमें गाँठ प्रतीत होती है। वह कठिन, कुछ चल और छोटी-छोटी ग्रन्थियों वाली होती है। दबानेसे वेदना होती है।

लघु अन्त्रके कर्कस्फोटके लक्षण—इस व्याधिके लक्षण त्रिलकुल अस्पष्ट होते हैं। उदरमें केवल चल अर्बुद भासता है। उस पर दबाने से पीड़ा होती है।

उपद्रव—वस्तिसे गुदनलिका सलग्न होने पर नाड़ीव्रण (Fistula) हो जाता है, या मल और अपान वायुका मूत्रनलिकामें प्रवेश होकर मूत्राशयप्रदाह और फिर गविनी द्वारा कीटाणु मूत्रपिण्डमें पहुँचने पर वृक्प्रदाह (Nephritis) की उत्पत्ति हो जाती है।

यदि यह व्याधि स्त्री जातिको हुई हो, तो योनिमार्गमें नाड़ीव्रण होता है, और उसमेंसे मल और अपान वायु निकलता रहता है। इस तरह गुदाद्वारके समीप नाड़ीव्रण और विद्रधि हो जाते हैं।

रक्त और लसीका ग्रन्थियों द्वारा रोग यकृत् आदि स्थानोंमें पहुँच कर उन अवयवों पर गौण कर्कस्फोटकी उत्पत्ति करा देता है।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना है। योग्य समय पर

शस्त्रचिकित्सा न हो; तो रोगी अधिकसे अधिक १॥ वर्ष तक जीवित रह सकता है। यद्यपि शस्त्रचिकित्सा कराने पर भी रोगनिवृत्ति होगी ही, ऐसा निर्णय नहीं कर सकते; तथापि आयु कुछ बढ़ जाती है।

यकृत कर्कसफोट—कैन्सर ऑफ़ धी लिवर—Cancer of the Liver—इसका वर्णन कामला रोगमें किया जायगा।

कृमिज रसाबुद ।

कृमिज रसाबुद—हाइडेटिड ट्यूमर—Hydatid Tumour ।

यह व्याधि इतर यन्त्रों की अपेक्षा यकृतमें अधिकतर होती है। यह बहुधा एकाकी होती है; और विशेषतः यकृतके दक्षिण खण्डमें होती है। यह रसाबुद तरलसे भरा हुआ रहता है। ऊपरसे चिकना और दबाने पर लचीला जान पड़ता है। इस व्याधि की उत्पत्ति कुत्ते, बिल्ली, भेड़ आदि पशुओंके अन्त्रमें रहने वाले पृथुब्रध्न जातिके कृमि (Taenia Echinococcus) का मानवदेहमें प्रवेश हो जाने पर होती है। इस कृमि की लम्बाई $\frac{1}{2}$ इंच लगभग होती है। इसका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ८०८ में किया है। यह विकार अपने देशमें बहुत कम होता है।

निदान—कुत्ता मनुष्य शरीर को कहीं चाट लेता है; या कुत्ताका झूठा भोजन खानेमें आ जाता है, तब इस रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति—टीनिया एकिनो काकसके अन्तिम पर्वमें जननेन्द्रिय रहती है। उसमेंसे बड़ी संख्यामें अण्डे (Ova) निकलते रहते हैं। ये सब कुत्तेके मलके साथ बाहर निकलते रहते हैं। वे जल या भोजनके साथ मनुष्योंके आमाशयमें जाने पर उनपर रहे हुए आवरण आमाशय रस की क्रियासे गल जाते हैं; फिर भ्रूण (Larva) विमुक्त होते हैं। इसमें से कोई एक आमाशय और अन्त्र की दीवारोंका भेदन करके प्रतिहारिणी शिरा (Portal vein) के रक्तप्रवाह द्वारा यकृतमें पहुँच जाता है; और किसी सूक्ष्म केशवाहिनीमें रुक जाता है। पश्चात् यकृतके तन्तु के आधारसे गमन करता है। उस समय इस भ्रूणके शिर पर रहे हुए

काटे (Hooks) सध गल जाते हैं ; और वह स्थान क्रमशः एक रसौली (Cyst) में परिवर्तित हो जाता है । फिर वह क्रमशः बढ़ता जाता है, और वह स्वच्छ तरलपूर्ण बन जाता है । यह कोष श्लैष्मिक कलाके आवरणके अतिरिक्त इतर एक रक्तप्रणालीमय संयोजकतन्तुके स्वतन्त्र परिवेष्टक आवरण द्वारा आवृत होता है । यह जितना जितना बढ़ता जाता है; उतना उतना इसका आवरण भी बढ़ता जाता है । इस आद्य अर्बुदके भीतर इतर क्षुद्रतर रसौली उत्पन्न होती है । वह प्रारम्भमें वृन्त (Root) द्वारा संयुक्त रहती है, फिर वियुक्त हो जाती है । एव इसके भीतर पुनः क्षुद्रतम कोषों की उत्पत्ति हो जाती है । फलतः मुख्य-कोष बहुसंख्यक विभिन्न आकारके कोषों द्वारा परिपूर्ण हो जाता है ।

यदि आद्य अर्बुदमें उत्पन्न इतर अर्बुदका वृन्त पृथक् न हो जाय, सलग्न ही रहे, और उसका शिर चूषक इन्द्रिया युक्त रहे; तो यह अन्त्र के मध्यमें प्रवेश करके अनेक सतति (Dog Taenia) उत्पन्न कर सकते हैं ।

इस रसौलीमें स्वच्छ द्रव रहता है । इसका आपेक्षिक गुरुत्व १.००६ हैं । इसमें एल्ब्युमिन प्रतीत नहीं होता । क्षार (Carbonate and Chloride of Sodium) तथा क्वचित् शर्करा की प्राप्ति होती है । इस रस को बाहर निकाल परीक्षा करने पर उसमेंसे कृमि एकिनोकोक्स मिलते हैं ।

लक्षण—यह अर्बुद धीरे-धीरे फुफ्फुसावरण की ओर या नीचे बढ़ता जाता है । इसकी वृद्धि अनियमित रूप और असम होती है । यदि इसमें पूर्योत्पत्ति न हुई, तो इतर अर्बुदके सदृश बृहदाकार होनेपर भी किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती । यह फूट जाय तब तक प्रायः कुछ भी लक्षण प्रकाशित नहीं होते ।

कभी-कभी इस अर्बुद द्वारा कौड़ी प्रदेश (Epigastric) में गोलाकार ग्रन्थि उत्पन्न होती है । क्वचित् यह दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेशमें पशुका और पशुकामध्य प्रदेश, सबको दूर हटाकर बढ़ता

है । कभी यह रसौली उठी हुई पशुका (Costal Arch) के नीचे होती है । एवं किसी-किसी स्थानपर यह यकृतके दक्षिण खण्डके ऊर्ध्व प्रदेशमें रहकर बढ़ती है । तथा फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण को ऊर्ध्व धकेल देती है ।

यदि यह द्रवमय कोष यकृतके बाह्य प्रदेशमें स्थित है, तो चिकना, गोलाकार और कठिन शोथ द्वारा दर्शनसे तथा ठेपन करने पर तरंग उत्पत्ति से रोग विनिर्णय हो जाता है । यदि यह कोष बृहदाकार का हो जाता है; तो यकृत पर बोझा-सा लगता है; एवं कभी कभी वेदना भी होती है । यह अर्बुद बड़ा होनेपर सामान्यतः उदरमें भारीपन मालूम पड़ता है । आमाशय दबनेपर उबाक आती रहती है; और अपचन रहता है । यदि ऊपर की ओर बढ़नेसे फुफ्फुस दबता है; तो श्वास लेनेमें कष्ट होता है । इस तरह जिस यंत्र पर दबाव आवे, उस यन्त्रपर भार चिन्ह (Pressure Symptoms) प्रकाशित होते हैं । प्रतिहारिणी शिरापर दबाव पड़नेपर जलोदर और अधरा महाशिरापर दबाव पड़नेपर शोथ हो जाता है । बहुधा अधरा महाशिरा पर दबाव नहीं आता ।

यदि इसमें रहा हुआ द्रव नष्ट हो जाता है; तो कोष का आकार भी कम हो जाता है । कोषका आवरण (Capsule) स्थूल, कुञ्चित, और चूर्ण सदृश पदार्थमें रूपान्तरित हो जाता है । और द्रवांश शुष्क-पिण्डाकार होकर रोग स्वतः निवृत्त हो जाता है ।

यदि अर्बुदमें प्योत्पत्ति हो जाती है, तो १०० से १०५ डिग्री तक ज्वर, कम्प, शीत, अति प्रस्वेद आना, शीर्णता, मृदु प्रलाप, क्वचित् संन्यास (Coma) और कामला आदि लक्षण युक्त पूयज ज्वर (Pyaemia) उपस्थित होता है । अर्बुदका स्थान उष्ण रक्तमय उस स्थानमें पूय बने तब तक शूल चुभोने सदृश वेदना होना तथा पीड़नाक्षमता (दबानेपर अधिक पीड़ा होना) युक्त भासता है । रक्त-परीक्षा करनेपर रक्तमें श्वेत जीवाणुओंमेंसे वर्णच्छुआ (इओसिनोफिल सेल्स Eosinophil cells) की वृद्धि हो जाती है ।

रोग निर्णायक विशेष लक्षण—(१) मेदमय यकृत, मोमवत् यकृत और यकृतके वेदना विहीन रोगोमे यकृतके चारों ओर सामान्य वृद्धि होती है किन्तु कृमिज रसाबुद की वृद्धि बिना वेदना, एक ही दिशामें—ऊर्ध्व, अधो या पार्श्व-भाग की ओर होती है ।

(२) रसाबुद की अधिक वृद्धि होनेपर समीपस्थ यन्त्र, फुफ्फुस, हृदय, निम्न पशुका आदिमेंसे जो हो, उसे वह दूर हटा देता है ।

(३) ठेपन परीक्षा करनेपर द्रवमय तरंग (Fluctuation) की अनुभूति होती है । एव रसाबुद बड़ा होनेपर ठेपनसह ध्वनिवाहक यन्त्रमे सुननेपर विशेष प्रकार की ध्वनि (Hydatid Resonance) सुनी जाती है ।

(४) श्वासोच्छ्वाससे यकृतके साथ रसाबुदका संचालन भासता है ।

उपद्रव—कचित् यह कृमिज कोष फूट जाने पर द्रव बाहर या समीपस्थ यन्त्रोमें प्रवेश कर जाता है । यदि द्रव उदर्याकलामे चला जाता है, तो सत्वर घातक उदर्याकला प्रदाहकी उत्पत्ति करा देता है । यदि यह द्रव हृदयावरण (Peri-Cardium) अथवा महाशिरा (Vena Cava) में प्रवेश कर जाता है; तो थोड़े ही समयमे रोगीकी मृत्यु हो जाती है । यदि यह द्रव पित्तनलिकामे प्रवेश कर जाता है, तो घातक कामलाकी उत्पत्ति होकर फिर मृत्यु हो जाती है । कचित् यह द्रव आमाशय, बृहददन्त्र, फुफ्फुसावरण या श्वासनलिकाओं (ब्रोकाई—Bronchi) में प्रवेश कर जाता है । श्वासनलिकामें द्रवका प्रवेश होनेपर कभी कभी श्वासावरण होकर मृत्यु हो जाती है, और कभी-कभी रोगी बच भी जाता है । ये सब प्रकारके उपद्रव मारक माने गये हैं । अबुद किसी भी स्थान पर फूटने पर मानसिक आघातके लक्षण प्रतीत होते हैं, और रोगीके जीवनको सदेहमें डाल देते हैं ।

साध्यासाध्यता—इस अबुदका कृमि जीवनीय शक्तिके बलसे मर जाता है, तो रोगी अच्छा हो जाता है । अन्यथा रोग बढ़कर फुफ्फुस,

फुफ्फुसावरण, आमाशय, अन्त्र या अन्त्रावरणमें फूटता है; फिर विषप्रयोग सहश बल-क्षय और वमन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । उदर्याकला या फुफ्फुसावरणमें अर्बुद फूटने पर प्रदाह होकर मृत्यु हो जाती है ।

पूयभवन होता है; तो फूटने पर यकृद्विद्रधि सहश फुफ्फुस, आमाशय आदि समीपके स्थानको दूषित कर देता है; और रोग यकृद्विद्रधि सहश कष्टसाध्य बन जाता है ।

गर्भाशयस्थ गुल्म ।

गर्भाशयस्थ गुल्म—यूटेराइन फाइब्रस ट्यूमर्स—Uterine Fibrous Tumours ।

इतर स्थानोके समान गर्भाशयमें भी गुल्मकी उत्पत्ति हो जाती है । बहुधा यह सौत्रिक तन्तुमय होता है । इस गुल्ममें तीन प्रकार हैं ।

१—गर्भाशयकी मांसपेशियोंकी दीवारके भीतर संलग्न गुल्म ।

२—गर्भाशयकी मांसपेशियोंके भीतर गर्भके समान पृथक् गुल्म । इसके ऊपर संयोजनीवृत्तिका आच्छादन रहता है; यह सौत्रिक तन्तु (Fibro-Cartilaginous) मेंसे बन कर क्रमशः बढ़ता है ।

३—गर्भाशयके बाहर या भीतर क्षुद्र-क्षुद्र डण्ठल (Pedicle) युक्त गुल्मकी उत्पत्ति होती है । इसमें सौत्रिक तन्तुज गुल्मके लक्षण अति प्रबल रूपसे बढ़ते रहते हैं ।

प्रथम और द्वितीय प्रकारके गुल्म लक्षण—पहले और दूसरे प्रकारके गुल्म बहुत बड़े हो जाते हैं, और गर्भाशयके बाहर निकल आते हैं । दोनोंकी सब प्रकारसे वृद्धि स्वाभाविक होती है । कभी-कभी इन गुल्मों का वजन २५ सेर तक हो जाता है । ये श्वेत वर्णके सौत्रिक तन्तु या अस्थिमय सौत्रिकतन्तुके मूलभूत पदार्थसे उत्पन्न होते हैं । इनमें रक्तसंचालन अति स्वल्प मात्रामें होता है । जिस गुल्मके भीतर अस्थि उत्पादक पदार्थ (Cartilaginous) हो, उसमें अस्थिकी उत्पत्ति हो जाती है । वह दृढ़ बन जाता है; और श्वेत धूसर वर्णका भासता है ।

उसे काटने पर बीचमें चक्रवत् सरिलिष्ट या पृथक् श्वेत सौत्रिक तन्तुओं की बन्धनी प्रतीत होती है । द्वितीय प्रकारके गुल्मके ऊपर पृथक्-पृथक् श्याम आवरण (Areola) आच्छादित होते हैं ।

गर्भाशयमें एक गुल्म या अधिककी उत्पत्ति होती है । यह गुल्म उदर्याकलाके गह्वर में प्रवेश करनेके लिये तत्पर होने पर उदर्याकला द्वारा आच्छादित होता है, और गर्भाशयके गह्वरमें गमनोन्मुख होने पर श्लैष्मिक कला द्वारा आवृत होता है । कभी-कभी इस गुल्मके भीतर रसौली (Cyst) या इतर अप्राकृत पदार्थपूर्ण विद्रुधिका निर्माण हो जाता है ।

इन दोनों प्रकारके गुल्मके लक्षण लगभग समान ही होते हैं । प्राथमिक अवस्थामें इनके सब लक्षण गुप्त रहते हैं । जब गुल्म बढ़ता है, तब रोगिणी सगर्भा है, ऐसा भासता है । क्वचित् जलोदर तो नहीं हुआ, ऐसी शका भी हो जाती है । मूत्राशय या मलाशय पर दबाव पड़नेसे बार-बार मूत्र त्याग या मलविसर्जनकी इच्छा उत्पन्न होती रहती है । एव मल-मूत्र त्यागमें कष्ट भी होता है । कभी-कभी मासिक धर्ममें रजो-निःसरण क्रियामें विलक्षणता भासती है । मासिकधर्म अनियमित आता है; और आनेमें अत्यधिक परिमाणमें आता है । कभी-कभी मासिक धर्मके समय कष्ट भी होता है ।

गर्भाशयके मुख और ग्रीवाको स्पर्श करने पर स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं; परन्तु गर्भाशयकी ग्रीवाके ऊपर चारों ओर कठिन, गोलाकार तथा बस्तिदेशको दबानेवाले गुल्मका अनुभव होता है । दूसरे हाथसे परीक्षा करने पर पीठकी ओर बृहद्, कठिन ग्रन्थियुक्त पिण्ड अनुभूत होता है, तथा योनिमार्गमें अँगुलीसे जिस ओर दबाओ, उस ओर गुल्म झुकता है । गर्भाशय-परीक्षण-शलाका (Sound) कभी एक ओर कभी दूसरी ओर बहुत दूर तक जाती रहती है । इस पर से विदित होता

शयगह्वरकी अति वृद्धि हो गई है । समीपस्थ उदर गुहाके यन्त्र रक्तव हिनी पर दबाव न आने तक स्वास्थ्यमें विलक्षणता नहीं होती ।

तृतीय प्रकारके गुल्म लक्षण—तीसरे प्रकारके गर्भाशयमें संलग्न वृन्तविशिष्ट (Pediculate) गुल्ममें सौत्रिक तन्तुसे उत्पन्न गुल्मके लक्षण अत्यधिक प्रबलरूपसे प्रतीत होते हैं । प्रारम्भमें मासिक धर्म बहुत देरसे आता है; और रजःस्राव अत्यन्त होता है । फिर श्वेत प्रदर उपस्थित होता है । पश्चात् श्वेत प्रदर और रक्तस्रावका परिमाण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है; जिससे रोगिणीके जीवनकी रक्षा होनेमें भी संशय होने लगता है ।

मासिक धर्म अनियमित हो जाता है । बार-बार अत्यधिक रक्तस-मिश्रित क्लेद अत्यधिक मात्रामें निकलता रहता है । उस समय रोगिणी को योनिमार्गसे कुछ निकल रहा है, ऐसा भासता है । परीक्षा करने पर विदित होता है कि, गर्भाशय विस्तृत होकर झुक गया है । एवं योनि-मार्गमें अँगुली या गर्भाशयमें परीक्षणनलिका डालकर परीक्षा करने पर गर्भाशयमें कठिन गुल्मकी प्रतीति होती है । फिर गर्भ तुम्बी (Fundus uterine) में व्यतिक्रम होने पर गर्भाशय गहरका हास हो जाता है ।

सूचना—गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) की रक्त प्रणालियोंका संकोच होने पर गुल्मके निर्णयार्थ छिद्र विस्तारक यन्त्र अर्थात् शंकु आकारकी मोम लगी हुई शलाका (Sponge-tent) को प्रवेश करा ग्रीवा प्रसा-रित करके परीक्षा करनी चाहिये ।

बीजकोषस्थ अर्बुद ।

**बीजकोषस्थ अर्बुद—ओवेरियन ट्यूमर्स—Ovarian Tu-
mours.**

निदान—बीजाशयमें रक्ताधिक्य, प्रदाह और मासिक धर्मके नियमों का योग्य पालन न होना आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । एवं रक्तकी निर्बलता, शोथवृद्धि और वान्तिमें आघात आदि कारणोंसे भी इस व्याधिकी प्राप्ति हो जाती है ।

बीजकोषस्थ अर्बुदोंमें मुख्य रसार्बुद और कठिन अर्बुद, ऐसे दो भेद हैं । इनमें कठिन अर्बुद की उत्पत्ति रसार्बुदों से ही होती है । रसार्बुद (Cyst) की वृद्धि होने पर वह कठिन अर्बुद (Tumour) बन जाता है । इन अर्बुदोंमें चिकित्सा दृष्टिसे सौम्य (Benign or Innocent) और घातक (Malignant), ऐसे दो विभाग हो जाते हैं । इनमें से सौम्य अर्बुद अधिकतर प्रतीत होते हैं । और सौभाग्यवशतः घातक अर्बुद बहुत कम होते हैं ।

रसार्बुदोंमें विविध प्रकारके पदार्थ देखनेमें आते हैं । परन्तु सबमें जलका परिमाण विशेष होता है । इतर पदार्थ अति कम होते हैं । इन रसार्बुदोंमें विशेषतः एक कोषज (Unilocular Cyst) और अनेक कोषज (Multilocular Cyst), ऐसे दो विभाग प्रतीत होते हैं । अनेक कोषज रसार्बुदकी आकृति अंगूरके गुच्छेके सदृश भासती है ।

बीजाशयस्थ अर्बुदोंमें साधारणतः निम्न ४ प्रकार प्रतीत होते हैं ।

१—सामान्य द्रवमय रसार्बुद—Cystic Tumour ।

२—द्रवाद्रव पदार्थमय अर्बुद—Compound Tumour ।

३—पिच्छिल पदार्थमय अर्बुद—Alveolar or Colloid Tumour ।

४—चर्मविशिष्ट रसार्बुद—Dermoid Cyst ।

(१) सामान्य द्रवमय रसार्बुद—द्रवमय रसौली होने पर बीज-कोषका विस्तार हो जाता है । फिर वह कठिन और मोटी दीवार-विशिष्ट थैली बन जाती है । उसमें १०-२० सेरो तक तरल पदार्थ सग्रहित हो जाता है । यह तरल पदार्थ शुद्ध, गाढ़ा, धूसर वर्णका होता है । रक्त रसको तपाने पर वैसा बन जाता है ।

(२) द्रवाद्रव पदार्थमय अर्बुद—द्वितीय प्रकारके मिश्रित पदार्थमय थैली बन जाने पर मध्य भाग कठिन होता है । इसके तरलके परिमाणका निश्चय नहीं होता । कभी द्रवमय थैली अति बड़ी और सूक्ष्म-विभाग द्वारा विभक्त बनती है । कभी जुद्ध या दृढ़ सौत्रिक तन्तु या

संयोजक तन्तुकी अति वृद्धि होकर उससे स्थली वेष्टित होजाती है । यदि इनसे पृथक् प्रकार होजाता है ; तो वह रसाबुर्दसह मांसाबुर्द अर्थात् सिस्टो सार्कोमा (Cysto-Sarcoma) कहलाता है ।

यदि सौत्रिक तन्तुमय मांसाबुर्द (Fibro-Sarcoma) बन कर श्लेष्म प्राधान्य अपक्रान्ति हो जाय ; तो उसे डाक्टरीमें क्रुकेनबर्ग्स ट्यूमर (Krukenberg's Tumour) कहते हैं ।

(३) पिच्छिल पदार्थमय अबुर्द—यह अबुर्द बीज कोषमें असंख्य छुद्र-छुद्र कोषों द्वारा निर्मित होता है । इन कोषोंका विस्तार एक-एक इञ्चसे अधिक नहीं होता ; एवं इनमें गोंद सदृश गाढ़ा पदार्थ भरा रहता है ।

(४) चर्मविशिष्ट रसाबुर्द—इस अबुर्दकी सम्प्राप्ति होने पर इसके भीतर गर्भमें उपयोगी दाँत, केश, कुर्चास्थि (Tarsal Bones) और त्वचा आदि द्रव्योंका निर्माण होजाता है ।

इनके अतिरिक्त रेषा रहित स्नायुमें उत्पन्न मांसाबुर्द (Leiomyoma) और ग्रन्थिरूप अबुर्द (Adenoma) आदि अनेक प्रकार प्रतीत होते हैं ।

रेषा रहित मांसाबुर्द विशेषतः रेखा रहित मांसतन्तु (Nonstraited muscle Fibers) और कुछ वैधानिक तन्तु (Connective tissue) में से बनता है । कभी-कभी यह वृन्त विशिष्ट (Pedunculated) भी बन जाता है । कभी-कभी सौत्रिक तन्तुकी अधिकता होजाती है; तब यह फाइब्रो-मायोमा (Fibro-myoma) कहलाता है । इस अबुर्दकी उत्पत्ति २५ से ४५ वर्ष की आयुवाली स्त्रियोंको होती है । कभी-कभी इस अबुर्दके हेतुसे सातिशय रक्तस्राव हो जाता है । यह बढ़ने पर विविध यन्त्रों पर दबाव पड़ता है; जिससे विविध लक्षण उपस्थित होते हैं ।

ग्रन्थि रूप अबुर्द विशेषतः स्रावयुक्त (Secreting) ग्रन्थियों पर होता है । इस अबुर्द की उत्पत्ति होने पर ग्रन्थिस्राव करनेमें असमर्थ

हो जाती है । ग्रन्थिकी स्वस्थनलिका और आक्रान्तनलिकाएँ मिश्रित नहीं होती । इस अबु'दमे मिश्रित ग्रन्थियों के क्षुद्रकोष समूह (एसिनाई—Acini) कितनेक अंशमें वैधानिक तन्तुओंसे सम्बन्ध वाला रहता है और उनके भीतर बेलनाकार (Cylindrical) रसत्वचाका आवरण आजाता है । फिर यह कठिन बन जाता है , और इसके ऊपर मासमय आवरण आजाता है । यह शनैः-शनैः बढता जाता है । यह अबु'द सोम्य होनेसे समीपस्थ ग्रन्थियोंको आक्रान्त नहीं करता । एव इस अबु'दको निकाल देने पर फिरसे इसकी उत्पत्ति नहीं होती । इस अबु'दकी उत्पत्ति होनेपर मासिक धर्मके समय अतिशय कष्ट पहुँचता है ।

इनमें से ग्रन्थि रूप अबु'दमे सौत्रिक तन्तुकी अधिकता होने पर उसे डाक्टरीमे फाइब्रो-एडिनोमा (Fibro-Adenoma), श्लेष्म सचय होने पर मिक्स एडिनोमा (Myx-Adenoma), रस सचय होने पर सिस्टो-एडिनोमा (Cysto-Adenoma) और अकुरमय होने पर पपिलो-एडिनोमा (Papillo-Adenoma) आदि सज्ञा दी है । कभी-कभी इस अबु'दका परिवर्तन कर्कसोट रूपसे हो जाता है ।

बीजाकोषस्थ अबु'द लक्षण—प्रथमावस्थामें लक्षण गुप्त रहते हैं । मासिक धर्म आता रहता है; और रजःस्राव नियमित होता रहता है । केवल ३० प्रतिशत रोगिणियोंके उदर में वेदना होती है । केवल १० प्रतिशत को कुछ मूत्रावरोध होता है । ३० प्रतिशतको अबु'द (गुल्म) का प्रकाशन होता है । सामान्य रूपसे यह अबु'द एक ओर रहता है । अबु'द की वृद्धि होनेपर समीपस्थ मूत्राशय, लघु अन्न आदि सब यन्त्रों पर दबाव आता है, जिससे विविध रोगोंके लक्षण उत्पन्न होते हैं । मल-मूत्रत्यागमें कष्ट होता है; तथा पैर भी शोथयुक्त, पराधीन और पीड़ित हो जाते हैं ।

यदि वातवाहिनियोंपर दबाव पड़ता है, तो शूल सदृश वेदना उत्पन्न हो जाती है । यदि वाम बीजाधार विकारग्रस्त होता है, तो मलके निर्गमनमें व्याघात होता है । पहले मासिक धर्ममें विशेष अन्तर नहीं होता । फिर मासिक धर्म का अवरोध हो जाता है ।

इस विकारमें स्तन फूलते हैं । मुखमण्डल और त्वचाके वर्णोंमें परिवर्तन हो जाता है; तथा वमन आदि गर्भके लक्षण प्रकाशित होते हैं । संक्षेपमें गर्भधारण और गर्भविधानमें जो स्वाभाविक परिवर्तन लक्षित होते हैं, वे सब इस व्याधिमें प्रतीत होते हैं । स्त्रियोंके बीजकोष जितने परिमाणमें द्रवमय अर्बुद रूप अपक्रान्तिके वशवर्त्ती हैं, उतने परिमाणमें इतर कोई अवयव नहीं है ।

जितनी-जितनी अर्बुदके देह की वृद्धि होती जाती है; उतनी-उतनी उदर की भी वृद्धि होती जाती है । जब अर्बुद की अधिक वृद्धि होती है; तब उदरपूर्ण हो जाता है । फिर श्वासकष्ट, वमन आदि उपद्रव लड़े हो जाते हैं । कभी गर्भाशय का सौत्रिकतन्तुज अर्बुद होनेका या मूत्राशयमें रसार्बुद होने का संशय हो जाता है । यदि यह अर्बुद मृदु और आध्मान युक्त हों, तो जलोदर होजानेका सन्देह होता है ।

बीजकोषस्थ जलोदर ।

बीजकोषस्थ जलोदर—ओवेरियन ड्रॉप्सि-Ovarian Dropsy इस जलोदरमें एक कोषमय रसार्बुद (Monocystic) और अनेक कोषमय रसार्बुद (Polycystic), ऐसे दो प्रकार हैं । इन दोनों प्रकारोंमें रस संचय हो जाता है । इनमेंसे एक कोषयुक्त जलोदरमें एक ओर छिद्र करके जल निकाल लेनेपर दूसरी ओर अवनति स्पष्ट प्रतीत हो जाती है । परन्तु अनेक कोषों वाले जलोदरमें इस तरह अवनति नहीं हो सकती । एक कोषमें छिद्र होनेपर इतर अनेक कोष जैसेके वैसे बन्द रह जाते हैं ।

अनेक बीजपुटकों (Graafian follicles) में जल संग्रहित हो जानेसे बीजाधारकी आकृति अंगूरके गुच्छ (Bunch) सदृश भासती है; उस विकारको डाक्टरीमें रोकितेन्स्काइज़ ट्यूमर (Rokitansky's Tumour) संज्ञा दी है ।

दोनों प्रकारके जलोदरों पर ठेपन करनेसे जड़ध्वनि निकलती है,

और पार्श्वभागमें जहाँ वायु रहती है; वहाँ पर रिक्त ध्वनि उत्पन्न होती है ।

रोगिणीके चित्त सोने पर उदरपार्श्व बढ़ा हुआ नहीं जाना जाता । अर्बुदकी ऊर्ध्व प्रदेशमें वृद्धि होने पर उस ओर की सब पशुकाओंका आकार विकृत हो जाता है, एव पशुकाकी किनारी पर अर्बुदके भीतर अगुलीसे स्पर्श करने पर अर्बुदकी सीमाका अनुभव हो जाता है ।

रोग विनिर्णय—गर्भाशयके गर्भ और इस बीजकोषस्थ अर्बुदमें यह प्रमेद है कि, ध्वनिवाहकयन्त्रसे सुनने पर गर्भमें से रक्ताभिसरण क्रिया जन्य ध्वनि प्रतीत होती है, यह आवाज बीजकोषस्थ अर्बुदमें से नहीं आती । एव गर्भका संचालन जैसा होता है, वैसा अर्बुदका नहीं होता । गर्भाशय-मुख और गर्भाशय-ग्रीवा मूल स्थितिमें रह जाते हैं । इनका कुछ भी परिवर्तन नहीं होता । इस तरह गर्भाशयके गुहाके अवयवकी भी वृद्धि नहीं होती ।

रोगके इतिहास परसे जलोदर (उदर्याकलामे जल सचय) से इस रोगका सहज प्रमेद हो जाता है । फिर भी सदेह होने पर निम्न कोष्ठक के प्रमेद लक्षणों परसे सहज निर्णय हो जाता है ।

उदरमें जलोदर

रोगिणीके बैठने और लेटनेकी अवस्था-भेदसे उदर और पार्श्व-प्रदेश बढ़ा हुआ भासता है ।

दोनों ओर जलसंग्रह भासता है । तरल पदार्थ निरुलनेसे पशुकाएँ ऊँची नहीं उठती ।

ऊर्ध्वभागमें ठेपन करने पर वृद्धि निम्नगामी होती है । बस्ति-प्रदेश और गर्भाशय पर दबाव आजाता है ।

बीजाधारमें जलोदर

बैठने या लेटने पर उदर या पार्श्व-प्रदेशमें अन्तर नहीं पड़ता ।

जल सचय एक पार्श्वमें होता है । पशुकाएँ ऊपर उठ जाती हैं ।

बीजाधारकी वृद्धि ऊर्ध्वप्रदेश की ओर होती है, तथा गर्भाशय किञ्चित् ऊर्ध्व दिशामें आकृष्ट हो जाता है ।

यकृत ग्रन्थिमय (Nodular) यकृतमें परिवर्तन नहीं होता ।
होकर बढ़ जाता है ।

अनेक बार मूत्राशय विस्तार हो जाने पर बीजकोषस्थ जलोदर होने का भ्रम हो जाता है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

सब प्रकारके गुल्मोंकी चिकित्साके प्रारम्भमें वायुको ही जीतना चाहिये । कारण वात शमन होने पर इतर दोष सरलतासे दूर होजाते हैं ।

लघु अन्न, दीपन, स्निग्ध, उष्ण और वायुको अनुलोमन करानेवाले पौष्टिक पदार्थ सब प्रकारके गुल्म रोगमें हितकारक हैं । उदर रोगमें कहे हुए घृत, लवण, वर्त्ति क्रिया आदिका उपयोग इस गुल्म रोगमें भी किया जाता है ।

नाभिसे ऊर्ध्व (आमाशयस्थ) गुल्मोंमें स्नेहपान कराना, पकाशयगत गुल्ममें बस्ति देना तथा जठराश्रित गुल्ममें स्नेहपान और बस्ति कराना, ये लाभदायक हैं ।

स्नेहन और स्वेदन गुल्म रोगमें अधिक हितकर हैं । कारण, स्वेदनसे स्रोतों की शुद्धि होती है; प्रकुपित वायु शान्त होकर अनुलोम होती है; और मलका विबंध दूर होकर गुल्म नष्ट होता है ।

कुम्भी स्वेद (घड़ा, बोतल या रबर की थैलीमें काथ भरके स्वेद देना), पिण्ड स्वेद (तिलमिश्रित भातको कपड़ेमें बाँधकर सेकना; या उबाले हुए उड़द आदि अन्न या तिल की पिण्डों बाँधकर स्वेद देना), इष्टिकास्वेद (ईंटोंको गरम कर एरंड मूल या इतर वातनाशक काथोंके छींटे देकर या काथोंमें डुबोकर सेक करना), या शाल्वणादि गणकी ओषधियोंसे उपनाह सेक करना, ये सब हितकारक हैं । सेक करनेसे शूल सह गुल्म नष्ट होजाता है ।

वातहर ओषधियों को कांजी, मट्ठा आदि अम्लरस, दूध या मांस रसके साथ पीसैं । फिर उसके साथ घी, नमक, ग्राम्य पशुओंका मांस, जीवनीय गण की ओषधि, दही, कांजी, दूध और वीरतर्वादिगण की ओषधियाँ मिला गरम कर आध घण्टे तक सहता-सहता सेक करे । पश्चात् लेप कर वस्त्रसे बाँध दें । अथवा कुलथी, उड़द, गेहूँ, अलसी, तिल, सरसो, सौफ, देवदारु, निर्गुण्डीके पत्ते, कलौजी, जीरा, एरंडमूल, रास्नामूल, मूली, सुहिजने की छाल, अजमोद, पीपल, वनतुलसी, नमक, खट्टे बेर, प्रसारणी, असगन्ध, खरैटी, दशमूल, गिलोय और कौचके बीज, इनमेंसे जो-जो वस्तुएं मिल जायें, उनको मिला, पीस आँटा वस्त्र पर फैला कर सहता-सहता बाँध दें; या फिर ऊपर भी स्वेद देवें । यह सम्पूर्ण वात व्याधियोंके शमनके लिये हितकर है ।

गेहूँका आटा या अलसी आदि की निवायी पुलिटस बाँधनेको उपनाह सेक कहते हैं । जब गुल्मका पाक होने लगे; तब यह उपनाह सेक किया जाता है ।

गुल्म रोगमें उदर अति दुर्विरेच्य होजाता है; अर्थात् कोठा सख्त होजाता है । इसलिये स्नेहन, स्वेदन आदिके पश्चात् एरंड तैल आदि ओषधियों की अधिक मात्रा देकर विरेचन करावें ।

वातज गुल्म चिकित्सार्थ सूचना—वातज गुल्ममें स्नेहन और स्वेदनके पश्चात् विरेचन (एरंड तैल दूधके साथ) देवें । अलावा निरुहण और अनुवासन वस्ति भी हितावह है ।

वातज गुल्ममें यदि कफ-वृद्धि हो गई है और शारीरिक बल है, तो सम्हालपूर्वक वमन करना हितकारक है । यद्यपि शास्त्राचार्योंने गुल्म रोगमें वमन करानेका निषेध किया है; तथापि अवस्था विशेषमें अपवाद रूपसे वमन कराया जाता है ।

वातज गुल्ममें यदि पित्त प्रकुपित हो जाय; तो विरेचन

देकर दूर करें; और दोषनाशक ओषधियोंसे गुल्मका शमन न होता हो; तो उस स्थानके रक्तको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

पैत्तिक गुल्म चिकित्सार्थ सूचना—पित्तज गुल्ममें काकोल्यादि गणसे सिद्ध घृत, वासा घृत या कुष्ठचिकित्सा-कथित महातिक्तक घृतका पान करा फिर विरेचन देना चाहिये । बिना स्नेहपान विरेचन नहीं कराना चाहिये । विरेचनार्थ निसोतका चूर्ण त्रिफला-काथके साथ दें; या मधुर द्रव्य युक्त जुलाब, या मुनक्का के साथ हरड़ आदिका विरेचन देवें । पश्चात् निरुह और अनुवासन बस्ति करानी चाहिये ।

यदि पित्तज गुल्ममें दाह, शूल, वायुका क्षोभ, निद्रानाश, अरुचि और ज्वर आदि उपद्रव हों; तो पच्यमान अवस्था मान पुल्टिस बाँधकर पकाना चाहिये । फिर पकने पर ब्रणके समान चिकित्सा करनी चाहिये । यदि पित्तज गुल्मसे तीव्र शूल चलता हो; तो शूल-स्थान पर धातु-पात्र रख उसमें बर्फ भरें । १५-२० मिनट तक पात्र रक्खा रहनेसे शूल शमन हो जाता है ।

यदि गुल्म पककर स्वयमेव ऊपर या नीचेसे दोष निकल कर मूल स्थितिको प्राप्त हो जाता है; तो १२ दिन तक इतर उपद्रवोंसे रक्षा करता हुआ उपेक्षा करें । ब्रण-शोधक ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत या कुष्ठचिकित्सामें कहा हुआ पञ्चतिक्तक घृत शहदके साथ मिलाकर पिलावें; या अन्य ओषधि द्वारा उपचार करें ।

कफज गुल्मकी चिकित्सार्थ सूचना—कफज गुल्मके रोगीको स्नेह-पान (पिपल्यादि घृतका पान) स्वेदन, उपनाह, तीक्ष्ण विरेचन, निरुहण बस्ति तथा वात गुल्ममें कही हुई चिकित्सा करें । यदि अग्नि मन्द होनेसे मन्द वेदना, उदर भारी और जकड़ा हुआ, अरुचि और उबाक आदि लक्षण हों (उबाक मुख्य हो); तो वमन

का अधिकारी जानकर वमन कराना चाहिये । यदि रोगी वमन कराने योग्य न हो और जठराग्नि मन्द हो, तो लङ्घन कराना चाहिये ।

वमन या लङ्घन करानेके पश्चात् उष्ण उपचार करना चाहिये, और आहार भी चरपरी और कड़वी ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ देना चाहिये ।

यदि आनाह और विबन्ध सह कफज गुल्म कठिन और ऊँचा उठा हुआ हो, तो युक्तिपूर्वक स्वेदन कराना चाहिये । लङ्घन, वमन और स्वेदन आदि क्रिया करने पर जब अग्नि प्रदीप्त होवे, तब क्षार और चरपरी ओषधि सह घृतपान कराना चाहिये । फिर गुल्म स्थानसे चलित होने पर विरेचन देवें; अथवा दशमूल काथ के साथ स्नेह (एरंड तैल या इतर सिद्धघृत-तैल) मिलाकर बस्ति देवें ।

यदि अग्निमांद्य, वातका अवरोध और आमाशयमें स्निग्धता हो; तो कफ गुल्मके रोगीको क्षारमिश्रित गुटिका, चूर्ण या काथ देना चाहिये । सिद्ध घृतादि द्वारा चिकित्सा न करें । यह उपचार गुल्मपाक होकर अंतर्विद्रधिका स्वरूप धारण करता हो; तब करना चाहिये; अन्यथा यह उपचार न करें ।

यदि कफगुल्मका मूल गहरा हो, अधिक प्रदेशमें फैला हो; कठिन जकड़ा-सा और भारी हो, तो क्षार, अरिष्ट और अग्नि से दागना आदि क्रिया द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

यदि कफ दोषकी प्राधान्यता, श्लैष्मिक प्रकृति, स्थिर गुल्म, हेमन्त या शिशिर ऋतु और सबल देह है; तो क्षारका प्रयोग करना चाहिये । यह प्रयोग सम्हालपूर्वक एक, दो या तीन दिन के अन्तर पर करते रहना चाहिये । शरीर-बलकी रक्षाके लिये भोजन मधुर, स्निग्ध, (मांस, दूध और घृत आदि युक्त) दें । अग्नि मंद हो, मार्ग रुद्ध हो और अरुचि हो; तो शराब या अरिष्टका

प्रयोग करें। इस तरह प्रयोग करते रहनेसे क्षारसे गुल्म नष्ट हो जाता है।

कदाच जङ्घन, वमन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, वस्ति, गुटिका, चूर्ण, क्षार और अरिष्टसे चिकित्सा करने पर गुल्म शमन न हो; तो लोहशलाका को तपाकर गुल्म पर दाग देना चाहिये। किन्तु यह क्रिया शरीर-बलका विचार कर क्षार तन्त्र जानने वालेसे ही करनी चाहिये।

यदि गुल्म रोगमें ऊर्ध्व वात हो; तो गुल्म रोगी को निरुहण-वस्ति नहीं देनी चाहिये।

द्विदोषज गुल्ममें दो दोषोंकी विकृति और त्रिदोषज गुल्ममें तीनों दोषोंकी विकृतिको दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

त्रिदोषजगुल्म चिकित्सार्थ सूचना—आमाशयिक कर्कस्फोट होने पर केवल वेदना उपशम करनेके लिये चिकित्सा की जाती है। हितकर पथ्यभोजन और उपाय आदि द्वारा बलवृद्धि या बलरक्षणके लिये प्रयत्न किया जाता है। इस रोगमें ओषधिका सेवन कम मात्रामें दीर्घकाल पर्यन्त कराना चाहिये। इस रोगपर होमियोपैथिक मतके अनुसार सोमल लाभदायक ओषधि है।

आन्त्रिक कर्कस्फोट होने पर—इतर अवयवोंमें गौण कर्कस्फोट की उत्पत्ति होनेके पहले ही योग्यमार्ग लेना चाहिये। बहुधा ओषधि चिकित्सासे लाभ नहीं होता। हो सके उतना जल्दी शस्त्र चिकित्साका आश्रय लेना चाहिये।

वर्तमानमें कर्कस्फोटोंके लिये रेडियम चिकित्सा (Radium treatment) का प्रारम्भ हुआ है। इससे रोगमें लाभ होता है; ऐसा डाक्टरोंका कहना है। यह चिकित्सा भारत-वर्षमें केवल पटनामें ही होती है।

यकृत पर कृमिज रसाबुद होने पर रोग बढ़नेके पहले ही योग्य चिकित्सा करानी चाहिये। प्रारम्भमें क्षार प्रधान ओषधि

लाभ पहुँचा देती है । रोग बढ़ने पर शस्त्रचिकित्साका आश्रय लेना पड़ता है ।

पक्व गुल्म चिकित्सार्थ सूचना—भगवान् आत्रेय कहते हैं किः—‘तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ’ अर्थात् पक्व गुल्म की चिकित्सा धन्वन्तरितन्त्रके जानने वाले शल्यविदोसे ऑपरेशन द्वारा करानी चाहिये ।

रक्तगुल्म चिकित्सार्थ सूचना—रक्तगुल्मकी चिकित्सा गर्भकाल (६ मास) व्यतीत होजानेके पश्चात् तुरन्त करानी चाहिये । स्नेहन, स्वेदन देकर स्निग्ध विरेचन देना चाहिये । यदि जल्दी रक्तस्राव न हो, तो योनिविरेचक ओषधि देनी चाहिये । नीलोफरका चार या राख, लहशुन, तेजशराब, मछली आदि भोजन तथा गोमूत्र, दूध और चारमिश्रित उत्तरवस्ति देनेसे रक्तस्राव सत्वर होता है । रक्तस्राव होने लगे तब तक गुल्मनाशक ओषधि और आहार देते रहना चाहिये ।

रक्तस्राव प्रवृत्त होजाने पर मांसरससे मिश्रित भातका भोजन, घृत या तैलकी मालिश और शराबपान करावें । रक्तस्राव अधिक होने पर शीतल रक्तपित्तनाशक क्रिया और कड़वी ओषधियोंके तैलकी अनुवासन बस्ति आदि चिकित्सा करनी चाहिये । यदि आनाह, उदावर्त आदि वातप्रकोप हो जाय, तो वातशामक आहार देना चाहिये ।

रक्तगुल्ममे पिप्पल्यादि घृतकी उत्तरवस्ति दें, या उष्ण पदार्थोंसे रक्तगुल्मका भेदन कर योनिद्वारसे रक्तको निकाल प्रदर-चिकित्सा करें ।

रक्तस्राव कराने पर यदि निर्बलता आजाय और शुद्ध रक्त निकलता हो, तो तुरन्त बन्द कर देना चाहिये । कदाच दूषित रक्त निकलने पर निर्बलता आजाय, तो रक्तप्रवाहके वेगको कम करें; और हृदय-पौष्टिक ओषधिका सेवन करावें ।

डाक्टरों मत अनुसार रक्तगुल्म (गर्भाशयकी मांस पेशियों से संलग्न वृन्तरहित गुल्म) होने पर गुल्मको नष्ट करने और वृद्धिका दमन करनेके लिए चारप्राधान्य औषधि देनी चाहिए । पक्वानन रस, दन्त्यादि गुटिका या स्नुहीक्षीर गुटिका आदि औषधिके प्रयोगसे गुल्म नष्ट हो जाता है । यदि लाभ न हो; तो रोगको प्रबल मानकर शस्त्रचिकित्साका आश्रय लेना चाहिए, ३-४ मासमें बिना कष्ट स्नुहीक्षीर गुटिकासे रक्तगुल्म नष्ट हो जानेके उदाहरण मिले हैं ।

वृन्तयुक्त रक्तगुल्म होने पर गर्भाशयमुखको प्रसारित कर चिमटे (Forceps) द्वारा गुल्मको बाहर निकाल, गुल्मकी जड़ में डोरी, या तार (Ligature) को बाँध तारयुक्त आरी एक्सेजर (Excise) द्वारा या काँच द्वारा सम्हालपूर्वक जड़को काट गुल्मको अलग कर देना चाहिए ।

यदि केवल जड़ बाँध दी जाय और औषधि-चिकित्सा की जाय; तो पूयोत्पत्ति होकर पूयज उ्वर आजाता है । अतः जड़ पर बन्धन बाँधकर तुरन्त काट देना चाहिए ।

डाक्टरों मत अनुसार बीजकोषस्थ अर्बुद (रक्तगुल्म) प्रथमावस्थामें संचालनविशिष्ट है; और क्रमशः बढ़ता जाता है, ऐसा निर्णय हो जाने पर उसे औषध या शस्त्र चिकित्सा द्वारा सत्वर समूल नष्ट कर देना चाहिए ।

यदि अर्बुद बढ़ गया हो, स्पर्श-परीक्षा करने पर हाथको लगता हो; एवं उ्वर, वेदना आदि रोगके पूर्व इतिहास परसे समीपके स्थानको अर्बुद संलग्न है, ऐसा अनुमान होता है, तो शस्त्रचिकित्सा द्वारा उसे दूर करनेका तुरन्त प्रयत्न करना चाहिए । देर करनेसे रुग्णा अधिकाधिक निर्बल होती जाती है ।

यदि बीजकोषमें रसावर्बुद तरलमय है; तो व्रीहिमुख यन्त्रका प्रवेश (Paracentesis) कराके जलको निकाल देना चाहिये ।

एवं रसाबुदकी दीवारका छेदन कर पिचकारी द्वारा रक्तशोधक रोपण और जन्तुघ्न द्रव (आयोडिन या इतर) का प्रवेश कराना चाहिए । यह प्रयोग जिन स्थानों पर रसाबुदकी दीवारमें प्रादाहिक विकृति हो; अथवा बीजकोषको तोड़कर अबुदको निकाल लेनेकी आवश्यकता न हो, उन स्थानोंके लिये लाभदायक है । बीजकोषके अबुदकी वृद्धिको रोकने और रोगिणीके स्वास्थ्य की उन्नतिके लिये पौष्टिक, उष्ण और रक्तशोधक ओषधि कुछ काल तक देते रहना चाहिए ।

वातज गुल्म चिकित्सा—(१) बिजौरेका रस, मुनी होग, खट्टे अनारदाने, बिड़लवण और सैधानमकको मिला फिर सुरामण्ड (थोड़ा शराब) में डालकर पिलानेसे वातज गुल्म दूर होते हैं ।

(२) सजीखार और कूठ १०-१० तोले तथा जवाखार या केतकीका चार ५ तोले मिलाकर चूर्ण करें । फिर २-२ मांशे चूर्ण घी या तैलके साथ मिश्रित कर देते रहनेसे कफसहित दारुण वातज गुल्म नष्ट होता है ।

(३) सोठ २ तोले, भूसी निकालकर साफ किये हुए काले तिल ८ तोले और गुड़ ४ तोले लेकर सबको मिलाले । इसमेंसे १ से ३ तोले चूर्ण निवाये दूधके साथ दिनमें २ समय देते रहने से वातज गुल्म, उदावर्त्त और योनिशूल नष्ट हो जाते हैं ।

(४) एरंड तैल देशी शराबके साथ या निवाये दूधके साथ पिलाते रहने से वातज गुल्म शमन होजाता है ।

(५) छिलके उतारकर सुखाये हुए लहशुन १६ तोले तैयार करें । फिर रोज १ से २ तोले तक ४ गुने दूध और ८ गुने जल के साथ मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर सुबह शक्ति अनुसार ८ या १६ दिन तक पिलाते रहने से वातगुल्म उदावर्त्त, गृध्रसी, विषमज्वर, हृद्रोग, विद्रधि और शोथ, ये सब शमन होजाते हैं ।

यद्यपि दूध और लहशुनका सेवन एक साथ करनेका निषेध है; तथापि व्याधि महिमाके हेतुसे भगवान् आत्रेयने कहा है ।

(६) लघुपक्वमूल के काथमें दूधको सिद्ध कर ४ रत्ती शिलाजीत मिलाकर पिलानेसे वातजगुल्म दूर होता है ।

(७) भुने हुए जौके यूष या मूलीके यूषमें घी और पीपल का चूर्ण मिलाकर भोजनके बदले पिलानेसे उदावर्त और वात-गुल्म दूर होते हैं ।

(८) दशमूलके काथमें १-१ माशा जवाखार और सैंधानमक मिलाकर पिलानेसे गुल्म, शूल, हृद्रोग और श्वासका नाश होता है । (चार युक्त ओषधि देनेके पहले ६ माशे घी चाट लेनेसे जिह्वापर घाव नहीं होते) ।

(९) सरफोंका का चार २ माशे और हरड़ का चूर्ण ४ माशे मिलाकर घीके साथ चटावें । फिर निवाया जल पिलानेसे वात-गुल्म, कफगुल्म, अकृत्तजीहावृद्धि, ज्वर, हृद्रोग, ये सब नष्ट हो जाते हैं ।

(१०) सुहिंजने की पत्तीका रस ४ तोले और १ तोला मिश्री मिलाकर ३ दिन तक पिलानेसे वातज गुल्म शान्त हो जाता है ।

(११) भुनी हींग, सैंधानमक, आमचूर, राई और सोंठ, इन ५ ओषधियोंको समभाग चूर्ण कर १॥-१॥ माशे घीके साथ दिनमें २ समय देनेसे वातजगुल्मका शमन होता है ।

(१२) गोमूत्रमें हल्दी मिलाकर २१ दिन तक रोज सुबह पिलानेसे वातजगुल्म दूर होता है ।

(१३) आक, थूहर, सरफोंका, केलेका खंभा, मूली, अरणी, तिलपंचांग, इन ७ ओषधियों को जला राखकर चारविधि अनु-सार चार बना लेवें । इस चारमेंसे ४-४ रत्ती चार मट्टेमें मिलाकर

दिनमें ३ समय पिलाते रहनेसे वातज, पित्तज और कफज गुल्म नष्ट होते हैं ।

(१४) **हृषुषाद्य घृत**—हाऊबेर, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हिगुपत्री, चव्य, चित्रकमूल, सैधानमक, जीरा, पीपलामूल और अजवायन, इन ११ ओषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें । फिर कल्क १ सेर, गोघृत ४ सेर तथा बिजौरेका रस, बेरका काथ, सूखी कोमल मूलीका काथ, दूध, दही और खट्टे अनारदानोंका रस, ये ६ औषधियां ४-४ सेर लेवें । सबको मिलाकर यथाविधि घी सिद्ध करें । इससे १ से २ तोले घृतका सेवन कराते रहनेसे वातगुल्म, शूल, आनाह, मलावरोध, योनिरोग, अर्श ग्रहणी, श्वास, कास, अरुचि, ताप, पार्श्वशूल, हृदयशूल और बस्तिशूल, ये सब दूर होते हैं । (रक्तगुल्मको भी दूर करने में यह घृत हितावह माना गया है) ।

(१५) **चित्रकादि घृत**—चित्रकमूल, सोठ, कालीमिर्च, पीपल, सैधानमक, हिगुपत्री, चव्य, खट्टे अनारदाने, अजमोद, पीपलामूल, जीरा, हाऊबेर और धनियां, इन १३ ओषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करे, फिर कल्क १ सेर, घी ४ सेर, दही, कांजी; बेरका काथ और कोमल मूलीका स्वरस, सबको ४-४ सेर मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध करे । इस घृतमेंसे १ से २ तोले तक दिनमें दो बार पिलाते रहनेसे मंदाग्नि, आफरा और शूल सहित वातगुल्म रोग शमन होता है ।

(१६) **रसोनाद्य घृत**—गोघृत, लहशुनका रस, पञ्चमूलका काथ, देशी शराब, कांजी और मूलीका रस २-२ सेर लेवे । सोठ, मिर्च, पीपल, अनारदाना, कोकमआमचूर (अभावमें इमली), अजवायन, चव्य, सैधानमक, हींग, अमलबेंत, जीरा, अजमोद, इन १२ ओषधियों को समभाग मिलाकर ४० तोले

कल्क करें । फिर सबको मिला यथाविध घृत सिद्ध करें । इसमेंसे २-२ तोले तक रोज सुबह देनेसे वातजगुल्म, ग्रहणी, अर्श, श्वास, उन्माद, क्षय, ज्वर, कास, अपस्मार, मन्दाग्नि, प्लीहा, शूल और वातप्रकोप दूर होते हैं ।

(१७) कासीस भस्म ६-६ रत्ती त्रिफला चूर्ण और घृतके साथ मिलाकर दिनमें २ समय देते रहनेसे वातज गुल्म शमन होजाता है ।

(१८) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—कांकायनबटी (२० ६५०), गुल्मकालानलरस (२० ५११-हरड़के काथके साथ), वज्रक्षार (२० ६८४) और हिंग्वष्टक चूर्ण (२० ६७५), ये सब ओषधियाँ वातज गुल्ममें अति लाभदायक हैं ।

पित्तज गुल्म चिकित्सा ।

(१) ३ से ४ माशे कपिला शहद या मिश्रीके साथ विरेचनार्थ देनेसे वेदना शमन हो जाती है ।

(२) ५ तोले अंगूरके रसमें थोड़ा गुड़ मिलाकर देनेसे या ६ माशे हरड़के चूर्णके साथ थोड़ा गुड़ मिलाकर देनेसे विबन्ध दूर हो जाता है ।

(३) धीकुंवारका रस २ तोले, ६ माशे घी, १ माशा त्रिकटु और १ माशा सैधानमक मिलाकर पिलानेसे पित्तज गुल्म का नाश हो जाता है ।

रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—गुल्मकुठार रस (२० ५०८), प्रवालपक्वामृत (२० ५१३-घृत या आंवलोंके रसके साथ), शौक्तिक भस्म (२० २१८-अनारके रसके साथ), कुमार्यासव (२० पृ० ७४४), नाग-भस्म (२० १५८-शक्ति वृद्धिके लिये), ये सब ओषधियाँ इस व्याधिपर अति लाभदायक हैं ।

(५) दाधिकघृत—बिजौरे का रस और दही ४-४ सेर मिलाकर घृत २ सेर सिद्ध करें । इस घृतमेंसे १ से २ तोले तक सेवन करानेसे गुल्म, प्लीहा, हृदयरोग और शूल दूर होते हैं ।

(६) त्रायमाणादिघृत—त्रायमाण १६ तोलेको २ सेर जलमें उबालकर काथ करें । एक सेर जल शेष रहनेपर उतार कर छान लें । कुटकी, नागरमोथा, त्रायमाण, जवासा, मुनक्का, भुई-आंवला, शतावरी, जीवन्ती, रक्तचन्दन और कमलके फूल, इन १० ओषधियोंको १-१ तोले लेकर कल्क करें । फिर उपरोक्त काथ कल्क तथा आंवलो का रस, दूध और घी ३२-३२ तोले मिलाकर यथाविधि घृत पाक करें । इस घृतमेंसे १ से २ तोले तक सेवन करानेसे पित्तज गुल्म, रक्त गुल्म, विसर्प, पित्त ज्वर, हृद्रोग, कामला और कुष्ठ रोग नष्ट होते हैं ।

(७) सोहागे का फूला १-१ माशा दिनमें २ समय मिश्रीके साथ २१ दिन तक देनेसे पित्तजगुल्म नष्ट हो जाता है ।

कफज गुल्म चिकित्सा ।

(१) बृहत्पञ्चमूलका काथ, या मुनक्काकी शराब पिलानेसे कफज गुल्म की निवृत्ति होती है ।

(२) अजवायन और बिड़लवणका चूर्ण मिलाकर मट्ठा पिलानेसे अधोवायु और मलमूत्रकी शुद्धि होकर अग्नि प्रदीप्त होती है; तथा गुल्मका नाश होता है ।

(३) मट्ठेसे अजवायन और बिड़नमक मिलाकर पिलानेसे अग्नि प्रदीप्त होती है; तथा अधोवायु और मलमूत्रकी शुद्धि होती है ।

(४) अजवायन, भूनी हींग, सैधानमक; जवाखार, काला नमक और हरड़को समभाग मिलाकर चूर्णकर देशी शराबके मण्डके साथ देनेसे गुल्म रोगमें उत्पन्न शूल शमन हो जाता है ।

(५) ३ माशे अदरख और १ माशे कलमीशोराको मिलाकर सेवन करानेसे गुल्म नष्ट होता है ।

(६) सज्जीखार २ माशे और गुड़ ६ माशे मिलाकर निवाये जलके साथ देनेसे कफगुल्मका नाश हो जाता है ।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—
ताम्रभस्म (२० १२१—कुमार्यासवके साथ), शंखद्राव (२० ७८६),
जम्भीरीद्राव (२० ७८७), लघु शंखद्राव (२० ७८६), कुमार्या-
सव (२० ७४४), क्रव्याद् रस (२० ४२६), अग्निकुमार रस
(२० ४२४), ये सब उपकारक हैं । इनमेंसे अनुकूल ओषधिका
सेवन करानेसे कफज गुल्म नष्ट होजाता है ।

द्वन्द्वज गुल्म चिकित्सा ।

(१) वातकफज या पित्तकफज गुल्मपर—गुल्मकालानल-
रस (२० ५११—हरड़के काथके साथ) देते रहने या प्रवाल पञ्चा-
मृतरस (२० ५१३—बीके साथ) देते रहनेसे द्वन्द्वज गुल्मकी
निवृत्ति हो जाती है ।

(२) वातजगुल्म पर लिखा हुआ चित्रकादि घृत देनेसे
वातकफज गुल्म दूर होता है ।

(३) वातज गुल्म चिकित्सामें लिखा हुआ हपुषाख घृत
देनेसे वातपित्तज गुल्म शमन होजाता है ।

त्रिदोषज गुल्म चिकित्सा ।

(१) कांकायन वटी (२० ६५०—ऊँटनीके दूधके साथ),
वज्रक्षार (२० ६८४) या गुल्मकालानल रस (२० ५११)
देनेसे त्रिदोषज गुल्म दूर होता है ।

(२) गुल्मकी पच्यमान अवस्थामें—लोकनाथ रस (२०
५२६) देना हितकारक है ।

(३) **वचादि चूर्ण**—वच २ भाग, हरड़ ३ भाग, बिड़-
 तलवण ६ भाग, सोठ ४ भाग, भूनी हींग १ भाग, कूठ ८ भाग,
 चित्रकमूल ७ भाग और अजवायन ५ भाग मिलाकर कपड़छान
 चूर्ण करें। इस चूर्णको शराब या निवाये जलके साथ देनेसे
 सब प्रकारके गुल्म, आनाह, उदररोग, शूल, अर्श, श्वास, कास
 और ग्रहणी रोग दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(४) **हिंवादि चूर्ण**—भूनी हींग, पीपलामूल, धनियौं,
 जीरा, बच, चव्य, चित्रकमूल, पाठा, कचूर, कोकम आमचूर,
 कालानमक, सैधानमक, सांभर नमक, सोठ, कालीमिर्च, पीपल,
 जवाखार, सज्जीखार, खट्टे अनारदाने, हरड़, पुष्करमूल, अम्ल-
 बेंत, हाऊबेर और काला जीरा, इन २४ ओषधियोंको समभाग
 मिलाकर कपड़छान चूर्ण करें। फिर अदरखके रस और बिजौरे
 के रसकी ३-३ भावना देकर सूखा चूर्ण बना लेवें, अथवा ४-४
 रत्तीकी गोलियाँ बना लें। इसमें से ३-३ माशे चूर्ण निवाये जल
 के साथ दिनमें २ समय दें। या १-१ गोली करके दिनमें १०-
 १२ गोलिचोका रस धीरे-धीरे चूसते रहे ।

इस ओषधिके सेवनसे सब प्रकारके गुल्म, आफरा, ग्रहणी,
 गुदाके रोग, उदावर्त, प्रत्याघ्मान, विषविकार, उदररोग, पथरी,
 तूनी, प्रतितूनी, अरुचि, ऊरुस्तंभ, भ्रम (मनकी अस्थिरता),
 बेचैनी, बहरापन, अष्टीला, प्रत्यष्टीला, हृदय, कुक्षि, वक्षण,
 कमर, जठर (पक्काशय), वस्ति, स्तन, कंधे और पसलियोंमें
 चलने वाला वातकफात्मक शूल और अग्निमान्द्य ये सब
 विकार दूर होते हैं ।

(५) **अधोवायु और मलका अवरोध रहने पर**—अदरखको
 दूधमें उबालकर पिलावें; या एरंड तैल दूधके साथ पिलावें।
 अथवा नाराचघृत (२० ऽ २६), आरग्वधादि काथ दूसरी विधि

(२० ७०६), या नारायण चूर्ण (२० ६७८) का सेवन करावें । अथवा अधोवायुको सत्वर निकाल देनेके लिये गुदामें घी लगावें; या फलवर्त्ति या त्रिकट्वादिवर्त्ति (२० ८२५) गुदामें चढ़ावें । आवश्यकता हो; तो उदर पर सेक करें ।

(६) **अभयादिवटी**—हरड़, कालीमिर्च, पीपल, सोहागे का फूला २-२ तोले और धतूरेके शुद्ध बीज ८ तोले लें । सबको कूट चूर्णकर थूहरके दूधमें मिला गरम कर आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बनावें । फिर १-१ गोली हरड़के ४ माशे चूर्णमें मिला निवाये जलके साथ देनेसे कब्ज दूर होता है । एवं शीतल जल पिलानेसे जुलाब बन्द हो जाता है ।

इस गोलीके सेवनसे गुल्म, जीर्ण ज्वर, पाण्डु, प्लीहा, अष्ठीला, उदररोग, रक्तपित्त, अम्लपित्त और सब प्रकारके अजीर्णरोग शमन होते हैं ।

(७) **गुल्मके दोष पचनार्थ**—हरड़, खरैटीकी जड़, पृष्ठ-पर्णी, अड्डसेकी जड़, सोंठ, अतीस और देवदारु, इन ७ ओषधियोंका काथ पिलानेसे गुल्मके कच्चे दोषका पचन होजाता है ।

(८) **दन्तीहरीतकी**—बड़ी हरड़ साबुत तथा दन्तीमूल और चित्रकमूलका जौकुट चूर्ण, प्रत्येक १००-१०० तोलेको २०४८ तोले जलमें मिला उबालकर अष्टमांश काथ करें । फिर हरड़ निकाल कर काथ छान लेवें । पश्चात् काथको उबालें । आधे जलसे कम शेष रहने पर १०० तोले गुड़ मिलाकर शर्वत समान चासनी करें । उसमें उबाली हुई हरड़, निसोतका चूर्ण और तिलका तैल १६-१६ तोले, तथा पीपल और सोंठका चूर्ण २-२ तोले मिलावें । शीतल होने पर शहद १६ तोले, तथा दाल-चीनी, तेजपात, इलायची और नागकेशर १-१ तोला मिलावें । इस लेहमेंसे २-२ तोले चाटकर ऊपर १ हरड़ खानेसे कोष्ठ-

शुद्धि हो जाती है । भोजनमें भात और मांसरस, या खिचड़ी लेवें । इस ओषधिके सेवनसे गुल्म, शोथ, अर्श, पाण्डु, अरुचि, हृद्रोग, ग्रहणी रोग, कामला, विषमज्वर, कुष्ठ, प्लीहा, और आनाह, इन सबका नाश हो जाता है ।

आमाशयिक कर्कस्फोट होनेपर—रोगशामक मुख्य ओषधि प्रवालपञ्चामृत देते रहे । मल्ल भस्म दूसरी और चौथी विधि और मल्लादि वटी दूसरी विधि भी अति लाभदायक मानी गई है ।

वमनके निवारणार्थ—वान्ति हृद्रस उत्तम ओषधि है । यदि शराबीको कर्कस्फोट हुआ हो, तो राजावर्त्त रस देना चाहिये ।

बद्धकोष्ठ शमनार्थ—जिनको मलावरोध रहता हो, उनको आरोग्यवर्द्धनी द्वितीय विधि सेवन कराते रहनेसे मलावरोध, वमन और बेचैनी आदि लक्षण सत्वर कम होने लगते हैं ।

इस तरह इतर लक्षणोंके शमनार्थ लक्षण अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

यकृतस्थ कृमिज रसाबुद होनेपर—रसतन्त्रसारमें लिखी हुई ओषधियाँ—प्रवालपञ्चामृत रस (पृ० ५१३), लवणभास्कर चूर्ण (पृ० ६७४), वज्रक्षार चूर्ण (पृ० ६८४), प्लीहान्तकक्षार चूर्ण (पृ० ६७७) आदि ओषधियाँ हितकर हैं ।

अबुद यदि बहिर्मुख हो; तो शस्त्रचिकित्सा द्वारा उसे तोड़ कर प्रवाही द्रवको निकाल देना चाहिये । या सूक्ष्म व्रीहिमुख यन्त्र प्रवेश करा द्रवको निकाल लेना चाहिये । फिर उसमें पिचकारी द्वारा टिञ्चर आयोडीनको प्रवेश करा देनेसे व्याधि शमन हो जाती है ।

वर्त्तमानमें विद्युत्सूचीसे विद्धकर विद्युत्प्रयोग द्वारा चिकित्सा भी की जाती है । परन्तु सबसे सरल और निर्भय मार्ग प्रारम्भिक अवस्थामें क्षारप्राधान्य चूर्णका सेवन है ।

रक्तगुल्म चिकित्सा ।

(१) नित्य प्रातःकाल चित्रकमूल, पीपलामूल, करंजकी छाल, देवदारु, भारंगी और पीपलामूलका चूर्ण ४ माशे खाकर ऊपर ४ तोले काले तिलोंका काथ (गुड़ मिलाकर) सेवन कराने से रक्तगुल्मका नाश होता है ।

(२) ४ तोले तिलका काथकर पुराना गुड़ २ तोले, त्रिकटु २ माशे, भूनी हींग ४ रत्ती और भारंगीका चूर्ण ३ माशे मिलाकर नित्यप्रति प्रातःकाल सेवन करानेसे रक्तगुल्मका रक्त योनि-द्वारसे बहकर निकल जाता है । यदि मासिकधर्म चला गया हो; तो इस काथके सेवनसे पुनः जारी हो जाता है; तथा गर्भाशय-शूल और कमर जकड़ना आदि उपद्रव भी दूर हो जाते हैं ।

(३) गोरखमुण्डीके फूल और वंशलोचनको समभाग मिलाकर चूर्ण करें । फिर चूर्ण, मिश्री और शहद, तीनों ६-६ माशे मिलाकर देते रहनेसे रक्तगुल्म, गर्भाशय-विकार और गुदा सम्बन्धी दोष दूर होते हैं ।

(४) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ— स्नुहीक्षीर गुटिका (पृ० ६६२—पपीतेके साथ), गुल्मकुठार रस (पृ० ५०८) और कुर्मायासव (पृ० ७४४), ये सब रक्तगुल्म का नाश करनेमें अति हितकारक हैं ।

स्नुहीक्षीर गुटिका २-२ गोली दिनमें ३ समय जलके साथ देते रहें; और प्रतिदिन रोगिणीको पका पपीता (एरंड ककड़ी) एक फल (वजन १ सेर या अधिक) १-२ या ३ समयमें खिला दें । मधुर पदार्थ खानेको बिल्कुल न दें । प्रातःकाल स्नुहीक्षीर गुटिका देनेके पहले पपीता खिलाना चाहिये । इस तरह चिकित्सा ४-६ मास तक करनेसे अति बढ़ा हुआ गुल्म भी नष्ट होजाता है । स्नेहन, स्वेदन, छेदन, भेदन आदि किसी भी क्रिया किये बिना रक्तगुल्म नष्ट होजाता है ।

इस ओषधिमें अधिक रक्तस्राव नहीं होता । वमन विरेचन, व्याकुलता और उदरशूल आदि कुछ भी न होते हुए रोग दूर हो जाता है । मासिकधर्म अधिक आता हो, या गुल्मके हेतुसे बन्द हो गया हो, अथवा अनियमित होगया हो, ये सब विकार दूर होकर रुग्णा स्वस्थ हो जाती है ।

(५) शक्तिका संरक्षण करनेके लिये—नाग भस्म वंशलोचन और शहदके साथ देते रहे ।

(६) पञ्चानन रस—शुद्ध पारा, शुद्ध नीलाथोथा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध जमालगोटा, पीपल, अमलतासका गूदा, सबको समभाग मिलाकर १२ घण्टे थूहरके दूधमें खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १-१ गोली रोज सुबह आँवलोके रस या इमलीके पत्तोंके रसके साथ सेवन करावें । भोजनमें दही-भात देवें, तो एक मासमें रक्तगुल्मकी निवृत्ति हो जाती है ।

नीलाथोथेमें वमन करानेका दोष है और जमालगोटा भी साथ है । इस लिये मात्रा अधिक न दें । आँवलोका रस अधिक पिलावें, और भोजनमें दही या मट्ठा अवश्य देवें ।

(७) प्राणवल्लभ रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, केशर, लोह भस्म, ताम्र भस्म, वराटिका-भस्म, शुद्ध नीलाथोथा, भूनी हींग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, थूहरका दूध, जवाखार, शुद्ध जमालगोटा, सोहागेका फूला और निसोत, इन १६ ओषधियोंको समभाग मिलाकर बकरीके दूधमें ३ दिन तक खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें । इनमेंसे १ से २ गोली जल या शहदके साथ रोज सुबह देते रहे । रोग-बल और देह-बलकी न्यूनाधिकताके अनुसार मात्रा न्यूनाधिक करें । इस रसायनके सेवनसे असाध्य त्रिदोषज गुल्म, रक्तगुल्म, वातरक्त, कुष्ठ, खुजली, विस्फोटक और अबची आदि रोग नष्ट हो जाते हैं । कामला, पाण्डु, आनाह,

श्लीपद्, गलगण्ड, गण्डमाला, व्रण-रोग, हलीमक, ऊरुस्तंभ, शूल और शोथ, सबका नाश होता है । कामलेको दूर करनेके लिए भी इससे उत्तम प्रयोग नहीं है ।

यदि रक्तगुल्ममें पाण्डुता, शोथ और कृशता अधिक आ गई हो; और पञ्चानन रस समान तीव्र ओषधि सहन न हो सके; तब इस प्राणवल्लभ रसको प्रयोगमें लाना चाहिये ।

(८) दन्त्यादि गुटिका—दन्तीमूल, हींग, जवाखार, कड़वी तुम्बीके बीज, पीपल और गुड़को समभाग मिला थूहरके दूधमें १२ घण्टे खरल कर आध-आध माशेकी गोली बनावें । फिर रोज सुबह १-१ गोली जलके साथ देते रहनेसे जीर्ण रक्त-गुल्मके रक्तका योनिद्वारसे स्राव होकर धीरे-धीरे गुल्म नष्ट हो जाता है ।

(९) पलाशघृत—ढाककी राखमें १६ गुना जल मिला ऊपरसे नितरा हुआ ४ सेर जल निकाल लें । फिर १ सेर घृत मिला मंदाग्नि पर यथाविधि घृतको सिद्ध करें । फटे हुए दूध समान होने पर, या भाग आजाने पर घृत सिद्ध हुआ जानकर कड़ाही को नीचे उतार लें । शीतल होने पर सम्हाल कर घी नितार लें । इस घृतमेंके २ से ४ तोले तक रोज प्रातःकाल सेवन कराते रहनेसे २ मासमें रक्तगुल्म दूर हो जाता है ।

बाह्यउपचार—(१) रजःप्रवर्त्तक वर्ति (२० पृ० ८६४) योनिमें धारण करनेसे रजस्राव होकर गुल्म दूर हो जाता है ।

(२) भूने हुए तिलको थूहरके दूधमें ३ घण्टे खरलकर वर्ति बनाकर या भूने हुए तिल और पलाशकी राखको गुड़की चाशनीमें मिला वर्ति बनाकर योनि-मुखमें धारण करनेसे गर्भाशयमें रहा हुआ रक्तगुल्म फूट कर रक्तस्राव होने लगता है । यदि गुल्म बीजाशयमें है, तो बाह्य उपचार नहीं करना चाहिए ।

(३) कपड़ेको सूअर या मछलीके पित्तमें भिगोकर योनि-मुखमें धारण करनेसे रक्तस्राव होने लगता है; अथवा सुखाई हुई छोटी सफरी मछली को सूअर या मछलीके पित्तमें भिगोकर धारण करना चाहिए ।

(४) शराबके नीचे जमा हुआ गाद (Sediment), गुड़ और पलाशकी राखको मिला वर्ति बनाकर योनि-विशोधनके लिये योनिमुखमें धारण करें ।

रक्तस्राव अधिक हो जाने पर—(१) कमलकेशर और नाग-केशरका चूर्ण ६ माशे, मक्खन २ तोले और मिश्री १ तोला मिलाकर देनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(२) सिंघाड़ेका चूर्ण १ तोला और मिश्री १ तोला मिला कर बकरी या गौके धारोष्ण दूधके साथ देनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(३) रसतन्त्रसारमें लिखी हुई ओषधियाँ—बोलबद्धरस (पृ० ४२२), उशीरासव, (पृ० ७४६), दूर्वाद्यघृत, (२० ८३१), चन्द्रकलारस (२० ४४६), ह्रीबेरादि काथ (२० ७२७), ये सब रक्तस्रावको दूर करते हैं । इनमेंसे कोई भी ओषधि देनेसे रक्तस्राव सत्वर बन्द हो जाता है ।

(४) मौक्तिकभस्म (२० २०२), प्रवालपिष्टी (२० २०६-उशीरासवके साथ), शौक्तिकभस्म (२० ११८) या शङ्खभस्मका सेवन करानेसे रक्तस्राव और पित्तप्रकोप, दोनों दूर होते हैं ।

(५) सूतशेखर (२० पृ० ५५७) १-१ रत्ती दूध-मिश्रीके साथ, या २ माशे अदरकके रस और ६ माशे शहदके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे रक्तस्राव, वातप्रकोप और पित्तप्रकोपका शमन होजाता है ।

पथ्यापथ्य-विचार ।

पथ्य—स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, वस्ति, हाथकी सिराको खोलकर रक्त निकालना, लङ्घन, वातहर ओषधियोंसे सिद्ध पेया, वर्त्ति (अधो वायु और मल-शुद्धिके लिये या रक्तस्रावके लिये गुदा या योनिमें बत्ती चढ़ाना), तैलकी मालिश, स्निग्ध सेक, पकने पर फोड़ना, १ वर्षकी पुरानी मटर, लाल शालिचावल, कुलथीका यूष, सैधानमक और त्रिकटु मिलाया हुआ जाङ्गल पशुओंका निवाया मांस रस, बृहत्पञ्चमूल मिलाकर बनाया हुआ खड़यूषादि पेय या अन्य पदार्थ, मूंग, लहशुन, सोंठ, मिर्च, पीपल, गोमूत्र, एरंड तैल, तिलका तैल, हींग, कच्चा केला, बैंगन, बथुआ, अगस्तके फूल, सुहिंजने की फली, सूरण, ककोड़ा, कचनारके फूल, अदरख, पोदीना, आंवला, लहशुन, आम, नीबू, बिजौरा, गौ और बकरीका दूध, मट्ठा, मक्खन, अनार, अंगूर, सन्तरा, मीठा नीबू, मुसंबी, पक्का पपीता, फालसा, खजूर, जवा-खार, सज्जीखार, पलाशक्षार, केतकीक्षार, इमलीका क्षार, अज-वायन, कालानमक, शराब, अरहरकी दालका यूष, कोमल मूली, अरबीके पत्तेका शाक, हरड़, स्निग्ध, उष्ण, बृंहण, लघु, अग्नि प्रदीपक और वातको अनुलोम करनेवाला भोजन, ये सब पथ्य हैं ।

वातगुल्मके रोगीको तित्तिर, मोर, मुर्गे, क्राँच, चिड़िया आदि पक्षियोंका मांस, घी, पुराना लाल शालि चावल, उष्ण भोजन, द्रव, स्निग्ध भोजन और शराब, ये सब हितावह हैं ।

पित्तज गुल्ममें पुराना शालि चावल, गाय और बकरीका दूध, घी, मक्खन, मिश्री, घीमें बना हुआ परवलका शाक, अनार, अंगूर, आंवले, फालसे, अदरख, खजूर, खरैटीका फायट, गुल्फन्द, आंवलेका मुरब्बा, हरड़का मुरब्बा, पीनेके लिये गरम करके शीतल किया हुआ जल, ये सब हितकारक हैं ।

रक्तगुल्ममें रक्तस्राव कराना हो, तब वातघ्न गुण वाले लह-
शुन, शराब, गुड़, तैल, मिर्च, मछली आदि उष्ण अन्नपान देवें,
तथा रक्तस्राव बन्द करनेके समय वातपित्त-शामक भोजन
देना चाहिये । यदि रक्तगुल्म की अति वृद्धि होजानेसे अधिक
कृशता आगई है, तो शारीरिक बलके संरक्षणार्थ विश्रान्ति, शुद्ध
वायुका सेवन, मांस-रस, अण्डे, दूध और लघु पौष्टिक भोजन
हितावह माने जाते हैं ।

कफ गुल्ममें वमनके अधिकारीको वमन कराना, स्नेहन,
स्वेदन, गुल्म पर तैल लगाना, सेक करना, विरेचन, पुराना धान्य,
जांगल पशु पक्षियोंका मांस-रस, कुलथी और मूँगका यूस,
सोठ, कालीमिर्च, पीपल, सूखी मूलीका यूस, अजवायन, बिजौरा,
हींग, अनार, पुरानी शराब और मट्ठा, ये सब हितकर हैं ।

अपथ्य—वातप्रकोपक समस्त पदार्थ, विरुद्ध भोजन, सूखा
मांस, पक्की बड़ी मूली, मछली, केला आदि मधुर फल, सूखे शाक,
मटर, सेम आदि द्विदलधान्य (कुलथी और मूँगसे इतर),
रूक्ष अन्न, आलू, अरबी, रतालू, पिण्डालू आदि कन्द-शाक,
टिण्डे, गवारफली, तोरई, अधिक जलपान, अधिक शीतल जल,
अधोवायु और मलमूत्रके वेगका धारण, नेत्राश्रुके वेगको
रोकना, वमन कराना, सूर्यके ताप और अग्निका अधिक सेवन,
रात्रिका जागरण, अधिक परिश्रम, मैथुन और प्रवास आदि
गुल्म रोगमें हानिकर हैं ।

रक्तगुल्मकी रोगिणीको मासिकधर्म आनेपर ३ दिनके
भीतर स्नान करना, और तेज शीतल वायुका सेवन करना,
मलावरोध करने वाला आहार, मधुर आहारका अधिक सेवन,
शुष्क आहार और वातवर्धक आहार, ये सब हानिकर हैं । एवं
रोगिणीको अधिक निर्बलता आने पर अधिक परिश्रम, चिन्ता
और शुष्क भोजन, ये सब अपथ्य माने जाते हैं ।

उदररोग ।

उदर के भीतर रहे हुए पोले भागको उदर-गुहा (Abdomen) कहते हैं । इस उदरगुहाकी आकृति कैसी है ? उदरगुहामें कितनी इन्द्रियां हैं ? और इतर संस्थाओंके साथ इसका क्या सम्बन्ध हैं ? इन सब बातोंका सविस्तार वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्डके भीतर रोगपरीक्षाके पृष्ठ १३७ से १४० तक किया है ; साथमें दो चित्र भी दिये हैं ।

इस उदरगुहामें ८ छिद्र हैं । इस गुहाके ऊपर छप्परके सदृश रही हुई महाप्राचीरा पेशी में ३ छिद्र (महाधमनीके लिये १ छिद्र, अधरा, महासिराके लिये १ छिद्र तथा अन्ननलिकाके लिये १ छिद्र), उदर-गुहामेंसे बाहर आनेके मार्ग रूप वंक्षण सुरंग (Inguinal Canal) में अन्तर्वंक्षणीय और बहिर्वंक्षणीय मिलाकर दो छिद्र (Abdominal Inguinal Rings), वंक्षणदरी (Femoral Canals) नामक दो छिद्र तथा १ नाभिछिद्र मिलाकर ८ छिद्र होते हैं । इनमेंसे अन्तिम ५ छिद्र शिथिल होने पर उनमेंसे उदरगुहाके भीतर रहे हुए आशय बाहर निकल आते हैं । इस तरह बहिर्वंक्षणीय आदि छिद्रोंसे अन्न बाहर निकलने पर अन्नवृद्धि (Hernia) रोग हो जाता है । स्वाभाविक स्वस्थावस्था में इन छिद्रोंसे कुछ भी हानि नहीं होती ; किन्तु विकृत अवस्थामें प्राणोंकाभी घात हो जाता है ।

इस उदरगुहाके नीचे श्रोणिगुहा (Pelvic Cavity) रही है ; जिसमें गुदनलिका, बस्ति, पौरुषग्रन्थि (Prostate gland) शुक्र-बाहिनियोंकी सिराएँ, शुक्रप्रपिकाएं आदि अवयव पुरुष देहमें और गुदनलिका, बस्ति, गर्भाशय, बीजवाहिनियां और बीजाधार आदि अवयव स्त्रीदेहमें रहे हैं । इस श्रोणिगुहाके साथ उदरगुहाका वनिष्ठ सम्बन्ध रहा है ।

उरोगुहा (Thoracic Cavity) के ऊपर जैसे आच्छादन रूप कला रही है ; वैसे ही उदरगुहा और श्रोणिगुहा पर भी आच्छादन है,

जिसे उदर्या कला (Peritoneum) कहते हैं । इस कला का संक्षिप्त वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ४२१ मे किया है ।

यह महाकला अत्यंत पतली, कोमल और मोतीके सदृश स्वच्छ श्वेत वर्ण की है । यह कला उरस्याकलाके समान एक थैली रूप है । इस थैलीके भीतर पुरुषदेहमे एक भी छिद्र नहीं है, किन्तु स्त्रीदेहमें बीजवाहिनियों की शिराएँ इस थैलीमे खुलती हैं; अतः वह छिद्रयुक्त है । इस थैलीके दो स्तर हैं । इनमे से एक स्तर उदर की दीवारके भीतर की ओर को और दूसरा स्तर उदरस्थ महत्वके यन्त्रों (पचनेन्द्रिय, मूत्रोत्पादकयन्त्र और प्रजननयन्त्र) को ढकता है । इनके अतिरिक्त वह विविध अवयवों को रक्त पहुँचाने वाली धमनियों तथा शिराओं और वातवहा नाड़ियों को भी आच्छादित करता है ।

इस उदर्याकलाके दोनों स्तरोंके भीतर कुछ चिकना, पतला, प्रवाही रस (लसीका) रहा है ; जिससे उदरके अवयवोंका परस्पर स्पर्श होने पर भी घर्षण नहीं होता । यद्यपि यह कला एक सलग थैली है; तथापि उदरके भीतर इस तरह रही है कि, वह दो थैली समान भासती है । समझाने की सरलताके लिये इन मिथ्या दो विभागोंका दो थैली रूपसे वर्णन किया जाता है ।

इनमेंसे बाहरके भागको महाकोष (बड़ी थैली) और भीतरके भाग को लघु कोष (छोटी थैली) संज्ञा दी है ।

महाकोष—(मेन पोर्शन और ग्रेटर सेक ऑफ पेरिटोनियम—Main Portion or Greater Sac of Peritoneum) इस महाकोषके बाहरका स्तर लगभग संपूर्ण उदरगुहा की दीवार को ढकता है; और भीतरका स्तर यकृत, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, बृहदन्त्र, लघु अन्त्र, वस्तिका शिखर भाग, स्त्री-शरीरमें गर्भाशय और उसके समीपके अवयवों को ढकता है । कितनेक स्थानों पर यह पर्त अवयवों को चारों ओरसे परिवेष्टित कर द्विगुण होकर प्रबन्धनियों (Ligaments) की रचना करता है, जो प्रबन्धनिया इन अवयवों को ढोरीके समान

बन्धनमें रखती हैं । इस तरहके प्रबन्धनीयुक्त अवयवोंमें यकृत, प्लीहा, आमाशय, लघुअन्न, बृहदन्न, बस्ति, गर्भाशय और गुदा आदि हैं ।

लघुकोष—(ओमेन्टल बर्स और लेसर सैक—Omental bursa of Lesser Sac) कहते हैं । इस थैलीका निम्न लम्बाभाग वपा नामक कलासे बने हुए स्तरमें मिल जाता है । इस लघुकोष और बृहत् कोष को जोड़नेवाला छिद्र यकृतके मूलके नीचे रहा हुआ है । जिसे उदर्यान्तरिक छिद्र (Epiploic foramen) कहते हैं । दोनों कोषों में रही हुई लसीका इस छिद्र द्वारा परस्पर एक दूसरेके सम्बन्धमें आती है ।

वपा—वेदों की प्रसिद्ध इस वपा को डॉक्टरोंमें ग्रेटर ओमेन्टम (Greater Omentum) कहते हैं । उदर्याकलाके इस भागमें ४ स्तर हैं । यह भाग उदरगुहाके भीतर मोटे पदोंके सदृश लटकता है; और आंतों को ढकता है । इसका प्रारम्भ आमाशयके नीचेके सिरेसे होता है । वहाँसे निकलकर यह बृहदन्नके अनुप्रस्थ भाग और लघु अन्न को आच्छादित करता है । इस पदोंका नीचेका किनारा मुक्तरूपसे लटकता रहता है । इस पदोंके भीतर मेदवृद्धियुक्त मनुष्यों की देहमें अत्यधिक मेद संचित हो जाता है ।

ग्रहणीका अनुप्रस्थ भाग और निम्न हिस्सा, उण्डुक, बृहदन्नका आरोही भाग, और अवरोही भाग, मध्यगुद, योनिके ऊपरका हिस्सा और बस्तिपृष्ठ, ये सब उदर्याकलासे पूर्णांशमें आच्छादित नहीं हैं; तथा यकृत आमाशय, ग्रहणीका ऊर्ध्व प्रदेश, प्लीहा, लघुअन्न, बृहदन्नका अनुप्रस्थ भाग, कुण्डलिका, उत्तर गुद, स्त्री-देहमें दोनों बीजकोष, बीजस्रोत और गर्भाशय, ये सब उदर्याकलासे पूर्णांशमें ढके हुए हैं । एवं यह उदर्याकला अग्न्याशय, दोनों वृक् और दोनों अधिवृक् ग्रन्थियों को तो स्वल्प भागमें ही स्पर्श करती है ।

इस तरह उदर्याकला उदरगुहाके भीतर अनेक आशयों को न्यूनाधिक प्रमाणमें ढकती हैं; और समीप-समीपके दो छोटे-मोटे भागों को

भी ढकती हैं। इसमें कितनेक स्थानपर गड्ढेके सदृश स्थालीपुट प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थानोंमें उदर्याकला उतरनेपर दोहरी होती है; और संपूर्ण गड्ढा उससे आच्छादित हो जाता है।

ग्रहणीके समीप ऐसे ५-६ खड्डे, उण्डुकके पास ३ खड्डे और बृह-दन्त्रके कुण्डलिका भागके भीतर एक खड्डा मिलकर ६-१० स्थालीपुट हैं। स्त्री शरीरमें गुदा, बस्ति, गर्भाशय और योनिमार्ग, इन चार अवयवों के बीचमें दो स्थाली पुट हैं। किन्तु पुरुष देहमें गर्भाशय न होनेसे बस्ति गर्भाशयान्तरीय स्थालीपुट (Uterovesical excavation) नहीं है; केवल बस्तिगुदान्तरीय नामक एक ही स्थालीपुट (Rectovesical excavation) रहा है।

उदर रोग निदान—बहुधा सब रोगोंकी उत्पत्ति अग्नि मंद हो जाने पर होती है; इनमें भी उदर रोगकी उत्पत्ति तो विशेष करके अग्निमान्द्यसे ही होती है। एवं अजीर्ण, मलिन अन्न (अत्यन्त दोषोत्पादक विरुद्ध भोजन आदि) और मलका अति संचय (कोष्ठबद्धता) आदि कारणोंसे भी उदररोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, यदि अत्यन्त मंद अग्नि वाला मनुष्य अहित भोजन करे; अथवा सूखा, बासी या सड़ा हुआ भोजन करे, अथवा स्नेहपान, वमन, विरेचन, बस्ति आदि का अयोग्य उपयोग करे, तो उसके उदरमें वात आदि दोष बढ़ कर गुल्मके आकारके और प्रकट लक्षण वाले घोर उदररोगों की उत्पत्ति करा देते हैं। जैसे नये घड़ेमें भरे हुए तैल या घृतमें से चिकनाई बाहरकी ओर फिर आती है, वैसे ही आमाशयसे निकला हुआ अन्नका सार दुष्ट वायुसे प्रेरित होकर उदरकी त्वचा का भेदन कर शनैः-शनैः चारों ओरसे बाहर संचित होता है। फिर वह उदर-रोगको उत्पन्न करा देता है।

भगवान् पुनर्वसु चरकसंहितामें कहते हैं कि, अति उष्ण,

लवण, क्षार, विदाही, अम्ल, गर (संयोगजनित विष) मिश्रित भोजन, स्नेहपान, वमन, विरेचन आदिके पश्चात् संसर्जन क्रम के मिथ्यासेवन (अर्थात् उस समयके लिये जो भोजनविधि हो उसका त्याग करना), रुक्ष, विरुद्ध, अपवित्र (कीटाणु, मल, मूत्र, रोम आदि मिला हुआ) भोजन, प्लीहा, अर्श, ग्रहणी आदि रोगोंसे कृशता आजाना, स्नेहन, स्वेदन तथा वमन आदि पञ्चकर्मको नियमविरुद्ध करनेके पश्चात् उत्पन्न दोषका सत्वर प्रतीकार न करना, रुक्षता, मल-मूत्र-अधोवायु आदिके वेगका धारण, स्त्रोतोंकी दुष्टि, आमसंग्रह, शारीरिक और मानसिक अति क्षोभ होकर उदर पर आघात पहुँचना, खूब डट कर भोजन करना, अर्शके अंकुर या भोजनमें आये हुए केश आदिसे मल का रोध होना, भोजनमें अस्थि, कंकड़, काँच आदि आनेसे या विद्रधि हो जानेसे आँतोंका फूटना या भेदन होना, देहमें दोषों (विविध मलों) का अति संचय हो जाना और पाप कर्म करना इत्यादि हेतुसे उदर रोगकी उत्पत्ति होती है । इनमें विशेषतः मंदाग्नि वालोंको उदर रोग हो जाता है ।

संप्राप्ति—संचित दोष प्रस्वेद और जलके वहन करने वाले स्त्रोतोंको निरुद्ध कर प्राणवायु, अपानवायु और जठराग्नि, तीनोंको दूषित करके उदर रोगकी संप्राप्ति करा देते हैं ।

उदर रोगके पूर्व रूप—भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, बल और वर्णका नाश, उदर तन जानेसे उदर पर होने वाली भुर्रियों (सलवटें) का दूर हो जाना और सूक्ष्म शिराओंकी पंक्ति उभर आना, भोजनका पाक होगया या नहीं इस बातका ज्ञान नष्ट हो जाना, विदाह होना, बस्तिस्थानमें पीड़ा और पैरों पर शोथ आजाना इत्यादि लक्षण पूर्व रूपमें भासते हैं ।

भगवान् पुनर्वसु कहते हैं कि, लुधानाश, मुँह मीठा रहना, मधुर और भारी अन्नका अति देरसे पाक होना, भोजनका

विदाह होना, भोजन पच गया या नहीं इसका बोध न होना, भोजन भरपेट कर लेने पर बेचैनी होना, पैरों पर कुछ शोथ आजाना, शनैः-शनैः बलका क्षय होते रहना, थोड़ा-सा व्यायाम होने पर श्वास भर जाना, उदरमें मलका संचय होना, मलकी योग्य प्रवृत्ति न होना तथा उदावर्तजन्य वेदना, बस्ति और संधिस्थानोंमें पीड़ा, आफरा, लघु और अल्प भोजन करने पर भी उदरका बढ़ना—तन जाना, उदरमें भारीपन और फटने सदृश वेदना होना, उदर पर नीली शिराओंका दिखाई देना और उदर की त्रिवलीका नाश आदि लक्षण उदर रोगके पूर्वकालमें प्रकाशित होते हैं ।

उदर रोगोंमें सामान्य रूप—अफारा, चलनेमें अशक्ति, दुर्बलता, अग्निमान्द्य, हाथ-पैरोंपर शोथ, अङ्गोंमें पीड़ा, अपान वायु और मल का निग्रह, दाह और तन्द्रा आदि लक्षण सब प्रकारके उदर रोगोंमें उपस्थित होते हैं । इनके अतिरिक्त पेटमें वायु भरा रहना, गालों का चिकना हो जाना, ये दो लक्षण चरकसंहितामें अधिक कहे हैं ।

उदर रोग संख्या—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, प्लीहोदर (तथा यकृद्वाल्युदर), बद्धगुदोदर, क्षतोदर और जलोदर, ये ८ प्रकार हैं ।

वातोदरके हेतु-सम्प्राप्ति—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, रुद्ध भोजन, अल्प भोजन, परिश्रम, मल-मूत्र आदि वेगों का धारण, उदावर्त और दूसरे कृशता लानेवाले कारणोंसे कुक्षि, हृदय, बस्ति और गुदा मार्ग की वायु प्रकुपित होकर अग्नि का नाश करती है; तथा कफको विचलित कर उससे मार्ग का निरोध करा देती है; फिर वह वायु त्वचा और मांसके मध्यमें साश्रित होकर उदर रोग की सम्प्राप्ति करा देती है ।

वातोदर लक्षण—हाथ, पैर, नाभि और उदरके पार्श्व भागों

पर शोथ, उदरके दोनों पार्श्व, तथा मध्यभाग, कमर और पीठमें वेदना (ये सब भाग जकड़े हुए रहना), सांघे टूटना, सूखी खांसी, अङ्गों का टूटना, उदरके नीचेके हिस्सेमें भारीपन, मलका संचय होना और त्वचा काली लाल हो जाना आदि लक्षणोंका अकस्मात् बढ़ना और घटना, उदरमें तोड़ने या काटने समान पीड़ा होना, उदरपर सूक्ष्म-सूक्ष्म काली (नीली) शिराएँ प्रतीत होना, ठेपन करनेपर वायुसे भरी हुई मशकके सदृश आवाज होना, उदरमें चारों ओर वायु विचरना, तथा पीड़ा, शूल और उग्रशब्द करना इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

चरकसंहितामें अण्डकोषोंपर शोथ, मल-मूत्र और अधो-वायु का अवरोध, नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और मल का श्याम-अरुण होजाना तथा वायुका ऊपर नीचे और तिर्यक् भागमें विचरना आदि लक्षण अधिक लिखे हैं ।

पित्तोदरके हेतु-सम्प्राप्ति—चरपरे, खट्टे, नमकीन, अत्युष्ण और तीक्ष्ण द्रव्योंका भोजन, अग्नि और सूर्यके ताप का सेवन, विदाही आहार, भोजन पचनेके पहले पुनः खा लेना और अजीर्ण आदि कारणोंसे सत्वर संचित पित्त वायु और कफको प्राप्त होकर, इनको प्रकुपितकर इनसे मार्ग रुकवाकर फिर पथ-भ्रष्ट होकर आमाशयस्थित अग्निको नष्ट करता है; जिससे उदररोग की सम्प्राप्ति होती है ।

पित्तोदर लक्षण—ज्वर, मूर्च्छा, दाह, तृषा, मुँहका स्वाद चरपरा या कड़वा हो जाना, भ्रम, अतिसार, नेत्र और त्वचा आदिमें पीलापन, उदरका वर्ण हरा-सा हो जाना, उदरपर नसें पीली-जाल होजाना, प्रस्वेद आना, देहमें अग्नि जल रही हो और धुँआँ निकलता हो ऐसा भास होना, उदर स्पर्शमें मृदु हो जाना और तुरन्त पक जाना—अर्थात् जलोदर होजाना आदि लक्षणोंकी प्रतीति होती है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी तुरन्त पकजानेके स्थानमें सत्वर रोग वृद्धि हो जाना लिखते हैं ।

भगवान् पुनर्वसुने चरकसंहितामें नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मल-मूत्र आदिका हरा-पीला हो जाना, उदरपर शिरायें नीली-पीली-हरी-जाल उभर आना, प्रस्वेद आकर देह गीली हो जाना, ये लक्षण अधिक कहे हैं ।

कफोदरके हेतु-सम्प्राप्ति—व्यायाम (श्रम) न करना, दिनमें शयन, मधुर, अति स्निग्ध, पिच्छिल आहार, दही, दूध, मछली आदि जलजीव और अनूप देशके जीवोंके मांसका अत्यधिक सेवन करनेसे कफ धातु प्रकुपित होकर स्रोतोको आवृत्त कर देती है; जिससे अन्त्रमें रही हुई वायु बद्ध हो जाती है । फिर वह कफको पीड़ित करके उदर रोग की सम्प्राप्ति करा देती है ।

श्लेष्मोदर लक्षण—अङ्गोंमें ग्लानि, अङ्गोंका शून्य होजाना, हाथ-पैर, अण्डकोष और ऊरु पर शोथ, भारीपन, निद्रावृद्धि, उबाक, अरुचि, श्वास, कास, त्वचा, नेत्र, नख आदि शुक्ल होजाना, उदर जड़ होजाना, उदर स्निग्ध, श्वेत नसोसे व्याप्त, मोटा, धीरे-धीरे बढ़ने वाला, कठिन, शीतल स्पर्श वाला, भारी और स्थिर (अन्त्रगति या गुड़गुड़ाहट शब्द रहित) होजाना, तथा मल सफेद होजाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस उदर रोगकी वृद्धि दीर्घकालमें होती है ।

सन्निपातोदरके हेतु-सम्प्राप्ति—दुर्बल अग्निवालेको अपथ्य भोजन, विरुद्ध भोजन, गुरु भोजन, भोजन पचन होनेके पहले पुनः भोजन, दुष्ट स्त्रियोंके वशीकरणार्थ भोजनमें रज, रोम, विष्टा, मूत्र, अस्थि, नख आदि खिला देना तथा मन्द विषका सेवन आदि कारणोंसे वात आदि तीनों दोष प्रकुपित होकर कोष्ठमें शनैः-शनैः विकारको करते हुए मनुष्योंको त्रिदोषज उदररोग की सम्प्राप्ति करा देते हैं ।

सन्निपातोदरके लक्षण—शीत वायु कालमें और अधिक बढ़ल आजाने पर यह उदर रोग अधिक प्रकुपित होकर दाह और मूर्च्छा उत्पन्न कर देता है। इस व्याधिमें निरन्तर पाण्डु रोग, कृशता, तृषासे व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं।

इस रोगमें रक्त (दूष्य) इतर दूष्यों (रस-मांस आदि) को दूषित कर देता है; अथवा परस्पर दूष्य एक दूसरेको दूषित कर देते हैं; जिससे इस रोग की उत्पत्ति होती है; अतः इस विकार को 'दूष्योदर' संज्ञा भी दी है।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, इस त्रिदोषज उदर रोगमें तीनों दोषोंके समस्त लक्षण उपस्थित होते हैं। नख आदिमें सब वर्ण पाये जाते हैं। उदर पर सर्वत्र विविध वर्ण की राजी और शिराएँ व्याप्त भासती हैं।

प्लीहोदरके हेतु-संप्राप्ति—भोजन कर लेने पर तुरन्त घोड़े आदि पर सवारी करने या अत्यन्त शारीरिक परिश्रम करनेसे संक्षोभ होना, अति मैथुन, अति भार उठाना, मार्ग-गमन (अत्यधिक चलना), वमन और किसी रोगसे देह अति कृश होजाना, इन कारणोंसे उदरके वाम पार्श्वमें रही हुई प्लीहा स्थानसे च्युत होकर बढ़ जाती है; अथवा रस या मांस आदि की वृद्धिके हेतुसे रक्त बढ़ने पर वह प्लीहाको बढ़ा देता है।

प्रारम्भमें प्लीहा, अष्टीला (लोहेके घन) के सदृश कठिन होती है। फिर बढ़कर कछुएके सदृश आकृतिवाली हो जाती है। यदि बढ़ने पर भी उसकी सम्यक् चिकित्सा न की जाय; तो वह धीरे-धीरे कुक्षि (उदरके पार्श्व भाग), उदर और अग्नि के अधिष्ठान (ग्रहणी) को घेर कर उदररोगको उत्पन्न कर देती है।

प्लीहोदर लक्षण—इस प्लीहोदर को यूनानीमें वरमडल तिहाल और डाक्टरोंमें स्प्लनिक एन्लार्जमेण्ट (Splenic en-

largement) कहते हैं । विदाही और अभिष्यन्दी पदार्थोंके अधिक सेवन करते रहनेसे रक्त और कफ धातु प्रदुष्ट होकर प्लीहाकी वृद्धि कर देते हैं । फिर इससे उदर बढ़ जाता है, उसे प्लीहोदर कहते हैं । प्लीहाका स्थान उदरके वामपार्श्वमें है, अतः इस रोगमें बांयी ओर का उदर बढ़ता है । इस रोगमें रोगी पीड़ित रहता है । मंद ज्वर, मंद जठराग्नि, कफप्रकोप और पित्त-प्रकोपके लक्षणोंकी उत्पत्ति, बलक्षय और अति पाण्डुता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

भगवान् पुनर्वसु कहते हैं कि, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मल-मूत्रका अवरोध, चक्कर आना, प्यास, अंगमर्द, वमन, मूर्च्छा, देहमें पीड़ा, श्वास, मृदु ज्वर, आनाह (आम या मलसंचय), अग्निमान्द्य, कृशता, मुखका स्वाद विरस हो जाना, सोंधोंमें टूटने समान पीड़ा, उदरशूल, उदरका वर्ण अरुण या पाण्डु-सा हो जाना और उस पर नीली-हरी-पीली शिराएँ दिखाई देना इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

श्री वाग्भट्टाचार्य कहते हैं कि, इस प्लीहोदरमें तीनों दोषोंके लक्षण मिश्रित होते हैं; अर्थात् वातके उदावर्त आदि; पित्तके मोह, तृषा, दाह और ज्वर, तथा कफके भारीपन, अरुचि और कठिनता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

यकृद्वालयुदर लक्षण—इस यकृतोदरको यूनानीमें वरमउल कविद् और डाक्टरोंमें सिर्होसिस आफ् धी लिबर (Cirrhosis of the liver) कहते हैं । प्लीहोदरके समान उदरके दाहिनी ओरमें रहे हुए यकृतकी वृद्धि होने पर यकृदुदर या यकृद्वालयुदर कहलाता है ।

इस यकृद्वालयुदरके हेतु, लक्षण और ओषधि आदि प्लीहोदर के समान ही हैं; अतः आचार्योंने यकृद्वालयुदरको प्लीहोदरके साथ ही ग्रहण किया है ।

बद्धगुदोदरके हेतु-संप्राप्ति सह लक्षण—इस बद्धगुदोदरको डाक्टरोंमें इन्टेस्टायूनल आबस्ट्रक्शन (Intestinal obstruction) संज्ञा दी है । पिच्छिल अन्न-शाक आदि या रेत, कंकड़, पक्षियोंके पर, बाल, मिट्टी, राख आदि मिले अन्नका मल आँतों में चिटक जाता है । फिर वहाँ पर बुहारीसे बुहारे हुए कूड़ेके समान मल शनैः-शनैः इकट्ठा होकर बढ़ता जाता है । पश्चात् गुदाके मार्गमें मल निरुद्ध हो जाता है । जिससे कष्टसे थोड़ा-थोड़ा मल उतरता है; तथा नाभि और हृदयके मध्यमें उदर बढ़ जाता है, उसे बद्धगुदोदर कहते हैं ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने इन लक्षणोंके साथ उदरमें मल सदृश दुर्गन्ध हो जानेसे वमन होनेपर उसमें मलकी दुर्गन्ध आना यह लक्षण अधिक कहा है ।

चरक संहितामें लिखा है कि, भोजनके साथ पक्षियोंके पर या सिरके बाल आदि आजानेसे (वे मलमें मिश्रित होजानेसे) गुदा का मार्ग बन्द हो जाना, अथवा उदावर्त्त, अर्शके मस्से या अन्त्रान्त्रप्रवेश (एक आंतमें दूसरी आंतका प्रवेश Intussusception) हो जाना आदि कारणोंसे मार्गका अवरोध होता है । फिर वायु प्रकुपित होकर मल, पित्त और कफको रोककर बद्ध-गुदोदर रोगकी उत्पत्ति करा देती है ।

तृषा, दाह, ज्वर, मुख और तालुका शोष, ऊरुमें पीड़ा, कास, श्वास, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मल-मूत्रका रोध, अपफारा, वमन, छींकें आना, मस्तिष्क, हृदय, नाभि और गुदामें शूल, उदर में मूढ़ वायु भरी रहना, उदर पर अरुण या नीली राजियाँ और शिराएं दिखाई देना, क्वचित् इन राजियोंका न होना, और बहुधा नाभिके ऊपरका हिस्सा गौकी पूँछके सदृश ऊंचा उठ जाना आदि लक्षण इस बद्धगुदोदर रोगमें प्रकाशित हो जाते हैं ।

क्षतोदर हेतु-लक्षण—भोजनके साथ आया हुआ काँटा,

पत्थर आदि शल्य रूप बन जानेसे या इतर किसी हेतुसे शल्य का आंतोंमें प्रवेश हो जानेसे अन्त्रमें क्षत हो जाता है। फिर उसमेंसे जलके सदृश स्राव होकर गुदासे अधिक रूपसे बार-बार बाहर निकलता रहता है। एवं नाभिके नीचे उदर भागकी वृद्धि होना, शूलसे छेदने और तोड़ने सदृश अति पीड़ा होना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस व्याधिको छिद्रोदर (परिस्राव्युदर) संज्ञा भी दी है।

इस क्षतोदरको डाक्टरीमें अनेक विद्वानोंने अल्सरेशन आफ् दी बोवेल (Ulceration of the Bowel) संज्ञा दी है। किन्तु आयुर्वेदिक क्षतोदर और इस डाक्टरी रोगके लक्षणोंमें कुछ अंशमें भेद प्रतीत होता है।

चरक संहितामें लिखा है कि, भोजनके साथ कंकड़, घास, लकड़ी, अस्थि, कांटा, कौंच आदि उदरमें चले जाना और अत्यधिक भोजन करना, प्रबल जम्भाई आना, इन कारणोंसे आंत फट जाती है। फिर घाव पक जाता है, तब उन छिद्रोंमेंसे रस बाहर स्रवता रहता है; जिससे बड़ी आंत और गुदा भर जाती है; और फिर छिद्रोदरकी उत्पत्ति हो जाती है।

यह व्याधि नाभिके नीचे उत्पन्न होकर जलोदरके और अपने-अपने बलके अनुसार दोषोंके लक्षणोंको दर्शाती है। इस रोगमें लाल, नीला, पीला, चिकना और मुर्देकीसी दुर्गन्ध युक्त कच्चा मल आता है। रोगी हिक्का, श्वास, कास, तृषा, प्रमेह, अरुचि, अपचन और दुर्बलतासे पीड़ित रहता है।

जलोदर (दकोदर) निदान—इस जलोदरको यूनानीमें इस्तिष्का और डाक्टरीमें एसाइटिस (Ascites) कहते हैं। जो मनुष्य स्नेहपान, अनुवासन बस्ति, वमन, विरेचन, अथवा निरूह बस्ति लेकर तुरन्त या लुधा लगनेपर शीतल जल पीता है; उसके जलवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं। फिर वे अपने कार्य

करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । ये उदकवाहिनियाँ जब चिकनाईसे लिपायमान हों; उस समय शीतल जल पीनेसे दूषित हो जाती हैं । फिर दकोदर की उत्पत्ति हो जाती है ।

चरक संहितामें लिखा है कि, स्नेहपानके पश्चात् या मंदाग्नि युक्त क्षीण या अतिकृश मनुष्यके अत्यधिक जल पीनेसे अग्नि नष्ट हो जाती है । फिर कलोममें स्थित वायु, अम्बुवाही स्रोतों को रुद्धकर कफ और जल की वृद्धि करा देती है । फिर वह वायु और दूषित कफ उस जलको स्वस्थानसे उदरके आश्रितकर जलोदर की उत्पत्ति करा देते हैं ।

दकोदर लक्षण—नाभिके चारों ओर उदर फूल जाना, उदरमें चिकनापन, उदरमें जल भर जाना, जिस तरह जलसे भरी हुई मशकको चलानेपर क्षोभ होकर शब्द होता है, उस तरह उदरमें जल का शब्द होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

चरक चिकित्सित स्थानमें लिखा है कि इस रोगमें भोजन की इच्छा न होना, प्यास, गुदासे जलस्राव, शूल, श्वास, कास, दुर्बलता, उदरपर विविध वर्ण की राजियाँ और शिरायें व्याप्त हो जाना तथा स्पर्श करने और क्षोभ होनेपर जलसे भरी हुई मशकके सदृश भास होना इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

साध्यासाध्यता—ये सब प्रकारके उदर रोग प्रारम्भ कालसे ही कष्ट साध्य हैं । यदि रोगी बलवान् है, उदरमें जल की उत्पत्ति नहीं हुई है और रोग होते ही योग्य चिकित्सा की जाती है, तो रोग प्रयत्नसाध्य माना जाता है ।

बद्धगुदोदर १५ दिनसे अधिक जीर्ण हो जानेपर, उदरमें जल हो जानेपर सब प्रकारके उदर रोग, तथा जिन उदर रोगोंमें आँतोंमें छिद्र हो गया हो, ये सब बहुधा मनुष्य को मार डालते हैं ।

जिस उदररोगीके नेत्रपर शोथ आ गया हो, लिङ्ग टेढ़ा हो

गया हो, त्वचा पतली और गीली हो गई हो, बल, रक्त, मांस और अग्नि अतिक्षीण हो गये हो, उसे छोड़ ही देना चाहिये ।

जिस उदररोगीको पार्श्व भंग, अन्नविद्वेष (अरुचि), शोथ और अतिसार हों; और अतिसार लगनेपर भी उदर भारी रहता हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ।

सब प्रकारके उदररोग अति बढ़ जानेपर जलभावको प्राप्र हो जाते हैं । फिर उस अवस्थामें रोग असाध्य हो जाता है ।

चरक संहिताकारने लिखा है कि वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर, जलोदर, इनको कमशः अपेक्षासे अधिक अधिक कष्टसाध्य मानना चाहिये ।

सब मर्मस्थानों पर शोथ आजाने, तथा श्वास, हिक्का, अरुचि, तृषा, मूच्छा, वमन और अतिसार आदि उपद्रवोंकी उत्पत्ति होजाने पर उदररोग रोगीको मार डालता है ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने सब प्रकारके उदर रोगोंमें बद्धगुदोदर और परिस्त्रावीको असाध्य माना है, शेष ६ प्रकार के उदर-रोगको कष्टसाध्य माना है ।

छिद्रोदर रोगीको तृषा, कास और ज्वर आदि उपद्रव हो गये हों, तथा मांस, अग्नि और आहार क्षीण हो गये हो, तो उसे असाध्य मानना चाहिये । इस तरह छिद्रोदरके रोगीको श्वास और शून रूप उपद्रव हो; तथा इन्द्रियो दुर्बल हो गई हों; तो भी असाध्य जानकर छोड़ देना चाहिये ।

जलोत्पत्तिके पूर्व रूप—भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि, जो उदररोग नया उपद्रवरहित हो, जिसमें जलकी उत्पत्ति न हुई हो, उसकी तुरन्त चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये । यदि उपेक्षा की जायगी, तो वात आदि दोष स्वस्थानोंसे दूर हट जाते हैं; और इनका पाक न होनेसे (अष्टाङ्ग संहिताकारके मत में पाक होनेसे) द्रवीभूत होकर संधियो और स्रोतोंको क्लिन्न

(चिकना और गीला) कर देते हैं । एवं प्रस्वेद भी छिद्रों द्वारा (त्वचामेंसे) बाहर न निकल सकनेसे तिर्यक् गति करके उदरमें जलभाव को प्राप्त हो जाता है ।

जलकी उत्पत्तिके पहले जब पिच्छा कलासे गाढ़े लसीका स्राव की उत्पत्ति होती है; तब उदर मण्डलाकार (गोल), भारी, स्थिर, अंगुली बजानेपर शब्दरहित, स्पर्शमें मृदु, राजी रहित, नाभिसे प्रारम्भ होकर ऊपरकी ओर फैला हुआ आदि लक्षणोंसे युक्त प्रतीत होता है । तत्पश्चात् जलका प्रादुर्भाव होता है ।

जलोत्पत्ति लक्षण—कुक्षिकी अत्यन्त वृद्धि, शिराओं का न दीखना और जलसे भरी हुई मशक सदृश क्षोभयुक्त स्पर्श होना, (चलानेपर जल तरंगों का हाथको स्पर्श होना), ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं । इसके साथ-साथ वमन, अत्रिसार, तमकश्वास, तृषा, श्वास भर जाना, कास, हिक्का, दुर्बलता, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभेद और मूत्रावरोध आदि उपद्रव भी हो जाते हैं । ऐसे रोगीको असाध्य माना है ।

डाक्टरी निदान ।

इस उदर रोगके भीतर निम्नानुसार डाक्टरी ८ व्याधियोंका अन्तर्भाव होता है । अतः इन सबका विवेचन यहाँ क्रमशः किया जायगा ।

१ यकृद्वाल्गुदर—Cirrhosis of the Liver ।

२ बाल पैत्तिक यकृद्वाल्गुदर—Infantile Biliary Cirrhosis

३ यकृत्में रक्ताधिक्य—Congestion of the Liver ।

४ प्लीहावृद्धि—Splenic enlargement ।

५ प्लीहोदर—Splenic Anaemia ।

६ जलोदर—Ascites ।

७ बद्धोदर—Impaction of Foreign Bodies ।

८ क्षतोदर—Ulceration of Bowels ।

यकृदाल्युदर ।

यकृदाल्युदर—सिरोसिस आफ् धी लिवर—Cirrhosis of the Liver

रोगपरिचय—यह आमाशय और अन्नका प्रदाह, शीर्णता, कामला और जलोदर आदि लक्षण सह यकृद्विकार हैं । इस रोगमें यकृत्के मध्यवर्ती संयोजक तन्तु (Intervening connective tissues) के चिरकारी प्रदाहके हेतुसे सौत्रिक तन्तु (Fibers) निर्माण होनेपर यकृत्के कोषाणु (Cells) नष्ट हो जाते हैं, तथा यकृत् कठिन और दृढ़ हो जाता है ।

इस रोगके दो प्रकार हैं । विशीर्णता युक्त यकृदाल्युदर और विवर्धन-युक्त यकृदाल्युदर ।

विशीर्णतायुक्त यकृदाल्युदर ।

हेतुभेद या स्वरूपभेदसे इस रोगकी सज्ञा निम्नानुसार पृथक्-पृथक् हो जाती है ।

विशीर्णता युक्त यकृदाल्युदर—Atrophic Cirrhosis.

मद्यज यकृदाल्युदर—Alcoholic Cirrhosis, Gin-drinker's Liver.

प्रतिहारिणी शिरावरोधक यकृदाल्युदर—Portal Cirrhosis.

बहुखण्डीय यकृदाल्युदर—Multilobular Cirrhosis.

कौषिक यकृदाल्युदर—Multilocular Cirrhosis.

उपदंशज यकृदाल्युदर—Syphilitic Cirrhosis.

नखसदृश दृढ़ यकृदाल्युदर—Hob-nail Liver.

शोथयुक्त यकृदाल्युदर—Interstitial Hepatitis.

मेदमय यकृदाल्युदर—Fatty Cirrhosis.

निदान—दीर्घकाल तक शराब (जिन, विस्की, बीअर, पोर्ट आदि)

का पान और उपदंशके विषसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । कभी-कभी विषमज्वर और काला आजार (Kala azar) से भी इस रोगकी प्राप्ति हो जाती है ।

यह व्याधि विशेषतः युवावस्थाके पश्चात् प्रौढ़ावस्थाके प्रारंभमें अधिकांशमें पुरुषों को होती है । इनमें भी यह शराबियोंको अधिक हो जाती है । पुरुषों की संख्या स्त्रियों की अपेक्षा लगभग ३ गुनी अधिक होती है । विरलावस्थामें यह व्याधि बालकोंमें भी प्रतीत होती है; परन्तु बालकोंके लिये इसका मूलभूत हेतु वंशपरागत (पैतृक) उपदंशज विष होता है ।

यद्यपि कभी शराब न पीनेवालों, किन्तु तमाखू और अति तेज मसाले आदि दाहक पदार्थोंका सेवन करने वालोंको भी यह रोग हो जाता है; तथापि शराब या तेज मसाला आदि पदार्थ मूल हेतु नहीं है । शराब और मसालेसे यकृतकी रोगनिरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है । फिर इतर विष, वा कीटाणु यकृत पर आक्रमण करके सरलतासे चिरकारी दाह-शोथ उत्पन्न कर देते हैं । विष या कीटाणु विशेषतः प्रतिहारिणी शिरा (Portal Vein) द्वारा यकृतमें प्रवेश कर दाह-शोथ की उत्पत्ति करते हैं । पश्चात् सौत्रिकतन्तु निर्माण होकर यकृतके कोषाणुओंका नाश होता है ।

सम्प्राप्ति—इस व्याधिका उत्पादक विष अन्न या प्लीहामेंसे निकल प्रतिहारिणी शिरा द्वारा रस मिश्रित रक्तके साथ मिलकर यकृतमें प्रवेश कर जाता है । फिर यकृतकोषोंको नष्ट कर देता है; तथा उनके स्थानों पर सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धि कर देता है । फिर सौत्रिकतन्तुओं की वृद्धिके अनुरूप यकृत भी बढ़ता जाता है । इस क्रमके पश्चात् पुनः सौत्रिक तन्तुओंमें कृशता आने लगती है; तब यकृत भी कृश-संकुचित हो जाता है । सौत्रिक तन्तु उत्पन्न होनेपर प्रारम्भमें यकृत-वृद्धि होती है । फिर शनैः-शनैः (क्वचित् किसी किसी रोगीके लिये प्रारंभसे ही) यकृत की कृशता (Atrophy) हो जाती है । यह कृशता जितनी अधिक

होती है, उतना ही यकृत कठोर और दाने (गाठ) युक्त (Nodular) बनता है ।

यकृत की अनेक कण्डिकाओंमें अत्यंत सौत्रिक तन्तु बढ़ जाते हैं । पश्चात् जब इनका संकोच होता है; तभी यकृत की सतह विषम उभार-चढ़ावयुक्त गाठदार बन जाती है ।

यकृत संकोचके हेतुसे प्रतिहारिणी शिराकी शाखाओं पर भी दबाव पड़ता है; और उनमें रक्तसंचार न्यून हो जाता है या बन्द हो जाता है । फिर यकृतका सम्बन्ध इतर स्थानमें रही हुई प्रतिहारिणीकी शाखाओं से बढ़ जाता है, तथा अवरुद्ध रक्त इतर शाखाओं और शिराओं द्वारा निकलने लगता है । यदि ऐसा न हो; तो जलोदरकी उत्पत्ति होजाती है ।

प्रतिहारिणी शिराका कार्य—प्रतिहारिणीशिरा आमाशय, अन्न, प्लीहा और अग्न्याशय आदि स्थानोंसे रस मिश्रित रक्त यकृतमें लाती है । यकृतमें जाने पर प्रतिहारिणी शिरा अनेक सूक्ष्म शाखाओंमें फैल जाती है । इन शाखाओंकी सूक्ष्म प्रशाखाएँ यकृतकी कण्डिकाओं (Lobules) के चारों ओर लग जाती हैं, उनको कण्डिकान्तराला शिराएँ (Interlobular Veins) कहते हैं । इन शिराओं की अत्यंत सूक्ष्म शाखाएँ कण्डिकाओंके भीतर उनके मध्य बिन्दु की ओर जाती हैं, जिससे प्रत्येक कण्डिकाके भीतर रहे हुए सूक्ष्म-सूक्ष्म याकृतकोष शिरा द्वारा मिले हुए रक्त को तृप्ति हो उतना पीते हैं, और उसमेंसे पित्तोत्पत्ति करते हैं एवं इतर कार्य भी करते हैं ।

संप्राप्ति—प्राथमिक अवस्थामें यकृतके ऊपर संयोजक तन्तुओंसे बना हुआ आच्छादन है । जिसे यकृदावरण (Glisson's Capsule) कहते हैं; उसमें रक्तवृद्धि होती है । फिर रक्तवर्णके संयोजक तन्तुओंकी वृद्धि होनेसे यकृतके सब कोषाणुओं पर दबाव पड़ता है, और वे मेदाप-क्रान्ति (Fatty Degeneration) से ग्रसित होते हैं ।

द्वितीयावस्थामें परिवर्धित संयोजक तन्तु असम्पूर्णरूपसे सकुचित होते हैं । यकृतके आकार और दृढ़ताका हास होता है; और उसकी

आकृति गांठों युक्त (Nodulated) बन जाती है । मूलकी और गमन करनेवाली प्रणालियां (Radicals) सब नष्ट हो जानेसे याकृति (Hepatic) वाहिनियां और प्रतिहारिणी शिरा की शाखाओंके भीतर रक्त संचालनमें प्रतिबंध होता है ।

यकृत पर रहा हुआ आच्छादन (उदर्याकलाका हिस्सा) स्थूल और मलिन हो जाता है । एवं वह महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm), पित्ताशय और आमाशयसे संलग्न हो जाता है । यकृतके किसी किसी स्थानमें रह रह कर संयोजक तन्तुओं की वृद्धि सह दृढ़ता (Sclerosis) उत्पन्न हो जाती है । इसे डॉक्टरोंमें हाइपरट्रोफी स्कलेरोसिस (Hypertrophy Sclerosis) कहते हैं । इसका विवेचन आगे पैत्तिक यकृद्वालयुदरमें किया जायगा । इससे यकृत की कण्डिकाओंके भीतर रहे हुए (Interlobular) संयोजक तन्तुओं की वृद्धि का हास होता है; और परिशेषमें यकृतके कोषाणुओंका संकोच हो जाता है ।

यकृतके कोषाणुओंका हास और शीर्णता निम्न कारणोंसे उत्पन्न होती है । मेदोहीनता और यकृतके कण्डिकाओंके भीतर संयोजक तन्तुओंकी विवृद्धिके हेतुसे संपीडन-दबाव होता है । फिर इसी हेतुसे यकृत की सब शिराओं और भीतरकी शाखाओं पर दबाव आता है । प्रतिहारिणी शिराके रक्त संचालन विधानमें रक्तसंग्रह और जलोदर उत्पन्न होते हैं । पित्तनलिका संकुचित हो जाती है, फिर इसी हेतुसे पित्त संचय होता है । यकृतका वर्ण श्वेत-हरिद, अत्यंत हरा-धूसर (Dark green-grey) या मन्द हरा हो जाता है । यदि यकृत काटकर परीक्षाकी जाय तो पहलेकी स्वस्थावस्थाकी प्रतीति नहीं होती ।

किसी-किसी विद्वानोंकी मान्यता अनुसार यकृतकी कण्डिकाओंके मध्यमें काली पंक्तियों (Areolas) या संयोजक तन्तुके व्याप्त चिरकारी प्रदाहके पश्चात् यकृद्वालयुदर रोगकी उत्पत्ति होती है । इतर कितनेक विद्वानोंका कथन है कि, यकृतके सब कोषाणुओं (Liver cells) का पहले परिवर्त्तन होता है । इस मतके अनुसार यकृतमें प्रदाहके हेतुसे

परिवर्तन नहीं होता । यकृतके भीतर पित्तस्त्राव करने वाले कोषोंकी अप-
क्रान्ति हो जाने पर यह रूपान्तर हो जाता है । किन्तु इन कोषोंका अप-
कर्ष इस रोगका आदि कारण है, इस बातको कितनेक विद्वानोंने स्वीकार
नहीं किया । पित्तस्त्राव कराने वाले कोष सयोजक तन्तु रूपसे परिवर्तित
होते हों, अथवा मेदयुक्त होते हों, ऐसा विदित नहीं होता; किन्तु इनकी
मेदोपक्रान्ति ही होती है ।

यकृतका आच्छादन (Capsule) स्थूल नहीं हैं । सामान्य रीतिसे
यह एक स्थूल अप्रकृत सौत्रिक तन्तुके स्तर द्वारा आवृत हो जाता है ।
इस स्तरको निकाल देने पर यकृदावरण सलग्न रह जाता है । इस सौत्रिक
तन्तुके आवरण द्वारा सबल दबाव होने पर यकृतके परिमाणमें न्यूनता
हो जाती है । इस आच्छादनका सकोच हो जानेसे स्थान स्थान पर गह्वर
देखनेमें आते हैं । इस स्थान पर अनुमान होता है कि, अन्त्रावरण प्रदाह
इस यकृदाल्युदर रोगका कारण है । हृत्पिण्ड, प्लीहा और वृक्कके रोग
बहुधा इस यकृदाल्युदरके सहवर्त्ती प्रतीत होते हैं ।

लक्षण—इस व्याधिके लक्षणोंका आधार विशेषतः शिराओंकी
स्थिति पर है । शिराओंमें प्रतिबन्ध होनेसे आमालशयप्रदाह, यकृद् वृद्धि,
कुश शरीर, कामला और आयुर्वेदोक्त पित्तोदरके लक्षण आदि होते हैं ।
फिर अन्तर्मे जलोदर हो जाता है; तथा भ्रम, प्रलाप, मूर्च्छा, मस्तिष्क-
विकृति और बलक्षय आदि उपस्थित होते हैं ।

रोगकी प्रथमावस्थामें (चिरकाल तक) यकृतके अवयवोंमें किसी
भी प्रकारकी विलक्षणता प्रतीत नहीं होती, अतः रोग गुप्त-सा रहता है ।
किन्तु रोग जैसे-जैसे बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे यकृत् दृढ़ और कठिन
होता जाता है; तथा उसके कोषाणु नष्ट होते जाते हैं; और वजन भी
कम होता जाता है ।

यकृदावरण अस्वच्छ, मैले (धूसर वर्ण), श्वेत रंगका हो जाता
है; और उस पर छोटे-छोटे विविध आकारके दाग बढ़ते जाते हैं । इन
दागोंके बढ़नेका तात्पर्य यही है कि, विषप्रकोपसे उत्पन्न हुए सौत्रिक तन्तु

का संकोच होनेसे यकृत कण्डिकाएं वतुलाकारमें परिणत हो जाती हैं । ये वतुल छोटे-छोटे होनेपर यकृतको दानेविशिष्ट कहते हैं । यदि यकृत को काटा जाय; तो उसके भीतर उसके अनुरूप ही अवस्था प्रतीत होती है ।

मद्यज यकृदाल्युदर लक्षण—अत्यंत मद्यपान करने वालेको रोगारम्भके पहले पचनेन्द्रिय संस्थामें (विशेषतः आमाशय और अन्नमें) विकृति हो जाती है । फटी हुई मैली जिह्वा, हृदयाधरिक (कौड़ी) प्रदेश और यकृतमें असुख और भारीपना भासना, अग्निमान्द्य, आफरा, खट्टी डकार, प्रातःकाल खट्टी वमन, आंतोंकी क्रियामें विलक्षणता, क्वचित् कोष्ठबद्धता, क्वचित् कष्टदायक अतिसार आदि उपस्थित होते हैं । रोग प्रकाशित होनेपर ये लक्षण और भी तीव्र हो जाते हैं । रोगी निस्तेज, निर्बल और मेंढकके सदृश वर्ण वाला हो जाता है; शनैः-शनैः क्षीणतामें वृद्धि होती जाती है ।

संमुख कपालमें वेदना, मस्तिष्कमें गुंज, मनकी अस्थिरता, निद्रामें दुष्ट स्वप्न आना, मुख पर शिराजाल प्रतीत होना, गाल बैठजाना, नेत्र गड्ढेमें घुस जाना और कण्ठनलीके पीछेके अंशमें उत्कट श्लेष्मा संचित होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । हृदयकी क्रिया विकृत हो जाती है; हृदयमें कम्प और क्षणिक मूर्च्छाकी उत्पत्ति हो जाती है ।

लगभग एक तिहाई रोगियोंको चिरकारी कामला हो जाता है । बहुधा मृत्युके कुछ समय (एक आध मास) पहले यकृत कुछ-न-कुछ बढ़ जाता है, परन्तु दृढ़ और विषम रहता है । प्लीहा का परिमाण स्वाभाविक की अपेक्षा बढ़ जाता है । लगभग चतुर्थांश रोगियोंको ऊर्ध्व रक्तपित्त हो जाता है; और कभी-कभी आमाशयमें संचित रक्त मलके साथ बाहर निकलता है । किसी-किसी को अन्नमेंसे रक्तस्त्राव होने लगता है । किसी-किसीको गुदाकी नलियोंमें रक्त भर जानेसे रक्तार्श हो जाता है । इस तरह अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं ।

इस रोगके अन्तमें जलोदर हो जाता है । बहुधा जलोदर शनैः-शनैः होता है । परन्तु कभी-कभी अकस्मात् शीत ज्वर आदिके आक्रमणसे

शीघ्र ही हो जाता है । जलोदर होनेपर मूत्र की मात्रा कम हो जाती है; और पेशाबमें एल्ब्यूमिन जाने लगता है । कभी-कभी शीत सह विषम ज्वर आता रहता है ।

यकृत-प्लीहा बड़े हुए हों, तो भी प्रतीत नहीं होते; और उदर की सब शिराये उभर आती हैं । फिर मूत्रविषयुक्त रक्त (Uraemia) बनने और अति क्षीणता आजानेपर मृत्यु हो जाती है; या राजयक्ष्मा, फुफ्फुसावरणप्रदाह अथवा अन्त्रक्षय रूप उपद्रव उत्पन्न होनेके पश्चात् मृत्यु की प्राप्ति होती है ।

यकृदाल्युदर और यकृतके कर्कसफोट (Cancer) के अनेक लक्षण समान होते हैं । इस हेतुसे व्यवच्छेदक लक्षण कोष्ठक रूपसे यहाँ देते हैं ।

लक्षण यकृदाल्युदर यकृतकर्कसफोट

१ रोगवृद्धि

शनैः शनैः

त्वरित

२ आकृति यकृत की आकृति विकसित या यकृत बड़ा, विषम तथा बड़ी सकुचित, गाठ नहीं होती, या बड़ी गाठों वाला होता है । छोटी होती है, और गाठें देर-गाठें भी जल्दी आती हैं । से आती हैं ।

३ वेदना नहीं होती ।

होती है ।

४ जलोदर हो जाता है ।

अनिश्चित ।

५ कामला देरसे होता है ।

तीव्र कामला होता है ।

उपदशज यकृदाल्युदर लक्षण—उपदश (फिरगरोग) पूर्वज-प्राप्त जन्मजात (Congenital) होनेपर उसके विषसे ६ से १२ वर्ष की आयुके बालकपर यह यकृदाल्युदर व्याधि आक्रमण करती है । कभी-कभी युवा व्यक्तिको भी यह रोग हो जाता है । क्वचित् इस व्याधिकी तृतीयावस्थामे गोद सदृश फिरगज ग्रन्थिया हो जाती हैं । इन ग्रन्थियोंको डाक्टरीमें गमा (Gumma) संज्ञा दी है ।

उपदशविषजनित इस विशीर्णताग्रस्त यकृदाल्युदरसे पीड़ित

बालकको शान्त निद्रा नहीं मिलती। अकस्मात् चमककर जाग जाता है। कोष्ठबद्धता, नेत्रके निम्न भागमें काला मण्डल, मांस पेशियोंमें विकृति, मूत्रमें अम्ल गुण विशिष्ट होना, मूत्रमें यूरिक एसिड बढ़ जाना आदि लक्षण प्रारम्भमें होते हैं। उपदंश रोगके जन्मसिद्ध इतर लक्षणोंसे भी रोग विनिर्णय करनेमें सहायता मिल जाती है। उपदंश रोग जिसको हुआ हो, उसे कभी-कभी उपदंश की द्वितीयावस्थामें यकृतके प्रदाहके हेतुसे कामला हो जाता है; और तृतीयावस्थामें उपदंशज ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। फिर चिरकारी वृद्ध यकृद्वालयुदरके सदृश प्रतीति होने लगती है। परन्तु इसके साथ जलोदर तो होता ही है। जलोदर होनेपर उदर फूल जाता है। उदर पर नीली और मोटी शिरायें स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं। यकृत् बढ़नेपर किनारी विषम रहती है। कारण, वृद्धि सर्वत्र सम नहीं होती। यकृत्का वामखण्ड बहुत छोटा होने पर भी दक्षिण खण्डकी अपेक्षा अधिक बड़ा हो जाता है।

यकृत् प्लीहाकी विलक्षण वृद्धि होती है। यकृत्की कुछ काल तक वृद्धि होकर फिर विशीर्णता होने लगती है। किन्तु प्लीहा तो क्रमशः बढ़ती ही जाती है। उस समय रोगीकी शक्ति अधिक क्षीण होती है। जलोदर बढ़ता है; और फिर शोथ रोग प्रकाशित होता है। मलिन त्वचा, मलावृत जिह्वा, सुधानाश, उदर किसीका कठिन और किसीका नरम, उदरमें अति वेदना तथा आमाशय, अन्त्र या नासिकासे रक्तस्राव होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। अधिक अतिसार, सर्वाङ्ग शोथ या साथ रक्तस्राव होने पर रोग असाध्य हो जाता है।

उपदंशज विषजनित विशीर्णता युक्त यकृद्वालयुदरके समान कभी-कभी विवर्धन युक्त यकृद्वालयुदरकी भी प्रतीति होती है। ऐसा होने पर लक्षणोंमें बहुत भेद हो जाता है; उसमें जलोदर नहीं होता। तथापि वह भी असाध्य ही है। इसके लक्षण पृ० २५६ में विवर्धनयुक्त यकृद्वालयुदरके लिखे जायेंगे।

कभी-कभी इस रोगके साथ द्वार सीता (Transverse Fissure)

पर उपदशज ग्रन्थि होनेसे प्रतिहारिणी शिरा या पित्तनलिका पीड़ित होती है । फिर जलोदर या कामला रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । यह कामला रोग बहुधा इस व्याधि वालोंमें से लगभग तिहाई या आधेको हो जाता है । फिर भी देह अधिक कृश नहीं होती ।

यकृतमें निम्न तल पर आगेकी ओर चतुरस्र पिण्डिका (Quadrante Lobe) और पीछेकी किनारीके समीप दीर्घ पिण्डिका (Caudate Lobe) रही है । इन दोनोंके मध्यमें द्वार सीता (Porta Hepatis or Transverse Fissure) नामक एक खाई रही है । इस द्वार सीताकी आगे एक संयोगी भूमिके सदृश अवयव-पिण्डयोजनिका (Caudate Process) रही है, जो अवयव दक्षिण पिण्ड (Right Lobe) को चतुरस्र-पिण्डिकाके साथ जोड़ता है ।

उपदशज यकृद्वाल्ग्युदर विनिर्णय—उपदशके पूर्ववृत्त या कुलवृत्त और उपदशके विषजन्य इतर लक्षण आदि सहायक होते हैं । कभी-कभी उपदशज अनेक ग्रन्थियोंके बदले एक ही बड़ी ग्रन्थि (Gumma) हो जाती है । कितनेक रोगियोंमें ज्वर आदि लक्षण होनेसे यकृद्विद्रधि (Abscess) की भ्रान्ति हो जाती है । किन्तु यकृद्विद्रधिके पूर्व रूपमें प्रवाहिका रहता है; अतः प्रवाहिका रूप पूर्ववृत्त है या नहीं ? इस बातका निर्णय होने पर यकृद्विद्रधिका संशय दूर हो जाता है ।

विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्ग्युदर ।

हेतुभेद या स्वरूप भेदसे इस व्याधिकी सज्ञा निम्नानुसार पृथक्-पृथक् हो जाती हैं ।

विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्ग्युदर—Hypertrophic Cirrhosis ।

चिरकारी पैत्तिक यकृद्वाल्ग्युदर—Biliary Cirrhosis ।

एकखण्डीय यकृद्वाल्ग्युदर—Unilocular Cirrhosis ।

अन्त्रविषज चिरकारी यकृद्वाल्ग्युदर—Budd's Cirrhosis ।

निदान—यह रोग विशेषतः २० से ३० वर्षकी आयु वाले पुरुषों

को होता है । कभी-कभी एक ही कुटम्बके अनेक मनुष्योंको हो जाता है । इस रोगका मूल कारण अज्ञात है । प्लीहासे उत्पन्न विष या इतर किसी अज्ञात चिरकारी रक्तदोषसे इसकी उत्पत्ति होनेका अनुमान होता है । कभी-कभी अति मद्यपान करने वालोंको आन्त्रिक कीटाणुजनित विषसे भी इस रोगकी संप्राप्ति होती है । ऐसे समय इतर लक्षण अन्त्र विकारके भी सहवर्त्ती होते हैं ।

सम्प्राप्ति—इस रोग की सम्प्राप्ति विशीर्णता युक्त यकृद्वाल्स्युदरमें विस्तारसे कही है । इस विकारमें केवल प्लीहा-वृद्धि अधिक होती है; और वह कभी-कभी यकृद्बृद्धिके पहले होजाती है ।

लक्षण—इस व्याधिका आगमन शनैः-शनैः होता है । कामला बहुधा जल्दी आता है; और तीव्ररूप धारण कर लेता है । क्वचित् कामला धीरे-धीरे भी बढ़ता है । एवं नाड़ी की मन्द गति, कण्डू, ज्वर, कभी-कभी यकृत् प्रदेशमें शूल और कृशता आदि लक्षण होते हैं । यकृत् और प्लीहा-वृद्धि होनेसे नाभिके ऊपरका भाग फूला हुआ प्रतीत होता है । इस रोगमें यकृद्बृद्धि अतिशय होजाती है । कभी-कभी तो यकृद्बृद्धि नाभिके नीचे तक होजाती है ।

कामला कभी-कभी कुछ कालके लिये घट भी जाता है । मूत्र और मलमें भी पित्त स्राव रहता है । सामान्यतः पित्तमार्गावरोधज कामलामें मलके साथ पित्त नहीं जाता; परन्तु इस रोगमें मल पित्त-मिश्रित होता है । इस हेतुसे यह रोग इतर कामलासे पृथक् होजाता है ।

यदि रोगके प्रारम्भ कालमें वमन, उन्नाक और आम्लाशयमें वेदना आदि लक्षण हों; तो कामला रोग की उत्पत्तिका सन्देह होजाता है । इस तरह यकृत्में पीड़ा होने पर पित्ताशयशूल की सम्भावना होती है ।

विशीर्णतायुक्त यकृद्वाल्स्युदरकी अपेक्षा इस प्रकारमें अजीर्णके लक्षण—वमन, उत्क्लेश आदि कम होते हैं । शिराओं पर दबाव न पड़नेसे बहुधा रक्तवमन और जलोदर नहीं होते । रोग की अन्तिमावस्था

मे कभी-कभी रक्तपित्तके समान, नाक, मुख, दन्तवेष और गुदासे रक्त-स्राव होता है ।

यह रोग विशीर्णतायुक्त यकृद्वाल्स्युदर की अपेक्षा अधिक काल तक रहता है । अनेक रोगी २-३ वर्ष तक दुःख भोगते हैं । रोग बहुधा याप्य है । रक्तस्राव, अधिक क्षीणता या इतर घातक उपद्रवका आक्रमण होने पर रोगी की मृत्यु होजाती है ।

उपदशविषजनित व्याधिमे विशीर्णतायुक्त यकृद्वाल्स्युदरके बदले यदि विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्स्युदर होता है, तो चर्म, चक्षु, देह, मूत्र और श्लैष्मिक कला, सब हल्दीके सदृश पीले होजाते हैं । परन्तु मलका रंग मैला श्वेत होता है । यकृत, प्लीहा, दोनो बढ़ जाते हैं । उदर विशेष नहीं फूलता । उदर की शिराएँ मोटी और शिथिल नहीं होती । परन्तु यकृद्बृद्धि अधिक होकर सत्वर कामला की सम्प्राप्ति होजाती है । मन्द ज्वर रहता है । यकृतमें अतिशय वेदना होती है । रोग जितना बढ़ता है; उतनी ही नाड़ी क्षीण और अनियमित होती जाती है । जिह्वा शुष्क सफेद-सी होती है । रोगी अति क्षीण होजाता है । अनेकोके नाक या मसूढ़ोंमेसे रक्तस्राव होने लगता है । फिर मूर्च्छा और तीव्र आक्षेप उप-स्थित होकर रोगी की मृत्यु होजाती है ।

रोग विनिर्णय—इस रोगमे सत्वर कामला होना, यकृत्प्लीहाका अत्यधिक बढ़ना, ये लक्षण रोगको अति स्पष्ट कर देते हैं । प्रतिहारिणी शिराका अवरोध न होनेसे जलोदर और उसके लक्षणोंका अभाव होता है । एव विशीर्णतायुक्त और विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्स्युदरके लक्षणोंमें निम्नानुसार भेद दृष्टिगोचर होता है ।

विशीर्णतायुक्त यकृद्वाल्स्युदर **विवर्धनयुक्त यकृद्वाल्स्युदर**

१ पित्तनलिकावरोध देरसे होनेसे पित्तनलिकावरोध सत्वर होनेसे
कामला सत्वर नहीं होता । कामला सत्वर हो जाता है ।

२ सौत्रिक तन्तुकी उत्पत्ति होजाने प्रतिहारिणी शिराकी शाखाओं

- से प्रतिहारिणी शिराकी शाखाओं में प्रतिबन्ध नहीं होता । जलोदर भी का संकोच हो जाता है । परि- नहीं होता । कदाच जलोदर हुआ तो अति देरसे होता है ।
- ३ प्रारम्भमें विकास फिर संकोच । क्रमशः अधिकाधिक वृद्धि ।
- ४ यकृदावरण मोटा हो जाता है । यकृदावरण मूल स्थितिमें रहता है
- ५ यकृत् दृढ़ और दानेदार हो जाता है । यकृत् मृदु होता है ।
- ६ अनेक खण्डीय अवरोध होता है । एक खण्डीय अवरोध होता है ।
- ७ यकृत् के कोषाणुओं का नाश हो जाता है । दीर्घकाल पर्यन्त यकृत् के कोषा-
णुओं का नाश नहीं होता ।

(२) बालपैत्तिक यकृद्वाल्ग्युदर ।

बालपैत्तिक यकृद्वाल्ग्युदर—इन्फेन्टाइल बिलियरी सिरोसिस—
Infantile biliary cirrhosis.

रोगपरिचय—यह विषम व्याधि विशेषतः नगरनिवासी बच्चोंको होती है । प्रायः यह रोग ८ से १३ मास तककी आयुवाले छोटे बच्चोंको होता है । यह रोग प्रारम्भावस्थामें सामान्य ज्वर सह होता है । फिर कामला और जलोदर हो जाते हैं । इस रोगमें यकृत् दृढ़, कठिन, वेदना विहीन और अति बढ़ा हुआ प्रतीत होता है ।

इस रोगका आविर्भाव बहुधा दांत आनेके समय होता है । इसमें घोर पीड़ा होती है । यकृत् खूब बढ़ जाता है । किसी-किसी स्थान पर इस रोगसे एक ही माता-पिताके अनेक बच्चे मर जाते हैं । किसी-किसी देशके जलवायुकी विचित्रताके हेतुसे इस रोगका आक्रमण अधिक होता है । क्वचित् किसी-किसी माता-पिताके पुत्र सन्तान सब चले जाते हैं; कन्याएँ सब जीवित रह जाती हैं । किसीकी कन्याएँ सब मर जाती हैं; और पुत्रोंको कोई बाधा नहीं पहुँचती । इसी तरह किसीकी पहली २-४

संतान मर जाती हैं । फिर नयी संतानों पर इस रोगका आक्रमण नहीं होता ।

निदान—इस रोगका कारण अज्ञात है । किसी-किसीकी मान्यता अनुसार निर्बल रोगिणी माता या गौके दुग्धके दोषसे इस व्याधिकी उत्पत्ति होती है । दूसरे विद्वानोंका कथन है कि, सगर्भावस्थामें स्तन्यके उपादान (दूधमे रहे हुए विविध तत्त्व) मे विलक्षणता हो जाती है । सगर्भा माताके स्तनपानसे बालकोंको यह रोग हो जाता है । परन्तु इस रोगका कोई निश्चित कारण नहीं जाना गया ।

लक्षण—इस रोगका आक्रमण शनैः शनैः होता है । दीर्घकाल तक बोध ही नहीं होता । प्रारम्भिक अवस्थामे शिशुके हाथ पैरोंके तल भागमे उष्णता, तृषावृद्धि, वीर्यवृद्धि, कभी-कभी उबाक और वमन होना, यकृतका सम्मुख-प्रवेश गोल, कठिन और बढ़ा हुआ भासना, ज्वर रहना, कभी-कभी ज्वर बढ़ जाना, कभी-कभी प्लीहाकी भी साथ-साथ वृद्धि हो जाना, जमीन पर सोनेमे शान्ति प्रतीत होना, स्वभावसे उग्र बन जाना, अरुचि, शिथिलता और उदासीनता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । इस रोगमे यकृत शनैः-शनैः बढ़ता ही जाता है । अन्तमे नाभिके नीचे जघन चूड़ा (Crest of Ilium) तक पहुँच जाता है ।

जैसे-जैसे यकृत बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अग्निमान्द्य, मलावरोध और ज्वर मे भी वृद्धि होती जाती है । रोगी कृश और बलहीन हो जाता है । यकृत की आगेकी किनारी प्रारम्भमें कठिन, गोल, उन्नत और श्लक्ष्ण प्रतीत होती है । फिर धीरे धीरे पतली और धारयुक्त (Sharped) हो जाती है । साथ साथ ज्वर रहने लगता है, और प्लीहा भी बढ़ जाती है । यकृत्प्लीहा, दोनों बढ़ जानेसे उदर जंचा उठ आता है, और उदरकी शिराएं भी बाहरसे प्रतीत होने लगती हैं ।

प्रारम्भमें मल पीले रंगका, फिर मैले रंगका और अन्तमे श्वेत

वर्णका हो जाता है । नेत्र निस्तेज और शुष्क बन जाते हैं, तथा प्रस्वेद नहीं आता ।

अग्निमान्द्य, उदर कठिन हो जाना, कण्ठ शुष्क हो जाना आदि लक्षणोंके पश्चात् कामला की उत्पत्ति होती है; तथा हाथ पैर और उदरपर शोथ आकर जलोदर की उत्पत्ति हो जाती है । कामला होने पर नेत्रावरण, नेत्रकी श्लैष्मिक कला और त्वचाका रंग पीला हो जाता है । पेशाब पित्तमिश्रित पीला हो जाता है । इस समयके पश्चात् यकृतका हास होने लगता है । अंतमें दुर्बलता और आक्षेपक वातके भटकने आने लगते हैं; और बालक की मृत्यु हो जाती है ।

श्वच्छेद विनिर्णय—मृत शिशुके श्वका छेदन करके परीक्षा करने पर यकृत सातिशय विवर्द्धित, सूक्ष्म-सूक्ष्म ग्रन्थि युक्त (Nodular) पित्तरञ्जित, दृढ़ और सौत्रिक तन्तुमय, पित्ताशय संकुचित और शून्य तथा साधारणी : पित्तनलिका (Common Bile-duct) का छिद्र खुला भासता है । कण्डिकान्तराल प्रदेश (Interlobular Space) में सौत्रिक तन्तुकी उत्पत्ति अत्यधिक परिमाणमें होती है । फिर वह सब कण्डिकाओं (Lobules) में प्रविष्ट होकर यकृत कोषाणुओं को पृथक् कर देता है । या दो-दो तीन-तीन कोषोंके गुच्छ समूहों को परिवेष्टित कर देता है । जितने स्थलमें सौत्रिक तन्तुओं की व्याप्ति होती है; उतने भागमें यकृतका ध्वंस हो जाता है । यह विनाश सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धिसे ही होता है; और इन सौत्रिक तन्तुओं को फैलानेका काम सूक्ष्म पित्तप्रणालिकाएँ करती हैं । यकृत-कोषाणु, जो नष्ट हो जाते हैं, उनके स्थानों पर गुलाबी रंगके कण दृष्टिगोचर होते हैं । एवं कुछ पित्त प्रणालिकाएँ नयी उत्पन्न हो गई हैं, ऐसा अनुमान होता है ।

यकृत कोषोंके संयोजक तन्तु न्यूनाधिक अंशमें नष्ट हो जाते हैं, फिर संयोजक तन्तु, कणमय पदार्थ, रंजकपित्त और सूक्ष्म तैलकोष, सबका परिवर्तन हो जाता है । इन स्थलोंमें अपेक्षाकृत ध्वंस न्यून होता

है । इस स्थलके सब यकृतकोषाणु गुलाबी रंगके सूक्ष्म और क्षुद्र द्रव्यसे भरे हुए भासते हैं ।

यकृतदावरण स्थूल नहीं बनता; नवनिर्मित सौत्रिक तन्तुओंके साथ विशेष रूपमें जीवकेन्द्र (Nucleus) प्रतीत होते हैं, और वे रक्त-प्रणालियोंमें फैल जाते हैं । प्लीहा बढ़ जाती है, किन्तु रक्त परीक्षा करने पर विषम ज्वर या इतर किसी रोगके कीटाणुओं की प्रतीति नहीं होती ।

साध्यासाध्यता—यह रोग बहुधा असाध्य है । अनेक बालक ३ से ६ मास तक दुःख भोगकर मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं ।

यकृतमें रक्ताधिक्य ।

यकृतमें रक्ताधिक्य—कॉन्जेशन ऑफ़ धी लीवर Congestion of the Liver ।

रोग परिचय—यकृत की सब रक्तवाहिनियोंमें अधिक रक्त संचार हो जानेसे यकृतमें रक्तकी वृद्धि हो जाती है । फिर यकृत्तर दबानेसे वेदना होती है । पचन सस्थामें विकृति, मन्द ज्वर और सामान्य कामला आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

इस रोगके २ प्रकार हैं । तीव्र रक्ताधिक्य (Acute Congestion) और अशक्ति जन्य रक्ताधिक्य (Passive Congestion) । धामनिक रक्तवृद्धिको एक्जुट कांजेशन और एक्जुट हाइपरिमिया (Acute Hyperemia) कहते हैं । तथा केशवाहिनियोंमें रक्तवृद्धि होनेपर पेसीव कांजेशन या पेसीव हाइपरिमिया कहलाते हैं ।

तीव्र रक्ताधिक्य निदान—सक्रामक ज्वर आदिके कीटाणु जन्य यकृतप्रदाह, यकृतमेंसे जानेवाले रक्तप्रवाहमें प्रतिबन्ध, रक्तस्राव का स्वाभाविक रोध हो जाना, अति शराब, अति भोजन, चरपरे और विदाही पदार्थों का अधिक सेवन तथा आलसी स्वभाव आदि कारणोंसे इस रोग उत्पत्ति होती है ।

मासिक धर्म और रक्तार्शके रक्तप्रवाह का अवरोध हो जानेसे हृदयके

दक्षिण अलिन्दमें रक्त लानेवाली अधरा महाशिरा (Inferior Vena Cava) पर दबाव पड़ने या इतर किसी भी हेतुसे दबाव आ जानेसे रक्त का संग्रह हो जाता है । इनके अतिरिक्त आमाशय और अन्त्रमें प्रदाह होने, या अधिक शीत लग जानेपर भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है । यह रोग विशेषतः नाजुक प्रकृतिवालों को एवं गादी तकिये पर बैठे रहने वाले और गरिष्ठ भोजन करनेवालों को हो जाता है ।

(१) तीव्र रक्ताधिक्य लक्षण—यकृतप्रदेशमें पीड़ा और भारीपन, दबानेसे पीड़ा सहन न होना, यकृद्वृद्धि, दक्षिण हृदयाधारिक प्रदेश (कौड़ी प्रदेश—Epigastric region) में भारीपन और खिंचाव, अग्निमान्द्य, अजीर्णके लक्षण, मुँहमें कड़ुवापन, अपचन, उदर में भारीपन, मलावृत जिह्वा, आफरा, कभी-कभी उबाक और वमन, शिरदर्द, बद्धकोष्ठ, शुष्क कास, कभी-कभी पतले दस्त होना, मानसिक व्याकुलता, निस्तेजता, दुर्बलता, किञ्चित् कामला, मन्द ज्वर, रक्तकी हीनावस्था, सामान्य रीतिसे दक्षिण स्कंध प्रदेशमें अंसफलक (Scapula) के ऊपरसे बाहुतक मृदु वेदना होना, हाथ-पैरोंमें ऐंठन, बार-बार जम्माई आना, शिरःशूल, चक्कर आना, निद्रानाश और हृदयकी गतिमें वृद्धि (Palpitation) आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । इनके अतिरिक्त कूदने या ऊपर नीचे चढ़ने-उतरने पर यकृतमें वेदना होती है । एवं इस व्याधिसे छातीमें तीव्र वेदना और आफराके हेतुसे भी रोगी को अधिक कष्टका अनुभव होता है ।

इस रोगके लक्षण सामान्य रूपसे प्रतीत होते हैं । कभी-कभी ये सब लक्षण शमन भी हो जाते हैं; किन्तु चिरकाल तक रक्तसंचय और यकृद्वृद्धि होनेपर जब थोड़ी-सी भूल हो जाती है; तब तीव्र प्रदाह और स्फोटकों की उत्पत्ति हो जाती है । पेशाबके वर्णमें गूढ़ता, अति पीला या लाल और गाढ़ापन आ जाता है । यदि मूत्रको कुछ समय तक रहने दें; तो क्षार रूप प्रक्षेप (Lithates) तलभागमें बैठ जाता है ।

यदि रोग दीर्घ काल तक रह जाय; तो रक्तार्शकी उत्पत्ति हो जाती है; और नेत्रावरणका वर्ण पाण्डु हो जाता है । यदि यकृत पर ठेपन किया जाय; तो घनध्वनि स्वाभाविककी अपेक्षा अधिक दूर तक फैल जाती है । आशुकारी रक्तसंचय-सह यकृद्वृद्धिके लक्षण यकृतप्रदाहके सदृश हो जाते हैं । परन्तु लक्षणोंमें कुछ न्यूनता रहती है । यकृतप्रदाहमें ज्वर रहता है, इसमें नहीं रहता । कदाच ज्वर हो; तो भी मन्द रहता है ।

सामान्य कामला (Catarrhal Jaundice) और इस यकृद् वृद्धि रोगके लक्षणोंमें समानता होनेसे अनेक बार भ्रम हो जाता है । किन्तु कामलाके रोगाग्निमें आमाशय और अन्नविकारके लक्षण-सह प्रबलतर कामला उत्पन्न होता है । तब इस रोगमें ये सब लक्षण अपेक्षा कृत अस्पष्ट रहते हैं । इस रोगमें किञ्चित् कामला और थोड़ी-सी यकृद्वृद्धि होती है ।

साध्यासाध्यता—आहार-विहार नियमित रखने पर रोग शमन हो जाता है । अपथ्य सेवन करने पर बार-बार रोगका आक्रमण होकर अतमें यकृद्वाल्गुदरकी प्राप्ति हो जाती है ।

अशक्तिजन्य रक्ताधिक्य निदान—हृदयके दक्षिण निलय (Right Ventricle) विस्तृत हो जानेसे उससे शोषण (Suction) क्रिया यथोचित नहीं होती । जिससे यकृतमेंसे हृदयकी ओर जाने वाला रक्त यकृतमें ही भरा रहता है । फिर इसी हेतुसे प्रतिहारिणी शिराका अवरोध हो जाता है । इस हृदयखण्डकी विस्तृतता हृद्‌रोग या फुफ्फुस-रोगके हेतुसे होती है । इस तरह वृक्क विकार और हृदयमें अशुद्ध रक्त लाने वाली अधरा महाशिरा (Inferior Vena Cava) पर किसी हेतुसे दबाव आनेसे भी इस रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

(२) **अशक्ति जन्य रक्ताधिक्य लक्षण**—इस विकारके प्रारम्भ में यकृतके भीतर रक्त-संचय अधिक होजाता है; और बार-बार यकृतका वृद्धि-हास होता रहता है । पूर्ण भोजन कर लेने पर अथवा देहको शीतलता लग जाने पर यकृत की वृद्धि होजाती है; और विरेचन देनेसे

वृद्धि का ह्रास होजाता है; किन्तु यकृद्वृद्धि जीर्ण होजाने पर अथवा बार-बार वृद्धि होती रहनेसे यकृत्के संयोजक तन्तुओं (Connective tissue) की वृद्धि (Hypertrophy) होजाती है; अथवा सौत्रिक तन्तु की अवस्थाको प्राप्त होजाते हैं । एवं पित्तस्राव कराने वाले कोषाणुओंका ह्रास होता है; अथवा संकोच होजाता है; इन सब स्थानोंमें यकृत्का बाह्य प्रदेश मृदु तथा यकृत्के भीतरका भाग घन और दृढ़ होजाता है । एवं काटने पर उसमेंसे बहुत रक्तस्राव होता है ।

रोग की जीर्णावस्थामें यकृत् की स्थिति विशीर्णतामय यकृद्वाल्सुदरके सदृश होजाती है । रोग की परिवर्तन अवस्था प्राप्त होने पर यकृत्के आकार और अवयवोंका ह्रास होजाता है; अथवा यकृत् मेदापक्रान्ति (Fatty Degeneration) अथवा सिक्थापक्रान्ति (Lardaceous Degeneration) से ग्रसित होता है ।

मेदापक्रान्ति होने पर कोषाणुओंका नाश होकर मेदवृद्धि होती है; और सिक्थापक्रान्ति होनेपर संयोजक तन्तु मोमके सदृश हो जाते हैं । इस अपक्रान्तिका प्रारम्भ यकृत्की कण्डिकाओं (Lobules) के भीतर रही हुई सूक्ष्मवाहिनियोंके स्थानमें से होता है । इस पदार्थका यकृत्के कोषाणुओं पर दबाव पड़नेसे वे चिटक जाते हैं । फिर यकृत्-कोषाणु मेदग्रसित होकर संकुचित हो जाते हैं ।

साध्यासाध्यता—हृदय विकारकी स्थिति और रोगके स्वरूप पर साध्यासाध्यताका आधार है । हृदयमें अधिक विकृति न हुई हो; तो रोग साध्य माना जाता है ।

(४) प्लीहावृद्धि ।

प्लीहावृद्धि—स्लैनिक एन्लार्जमेण्ट—Splenic enlargement ।

प्लीहा—(Spleen) देहमें रही हुई स्रोत रहित ग्रंथियों (Ductless Glands) में सबसे बड़ी है । इसका रंग अति बैजनी (Dark purplish) है । यह उदरके भीतर बायें अनुपार्श्विक प्रदेशमें महा-

प्राचीरा पेशीके नीचे ६-१० और ११ वीं पशुर्काके भीतर रही है । इसके ऊर्ध्व शिराका प्रवेश हृदयाधारिक प्रदेशमें हुआ है ।

प्लीहाका आकार और वजन—प्लीहाकी आकृति और वजन भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी देहमें भिन्न-भिन्न आयुमें भिन्न-भिन्न होते हैं । एव पृथक्-पृथक् सयोगोंमें भी आकृतिमें परिवर्तन हो जाता है । सामान्य रीतिसे एक युवा मनुष्यके देहमें प्लीहा ७-८ अगुल लम्बी ४ अगुल चौड़ी और २ अगुल मोटी होती है । लगभग यह लम्बचतुष्कोण या त्रिकोणाकार (Triangular) की है । इसका महाप्राचीरापेशीकी ओर रहा हुआ भाग बहिर्गोल है । इसकी आकृति टूटे हुए घड़ेके मोटे कपाल जैसी है । वजन लगभग १५ तोले है । विविध सकामक रोग (विषम ज्वर) आदिसे इसकी आकृति और वजन, दोनोंमें वृद्धि हो जाती है । प्लीहोदरमें तो इसकी इतनी वृद्धि हो जाती है कि, कभी-कभी यह उदरके बहुत भागको रोककर कमर तक पहुँच जाती है ।

सपूर्ण प्लीहा उदर्याकलासे आच्छादित है । यह प्लीहा तीन कला-बधनियों (Aponeuroses) द्वारा इतर अवयवोंके साथ सम्बन्धमें आती है, और अपने स्थानमें यथोचित रूपसे रहती है । एक कला-बधनी आमाशयके स्कंध भागके साथ, दूसरी महाप्राचीरा पेशीके साथ और तीसरी बाँये मूत्रपिण्डके साथ सलग्न कराती है ।

प्लीहाकी परीक्षा करने पर उदर्याकलाके एक स्तरके नीचे उसका दूसरा स्तर प्रतीत होता है । जो स्तर स्थितिस्थापक गुणयुक्त स्नायु सूत्रों (Fibro-elastic Capsule) का बना हुआ है । इस स्तरकी शाखाएं प्लीहाके भीतर प्रवेश करती हैं, और उसमें अनेक खण्ड तैयार कर देती हैं । इन खण्डोंमें प्लीहिक वस्तु (Spleen pulp) नामक अति लाल-काले वर्ण वाले (Dark reddish-brown) मावेसे पूर्ण रहता है । अभिप्लीहिक धमनी (Splenic Artery) की सूक्ष्म पंतली शाखाओंके अन्तर्भागमें से इस मावेके भीतर रक्त प्रवेश करता रहता है ।

प्लीहा कार्य—आयुर्वेदके मत अनुसार प्लीहा रंजकपित्तकी उत्पत्ति करती है, परन्तु डॉक्टरों के मत अनुसार प्लीहाके भीतर रक्तमें रहे हुए रक्ताणुओंकी उत्पत्ति होती है। इस प्लीहामें से सूक्ष्म अंतःस्त्राव भी होता है ऐसी कितनेक विद्वानोंकी मान्यता है।

इन्द्रिय विज्ञान शास्त्रके मत अनुसार प्लीहा पचनेन्द्रिय संस्थासे कुछ सम्बन्ध वाली है। तथापि डॉक्टरों ने निदानकारों ने प्लीहाके रोगोंका विवेचन अन्तःस्त्राविक प्रस्थियोंके रोगों के साथ किया है। प्लीहामेंसे अन्तःस्त्राव (Internal Secretion) होता है या नहीं ? इस बात का निश्चय अभी तक नहीं हुआ। एवं प्लीहाका कार्य शारीरिक व्यापार विनिमयमें क्या है ? यह भी अभी तक निर्णित नहीं हुआ। कारण, शस्त्रक्रियासे प्लीहाको निकाल देने परभी रक्तमें थोड़ी विकृतिके अतिरिक्त देहको अधिक हानि नहीं होती। अनेक शोधके पश्चात् इतना अनुमान होसका है, कि, रक्ताणु और श्वेताणुओं के परिवर्तनका कार्य प्लीहा करती है। एवं पचन क्रियाके साथ इसका कुछ सम्बन्ध है।

निदान—इस रोगकी उत्पत्ति विविध कारणोंसे हो जाती है। विषम ज्वर, काला आजार या इतर तीव्र संक्रामक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, हृदयके कपाटकी विकृति, रक्तविकार, यकृत की विविध व्याधियां, प्रतिहारिणी शिरावरोध, देहमें पूयोत्पत्ति और बालकोंके बालग्रह आदि रोग तथा प्लीहाबुद् आदि व्याधियोंमें प्लीहाकी वृद्धि होजाती। यह रोग स्वतन्त्र नहीं है ; लक्षण या उपद्रव रूपसे प्रकाशित होता है।

लक्षण—स्थानिक वेदना, पाण्डुता, अशक्ति, रक्तमें श्वेत जीवाणु की संख्यावृद्धि, मंद ज्वर और जीर्ण ज्वरके लक्षण आदि प्रतीत होते हैं। अनेक बार यकृत भी साथ-साथ बढ़ने लगता है।

चिकित्सकको दृष्टिगोचर हो सके, ऐसा मुख्य लक्षण प्लीहा-वृद्धि है, यह स्पर्श परीक्षासे विदित होता है। प्लीहा की बाह्य किनारीमें एक खड्डा (Notch) है ; इस हेतुसे यह इतर इन्द्रियोंसे पृथक् हो जाती है। प्लीहावृद्धि होने पर यह खड्डा हाथको लगता है। यदि प्लीहावृद्धि न

हुई हो; तो इस खड्डे को स्पर्श नहीं हो सकता । कितनेक रोगियोंमें अस्थिमार्दव, पूयभृत फुफ्फुसावरण या इतर कारणसे (प्लीहा पर दबाव आजाने आदिसे) जब प्लीहा स्थान-भ्रष्ट होकर नीचे चली जाती है; तब प्लीहावृद्धि न होने परभी विदित होजाती है ।

स्वस्थावस्थामे प्लीहाका बोध ठेपन द्वारा होता है । वामपार्श्वके भीतर नवम और एकादश पशुकाके मध्यमे वाम कूर्चाधस्थ भागमें यह सुरक्षित रही है । इसके ऊपरके हिस्सेमे फुफ्फुस रहा है । इसकी परीक्षा करनेके समय एक कोन रेखा (Axillary line) वाम कुक्षिके मध्यभागसे नाभि तक निकाल, उसपर अंगुली द्वारा ठेपन करते हुए नीचे आने पर किसी स्थान मे से घनध्वनि नहीं आनी चाहिये । परन्तु प्लीहावृद्धि होनेसे इस रेखा पर प्रतिघात-ध्वनि घन होजाती है । जिस परसे प्लीहावृद्धि जाननेमें आजाती है ।

अनुभव करने योग्य बाह्य लक्षण—(१) किनारीमें रहे हुए खड्डेका दर्श होना ।

(२) श्वासोच्छ्वासके साथ प्लीहा ऊपर-नीचे होना ।

(३) ठेपन करने पर घन-ध्वनि आना ।

(४) वृद्धि होने पर भी आकारमें परिवर्तन न होना ।

(५) प्लीहा श्लक्ष्ण किन्तु दृढ हो जाना ।

इन लक्षणों परसे विनिर्णय हो जाता है ।

व्यवच्छेदक लक्षण—प्लीहावृद्धि होने पर निम्न व्याधियोंके लक्षणों से व्यवच्छेद करनेके लिए लक्ष्य देनेकी आवश्यकता रहती है ।

(१) आमालशयके सिरे पर कर्कसफोट (Cancer) होने पर ठेपन ध्वनि घन होती है; परन्तु इस रोगमें इतर लक्षण अधिक स्पष्ट होनेसे निर्णय हो जाता है ।

(२) यकृतके वामखण्डकी वृद्धि होने पर ठेपन सम्बन्ध यकृतके साथ रहनेसे विदित हो सकता है । प्लीहावृद्धिमें ठेपनका यकृत तक अखण्ड सम्बन्ध नहीं रहता ।

(३) वृक् स्थान पर अर्बुद (Kidney tumours) होनेसे इस अर्बुद पर; और समीपमें अन्त्र पर ठेपन ध्वनि सौषिर ध्वनि (Tympanitic resonance) आती हैं । प्लीहा पर अन्त्र न होने से घन ध्वनि उत्पन्न होती है ।

(४) बीजकोष (Ovary) पर अर्बुद होनेसे यह नीचेसे ऊपर बढ़ता है; प्लीहा ऊपरसे नीचे बढ़ती है । इस परसे दोनोंका भेद हो जाता है ।

(५) आंतोंमें मल संचय होने पर यह स्थान ऊँचा-नीचा और अनियमित रहता है; प्लीहा वृद्धि समभावसे होती है ।

(६) उदर-स्थित धमनी-विस्तार (Abdominal Aneurysm) होने पर पीठकी ओर वेदना तथा बढ़ने-घटने वाला स्पंदन होता है ।

प्लीहावृद्धि यह विशेषतः उपद्रवात्मक है । तीव्र संक्रामक ज्वरमें प्लीहामें तीव्र रक्तवृद्धि (Acute congestion) तथा हृद्दोग और प्रतिहारिणी शिराके अवरोधमें निरुग्रायसे वृद्धि (Passive congestion) होती है । क्षयज या उपदंशज चिरकारी पूय भाव (Chronic suppuration) होने पर भी प्लीहाकी सिक्थापक्रान्ति (Waxy Degeneration) होता है । एवं कीटाणु-जन्य विषसे भी सिक्थापक्रान्ति हो जाती है । त्रिदोषजपाण्डु, हलीमक, रक्तमें श्वेताणु वृद्धि, प्लीहोदर (प्लीहावृद्धिसह पाण्डु) आदि रक्त संस्थाके रोगोंमें प्लीहा शनैः-शनैः बढ़ती जाती है; परन्तु इन सब रोगोंमें मूल रोगोंके लक्षण भी प्रतीत होते हैं । बालकोंके बालग्रह, क्षय आदि रोगोंमें रोगकी तीव्रता या मन्दताके अनुरूप प्लीहावृद्धि त्वरित या शनैः-शनैः होती है ।

पूयमय रक्तसे प्लीहावृद्धि—रक्त पूयमय बनने पर प्लीहा पर विद्रधि रोग हो जाता है । फिर प्लीहा बढ़ने लगती है । परन्तु इतर रोगोंके समान इसमें वृद्धि नहीं होती । इतर रोगोंमें प्लीहा निम्न भागमें

क्रमशः बढ़ती है; तब विद्रधिके हेतुसे वृद्धि किस ओर हो, यह अनिश्चित रहता है ।

तीव्र ज्वरसे प्लीहावृद्धि—विषमज्वर, कालाआजार, आन्त्रिक ज्वर, पूयोत्पत्तिसे उत्पन्न ज्वर, क्षय ज्वर, उपदशज ज्वर, प्रसूति ज्वर और इतर अनेक रोगोंके साथ रहे हुए ज्वरके हेतुसे प्लीहावृद्धि हो जाती है ।

प्लीहामे क्षय कीटाणुओं (स्यूबरक्युलोसिस) की भी उत्पत्ति या प्रवेश हो सकता है । क्षयकीटाणुओंमें दो भेद हैं । एक प्रकारके क्षय कीटाणु अत्यन्त क्षुद्र धूसर वर्णके कणयुक्त और विविध आकारके होते हैं । दूसरे प्रकारके क्षयकीटाणु बड़े होते हैं । क्षयकीटाणुका प्रवेश होने पर प्लीहा-मे रहे हुए विविध आकारके गोल खण्ड और उनमे भरा हुआ पनीरवत् द्रव्य (प्लीहिक वस्तु) सबका रूपान्तर हो जाता है, चारो ओर बाजरी के दाने सदृश कण हो जाते हैं; तथा इनकी वृद्धि होनेपर मध्य स्थल कोमल हो जाता है ।

तीव्र ज्वर कुछ दिनों तक रह जाने पर प्लीहा बढ़ जाती है, परन्तु जो रोगी बढ़ते तापमें ताजा शीतल जल पीता है और भोजन करता है; वह प्लीहावृद्धिसे विशेष पीड़ित होता है । यदि प्लीहावृद्धि नूतन है, तो ज्वर दूर होने पर स्वयमेव शान्त हो जाती है । कदाचित् अधिक दिन हो जाते हैं; तो प्लीहावृद्धिके साथ बहुधा मंद ज्वर भी रहता है; और अपथ्य (मधुर पदार्थ या खटाई आदि) खाने पर ज्वर बढ़ जाता है । अतः पथ्य पालन कर जीर्ण ज्वर और प्लीहावृद्धि नाशक उपचार करना चाहिये । एवं ताप बढ़जाय तब विषमज्वर नाशक ओषधिका सेवन करना चाहिये ।

(५) प्लीहोदर ।

प्लीहोदर—स्प्लैनिक एनिमिया-बैन्टिज डिजीज—Splenio Anaemia-Banti's Disease ।

परिचय—इस रोगमें प्लीहा क्रमशः बढ़ती जाती है; और देहमें पाण्डुता (रक्त की न्यूनता) की भी वृद्धि होती जाती है । नाना प्रकारसे रक्तसाव होने लगता है; रोग बढ़ जाने पर यकृद्वात्युदर, कामला और जलोदर की उत्पत्ति भी हो जाती है । यह रोग देहके इतर यन्त्रों की व्याधिके साथ उपद्रव रूपसे उत्पन्न नहीं होता; किन्तु यह स्वतंत्र ही होता है । अतः इसे डाक्टरीमें प्राइमरी स्प्लेनोमेगालिया (Splenomegalia) भी कहते हैं । यह प्लीहोदर रोग दीर्घकाल स्थायी है । १०-१२ वर्ष पर्यन्त रह जाता है ।

भगवान् धन्वन्तरि कथित आयुर्वेदीय प्लीहोदर रोगके लक्षण—
“मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।”
ये सब इस स्प्लैनिक एनिमिया रोगमें प्रतीत होते हैं; और इस रोग की अंतिमावस्थामें जलोदर हो जाता है । इतर कितनेक विद्वानोंने दूसरे रोगोंके उपद्रव रूप प्लीहावृद्धि को प्लीहोदर लिखा है । परन्तु इतर प्लीहा वृद्धिमें अति पाण्डुता नहीं होती; और शेषावस्थामें जलोदर भी नहीं होता । अतः इतर प्लीहावृद्धि को आयुर्वेद-ग्रन्थकारोंने प्लीहोदर नहीं माना, ऐसी मेरी समझ है ।

निदान—इस रोगका कारण अज्ञात है । कभी-कभी इस रोगके सहवर्ती विषम ज्वर दृष्टिगोचर होता है । अधिक स्थलोंमें प्लीहाकी अत्यधिक वृद्धि होजानेसे उदरगुहा और उरोगुहामें रहे हुए अनेक यन्त्रों पर दबाव पड़ता है । जिससे उन यन्त्रों की विकृतिके लक्षण भी प्रकाशित हो जाते हैं । यह रोग स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है । पुरुषोंमें भी यह रोग विशेषतः मध्यावस्था (२५ से ४० वर्षकी आयु) में अधिक होता है । क्वचित् यह रोग बिल्कुल छोटी आयुवाले बालक और बालिकाओं पर भी आक्रमण कर देता है ।

संप्राप्ति—भीतर रहे हुए प्लीहाके संयोजक तन्तु, रक्ताणु और प्लीहा द्रव्य (Spleen pulp) नष्ट होकर उसके बदले सौत्रिक धातु अत्यधिक

बन जाती है । प्लीहाको काट कर देखने पर सौत्रिकतन्तु बड़े हुए प्रतीत होते हैं ।

लक्षण—यह अति चिरकारी रोग है । इस रोगके प्रारम्भकालसे प्लीहा-वृद्धि होने लगती है । यह वृद्धि चारों ओर समभाव होती है । विवर्धनप्राप्त प्लीहाका भाग मसृण होता है । प्लीहा बढ़कर नाभिके नीचे श्रोणिप्रदेशमें चली जाती है । कभी-कभी उदर गुहाके वाम अर्ध भाग को भी दबा देती है । ऐसी विषमाकार प्लीहा अनेक वर्षों तक रहती है; तोभी कोई विशेष त्रास नहीं होता । प्लीहामें वेदना नहीं होती । दबाने पर पीड़ा मालूम पड़ती है । कभी-कभी जल्दी (विशेषतः देरसे) पाण्डु रोग उपस्थित होता है । वमन भी होने लगती है । यह पाण्डु रोग सत्वर बढ़ने लगता है । बालकों के लिये तो कुछ सप्ताहमें ही अतिशय प्रबल और घातक बन जाता है । सामान्य रीतिसे रक्तके रक्ताणु और श्वेताणु, दोनोंकी संख्या अति कम होजाती है । देह शनैःशनैः पाण्डु वर्णका बनता जाता है । पैरोमें शोथ आजाता है ; और थोड़ा श्वास रूप लक्षण भी प्रतीत होने लगता है । बीच-बीचमें पाण्डु रोग अति तीव्र हो जाता है । कोई कोई समय अधिक परिमाणमें रक्तवमन वर्षों तक होती रहती है ।

वमन बहुधा प्रारम्भ कालसे होने लगती है । इस वमनसे रोगीको मृत्युके तुल्य वेदना होती है । इस वमनका रक्त सामान्यतः अन्न-नलिका और ग्रसनिका (Pharynx) में से होकर बाहर आता है । किसी-किसीको रक्त अन्त्रमें होकर मलमार्गसे बाहर निकलता है । क्वचित् मूत्र मार्गसे भी रक्त जाने लगता है । किसीकिसी रोगीको त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) के सदृश इतर लक्षण—देह पर नीले दाग होना आदि भी प्रतीत होने लगते हैं ।

रोगकी वृद्धि हो जाने पर यकृतकी वृद्धि होने लगती है । फिर प्लीहा-वृद्धि या यकृतवृद्धिके हेतुसे रोगकी शेषावस्था में जलोदर होजाता

है । यदि यकृद्वृद्धिके हेतुसे जलोदर होता है, तो सामान्यतः कामला भी साथ-साथ होजाता है ।

यदि इस रोगमें यकृत् और प्लीहा, दोनों की वृद्धि सत्वर और अत्यधिक परिमाणमें हो; तो डाक्टरीमें उसे गौचर्स डिज़ीज़ (Gaucher's Disease) कहते हैं । उसमें पाण्डुता देरसे आती है; त्वचा मलिन, श्याम-सी हो जाती है; और जलोदर नहीं होता । इसके अतिरिक्त डा० मिनकाउस्कि वर्णित चिरकारी प्लीहावृद्धि रोग है । जो एक कुटुम्बके अनेकों को हो जाता है; और वंशावली क्रमसे सन्तानोंमें प्रकाशित होता है । रोगीको पूर्ण स्वस्थता प्रतीत होती है । मूत्र परीक्षा करनेपर यूरोब्राइलिन (Urobilin) प्रतीत होता है । परन्तु पित्तरञ्जक द्रव्य (Bile Pigments) नहीं जाता । मूत्रपरीक्षाके लिये चि० त० प्र० के प्रथम खण्डके पृष्ठ १०५ और १२३ देखें ।

(६) जलोदर ।

जलोदर—एसाइटिस—हाइड्रोपेरिटोनियम—एन्डोमिनल ड्राप्सि—ड्राप्सि आफ् डी पेरिटोनियम—Ascites—Hydroperitoneum—Abdominal—Dropsy—Dropsy of the Peritoneum ।

रोग परिचय—उदर्याकलामें तरल का संचय होनेको जलोदर कहते हैं । डाक्टरीमें इसे मुख्य रोग नहीं माना । इतर रोगोंके लक्षण या उपद्रव रूप कहा है । एवं इस जलोदरका सर्वाङ्ग-शोथ (Anasarca) में अन्तर्भाव किया है । यन्त्रस्थ कारणों की दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर उदर्याकला, फुफ्फुस, हृदय, यकृत् और वृक्के चिरकारी विकारोंके हेतुसे इस जलोदर रोगकी सम्प्राप्ति होती है ।

निदान—प्रतिहारिणी शिराके रक्त संचारमें प्रतिबन्ध, हृद्दरोग, वृक्कविकार, पाण्डु, उदर्याकलाका क्षय आदि रोगोंमें उपद्रव रूपसे जलोदर की उत्पत्ति हो जाती है ।

हृदरोग, यकृत्में कृमिज रसाबुर्द, चिरकारी यकृत् प्रदाह, यकृद्वा-

त्युदर, या यकृतमे अर्बुद होनेपर जब यकृतके भीतर सौत्रिक तन्तुओं की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, तब आमाशय और अन्न आदि स्थानोसे लाया हुआ रक्त यकृतमे घूम नहीं सकता । फिर वह वापस लौटता है । इस स्थितिमें रक्त का कुछ अश परिनाभिकायोजनी शिराओं (Para-Umbilical veins) द्वारा पुनः अधिश्रोणिका शिराओं (Illiac veins) और इतर कायिक शिराओं (Systemic veins) के प्रवाहमे मिल जाता है । इस तरह प्रत्यावर्तन (Collateral Circulation) होनेमे रक्तके बहुत भागको वापस लौटनेका मार्ग सत्वर न मिलनेसे प्रतिहारिणी शिराके समीप प्रदेशमे रक्त रुकता है । फिर शिराओं की दीवारोमेसे जलाश टपकने लगता है, जो अन्त्रावरण (Peritoneum) में जाकर और समहित होकर जलोदर की सम्प्राप्ति करा देता है ।

परिनाभिका योजनीशिराएँ—ये सब छोटी-छोटी शिराएँ उदरके आगेकी दीवार पर फैली हैं । ये शिराएँ डोरीके सदृश शुष्क सवाहिनी शिराओं (Umbilical veins) के साथ नाभि प्रदेशसे यकृतकी ओर ऊर्ध्वगमन करके प्रतिहारिणी शिराकी शाखामे मिल जाती हैं । ये शिराएँ उदरकी दीवार पर रही हुई शिराओं और अधिश्रोणिका (अधरा महाशिरामे रक्त पहुँचाने वाली) शिराओंके साथ सूक्ष्म प्रतानों द्वारा चक्ररचना द्वारा सम्बन्ध जोड़ती हैं ।

जब प्रतिहारिणी शिराका अवरोध होता है, तब उदर्याकलामे रस टपकनेके समान कुछ रस आमाशय और अन्नमे प्रवेशित होकर इनको दूषित कर देता है । जिससे वहा प्रसेक (Catarrh) होकर अजीर्ण, अग्निमान्द्य, अरुचि, किञ्चित् रक्तमिश्रित वमन आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । क्वचित् आमाशय और अन्नकी रक्तवाहिनिया रक्तसे पूर्ण भर जाने पर फूट जाती हैं । फिर आमाशयमे फूटनेसे रक्तवमन (Haematemesis) और अन्नमें फूटनेसे मलके साथ काले रगका रक्त (रक्तमिश्रित मल) जाता है । यदि अवरोधके हेतुसे उपगुदाकी शिराओंमें

रक्त पूर्ण भर जाय; तो अर्श (Haemorrhoids) की प्राप्ति होजाती है ।

यदि प्लीहाकी शिराओंमें रक्तवृद्धि हो गई; तो प्लीहावृद्धि हो जाती है । एवं पैरोंकी अधिश्रोणिका शिराओं (Iliac veins) की ऐसी ही स्थिति होने पर द्रवरस टपक कर पैरों पर शोथ (Oedema of the legs) आ जाता है ।

इस तरह प्रतिहारिणी शिराके अवरोधसे आपत्ति होने पर उसमेंसे मुक्त होनेके लिये अन्तरशक्तिको नया मार्ग निकालना पड़ता है । जिससे उदर परकी शिरायें बड़ी होने लगती हैं; फिर अन्य शिराके साथ बड़ा संगम होकर नूतन मार्ग द्वारा संचित रक्त हृदयमें जाने लगता है; इसी हेतुसे उदर परकी शिराएँ फूल जाती हैं । ये शिराएँ दर्शाती हैं कि, प्रतिहारिणी शिराके रुके हुए रक्तमेंसे कुछ भागका इतर शिराओंमें प्रवेश हो रहा है ।

कुपफुस और हृदयकी क्षीणताके हेतुसे अशुद्ध रक्त पूर्णरूपसे हृदय में नहीं खींचा जाता । जिससे निम्न अशुद्ध रक्तवाहिनियां पूर्ण रूपसे भरी हुई रहती हैं । फिर उनके कोष विस्तृत होकर उनमें से रक्त-रस समीपके स्थानोंकी उपत्वचा (Subcutaneous tissue) और रसत्वचा (Serous Membranes) आदिमें चूने लगता है । फिर निकला हुआ रस नीचेकी ओर गति करता है; और देहमें पैर सबसे नीचे होनेसे गुरुत्वाकर्षणके नियमानुसार उनमें सत्वर संग्रह होने लगता है । इसी हेतुसे वातप्रधान उदर रोग वालेके पैर शामको सूजे हुए प्रतीत होते हैं । यदि रोगी चलता रहता है; तो हाथ भी नीचे लटकते रहनेसे रोगवृद्धि होने पर हाथ पर भी शोथ आ जाता है । परन्तु रोगी रात्रिको शय्या पर स्वस्थ पड़ा रहता है; इस हेतुसे हृदयको गुरुत्वाकर्षण के नियमके विरुद्ध अधिक कार्य नहीं करना पड़ता । फलतः शोथ रात्रि की विश्रान्तिके पश्चात् सुबह पुनः कम हो जाता है । इस तरह यह शोथ चल होनेसे दिनमें अधिक (दिवाबली) होता है । ऐसा आयुर्वेदाचार्योंने वातज शोथके लक्षणमें कहा है ।

यदि योग्य प्रतिकार न होनेसे रोग बढ़ता ही जाता है, तो शोथ शनैः-शनैः ऊपर बढ़ने लगता है; और हृदयकी शोषणशक्ति कम होने से प्रतिहारिणी शिराका अवरोध होकर जलोदर उपस्थित हो जाता है ।

विद्वानोंकी मान्यतानुसार वातोदर और वातिकशोथ, दोनों व्याधियाँ फुफ्फुस और हृदयकी शक्तिका क्षय होने पर होती है । ये दोनों व्याधि ऊपर कही हुई संप्राप्ति अनुसार उत्पन्न होती हैं । फिर यथोचित प्रतिकार न होनेसे जलोदर हो जाता है ।

हृदय विकारके समान वृक्कोंका चिरकारी प्रदाह होने पर वे अपना कार्य यथोचित नहीं कर सकते । देहमेंसे मूत्रमार्ग द्वारा द्रवाश और विष, जितने परिमाणमें बाहर निकाल देना चाहिये, उतना नहीं निकाल सकते । जिससे मूत्रकी मात्रा कम हो जाती है । प्रस्वेद और जलवाहिनियोमे द्रवाशका सचय होता रहता है । फिर रक्तमें विष सग्रहित होनेसे विषमय रक्त (Toxaemia) की प्राप्ति हो जाती है, और द्रव सग्रहित होनेसे उदर और देहके सब स्थानों पर शोथ होने लगता है ।

वृक्कविकारसे उत्पन्न शोथमें पहले मुखपर (विशेषतः नेत्रके पास) शोथ आता है, फिर गुल्फ और वृषण पर, पश्चात् शनैःशनैः हाथ-पैरों पर शोथ बढ़ जाता है । यह शोथ एक स्थानसे दूसरे स्थान पर चला जाता है ।

इस कफज शोथमें दिनके भीतर शारीरिक परिश्रम और सूर्यके ताप से प्रस्वेद द्वारा जल बाहर निकल जाता है । रात्रिको प्रस्वेद अधिक नहीं आता । केवल वृक्क द्वारा शोषण होता है । इस हेतुसे आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने कफज शोथके लक्षणोंमे उसे (रात्रिवली) कहा है । ऊपर कही हुई संप्राप्ति अनुसार कफोदर और कफज शोथकी उत्पत्ति होती है । इन रोगोंका यथासमय उपचार न किया जाय; तो अन्तमें जलोदर और सर्वाङ्गशोथकी उत्पत्ति हो जाती है ।

हृदयविकार और वृक्कविकारके हेतुसे उदर्याकलामें जलवृद्धिके समान हृदयावरण और फुफ्फुसावरणमे द्रव भर जाता है । एवं क्वचित्

यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय, वृक्क और स्त्रियोंके बीजकोषोंमें भी जल भर जाता है ।

जब पाण्डु रोगमें रक्तके भीतर जलका अंश बढ़ जाता है; तभी शिराओंमेंसे रक्तजल भरने लगता है; और जलोदरकी उत्पत्ति होजाती है ।

कमरकी आगेकी ओरसे ऊपर चढ़कर छातीमें होकर गलमूलिका शिरा में प्रवेश करने वाली वाम रसकुल्या (Thoracic Duct) नामक मुख्य रसायनी पर उरोगुहामें अर्बुदादिके हेतुसे दबाव आजाने पर अवरोध हो जाता है । फिर अशुद्ध रक्त-रस-प्रवाह जलोदर (Chylous Ascites) हो जाता है ।

तरल संचय प्रदाह जन्य और अप्रदाह जन्य होता है । यदि प्रदाहसे हुआ हो, तो रसायनीमें बहने वाला शुद्ध रस (लसीका-Lymph), जो सब धातुओंका पोषक है; और रक्तमेंसे पतला स्वच्छ जलमय पदार्थ रूप से टपक कर बाहर आता है; वह संचित होता है । यदि अप्रदाहिक जलोदर हुआ हो; तो अशुद्ध रस (Chyle) संग्रहित होता है । इस रसकी उत्पत्ति भोजनके सार रूप द्रव भागमेंसे होती है । यह दूधके सदृश प्रतीत होता है । भोजनके पश्चात् दुग्ध आदि पदार्थोंमेंसे जो सौम्य रस उत्पन्न होता है, वह अन्त्रकी दीवारोंमेंसे पयस्विनि (Lacteals) नामक रसायनियों द्वारा शोषण होकर रसप्रपा (Cisterna chyli) में प्रवेश करता है । फिर यह रस रसप्रपा, गलमूलिका शिरा और उत्तरा-महाशिरा द्वारा हृदयके दक्षिण अलिन्दमें प्रवेश करता है । उसमें प्रतिबन्ध होनेपर शिराओंकी दीवारोंमेंसे रस स्रावित होकर उदर्याकलामें संचित होने लगता है ।

रोग विनिर्णय—यकृत विकार जन्य जलोदर होनेपर महा प्राचीरापेशी (Diaphragm) के निम्न भागमें अवरोध होता है । ऐसे रोगीके उदर और दोनों पैरोंपर शोथ एवं मुखमण्डल और दोनों बाहु शीर्ण-कृशसे भासते हैं । यकृतविकृतिके हेतुसे पहले उदर्याकलामें रक्त-जल का संचय होता है; फिर अधरा महाशिरा (Inferior

Vena Cava) द्वारा उन स्थानोंपर शोथ आ जाता है कि जिस मार्ग से रक्त हृदयमे गमन करता है । इनमें उदर की त्वचा और मूत्रेन्द्रिय पर शोथ नहीं होता । इन लक्षणों द्वारा अनेक समय यकृद् विकारज जलोदरको वृक्कविकार जन्य जलोदरसे पृथक् किया जाता है । किन्तु जब तक उदर्याकलामे केवल १-१॥ पौण्ड्र जल संचित हुआ हो; तब तब यह परीक्षा दुःसाध्य मानी जाती है । फिर थोड़े ही समयमें उदर शोथयुक्त हो जाता है । चारों ओर समानता सह अकृति गोल बन जाती है । एव नाभि को उठाकर उदरके समान कर देता है । परन्तु मेढवृद्धि होनेपर जब उदर शिथिल और मोटा बन जाता है, तब नाभि इस तरह बाहर नहीं निकल जाती; विपरीत भीतर घुसी हुई रहती है ।

इस तरह उत्पन्न जलोदरसे उदर्याकलामें दाह-शोथ होकर उत्पन्न रससमग्रहको पृथक् करना अति दुष्कर है । जैसे कर्कस्फोटजन्य शोथमें वेदना का अभाव होता है; वैसे ही कभी-कभी दाह-शोथ रसोत्सजनमें भी किसी प्रकार की वेदना नहीं होती । यह रससचय क्षय-कीटाणु जन्य होनेपर अधिकांश जगह दुःख का भान नहीं होता । उदर्याकला रूप गह्वरमे स्वतः जात (Idiopathic) और सामान्यतः टपककर संचित होने वाला रससमग्रह बहुधा वेदना विहीन होता है । इस तरहके जलोदरके रसको २-३ बार यन्त्र द्वारा आकर्षित करलेनेपर रोग शमन हो जाता है । इस दाह-शोथज जलोदरके भौतिक लक्षण-चिन्ह प्रतिहारिणी शिरा अवरोधज जलोदरके लक्षणोंके सदृश होते हैं । जलोदर यकृद् विकारसे उत्पन्न होनेपर यकृद्विकारके इतर लक्षणोंके अस्तित्व की न्यूनता या अभाव प्रतीत होता है ? एव कर्कस्फोट, क्षयकीटाणु और यकृद्वाल्सु-दर, इन सबमे लक्षणोंके अस्तित्व की कहा तक सम्भावना है ? इस बात का विचार करके रोग निर्णय किया जाता है ।

बीजकोषस्थ जलसचय (Ovarian Dropsy), गर्भावस्थामें जलवृद्धि और मूत्राशयका प्रसारण, इन रोगोंमें जलोदरका प्रभेद करने की आवश्यकता है ।

बीजकोषस्थ जलसंचय युक्त रसाबुद उदर्याकलासे बहुत छोटा है; इस हेतुसे जल अधिक स्थानमें नहीं फैल सकता । इस परसे भेद हो जाता है । फिर भी अधिक श्वाटीकरणार्थ दोनों का प्रभेद अत्र कोष्टकमें दिया है ।

परीक्षण साधन

जलोदर

बीजकोषस्थ जलसंचय

दर्शन
(Inspection)

दोनों कुक्षि फूली हुई
उसके अनुरूप सम
उदर,

यह विकार एक और
आक्रमण करता है । जल
छोटी थैली में (उदर के
बीच में) ही रह जाने से
कुक्षिकी ओर नहीं जा
सकता ; अतः कुक्षि सम
और उदर फूला हुआ
रहता है ।

ठेपन
(Percussion)

कुक्षियोंमें मंद जड़
ध्वनि, उदरमें सौषिर
ध्वनि (Tympani-
tic), करवट लेनेपर
जल दूसरी ओर चला
जाता है, जिससे
आवाजमें भेद होजाता
है; एवं दबाने पर
तरंग समूहके समान
एक ओर ऊँचा तथा
दूसरी ओरका भाग
नीचा हो जाता है ।

कुक्षि पर सौषिर ध्वनि,
उदर पर जड़ ध्वनि,
करवट पर सोने से अंतर
नहीं पड़ता ।

मापन
(Measurement)

(१) नाभिसे उरोस्थि
के निम्न सिरापर्यन्त

जलोदर के लक्षण से
विपरीत भासता है ।

का अन्तर नाभि से
उपस्थ की किनारी
पर्यन्तके अन्तर की
अपेक्षा अधिक होता है ।

(२) नाभिके पासकी जलोदर से विपरीत,
उदरपरिधि इसके नीचे
के स्थानकी परिधि
की अपेक्षा अधिक
होती है ।

(३) नाभिसे श्रोणि- (३) एक ओर अधिक
फलकके ऊपरके और अन्तर होजाता है ।
नीचेके सिरे तक उभय
बाजूमें समान अन्तर
रहता है ।

सप्राप्ति

बस्तिप्रदेश निपीड़ित जलवृद्धि होनेसे बीज-
होकर दब जाता है; कोषस्थ निम्नगामी ग्रन्थि
गर्भाशय भी दब की उर्ध्वगामी वृद्धि होती
जाता है । है । साथ-साथ गर्भाशय
भी कुछ ऊँचा उठता है ।

यकृद्वाल्गुदरकी दर्शन परीक्षाके लिये चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ
१५८ सूचना न० २६ देखे । जलोदरमें दर्शन-परीक्षाके लिये पृष्ठ १६० में
सूचना न० ४२ देखे । जलोदरकी स्पर्शपरीक्षाके लिये पृष्ठ १४१ देखे ।

स्त्रियोंको सगर्भावस्थामे गर्भावरण (Amnion) में जलवृद्धि
होने पर गर्भजलवृद्धि (Hydramnion) रोग हो जाता है; यह
भी जलोदर सदृश प्रतीत होता है । परन्तु गर्भके इतर लक्षणोंसे दोनों
का प्रभेद सहज हो जाता है ।

मूत्रकृच्छ्र रोगमें बस्तिके फूल जाने (मूत्रसंग-Retention) से)

उदर फूल जाता है; परन्तु नाडीयन्त्र (Catheter) से मूत्रको निकालने पर तत्काल उदर बैठ जाता है ।

यदि शोथ रक्तविकारज हो, तो वह गुल्म संधिसे प्रारम्भ होता है; रात्रि तक बढ़ता जाता है; और पुनः प्रातःकाल तक कम हो जाता है ।

यकृद्विकारज बाहु पर शोथ होनेसे हृदयविकारज शोथसे अलग हो जाता है । इस तरह एक ओरके बाहु और मुखमण्डल पर न्यून शोथ होने पर जाना जाता है कि, यह शोथ वृक्कविकारजन्य नहीं है ।

हृदयकी पीड़ासे उत्पन्न चिरकारी शोथमें मुखमण्डल बहुधा शोथ-ग्रस्त नहीं होता; और मूत्रेन्द्रिय पर भी शोथ नहीं होता; कदाच मूत्रेन्द्रिय पर शोथ हो जाय, तो भी सामान्य रूपसे होता है । द्विपत्र कपाटकी विकृतिजन्य शोथमें त्वचा मलिन रंगकी होजाती है ।

यकृतका विचित्र वर्ण—जायफल सदृश (Nutmeg Liver) होनेसे उत्पन्न शोथ रोगमें कामला कुछ अंशमें होता है; और यकृदाल्युदर रोगसे उत्पन्न जलोदरमें तो सारी देह पर कामला भासमान होता है ।

(७) बद्धगुदोदर ।

बद्धगुदोदर—शल्यज अन्त्रावरोध—इम्पेक्शन आफ फोरिन बॉडिस (Impaction of foreign bodies)

परिचय—अन्त्रके भीतर पित्ताश्मरी, अन्त्राश्मरी या इतर शल्य चला जानेसे आहार या मलकी अग्र गति कुछ अंशमें या सर्वथा निरुद्ध हो जाती है, उसे बद्धगुदोदर कहते हैं । यह विकार डाक्टरी मत अनुसार इन्टेस्टाइनल आब्स्ट्रक्शन (Intestinal Obstruction) के अन्तर्गत है । इन्टेस्टाइनल आब्स्ट्रक्शनका वर्णन उदावर्त्त रोगमें किया जायगा । आयुर्वेदमें बद्धगुदोदरके जो कारण और लक्षण दर्शाये हैं, उसके अनुरूप केवल शल्यज अन्त्रावरोधको बद्ध गुदोदरके साथ लिखा है ।

निदान—पित्ताशयमें पित्ताश्मरी या अन्त्राश्मरी उत्पन्न होकर आगे

फंस जाती है; अथवा स्लेट, पेन, पेन्सिल, कचड़ा, ठिकरा (Potsherd), हड्डीका टुकड़ा, गुठली, चाँदीकी दोअत्री, या काँचकी गोली आदि पदार्थ निगलने या भोजनमें आजानेसे आँतमें प्रवेश कर किसी स्थानमें फंस जाते हैं । फिर बद्धगुदोदर रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । एव अच्छी तरह भोजन चबाये बिना निगल जानेसे भी शल्योत्पत्ति होकर अन्त्रावरोध हो जाता है ।

बड़ी पित्ताशमरी कभी-कभी पित्ताशय या पित्तवहनलिका और अन्न का भेदन कर प्रवेश कर जाती है । फिर आहार आदि पदार्थकी तह ऊपर आजाती है; जिससे वह छोटी आँतमें फंस जाती है ।

अन्त्राशमरीकी उत्पत्ति एल्युमिन, ताँत्र, लोह, आदि धातुके संयोग से उत्पन्न अद्रवणशील सार उदरमें जाने पर होती है ।

श्रोणिगुहाके भीतर दीर्घकालस्थायी दाह-शोथ होने, गुदनलिकाके भीतर क्षत पर नूतन त्वचा आने, या जीर्ण अर्श व्याधिसे गुदनलिकाके मार्गका सकोच होनेपर सन्निरुद्ध गुद (Stricture of Rectum) कहलाता है । इस व्याधिकी प्राप्ति होने पर मल सरलतासे बाहर नहीं निकल सकता; और सगृहीत होने लगता है ।

सम्प्राप्ति—पेन्सिल आदि निगल जाने पर वह बहुधा शेषान्त्रक (Ileum), उगडुक (Coecum), बृहदन्त्रका 'S' सदृश कुण्डलिका भाग (Sigmoid flexure), इनमेंसे किसी एक स्थानमें रुक जाता है । फिर जिस स्थान पर अवरोध होता है, उस स्थान पर दबानेसे तीव्र दर्द होता है । सामान्यतः सतत स्थानिक वेदना, आभ्रमान और समय-समय पर तीव्र शूल उत्पन्न हो जाते हैं । इस शल्यावरोधसे दक्षिण या वाम वक्षोत्तरिक प्रदेश (Iliac region) में कठिन ग्रन्थि प्रतीत होती है, जो चलाने पर किञ्चित् इधर-उधर सरकती है ।

जल्दी-जल्दी भोजन करने की आदत, बिना चबाये आहार निगल लेना, हड्डी आदिका टुकड़ा भोजनमें आजाना और पित्ताशमरीजन्य शूल आदि कारणोंसे एव तीव्र क्षुधायुक्त उन्माद रोगमें भी अकस्मात् अन्त्रा-

बरोध होता है। फिर उगडुक या कुगडलिकाप्रदेशमें वेदना उत्पन्न होती है।

जब अधिक समय तक मल संगृहीत रहता है; तब वह सड़ने लगता है। सड़नेके समय गाढ़े मलका रूपान्तर द्रव रूप (Liquefaction) से होता है। जिससे उसमेंसे विष (Indol and Skatol) रक्तमें लीन होकर विविध विकारोंकी रचना करता है। मलके सड़नेसे उदरमें वायु उत्पन्न होकर आफरा आजाता है; और मलके दबावसे अन्नगत वातवहानाड़ियोंका बध अर्थात् अन्नबध (Paralysis of the Intestine) होजाता है। फिर इसी हेतुसे वायु निरंकुश होकर उदरको फुलाती है। यदि ह्रुदान्त्रके अंतभाग (शेषान्त्र) में अवरोध हुआ हो, तो बृहदान्त्र की अपेक्षा आध्मान तीव्ररूपसे आता है; और समस्त उदरमें फैल जाता है।

जब पूर्ण कोष्ठबद्धता होती है; तब मल और वायु को आगे मार्ग न मिलनेसे ऊर्ध्व गति करते हैं। जिससे उबाक और वमन आती रहती हैं। वायु न सरना और उबाक आते रहना, ये पूर्ण कोष्ठबद्धता की सूचना करते हैं। उस समय अन्त्रावरोधके कारणरूप मल को दूर करने के लिये अन्नकी प्रबल प्रेरक शक्ति (Increased Peristalsis) प्रकाशित होती हैं। इसी हेतुसे शूल उत्पन्न होता है। यह शूलोत्पादक पुरःसरणक्रिया क्वचित् इतनी तेज हो जाती है कि, आंतोंमें काटनेके सदृश पीड़ा होती है; और कभी-कभी आंत फट भी जाती है।

अन्न की दीवारमें क्षत हो जानेसे भी परंपरागत शारीरिक उष्णता का हास होकर शीतकाय और शक्तिपातकी प्राप्ति हो जाती है। उस समय नाडीका स्पन्दन १२५-१५० तक होजाता है। एवं रक्तमें विषप्रवेश होता है; वह रक्त को दूषित कर बलक्षय करानेमें पूर्ण सहायता देता है।

पूर्वरूप—कुछ दिनों तक (अन्नका पूर्ण अवरोध न होने तक) थोड़ा-थोड़ा मल बाहर निकलता रहता है। फिर अकस्मात् किसी दिन पूर्ण अन्त्रावरोधके लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

रूप—बद्धकोष्ठता, उबाक, वमन, उदरका तन जाना, आफरा, शूल और व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं । शारीरिक उत्ताप नहीं बढ़ता । उदर्याकलाप्रदाह या शक्तिपात होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

(८) क्षतोदर ।

क्षतोदर—अलसरेटिव एन्टराइटिस—अलसरेटिव कोलाइटिस—
Ulcerative enteritis—Ulcerative colitis ।

रोग परिचय—लघु या बृहदन्त्रमे व्रण होने पर क्षतोदर कहलाता है । लघु अन्त्रमे व्रण होने पर अलसरेटिव एन्टराइटिस और बृहदन्त्रमे व्रण होने पर अलसरेटिव कोलाइटिस कहलाता है ।

निदान और सम्प्राप्ति—प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, कर्कसफोट, क्षय और उपदंश रोग आदि हेतुसे एवं भोजनमे काँच, पत्थर आदि आजानेसे लघु अन्त्रमें तथा उक्त कारणोंसे और इनके अतिरिक्त मल कठोर बन जानेसे बृहदन्त्रमें क्षत हो जाता है । एव बाह्य आघात लगने पर भी क्षत हो सकता है ।

चिरकारी अन्त्रदाह—शोथ अथवा ग्रहणी रोगमें भी व्रण हो जाता है । परन्तु इन हेतुओंको ग्रहणी रोगमें कहा गया है । इनके अतिरिक्त उण्डुकप्रदाहसे उण्डुकमें क्षत हो जाता है । इसका विवेचन आगे पृथक् किया जायगा ।

प्रवाहिका रोगमे बहुधा व्रण बड़ी आतके भीतर होता है । इसमें क्षत बहुधा ऊँचे भागमे होता है ।

आन्त्रिक ज्वरमे व्रण लघु अन्त्रके अत भागमें रही हुई लसीका ग्रन्थियो पर होता है ।

उपदंश रोगमें अतिसार या ग्रहणी होनेपर क्षत बहुधा गुदनलिका में होता है; फिर मलमें रक्त और पूय आता है; तथा मल विसर्जनमें बलपूर्वक प्रवाहण करना पड़ता है ।

क्षय कीटाणुओंका अन्त्रमे प्रवेश हो जानेसे बृहदन्त्रके प्रारम्भिक

भाग—उगडुक (Coecum) में ब्रण पड़ता है । इस ब्रणकी दीवार टेढ़ी-मेढ़ी रहती है । इस ब्रणसे क्षय विकारके सब लक्षण प्रतीत होते हैं । जब यह ब्रण सुधर जाता है, तब ऊपर ब्रणरोपण त्वचा (Scar tissue) आती है । जिससे अन्न संकुचित हो जाता है । इस हेतुसे मलसंग्रह होने लगता है ।

जब मल शुष्क हो जाता है; तब बड़ी आंतमें क्षत हो जाता है । यह विकार बहुधा मध्य आयुमें होता है; चिरकारी बद्धकोष्ठ रोग या अन्न-संकोच होकर ऊपरके हिस्सेमें तात्कालिक किन्तु अपरिहार्य मलसंचय हो जानेसे मल शुष्क बन जाता है । फिर आगे गति करनेके समय अनेक स्थानों पर खुरचता जाता है; जिससे ब्रण (Fecal-ulcers) हो जाते हैं । अनेक स्थानोंसे श्लैष्मिक कला नष्ट हो जाती है; और बृहदन्त्रका विस्तार भी हो जाता है ।

लक्षण—लघु अन्नमें ब्रण होनेपर अन्नदाह-शोथ, कभी-कभी उदर में पीड़ा, कभी मलावरोध, कभी अतिसार और अन्न-संकोच आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । जिस स्थान पर ब्रण होता है; उस स्थान पर दबानेसे दर्द मालूम पड़ता है ।

स्थूलान्त्रमें क्षत होनेपर जल सदृश पतले दुर्गन्धयुक्त दस्त, क्वचित् रक्त मिश्रित मल निकलना, उदरपीड़ा, कुशता, आध्मान और मन्द स्वर आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस प्रकारके ब्रणका वर्णन प्रथम भागमें त्रिदोषज अतिसारके साथ किया है ।

बृहदन्त्रके विकारमें बहुधा शूल नहीं होता । यदि शूल होता है, तो अति तीव्र होता है । यदि बृहदन्त्रके अंतिम भागमें विकृति होती है, तो मल त्यागके समय किण्छना (Tenesmus) पड़ता है । मल मलिन रंगका होता है; और उसमें आम अधिक होती है ।

अन्नब्रणके हेतुसे मलमें रक्त, किञ्चित् पूय और श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े जाते हैं । मलपरीक्षा परसे इसका निर्णय हो जाता है । यदि अधिक पूय हो; तो अन्तर्विद्रधि फूटनेका निश्चय होता है । तीव्र

प्रवाहिकाके मलमें भी श्लेष्मल त्वचाके टुकड़े होते हैं। अतः रक्त मिलना, ये ही एक अन्नव्रणका चिह्न है। एव व्रणके हेतुसे उदरमें वेदना होती रहती है।

अन्नविद्रधि विशेषतः उपान्नके समीप स्थानमें तथा स्त्रियोके गर्भाशय-आवरण और गर्भाशयबन्धनिका (Broad Ligament) में होता है।

जब अन्नव्रणका क्षत (Perforation) लघु अन्न या बृहदन्नके आरोहि, अनुस्थ और अवरोहि भागमेंसे किसीभी स्थानमें हो जाता है; तब उसके सहवर्ती उदर्याकला-प्रदाह हो ही जाता है। यदि क्षत पीछे की ओर होता है, तो विद्रधिका रूप धारण कर लेता है।

उण्डुकप्रदाह ।

उण्डुकप्रदाह—टाइफ्लाइटिस-Typhlitis ।

जिन कारणोंसे अन्नदाह-शोथ होता है; उन्हीं कारणोंसे उण्डुक-प्रदाह हो जाता है। अत्यधिक शीत लग जाने, उत्तेजक पदार्थके अन्नमें संचय होने तथा अश्मरी या गुठलीका प्रवेश और शुष्क मल आदि कारणोंसे इसकी उत्पत्ति हो जाती है।

लक्षण—अपचन, उदरमें वेदना, कभी बद्धकोष्ठ, कभी अतिसार, दक्षिण वक्षोत्तरिक प्रदेश (Right iliac-region) ऊँचा उठ जाना और उसमें अति वेदना होना, यह वेदना ऊपरकी ओर आरोही अन्न तक तथा निम्न प्रदेशमें ऊरु तक विस्तृत होती है। उदरमें वायुकी गुड़गुड़ाहट होती है; और वमन उपस्थित होती है। वमनमें पहले खाया हुआ आहार, फिर पित्त निकलता है। अंतमें मल निकलने लगता है। जब मल त्याग हो जाता है; तब रोगीकी पीड़ा शान्त हो जाती है। इस रोगमें अन्नक्षत होने पर रोगीके बलका क्षय होने लगता है।

यदि अन्नक्षत न हुआ तो उदर्याकलाप्रदाह हो जाता है; अथवा आक्रातस्थान चौड़ा, अधिक पीड़ित और रक्तवर्णका हो जाता है; तथा

उस पर विद्रधि उत्पन्न हो जाता है । विद्रधि होनेसे कम्प, ज्वर, पूयोत्पत्ति, फिर पूयका बाहर या भीतर स्राव होना आदि लक्षण होते हैं । इस अवस्थामें उदर्याकलाप्रदाह हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है । इस तरह इस रोगसे रोगी अधिकाधिक दुःखी होता जाता है ।

यदि व्रण होता है तो अन्न छिन्न हो जाता है । यदि यह पीड़ा सामान्य है, तो मृत्युका भय नहीं है । किंतु रोगकी वृद्धि हो जाने पर मृत्युकी संभावना अधिक रहती है ।

इस रोगकी चिकित्सा प्रारम्भमें अन्न दाह शोथ सदृश, फिर व्रण होने पर व्रणके अनुरूप या विद्रधि बन जाय, तो विद्रधिके समान करनी चाहिये ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

चरकसंहिताकारने लिखा है कि, अधिक शोथ न हो, उदर अरुण वर्णका हो, अंगुलियोंसे ठेपन करने या ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर आवाज आती हो, रोगी को उदर अधिक भारी न लगता हो, उदरमें गुड़गुड़ाहट होती हो, उदर पर शिराजाल दिखाई देता हो, वायु नाभि और अन्न को स्तब्ध करती हो और बाहर निकलनेके लिये वेग करके नष्ट हो जाती हो, हृदय, नाभि, वक्ष (चूतड़), कमर, गुदा, इन सब स्थानों पर शूल हो, अपानवायु वेगयुक्त और आवाज युक्त निकलती हो, जठराग्नि अति मन्द न हुई हो, मुँह लालास्राव युक्त और बेस्वादु रहता हो, मूत्र परिमाणमें अति कम हो गया हो और मल बंधा हुआ निकलता हो, ऐसे उदर रोग को अजातोदक जानें । इसकी चिकित्सा दोष, बल और काल को तत्त्वतः जानने वाले चिकित्सक सत्वर प्रारम्भ करें ।

वातोदर से पीड़ित बलवान् मनुष्य को पहले, स्नेहन, फिर स्वेदन और तत्पश्चात् स्नेह विरेचन (एरंड तैल या इतर विरेचन कराने वाले सिद्ध घृत-तैल) देना चाहिये ।

जब विरेचनसे दोष निकलकर उदर शुद्ध हो जाय; तब उदर पर चौड़ा बन्ध लपेट देना चाहिये (या उदरवेष्टन-Abdominal belt बाँध देना चाहिये) जिससे अवकाश (रिक्तस्थान) न मिलनेसे फिर वायु उदर को नहीं फुला सकती ।

आवश्यकता और प्रकृतिका विचार कर वातोदर व्याधिवाले के उदर को प्रतिदिन शुद्ध कर लेना चाहिये । सम्यक् प्रकारसे उदरशुद्धि होजाने पर पेया या मंड आदिका सेवन कराना चाहिये । फिर बलकी प्राप्ति के लिये उत्क्लेश (उत्काक) न हो उतना दुग्धपान कराना चाहिये । जब रोगी सशक्त हो जाय और दूध की वृद्धि हो जाने पर उत्क्लेश होनेका अनुमान हो, तब दूध क्रमशः कम कर देना चाहिये, और अनार या आंवलेके (सामान्य खट्टे) रस और सैन्धानमक मिले हुए मूंग आदिके यूष या मांस रससे अग्नि को प्रदीप्त करानी चाहिये । यदि रोगी को उदावर्त्त विकार रह गया हो; तो पुनः स्नेहन और स्वेदन कराकर आस्थापन बस्ति देनी चाहिये । आस्थापन बस्ति तीक्ष्ण विरेचन द्रव्य मिले हुए दशमूल काथसे प्रस्तुत करनी चाहिये ।

जिस रोगी को स्फुरण (अङ्गोका फड़कना), आक्षेप, संधि, अस्थि, पार्श्व, पृष्ठ और त्रिकस्थान, इन सबमें शूल निकलता हो, अग्नि प्रदीप्त हो, मलावरोध, और अपान वायुका निरोध रहता हो, तथा रुक्षता हो, तो उसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । अनुवासन बस्ति वातघ्न और अम्ल (कांजी आदि) ओषधियोंसे सिद्ध किये हुए एरंड तैल या तिलतैलकी देनी चाहिये ।

जो रोगी विरेचनके योग्य न हो; दुर्बल, वृद्ध, बालक, सुकुमार देहवाला, अल्पदोष वाला, अथवा वातप्रधान प्रकृतिवाला हो; उसकी चिकित्सा संशमन ओषधियाँ—घी, यूष, मांसरस और भात आदि पथ्यभोजन, तैलाभ्यंग, अनुवासन बस्ति और दूधके प्रयोगोसे करनी चाहिये ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, वातोदर रोगी को विदारी गंध (शालपर्णी) आदि गण की ओषधियोंसे सिद्ध किये हुए घृतसे स्नेहन, तिल्वक (लोध सदृश विरेचन कराने वाले वृक्ष) के सिद्धघृतसे अनुलोमन तथा चित्रफल (इन्द्रायणके फल) के तैलसे युक्त विदारीगंध आदिके काथसे आस्थापन और अनुवासन बस्ति आदि प्रयोग कराना चाहिये । एवं शाल्वण स्वेद (वातघ्न ओषधि मिश्रित रोटी) से उदरका स्वेदन तथा विदारी-गन्ध आदि गणसे सिद्ध किये हुए दूध या जंगली जीवोंके मांस-रससे भोजन कराना चाहिये । स्वेदन बार-बार अच्छी तरह कराना चाहिये ।

पित्तोदर पीड़ित बलवान रोगीको पहले स्नेहन-स्वेदन कराके विरेचन देना चाहिये; और दुर्बल रोगियों को अनुवासन बस्ति देकर क्षीरवस्तिसे शोधन करना चाहिये । जब शरीर-बल बढ़ जाय और अग्नि प्रदीप्त हो जाय; तब स्नेहन कराकर फिर निसोतके कल्क, जिन्हीं निकाले हुए एरंड बीजके काथ, सातला (सेहुंड भेद) और त्रायमाण, या अमलतास, इन चारमेंसे एकके साथ सिद्ध किये हुए दूधसे विरेचन कराना चाहिये ।

यदि पित्तके साथ कफ मिला हो; तो उपरोक्त ४ प्रकारमेंसे किसी एकसे सिद्ध किये हुए दूधके साथ गोमूत्र मिलाकर देना चाहिये । यदि पित्तके साथ वात मिश्रित हो, तो उपरोक्त दूधके साथ कड़वी ओषधियोंसे सिद्ध घृत मिलाकर पिलाना चाहिये ।

इस तरह शोधन होनेपर पेया-मण्ड यदि संसर्जन देवें । फिर दुग्धपान करावें । पश्चात् दूधके सेवनसे शक्ति वृद्धि होनेपर अनुवासन आदि बस्ति देवें । इस तरह विरेचन, दुग्धपान और बस्ति पुनः-पुनः क्रमशः देते रहनेसे निःसन्देह पित्तोदर व्याधि शमन हो जाती है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, पित्तोदरके रोगीको मधुर

(काकोल्यादिगण की) ओषधियोंके सिद्ध घृतसे स्नेहन कराना चाहिये । फिर काली निसोत, त्रिफला और सफेद निसोतके सिद्ध घृतसे अनुलोमन करावे, और न्यग्रोधादिगणके काथमें शकर-मिश्री-धी मिलाकर आस्थापन और अनुवासन बस्ति दें । एवं दूध की बाष्पसे उदरपर स्वेदन और विदारोगंधादिगण की ओषधिसे सिद्ध किये दूधसे भोजन करावें ।

कफोदरके रोगीको स्नेहन, स्वेदन और संशोधन (विरेचन) करा चरपरे और क्षार मिश्रित मण्ड-पेया आदि भोजनसे संसर्जन कराना चाहिये । इस कफोदर रोगी को वमन नहीं कराना चाहिये, ऐसा सिद्धि स्थानके दूसरे अध्यायमें भगवान् आत्रेयने कहा है । एवं भगवान् धन्वन्तरिजीने भी—“न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्वात् गुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान् ।” इस वचनसे वमन कराने का निषेध किया है ।

कफोदर रोगीको गोमूत्र, आसव-अरिष्ट, नवायस आदि लोह मिश्रित चूर्ण, क्षार युक्त तैल, इन ओषधियों का सेवन करानेसे कफोदर की निवृत्ति हो जाती है ।

कफोदरकी चिकित्सार्थ भगवान् धन्वन्तरिजीके मत अनुसार स्नेहनार्थ पिप्पल्यादि काथसे सिद्ध घृतका सेवन तथा अनुलोमनार्थ थूहरके दूधसे सिद्ध घृतका सेवन कराना चाहिये । एवं मुष्कक आदि गणकी ओषधियोंके काथमें त्रिकटु, गोमूत्र, यव-क्षार और तैल मिलाकर आस्थापन और अनुवासन बस्ति करानी चाहिये । पिप्पल्यादि गण और मुष्कक गण की ओषधियों की यादी और गुण वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ५४-५५ में लिखा है ।

कफोदरके रोगीको उदरपर प्रस्वेद लानेके लिये, सनके बीज, अलसी, धायके फूल, किएव (शराबके नीचे शेष रही हुई गाद), सरसो और मूलीके बीज, इन सबको पीसकर फिर रोटी जैसी आकृति बनाकर उदरपर बाँध देवे; तथा कुलथीके

यूषमें त्रिकटु मिलाकर भोजन करावें, या खीरमें त्रिकटु मिलाकर भोजन करावें; और बार-बार खूब स्वेदन कराते रहें ।

सन्निपातोदर में तीनों दोषोंमें कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये । यदि इस त्रिदोषज उदर-रोगमें उपद्रव भी उपस्थित हो गये हों; तो उसका परित्याग कर देना चाहिए ।

भगवान् धन्वन्तरिजी और आत्रेय, दोनों कहते हैं कि, ओषधि चिकित्सा निष्फल हो जाने पर दूष्योदर (सन्निपातोदर) रोगीका रोग असाध्य है, ऐसा कहकर चिकित्सा करनी चाहिये । सातला (थूहरभेद) और शंखिनी (थूहरभेद) के स्वरससे सिद्ध किये हुए घृतसे विरेचन करावें । विरेचन ओषधि १५ से ३० दिन तक देते रहना चाहिये । या सेहूँडके दूध, सुरा (शराब) और गोमूत्रसे सिद्ध किया हुआ घृत विरेचनार्थ देते रहें । कोष्ठ शुद्धि होने पर शराब, पेया या भोजनके साथ कनेर, गुंजा (सफेद चिरमी) और काकादनो (लाल चिरमी), इन तीनोंकी जड़का कल्क मिलाकर पिलावें; या ईखके गन्नेको काले सर्पसे कटवाकर चुसावें; और वल्लीफल अथवा मूल या कंदसे उत्पन्न विष (स्थावर विष) सेवन करावें । इन उपायोंसे सन्निपातोदर रोगी स्वस्थ हो जाता है, या मृत्युको प्राप्त हो जाता है ।

या सर्पने कुपित होकर जिस फलमें विष डाल दिया हो, वह विचारपूर्वक रोगीको खिला देना चाहिये । विषप्रयोगसे दोष संघात, जो धातुओंमें लीन हो गया हो और उन्मार्गगामी हुआ हो, वह तत्काल बाहर निकल जाता है । फिर शीतल जलसे सिञ्चन करें; और बलके अनुसार दूध या यवागूका पान करावें । पश्चात् रोगीको निसोत, मण्डुकपर्णी, यवशाक, बथुआ अथवा कालशाक, इनमेंसे किसी एकका रसा बिना नमक, घी और खटाई मिलाया पिलाना चाहिए । इस तरह एक मास तक जब-जब तृषा लगे तब-तब शाकको जलमें उबालकर रसा पिलाते

रहे; अथवा शाक-भाजीको बिना उबाले स्वरस निकाल कर देते रहें। फिर दोष दूर हो जाने पर दुर्बल रोगीको प्राण-पोषक ऊँटनीके दूधका सेवन कराना चाहिये।

सब प्रकारके उदर रोगोंकी उत्पत्ति वायुके प्रकोपसे होती है, और सबमें मलका संचय होता है। इस हेतुसे उदर रोगोंमें बहुधा अनुलोभन (विरेचन) कराने की ही आज्ञा दी जाती है।

प्लीहोदर रोगमें वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और रक्तज भेदसे ५ प्रकार है। उदावर्त, आनाह आदि वातज, दाह, मोह, तृषा, ज्वर आदिसे पित्तज, गौरव, अरुचि, कठिन्ता आदिसे कफज, मिश्रित लक्षणोंसे त्रिदोषज, तथा रक्तवृद्धिके विदाह, तृषा, विरसता, देहमें भारीपन, मूर्च्छा आदि लक्षणोंसे रक्तज विकार जानना चाहिए। इनमेंसे जिस तरहका विकार हो, उसके अनु-रूप चिकित्सा करनी चाहिये।

प्लीहोदरमें स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, आस्थापन वस्ति, और अनुवासन वस्ति आदि चिकित्सा करनी चाहिए, अथवा शक्ति का विचार कर बाँये हाथमें शिरावेध करना चाहिए।

भगवान् धन्वन्तरिजी ने लिखा है कि, प्लीहोदर रोगीको पहले स्नेहन और स्वेदन करावें। फिर दहीका भोजन करा, बाँये हाथ की कोहनीके बीचकी शिराका वेधन करावें; और रुधिर निकलनेके लिये तिल्लीको हाथसे मलते रहे।

यदि प्लीहोदर रोग वातकफोत्पन्न हो, तो मणिबंधको थोड़ा नवाकर बाँये अंगूठे को दबानेसे जो शिरा ऊपर उठती है, उस पर गरम की हुई लोह-शलाकासे दाग देनेसे प्लीहा-वृद्धि नष्ट हो जाती है।

पित्त प्रधान प्लीहोदर रोगमें जीवनीयगणसे सिद्ध किया हुआ घृत, दूधकी वस्ति, रक्तावसेचन, सशोधन (विरेचन) और दुग्धपान आदिसे चिकित्सा करनी चाहिये। भोजनके लिये

दीपन ओषधियां मिले हुए यूष वा मांस रसके साथ लघु भोजन-शालि या सांठी चावल देना चाहिये । जीवनीयगणकी ओषधियां वैज्ञानिक विचारणा पृष्ठ १०२ में लिखी है ।

यकृदाल्युदर में सब चिकित्सा प्लीहोदरके समान करनी चाहिये । रुधिरका अवसेचन दाहिने हाथ की शिरामें से कराना चाहिये । रोगोत्पादक कारण, शराब, उत्तेजक आहार आदि जो हों, उन सबको छोड़ देना चाहिये । आमाशय और अन्नके प्रसेकजन्य लक्षणोंको सत्वर शमन करना चाहिये । आमाशयका प्रक्षालन करना लाभदायक है । आमाशय क्षीण होगया हो और अम्लरसोत्पत्ति न कर सकता हो; तो भोजनके साथ दोनों समय आमाशय की रसवर्धक ओषधि देनी चाहिये । लवणभास्कर आदि ओषधियाँ सौम्य और हितकर हैं । प्रतिहारिणी शिरा शाखाओं के रक्तसंग्रहमें न्यूनता करानी चाहिये ।

रक्त वमन, जलोदर, शोथ आदि प्रबल लक्षण उपस्थित हों; तो उनको दूर करनेके लिये सत्वर लक्ष्य देना चाहिये । रक्त वमन के रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये ।

पित्तनलिका पर दबाव और यकृत्कोषोंका नाश होनेसे यकृत्की पित्त निःसारकक्रिया में प्रतिबन्ध होता है; फिर रक्तमें विषवृद्धि होती है, उसका प्रशमन करना चाहिये ।

शरीर संरक्षण और बलवृद्धिके लिये दुग्ध आदि अनुत्तेजक आहारकी यथोचित व्यवस्था कर देनी चाहिये । शकर और घृत छुड़ा देना चाहिये । यदि रोगी निर्बल हो, तो मांसका सोरवा देना चाहिये ।

मृदुविरेचन देते रहनेसे आमाशय और अन्नका प्रदाह तथा प्रतिहारिणी शिरामें अवरोधक लक्षण कम होते जाते हैं । मृदु-विरेचनसे प्रथमावस्थामें उत्पन्न यकृत्का रक्तसंग्रह न्यून हो जाता है । परिणाममें रोगवृद्धि रुक जाती है । रोग बढ़कर रक्त वमन

और जलोदरकी उत्पत्तिका निवारण होजाता है । अपचन जनित आम या शेष आहाररस जो अन्त्रमें रह गया हो वह; तथा रक्तविकृति और आफरा आदि लक्षण दूर होजाते हैं । इस मृदु विरेचनके साथ रोग शमनमें उत्तेजक आहार और ओषधि, स्नान और खुली वायुमें भ्रमण, ये सब अति सहायक होते हैं ।

प्यास अधिक लगती हो, तो लवणजल (मेगनेशिया सल्फास) की वस्ति देनी चाहिये ।

अन्त्रमें शोथ हो, तो पूर्ण विश्रान्ति दें । दूधमें चूने का जल मिलाकर पिलावे, या पेप्टोनाइज्ड मिल्क (Peptonized Milk) देना चाहिये ।

रोग अत्यन्त बढ़ जानेपर (उदरमें जलोत्पत्ति होनेपर) रोगीको पूर्ण विश्रान्ति करानी चाहिये । स्नान उष्ण जलसे कराकर त्वचाको शुद्ध रखे । हो सके तब तक रोगीको केवल दूधपर रखें । दूध थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें; अथवा फलपर रखें । मांसाहारीको मांस रस और अण्डे आदि, या अन्य लघुपथ्य भोजन और दूध दें ।

सूचना—यदि हृदय की क्षीणता न हुई हो, तो उत्तेजक ओषधि नहीं देनी चाहिये । (उत्तेजक ओषधिसे यकृतमें विकृति अधिक होती है ।

अत्यन्त वमन होती हो, तो बर्फके टुकड़े चूसनेको देना चाहिये । फिर सोड़ा या चूनेका जल मिला हुआ दूध १-१ तोला, या पेप्टोनाइज्ड दूध पिलाते रहे ।

पेप्टोनाइजिंग पाउडर (एक शीशी) निकाल उसमें ५ औंस जल और २० औंस गोदुग्ध उष्ण अच्छी तरह मिला लेवे, फिर १० मिनट तक उष्ण स्थानमें रखनेके पश्चात् उबाल लेनेसे अर्धपक्व दूध तैयार हो जाता है ।

अथवा दो भाग गोदुग्ध और १ भाग जल मिलाकर १४०

फाइरन हीट डिग्री तक गरम करें । फिर इसमें लाइकर पैन्क्रियाटिक (Liq-Pancreatic) दो ड्राम और सोडाबाई कार्ब (Soda Bicarb) ३० ग्रेन डाल ढककर उष्ण स्थानपर १५-२० मिनट तक रख दें । पश्चात् उबालकर पिला देनेसे दूध सत्वर पचन हो जाता है ।

बाल पैत्तिक यकृद्वाल्गुदर—अर्थात् शिशुओंके यकृद्वाली रोगमें चिकित्सा का पूर्णांशमें सन्तोषजनक फल नहीं मिलता । बालक और माताके पथ्यके प्रति आग्रहपूर्वक लक्ष्य देना चाहिये । यदि माता रोगिणी है, तो माताका स्नानपान छुड़ाकर धात्री-स्तन्य का प्रबन्ध करना चाहिये, अथवा बकरी या गदही का दूध, विलायती ग्लेक्सो आदि नया दूध या मांस रस आदि की व्यवस्था करनी चाहिये ।

यदि उजर न हो, तो गाड़ीमें बैठा या सुलाकर रोज शामको विशुद्ध वायु का सेवन कराना हितकर है ।

कोष्ठबद्धता हो, तो सेकी हुई कुटकी या इतर मृदु पित्तनिःसारक विरेचन देते रहना चाहिये । चन्दलोई, एलुवा, मुनक्का, अमलतासकी फली आदि पित्तनिःसारक हैं । कुटकीसे पतले जलसदृश दस्त लगते हैं, बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि (रसतन्त्रसार का पृ० ६६६) अति हितकर औषधि है ।

विवर्धनयुक्त यकृद्वाली रोग की चिकित्सा कामला रोगके अनुसार की जाती है । यदि उपदंशके विष जनित यकृद्वाली रोग हुआ है ; तो उपदंशनाशक चिकित्सा करनी चाहिये । इसमें मल्लप्रधान औषधि विशेष हितकर है ।

यकृत्में तीव्र रक्ताधिक्य यदि अति शराब सेवनसे हुआ है, तो मद्यपानका बिल्कुल त्याग करा देना चाहिये । प्रस्वेदका रोध न हो, इस बातका लक्ष्य रखना चाहिये; और चिकित्साके प्रारंभ

में चारप्रधान विरेचन, जो पतले दस्त लाने वाला हो, उसके प्रयोग द्वारा रक्त संचापका ह्रास कराना चाहिये ।

दूध और लघुपाक भोजन देना चाहिये । दुर्जर आहारका त्याग करा देना चाहिये । यकृतमें वेदना हो, तो कपिंगग्लास या जलौका लगवाकर रक्त निकाल लेना चाहिये । सामान्य रक्त-वृद्धि होने पर राईके प्लास्टरका प्रयोग करना चाहिये, अथवा ऊपर अलसी की पुल्टिस बांधे, या बाष्पपर फलानेल को गरम कर सेक करते रहे, अथवा दशांग लेप या तिलको पीसकर लेप करें ।

यकृतमें अशक्ति जन्य मन्द रक्ताधिक्यमें दो उद्देश्यो पर लक्ष्य रखकर चिकित्सा की जाती है । (१) रोगके कारण को दूर करना अर्थात् हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा (२) रक्तावेगप्रसिक्त यकृतका अपतर्पण (Depletion) । प्रथम उद्देश्य की सिद्धयर्थ अवस्था की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये । हृदय विकृतिके हेतुसे शैरिक रक्त संचालनमें जितनी मदता उपस्थित हो सके, उतनी हृद् तक प्रतिकार करना चाहिये । इस अपतर्पणका विशेष विचार वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ २५५ में किया है ।

प्रसारित हृदय जब तक सबल न हो, तब तक हृदयपौष्टिक ओषधियोंका सेवन कराना चाहिये । पर्णबीज और अर्जुन प्रधान ओषधियाँ हितकर हैं । रसतन्त्रसासेक्त प्रभाकर वटी, त्रिनेत्र रस, अभ्रकप्रधान लक्ष्मीविलास आदि लाभदायक है ।

यकृद्वाल्ग्युदरमें बाह्य प्रयोग रूपसे नाइट्रोहाइड्रोक्लोरिक एसिड १॥ औंसको ३ सेर उबलते हुए जलमें मिलावें । फिर उसमें ४-८ तह किया हुआ फलालेल डुबो, दबा कर पानी निकाल, यकृत पर सेक करते रहनेसे रोग शमनमें अच्छी सहायता मिल जाती है । इस तरह प्रतिहारिणीशिरामें रक्त

संग्रह होने पर प्रत्युग्रता रूप सरसों, अदरक, मिर्च या प्याजकी पुलिटस बाँधना और मृदुविरेचन देना चाहिए ।

यदि उदर गुहाके भीतर रहे हुए किसी इतर यन्त्रकी विकृति या धमनी विस्तार या किसी अवयवकी वृद्धि होकर दूसरे अवयव पर दबाव आना आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति हुई हो; तो उस हेतुको दूर करनेका यथाविधि प्रयत्न करना चाहिए ।

द्वितीय उद्देश्यकी सिद्धयर्थ जल सदृश पतले द्रव लानेवाली ओषधि कुटकी या मेगनेशिया सल्फास आदि लावणिक विरेचन देना चाहिए । विरेचनसे प्रतिहारिणी शिराके रक्तसंचालनका प्रतिबन्ध दूर होता है ।

विषमज्वरजन्य शैरिक रक्ताधिक्यकी उत्पत्ति हुई हो, तो विषम ज्वरके विपको नष्ट करना चाहिए ; जिससे हृदय और पचनेन्द्रिय संस्थाकी क्षीणता शमन हो जाय ।

यदि यकृतमें अति भारीपना हो, तो विरुद्ध उत्तेजना (Revulsion) कारक चिकित्सा-विलेस्टर आदि अथवा जलौका या कपिगगलास लगाकर रक्त निकाल लेना चाहिए । इसका विशेष विचार वैज्ञानिक विचारणामें प्रत्युग्रता साधन विधान पृष्ठ २५३ से २५६ तक किया है ।

यकृतमें रक्तावेग होने पर पथ्यका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये । शुद्ध वायुमें भ्रमण और व्यायाम इस रोगमें अति हितकर हैं । भोजन लघु देना चाहिये ।

प्लीहावृद्धि—(Splenic enlargement) होने पर मूल कारणका निर्णय कर, उसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये । अनेक रोग बाल्यावस्थामें होते हैं, और अनेक रोग बाल्यावस्था के पश्चात् होते हैं । अनेक विषम ज्वर आदि रोग आसाम, मालवा, विदर्भ आदि देशोंमें विशेष होते हैं । कितनेक रोग निश्चित ऋतुमें अधिकांशमें फैलते हैं । विषम ज्वर शरद् ऋतुके

अन्त भागमें (दिवालीके लगभग) विशेष रूपसे फैलता है, अतः आयु, देश और कालको लक्ष्यमें रखकर मूल कारणका निश्चय करके चिकित्सा करनी चाहिये ।

विषम ज्वरसे प्लीहावृद्धि होने पर विषम ज्वरके विपको नष्ट करने वाली जीर्ण ज्वर नाशक और प्लीहावृद्धिको न्यून करने वाली ओषधि देनी चाहिये । सुवर्णमालिनी वसंत, लघुमालिनी-वसंत, लोहभस्मयुक्त प्लीहान्तक वटी आदि ओषधियां लाभदायक हैं ।

पाण्डु, हलीमक आदि रक्तके विकारजन्य प्लीहावृद्धि होने पर पाण्डु रोगमें लिखे अनुसार लोह या मण्डूर प्रधान ओषधियाँ देनी चाहिए । उपदंशके उपद्रव रूप प्लीहावृद्धि हो तो मल्ल प्रधान ओषधिको प्रयोगमें लानी चाहिए । इस तरह बालग्रह, क्षय या प्लीहाबुद्द आदि कारणोंसे प्लीहावृद्धि होने पर मूल कारणको दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये ।

प्लीहोदर (Splenic anaemia) रोग पर प्लीहावृद्धि-नाशक ओषधियाँ उपकारक हैं । डाक्टरीमतानुसार शस्त्र चिकित्साद्वारा प्लीहाको निकाल देना विशेष हितावह माना गया है ।

बद्धगुदोदर में स्वेदन करा गोमूत्र, तीक्ष्ण ओषधि, तैल और लवण युक्त निरूहबस्ति और फिर अनुवासन बस्तिका सेवन करना चाहिये । यहाँ पर आचार्यने तैल और लवण युक्त बस्ति लिखा है । सामान्य रीतिसे निरूह बस्तिमें ये दोनों वस्तु मिलानी ही पड़ती है; फिर भी दोनों वस्तुओंके नाम लिखे हैं । अतः तैल और लवण, इन दोनोंको अपेक्षाकृत अधिक लेना चाहिये ।

यद्यपि आचार्योंने सिद्धिस्थानके दूसरे अध्यायमें बद्धगुदोदर, छिद्रोदर और जलोदर रोगी को निरूह बस्ति और अनुवासन बस्तिके अनधिकारी कहे हैं; तथापि साध्यावस्थामें जब तक मल अत्यन्त बद्ध न हो, तब तक इस बद्धगुदोदर रोगमें निरूह बस्ति

दी जाती है । इसी हेतुसे अष्टाङ्गसंग्रहकारनेभी स्पष्ट बस्ति देनेकी आज्ञा दी है, तथा अनुलोमक-दस्तको लानेमें सहायक भोजन, तीक्ष्ण विरेचन और उदावर्तनाशक वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये ।

कदाच स्थूल अन्त्रमें मल कठिन होजानेसे ही अवरोध हुआ हो; तो बस्तिसे लाभ हो जाता है । इस तरह मल निकल जाने के पश्चात् उदर मसलने (Massage) और मृदु विरेचन (एरंड तैल आदि) द्वारा उदरकी शुद्धि कर लेनी चाहिये ।

केवल मल जन्य बद्धगुदोदर बृहदन्त्रमें ही हुआ हो; तो उदर प्रदेश पर बाजरीके आटेकी रोटी या अलसी की गर्म पुल्टिस बांधनी चाहिये; अथवा गर्म जलसे सेक करना चाहिये ।

पूर्ण बद्धकोष्ठ होने पर अपान वायु भी नहीं सरता । विरेचनीय ओषधिसे दस्त नहीं होता । एवं बस्तिद्वारा जल आदि चढ़ाने पर भी मल बिल्कुल नहीं निकलता । ऐसी परिस्थिति होनेके पश्चात् यदि दो तीन दिन बिना चिकित्सा निकलजाय तो रोग असाध्य हो जाता है ।

बद्धगुदोदर की पूर्ण प्राप्ति होजाने पर होसके उतना सत्वर शस्त्र चिकित्सा द्वारा शल्यको निकाल डालना चाहिये । जितनी देरी होती है, उतनाही विष प्रकुपित होकर अधिक शक्तिपात कराता है । यदि अन्त्र फट जायगी, तो उदर्याकलामें प्रदाह होकर रोगी की मृत्यु होजायगी । भगवान् धन्वन्तरिजीने भी इस रोगमें निम्न वचनसे शस्त्रक्रिया कराने की सूचना की है ।

“स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरंगुल-
मपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरंगुलप्रमाणान्य-
न्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्र-प्रतिरोधकरमश्मानं
बालं वापोह्य मलजातं वा ।

बद्धगुदोदर और क्षतोदरमे शस्त्रकर्म—चरक संहिताकारने लिखा है कि, पहले नाभिके नीचे बांयी ओर की कुक्षिको ४ अंगुल नाप, उस भागको छोड़ मात्रायुक्त शस्त्रसे चीरा देना चाहिये । फिर आंतके कुछ भागको (लगभग ४ अंगुल प्रमाण को) निकाल वहाँपर चीरा देकर अच्छी तरह निरीक्षण करें । बद्ध अन्त्र और क्षत अन्त्रके कारणभूत शल्य (केश, कण्टक, कंकड़ आदि) को निकाल डालें, और संशुद्धकर घी (घी-शहद) चुपड़ दें । एवं अन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussusception) या अन्त्रपाश (Strangulation) प्रतीत हो, तो उसे भी छुड़ा दें । पश्चात् आंतके छिद्रपर सम्हाल पूर्वक अनेक बड़ी चीटियों-मकोड़ोसे दंश करावे । ताकि छिद्र या अन्त्रके दोनों सिरे आप-समें जुड़ जायें । इसके लिये दोनों सिरोंको जोड़कर संधि स्थानपर दश कराना चाहिये । जब छेद मिल जाय, तब मकोड़ोके शिरच्छेदकर देना चाहिये, अर्थात् सिरको रख शेष भागको काट डालना चाहिये । परिणाममें वहाँ सिलाई सदृश संधान हो जाता है । अर्थात् दंशके कारण रक्त या रक्तरस निकलकर व्रणको तत्काल भर देता है । इस तरह आंतोके जोड़नेके पश्चात् जिस तरह अन्त्रको बाहर निकाला था, उसके प्रतियोगरूप आंतोको पुनः प्रवेश करा यथास्थान स्थापितकर उदरके व्रणकी सुईसे सिलाई कर देनी चाहिये ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने लिखा है कि, इस तरह चीरा देनेके पहले स्नेहन, स्वेदन और तैलाम्यंग करा लेना चाहिये । शेष बात वही लिखी है । सीस लेनेके पश्चात् मुलहठी और काली मिट्टी मिला लेपकर पट्टी बाँध देनी चाहिये । (वर्तमानमें बोरिक एसिड या इतर कीदाणुनाशक औषधि प्रयोजित होती है) रोगीको निर्वात स्थानमें योग्य परिचारकके पास रखें; तथा आहार रूपसे केवल गोदुग्ध दें ।

यदि सन्निरुद्ध गुदसे बद्धगुदोदर की प्राप्ति हो, तो गुदनलिकामें शस्त्र क्रिया करके मार्ग चौड़ा कर लेना चाहिये ।

छिद्रोदर में स्वेदन नहीं कराना चाहिये; शेष सब उपचार कफोदरके सदृश करना चाहिये, तथा जो जल उत्पन्न होता रहता है, उसका सात्र बार-बार कराते रहना चाहिये । आवश्यकता पर शस्त्रचिकित्साका आश्रय लेना चाहिये ।

जलोदर की चिकित्सा करनेके लिये प्रारम्भमें जलके दोष का हरण करनेके लिये गोमूत्र और विविध तीक्ष्ण क्षारयुक्त ओषधि तथा दीपनीय और कफनाशक आहारसे उपचार करना चाहिये । रोगीको जल आदि द्रव पदार्थोंके पीनेमें हो सके उतना नियन्त्रण करनेको कहें ।

सब प्रकारके उदर रोग बहुधा त्रिदोष प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं । अतः सब प्रकारोंमें त्रिदोष को शमन करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये । कुक्षियोंमें दोष भर जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है । इसलिये सब उदररोगोंमें दीपन और लघुभोजन प्रयोग करना चाहिये ।

सूचना—सामान्य रीतिसे उदररोगोंमें स्नेहपान और स्वेदनका निषेध निम्न वचनोंसे किया है । अतः स्नेहन स्वेदन सन्मालपूर्वक आवश्यकतानुसार करना चाहिये ।

स्नेहन निषेध—“विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी चोदरी ज्वरी ।”

॥ सु० सं० चि० अ० ३१ ॥

“अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठराग्निगरार्दिताः ।” च० सं० सू० अ० १३ ।

इन वचनोंसे दोनों आचार्योंने उदर रोगीके लिये स्नेहपान का निषेध किया है । कितनेक विद्वानोंका मत है कि, यह निषेध वचन छिद्रोदर और जलोदर रोगीके लिये है । सबके लिये नहीं ।

स्वेदन निषेध—“पाण्डुर्मेही रक्तपित्ती क्ष्यातः क्षामोऽजीर्णी

चोदरार्त्तो विषार्त्तः ।” सु० स० चि० अ० ३२ ।

“कामत्युदरिणी चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम् ।”

॥ च० स० सू० अ० १४ ॥

इन वचनोंसे दोनों आचार्योंने स्वेदन का निषेध किया है । अतः जिन रोगियोंको शोधन कराना है, उनके लिये स्नेहपान और स्वेदन का अति-निषेध नहीं मानना चाहिए । स्वतन्त्र रूपसे स्नेहन स्वेदनका प्रतिषेध समझना चाहिए ।

जलोदर रोगीको यदि ओषधि चिकित्सा आदिसे लाभ न हो, तो वातहरतैलका मर्दनकर गरम जलसे स्वेदन करा-शान्तिसे पकड़कर बैठायें, और उदरपर कांख तक कपड़ा लपेट लेवे । फिर नाभिके नीचे वामपार्श्वमें ४ अंगुल रोमावलीको छोड़ छेदकर ब्रीहिमुखयन्त्र (Trocar and Cannula) से जल निकाल लेना चाहिये । जल स्राव हो जानेपर हाथसे मर्दन करे, ताकि अवशिष्ट जल रह गया हो, तो निकल जाय । फिर व्रण-चिकित्सा करे, और उदरपर चौड़े वस्त्रको कसकर लपेट देवे ।

आधुनिक विधि डाक्टरी चिकित्साके साथ दी है । भगवान् धन्वन्तरिजीने अंगुष्ठ सट्टा छोटा छेद करने को लिखा है, उसी तरह पहले छेद किया जाता था; अब छेद बहुत छोटा करने का रिवाज हो गया है । छेद छोटा करनेमें रोपण क्रिया सत्वर होती है; और जल निकलनेके समय रोगीको मूर्च्छा भी नहीं होती ।

सूचना—सब प्रकारके उदर रोगोंमें जैसे जैसे बस्ति, विरेचन या जल-स्राव आदिसे उदर सिकुडता जाय, वैसे-वैसे वस्त्रको कसकर लपेटते रहना चाहिए, अन्यथा वहाँपर वायु प्रवेशकर जाती है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी लिखते हैं कि, सब जल एक ही दिनमें नहीं निकाल देना चाहिए । एक ही समयमें सब जल निकाल देनेपर तृषा, ज्वर, अंगमर्द, अतिसार, श्वास, पैरोंमें दाह और उदर फूलना आदि

विकार होते हैं । अतः ३-४-५-६-८-१०-१२ या १६ दिनमें कुछ-कुछ दिनोंका अंतर करके थोड़ा-थोड़ा निकालना चाहिए ।

जल का स्वाव हो जानेपर रोगीको घी मिली हुई पेया बिना नमकवाली पिलानी चाहिये । फिर ६ मास तक केवल दूधपर ही रखना चाहिये । पश्चात् ३ मास तक दूधसे सिद्ध पेया पिलानी चाहिये । तदनन्तर ३ मास तक नमक रहित श्यामाक (साँवा) या कोरदूष (कोदों) के चावलों को दूधके साथ देते रहना चाहिये । इस तरह एक वर्ष तक पथ्य का सेवन कराना चाहिये ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने भी कहा है कि, जलोदर रोगीके शस्त्र कर्मके पश्चात् ६ मास तक दूध या जंगली जीवों का मांस रस, ३ मास तक आधा दूध मिला जल और खट्टे फल (अनार आदि) सह मांस रस तथा शेष ३ मास हलका हितकर भोजन देवें । इस तरह एक वर्ष तक पथ्यपालन करनेसे रोगी स्वस्थ हो जाता है ।

जलोदर और शोथ रोग की चिकित्सामें हो सके उतना जल्दी कारणको जानकर दूर करना चाहिये । जलोदर रोगीको नमक बिल्कुल नहीं देना चाहिये । पथ्यमें मानमण्ड देना हितकर है ।

जल सदृश पतले दस्त लानेवाला तीव्र विरेचन या तीव्र मूत्रल ओषधि देनेसे उदर्याकला या संयोजक तन्तुमें संचित जल का रक्तमें आकर्षण हो जाता है ।

विरेचन ओषधि, जो पतले जल सदृश दस्त लाती है, वह देनेसे रक्तमें से जल प्रचुर परिमाणमें निकल जाता है । परिणाममें रक्तका जलीय अंश निकल जानेपर शेष रस घन बन जाता है; और उसमें क्षारकी अधिकता हो जाती है । जिससे क्षति पूरणार्थ रक्तप्रणालियों अन्तर्बहन और बहिर्वहन (Endosmosis and Exosmosis) क्रियाके नियमानुसार संयोजक तन्तुओंमेंसे संग्रहित रसको आकर्षित कर

लेती हैं । इस उद्देश्यसे जलोदर और शोथ रोगोंकी चिकित्सामे प्रातः-काल चार प्रधान विरेचन औषधिका प्रयोग करना चाहिये । एव जलपानका उस समय निषेध करना चाहिये । शोषण क्रिया और अन्तर्वहन-बहिर्वहन नियमका विवेचन वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ २७६ से २७८ तक किया गया है ।

इसके अतिरिक्त मूत्रमार्ग द्वारा रसको दूर किया जाता है । इस उद्देश्यसे मूत्रपिण्डकी क्रिया बढ़ानी चाहिये । परन्तु वृक्क यदि विकारग्रस्त हो; तो उनसे अधिक कार्य नहीं लेना चाहिये । यदि वृक्क पीड़ित होने पर भी मूत्रल औषधि दी जायगी, तो शोथमें लाभ नहीं होगा; बल्कि हानि होगी । वृक्क निर्दोष है और क्रिया शिथिल होगई हो, तो मूत्रल औषधि देने पर मूत्रनिःसारक विधानमें उत्तेजना आती है । फिर रक्त दबावमें उत्तेजना बढ़ जाती है; और मूत्र द्वारा अधिक रस निकलने लगता है । जिससे जलोदर आदि सब प्रकारके शोथ रोगोंमें लाभ पहुंच जाता है ।

सूचना—यदि जल मूत्रल या विरेचन औषधिसे कम न होने लगे, तो यन्त्र द्वारा जलको निकाल देना चाहिये; परन्तु कारणको दूर किये बिना संचित जलको निकाल दिया जायगा, तो पुनः कुछ दिनोंमें फिर भरने लगता है । यदि कष्ट असह्य होता है, तो कष्ट शमनार्थ संचित सलिलको यन्त्र द्वारा निकाल देना चाहिये ।

तरल निकालनेकी डाक्टरों विधि—तरल निकालनेके लिये पात्र (बाल्टी या दूसरा), तरल-परीक्षार्थ नलिका (Test tube), तरल निकालनेका पात्र (Flask), रोगीके उदर पर बाँधनेका कपड़ा, नाभि के नीचे लपेटनेका मोमजामे (Wax-Cloth) का टुकड़ा और शुद्ध किया हुआ ब्रीहिमुख यन्त्र (आरयुक्त नलिका—Trocár with Cannula), इन सब साधनोंको तैयार कर लेवे । फिर मूत्र नलिका (Catheter) द्वारा मूत्राशयमें से संचित मूत्रको निकाल कर तरल निकालनेके लिये व्यवस्था करें ।

जो कपड़ा रोगीके उदर प्रदेश पर बाँधना है, वह स्तनसे लेकर नाभिके नीचे ४ इञ्च तक समग्र उदर प्रदेश ढक जाय, और उदरके दोनों ओर २-२ फीट कपड़ा पकड़नेके लिये भी शेष रहे, उतना लम्बा, चौड़ा, मजबूत, सख्त और मोटा होना चाहिये । ऐसे कपड़ेको धोकर आध घण्टे तक जलमें भिगो दें । फिर उस कपड़ेके दोनों अन्त भाग को चीर कर ५-६ भागमें विभक्त करें; परन्तु उदरपर रहने वाला भाग न फट जाय इस बातका सम्हाल रखें ।

इस प्रकार सब व्यवस्था होनेपर रोगीको दस्ते (Handles) वाली कुर्सी या तख्ते पर बैठाकर उसके पैर नीचे लटका दें । और नाभिसे लगभग ३ इञ्च नीचे केश समूह अर्थात् बस्तिकण्ठिका रेखा (Pecten pubis) तकके भागको साबुन, तार्विन तैल, आयोडिन या शराब आदि किसी जन्तुघ्न ओषधि द्वारा भलीभाँति साफ कर लें । पश्चात् नाभिके २ इञ्च नीचेके प्रदेशसे पैरों तक मोमजामा (Wax Cloth) लपेट दें । ताकि तरलसे वस्त्र गंदे न हों ।

पश्चात् उपरोक्त वस्त्रको उदर प्रदेश पर व्यवस्थित रख, दोनों ओर के सिरोंको रोगीके पीछे खड़े हुए दो परिचारकोंको पकड़ा दें । ये सिराएं पकड़नेमें ऊपरकी ओरका एक सिरा हो, उस पर नीचेकी ओर का उसी पक्तिमें रहा हुआ सिरा रहेगा; इस तरह सब शिराओंको क्रमशः स्थापन करें । जिस तरह एक हाथकी अंगुलियोंको दूसरे हाथकी अंगुलियोंके भीतर प्रवेश कराई जाती हैं; उसी तरह सब सिरें रहेंगे । दाहिनी ओरके सिरोंको बाँयी ओर खड़े मनुष्यके हाथमें दें; और बाँयी ओर के सिराओंको दाहिनी ओर रहे हुए आदमीको दें । जिससे उदर प्रदेश पर कपड़ा सुदृढ़ रूपसे चिपका रहे ।

वस्त्र सुदृढ़ लगा लेने पर नाभिके नीचे मध्यरेखासे दूर दाहिनी या बाँयी ओर जहाँसे ब्रीहिमुख यंत्र प्रवेश कराना हो, उस स्थान (नाभि और केशसमूहके मध्यमें रहे हुए भाग) परके वस्त्रके थोड़े भागको कैची या छुरीसे काट दें । फिर यन्त्रके प्रवेशसे होने वाली पीड़ाको

दूर करनेके लिये नोवोकेन (Novocain) का इन्जेक्शन करें; पश्चात् त्रीहिमुख यन्त्र (Trocac with Cannula अथवा Aspirator) का उदर्याकलामे प्रवेश करावे, और यन्त्र-प्रवेश होने पर नलिका (Cannula) के भीतर रही हुई आर (Trocac) को बाहर निकाल लेवें, नलिकाको रहने देवे। जब तरलका विशेष अश निकल जाय, तब नलिकाको भी निकाल लेवे। फिर उस स्थान पर घाव भरने वाली ओषधि लगा देवे।

यदि द्विपत्र कपाट अवरोध (Mitral Stenosis) आदि कारणोंसे प्रतिहारिणी शिरासमुदायमें रक्तवृद्धि होगई हो, तो रात्रिको रेवाचीनी या निसोत प्रधान मृदु विरेचन देवें; तथा प्रातःकाल लावणिक विरेचन (मेगनेशिया सल्फास) देवें।

यदि जलोदरकी उत्पत्ति हुई हो, तो शिलाजीतको पुनर्नवादि काथके साथ देनेसे वृक्क विधान की मूत्र निःसारण क्रिया बढ़ जाती है। जिससे जलोदर और शोथका ह्रास होता जाता है।

(३) यकृद्वाल्युदरसे उत्पन्न, जलोदरको असाध्य माना है; जल निकालने पर भी बहुधा रोगीकी मृत्यु होजाती है। यकृद्वाल्युदरके साथ यकृतके ऊपर रही हुई उदर्याकला का प्रदाह (Perihepatitis) या उदर्याकलाके किसी भी भाग पर प्रदाह (Peritonitis), इन दोमेसे किसी भी प्रकारका प्रदाह होने पर बार-बार जल निकालते रहनेसे रोगनिवृत्ति हो सकती है।

बालकों को यकृद्वाली होने पर—वायुपरिवर्तनकी व्यवस्था करनी चाहिये। माताका दूध दूषित हो तो छुड़ा देना चाहिये। नीरोगी-गौके दूधका प्रबन्ध करना चाहिये। गोदुग्धमें समान या इससे भी अधिक जल मिला १-२ उफान आवे, तब तक डबाल शीतल कर पिलाना चाहिये।

यदि कोष्ठबद्धता रहती है, तो सेकी हुई कुटकीका चूर्ण

(रसतन्त्रसारोक्त बालमित्र चूर्ण नं० ३) देनेसे यकृतप्लीहावृद्धि, कोष्ठबद्धता, शोथ और उदर विकारकी निवृत्ति होजाती है ।

बालक को अतिसार होजाय, तो संतरा या मुसम्बीके रस पर रखना चाहिये ; या बकरीके दूध की योजना करनी चाहिये ।

यदि कामला या जलोदर होजाय, तो उसके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये ।

बालकोंके यकृतदाली की सर्वोत्तम ओषधि मण्डूर भस्म और कुमार्यासव हैं । डॉक्टरों किसी भी ओषधि से इस रोगमें अभी तक सफलता नहीं मिली । आवश्यकतानुसार मण्डूर और लघु-वसंत को मिलाकर देनेसे मंद ज्वर दूर होता है; और यकृत सबल बनता जाता है ।

कफदोष वात या पित्तसे आवृत्त होने पर और वातदोष पित्त या कफसे निरुद्ध होने पर बलवान् रोगीको उस दोषनाशक ओषधिके साथ रोज सुबह थोड़ा थोड़ा एरंड तैल पिलाते रहना अति हितकर है ।

यदि विरेचन से दस्त लग जाने पर भी उदररोगीको आफरा आजाय, तो उसका अधिक स्नेह युक्त अम्ल और लवण द्रव्योंसे युक्त निरूह बस्तिद्वारा उपचार करना चाहिये ; अथवा विष्टम्भ और आफराको दूर करनेके लिये तीक्ष्ण ओषधि-क्षार और गो-मूत्र प्रधान निरूह बस्ति देनी चाहिये ।

उदररोग चिकित्सा ।

(१) सेहूँड़के दूधकी भावना वाली पीपलका दूधके साथ सेवन करावें । शनैः शनैः पीपलकी मात्रा बढ़ाते जायें । इस तरह सब मिलकर १००० पीपल तक रोगीकी शक्तिके अनुरूप प्रयोग कराना चाहिये ।

(२) शुद्ध शिलाजीत, मूत्र (गौ, भैंस, ऊँटनी, बकरी, भेड़,

गदही और हथिनी मेंसे किसी एकका—इनमेंसे गौ, भैंस और ऊँटनीके मूत्रका विशेष उपयोग होता है), शुद्ध गूगल, त्रिफला और सेहुँड (या त्रिधारीथूहर) का दूध, इन पाँच ओषधियोंमें से किसी एकका प्रयोग करनेसे उदर रोग शमन हो जाता है ।

(३) त्रिफलारसायनका सेवन करानेसे सब प्रकारके उदर रोगों की निवृत्ति हो जाती है ।

चरक संहितामें त्रिफला रसायनके सेवनार्थ लिखा है कि, रात्रिका भोजन पचन हो जाने पर प्रातःकाल १ हरड़, भोजनके पहले २ बहेड़े और भोजन कर लेने पर ४ आंवले शहद और घीके साथ मिलाकर सेवन करे । तीनों द्रव्योंके कपडछान चूर्णका ऊपर कहे हुए समय पर एक वर्ष तक सेवन करनेसे मनुष्य जरारहित और नीरोग रहकर पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।

दूसरे प्रकारके त्रिफला रसायनके लिए लिखा है कि, त्रिफलाका कल्क कर नये लोहपात्रमें लेपकर २४ घण्टे तक रहने देवे । फिर कल्कको उतार शहद और जलके साथ मिलाकर पिला देवे । ओषधि जीर्ण होने पर अच्छी तरह घृत मिले हुए भात (खिचड़ी) आदिका भोजन कराना चाहिये । इस तरह १ वर्ष तक सेवन करानेसे मनुष्य जरा और रोग रहित होकर १०० वर्ष जीवित रहता है ।

(४) भैंसके मूत्रमें दूध मिलाकर ७ दिन तक निराहार रह कर सेवन किया जाय, तो उदर रोगका शमन हो जाता है ।

(५) त्रिधारी थूहरके दूधमें चावलके आटेको मसल उसमेंसे पूरी या मालपुए बनाकर खानेसे एक सप्ताहमें अति बढ़ा हुआ उदर रोग भी नष्ट हो जाता है ।

(६) वर्धमान पिप्पली प्रयोग सब प्रकारके उदर रोगोंको नष्ट करनेमें बहुत अच्छा माना गया है ।

पहले दिन दूधके साथ ३ पीपलका सेवन करें । फिर १० दिन तक रोज ३-३ पीपल बढ़ाते जायें; पुनः इसी क्रमसे ३-३ घटाते जायें । इस

तरह प्रयोग करके २० दिनमें २८० पीपलोंका सेवन कराया जाता है । बलवानोंके लिए चरकसंहिताकारने १०-१० पीपल रोज बढ़ाकर २० दिनमें १००० पीपल सेवन करनेको लिखा है । परन्तु वर्त्तमानमें इतनी अधिक मात्रा सहन नहीं हो सकेगी । पीपल बढ़ानेके साथ-साथ दूधका प्रमाण भी बढ़ाते रहना चाहिये । जब पीपल पचन हो जाय; तब दूध, घी और भात (सांठी चावल) का भोजन करते रहें ।

भगवान् आत्रेयने लिखा है कि, यह वर्धमान पिप्पली कल्प वृंहण (मांसवर्धक), स्वर शुद्धिकर, आयुवर्धक, प्लीहोदर नाशक, युवावस्थाको कायम रखने वाला और मेध्य है ।

धन्वन्तरिजी लिखते हैं कि, इस कल्पके सेवनसे, वातरक्त, विषम-ज्वर, अरुचि, पाण्डु, प्लीहोदर, अर्श, कास, शोष, शोथ, अग्निमान्द्य, हृद्रोग और सब प्रकारके उदर रोग नष्ट होते हैं । दोष और रोगका विचार कर बलवान पुरुषोंको चूर्णरूपमें, मध्यम बल वालोंको काथरूपमें और निर्बलोंको शीत कषाय बनाकर पीपलोंका सेवन कराना चाहिये ।

(७) आकके पीले पत्तों को साफ पोंछ कर ऊपर पीसा हुआ सैधानमक थोड़ा-थोड़ा बिछावें । फिर ऊपर पत्ता रख कर नमक डालें । इस तरह सब पत्तों को जमा हौंडीमें रख संपुट कर गज पुटमें फूंक देवें । फिर तिकाल पीसकर १ से २ माशे तक दहीके तोड़के साथ देते रहनेसे गुल्म और प्लीहोदर रोग २१ दिनमें नष्ट हो जाते हैं ।

(८) शिशु क्वाथ—सुहिंजने की छालका काथ कर छोटी पीपल, कालीमिर्च, अम्लबेंत और सैधानमकका चूर्ण मिला कर पिलानेसे प्लीहोदर रोग नष्ट हो जाता है ।

(९) रोहितक योग—रुहेड़े की छाल और बड़ी हरड़का चूर्ण कर गोमूत्र या जलमें मिला कर पिलानेसे समस्त उदर रोग प्लीहा रोग, प्रमेह, अर्श, कृमि और गुल्म रोग नष्ट हो जाते हैं ।

जुलाब लाने की आवश्यकता हो तो गोमूत्रमें देवें; और रोग शमनार्थ जलके साथ देवें ।

(१०) दशमूलके काथके साथ एरंड तल या गोमूत्रका सेवन करानेसे वातोदर, शोथ, कोष्ठबद्धता और शूलविकार आदि रोग नष्ट होते हैं ।

(११) त्रिफलाके काथमें गोमूत्र मिलाकर पिलाते रहनेसे वातोदर, मलावरोध, शोथ और शूल की निवृत्ति होती है ।

(१२) पुनर्नवागुग्गुल योग—पुनर्नवा की जड़, देवदारु, हरड़ और गिलोयको मिला काथ कर गोमूत्र और गुग्गुलु डालकर पिलानेसे त्वचाविकार, शोथ उदररोग, पाण्डुरोग, स्थूलता, मुँहसे पानी आना और ऊर्ध्व भागका कफप्रकोप, ये सब रोग दूर हो जाते हैं ।

(१३) गोमूत्रके साथ भैंसका दूध या गोदुग्धके साथ त्रिफला चूर्णका सेवन करानेसे या केवल गोमूत्र पिलाने और भोजनमें केवल गोदुग्ध पिलाते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें शोथ सह उदर रोग नष्ट हो जाता है ।

(१४) भल्लातक मोदक—भिलावा, हरड़ और काला-जीरा, तीनों को समभाग मिला कूट सबके समान गुड़ मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियां बना लेवे । भिलावे को कूटनेके समय हाथ नहीं लगाना चाहिये । तैल लगाकर हाथ लगानेमें बाधा नहीं । इन गोलियोंमें से २ से ४ गोली तक दिनमें २ समय देते रहने से दारुण स्तीहोदर भी एक सप्ताहमें नष्ट हो जाता है ।

(१५) देवदारवाद्य लेप—देवदारु, पलाशके बीज, आक की जड़, गजपीपल, सुहिजने की छाल, असगन्ध, इन ६ औषधियों को गोमूत्रके साथ पीस निवायाकर उदर पर एक एक

अंगुल मोटा लेप करनेसे आफरा, और मलबद्धता आदि विकार दूर होते हैं ।

(१६) पुनर्नवाके मूल २-२ तोलेका क्वाथ कर दिनमें ३ समय ४-४ रत्ती शिलाजीत और २-२ रत्ती लोहभस्म मिलाकर पिलाते रहनेसे रक्तमें मूत्रविषवृद्धि (Uraemia), हृदय की निर्बलता, शोथ, अग्निमान्द्य तथा ज्वर आदि विकृति सह उदर रोग दूर होता है ।

(१७) बड़े इन्द्रायणके फल का चूर्ण १ से ३ माशे तक रोज प्रातःकाल ७ दिन तक जलके साथ देनेसे पित्त और दूषित जल का स्नाव होकर यकृद्विकृतिजन्य और वृक्कविकृति जन्य जलोदर दूर होते हैं ।

(१८) मालकांगनी का तैल १० से २० बूँद तक रोज सुबह दूधके साथ देते रहनेसे वृक्कविकारजन्य जलोदर की निवृत्ति होती है ।

(१९) यकृदालीरोग पर—रसतन्त्रसारमें लिखी हुई ओषधियाँ—मण्डूर भस्म (२० १७४—कुमार्यासव या मूलीके रस और मिश्रीके साथ) । ताप्यादिलोह (२० ४३७—आमके मुरब्बे या मूलीके रस और मिश्रीके साथ) । ताम्र पर्पटी (२० ३२१), ताम्रभस्म (२० १२१—शहद और चित्रकमूलके काथके साथ), प्लीहान्तक चूर्ण (२० ६७८), कुमार्यासव (२० ७४४), लघुशंखद्राव, (२० ७८६), उदरामृत योग (२० ७८५) आदि लाभदायक हैं । इस यकृदाली रोग की ओषधियों का विशेष वर्णन आगे कामला रोगमें लिखा जायगा ।

(२०) उपदंश विषज यकृदालीपर—मूलहेतुरूप विषको नष्ट करनेके लिये मल्लसिन्दूर (२० २८४), अष्टमूर्तिरसायन (२० ३०५), उपदंशसूर्य (२० ५४२) आदि ओषधियाँ देनी चाहिये ।

(२१) यकृतमें रक्ताधिक्य होनेपर—आरोग्यवर्धनी द्वितीय

विधि, (२० ५३०), कुमार्यासव (२० ७४४), त्रिफलारिष्ट (२० ७५५), नवायसलोह (२० ४४६), तक्रमण्डूर (२० ५४३), प्लीहान्तकक्षार चूर्ण (२० ६७७), प्लीहान्तक चूर्ण (२० ६७८), आदि हितावह है । आवश्यकता अनुसार यकृत पर अलसी की पुल्टिस बोंधें या सेक करें, अथवा जलौका आदि द्वारा रक्तको निकाल लेवे ।

पित्तान्तक चूर्ण और प्लीहान्तक चूर्ण सामान्य औषध होनेपर भी तत्काल लाभ पहुँचाते हैं । यदि रोग विषम ज्वर जन्य हो; तो डाक्टरी मतानुसार किनाड़न मिश्रित औषधि देनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । डाक्टरी मतमें (प्लीहान्तक चूर्णके स्थानपर) एमोनिया क्लोराइड १०-१० ग्रोन की मात्रामें २-२ घण्टेपर देते हैं । डाक्टरीमें इसे उत्कृष्ट औषधि मानी है ।

(२२) यकृत की अवश रक्ताधिकता होनेपर—रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगमें कही हुई औषधियोंमें प्रभाकरवटी (२० ५१५), त्रिनेत्ररस (२० ५१६) तथा लक्ष्मीविलास रस (२० ३७४) आदि अति हितकर है ।

(२३) यकृद् वृद्धिके शमनार्थ—प्लीहान्तक गुटिका (२० ५३०), सुवर्णमालिनीवसन्त (२० ३८४), प्लीहान्तक चूर्ण (२० ६७८), शीतभञ्जीरस (२० ३३२) या सुदर्शन चूर्ण (२० ६७२) का सेवन कराना चाहिये ।

बहुधा विषम ज्वरजन्य विकार होनेपर पाण्डुता भी रहती है; अतः प्लीहान्तकवटी या सुवर्णमालिनीवसन्त देना विशेष हितकारक है । मल्ल प्रधान औषधि विषशमनमें सत्वर लाभ पहुँचाती है । आवश्यकता होनेपर अति कम मात्रामें शीतभञ्जीरस दूसरी विधि (२० ३३२), अचिन्त्यशक्ति रस (२० ५११) या इतर औषधि देनी चाहिये । मात्रा अधिक होनेपर हानि पहुँचती है ।

यदि यकृतमें अति भारीपन हो, तो विरुद्ध उत्तेजना (Revulsion) कारक चिकित्सा—ब्लिस्टर आदि अथवा जलौका या कपिंग-ग्लास लगाकर रक्त निकाल लेना चाहिये ।

इसका विशेष विचार वैज्ञानिक विचारणामें प्रत्युपतासाधक विधान पृष्ठ २५३ से २५६ तक किया है ।

(२४) रसतन्त्रपार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखे हुये प्रयोग—इच्छाभेदी रस (२० ३६६), अश्वकंचुकीरस (२० ३४०), नारायण चूर्ण (२० ६७८), आरोग्यवर्धनी (२० ५३०), जलोदरारि रस (२० ५३८), नाराचघृत (२० ८२६), दशमूलाद्य घृत (२० ८२७), अभयारिष्ट (२० ७६५), उदरामृत योग (७८५), शंखद्राव (२० ७८६), वज्रक्षार चूर्ण (२० ६८४), प्लीहान्तक गुटिका (२० ५३० और ६३६), प्लीहान्तक क्षार चूर्ण (२० ६७७), प्रवालपञ्चामृत रस (२० ५१३), तालसिन्दूर (२० २८८), ताम्रभस्म (२० १२१ पुनर्नवादि काथ या कुमार्यासवके साथ) और पंचसूत (२० ३०१) आदि उदर रोगपर वर्ते जाते हैं ।

इनमेंसे इच्छाभेदीरस और नारायण चूर्ण विरेचन कराने वाले हैं; तथा उदरामृत योग, नाराचघृत और अभयारिष्ट कोष्ठशुद्धिकर औषध हैं ।

अश्वकंचुकी, आरोग्यवर्धनी और जलोदरारि रस, तीनों उदर शोधन कर रोग को शमन करनेवाले हैं । इनमें जलोदरारि रस जंतुनी के दूधके साथ देते रहनेसे जल जैसा पतला दस्त होकर बढ़ा हुआ जलोदर सत्वर नष्ट हो जाता है । ताम्रभस्मको मूत्रल और मल-शोधक अनुपानके साथ देनेसे यकृतद्विकार और प्लीहा विकृति सह उदररोग नष्ट हो जाता है ।

दशमूलाद्यघृत वातोदर रोगीके लिये लाभदायक है ।

वज्रक्षार चूर्ण और शखद्राव जलोत्पत्ति के पहले सब प्रकारके नये उदररोगमें हितकारक हैं ।

प्रवालपञ्चामृत रस पित्तोदरमें दिया जाता है ।

प्लीहान्तक गुटिका और प्लीहान्तक क्षार चूर्ण प्लीहोदर और यकृतोदरमें लाभदायक हैं । इनमेंसे लोहभस्मयुक्त प्लीहान्तक गुटिका पाण्डुसह प्लीहोदरको नष्ट करनेमें अधिक हितकर मानी गई है ।

ताल सिन्दूर नया उदररोग सामान्यशोथ सह हो, तो उसे सत्वर दूर करता है ।

पञ्चसूत आन्त्रिक कीटाणु जन्य विकृति तथा तीव्र यकृत संकोचको नष्ट करने और तीव्र उदरवातको दूर करनेके लिये अदरखके रस और शहद या इतर रोगशामक अनुपानके साथ दिया जाता है ।

(२५) हपुषाद्य चूर्ण—झाऊबेर, सत्यानाशीकी जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी, नीलिनी (काला दाना), त्रायमाण, सातला (सेहुंड), निसोत, बच, सैधा नमक और पीपल, इन १४ ओषधियोंको सम भाग मिला कूटकर कपड़छान चूर्णमेंसे २ से ४ माशे तक अनारदानेके रस, त्रिफलाके काथ, मांस रस, गोमूत्र या निवाये जलके साथ प्रातःकाल देते रहनेसे सब प्रकार के उदररोग, चित्र, कुष्ठ, अजीर्ण, देहकी शिथिलता, विषम अग्नि, शोथ, अर्श, पाण्डु, कामला और हलीमक आदि नष्ट हो जाते हैं । यह चूर्ण विरेचन करा वात, पित्त और कफ, तीनों दोषों की विकृतिको तत्काल शमन करता है ।

(२६) सामुद्राद्य चूर्ण—समुद्रनमक, कालानमक, सैधा नमक, जवाखार, अजमोद, छोटी पीपल, चीतेकी जड़, सोठ, भूनी हींग, बिड़ नमक, इन १० ओषधियोंको सम भाग मिला कर कपड़छान चूर्ण करें । इस चूर्णमेंसे ३ से ४ माशे तक दिनमें २ समय घीके साथ मिलाकर भोजनके पहले घ्रासमें देते

रहनेसे वातोदर, गुल्म, अजीर्ण, वातप्रकोप, ग्रहणी विकार, सब प्रकारके दुष्ट अर्श, बद्ध कोष्ठ, पाण्डु और भगंदर आदि सत्वर दूर हो जाते हैं ।

(२७) पुनर्नवादि चूर्ण—पुनर्नवाकी जड़, देवदारु, गिलोय, पाठा, बेलका गूदा, गोखरू, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी पीपल, चित्रकमूल, अडूसा, इन १३ ओषधियों को समभाग मिला कूट कपड़छान चूर्ण करें । इनमेंसे ४ से ६ माशे तक दिनमें २ बार गोमूत्रके साथ देते रहनेसे सारे शरीरमें फैले हुए शोथ और शूलसह आठों प्रकारके उदर रोग तथा दुष्ट व्रण नष्ट हो जाते हैं ।

(२८) वड़वानल चार—हींग, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, भिलावे, सुहि-जनेके बीज, कुटकी, चव्य, बच और सोंठ (दूसरी बार पाठमें है), इन १६ ओषधियों को समभाग मिला कूटकर मोटा-मोटा चूर्ण करें । फिर पंचलवण (पांचो मिलाकर) चूर्णके समान मिला एक हांडीमें भरें । पश्चात् शराव सम्पुट कर संधि लेप करें । बाद में चूल्हे पर चढ़ाकर ३ घण्टे तक अग्नि देवें । स्वांग शीतल होने पर चार निकाल कर पीस लेवें । इसमेंसे २-२ माशे चार शराव, कांजी या निवाये जलके साथ दिनमें २ बार ७ दिन तक देनेसे उदररोग, गुल्म और शूलका नाश होता है ।

(२९) दशमूलादि क्वाथ—दशमूल, देवदारु, सोंठ, गिलोय, पुनर्नवा की जड़; हरड़का छिलका, इन १५ ओषधियों को समभाग मिला जौकूट कर २ से ४ तोलेका क्वाथ कर पिलाते रहनेसे जलोदर, शोथ, श्लीपद, गलगण्ड, और वात रोग आदि नष्ट हो जाते हैं ।

(३०) हरीतक्यादि क्वाथ—हरड़, सोंठ, देवदारु, पुन-

नैवा की जड़ और गिलोय, इन ५ ओषधियोंका क्वाथ कर गूगल और गोमूत्र मिलाकर पिलानेसे थोड़े ही दिनोंमें शोथ सह उदररोग नष्ट हो जाता है ।

(३१) पुनर्नवादि क्वाथ—पुनर्नवा की जड़, नीम की अंतर छाल, परवलके पत्ते, सोठ, हरड़, देवदारु और गिलोय, इन ७ ओषधियोंका क्वाथ कर दिनमें दो बार पिलाते रहनेसे सर्वांगशोथ, उदर रोग, कास, शून, श्वास और पाण्डु रोग, ये सब दूर हो जाते हैं ।

(३२) भेदनीया वटी—गोखरू और पीपल को कूट कपड़छान चूर्ण कर थूहरके दूधमें ११ घण्टे खरल कर २-२ रत्ती की गोलियां बनावें । इनमेंसे १ से ४ गोली तक शक्ति अनुसार सेवन करानेसे अति प्रबल उदर रोग भी नष्ट हो जाते हैं ।

(३३) नाराचरस—शुद्ध पारद, शुद्ध सोहागा, काली मिर्च, ये तीनों १-१ तोला, शुद्ध गन्धक, पीपल, सोठ, ये तीनों २-२ तोले और शुद्ध जमाल गोटे ६ तोले लें, इन सबको मिलाकर ६ घण्टे खरल कर रख लेवें; या जलके साथ खरल कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बनावे । इनमें से १-१ गोली निवाये जलके साथ प्रातःकाल देनेसे गुल्म, प्लीहावृद्धि और उदर रोग आदि नष्ट हो जाते हैं । एवं कोष्ठशुद्धि हो जानेसे आफरा, उदावर्त्त, आनाह (बद्धकोष्ठ), बद्धकोष्ठ जनित सब प्रकारके विकार—कुष्ठ, रक्त विकार और त्वचा रोग आदि भी दूर हो जाते हैं ।

(३४) महाबिन्दु घृत—थूहरका दूध ८ तोले, गोघृत ३२ तोले, कपीला ४ तोले, सैधानमक २ तोले, निसोत ४ तोले, आंवलोका रस १६ तोले और घृत पाकार्थ जल ६४ तोले मिला कर यथाविधि मंदाग्नि पर पाक करें । इसमेंसे घृत १ से २ तोले तक उदररोग, प्लीहावृद्धि, गुल्म और कोष्ठविकारजन्य सब

रोगोंमें दिया जाता है । जैसे वायु मेघोंके समूहों को सरलतासे उड़ा देता है, वैसे ही यह घृत सब प्रकारके गुल्मों को नष्ट कर डालता है; अथवा यह घृत गुल्म आदि रोगोंके लिये इन्द्रके वज्र सदृश सफल साधन है ।

(३५) त्रैलोक्योद्गुम्बर रस—शुद्ध पारद २ तोले, शुद्ध गन्धक ४ तोले, अम्रक भस्म, चित्रकमूल, वायविडंग, गिलोय सत्व, नागभस्म, कालाजीरा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सैधानमक और जवाखार, ये ११ ओषधियां १-१ तोला लेवें । पहले पारद-गंधक की कज्जली करें । फिर भस्म और काष्ठ आदि ओषधियों का कपड़ छान चूर्ण मिलाकर तुलसी और बिजौरेके रसकी ७-७ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें । इसमेंसे १-१ गोली दिनमें २ बार गोघृतके साथ देते रहनेसे वातप्रकोप जन्य उदररोग मूल सह नष्ट हो जाता है । भोजन स्निग्ध और उष्ण देना चाहिये । दूध की खीर नहीं देनी चाहिये ।

(३६) वैश्वानरवटी—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोले, ताम्रभस्म, लोहभस्म, शुद्ध शिलाजीत, तीनों १-१ तोला शुद्ध बच्छनाग, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, चित्रकमूल, कूठ, निगुंडी, काली मूसली, कपीला और अजमोद, ये १० ओषधियाँ २-२ तोले लेवें । पहले पारद गन्धककी कज्जली करें । फिर भस्म, बच्छनाग और काष्ठ आदि ओषधियोंका कपड़छान चूर्ण क्रमशः मिलावें । पश्चात् शिलाजीतको जलमें घोल कर मिला देवें । अच्छी तरह सब मिल जाने पर नीमकी अन्तरछाल और एरंड-मूलके काथकी २१ भावना, भाँगरेके रसकी ७ भावना, गोरख-मुण्डीके रसकी १२ भावना और नागरवेलके पानके रसकी ३ भावना देकर सूखा चूर्ण बना देवें । फिर शहदमें मिला २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें । इनमेंसे १-१ गोली दिनमें दो बार देवदारु

और चित्रकमूलके कल्क मिले दूधके साथ देते रहनेसे श्लेष्मोदर का विनाश हो जाता है । भोजन त्रिकटु मिले दूध या त्रिकटु मिले कुलर्थाके यूषके साथ देना चाहिये ।

(३७) पिप्पल्याद्यलोह—पीपलामूल, चित्रकमूल, अभ्रक-भस्म, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, बायविडङ्ग, चित्रकमूल (दूसरी बार पाठमे है), नागरमोथा, कपूर, सैधानमक, इन १४ ओषधियोंको १-१ तोला और लोह भस्म सबके समान (१४ तोले) लेवे । काष्ठ आदि ओषधियोंका कपड़छान चूर्ण कर लोहभस्मके साथ खरल कर लेवें । फिर ४-४ रत्ती दिनमें २ बार शहदके साथ देते रहनेसे समस्त उदर रोग, लीहोदर और सब प्रकारके नये उदर रोग नष्ट हो जाते हैं ।

(३८) यकृदरिलोह—लोहभस्म, अभ्रकभस्म, दोनो २-२ तोले, ताम्रभस्म १ तोले, बिजौरेकी जड़की छाल ४ तोले और मृगचर्मकी भस्म ४ तोले, इन सबको मिला बिजौरेके रसके साथ खरलकर २-२ रत्तीकी गोलियां बनावें । इनमेंसे २-२ गोली दिनमें २ समय देते रहनेसे यकृदोदर, लीहोदर, कामला, हलीमक, कास, श्वास, ज्वर और वातगुल्म आदि रोग नष्ट हो जाते हैं; तथा बल, वर्ण और जठराग्निकी वृद्धि होती है ।

डाक्टर की चिकित्सा ।

(१) यकृदाल्युदर रोगपर—

सोडा बाईकार्ब—Soda Bicarb १५ ग्रेन

पोटास बाईकार्ब—Potas Bicarb ५ ग्रेन

स्पिरिट एमोनिया-एरोमेटिक—Spt Ammon Aromatic

३० बूँद

एक्वा मेन्था पिपरेटा—Aqua Mentha pip ad १॥ औंस तक इन सबको मिश्रित कर समान उष्ण जल मिलाकर भोजनके

आध घण्टे पहले देवें । इस तरह दिनमें ३ या ४ समय देते रहनेसे आमाशयकी श्लैष्मिक कलामें संलग्न कफ द्रवीभूत हो जाता है ।

(२) यकृतकी अपक्रान्तिके दमनार्थ—

लाईकर आर्सेनिक—Liq Arsenic	३ बूँद
फेरि टार्टरेट—Ferri Tart	५ ग्रेन
पोटास बाई कार्ब—Pot Bicarb	१० ग्रेन
एक्वा क्लोरोफार्म—Aqua Chloroform	४ ड्राम
जल—Aqua	ad १ औंस तक

सबको मिलाकर भोजन कर लेने पर पिलावें । इस तरह दिनमें ३ बार पिलाते रहें ।

(३) यकृद्वाल्ग्युदरमें जलकी उत्पत्ति होनेपर—

टिञ्चर डिजिटेलिस—Tinct Digitalis	१५ बूँद
टिञ्चर सिली—Tinct Scillae	२० बूँद
पोटास एसिटस—Pot Acetas	२० ग्रेन
पोटास आयोडिड—Pot Iodide	५ ग्रेन
जल—Aqua	ad १ औंस

(४) यकृद्वालीसे जलोदर होनेपर—

इन्द्रायणका चूर्ण—Elaterii Fructus	१ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट कॉलोसिन्थ कम्पाउण्ड—Ext Colocynth Co.	३ ड्राम
एक्सट्रेक्ट हायोसायमस—Ext Hyoscyami	१२ ग्रेन

तीनोंको मिलाकर १२ गोलियाँ करें । फिर १-१ गोली प्रातःकाल देते रहें ।

(५) पल्विस जेलप—Pulv Jalap

पोटास बाई टार्ट—Pot Bitart	१० ग्रेन
जीरे का तैल—Oil Carui	१ बूँद
जल—Aqua	ad १॥ औंस तक

सबको मिलाकर पिला देनेसे आते नरम रहती हैं । अतः यकृद्विकार जन्य जलोदरमें बार-बार आवश्यकता पर देते रहें ।

(६) यकृदाल्युदरसे जलोदर होनेपर—

टिञ्चर सिली—Tinct Scillae १ ड्राम

टिञ्चर कॅम्फर कम०—Tinct Camphore Co. ३ ड्राम

लाइकर एमोनिया साइट्रास—Liq Ammon Cit १ औंस

इन्फ्यूझम स्कोपेरियाई—Infu Scoparii ad ८ औंस तक
इन सबको मिला लेवे । फिर १-१ औंस दिनमें ३ बार देते रहें ।

(७) वृक्कविकारजन्य जलोदर रोग पर—

(अ) इलेटरियम (Elaterium) $\frac{1}{2}$ ग्रेन या इलेटरिन (Elaterin) $\frac{1}{4}$ ग्रेन एक घूँट जलके साथ देते रहनेसे जल सदृश पतले दस्त लग कर जलोदर और शोथ रोगमें लाभ पहुँच जाता है; एव यह ओषधि मूत्रमेसे यूरिया (Uria) को दूर करनेमें भी विशेष सहायक होती है ।

(आ) पल्विस् जेलप कम्पाउण्ड (Pulv jalap Co.) २० से ३० ग्रेन देनेसे भी जल सदृश पतले दस्त लगकर शोथ उतर जाता है । यदि चिरकारी वृक्क विकारमें वृक्ककी क्रिया बढ़ाना हो, तो क्रीम ऑफ-टार्टर (Cream of Tartar) को २०-२० ग्रेन मात्रामे मिला लेना चाहिये । परन्तु आशुकारी वृक्क विकारमें क्रीम ऑफ टार्टर नहीं मिलाना चाहिये । अन्यथा हानि पहुँचती है ।

(इ) एमोनिया बेञ्जोयस Ammon Benzoas १ से २ ड्राम तक

सिरप हेमिडेस्माई Syrup Hemidesmai १ औंस

जल Aque ad ८ औंस तक

इनको मिलाकर १-१ औंस दिनमें ३ बार पिलानेसे मूत्राशयस्थ दाह-शोथ और प्रसेकसे उत्पन्न मूत्रमें क्षारत्व दोष निवृत्त होता है । इस हेतुसे जलोदर, शोथ और वातरक्त विकारमें यह ओषधि दी जाती है ।

(८) हृदय विकृति जन्य जलोदर पर—

(अ) पोटास साइट्रास Pot Citras	३ ड्राम
टिञ्चर सिली Tinct Scillae	२ ड्राम
लाइकर एमोनिया एसिटेट Liq Ammon Acetat	२ ड्राम
वाइनम कोलचिकम Vinum Colchici	१॥ ड्राम
इन्फ्युझम डिजिटेलिस Inf Digitalis	३ औंस
एक्वा मेन्थापिपरेटा Aqua Mentha Pip ad	६ औंस तक

इन सबको मिलाकर १॥-१॥ औंस दिनमें ३ बार पिलाते रहनेसे हृदयके द्विपत्रकपाटकी विकृति जन्य जलोदर और शोथ रोग दूर होते हैं । यह औषधि मूत्रल और अवसादक (Sedative) गुण युक्त है ।

(आ) केफाइन साइट्रास (Caffein Citras) ४-८ ग्रेन तक देने से मूत्र ग्रन्थि की क्रिया सबल बनती है ; और मूत्र की शुद्धि होने लगती है ; जिससे शोथ शमन होने लगता है । यदि हृदय की भी निर्बलता है, तो केफाइन साइट्रासके साथ टिञ्चर डिजिटेलिस मिला देना चाहिये ।

(इ) टिञ्चर एपोसाइनम् (Tinct Apocynum) १५ से ३० बूंद तक दिनमें ३-४ बार देते रहनेसे हृदय और वृक्कविकारजन्य जलोदर दूर होते हैं । हृत्प्रसारण, हृदयकपाट विकृति, रक्तमें मूत्र विषवृद्धि (Uraemia) और उरस्तोय (Pleurisy) रोगमें भी यह औषधि उपर्युक्ती है । इस अर्ककी मात्रा विरेचन क्रिया और शारीरिक बलके अनुसार देनी चाहिये ।

(९) ५-७ वर्ष के बालकों को जलोदर और शोथ होने पर—

(अ) हृदयकी विकृतिजन्य शोथ होने पर विरेचनार्थ पल्विस् जेलप कम्पा० (Pulv Jalap Co.) १० ग्रेन, या इलेटेरियम (Elaterium) $\frac{1}{8}$ ग्रेन दूध-मिश्री के साथ देना चाहिये ।

(आ) हृदय बलकी वृद्धि और मूत्रल गुणकी प्राप्तिके लिये बालक

को केफाइन साइट्रास (Caffein Citras) १-१ ग्रेन ३-३ या ४-४ घण्टे पर देते रहना चाहिये ।

(इ) वृक्कविकारजन्य शोथ होने पर बालकोंको प्रस्वेद लानेके लिये लाइकर एमोनिया एसिट्रास (Liq Ammon Acitas) ३-३ घण्टे पर पिलाते रहना चाहिये ।

(ई) केफाइन साइट्रास १ ग्रेन और ३-४ ग्रेन सोडा बेन्जोयस (Soda Benzoas) ४-४ घण्टे पर देते रहनेसे मूत्र द्वारा दोष दूर होकर जलोदर और शोथ शमन हो जाते हैं ।

(उ) मेगनेसिया सल्फास	Mag Sulph	१५ ग्रेन
सोडा सल्फास	Soda Sulph	१५ ग्रेन
फेरी सल्फास	Ferri Sulph	२ ग्रेन
लाइकर स्ट्रिक्निना	Liq Strychnine	१ बूँद
ग्लिसरीन	Glycerin	२० बूँद
जल	Aqua ad	४ ड्राम तक

इन सबको मिलाकर ६-७ वर्षके बच्चेको पिलावे । इस तरह दिनमें ३ बार पिलाते रहनेसे यकृद्वाल्गुदर जन्य जलोदर दूर होता है ।

पथ्यापथ्य विचार

पथ्य—भैषज्यरत्नावलीकारने उदररोगमें विरेचन, लंघन, एक वर्षकी पुरानी कुलथी, पुराना मूंग, पुराने लाल शालिचावल, जौ, जंगलके जीव-मृग और अण्डज पक्षि आदिका मांसरस, पेया, शहदकी, ईखकी और अंगूरकी शराब, मट्ठा, लहशुन, एरंड तैल, अदरक, शालिच शाक, गूलर, चौलाई, सूरण, परवल, करेला, पुनर्नवा, सुहिजनेकी फली, हरड़, नागरबेलका पान, इलायची, जवाखार, केलेका चार, लोहभस्म, बकरी, गौ, ऊँटनी और भैंसका दूध, इन सबका मूत्र, हल्के, कड़वे और अग्नि-प्रदीपक भोजन और औषध, वस्त्रसे उदरको लपेटना, अग्निसे

सेक या स्वेदन और असाध्य अवस्थामें विषप्रयोग (ओषधि रूपसे जहर देना) आदि पथ्य रूपसे लिखे हैं ।

सब उदररोगोंमें जठराग्नि मन्द हो जाती है । इसलिये भोजन अग्निप्रदीपक, वायु अनुलोमन कराने वाला, वातशामक और हलका देना चाहिये । तीव्र वेदनामें केवल मानमण्ड या दूध देना चाहिये ।

चरकसंहिताकारने लिखा है कि,—लालशालि, जौ, मूंग, मृग और पक्षियों आदि जाँगल जीवोंके माँस, दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, शहद, शीधु (ईखके रसकी शराब) और सुरा (शराब), ये सब पथ्य हैं । यवागू या भात (लालशालि) को बृहत् पञ्चमूल काथसे बना फिर खटाई, घी, कालीमिर्च आदि मसाले मिलाये हुए यूषके साथ या मांसरसके साथ सेवन कराना चाहिये ।

उदर रोगीको मधुर तक्र, जो अधिक गाढ़ी या अधिक पतली न हो, पिलानी चाहिये । यह मट्ठा स्वादु बने उतने परिमाणमें त्रिकटु, सैंधानमक आदि मिलाना चाहिये । वात और कफप्रधान गौरव (भारीपन), अरुचि, मन्दाग्नि, और अतिसार आदि दोषोंको दूर करनेके लिये मट्ठा अमृत तुल्य लाभदायक है । निचयोदर (त्रिदोषज उदर रोग) में रोगीको तक्रके साथ त्रिकटु, यवक्षार और सैंधानमक (स्वादके अनुकूल) मिलाकर देना चाहिये ।

वातोदर रोगीको तक्र पीपल और सैंधानमक डालकर पिलाते रहें । पित्तोदरीके लिये मट्ठामें शक्कर और काली मिर्चका चूर्ण मिलाना चाहिये । कफोदरीको मट्ठामें अजवायन, सैंधानमक, जीरा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल और शहद मिलाकर देना चाहिये । तक्र कुछ खट्टी हो और जो अधिक पतली न हो, ऐसी देनी चाहिये । प्लीहोदर रोगीको मट्ठेमें शहद, तैल, बच, (अति

कम मात्रामें) सोठ, सोये, कूठ और सैधानमकका चूर्ण मिला कर देना चाहिये । जलोदरके रोगीको जल उत्पन्न हो जाने पर मट्ठा त्रिकटु मिलाकर देना चाहिये । (या दूधकी लस्सी बना त्रिकटु मिलाकर देना चाहिये ।

ऊँटनीका दूध उदर रोगीके लिये अति हितकर है । शोथ, आनाह, वेदना, तृषा और मूर्च्छाको सत्वर दूर करता है । इस ऊँटनीके दुग्ध प्रयोगके लिये चरकसंहिताकारने लिखा है कि—

एवं विनिर्हृते दोषे शार्कैर्मासात्परं ततः ।

दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभं पयः ॥

शाक सेवनके प्रयोगसे एक मासके पश्चात् दोषके निकल जाने पर दुर्बल रोगीको ऊँटनीके दूधका प्रयोग करना चाहिये । यह दूध प्राणपोषक है ।

ऊँटनीके दूधसे जलोदरका जल गुदासे बहुत सरलता पूर्वक निकल जाता है । अनेक असाध्य रोगी भी ऊँटनीके दूधके सेवन से स्वस्थ हो गये हैं ।

विरेचन आदिसे कोष्ठ शुद्धि कर लेने पर जो रोगी निर्बल हो गये हैं, उनके लिए (शक्ति बढ़ानेमें) गौ, बकरी और भैंसका दूध भी लाभदायक है ।

सब उदर रोग वालोके लिए आस्थापन बस्ति और विरेचन में आहार रूपसे पिलानेके लिए औटाया हुआ दूध या जंगली जीवोके मांस रसका उपयोग करना चाहिये ।

विरेचन ओषधि देने पर दस्तोको रोकनेके लिये शामको दही-भातका भोजन करावें; या मूंगके यूष और भात अथवा खिचड़ी पथ्य रूपसे दें ।

मानमण्ड—पुराने मानकन्दका चूर्ण १ भाग और चावल ३ भागके साथ दूध और जल मिलाकर खीर बनावे (चावल और

मानकन्दको पहले जलमें उबालें । चावल गल जाने पर दूध मिलाकर पाक करें) । इस क्षीरके सेवनसे वातोदर, शोथ, ग्रहणी, पाण्डु आदि रोग नष्ट हो जाते हैं । इस क्षीरके सेवन कालमें इतर प्रकारके भोजनोंका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिए ।

अपथ्य—स्नेहन, धूम्रपान, जलपान, शिरावेध, वमन, घोड़े आदि पर सवारी करना, मार्ग गमन, दिनमें निद्रा, व्यायाम, पिष्टीके पदार्थ, जलचर और अनूपदेशके जीवोंका मांस, पत्ती-शाक, तिल, गरम और विदाही भोजन, शिम्बीधान्य (मटर आदि द्विदल धान्य), विरुद्ध भोजन, दूषित जल, हिमालयसे निकलने वाली नदियोंका जल, कब्ज करने वाले पदार्थ और विशेष कर छिद्रोदरमें स्वेदन, ये सब आहार विहार उदर रोगीके लिए अपथ्य माने गए हैं ।

इनके अतिरिक्त भगवान् आत्रेयने कहा है कि, उष्ण, लवण, अम्ल, विदाही और गुरुभोजनको भी त्याग देना चाहिए ।

अन्त्रपुच्छप्रदाह ।

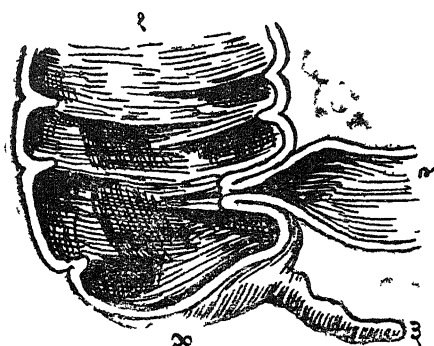
अन्त्रपुच्छप्रदाह—उपान्त्रप्रदाह—एपेण्डिसाइटिस—Appendicitis ।

रोग परिचय—इतर अवयवोंके समान अन्त्रपुच्छकी विकृति होने पर प्रदाह होजाता है । उसे अन्त्रपुच्छप्रदाह कहते हैं । इस रोगकी सम्प्राप्ति विशेषतः मध्यवयस्कोंको होती है ; वृद्धोंको अपेक्षाकृत कम होती है ; तथा बाल्यावस्थामें तो यह व्याधि क्वचित् ही होती है । मध्य आयुमें भी यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक आक्रमण करता है । पुरुषोंमें जो लोग भार वहन करते रहते हैं, वे इस रोगके अधिक वशवर्त्ती हैं । कभी-कभी स्त्रियोंको गर्भाशय और बीजवाहिनियों (Tubo-ovarian) की व्याधियोंके साथ गौणरूपसे इस अन्त्रपुच्छ-प्रदाहकी संप्राप्ति होजाती है ।

कभी-कभी अन्त्रपुच्छ ऊर्ध्व और पश्चात् दिशामें विचलित होकर

उण्डुक अथवा आरोही अन्नके बाहर स्थापित होजाता है । फिर अन्न-पुच्छका प्रदाह होने पर उदर्याकलाके पश्चात् भाग (Retro-Peritoneal) के कोषों (Cellulas) को प्रभावित कर देता है । ऐसे अन्नपुच्छप्रदाहको पश्चाद्दुण्डुक अन्नपुच्छप्रदाह (RetroCaecal Appendicitis) और पश्चाद्बृहदन्न अन्नपुच्छप्रदाह (Retro-colic Appendicitis) सज्ञा दी है ।

आरोहीअन्न और अन्नपुच्छ ।



१—आरोही अन्न-
Ascending
Colon

२—शेषान्नक-
Ileum

३—अन्नपुच्छ-
Appendix

४—उण्डुक-
Coecum

अन्नपुच्छ—बृहदन्नके प्रारम्भिक भागको उण्डुक कहते हैं ; यह भाग शैशवावस्थामे बृहदाकार रहता है । फिर इसका कुछ अंश सूक्ष्मता को प्राप्त होता है । इस उण्डुकमेसे सामान्यतः पेन्सिल सदृश ४ अंगुल लम्बी, पतली नली बाहर निकलती है, उसे उण्डुकपुच्छ, अन्नपुच्छ, अन्नपरिशिष्ट और उपान्न (Appendix or vermiform Process) कहते हैं । प्रकृतिभेदसे यह नली कुछ ऊपर नीचे रहती है, एवं इसकी लम्बाई भी न्यूनाधिक होती है । किसी देहमे ४ अंगुल (३ इञ्च) तक तो दूसरी देहमे १२ अंगुल तक भी होती है । इसका व्यास प्रायः चौथाई इञ्च रहता है । एक व्यक्तिमें इस पुच्छकी जितनी लम्बाई हो, उतनी ही लम्बाई बहुधा उस कुटुम्बके इतर व्यक्तियोंके

उपान्त्र की होती है । इस नलीका मुख जो उगडुकमें खुलता है ; यह छोटा-सा है । इस नलीका अन्तिम भाग बन्द है ; जिससे इसमें प्रवेशित पदार्थ किसी तरह वापस नहीं निकल सकता ।

अधिकांश स्थलमें इस अन्त्र पर उदर्याकलाकी एक त्रिकोणाकार पर्त (Meso-Appendix) है । जो इस नलीकी अपेक्षा क्षुद्रतर है ; वह मुड़कर चारों ओर लगी हुई है । वही उपान्त्रको शेषान्त्रक (Ileum) के साथ जोड़ती है । इस नलिका का पोषण अन्त्रबन्धनी (Mesentery) परसे आई हुई अन्त्रपुच्छ पोषक नामकी क्षुद्रधमनी (Appendicular artery) द्वारा होता है । परन्तु रक्त इतर अवयवोंको जितना मिले उतना इसको नहीं मिलता । इस नलीके भीतर श्लैष्मिक कलाका आच्छादन है । एवं इसके भीतर अत्यधिक लसीका-तन्तु (Lymphoid tissues) रहे हुए हैं । यह नली क्रिया विहीन है, या इस नलीका कोई कार्य है ? इस बातका निर्णय अभी तक नहीं हुआ । गर्भमें रहे हुए बालकके अन्त्र निर्माणमें तो यह सहायता पहुँचाती है ; परन्तु जन्मके पश्चात् इस नलीका कार्य विदित नहीं हुआ । इस नलीके दाह-शोथको अन्त्रपुच्छप्रदाह कहते हैं । इस नली सह पूर्ण बृहदन्त्रका चित्र चि० त० प्र० प्रथम खण्डके पृ० ६६७में दिया है ।

अन्त्रके भिन्न-भिन्न अंशकी शूल, प्रदाह, व्रण आदि अनेक आशुकारी व्याधियां हैं ; इन सबमें यह प्रधान मानी गई है ।

इस नलीका उदरगह्वरमें निश्चित स्थान नहीं है । प्रायः यह ऊर्ध्व और मध्यप्रदेशके सामने अथवा उगडुकके पीछे रहती है । बस्ति गुहाके किनारे (Over the brim of the Pelvis) पर, क्वचित् उदरगुहामें किसी और अवयवोंके समीप अथवा किसी उदरीय यन्त्रसे संलग्न भी रहती है । यह नलिका जिस स्थानपर स्थित होगी उस स्थान-संश्रयके अनुरूप रोग स्वरूपमें कुछ-न-कुछ अन्तर पड़ जाता है ।

जिस यन्त्र या अवयवसे यह सम्बन्धयुक्त बनती है; उसे भी दाह-शोथसे पीड़ित कर देती है ।

यदि पुच्छ अति लम्बी हो, तो पलटजाना (Kinking) अथवा डोरी सदृश मुड़ जाना, (Twisting) ऐसी विकृतिभी हो जाती है । इस अन्त्रपुच्छकी अन्त्रबन्धनी कितनी लम्बी है, इस बात पर अन्त्रपुच्छके फूटनेके स्थानका आधार रहता है । कारण, इस बन्धनीमें ही रक्तवाहिनियाँ हैं । यह बन्धनी जितनी छोटी, उतना ही आगेका भाग रक्तपोषणके अभावसे निर्जीव रहता है । इस हेतुसे वह सरलतासे व्याधिग्रस्त हो जाता है । जितनी पुच्छ अधिक लम्बी हो और नीचेकी ओर रही हो; उतनी ही रोग होनेकी अधिक भीति रहती है ।

इस अन्त्रपुच्छमें स्वाभाविक रीतिसे सर्वदा कुछ श्लेष्मा (Mucus) और कुछ निरुपद्रवी कीटाणु रहते हैं । परन्तु व्याधि पीड़ित होनेपर उसमें रोगोत्पादक कीटाणु, शल्य, शुष्कमल (Fecal concretions) आदि पदार्थ मिल जाते हैं ।

निदान—दन्तविकार, भोजन यथोचित बिना चबाये निगलनेकी आदत, दीर्घ कालसे कोष्ठबद्धता रहना, एल्युमिनियमके बर्तनोंमें रसोई तैयार करना, विदेशसे डिब्बोंमें बन्द आये हुए मांस का भोजन, दूषित मांस सेवन आदि कारणोंसे यह रोग उत्पन्न हो जाता है ।

जब कोष्ठबद्धता आदि हेतुओंसे इस नलीमें अन्त्राश्मरी, अस्थि-खण्ड, आहार वस्तु, गुठली, मल अथवा रोगोत्पादक कीटाणुका प्रवेश हो जाता है, तब इस नलीका मुख नीचेकी ओर होनेसे वह पुनः वापस नहीं निकल सकता । फिर वहाँ प्रदाहनी उत्पत्ति होती है; और कभी-कभी पूयावस्थाकी प्राप्ति होकर सपूर्ण नली सड़ जाती है । पश्चात् यह नली उदरगत अनेक अवयवोंको हानि पहुँचा देती है ।

इस अन्त्रपुच्छमें रक्त संचालन क्रिया अति कम होनेसे कीटाणुओं

को अपनी आबादी बढ़ानेका अवसर अधिक मिलता है । जिससे किसी पदार्थका प्रवेश हो जाने पर दाह-शोथकी प्राप्ति सत्वर हो जाती है ।

दाह-शोथकी प्राप्ति कराने वाले कीटाणु बेसिली कोलाई कोम्युनिस (*Bacilli Coli Communis*) अन्नमें ही रहते हैं; बहुधा ये ही रोगकी उत्पत्ति कराते हैं; कभी-कभी पूयस्थ कीटाणुओं (*Pus Cocci*) मेंसे जंजीर सदृश कीटाणु (*Streptococci*) आहार द्रव्यके साथ प्रवेशकर बृहदन्नमें शोथ उत्पन्न करते हैं; फिर रोग स्थान की सीमा बढ़नेपर अन्नपुच्छमें प्रवेशकर जाते हैं ।

गल ग्रन्थि दाह-शोथ एवं समीपताके कारण उण्डुक अथवा बृहदन्नके दाह-शोथके हेतुसे एवं बाह्य आघातके हेतुसे भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । गलग्रन्थि और अन्नपुच्छमें लसीका ग्रन्थियों की अधिकता रहती है; और दोनोंका कार्य समान है । इस हेतुसे गल ग्रन्थिप्रदाह (*Tonsillitis*) के कीटाणुओंका परम्परागत अन्नपुच्छ में प्रवेश होनेसे दाह-शोथकी संप्राप्ति होती है । कतिपय रोगियोंको यह रोग एक समय उत्पन्न होकर शमन हो जाने परभी गरिष्ठ या दुष्पाच्य भोजनके सेवनसे पुनः प्रकाशित हो जाता है । एवं किसी-किसी व्यक्ति पर तो यह बार-बार आक्रमण करता रहता है । अतः इस रोगकी उत्पत्ति होजानेपर आजीवन पथ्य और मर्यादित भोजन करना चाहिये ।

अन्नपुच्छप्रदाहप्रकार—कारण भेदसे इस अन्नपुच्छप्रदाहके ६ प्रकार होते हैं । (१) मलाश्मरीजन्य प्रदाह, (२) अन्त्राश्मरीजन्य प्रदाह, (३) विजातीय शल्यजन्य प्रदाह, (४) वृत्तिविनाशक प्रदाह, (५) दाहयुक्त प्रदाह, (६) अन्नपुच्छ कोथ ।

(१) **मलाश्मरीजन्य**—मलका अन्नपुच्छमें प्रवेश होनेपर वह अश्मरी या शल्यके सदृश दुःखदायी होता है । बहुधा यह मल शुष्क मिलता है; कभी-कभी यह कोमलभी होता है । कोमल होनेपर दो तीन भागमें विभक्त व अन्तर्गोल रहता है ।

(२) **अन्त्राश्मरीजन्यप्रदाह**—एल्युमिन या इतर धातुके क्षार

जो अन्नमें नहीं घुल सकते; उनमेंसे अन्नाश्मरीकी उत्पत्ति होती है । यह चार थोड़ी-थोड़ी मात्रामें अन्नपुच्छमें जाकर सचित होने लगता है । फिर अश्मरी रूप धारण कर लेता है ।

(३) विजातीय शल्यज प्रदाह—इस अन्नपुच्छमें कभी-कभी फलके बीज, गुठली, अस्थि, पत्थर आदि विजातीय पदार्थ प्रवेश कर जाते हैं । जो शस्त्रक्रिया करने पर मिल जाते हैं । कभी-कभी अन्नपुच्छका मुख अस्वाभाविक बड़ा बन जाता है । फिर विजातीय द्रव्य सरलतापूर्वक प्रवेश कर जाता है । जिससे प्रदाह का बार बार दौरा (Recurrent Appendicitis) होता रहता है । कभी-कभी मुख छोटा होनेपर भी दौरा हो सकता है ।

(४) वृत्तिविनाशक अन्नपुच्छप्रदाह—(ओब्लीटेरेटिव एपेण्डि साइटिस—Obliterative Appendicitis) अन्नपुच्छ प्रदाहके सब रोगियोंमेंसे केवल दो प्रतिशत रोगियोंको इस प्रकारकी विकृति होकर अन्नपुच्छकी वृत्तिका लोप हो जाता है । इन रोगियोंमें अन्नपुच्छ उण्डुक के साथ संलग्न हो जाती है । इस प्रकारके विकारमें शोथ आकर अन्नपुच्छ खूब मोटी हो जाती है । फिर इसके ऊपरका आवरण (उदर्याकला का अश) मुलायम और लाल हो जाता है । सामान्य सीमाबद्ध उदर्याकला प्रदाह उत्पन्न होनेपर यह वृत्ति इस उपान्नके साथ संलग्न हो जाती है; या पूर्णाशमे पृथक् रह जाती है । इसकी स्थूल कलामयी वृत्ति (Mucosa) पर रहा हुआ कोषात्मक आच्छादन (Epithelium) नष्ट हो जाता है । पश्चात् इसके नीचे रही हुई संयोजक तन्वात्मक वृत्ति (Submucosa) में लसीकाणुओं (Leukocytes) की सृष्टि होने लगती है । रोग जीर्ण होनेपर यह समस्त भाग श्लैष्मिक कलाविहीन हो जाता है, और उसके बदले नूतन मृदु सरलक धातु (Granulation) उत्पन्न हो जाती है । मासपेशियोंका आवरण स्थूल, इढ़ और कठिन हो जाता है । जिससे शोथ-स्थान लम्बा हो जाता है । इस तरह शोथकी वृद्धि होनेपर अन्नपुच्छ स्थानिक उदर्याकलासे

संलग्न हो जाती है; अथवा उदर्याकलाप्रदाहका अधिक विस्तार हो जाता है। इतर स्थानोंमें अन्नपुच्छकी दीवारोंकी दृढ़ता और कठोरता के हेतुसे वृत्तिका लोप नहीं होता। इसकी जीर्णवस्थामें दक्षिण वक्षो-त्तरीय (Right Iliac) प्रदेशमें पुनः पुनः शूलका दौरा होता रहता है। जिससे विभिन्न स्थानिक लक्षण प्रकाशित होते हैं।

कचित् अन्नपुच्छ पर रसाबुद (Cyst) हो जाता है। यह रसाबुद उण्डुकके साथ अन्नपुच्छ संलग्न होजाने पर होता है। यह रसाबुद अंगुष्ठसदृश या इससे भी अधिक मोटा हो जाता है। इस थैलीके भीतर जो रस होता है; वह पूय बन जाता है। अनेक समय यह थैली विदीर्ण होकर व्याधिको फैला देती है।

किसी-किसी स्थानमें इस विनाशशील अन्नपुच्छप्रदाह उत्पन्न होने पर भी किसी प्रकारका लक्षण प्रकाशित नहीं होता। किन्तु विशेष स्थानोंमें अन्नशूलके सदृश वेदना होती है। किसी-किसीके लिये तो वेदना और उस स्थानके प्रदाहके साथ तीव्र ज्वर भी उपस्थित हो जाता है। विशेष स्थानोंमें क्षतग्रस्त अंश और अन्नपुच्छ विदीर्ण हो जाते हैं।

(५) क्षत युक्त अन्नपुच्छप्रदाह—(Perforative Appendicitis) अन्नपुच्छमें अश्मरी या बाह्य पदार्थका प्रवेश हो जाने, उण्डुकमें स्वाभाविक रहने वाले निरुपद्रवी कीटाणुओंकी क्रिया, आंत्रिक ज्वर अथवा क्षय रोगके कीटाणुओंसे अन्नपुच्छमें क्षत (Perforation) हो जाता है। किसी-किसी समय अन्नपुच्छके भीतर मलपिण्ड रहने या अन्त्राश्मरी बढ़ने पर भी यह श्लैष्मिककलाको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचाती। सामान्यतः यह जिस भागको लगती है; वह शीर्ण हो जाता है। फिर अन्नपुच्छ विदीर्ण हो जाती है। पश्चात् उसके ऊपर रही हुई उदर्याकला स्थूल हो जाती है; और समीपके सब अवयवोंके साथ अन्नपुच्छ संलग्न हो जाती है।

यदि अन्नपुच्छमें आवद्ध हुए विजातीय द्रव्योंमें अश्मरी (Concretion) है, तो अन्नपुच्छका मुख बन्द हो जाता है। परिणाममें

शोणितसंचालन क्रिया रुक जाती है । फिर रसस्ताव आदि जम जाते हैं । जिससे उण्डुकका अन्तः प्रदेश (Diverticulum) की वृद्धि होती है । पश्चात् सब सूक्ष्म अणु-कीटाणुओं (Microbs) के बड़े-बड़े दल चारों तरफसे उस ओर जल्दी आ जाते हैं । इस हेतुसे जमे हुए रक्त स्थानमें प्रदाहकी उत्पत्ति होती है । फिर वहाँ कोथ या विद्रधि होकर क्षत हो जाता है ।

क्षत होनेके पहले यदि अन्नपुच्छ उण्डुकके पश्चात् प्रदेशमें संलग्न हो जाय; तो उदर्याकलाप्रदाह नहीं होता । बहुधा विद्रधि या संलग्न स्थानके कोषोके प्रदाह (Cellulitis) की सम्प्राप्ति हो जाती है ।

क्षत होनेपर यदि अन्नपुच्छका उदर्याकलामें प्रवेश हो जाता है; तो विशेषतः उदर्याकलाका प्रदाह हो जाता है । इसमें भी क्षत धीरे-धीरे होता है, तो उदर्याकलाप्रदाह स्थानिक हो जाता है । यदि अकस्मात् क्षत हो जाता है, तो कोथप्रद विस्तृत उदर्याकलाप्रदाह (Diffuse Septic Peritonitis) हो ही जाता है । अन्नपुच्छ-प्रदाह कोथ या क्षत यदि अति द्रुत होजाता है, तो उसे घातक (Fulminant) प्रदाह कहते हैं ।

किसी-किसी स्थानमें क्षत सामान्य होनेपर अन्नपुच्छमें लसीका भर जाती है । फिर क्षत और प्रदाह कम हो जाता है । इस तरह बनने-पर जीवित अवस्थामें यह रोग है, ऐसा सन्देह भी नहीं होता । फिर मृत हेह का व्यवच्छेद करनेपर प्रतीत होता है ।

(६) अन्नपुच्छ कोथ—(Gangrenous Appendicitis) पूर्ववर्णित मल आदि अवरोधक (Obstructive) अन्नपुच्छप्रदाह और क्षतयुक्त प्रदाह उपस्थित होनेपर अन्नपुच्छ का कुछ अंश या समग्र अन्नपुच्छका पाक होने लगता है । कुछ अंशका पाक होता है, तो नली का विदारण होता है; और समग्र नलीका पाक होता है, तो अन्नपुच्छका विदारण नहीं होता । दोनों प्रकारोंमें उदर्याकलाका सातिशय स्थानिक प्रदाह या समग्र उदर्याकलाका प्रदाह उपस्थित होता

है । सामान्य रूपसे किसी एक भागमें विद्रधि हो जाती है; और वह अवयव सूज जाता है । यह शोथ रक्त, कृष्ण और हरित-पीतवर्ण धारण करता है ।

यदि समग्र अन्नपुच्छका पाक होकर विद्रधि होती है, तो वह उण्डुकसे वियुक्त होकर रहता है । इसे आशुकारी संक्रामक (Acute Infective) अन्नपुच्छ प्रदाह कहते हैं ।

अन्नपुच्छप्रदाहज परिणाम—यदि अन्नपुच्छप्रदाह प्रसेकी (Catarrhal) है, तो रोग विशेष तीव्र नहीं होता ।

यदि अन्नपुच्छ का स्रोतः संकोच होकर उसमें पूय या इतर पदार्थ रह जाता है, तो रोग का पुनः-पुनः आक्रमण हो जाता है । बार-बार आक्रमण होनेपर अन्नपुच्छका मार्ग प्रदाहके हेतुसे नष्ट हो जाता है ।

प्रदाह जनित ब्रण होनेपर पूयभवन, भेदन और स्थानिक या विस्तृत उदर्याकलाप्रदाह हो जाता है । इस तरह कोथ, क्षत और उदर्याकला प्रदाह भी होते हैं ।

यदि उण्डुकके प्रदाह (सिसाइटिस—Cecitis) के हेतुसे अन्नपुच्छप्रदाह होता है, तो शस्त्र क्रिया करनेपर रोग निवृत्ति नहीं होती । यदि अन्नपुच्छ विद्रधिके हेतुसे समीपस्थ रहे हुए उण्डुकका प्रदाह हुआ हो, तो यह रोग शस्त्र क्रियासे साध्य माना जाता है ।

यदि अन्नपुच्छप्रदाह सौम्य है, तो स्थानिक उदर्याकलाप्रदाह होने पर रोगीका संरक्षण होता है । किन्तु कभी-कभी उदर्याकलाप्रदाह होने पर अन्नपुच्छ किसी यन्त्रके साथ संलग्न हो जाती है । ऐसा हो जाने पर रोगकी वृद्धि मानी जाती है । संलग्नतासे उस यन्त्रकी क्रिया नियमित नहीं होती । कोई कोई बार तो ऐसे प्रसंग पर तीव्र अन्त्रावरोध (Acute Obstruction) हो जाता है; इस हेतुसे उदरपीड़ा बनी रहती है; और कोष्ठबद्धता होने लगती है ।

यदि अन्नपुच्छप्रदाह कीटाणु जन्य तीव्र है, तो उदर्याकलाप्रदाह भी तीव्र हो जाता है; और उदर्याकलामें अन्नपुच्छके समीप विद्रधि हो

जाता है । फिर फूटकर पूयका किसी भी स्थानमें प्रवेश हो जाता है । यदि तीव्रतम प्रदाह है, तो कोथ और क्षय होकर उसके अनुरूप उदर्या-कलाप्रदाह भी अधिक भयप्रद रूप धारण कर लेता है । इस तरह अन्नपुच्छप्रदाह पीछेकी ओर होने पर उदर्याकलाके पीछेके हिस्सेमें संलग्न होकर विद्रधि उत्पन्न कर देता है । फिर पीछे कटिप्रदेशमें या पैरों की ओर फूटता है । अन्नपुच्छप्रदाह से कभी शिराओंका प्रदाह होकर उनमें रक्त जम जाता है; अथवा कीटाणु मिश्रित शल्य (Thrombosis) उत्पन्न हो जाते हैं । किसी किसी स्त्रियों को बीज-कोषोंका चिरकारी प्रदाह हो जाता है । इस तरह किसी को वृक्कप्रदाह और अन्त्रावरोध की उत्पत्ति भी हो जाती है ।

अन्नपुच्छ विदारण परिणाम—इस नलीके फटने पर मुख्य और गौण रूपसे दो प्रकार की हानि होती है । मुख्य परिणाममें उदर्या-कलाका विस्तृत प्रदाह, (Acute general peritonitis) उदर्या-कलामें विद्रधि, समीपस्थ यंत्रोंमें पूयोत्पत्ति, ये तीन हानि होती हैं; तथा गौण हानि रूपसे अत्यंत रक्तस्राव, प्रतिहारिणी शिराका पूयोत्पादक प्रदाह (Suppurative Pylephlebitis), विष और कीटाणुओंका रक्तमें प्रवेश (Septicaemia) और यकृतमें पूयोत्पत्ति आदि क्रिया होती है । इनमेंसे मुख्य परिणामरूप ३ प्रकारके स्वरूप निम्नानुसार प्रतीत होते हैं ।

(१) उदर्याकला प्रदाह—यदि अन्नपुच्छ पृथक् हो जाय, तो तुरन्त तीव्र व्यापक उदर्याकलाप्रदाह होजाता है । सक्कामक जीवाणुओंके प्रकार भेदसे प्रदाहकी प्रबलतामें न्यूनाधिकता होती है । जिन स्थानोंमें जजीर सदृश जीवाणु (Streptococci) उपस्थित होते हैं, उन स्थानोंमें रोग की प्रबलता विषम रहती है । इतर प्रकारके अन्नपुच्छ-प्रदाह की अपेक्षा आशुकारी संक्रामक प्रकारमें उदर्याकलाका विस्तीर्ण प्रदाह विशेषरूपसे देखनेमें आता है ।

(२) उदर्याकलाविद्रधि—अन्नपुच्छ फटने पर उदर्याकलाके भीतर स्थानिकरूपसे विद्रधि उत्पन्न होजाता है । यह विद्रधि बेरसे लेकर

नारियल जितना बड़ा होजाता है । एवं अन्नपुच्छके अवस्थान अनुरूप इसकी स्थिति होती है । यह स्फोटक विशेषतः शेषान्त्रक और उण्डुकके मध्यस्थ कोणमें और कटिलम्बिनी पेशी (सोयास मसल Psoas muscle) के ऊपर होता है । उदर्याकलाके भीतर बृहद्विद्रधि सामान्य रूपसे वक्ष्णोत्तरिक प्रदेशमें नाभि और पृष्ठवंशके अग्रभाग- (Anterior spine) के बीचमें रहता है । किसी समय अन्नपुच्छ फटने पर संयोजक (Adhesive) उदर्याकलाप्रदाह और स्थानिक विद्रधिकी उत्पत्ति होती है । फिरभी किसी विशेष लक्षणोंका प्रकाश नहीं होता । किन्तु भविष्यमें किसी अभिघातक कारणसे या किसी इतर सहवर्त्ती व्याधिसे रोगीकी मृत्यु होजाती है । फिर शवच्छेद करने पर यह अवस्था प्रतीत होती है ।

विद्रधिमें सामान्यरूपसे धूसराभ पीले रंगका गाढ़ा अति दुर्गन्धयुक्त पूय रहता है । यदि विद्रधि दीर्घकाल स्थायी थोड़े विस्तार युक्त क्षुद्र है, तो गहरे धूसर (Dark grey) वर्णका अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त पूय रहता है । विद्रधिमें अन्नपुच्छ पृथक् देखनेमें आती है ; या विद्रधि गहरमें रहे हुए पूय और उत्सृष्ट प्रादाहिक पदार्थ द्वारा अन्नपुच्छ इस तरह आवृत होजाती है, कि तलाश करने पर भी मिलनी दुष्कर होती है ।

(३) समीपस्थ यन्त्रोंमें पूयोत्पत्ति—जब अन्नपुच्छ श्रोणि-गुहान्तरीय मांसधराकला (Iliac fascia), वस्तिगुहान्तरीया कला (Pelvic fascia) या उण्डुकके पश्चात् प्रदेशमें रहता है ; तब उदर्याकलाकी पश्चिम पट्ट (Retro peritoneal) में फूटता है । फिर पूय श्रोणिगुहान्तरीय मांसधराके नीचे होकर गमन करता है ; और जघनधारामें रही हुई बाह्य उदरच्छदा पेशी (External Oblique) के निम्न किनारी पर लगे स्नायु (Poupart's ligament) में होकर बाहर निकलता है ।

यदि पूय पार्श्वप्रदेशमें उदर्याकला की पश्चिम पट्टमें अवस्थित

होता है ; तो मूत्रपिण्डके ऊपर रहे हुए आवरणमें बृहदाकार विद्रधि (Perinephritic Ulcer) होजाता है ।

पूय यदि कटिलम्बिनी पेशी (Psoas muscle) की ओर गति करता है ; तो उस संधिका भेदन करता है ; अथवा जुद्रान्त्र या मुष्कमें अवतरण करके स्फोटक उत्पन्न करता है ।

उदर्याकलाके भीतर अथवा उदर्याकलाके बाहर रहा हुआ विद्रधि मूत्राशय या अन्नमें गमन करने पर रोगी रोग मुक्त हो सकता है ।

तीव्र आशुकारी अन्नपुच्छप्रदाह लक्षण—इस रोगका प्रारम्भ अकस्मात् उदरके दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेशमें तीव्र वेदना (Appendicular colic) के साथ होता है । साथ-साथ सामान्य रूपसे मृदु ज्वर (१०० से १०२ डिग्री तक), कभी-कभी बालकोंको १०३॥ डिग्री तक ज्वर, आमाशय और अन्नकी विकृति (अति तृषा, जुधानाश, व्याकुलता, उबाक, वमन, बद्धकोष्ठ आदि), हikka, मूत्र कम और गाढा होजाना, अन्नपुच्छमें पीड़ा, दबाने पर अधिक दर्द होना और पेशाब करनेसे पीड़ा होना, (कारण बसित खाली होनेपर शोथयुक्त उदर्याकला को कुछ नीचे सरकना पड़ता है) आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

क्वचित् उदरके मध्य भागमें वेदना विस्तृत स्थान व्यापी हो जाती है । जहाँ वेदना न होती हो, वहाँ पर भी ३६ से ४८ घण्टेमें वेदना होने लग जाती है । यह पीड़ा मूलाधार पीठ (Perineum) अथवा वृषण ग्रन्थियों (Testes) की ओर विस्तृत होती जाती है । क्वचित् यह वेदना अत्यधिक होती है; जिससे कोई-कोई बार पित्ताश्मरी या मूत्राश्मरीजन्य शूलका भ्रम हो जाता है । किसी-किसीको वेदना मृदु भी होती है ।

यदि व्याधिका रूपान्तर विद्रधिमें हुआ, तो लक्षण तीव्रतर बन जाते हैं । रक्तमें श्वेत जीवाणु संख्या ७००० के बदले १५०००—२०००० तक प्रति क्युबिक मिलीमीटरमें बढ़ जाती है अर्थात् २-३ गुनी हो जाती है । अनेक बार विद्रधि होनेपर या अति प्रबल सार्वत्रिक उदर्याकलाप्रदाह

होनेपर शारीरिक उत्तान बहुधा स्वाभाविक बना रहता है । पूयभवन होनेपर ताप सतत बना रहता है; या बलक्षय होकर शारीरिक उष्णता स्वाभाविक स्थितिकी अपेक्षाभी घट जाती है । नाड़ीका वेग पूयभवनके हेतुसे द्रुत हो जाता है ।

आमाशय पीडित होनेसे जिह्वा लाल फटी हुई और आर्द्र (क्वचित् शुष्क) हो जाती है । यदि सौम्य रोग है, तो उबाक और वमन दो दिनसे अधिक समय तक नहीं रहता । किसी-किसी समय बालकोंको अन्त्रपुच्छप्रदाह होनेपर अतिसार हो जाता है; और बड़ी आयु वालोंको बहुधा विबंध ही रहता है ।

स्थानिक चिह्न—प्रारम्भिक अवस्थामें देखनेपर उदर-प्रदेशपर कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता है । उदर या श्रोणिगुहामें शोथ या प्रसारण नहीं होता । स्पर्श परीक्षा करनेपर उदर प्रदेशके दक्षिण ओर की मांस-पेशियोंमें अतिशय तनाव होता है; और उस स्थानको दबानेपर अतिशय वेदना होती है । एवं अनेकोके लिये प्रदाह स्थानमें दृढ़ता और शोथ लक्षित होता है । दबानेपर कीचड़के स्पर्श सदृश भास होता है । शोथ उण्डुकमें भी होता है, इसकी सीमा अनिश्चित होती है । वक्षोत्तरिक प्रदेशमें शोथ उदरच्छदा पेशीके १-२ इंच ऊपर तक होता है ।

इस बातको लक्ष्यमें रखनी चाहिये कि, कभी-कभी अत्यन्त प्रबल क्षतयुक्त अन्त्रपुच्छप्रदाह रोगमें स्थानिक शोथ या दृढ़ता नहीं होती ।

अनेक बार रोगके प्रारम्भकालमें मूत्राशयमें उग्रता उपस्थित होती हैं । जिससे मूत्राशयप्रदाह (Cystitis) का भ्रम हो जाता है । मूत्र थोड़ा-थोड़ा उतरता है । पेशाबमें एल्ब्युमिन और पिच्छशर्कराकण (Indicans) जाते हैं । रोगी सोनेपर दहिने पैरके घुटनेको मोड़ लेता है ।

रोग विनिर्णय—अनेक रोगियोंमें इस रोगके अति स्पष्ट लक्षण प्रतीत होते हैं । नाभिके पास विशेषतः मेकबर्ने स्थान (MC Burney's point) पर वेदना, पीड़नाक्षमता (Tenderness),

शोथ और मासपेशियोंमें तनाव, ज्वर, वमन, बद्धकोष्ठ, त्वचा की संवेदना शक्ति बढ़ जाना (Hyperesthesia) आदि लक्षण स्पष्ट होते हैं । वाम पार्श्वमें ठेपन करने पर अन्त्रपुच्छ स्थानमें बहुधा वेदना होती है ।

नाभिसे जघनधाराके ऊर्ध्व पुरकूट (Anterior Superior Iliac Spine) तक एक रेखा खिंचकर ३ हिस्से करें ; उनमेंसे बाह्य और अन्त्र प्रदेशको छोड़ मध्यमें रहे हुए २ इंच जितने प्रदेशको मेकबर्नका स्थान कहा है । इस स्थान पर पीडनाक्षमता होना ; यह इस व्याधिका अति स्पष्ट लक्षण माना गया है ।

परन्तु जब कितनेक रोगियोंमें अन्त्रपुच्छ दूसरी ओर रहनेसे उक्त प्रदेशमें पीड़ा प्रतीत नहीं होती ; एवं स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते, तब रोग विनिर्णयमें भ्रम होने लगता है । अनेक बार दक्षिण फुफ्फुसमें प्रदाह (Pneumonia) होनेका भ्रम होता है । इसका कारण महाप्राचीरा पेशीके ऊपर फुफ्फुसावरण प्रदाह है । परन्तु फुफ्फुसपरीक्षा करने पर तत्काल भ्रम दूर होजाता है । ऐसे रोगियोंको बाँयी कुक्षिपर मोड़ने पर पीड़ा नहीं होती ; परन्तु अन्त्रपुच्छप्रदाहके रोगीको तो थोड़े अन्त्रपुच्छ चलने पर भी भयङ्कर वेदना होजाती है ।

वृक्कशूल (Renal Colic) और चलायमान वृक्क (Floating Kidney) रोगमें पुनराक्रमित अन्त्रपुच्छप्रदाहका भ्रम होजाता है । परन्तु वृक्कशूलमें पार्श्व भागसे वृषण या बीजकोषकी ओर गति करने वाली पीड़ा रहती है । इस तरह पूर्ववृत्त पर से भी निर्णय होजाता है ।

पित्ताश्मरीजन्य शूलके साथ भी इस रोगकी साम्यता भासती है । पित्ताश्मरीज शूल (Biliary Colic) का प्रारम्भ भी अकस्मात् तीव्र वेदनाके साथ होता है ; परन्तु इस शूलका वेग दक्षिण कन्धेकी ओर होता है ; और अन्त्रपुच्छप्रदाहजशूल नाभिके पास दक्षिण वक्षो-त्तरिक प्रदेशमें होता है ।

स्त्रियोंमें बीजकोष और बीजवाहिनियोंके विकारमें चिरकारी अन्त्र-पुच्छप्रदाह सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं । क्वचित् समीपताके हेतुसे

अन्त्रपुच्छप्रदाह भी होता है । विशेषतः इसका निर्णय योनिपरीक्षा द्वारा होजाता है ।

पाशित अन्त्रविकार (Stranguated) अर्थात् उदर्याकला, इतर यन्त्र या तन्वात्मक रज्जुसे अन्त्र बद्ध जाना, एवं एक अन्त्रका इतर अन्त्रमें प्रवेश होजाना (Intussusception) आदि कारणों से उत्पन्न तीव्र अन्त्रावरोध (Acute Intestinal Obstruction) और उदर्याकलाप्रदाह सह तीव्र अन्त्रपुच्छप्रदाह, दोनोंके लक्षणोंमें साम्यता होनेसे भ्रम होजाता है । यदि अन्त्रान्त्र प्रवेशसे अन्त्रावरोध होगया है, तो अति किनछुने और रक्तमिश्रित मल जानेसे मेद होजाता है । एवं पाशित अन्त्रविकारमें मल की वमन होती है । इस परसे भी निर्णय होजाता है । फिर भी व्यवच्छेदक लक्षण कोष्ठक रूपसे दर्शाते हैं ।

लक्षण तीव्र अन्त्रपुच्छप्रदाह तीव्र अन्त्रावरोध

(उदर्याकलाप्रदाह सह)

आगमन	पहले कभी-कभी उदरमें एक दम शूल होता है ।	
शूल	दक्षिणवंच्छणोत्तरिक प्रदेशमें तीव्र ।	नाभिके पास तीव्र
पीड़नाक्षमता	प्रारम्भसे ही होती है । शनैः शनैः बढ़ती जाती है ।	{ उदर्याकलाका प्रदाह हो, तब तक नहीं होती ।
वमन	सामान्य ।	प्रारम्भसे ही तीव्र और मलयुक्त
स्नायु	दक्षिण भागमें तन जाना ।	उदर्याकलाप्रदाह होने पर्यन्त शिथिल ।
मल	मलावरोध या अतिसार ।	ग्रथित अन्त्र (अन्त्रान्त्र प्रवेशमें प्रवाहणपूर्वक मल त्याग और मलमें रक्त मिश्रण ।

शीत	विशेषतः होती है ।	शीत नहीं होती ।
ज्वर	प्रारम्भमें ज्वर, फिर विष प्रभाव या बलक्षयसे वह दूर हो जाता है ।	प्रारम्भमें स्वाभाविक उत्तापसे भी कम फिर ज्वर आता है ।

आमाशय व्रण और अन्नव्रणके लक्षणोंकी साम्यता अन्नपुच्छ-प्रदाहके साथ अत्यधिक है । अनेक बार शस्त्रक्रिया किये बिना रोग विनिर्णय नहीं होता । परन्तु दोनोंमें शस्त्रक्रिया विहित होनेसे निश्चय न होनेपरभी चिकित्सा दृष्टिमें हानि नहीं है ।

एव तत्र अन्नक्षय और कर्कस्फोटसे दक्षिण वंक्षणोत्तरिकप्रदेशमें कुछ भाग फूला हुआ प्रतीत होता है; तत्र चिरकारी अन्नपुच्छप्रदाह का भ्रम होता है, इसका निर्णयभी बिना शस्त्रक्रिया नहीं होता ।

रोगपर्यवसान प्रकार—इस रोगका अन्त ३ प्रकारसे होता है ।
(१) क्रमशः आरोग्य, (२) स्थानिक विद्रधि, (३) उदर्याकला का सार्वत्रिक प्रदाह ।

(१) क्रमशः आरोग्य—यदि रोग क्रमशः घटता जाता है, तो तीन चार दिनमें वेदनामें न्यूनता, शारीरिक उत्तापका हास, जिह्वाशुद्धि वमननिवारण, दबाने पर स्थानिक वेदनाका अभाव या न्यूनता और उदर को पूर्वावस्था की प्राप्ति आदि लक्षण होने लगते हैं । एक सप्ताह जाने पर सब प्रकारके तीव्र लक्षण शान्त हो जाते हैं । क्वचित् सामान्य ज्वर २-३ सप्ताह तक रह जाता है । फिर रोगान्त दौर्बल्य उपस्थित होता है । स्थानिक दृढ़ता या जुड़ाकार अबुद् कुछ काल स्थायी रहता है, ऐसे समय पर रोगी रोगके पुनराक्रमणके वशवर्त्ती रहता है । आहार विहारमें नियम पालन हो, तो ही रोगी बच सकता है । यदि कुछ शोथ रह जाता है, तो उसमें पूय रह जाता है ।

(२) स्थानिक विद्रधि—क्षत होने या अन्नपुच्छका विदारण होने के हेतुसे किसी-किसी समय कोथ (Necrosis) होने पर क्वचित् समस्त अन्नपुच्छप्रदाहके पश्चात् ऊपर कहे हुए सब लक्षण प्रकाशित

होते हैं । फिर एक सप्ताहके बाद सब लक्षण समभावसे रहते हैं या बढ़ जाते हैं । यदि रोगका आक्रमण तीव्र हो, तो चौथे या पाँचवें दिन श्रोणिगुहान्तरीय मांसधराकलाकी विस्तृत स्थान व्यापी दृढ़ता और उसको दबाने पर वेदना होती है । इस अवस्थामें शस्त्रक्रिया करने पर जाना गया है कि भीतर स्फोटक निर्मित हो गया है । फिर पूयोत्पत्ति होने लगती है, तो ज्वरवृद्धि होती है; किन्तु सबके लिये यह नियमपूर्वक नहीं कह सकते । सामान्यतः स्थानिक शोथमें वृद्धि और सार्वजनिक लक्षणोंमें अधिकता परसे पूयभवनका अनुमान होता है ।

(३) सार्वजनिक उदर्याकलाप्रदाह—अन्त्रपुच्छका विदारण, क्षत या कोथ और स्थानिक प्रदाह होनेके पहले समग्र उदर्याकला पर कीटाणुओंका सक्रमण हो जानेसे समस्त उदर्याकलाका आशुकारी तीव्र प्रदाह हो जाता है । किसी किसी स्थान पर स्थानिक संक्रमणजनित प्रक्रियाका निर्देश नहीं हो सकता; और संपूर्ण उदर्याकला आक्रान्त हो जाती है । किसी-किसी स्थानमें प्रदाहप्रस्त अन्त्रपुच्छके सन्निधानसे स्थानिक पूयोत्पत्ति और इसी हेतुसे नलीका विदारण होता है । यदि अन्त्रपुच्छ प्रदाह रोगमें समस्त उदर्याकलाका प्रदाह हो जाता है, तो बहुधा रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

इस अन्त्रपुच्छ प्रदाह रोगमें विषम विमति यही है कि, उदर्याकला रोगके प्रारम्भ में ही संक्रामित हो जाती है । फिर प्रारम्भसे ही वेदना, उबाक, वमन, ज्वर, पीड़नाक्षमता आदि लक्षण होते ही हैं । ये सब लक्षण अन्त्रावरणके प्रभावित होने की साक्षी देते हैं । सार्वजनिक उदर्याकलाके प्रदाहका प्रकाशन बहुधा अकस्मात् हो जाता है । उसमें वेदना समस्त उदर प्रदेश पर व्याप्त होती है, सब समय पीड़ा दक्षिण श्रोणिगुहामें ही हो, ऐसा नियम नहीं है । एवं इन लक्षणों परसे उदर्याकला का व्यापक प्रदाह हुआ है, ऐसा निर्देश भी नहीं हो सकता । यदि ये सब क्रमशः प्रबल होते जायँ; तो व्यापक प्रदाहकी शंका होती है । इस अवस्थामें प्रधान लक्षण उदरका फैल जाना, दबाने पर समस्त उदर पर

वेदना वृद्धि और श्वासोच्छ्वासके साथ उदर प्रदेश की संचालन क्रिया का अभाव आदि है; तथा सार्वजनिक निम्न लक्षण रोगनिर्णयमें सहायक माने जाते हैं ।

यदि उबाक और वमन प्रारम्भसे ही हो, तो वे स्थायी हो जाते हैं । नाड़ी बहुधा द्रुतगति वाली होती है । जिह्वा शुष्क और पेशाब स्वल्प परिमाणमें होता है । रोग अत्यन्त प्रबल हो तो २४ घण्टेमें ही प्रसारग्रस्त हो जाता है, ये सब सहायक लक्षण हैं । तीसरे या चौथे दिनसे उदर्या कलाके व्यापक प्रदाहके प्रकृत लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं । उदर प्रदेश पर शोथ, श्वासोच्छ्वास क्रिया कालमें उदरकी संचलनविहीनता, तेज नाड़ी, शुष्क जिह्वा, जानुसे पैरको मोड़कर सोना, एव म्लान, श्याम मुख-मुद्रा, व्याकुलता, खुले नेत्र, नाक बैठा हुआ, शीतल नाक-कान, शीतल स्वेद युक्त कपाल आदि मरणासन्न व्यक्ति सहस्र अरिष्ट लक्षण (*Facies Hippocratica*) भासमान होते हैं ।

यह अवस्था ज्वरकी तारतम्यताके ऊपर निर्भर नहीं है । सामान्य रूपसे प्रथमावस्थामें ज्वर रहता है । ३-४ दिन पश्चात् शारीरिक उत्ताप कम होकर लगभग १००-१०१ डिग्री तक रहता है । किन्तु इतर वेदनामें न्यूनता नहीं होती । शारीरिक उत्तापकी अपेक्षा नाड़ी परसे रोगकी अवस्थाका अधिक निर्णय होता है ।

पुनराक्रमित अन्त्रपुच्छ प्रदाह—किसी-किसी रोगीको रोगसे मुक्त हो जानेके तीन-चार मास बाद पुनः रोग आक्रमण करता है । उस समय ज्वर, वेदना और स्थानिक लक्षण पहलेके सहस्र प्रकाशित होते हैं । इस तरह अनेक वर्षों तक पुनः-पुनः आक्रमण होता रहता है । जिन स्थानोंमें शोथ और दृढ़ता दीर्घ काल स्थायी होते हैं; उन स्थानोंमें प्रकृति इस रोगके अधिक वशवर्त्ती होती है ।

अनेक बार पुनः आक्रमण होनेके पश्चात् रोगी पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है । यह प्रकार संयोग (*Adhesion*) सहवर्त्ती या संयोग विहीन सामान्य (*Obliterative*) प्रकारमें हो जाता है । क्वचित्

संयोगग्रस्त और संभवतः विचिछन्न अन्नपुच्छप्रदाह सौत्रिक तन्तुओं द्वारा सीमाबद्ध होकर क्षुद्र स्थानिक स्फोटक निर्माण करता है ।

कभी अन्नपुच्छप्रदाहसे आमाशयशूल (Gastralgia) होता है, तब आमाशयव्रण सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

अनुग्रामी विकार—(Sequelae)—

- (१) मलवाही नाड़ीव्रण—Faecal Fistula ।
- (२) उदरगुहाकी दीवारमें अन्नवृद्धि—Ventral Hernia ।
- (३) अन्नपुच्छक्षय—Tuberculosis of the Appendix ।
- (४) जिह्वा या हनुमण्डल पर अर्बुद—Actinomycosis ।
- (५) कर्कस्फोट—Cancer । यह विकार अन्नपुच्छप्रदाह शमन होजाने पर भी होजाता है ।

अन्नपुच्छप्रदाह चिकित्सा ।

यदि दूसरे रोगमें तीव्र कोथ अथवा उदर्याकलाके व्यापक प्रदाहके लक्षण—नाड़ी स्पन्दन १०० से अधिक हों, अविरत वमन, प्रलाप, शीत (Chill), उदरगुहाका विस्फारण, पूयोत्पत्ति होजाना, बेचैनी, क्रमशः शक्तिगत होना आदि उपस्थित हों, तो त्वरित शस्त्रक्रिया का अवलम्बन लेना चाहिये । एवं स्थानिक प्रदाहमें भी पूयोत्पत्ति या आशु-कारी उदर्याकलाप्रदाहके लक्षण प्रकाशित हों, तो शस्त्रचिकित्सा ही करानी चाहिये ।

रोग स्थानिक हो, तो आक्रमणके ३ दिन पर्यन्त बाह्य उपचार करें । पूर्ण विश्राम, रोगीकी प्रकृति अनुरूप लंघन, एक दो दिन केवल जल पर रह जाय तो अच्छा; नहीं तो मुसम्बीका रस या मूंगका यूष देवें । रोग बल कम होने पर (या वृद्धि होने पर) मांसरस, दूध या अर्धपाचित (Peptonized) दुग्ध देते रहें । अर्धपाचित दूधकी कृति यकृद्वाल्सुदर

चिकित्साकी सूचनाके साथ लिखी है । या इतर यूष देवे । मात्रा बहुत कम देवे । ओषधि कुछ भी न दे । विरेचनका तो अति निषेध है ।

यदि हृदयक्षीणता या बलक्षयके लक्षण उपस्थित हो जावे, तो ही उत्तेजक ओषधि या सुरा देवे । अन्यथा उत्तेजक ओषधि नहीं देनी चाहिये । यदि अधिक प्यास लगती है, तो १ सेर निवाये जलमें ४ माशे नमक मिलाकर बस्ति देनी चाहिये । अन्त्रपुच्छप्रदेश या वेदनावाले भाग पर गरम जल की बोतल या बर्फ की थैलीसे सेक करे । स्थानिक प्रयोग रूपसे अफीमके अर्क वा लेप हितावह माना जाता है ।

यदि वेदना असह्य हो, और बल क्षय होने लगे, तो मोर्फीया का इन्जेक्शन या अहिफेन प्रधान ओषधि निद्रोदय रस आदि जलके साथ देनी चाहिये । आवश्यकता पर निद्रोदय रस ३-३ घण्टे पर एक-एक गोली दे सकते हैं, या अहिफेन १ रत्ती अभ्रकभस्म आधारत्तीके साथ मिलाकर तीन-तीन घण्टेके अन्तरपर देते रहना चाहिये । उदर्याकला प्रदाहमे अहिफेनकी मात्रा अधिक हो जाय, तो भी बाधा नहीं पहुँचती । वेदना का उपशम होनेपर अहिफेन मिश्रित ओषधि या इतर पीड़ा-शामक ओषधिको बन्द कर देनी चाहिये ।

स्थानिक सौम्य रोगमे यदि तीसरे दिन पूयोत्पत्ति का कोई लक्षण प्रतीत न हो, तो प्रतिदिन प्रातःकाल साबुन मिश्रित एरडतैल मिश्रित जलकी बस्ति देनी चाहिये । फिर जब रोगोपशमनके लक्षण प्रकाशित हों, तब बस्ति देना बन्द करे ।

स्थानिक रोग शमन होने लगे, तब दुग्ध, मक्खन, पौष्टिक लघु भोजन, कुक्कुटाण्ड, मासरस आदि दे । रोग शमन होनेपर प्रकृति अनुसार पथ्य भोजन देवे ।

सम्पूर्ण स्वस्थ होनेपर भी रोगीको चाहिये कि, उदरके निम्न प्रदेश-पर गरम वस्त्र बाँधते रहे, कोष्ठ शुद्ध रखें (कब्ज न होने दे); व्यायाम या शारीरिक श्रमवाला कार्य न करे; तथा भोजन देरसे पचन हो, यह विबन्धकारक हो, उसे एक वर्ष तक उपयोगमे न ले ।

चिरकारी रोगके समय और रोगोपशमनके पश्चात् अग्निनुण्डीवटी (२० ४३०) देते रहना लाभदायक है । पूय न बननेके लिये एवं पूयोत्पादक जीवाणुओंके नाशके लिये १ से ३ रत्ती वंगभस्म दिनमें दो समय शहदसे देते रहना चाहिये; अथवा वंगभस्म और शिलाजीत सम-भाग मिलाकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें । फिर दो-दो गोली प्रातः सायं देते रहना चाहिये । अभ्रकभस्म और चन्द्रप्रभावटी का सेवन करानेसे बार-बार आने वाले दौरेका शमन होनेका अनुभवमें आया है ।

डाक्टरों चिकित्सा ।

(१) टिञ्चर बेलाडोना Tinct Belladona १ ड्राम

एक्का सिनामोम Aqua Cinnamom ad ६ औंसतक
दोनोंको मिला लेवें । इसमेंसे आध-आध औंस प्रत्येक ३-४ घण्टेपर
वेदना शमन हो, तब तक देते रहना चाहिये ।

(२) एक्स्ट्रेक्ट ओपियाई Ext Opii ६ ग्रेन

एक्स्ट्रेक्ट बेलाडोना Ext Belladona ६ ग्रेन
दोनोंको मिला १-१ ग्रेन की गोलियाँ करें । फिर प्रत्येक ३-४ घण्टे-
पर वेदना शमन हो, तब तक १-१ गोली देते रहना चाहिये ।

पथ्यापथ्य—इस रोगके प्रारम्भमें पूर्ण विश्रान्ति लेनी चाहिये । तीव्रप्रकोप कालमें हो सके तो केवल जलपर रहना चाहिये; नहीं तो फलों का रस, थोड़ा दूध, चाय या मूंग का यूथ लेना चाहिये । रोगबल कम होनेपर मांसरस या दूध का सेवन करें । तीव्र पीड़ा होनेपर गरम जलसे या बर्फसे सेक करना चाहिये ।

बार बार आक्रमण होता रहता हो, तो अधिक परिश्रम न करें । एवं गरिष्ठ और देरसे पचन होने वाले भोजन का त्याग करें । इस रोगमें विरेचन का बिल्कुल निषेध है । आवश्यकतापर बस्तिसे उदर शुद्धि करें । हो सके तब तक शराब, कॉफी आदि उत्तेजक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये ।

रोग शमन हो जानेपर १ वर्ष तक दुर्जर अन्न का सेवन नहीं करना चाहिये । एव उदर रोगमे कहे हुए अपथ्यों का त्याग करना चाहिये ।

उदावर्त्त

रोग परिचय—जिस रोगमें वायु चक्रकी तरह घूमता रहता है, उसे उदावर्त्त कहते हैं । इस रोगमें अपानवाक और मलके निरोधजनित प्रकार अर्थात् अपानवायु नाभिसे उठकर चक्रकी तरह फिर कर ऊपर चढ़ने वाला अधिकतर प्रतीत होता है । यह प्रकार विशेषतः लज्जाके हेतुसे अथवा काममे फँसे रहनेके कारण अधोवायु और मलमूत्रादि वेगोको रोकने वाले अज्ञानी मनुष्योको होता है ।

निदान—अधोवायु, मल, मूत्र, जंभाई, आँसू, छींक, डकार, वमन, वीर्य, लुधा, तृषा, श्वास और निद्रा, इन १३ प्रकारके स्वाभाविक वेगोंको रोकनेसे अर्थात् अधोवायु मल-मूत्र आदिकों को बाहर न निकलने देनेसे वायु प्रकुपित होकर उदावर्त्तरोगकी उत्पत्ति कर देता है । इनके अलावा अपथ्य भोजनसे भी उदावर्त्त हो जाता है ।

अपाननिरोधज उदावर्त्तलक्षण—अधोवायु और मलमूत्र का अवरोध, आफरा, थकावट, पीड़ा, शूल, हृदय पर बोझा, शिरदर्द, श्वासके वेगकी वृद्धि, हिक्का, कास, जुखाम, गलग्रह, कफ और पित्तका घोर प्रसर (चारों ओर फैल जाना) तथा क्वचित् मुँहसे विष्टाका वमनआदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

मलनिरोधज उदावर्त्तलक्षण—शौचके वेगको रोकनेसे आफरा, उदरशूल, गुदामें कतरनीसे काटनेके समान पीड़ा, शिरदर्द, बद्धकोष्ठ, बारबार डकार आना और क्वचित् मुँहसे विष्टाकी वमन होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस रोग की उत्पत्ति होजानेके पश्चात् आंतोंकी वातवहा नाड़ियोंकी शक्ति

शिथिल होजाती है । जिससे सम्यक् प्रकारसे मलशुद्धि नहीं होती; और अपान वायु ऊर्ध्व गति कर डकार रूपसे निकलती रहती है ।

डॉक्टरोंमें इन्टेस्टाइनल ऑबस्ट्रक्शन—Intestinal Obstruction (अन्त्रावरोध) व्याधि है । इसका स्वरूप मलनिरोधज उदावर्त और बद्धगुदोदरके साथ मिलता है । इस रोगमें आहार रस या मलकी आगे जानेकी गतिमें अवरोध होता है ; अपानवायु ऊर्ध्व गति करती है ; और मल जैसी वमन होती है । मल या इतर श्लेष्मसे मार्ग रुक जाने पर अन्त्रावरोध होकर आयुर्वेदीय बद्धगुदोदरके लक्षण प्रकाशित होते हैं ; और इतर प्रकारसे अन्त्रावरोध होने पर मलनिरोधज उदावर्तके लक्षण उत्पन्न होते हैं । बद्धगुदोदरके अनुकूल मल आदि श्लेष्म जनित अन्त्रावरोधका वर्णन पहले बद्धगुदोदरके साथ किया है ; शेष डॉक्टरों प्रकार का विवेचन इस रोगके साथ आगे किया जायगा ।

मूत्रनिरोधज उदावर्त लक्षण—मूत्राशय, मूत्रेन्द्रिय, वृषण और नाभिमें शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरदर्द, कमरसे मुड़जाना, चंचल (कमर और उरुकी संधि—पेड़) स्थान फूलजाना, इत्यादि लक्षणमूत्रके वेगको रोकनेसे उत्पन्न होते हैं ।

जृम्भानिग्रहज उदावर्त लक्षण—मन्या और कण्ठका स्तंभन, शिरोरोग; तथा कान, मुँह, नाक और नेत्र आदिमें वातजन्य तीव्र पीड़ा इत्यादि लक्षण जम्भाईको रोकनेसे उत्पन्न होते हैं ।

अश्रुनिरोधज उदावर्त लक्षण—आनन्द या शोकसे आने वाले आंसुओंको रोकनेसे शिरमें भारीपन, तीव्र नेत्र रोग और पीनस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

क्षवथुनिग्रहज उदावर्त लक्षण—आती हुई छींकको रोक देनेसे मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित (मुँहका लकवा), आधाशीशी तथा कान, नेत्र और घ्राणेन्द्रियकी निर्बलता आदि विकार प्रकुपित वायुसे हो जाते हैं ।

उद्गारनिग्रहज उदावर्त्त लक्षण—उत्पन्न हुए डकारके वेग को रोक देनेसे मुँहसे कण्ठ तक भोजन, वायु या इतर पदार्थ पूरा भरा हो ऐसा भासना, हृदय या आमाशयमें तोड़ने समान तीव्र पीड़ा, पेटमें वायुकी गुड़गुड़ाहट या निरोध और हिक्का आदि घोर लक्षण होते हैं ।

छर्दिनिग्रहज उदावर्त्त लक्षण—आती हुई कैको रोक देनेसे खुजली, पित्ती (चकते), अरुचि, व्यंग (मुँहपर फुन्सियां होना), शोथ, पित्त विदग्ध होना, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प और उबाक आदि लक्षण वातप्रकोप से हो जाते हैं ।

शुक्रनिरोधज उदावर्त्त लक्षण—वीर्य बाहर निकलनेका वेग उत्पन्न होने पर उसे बलात्कारसे रोक देनेपर शुक्राशय, मूत्राशय, गुदा और वृषण आदि स्थानोंमें शोथ और पीड़ा, मूत्रावरोध, मूत्रमें दाह, शुक्राश्मरी (शुक्राशय या शुक्रप्रपिकाओंमें वीर्य जमकर पथरी हो जाना), बार-बार वीर्यस्राव और वातकुण्डली आदि मूत्राघात इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

क्षुधानिरोधज उदावर्त्त लक्षण—भूख लगनेपर भोजन न करनेसे तन्द्रा, अङ्ग दूटना, अरुचि, थकावट और नेत्र दृष्टि कमजोर होना आदि लक्षण होते हैं ।

तृषानिग्रहज उदावर्त्त लक्षण—प्यास लगनेपर जल न पीने से कण्ठ और मुँह सूखना, कानोंसे कम सुनाई देना और हृदयमें व्यथा आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

श्वासोदावर्त्त लक्षण—थकनेपर श्वास वेगपूर्वक चलने लगता है । उसे रोकने या प्राणायाममें श्वासका बलात्कारसे निरोध करनेपर हृद् रोग, मोह और कचित् वातगुल्म आदि लक्षणोंकी उत्पत्ति हो जाती है ।

निद्रोदावर्त्त लक्षण—निद्रा आने पर न सोनेसे बार-बार

जम्भाई आना, हाथपैर टूटना, नेत्र और मस्तिष्कमें भारीपन तथा तन्द्रा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

अपथ्यज उदावर्त लक्षण—रुक्, कसैला, चरपरा और कड़वा भोजन करनेसे उदरमें रही हुई वायु कुपित होकर उदावर्त रोग की उत्पत्ति कर देती है । फिर कुपितवायु, मूत्र, मल, रक्त, कफ और मेदोबहानाड़ियोंके स्रोतसोंमें प्रवेश कर निरोध कर देती है; और मलको शोषित करके स्तम्भित कर देती है । हृदय और मूत्राशयमें शूल, उदाक, अधोवायु और मल-मूत्र कठिनतासे थोड़े थोड़े निकलना, श्वास, कास, जुखाम, दाह, मोह, तृषा, ज्वर, वमन, हिक्का, शिरदर्द, बेचैनी, भ्रम और अन्य भी अनेक वात-प्रकोपजनित लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

उदावर्तके असाध्य लक्षण—यदि उदावर्त रोगमें भयंकर तृषा अत्यंत बेचैनी, क्षीणता, तीव्र शूल और विष्टा का वमन, ये उपद्रव हो जायँ; तो रोग को असाध्य मानें ।

यद्यपि आनाह (विबन्ध-मलावरोध) और मलावरोधज उदावर्त के लक्षणोंमें आफरा, मलावरोध आदि अनेक समान हैं; तथापि उत्पत्ति और कितनेक लक्षणोंमें अंतर भी है । आनाह रोगकी उत्पत्ति अग्नि-मांद्य और अन्न की निर्बलतासे होती है, तब उदावर्त की उत्पत्ति अपानवायु विलोम हो जानेसे होती है । इस हेतु उदावर्तमें अधोवायु नहीं सरती, उलट चक्राकार होकर ऊर्ध्व गमन करती है; परन्तु आनाह रोगमें थोड़ी-थोड़ी अधोवायु मलावरण दूर होने पर सरती रहती है । आनाहमें शूल बहुआ नहीं होता; तब उदावर्तमें शूल तीव्र रूपमें होता है । इनके अलावा उदावर्त होने पर मुँहमेंसे विष्टाकी दुर्गन्ध आती है; और फिर विष्टायुक्त वमन भी होने लगती है । ये लक्षण आनाहमें नहीं होते । अलावा उदावर्त रोगमें मल फूल जानेसे कोई-कोई स्थानमें आंत फट भी जाती है ।

डॉक्टरी निदान लक्षण ।

मलनिरोधज उदावर्त—इन्टेस्टाइनल ऑल्स्ट्रक्शन—Intestinal Obstruction.

मलनिरोधज उदावर्त निदान—इस रोगकी उत्पत्तिमें अन्नस्थ, अन्नदीवारस्थ और बाह्य, ऐसे मुख्य ३ प्रकार के हेतु हैं ।

(१) अन्नस्थ—(इन्टरम्युरल—Intermural)—अन्न के भीतर मल आदि बाह्य पदार्थसे अवरोध होना कठिनमल, पित्ताशमरी या इतर बाह्य पदार्थ आजानेसे अन्नावरोध होना । इस प्रकारकी व्याधि का विवेचन बद्धगुदोदर साथ पहले किया गया है ।

(२) अन्नदीवारस्थ—(इन्ट्राम्युरल—Intramural)—अन्न दीवार की श्लैष्मिक कला या मासमय वृत्तिकी विकृति ।

(३) बाह्य—(एक्स्ट्राम्युरल—Extramural)—अन्नदीवार के बाह्य अवस्थित हेतु जन्य विकृति अर्थात् बाह्य कारणोंसे रसायनियों की कला (Serous membranē) आक्रान्त होकर अन्नकी कला को प्रभावित कर देती है ।

अन्नदीवारस्थ विकृतिके हेतु—

(१) कर्कसोट—Cancer ।

(२) कर्कसोटसे इतर क्षत आदि जन्य ।

(अ) शुष्कक्षत (सिकाट्रिभेशन—Cicatrization)

(आ) दाह-शोथ, आघात और कर्कसोटके अतिरिक्त पदार्थका सग्रह (Deposit) जन्य दीवार संकोच ।

(३) अन्नान्न प्रवेश (Intussusception) अर्थात् बृहदन्न या किसी लघु अन्नवलयमें अपर अशका स्थानभ्रष्ट होकर घुस जाना ।

(४) अन्न व्यवर्तन (Volvulus) अर्थात् आतमें डोरीकी तरह बल पड़जाना, अन्न आवर्तन (Kinking) अर्थात् आते उलट जाना ।

अन्नविकृतिके बाह्यहेतु—

- (१) लसीका स्रावसे अन्नबन्धन और संलग्नता (Adhesion)
- (२) स्थानभ्रष्टता (अन्नआवर्त्तन और अन्न व्यावर्त्तन जन्य) ।
- (३) स्थलि (Diverticula) रूप विकृति ।
- (४) बाह्य अर्बुद या विद्रधि ।
- (५) अन्त्रावतरण—

A—बृहदन्नसंधानक उदर्या कलामें अन्त्रावतरण (Mesocolic Hernia)

B—अन्नबन्धनीमें अन्त्रावतरण (Mesenteric Hernia)

C—महा प्राचीरापेशीस्थ अन्त्रावतरण (Diaphragmatic Hernia)

D—वपाअवतरण (Omental Hernia)

E—ओरिगिगवाक्षस्थ अन्त्रावतरण (Obturator Hernia) ।

F—नाभिस्थ अन्त्रावतरण (Umbilical Hernia) ।

डाक्टर विन्टन लिखते हैं कि, बृहदन्नके अवरोधके सौ रोगियोंमेंसे ४ को उण्डुकमें, १० को आरोही अन्नमें, ११ को अनुप्रस्थ अन्नमें, १४ को अवरोही अन्नमें, ३० को कुण्डलिका कोन (Sigmoid flexure) में तथा ३१ मनुष्योंको गुदनलिकामें अवरोध प्रतीत होता है ।

आशुकारी अन्नान्त्रप्रवेश (Invagination) पौढ़ आयुमें सामान्य रूपसे ग्रहणीके आगे रहे हुए मध्यान्नक (Jejunum) और शेषान्नक (Ileum) में होता है; और शैशवावस्थामें उण्डुक और शेषान्नक कपाट (इलियोसिकल—Ileocecal Valve) में अधिक होता है; तथा अन्न व्यावर्त्तन बहुधा प्रौढावस्थामें होता है; यह विकार विशेषतः वाम कटिप्रदेशमें ३५ वर्षसे बड़ी आयुमें होता है ।

यदि इस रोगके संप्राप्ति भेदसे विभाग किया जाय, तो निदानके आशुकारी और चिरकारी, ये दो विभाग होते हैं ।

चिरकारी अन्त्रावरोधज निदान—मलावरोध, अन्नस्थ वातवहा-

नाड़ियोंकी शक्ति नष्ट हो जाना, अन्त्र संकोच, अन्त्राबुद, बड़ी आँत पर कर्कशकोट होनेसे छोटी आतपर ओम्हा आजाना, मल शुष्क होकर शल्य रूप बन जाना, आतोंकी वलय परस्पर या उदर्याकला आदिके साथ जुड़ जाना, इत्यादि कारणोंसे शनैः शनैः मलसंग्रहकी वृद्धि होकर अन्त्रावरोध हो जाता है ।

आशुकारी अन्त्रावरोध निदान—चिरकारी अन्त्रावरोधका पर्यवसान, अन्त्रान्त्र प्रवेश, अन्त्र व्यावर्तन, अन्त्र आवर्त्तन, उदर्याकला, नाभिनाल (अमरा) या इनर अवयवमे प्रदाह होनेपर आत जकड़ जाना, शल्यज निरोध (Impaction of foreign bodies—बद्ध गुदोदर) और अभिघात आदि कारणोंसे आशुकारी अन्त्रावरोध हो जाता है ।

अन्त्रान्त्र प्रवेश ।

अन्त्रान्त्र प्रवेश—इन्टससेप्शन-इनवेजाइनेशन—(Intussusception—Invagination) ।

इस विकारमें बहुधा ऊर्ध्व अन्त्र भाग निम्न अन्त्र मार्गमें प्रवेश कर जाता है । इनमें एकको प्रवेशक और दूसरेको ग्राहक कहा जायगा । अन्त्रके प्रवेशक भागको डॉक्टरीमें इन्टससेप्टम (Intussusceptum) और जिसमें अन्त्रका प्रवेश होता है; उस ग्राहक भागको इन्टससिपिन्स (Intussuscipiens) संज्ञा दी है । इस ग्राहक भागमें प्रवेश करने वाले उस्तर (Layers) होते हैं । प्रवेशक, नियामक (Returning) और आच्छादक । इनमेंसे प्रवेशक अन्त्र भाग अपने साथ अन्त्रबन्धनी (Mesentery) को लेकर घुसता है । जिससे अन्त्रावरोधके साथ अन्त्रस्थ रक्तवाहिनीका भी अवरोध हो जाता है । यह प्रवेशक अन्त्र बाह्य भारके हेतुसे पीड़ित होता है और इसमें अन्य अन्त्रकीटाणुका भी आक्रमण हो जाता है, फिर अन्त्रावरण का प्रदाह हो जाता है । परिणाममें ये तीनों स्तर परस्पर चिटक जाते हैं, जिससे अन्तमे रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

निदान—अन्नकी पुरःसरण शक्तिकी अति वृद्धि, वेदनावर्धक आहार, अन्नके वृन्तयुक्त अर्बुद (Polypoid Tumours), कर्क-स्फोट, कृमि, शुष्क मल (मलाश्मरी) आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । इन कारणोंसे विशेषतः ऊपरकी आंतका नीचेकी आंतमें प्रवेश होजाता है । अधिकांशमें यह विकृति लघु अन्न और बृहदन्नके संधिस्थानमें होती है ।

लघु अन्नका बृहदन्नमें प्रवेश होने पर वह इतना खिंच जाता है, कि गुदाद्वारके पास उसका पर्दा हाथ को लगता है । क्वचित् एक लघु अन्नका इतर लघु अन्नमें भी प्रवेश हो जाता है । उसे लघु आन्त्रिक (Enteric) अन्नान्नप्रवेश कहते हैं । इस तरह बृहदन्नके किसी भागका इतर बृहदन्नमें प्रवेश होने पर बृहदान्त्रिक (Colic) अन्नान्न-प्रवेश कहलाता है ।

अन्नान्नप्रवेश लक्षण—इसमें चिरकारी और तीव्र, दो प्रकार हैं । तीव्र प्रकार बहुधा छोटे बच्चों को होता है । इस तीव्र प्रकारमें अतिशय उदरशूल, वमन, बृहदन्नके ऊपर लम्बा शोथ, अति व्याकुलता, रक्त और श्लेष्म मिश्रित मलोत्सर्ग, कांछना और बलक्षय आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस रोगसे अकस्मात् शक्तिपात होकर अनेक बच्चे २४ घण्टेमें ही चले जाते हैं । यदि २४ घण्टेमें मृत्यु न हुई, तो फंसी हुई आंतके प्रवेशक और नियामक भाग सड़कर गल जाते हैं; और शिशु स्वस्थ हो जाता है । इन रोगियोंमें दक्षिण कटिपार्श्विक प्रदेशमें एक लम्बा गुल्म प्रतीत होता है । मलद्वारसे किसी-किसी स्थान पर श्लैष्मिक कला की गांठ बाहर निकलती है । यदि इस रोगमें आंत पाशित (Strangulated) न हो, और अन्नप्रदाह (Enteritis) के लक्षण उपस्थित हों; तो रोग निर्णय दुष्कर हो जाता है । आंत पाशित होने पर रोगी चिल्लाता है; और भयंकर वमन होने लगती है ।

चिरकारी अन्नान्न प्रवेश प्रौढ़ मनुष्यों को होता है । इसमें अन्ना-

बरोध होकर उदावर्त्त हो जाता है । इसका सच्चा निर्णय ऑपरेशन करने पर ही हो सकता है ।

अन्त्रावरोध सम्प्राप्ति—अन्त्रपुच्छ या उदर्याकिलामे दाह-शोथ होने पर सौत्रिक रज्जु उत्पन्न हो जाती है । फिर उसमे आत जकड़ जाती है । जिससे आत की रक्तवाहिनियोमे अवरोध हो जाता है; या अमरा (आवल) अथवा इतर इन्द्रियोमे प्रदाह हो जाने पर परस्पर सलग्न हो जाती है । क्वचित् उसमें आत फँस जाती है । इस तरह क्वचित् आत फूलजाने पर भी वह अन्त्रावरणके साथ लग जाती है । जिससे अन्त्रावरोध की सम्प्राप्ति होती है ।

फिर मलसचय होनेपर मल सड़ने लगता है । उस समय आन्त्रिक रस मिलकर मल पतला बन जाता है । जिससे चिरकारी रोगमें कुछ दिनों तक पतले दस्त होते रहते हैं; और विषका रक्तमे शोषण होने लगता है । पश्चात् सड़नेसे दूषित वायु उत्पन्न होकर आफरा और गुड़-गुड़ाहट होने लगती है । कोई समय आत की वातवहानाडियो पर वायु और मलका आघात पहुँचनेसे अन्त्रवध (Paralysis of the Intestines) हो जाता है ।

अवरुद्ध मलको बाहर फेकनेके लिये शूलकी उत्पत्ति होजाती है । शूल भयङ्कर बढ़ने पर अन्त्रमे काटने समान पीड़ा होती है । क्वचित् आत फट भी जाती है । नीचेका मार्ग बिल्कुल बन्द होजानेसे मलको बाहर फेकनेके लिये विपरीत गति होने लगती है । पहले आमाशयमें रहा हुआ भोजन और वायु, फिर छोटी आतमेसे आहार रस तथा अन्तमें बड़ी आतमेंसे मल और आम वमन हो होकर मुँहमेसे निकलने लगते हैं ; अर्थात् मलावरोधज उदावर्त्तकी पूर्ण सम्प्राप्ति होजाती है ।

अन्त्रावरोधके मुख्य लक्षण—स्थानिक वेदना, विबंध, अन्त्रके मार्गका अवरोध और वमन, ये इस रोगके मुख्य लक्षण हैं , तथा तेज नाड़ी, मुखमण्डल पर उद्भिग्नता, हिक्का, अति प्रस्वेद आना, त्वचाका वर्ण मलिन होजाना, मूत्रमें स्वल्पता (क्वचित् अधिकता), मलमें कभी-

कभी रक्त गमन, उदर कठिन, आफरा युक्त, फूला हुआ और शूलग्रस्त होजाना, तथा प्रारम्भिक अवरोध दूर होने पर अतिसार आदि होजाना, ये सब गौण लक्षण प्रतीत होते हैं ।

उदर प्रदेशकी दर्शन परीक्षा करने पर अवरोध स्थानके ऊर्ध्व भागमें पुरःसरण क्रिया (Peristalsis) स्पष्ट प्रतीत होती है ।

चिरकारी अन्त्रावरोधके लक्षण—अवरोध शनैःशनैः बढ़ते जाना, शूल, बीच-बीचमें पतले दस्त होते रहना, वायुका ऊर्ध्व गमन, आफरा, गुड़गुड़ाहट आदि लक्षण कुछ दिनों तक रहते हैं । फिर वह आशुकारी तीव्र प्रकारमें पर्यवसित होजाता है ।

आशुकारी तीव्र अन्त्रावरोधके लक्षण—बहुधा थोड़ेसे भ्रमसे अकस्मात् उदरशूलका प्रारम्भ होजाता है । फिर बलक्षय, वेगवती किन्तु निर्बल नाड़ी, नाड़ीके स्पंदन १५० तक होजाना, शीतल प्रस्वेद, शारीरिक उष्णता अत्यन्त घट जाना, बीच-बीचमें शूल चलना, वमन होना, वमनमें मलकी दुर्गन्ध आना, फिर मलकी वमन होना, आफरा और मलावरोध आदि होजानेसे अपानवायुका बिल्कुल न निकलना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

फिर थोड़े ही समयमें विषका शोषण होकर बलक्षय होने लगता है ; तथा कीटाणुओंके हेतुसे आंतोंमें प्रदाह, व्रण, कोथ आदि विकृति भी होने लगती है । यदि सत्वर (५-७ दिनके भीतर) योग्य चिकित्सा न की जाय, तो आंत फूट, उदर्याकलाका प्रदाह होकर रोगीकी मृत्यु होजाती है ।

विभिन्न स्थानोंके सामान्य लक्षण—

१—वातवहा नाड़ीमण्डल—वेदना, उद्वेग, बलक्षय ।

२—रक्तसंचालन यन्त्र—प्रदाह रहित अवस्थामें नाड़ी वेगवती और निर्बल । प्रदाह युक्त अवस्थामें नाड़ी वेगवती और तार सदृश ।

३—श्वास यन्त्र—श्वासोच्छ्वास क्रिया द्रुतगामी और ऊपर ऊपरके भागमें चलना ।

४—पचनेन्द्रिय सस्था—विबध, वमन और अन्त्र विस्तार ।

५—मूत्र यन्त्र—आशुकारी बलक्षय युक्त विकारमें मूत्रका हास ।

चिरकारी व्याधि होने पर प्रारम्भिक अवस्थामें मूत्र वृद्धि ।

६—प्रजनन यन्त्र—कोई भी प्रकारके लक्षण प्रतीत नहीं होते ।

७—ऐच्छिक संचालन—ऊरु और पादमें सकोच ।

८—त्वगीयलक्षण—मलिनता, शीतल और चिकने प्रस्वेद युक्त गात्र तथा उदरपर स्फीत चर्म ।

विभिन्न स्थानों की वेदनाके हेतु—

१—अन्त्रके भीतर वेदना—मल सचय (अश्मरी या बाह्यपदार्थ आदि हेतु जन्य), यह बद्धगुदोदरमें प्रतीत होता है ।

२—अन्त्रदीवारमें पीडा—

अ—निर्माण विकार—नव प्रसूत बालकके गुदद्वार और गुदनलिकामें अवरोधक आवरण (Ano Rectal Septum), या अन्त्रके कुछ अंश की उत्पत्ति में न्यूनता ।

आ—पक्षघात—प्रसारवशतः मांस पेशियों का पक्षघात, या अफीम, शीशा आदि विष पदार्थ जनित पक्षघात ।

इ—व्रण शुष्क होजानेपर अन्त्रकी दीवारका सकोच ।

ई—अर्बुद आदिकी उत्पत्ति ।

उ—स्थानच्युति (अन्त्र व्यावर्त्तन, अन्त्र आवर्त्तन, या अन्त्रान्त्र-प्रवेश होनेपर)

३—बाह्यहेतु—उदर गुहाके इतर यन्त्रकी वृद्धि, अर्बुद आदिकी उत्पत्ति, उदर्याकला या अमरा आदिमें आत फँस जाना (Strangulated Hernia) ।

पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थमें इस रोगके विविध प्रकारोके निर्णयार्थ दो कोष्ठक दिये हैं । वे अत्र कमशः देता हूँ ।

(१) अन्त्रावरोध निर्णायक कौष्ठक ।

प्रकार हेतु आदि इतिहास वेदना स्थान और अबुद और उसका स्वभाव वेदना प्रकार

१—मल क्रमशः रोग वृद्धि । युवा स्त्री कुण्डली भाग (Sigmoid), संग्रहज विशेषतः उन्माद प्रस्त आक्रान्त उगडुक (Coecum) और (बद्धोदर) होती है । मलावरोध, सूतिका अनुप्रस्थ अन्त्रमें मृदु वेदना, रोग या अस्थिमंग आदिसे भारीपन, दबाने पर सामान्य उत्पन्न होता है । दीर्घकाल तक पीड़ा बीच-बीचमें अतिशय बलवत् नहीं होता । शूल ।

कुण्डलिका भाग, उगडुक और अनुप्रस्थ अन्त्रमें श्रुं द । स्पर्श करने पर सैदेके पिण्ड सदृश अर्थात् दबानेसे दबता है । दबाकर पिण्डका स्थान विच्युत करा सकते हैं । संग्रह स्थानके ऊपर आध्मानकी क्रमशः वृद्धि होती है ।

दक्षिण या वाम वंक्षोत्तरिक प्रदेशमें मल संचय । संचय स्थान कठिन, सीमाविशिष्ट और किञ्चित् संचालन शील ।

शेषान्त्रके अन्त, उगडुक या कुण्डलिका भागमें वेदना । स्पर्श करने पर वेदना वृद्धि, सतत स्थानिक पीड़ा, आध्मानवशतः बारबार तीव्र अन्त्रशूल ।

२—अन्त्रमें अकस्मात् रोगका आक्रमण । अरमरी, स्लेटपेन, अस्थि, गुठली आदिसे उत्पत्ति । पित्तरमरीज शूलका पूर्व इतिहास मिलता है । छुधाधिक्य सह उन्माद रोगमें ऐसा हो जाता है ।

- ३—निर्माण
वैलक्षण्य शिथुका जन्म होने पर मल त्याग न होना । रोगका उपशम न होने पर सत्वर बल हय ।
- ४—पक्षघात क्रमशः आक्रमण । मस्तिष्क पोडा, अभिघात, रक्तस्त्राव, अर्बुद आदिकी उत्पत्ति, मल आदिका अस्यधिक संचय, अफीम या शीशाविषका सेवन ।
- ५—अन्त्र द्विवारमे अनावश्यक वृद्धि शनैः-शनैः क्रमश रोग वृद्धि कर्कसफोट या इतर घातक अर्बुद (Malignant Tumour) होने पर बलहय (Cachexia) और कोष्ठबद्धता ।
- ६—अन्त्रकी युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था अन्त्रका प्रसार होनेसे सम्पूर्ण उदरमें वेदना । बलपूर्वक कोंछना ।
- संग्रह सीमाबद्ध लक्षित नहीं होता । मलका संचय और आध्मान होने पर समग्र उदर का फूल जाना । गुदनलिकाकी परीक्षा करने पर अवरोधक आवरण (Septum) भासना ।
- कठिन संग्रह, मलसंग्रह होने पर बृहदन्त्रमें रह जाना, लघु-अन्त्रका विस्तार होनेसे आध्मान, शीशा जन्य हो, तो उदरसंकोच ।
- सामान्यतः कुण्डलिका भाग या गुदनलिकामे सीमाबद्ध वेदना । क्रमश वेदनाका अधिक फैलना ।
- कुण्डलिका प्रदेशमें तीव्र अवि-स्थानका विस्तार,

फिर क्रमशः समस्त उदर प्रसी-
रित होना ।

राम वेदना । उदर्याकला प्रदाह
के हेतुसे दबानेसे समस्त उदर
पर अधिक वेदना ।

में शकस्मात् परिश्रम, व्यायाम
स्थान च्युति, आदिसे रोगारम्भ । सत्वर
अन्नव्यावर्त्तन उदर्याकला प्रदाह उपस्थित
अन्न आवर्त्तन होता है । रोगका शसन न होने
या अन्नवलय पर सत्वर बलक्षय ।
संलग्नता जन्य

स्थानिक संप्रह नहीं होता ।
अत्यन्त आध्मान । गुदा द्वारमें
बहुधा लघु अन्नका भाग
प्रतीत होना ।

शेषान्त्रक और उगडुकके
मध्यप्रदेशमें तीव्र वेदना । फिर
सत्वर समस्त उदरमें वेदना
फैल जाना ।

७—अन्न बाल्यावस्थामें शकस्मात् आक्र-
मण, अधिक कांछना, मल
दीवारस्थ त्यागमें श्लेष्मा और रक्तगमन ।
स्थान च्युति, (अन्नान्न
प्रवेशज)

विवर्धित यन्त्रके समीपके
अन्नमें मल संप्रह होनेसे गौंठ
भासना, उदरमें आध्मान और
शिथिलता ।

सामान्यतः उगडुक या कुण्ड-
लिनी प्रदेशमें मृदु वेदना, दबाने
पर वेदना वृद्धि, बीच-बीचमें
शूल चलना ।

क्रमशः रोगाक्रमण । परीक्षा
द्वारा सहज कारण जाना जाता
है ।
की वृद्धि

१—कैस्फोट, चिरकारी रोगवृद्धि, अन्नावरोध
अबुंद, विद्रधि होनेके पहले मूल व्याधिके
व्याधि स्थानमें वेदना । आक्रांत
वातवहानादियोंके तन्तु जिन-

सामान्यतः पश्चात् उदरकी
दीवार, यकृत, वपा (Omentum)

आदि (अन्त्र विविध लक्षण तथा घातक दीवारके बाहर)

१०—स्थान अकस्मात् रोगाक्रमण, उदर्या कला प्रदाह अथवा उण्डुककी च्युति अन्त्र दीवारके बाहर चारो ओर प्रदाह (Perityphlitis) का पूर्व आक्रमण । पशजन्म (Strangulated) बोजाको उठाने आदि परिश्रमसे अकस्मात् मांस पेशियों पर आघात, रोग दमन न होने पर सत्वर बल चय होना ।

११—स्थान अकस्मात् रोगाक्रमण, अन्त्रा च्युति—अन्त्र वतरणका पूर्व इतिहास या दीवारके बाहर अन्त्रावतरणके पुनः संस्थापन आंतका अमरा का इतिहास ।

आदिमें फूस जाना (Strangulated Hernia)

जिन स्थानोंमें फैलते हैं; उन-उन स्थानोंमें वेदनाका फैलना । वषा या अन्त्रपुच्छमें तीव्र वेदना ।

gum) और मूत्र संस्थाके सब यन्त्रोंमें विकृति । मलकी ग्रन्थि अनुभूत नहीं होती । उदरमें आफरा आ जाता है ।

बहिर्वक्षणीय या अन्तर्वक्षणीय छिद्र (Abdominal Ring) और परिनाभिक प्रदेश (Umbilicus) में सामान्य तनाव जन्य वेदना ।

दक्षिण या वाम वक्षणीय छिद्र में सम्भवतः हस्त संचालन द्वारा स्फीतिका ह्रास होना ।

(२) अन्त्रावरोध निर्णायक कोष्ठक—

लक्षण

अन्त्रपाश

अन्त्रव्यावर्त्तन

अन्त्रान्त्रप्रवेश

आयु

युवावस्था ।

परिनाभिक प्रदेश (Umbilical) से वेदना प्रारम्भ ।

४० वर्षसे बड़ी आयुके पुरुष ।

बाल्यावस्था ।

वेदना

अधिबस्ति प्रदेश (Hypogastric) में या पृष्ठ देशमें

सहसा मन्द और सविराम

तरंगके समान प्रबल वेदना

पुनः पुनः प्रकाशित होती है ।

वमन

सत्वर उपस्थित होती है । पुनः पुनः प्रचुर परिमाणमें वमन होती है । चौथे या पाँचवें दिन वमनमें मल आता है । प्रारम्भसे ही सम्पूर्ण कोष्ठ बढ़ता ।

प्रारम्भमें वमन नहीं होती । विलम्बसे उपस्थित होती है । १५ प्रतिशतको वमनमें मल निकलता है । प्रारम्भसेही कोष्ठबद्धता ।

अनिश्चित ।

कोष्ठबद्धता

प्रारम्भमें सामान्य स्फीति । अर्बुदकी प्रतीति नहीं होती । बहुधा पाँचवें दिन मृत्यु ।

कांछुनेके साथ अन्त्रमें से रक्त निकलना ।

सामान्यतः उदर विस्तार नहीं होता । उदरकी दीवार या गुद नलिकामें अर्बुद प्रतीति होता है । १ दिनसे अनेक दिनों तक ।

सामान्यतः उदर विस्तार नहीं होता । उदरकी दीवार या गुद नलिकामें अर्बुद प्रतीति होता है । १ दिनसे अनेक दिनों तक ।

अन्त्रावरोध विनिर्णय—पूर्ण अन्त्रावरोध होने पर अधो वायु बिल्कुल नहीं सरती, शूल, वमन, बलक्षय और बेचैनी प्रतीत होते हैं । परन्तु तीव्र मलावरोधमें वायु थोड़ी थोड़ी सरती रहती है । यह दोनोंमें अन्तर है । ऐसे समय पर यदि बस्ति दी जायगी, तो जल भी वापस नहीं लौटता । इस तरह कदाच विरेचन दिया जाय, तो वेदनाकी और वृद्धि होती है; लाभ नहीं होता ।

(२) आशुकारी प्रकारके प्रारम्भमें ही शूल, बलक्षय आफरा और आतमें किसी-न-किसी स्थान पर पीड़नाक्षमता (दबाने पर अधिक वेदना) होती है । चिरकारी प्रकारमें धीरे-धीरे रोग बढ़ता रहता है ।

(३) छोटी आतके ऊपरके हिस्सेमें विकृति होनेपर वमन सत्वर और सन्न होती है । भयंकर तृषा, मूत्रावरोध और अधिक त्रास होते हैं । वमन मलमिश्रित नहीं होती । आफरा कौड़ी प्रदेशमें प्रतीत होता है । उदर बिल्कुल दबा सा भासता है । कारण, अवरोध स्थानसे निम्न रही हुई आतमेंसे मल और वायु निकल जाती हैं ।

(४) अन्नपुच्छ तक अवरोध होनेपर मल और वायु नहीं निकल सकते । वन्तिमें मलकी दुर्गन्ध होती है, किन्तु मल क्वचित् ही होता है । आध्मान हृदय और नाभिके मध्य प्रदेशमें होता है, तथा पार्श्व भाग खुला होता है ।

(५) बड़ी आतमें अवरोध होनेपर चिरकारी अन्त्रावरोध ही होता है । क्वचित् आशुकारी प्रकार हो जाय; तो भी बलक्षय स्वल्प ही होता है । इस प्रकारमें वमन देरसे होती है, और मल सहित होती है; एव आफरा और गुड़गुड़ाहट सारे उदरमें होते हैं ।

(६) अवरोही आतके प्लैहिक कोन (Splenic Flexure स्थलीनिक फ्लेक्सर) के ऊपर अवरोध होनेपर वाम पार्श्व भागमें आफरा नहीं आवेगा । इन बातोंका निर्णय कर लेनेके पश्चात् पित्ताश्मरीजन्य शूल, जीर्ण मलावरोध, उदर्याकलाका प्रदाह, उपदश, प्रवाहिका, स्त्री

हो तो गर्भाशय पतन या इतर विकार पहले हो गये हैं या नहीं, यह पूछ कर और परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये ।

उपर्युक्त निर्णय होनेके पश्चात् रोग चिरकारी है या आशुकारी, इस बातका विचार करना चाहिये । फिर अन्त्रावरोधके लक्षणों पर क्रमशः निम्नानुसार लक्ष्य देना चाहिये ।

(१) वान्ति होनेपर पूर्ण अन्त्रावरोध माना जाता है ।

(२) अवरोधके निम्न भागमें रहे हुए मलका विसर्ग कब-कब होता है ? न होता हो; तो मृत्यु कालमें ही मल विसर्जन होता है ।

(३) छोटी आंतके अवरोधसे तीव्र शूल और बड़ी आंतके अवरोध से कुछ कम पीड़ा होती है । अवरोध अपूर्ण होनेपर बीच-बीचमें और पूर्णावरोध होनेपर सतत शूल चलता रहता है ।

(४) अन्त्रावरोधकी विरुद्ध क्रिया, विषशोषण और द्रव पदार्थ वमन द्वारा निकल जाना, इन कारणोंसे बलक्षय होता है । आशुकारी प्रकारमें त्वरित और चिरकारी प्रकारमें देरसे होता है । जितने ऊपरके भागमें अवरोध होगा उतना ही बलक्षय अधिक होता है ।

(५) उदर्याकलाका प्रदाह होनेपर उदरमें असह्य पीड़ा होती है ।

(६०) अन्नवृद्धि (Herna) होनेके सब स्थानों की जांच कर लेनी चाहिये । कारण, इन छिद्रोंमें आंतका प्रवेश हो जानेपर भी अवरोध हो जाता है ।

(७) गुदा और योनिकी परीक्षा भी कर लेनी चाहिये । इस तरह उदरमें कर्कसोट तथा द्रवसंचय हो, तो उनका भी निर्णय कर लेना चाहिये ।

(८) कितनीक बार बस्तिद्वारा जल चढ़ानेसे अवरोधके स्थानका निर्णय हो जाता है ।

सूचना—इस रोगकी चिकित्सा करनेके पहले कारण, लक्षण, शरीरबल, रोगबल आदिको नाड़ी, उदरपरीक्षा और प्रश्न आदिसे जान लेना चाहिये । रोग बढ़ गया हो, तो रोगीको सत्वर शल्य चिकित्सकके

पास भेज देना चाहिये । केवल चिरकारी प्रारम्भिक अवस्था हो और ओषधि-साध्य हो, तो ही ओषधि-प्रयोग करना चाहिये ।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

सब प्रकारके उदावर्त्त रोगोंमें वायुका अनुलोमन (स्व स्व मार्गसे गमन जैसे अधोवायुका नीचेकी ओर जाना, तथा डकार का ऊपरकी ओर आना) कराना, यही मुख्य कर्तव्य है ।

अधोवायु निरोधज उदावर्त्त पर स्वेदन, स्नेहपान, आस्थापन (निरुह) बस्ति, फलवर्त्ति और आनाह (विबन्ध) रोगमें कही विधिसे चिकित्सा करनी चाहिये ।

मलावरोधज उदावर्त्त में (अन्त्रविकृति रहित केवल अपथ्य भोजन जनित मल संचयसे उत्पन्न चिरकारी नूतन और मन्द वेगी रोगमें) मलको प्रवृत्त करने वाले भोजन, मलभेदक और वायुको अनुलोमन कराने वाली हरीतकी आदि औषधियों, फलवर्त्ति, तैलमर्दन, निवाये जलमें बैठना, स्वेदन आदि क्रिया, एवं बद्धगुदोदर और आनाह रोगको दूर करनेवाली चिकित्सा करें । आस्थापन बस्ति, चार बस्ति और वैतरण बस्ति हितकारक हैं ।

बद्धगुदोदरके पश्चात् उत्पन्न हुए मलावरोधज उदावर्त्तमें यदि पूर्ण अन्त्रावरोधका निदान सत्वर न होगा; तो रोगीकी २-४ दिनमें ही मृत्यु हो जाती है । आशुकारी अन्त्रावरोध होने पर यदि विरेचन ओषधि दी जायगी, तो मलसे आंतें पूर्ण भरी होनेसे आफरा, वमन और शूलकी वृद्धि हो जाती है । कदाच शूल मान कर अफीमवाली ओषधि दी जायगी, तो शूल शमन नहीं होगा, किन्तु अन्त्रावरोध और बढ़ जायगा । अतः तीव्र प्रकोप होने पर आपरेशन करा लेना ही हितकर है । अन्यथा अन्त्र-बध हो जाने पर शस्त्र क्रियासे भी लाभ नहीं हो सकेगा ।

बद्ध गुदोदर रोगकी चिकित्सा में जो सूचना की है । वह अन्त्रावरोधज उदावर्त्तमें भी हितावह है ।

बालकोंके आशुकारी अन्त्रान्त्रप्रवेश होने पर नितम्ब प्रदेश को उदरकी अपेक्षा ऊर्ध्व रखकर निवाये तैलकी पिचकारी देनी चाहिये । इस तरह बारबार प्रयोग करते रहना चाहिये ।

अन्त्रान्त्र प्रवेश होने पर टबमें इषद् उष्ण जल भर कर उसमें बालकको बैठावें । उदर पर अफीमका लेप कर ऊपर गरम जल से सेक करें । आयुके अनुसार अफीम और जायफलको घिसकर बालकको पिलावें ।

उदर प्रदेश मसलनेके समय पैरोंको मोड़ देना चाहिये । जिससे उदर प्रदेशकी सब मांसपेशियां शिथिल हो जायँ । फिर धीरे-धीरे अँगुलियों द्वारा कठिन शोथ पर मसलकर अवरोधको दूर करना चाहिये ।

आवश्यकता होने पर बालकको संज्ञाहर (Anaesthetic) ओषधि देकर बेशुद्ध करें । फिर गुदनलिकामें रबरकी नलीको जितनी जा सके उतनी प्रवेश करावें । पश्चात् मलद्वारको अच्छी तरह दबा, पम्प द्वारा वायु प्रवेश करावें । साथ-साथ इतर चिकित्सक या धात्री शिशुके उदर प्रदेशको मसलते रहें । जिससे अन्त्र प्रसारित होकर मुक्त हो जाय ।

अनेक समय वायु प्रविष्ट करानेकी अपेक्षा ड्यूश या पिचकारी द्वारा निवाया जल प्रवेश करा अवरोध मोचनकी चेष्टा अधिक फलप्रद होती है । अवरोध जितना लघु अन्त्रके समीप स्थित हो, उतना ही अधिक उपकार होनेकी आशा रखी जाती है ।

कितनेक चिकित्सक निवाये जलके स्थान पर सोडाबाई कार्ब और इमलीका तेजाब (Acid tartaric) १-१ डामको जलके साथ पृथक् पृथक् गिलासमें मिला; फिर दोनोंका मिश्रण कर पिचकारी द्वारा अन्त्रमें प्रवेश कराते हैं । पश्चात् कार्बोलिक एसिडकी वाष्प देते हैं । परन्तु यह प्रयोग अति सावधानतापूर्वक करना चाहिये । कारण, इससे अन्त्र फट जानेकी सम्भावना है ।

यदि आफरा अत्यधिक आगया हो, तो व्रीहिमुखयन्त्र (एस्पिरेटर) द्वारा उदरकी दीवारमें छिद्र करके वायुको निकाल लेना चाहिये । अनेकवार उदर पर धीरे हाथसे मालिश करने पर वायु निकल जाती है । इस रोगमें स्वल्प लघु पौष्टिक भोजन देकर रोगीके बलका संरक्षण करना चाहिये ।

यदि इस रोगमें ओषधि चिकित्सासे लाभ होनेकी आशा न हो, बलक्षय हो रहा हो, तो शस्त्र द्वारा उदर या आमाशयका छेदन (Gastrotomy), उदरकी दीवारका छेदन (Laparotomy), या अन्न छेदन (Enterotomy) आदि क्रियाका आश्रय लेना चाहिये ।

मूत्रारोघज उदावर्त में दूधकी लस्सी (दूध जल मिलाकर) पिलावें; अथवा जवासा या अर्जुन छालका काथ अथवा ककड़ी के बीजके मगजको जलके साथ पीस छान, नमक मिलाकर पिलावें; तथा मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी रोगमें लिखी हुई ओषधियां देवें । मूत्रप्रसेक नलिकाद्वारसे बस्तिमें रबरकी नली (Catheter) का प्रवेश करा मूत्रको निकाल लेना चाहिये ।

जृम्भाजन्य उदावर्त में स्नेहन, स्वेदन और वातशामक चिकित्सा करनी चाहिये । मुखमण्डलकी मांसपेशियोंकी शिथिलता हुई हो, तो नारायण तैलकी मालिश करें; और पौष्टिक ओषधि अभ्रक आदिका सेवन करावें ।

नेत्राश्रुनिरोधजन्य उदावर्त में स्नेहन और स्वेदन क्रिया करनेके पश्चात् खूब रोदन करा नेत्रमेंसे अश्रुस्राव करावें । थोड़ी शराब या द्राक्षासव पिला सुखपूर्वक शयन करावें; अथवा स्नेहन, स्वेदनके पश्चात् तीक्ष्ण अंजनसे अश्रुस्राव करावें । या सफेद मिर्चको पीस अंजन करानेसे भी अश्रुस्राव होकर नेत्रकी व्यथा शमन होजाती है ।

क्षवथुविधातज उदावर्त में छिका लाने वाले तीक्ष्ण नस्य

सूँघकर सूर्यके सामने देखें ; या नाकमें वस्त्र या कागजकी सलाई या अन्य वस्तु डालकर झिक्का लानेका प्रयत्न करें । कण्ठ-से ऊपरके भागमें तैलकी मालिश, स्वेदन, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण गंधवाली ओषधिका नस्य और धूमपान आदि उपचार करें; तथा घी मिला हुआ भोजन दें ।

उद्गारानियहज उदावर्त्त में घृत मिला हुआ धूमपान करावें ।

छर्दिनियहज उदावर्त्त में नस्य, स्नेहन, भोजन करके घमन, धूमपान, लंघन, रक्तमोक्षण, विरेचन, जवाखार और लवण मिले तैलकी मालिश, रुक्ष अन्नपान, विरेचन और व्यायाम आदि क्रिया हितावह है ।

शुक्रज उदावर्त्तमें बस्ति स्थान को शुद्ध करने वाली ओषधियोंका कल्क और चतुर्गुण जल मिला कर दूधको सिद्ध करें । फिर मिश्री मिलाकर पिलावें । इस विकार वालेके लिये स्त्री सहवास, तैलाभ्यंग, जलमें बैठना, मद्यपान, मुर्गेके मांस या शालि चावल और दूधका भोजन तथा निरुहण बस्ति आदि हितकारक हैं ।

क्षुद्रविघातज उदावर्त्तमें स्निग्ध, उष्ण, रुचिकर और हलका थोड़ा भोजन तथा सुगन्धि पुष्पोंका सेवन हितकारक है ।

तृष्णा विघातज उदावर्त्त शमनार्थ मन्थ (सत्तू को घी के साथ मिला जलमें घोल, घी, शक्कर और अनारदानेका रस मिला हुआ) या शीतल यवागू पिलाना चाहिये । शर्बत या शीतल जलपान बार-बार थोड़े-थोड़े परिमाणमें सेवन कराना चाहिये ।

श्रमज उदावर्त्त में विश्रान्ति और मांसरस मिले भातका भोजन देना चाहिये ।

निद्रा विघातज उदावर्त्त में रात्रिको मिश्री मिला भैंसका दूध पिलावें; दिनमें भी सुन्दर शय्या पर शयन करा हाथ पैर दबावें, और प्रीतिकर कथाका श्रवण करता हुआ इच्छानुसार सुलावें ।

अपथ्यज उदावर्त्तकी चिकित्सामें नमक मिले तैलका मर्दन, स्नेहन, स्वेदन, निरूहण बस्ति, फटे हुए पतले दस्त पर अनुवासन बस्ति और दारुण रोगमें एरंड तैलका विरेचन, ये सब हितकारक है। उदर पर शोक करने और फलवर्त्ति को घी वाली कर गुदामें चढ़ानेसे आफरा दूर होता है, तथा मल शुद्धि होकर उदावर्त्त शमन होता है। विशेष मलावरोधज उदावर्त्तमें कहे अनुसार चिकित्सा करें।

उदावर्त्तमें आफरा और शूल आदि जो उपद्रव होते हैं, उनको दूर करनेके लिए सत्वर यथोचित प्रयत्न करना चाहिये।

मलावरोधज उदावर्त्त चिकित्सा ।

(१) गोदुग्ध या सोंठके क्वाथमें एरंड तैल मिलाकर पिलानेसे कोष्ठशुद्धि होकर उदरवात, उदावर्त्त और आनाह रोग दूर होते हैं।

(२) हींग और सैधानमकको शहदमें मिला गरम करें। फिर बत्ती बना, घी लगा गुदामें चढ़ानेसे अपानवायु और मल का अवरोध दूर होकर आनाह और उदावर्त्त रोग नष्ट होते हैं। सामान्य रीतिसे हींग और सैधानमक १-१ तोला और शहद २ तोले मिला मंदान्नि पर पचन करके बत्ती बनानी चाहिये।

(३) रसतन्त्रसारमें लिखी हुई फलवर्त्ति या त्रिकट्वादि वर्त्ति (२० ८६५) गुड़ या शहदकी चासनीमें बनाकर चढ़ानेसे अधोवायु और मलावरोधज उदावर्त्त तथा आनाह नष्ट होते हैं।

(४) नाराच चूर्ण (२० ७०१) का विरेचन देनेसे आनाह और मलावरोधज उदावर्त्त शमन होते हैं। विरेचन करानेमें यह उत्तम औषधि है।

(५) श्यामादि वटिका—काली निसोतकी छाल और बड़ी हरड़ को समभाग मिलाकर चूर्ण करें। फिर थूहरके दूधमें १२

घण्टे खरल कर चने बराबर गोलियाँ बनालें । इसमेंसे १-१ गोली निवाये जल या दूधसे प्रातःकाल देनेसे अपथ्य जनित उदावर्त्त और आनाह रोग दूर होते हैं । गोली देनेके एक घण्टे बाद ५ से १० तोले सौंफका अर्क पिलावें ।

(६) मूलीका चार या जवाखार २ माशेको ६ माशे गोघृत में मिलाकर सुबह चटा देनेसे वायु अनुलोम होकर उदावर्त्तका शमन हो जाता है ।

(७) जवाखार २ माशे, मिश्री ६ माशे और मीठी अंगूर का रस ५ तोले मिलाकर पिला देनेसे वायुकी गति सम्यक् हो जाती है ।

(८) शंख भस्म ६ रत्ती ६ माशे गुड़के साथ मिलाकर खिलानेसे उदावर्त्त नष्ट होता है ।

(९) हरड़, जवाखार, पीलूके फल और निसोत, सबको समभाग मिला चूर्ण बना कर उसे ४ माशे तक घीके साथ सेवन करानेसे उदावर्त्त नष्ट होता है ।

अधोवायुजन्य उदावर्त्त चिकित्सा ।

(१) हिंवादि चूर्ण—भूनी हींग २ तोले, कूठ ४ तोले, वच ६ तोले, सज्जीखार ८ तोले और बिड़नमक १० तोले लें । सबको मिला चूर्ण कर १-१ माशा शराबके साथ पिलानेसे उदावर्त्त रोग दूर होता है ।

(२) फलवर्त्ति (२० ८६५) चढ़ानेसे अधोवायुकी शुद्धि होती है ।

(३) शुद्ध लहशुनको शराबमें मिलाकर भोजनके साथ सेवन करानेसे गुल्म, उदावर्त्त और शूल नष्ट होकर अग्नि प्रदीप्त होती है; तथा बलकी वृद्धि होती है ।

(४) काशीफलके टुकड़ेको गरम कर नाभिपर सेक करनेसे अपान वायुकी गति अनुलोम हो जाती है ।

(५) लघु पञ्चमूलके काथमें दूध मिला सिद्ध कर पिलाने से वायु अनुलोम होती है ।

(६) वचादि चूर्ण—वच, हरड़, चित्रकमूल, जवाखार, पीपल, अतीस और कूठको समभाग मिलाकर चूर्ण करे । फिर ३-३ माशे चूर्ण निवाये जलके साथ देनेसे आनाह और अधोवायु जनित उदावर्त्त दूर होते हैं । दूध-भात, छाछ-भात, या मांस रस और भातका भोजन देवें ।

मूत्रज उदावर्त्त किचित्सा ।

(१) कुश-कासादि पञ्चतृणमूल ४ तोलेके साथ १६ तोले दूध और १६ तोले (मतांतरमें दूधसे ४ गुना जल) मिला दुग्धा-वशेष काथ कर छोटी इलायचीका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे मूत्रा-वरोधज उदावर्त्त दूर होता है ।

(२) पलाशके फूल और कलमी शोराको या मूषक (चूहे) की विष्ठाको जलमें पीस बस्ति स्थान पर लेप करनेसे वायु शमन होकर मूत्रावरोध दूर हो जाता है ।

(३) जवाखार और मिश्रीको सारिवा अथवा मुनक्काके काथ में मिलाकर पिलानेसे मूत्रावरोधज उदावर्त्त शमन होता है । इस तरह शतावरी या पेठेके स्वरसमें मिश्री मिलाकर पिलानेसे भी लाभ हो जाता है ।

(४) छोटी इलायचीके चूर्णके साथ ताड़ी पिलानेसे मूत्रज उदावर्त्त शमन होता है ।

(५) धमासाका स्वरस या काथ अथवा अर्जुन छालका काथ या ककड़ीके मगजकी ठण्डाई बना सैधानमक मिलाकर पिलानेसे मूत्रावरोधज उदावर्त्त निवृत्त होता है ।

(६) घोड़े या गधेकी लीदका रस २ तोले और जल ५ तोले मिलाकर पिलानेसे उदावर्त्तकी निवृत्ति होती है ।

(७) आँवलोंका स्वरस २-२ तोले जलमें मिलाकर ३ दिन तक पिलानेसे मूत्रोदावर्त्त नष्ट होता है ।

(८) तत्काल निकाला हुआ ईखका रस, दूधकी लस्सी या सुलहठीका काथ पिलानेसे मूत्रावरोधज उदावर्त्त रोग दूर होता है ।

(९) शुष्क मूलाद्य घृत—सूखी कोमल मूली, अदरख, पुनर्नवा, बृहत् पञ्चमूल और अमलतासके फलका गूदा, इन ६ ओषधियोंको समभाग मिलाकर ४ सेर लेवें । फिर ८ गुना जल मिलाकर काथ करें । चतुर्थांश (८ सेर) रहने पर छान लें । फिर गोघृत २ सेर मिलाकर यथाविधि पाक करें । इस घृतमेंसे १-१ तोला सेवन करानेसे उदावर्त्त रोग निःसंदेह दूर होते हैं ।

(१०) स्थिराद्य घृत—शालपर्णी, पृथपपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, पुनर्नवा, अमलतासकी फलीका गूदा, दुर्गन्ध करंज और करंज, इन सबको ८-८ तोले ले ८ गुने जलमें मिला कर चतुर्थांश काथ करें । फिर छान ६४ तोले गोघृत मिलाकर घृत सिद्ध करें । इस घृतमेंसे १ से २ तोले तक दिनमें २ समय देते रहनेसे वायुकी गति अनुलोम हो जाती है ।

अपथ्यज उदावर्त्त चिकित्सा ।

(१) इच्छा भेदी रस (२० ३६६), अश्वकंचुकी रस (२० ३४०), नारायण चूर्ण (२० ६७८), या नाराच चूर्ण (२० ७०१) देकर पहले कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये ।

(२) आम्राधिक जीर्ण रोग होने पर—सुवर्णभूपति रस (२० ३०२ अदरखके रस और शहदके साथ) या बृहद् योग-राज गूगल (२० ४६६ एरंड तैल या रास्नादि अर्कके साथ) का

सेवन कराना चाहिये । आवश्यकता होने पर अनुपान रूपसे अभयारिष्ट (२० ७६५) देते रहे ।

(३) वातपित्त प्रकोपसह हो तो सूतशेखर रस और वराटिका भस्म का सेवन अदरखके रस और शहद के साथ या च्यवन प्राशावलेहके साथ करावें ।

(४) मलावरोधज उदावर्तमें कहे हुए सब उपचार इस प्रकार में हितकारक हैं ।

(५) हिग्वादि द्विरुत्तर चूर्ण—भूनी हींग २ भाग, बच ४ भाग, कूठ ६ भाग, काला नमक ८ भाग और बायविडंग १० भाग मिलाकर कपड़झान चूर्ण करें । इस चूर्णमेंसे २ से ३ माशे निवाये जलके साथ देते रहनेसे आमोद्भव आनाह, विसूचिका, हृद्दरोग, गुल्म और वातकी विलोम गति इत्यादि विकार शमन होते हैं ।

(६) पचनक्रिया अति मन्द हो गई हो तो—वज्रक्षारचूर्ण (२० ६८४), घनंजय वटी (२० ६३६), या अग्नितुण्डी वटी (२० ४३०) का सेवन कराना चाहिये ।

(७) वैद्यनाथ वटी—हरड़, सोंठ, मिर्च, पीपल, रससिद्धूर, ये सब २-२ तोले तथा शुद्ध जमालगोटा ४ तोले मिलाकर मण्डूकपर्णी और अम्लोनिषाके रसमें ३-३ दिन खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । फिर १-१ गोली जल, गोमूत्र या हरड़के काथ अथवा शर्बतके साथ देनेसे कोष्ठ शुद्धि होकर अपथ्यज उदावर्त रोग नष्ट हो जाता है; तथा उदर रोग, गुल्म, पाण्डु, कृमि, कुष्ठ, खुजली, फुन्सियाँ आदि रोगकी भी निवृत्ति हो जाती है ।

(८) श्यामादि गण—वैज्ञानिक विचारणा पृष्ठ ७१ में लिखी हुई औषधियोंको मिलाकर कपड़झान चूर्ण करें । फिर ३ से

६ माशे तक निवाये जलके साथ देने या २ तोलेका काथ कर पिलानेसे उदरशोधन होकर उदावर्त्त, उदररोग, आनाह, विष-विकार और गुल्म आदि दूर होते हैं ।

यदि इन ओषधियोंका कल्क और काथ बना शास्त्रमर्यादा-नुसार घृत सिद्ध करके सेवन कराया जाय, तो उदावर्त्त रोगमें अधिक फल दर्शाता ।

(६) लेप—बांबीकी मिट्टी, करंजकी छाल, मूल, फल और पत्ते, तथा राईको गो मूत्रमें मिला गरम कर उदर पर लेप करनेसे वायु अनुलोम होती है ।

पथ्यापथ्य विचार ।

पथ्य—स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, वस्ति, फलवर्त्ति, तैलाभ्यंग, लंबन, पाचन ओषधि, निवाये जलसे स्नान, शुद्ध वायुमें घूमना, मूत्रल और वायुकी गतिको अनुलोम करने वाले आहार-विहारका सेवन, घी मिला हुआ पुराने चावलोंका भात, भूने गेहूँ या भूने जौ का दलिया, एरंडतैल, अदरक, तिलके पत्ते, दूध, साबूदाना, कच्चे नारियलका जल, पपीता, ईख, बिहदना, अनार, संतरा, मुसम्बी, मीठा नीबू, बिजौरा, मुनक्का, आंवलोंका मुरब्बा, हाँग, ग्राम्य पशुका मांसरस, जलजीवोंका मांसरस, गुड़से बनी हुई सीधु नामक शराब, अनूप देशके जीवोंका मांसरस, कच्चा केला, कोमल मूली, बैंगन, बथुआ, परवल, गूलर, पक्का पेठा, अम्लमधुर रसयुक्त सारक पदार्थ, गोमूत्र, निसोत, हरड़, जवा-खार, लौंग और सैधानमक आदि हितावह हैं ।

पीपलका चूर्ण मिलाकर भूने हुए जौका घूस या कोमल मूली का रस घृत मिलाकर पिलानेसे उदावर्त्त और वातगुल्म दूर होते हैं ।

भूने हुए जौका सत्तू दूध या मूलीके रसके साथ सेवन

कराने से वायु सत्वर अनुलोम होती है। इस तरह सैधानमक-आदि लवण मिलाकर वातशामक अन्नका यूष पिलानेसे थोड़ेही दिनोंमें प्रकृति स्वस्थ होजाती है।

मूलीका क्षार या जवाखार २ माशे ६ माशे घीके साथ सुबह सेवन करना अति लाभदायक है।

अपथ्य—वमन, अधोवायु और मलमूत्र आदि वेगोका धारण, सिस्वी आदि द्विदलधान्य, पक्का भोजन, भोजन पर भोजन, कोदो आदि रुक्ष भोजन, रात्रिका जागरण, मैदेके पदार्थ, नाड़ी-शाक, भसीडा, तिलकी खली, जामुन, ककड़ी, आलू, अधिक परिश्रम, अधिक खट्टे पदार्थ, मलावरोध करने वाले पदार्थ, शोक, चिन्ता, क्रोध, उष्ण वीर्य पदार्थ, मैथुन, (शुक्र निरोधज उदावर्त से इतरमें) चाय, तेज शराब, बीड़ी, सिगरेट आदिका व्यसन, पक्का भोजन और मांस सेवन आदि अपथ्य है।

कामला रोग ।

कामला-यरकान अस्फर-जोन्डिस-इक्टेरस—Jaundice-Icterus ।

रोग परिचय—जब यकृतमेंसे निकलनेवाली पित्तवाहिनीके मार्गमें रुकावट होनेपर पित्त रक्तमें मिल जाता है, अथवा यकृत और पित्ताशयमेंसे निकलनेवाली पित्तवाहिनियों का जहाँ संगम होता है, उस स्थानपर पित्तवहा स्रोतसका रोध होनेसे पित्त अन्त्रमें जानेके बदले रक्तमें मिल जाता है, तब कामलारोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है। यदि मुख्य पित्तवाहिनीमें अवरोध होनेसे कामला होता है; तो सारा शरीर १०-१२ घण्टेमें ही या १ दिनके भीतर पीला हो जाता है। यदि साधारणी पित्तनलिकामें अन्तराय होता है, तो उतनी शीघ्रतासे पीलापन नहीं आता। एवं अधिक पीलापन भी नहीं आता।

यकृतकार्य—कामला रोग की सम्प्राप्ति यकृद्विकृति होनेपर होती है । अतः यकृतके स्थान और कार्यका विचार करनेकी आवश्यकता है । इसमेंसे स्थान, आकृति अवयव आदि का वर्णन यकृतपरीक्षाके साथ चित्रसह चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ १४२ में दिया है । वहाँपर आहार रसशोधन, पित्तनिर्माण और मधुरक रक्षण, ये ३ कार्य संक्षेपमें कहे हैं । यहाँपर इन कार्यों का अधिक विस्तार करते हैं ।

(१) **आहाररसशोधन**—आमाशय, अन्न, अग्न्याशय (Pancreas), प्लीहा और पित्तकोष आदिके अशुद्ध रक्तको प्रति-हारिणी सिरा (Portal Vein) वहन करती है । यह शिरा रसमिश्रित रुधिरको यकृतके भीतर रासायनिक परिवर्तनके लिये ले जाती है । यकृत के भीतर यह शिरा अनेक शाखाओंमें विभक्त हो जाती है । इन सबको कण्डिकान्तराला (Interlobular Veins) कहते हैं । इन शाखाओं द्वारा यकृत की कण्डिकाओंमें रहे हुए सूक्ष्मकोष वृत्ति होने तक रुधिर पीते रहते हैं । फिर वे इस रक्तमेंसे पित्त बनाते हैं; और रक्तको शुद्ध करते हैं । पश्चात् याकृती शिराओंकी सूक्ष्म शाखाओं द्वारा संगृहीत होकर रुधिर अधरा महासिरामें चला जाता है ।

यकृतके कोष (Liver cells) पाचन क्रियाके परिणाममें अन्न के भीतर तैयार हुए भुक्त रसके सत्वका उपयोग करते हैं; और हानि-कारक पदार्थों को देहसे बाहर निकलनेमें सुविधा रहे इसलिये उनको यूरिया आदिके स्वरूपमें बदलकर मूत्रपिण्डोंकी ओर भेज देते हैं । यह यूरिया विशेषतः प्रोटीन (मांसवर्धक-पौष्टिक पदार्थों) में से बनता है । ज्वर प्रयोगार्थ पशुओंके यकृतको निकाल डालते हैं । फिर प्रोटीन खिलाने पर भी यूरिया नहीं बनता; अमोनिया बन जाता है । इस परसे जाना जाता है कि, यदि यकृत इस कार्यको सम्यक् रूपमें न कर सके, तो नत्रल पदार्थ (Nitrogenous substances) देहको लाभके बदले हानि पहुँचायेंगे ।

(२) **पित्तनिर्माण**—यकृतका द्वितीय कार्य पित्त निर्माण करनेका

है। पित्तका रंग अति पीला, स्वादमें कड़वा और प्रवाही है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। यह पित्त प्रतिहारिणी शिरा द्वारा आये हुए रक्तमेंसे यकृतके कोषाणु द्वारा बनता है। पित्त २४ घण्टेमें ३० से ४० औंस तक निकलता रहता है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०२५ से १०३० है। यदि यह अधिक समय तक पित्ताशयमें रह जाय, तो श्लेष्मा मिश्रित होकर चिपचिपा बन जाता है।

इस पित्तमें जल, पैत्तिक क्षार, लवण, पित्ताशिमक (कोलेस्टेरिन—Cholesterin), पित्तरजक (Bilirubin and Biliverdin) और श्लेष्म मिले हुए हैं। इनमें जल ५ भाग, पैत्तिकक्षार (अम्लपित्तसे उत्पन्न—Bilin) १० भाग, पित्तरजक ३ भाग और लवण तथा पित्ताशिमक १-१ भाग हैं।

इस पित्तके मुख्य ५ कार्य हैं। (१) आमाशय रसको उदासीन करना, (२) ग्लाइकोजनको शर्करामें परिवर्तन करनेमें सहायता देना, (३) वसाका घोल बनाना, (४) वसा पचन होनेमें सहायता देना और (५) अन्नमें आहारको आगे जानेके लिये पुरःसरण क्रिया करने की शक्तिप्रदान करना, ये पाचो कार्य पित्तके स्थावसे होते रहते हैं। यदि संचेपमें कहा जाय, तो पित्त पाचक स्त्राव (Secretion) और त्याज्य पदार्थका उत्सर्गमल (Excretion) भी है। पाचकस्त्राव होनेसे वसा को पचन कराता है, और प्रेरणाशक्ति बढ़ाता है। एवं उत्सर्गरूप होनेसे महास्रोत (आत) में रहे हुए हानिकर त्याज्य द्रव्यों को शरीरसे बाहर निकालता है।

पित्त सर्वदा निकलता रहता है; किन्तु भोजनके ४ घण्टे पश्चात् अधिक रूपमें बनता है। जब आवश्यकता न हो, तब पित्ताशयमें संचित होता रहता है। फिर आमाशयमेंसे आहाररस जब प्रवृत्तीमें आता है; तब परिवर्तित क्रियाका प्रारम्भ हो जाता है। इस क्रियासे पित्ताशय संकुचित होकर अपने पित्तको आतोंमें भेज देता है। पित्त यदि आतोंको न मिले, तो अन्न पचन विशेषतः वसापचन और अन्नका सात्म्य नहीं हो

सकता । अन्नकी प्रेरणाशक्तिमें भी बाधा पहुँचती है । अन्न जल्दी आगे नहीं जा सकता । फिर अन्नस्थ कृमियोंको सुविधा मिल जाती है । जिससे अन्नमें फेनीभवन और सड़ने को क्रिया प्रारम्भ हो जाती है ।

भोजनमें जितनी प्रोटीन आती है; वह सब पित्त, आन्त्रिक रस और आग्नेय रसके सम्बन्धसे पृथक् होकर पच जाती है । फिर उसका अन्न की दीवारमें शोषण होकर प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृतमें प्रवेश हो जाता है । पश्चात् वह उसके मल भागको पृथक् कर यूरिया और यूरिक एसिडके रूपमें परिवर्तित करके वृक्की ओर भेज देता है । कामला या पाण्डु रोगमें जब पित्त आंतोंमें कम आता है; तब रोगीको मलावरोध हो जाता है; और शोथ आजाता है । जब पित्तस्रोतमें किसी भी हेतुसे प्रतिबन्ध हो जाता है; तब पित्तका क्षुद्र-क्षुद्र अंश लसीका-स्रोतमें प्रवेश कर जाता है । फिर आगे शिरामें जाकर रुधिरमें मिल जाता है । जिससे मलका वर्ण पीला हो जाता है ।

पित्तमें जो पित्तलवण है, वह यकृतमें उत्पन्न होता है । यदि पित्त-वाहिनियोंको बांध दें, तो पित्तलवण सारे शरीरमें इकट्ठा हो जाता है । इस तरह यदि यकृतको ही देहसे पृथक् कर दिया जाय, तो इस लवणकी देहमें प्रतीति ही नहीं होती । इसपर से जाना जाता है कि, यह लवण यकृतमें होता है ।

इस पित्तमें जो रंजक द्रव्य है, वह रक्तमें रहे हुए रंजक (Haemoglobin) मेंसे बनता है । नाना प्रकारके शारीरिक व्यापारके हेतुसे सर्वदा रक्ताणुओंका कुछ-न-कुछ अंशमें नाश होता रहता है । ये नष्ट हुए रक्ताणु प्लीहामें आते हैं । फिर इन्हें प्लीहा लीन कर लेती है । पश्चात् इनमेंसे जो रक्तरंजक निकलता है; वह प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृतमें जाता है । वहाँपर कण्डिकांतरला शिरा (Interlobular Veins) द्वारा विश्लिष्ट होता है । पश्चात् याकृतकोषोंमें जानेपर पित्त-रंजक बन जाता है । जब तीव्र संक्रामक ज्वर और पाण्डु रोग (सौम्य, तीव्र और असाध्य सब प्रकारके पाण्डु)में रक्तजीवाणुओंका भयंकर संहार

होनेसे बहुत रजक और श्लेष्म पित्तमे आ जाते हैं; तब पित्तमे रजक द्रव्य और श्लेष्मवृद्धि होकर पित्त गाढ़ा और चिकना होजाता है । फिर पित्तवह स्रोतोंमेसे सरलतापूर्वक पित्तस्राव नहीं होता, और स्रोतसे खूब भर जाती हैं । जिससे कामला हो जाता है । इस कामलामे देह जैसी पीली हो जाती है, उसके समान कुछ पीलापन पाण्डु रोग और संक्रामक ज्वरके पश्चात् भी हो जाता है ।

(३) मधुरक रक्षण—यकृतका तीसरा कार्य मधुरक रक्षण है । अपन जो शर्करा, गुड़ चावल, आलू, अगूर आदि मधुर पदार्थ खाते हैं । उन सबका आंतोकी पचनक्रिया द्वारा द्राक्षोज (Glucose) रूपमे परिवर्तन हो जाता है । फिर प्रतिहारिणी शिराके रक्तके साथ मिल कर यकृतमे आनेपर याकृतकोष उसका मधुरक (Glycogen) बनाकर अपने पास संग्रह कर लेता है । फिर आवश्यकतापर पुनः ग्लुकोज बना कर रक्तमें भेज देता है ।

जब मधुर रस प्रधान (Carbon) भोजन किया जाता है, तब प्रतिहारिणी शिराके रक्तमे शर्करा १ प्रतिशत ही रहती है । कारण, उस शर्कराको यकृत अपने भीतर संचित कर लेता है; और आवश्यकता-नुसार फिर याकृतनी शिरा द्वारा सारे शरीरमे भेजता रहता है । इस हेतुसे रक्तमे शर्कराका परिमाण नियमित रहता है । मासपेशियोंको कार्यक्षम बननेके लिये शर्करा (Dextrose or Glucose) की आवश्यकता रहती है, यह इस रक्त द्वारा मिलती रहती है । सामान्य रीतिसे रक्तमें द्राक्षोजका परिमाण १ प्रतिशत रहता है । यदि किसी हेतुसे या किसी प्रयोग द्वारा २ प्रतिशत होजाय, तो अधिक शर्करा मूत्रके साथ बाहर निकल जाती है । यह मधुरक विशेष रूपमे कार्बोहाइड्रेट्समेसे बनता है । एव मासवर्धक प्रोटीनरूप पदार्थोंमेसे भी कुछ शर्करा मिल जाती है किन्तु वसामेसे यह मधुरक बिल्कुल नहीं मिलता । इन कार्बोहाइड्रेट्स आदिका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ ७४७ में किया है ।

यकृतके उपर्युक्त तीनों कार्योंके अतिरिक्त विषनाशन (Des-

struction of Ptomaines and other poisons) और कीटाणु-नाशन (Phagocytosis) कार्यको भी करता है । जिस तरह प्रोटीनके दूषित अंशोंसे यूरिया बना डालता है; उस तरह विषको भी अनेक अंशमें रूपान्तरित कर देता है; और अनेक प्रकारके हानिकर कीटाणुओंको भी नष्ट कर देता है ।

प्रतिहारिणी शिरा—(Portal vein) यह शिरा पचनेन्द्रिके सब अवयवों (गुदा मार्गके नीचेके भागके अतिरिक्त) के अशुद्ध रक्तको खेंच लेती है । इसमें आमाशय और अन्त्रमेंसे आये हुए रसमिश्रित रक्तका रासायनिक परिवर्तन न हो जाय; तब तक वह अधरामहाशिरा (Inferior Vena Cava) में नहीं जाने देती । इसपरसे इस शिराका नाम प्रतिहारिणी (रोकने वाली) रक्खा गया है । यह शिरा लगभग ४ अंगुल लम्बी है । यह दूसरी कटिकशेरुकाके पाससे प्रारम्भ हो, टेढ़ी होकर ऊर्ध्वगति कर यकृत की ओर जाती है । यह शिरा उत्तरान्त्रिकी शिरा (Superior Mesenteric vein) और प्लैहिकी शिरा (Splenic vein) मिलकर बनती है ।

इस यकृतका अग्न्याशय, वृक्स्थान और प्लीहासे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । अग्न्याशयमें आग्नेयरस (इन्सूलिन-Insuline) बनता है, जो रक्तमें मिल जाता है; और रक्तद्वारा यकृतमें पहुँच कर यकृत को अधिक शर्करा बनाने से रोकता है । जब इस अग्न्याशयमें विकृति आ जाती है, तब यकृत निरंकुश बनकर अधिक शर्करा बनाने लग जाता है ।

वृक् यकृतके लिये अति सहायक इन्द्रिय है । यकृत यूरिया आदि मलको बनाता है । वृक् उसे शरीरमेंसे बाहर निकालकर रक्तको शुद्ध रखता है । यदि इन दोनोंमेंसे किसी एककी विकृति हो जाय, तो दूसरेपर भी असर पहुँच जाता है । यकृत व्याधिग्रस्त होनेपर मूत्रमें अन्तर पड़ जाता है; और वृक् रोगी बननेपर यकृतके कार्यमें क्षति पहुँच जाती है ।

प्लीहा और यकृत, दोनोका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। सक्रामक ज्वर आदि व्याधियोंमें दोनो बढ़ने लगते हैं, और जीर्ण रोगोंमें दोनों सकुचित होने लगते हैं। इस तरह परस्पर एकके विकारका दूसरेपर असर हो जाता है।

कामला निदान—जो पाण्डु रोगी खट्टे, चरपरे आदि पित्त-प्रकोपक आहार विहारका अधिक सेवन करता है; उसका पित्त रक्त और मांसको जलाकर कामला रोगकी उत्पत्ति करा देता है, किन्तु कितनेक रोगियोंको पाण्डु रोग न होने पर भी पित्त-प्रकोप होनेसे कामला रोग हो जाता है। इस हेतुसे भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

**यो ह्यामयान्ते सहस्राब्जमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम् ।
करोति पाण्डुं वदनं विशेषात्तन्द्राबलत्वं प्रथमोदिताञ्च ॥**

जो मनुष्य पाण्डु या इतर रोगके अन्तमें एक दम (शरीर बल या जठराग्नि बल निर्बल होने पर भी) अपथ्य खट्टे पदार्थ खाने लग जाते हैं; उसका पित्त अति प्रकुपित होकर मुँहको पाण्डु (पीला-सा) बना देता है। एवं तन्द्रा, निर्बलता, सब पदार्थ पीले दीखना, पीली नसें चमकना तथा नेत्र, मल-मूत्र, नख, मुख आदि पीले हो जाना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इस तरह श्री वाग्भट्टाचार्यजी अष्टाङ्ग हृदयमें लिखते हैं कि—

“भवेत्पित्तोन्वणस्यासौ पाण्डुरोगाद्वेऽपि च ।”

पाण्डु रोग न होने पर भी पित्त-प्रकोप होनेसे इस कामला रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है।

कामला लक्षण—इस रोगमें पहले नेत्रमें पीलापन आता है। पश्चात् शरीर, नख, त्वचा, रक्त और मल-मूत्र आदि सब पीले हो जाते हैं। मुखका रंग मेंढकके सदृश पीला हो जाता है; और शरीर बल नष्ट हो जाता है। शिरदर्द, चक्कर, दाह, बेचैनी,

मलावरोध, सफेद-मैला या पीला दस्त, अपचन, नाकमें से थूक के साथ और दस्तमें कभी-कभी रक्त जाना, दुर्बलता, अरुचि, रोग वृद्धि होने पर पीला पसीना और वस्त्र भी पीले हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

कितनेक विद्वानोंके अनुभव अनुसार कामला रोगमें निम्न ओष्ठके भीतरकी श्लैष्मिक कला पीली हो जाती है । सामान्यतः यह त्वचा सर्वदा मुलायम और लाल रहती है । कामला रोगमें कहे हुए इतर लक्षण यदि प्रतीत होते हों; और निम्न ओष्ठकी श्लैष्मिक कला रक्तवर्णकी हो, तो कामला नहीं माना जायगा । इसके विपरीत यदि यह श्लैष्मिक कला पीली हो गई हो; किन्तु इतर लक्षण स्पष्ट न हों, तो भी कामला रोग माना जाता है ।

‘कामला बहुपित्तैवा कोष्ठशाखाश्रया मता’ इस चरक संहिता और माधव निदानके वचनके अर्थमें कितनेक टीकाकारोंने भूल की है । इन टीकाकारोंने भ्रान्तिवश कामला रोगके कोष्ठाश्रित और शाखाश्रित, ऐसे दो विभाग दर्शाये हैं; किन्तु केवल कोष्ठाश्रित कामला कभी हो ही नहीं सकता । इस सम्बन्धमें श्री वाग्भटाचार्यने अष्टाङ्ग हृदयके निदानस्थानमें अति स्पष्ट रूपसे समझानेके लिये लिखा है कि:—

यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तं तस्य कामलाम् ।

कोष्ठशाखाश्रयां पित्तं दग्ध्वाऽसृज्मांसमावहेत् ॥

अर्थात् जो पाण्डुरोगी मिर्च आदि पित्तवर्धक पदार्थोंका अधिक सेवन करता है; उसकी देहमें कोष्ठ (महास्रोत) और शाखा (रक्तादय), इन दोनोंके आश्रय वाला पित्त रक्त और मांसको जलाकर कामला रोगकी उत्पत्ति कर देता है । इस आचार्य-वचन और उसकी सर्वाङ्ग सुन्दरा टीका परसे दो प्रकार के कामला होनेका संदेह निवृत्त होजाता है ।

कुम्भकामला यक्ष्ण—कामला रोगकी उपेक्षा करने पर रोग-जीर्ण होनेसे जब उदर कुम्भके सदृश बड़ा होजाता है, हाथ, पैर, गाल या सारे शरीर पर शोथ आजाता है; तथा शरीर रूक्ष, हाथ पैरकी चमड़ी फटना, दाह, वमन, अरुचि, उबाक, हाथपैर टूटना, काले-पीले रंगके अतिसार होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं; तब कुम्भकामला कहलाता है ।

जब इस कुम्भकामलाके लक्षणोंके साथ ज्वर, अंग टूटना, चक्कर, थकान, तन्द्रा, बलक्षय और थोड़ेसे श्रममें श्वास भरजाना आदि लक्षण बढ़ जायँ, तब वह भगवान् धन्वन्तरिजीके मतसे लाघरक और अलसक कहलाता है ।

कामलाके असाध्य लक्षण—पतले, काले-पीले दस्त, बारबार थोड़ा-थोड़ा पेशाब होना, शोथ, भयंकर वेदना, दाह, अरुचि, तृषा, आनाह, तन्द्रा, मोह, जठराग्नि नष्ट होजाना, नेत्र और मुँह लाल होजाना, इस तरह वमन और मल-मूत्रका वर्णभी लाल होजाना तथा संज्ञानाश इत्यादि लक्षण होने पर कामला रोगी नहीं बच सकता ।

कुम्भकामलाके असाध्य लक्षण—वमन, अरुचि, उबाक, ज्वर, ग्लानि, श्वास, कास, बार-बार पतले फटे हुए दस्त लगना इत्यादि उपद्रवोंसे पीड़ित होने पर कुम्भकामला रोगी चला जाता है ।

कामला का डाक्टरी निदान-लक्षण ।

डाक्टरीमें कामला रोगको लक्षण रूप माना है । इस मतके अनुसार जब पित्तनिःसरणरोध अथवा पित्तस्त्रावमें प्रतिबंध होता है; तब पित्त (अन्त्रमें न जाकर) रक्तमें प्रवेश कर जाता है, वह कामला कहलाता है । यकृतके दक्षिण पिण्ड और वामपिण्डके पित्तस्रोतोंके संयोगसे उत्पन्न होने वाली याकृती पित्तनलिका (Hepatic duct or bile

duct) अथवा साधारणी पित्त नलिका (Common duct), इन दोमेंसे एक या दोनोंके मार्गका निरोध होने पर कामला रोगकी उत्पत्ति होती है । जब पित्त यकृतमें रही हुई रसायनियों (Lymphatics) द्वारा वाम रसकुल्या (Thoracic duct) में होकर फिर वाम गल-मूलिका शिरा (Left innominate vein) के रक्तमें मिल जाता है; तब देहका वर्ण पीला होने लगता है ।

यदि इन दोनों पित्तनलिकाओंका कृत्रिम रीतिसे अवरोध किया जाय; तो भी कामला हो जाता है । परन्तु इन दोनों नलियोंमें अवरोध होने पर यदि रसकुल्याको ही स्नायु-बंधनिका (Ligature) से अवरुद्ध कर दी जाय, तो पित्त शिरामें प्रवेश नहीं कर सकेगा; और कामला भी नहीं हो सकेगा । इस तरह यकृतमेंसे निकलने वाली पित्तनलिका मुक्त हो; और पित्ताशयमेंसे निकलनेवाली पित्तकोष नलिका (Cystic duct) में प्रतिबन्ध आ जाय, तो भी कामला नहीं होता । याकृती पित्तनलिका या साधारणी पित्तनलिकाका अवरोध होने पर ही कामला होता है ।

इन पित्तनलिकाओंके अवरोधके कारणोंका वर्गीकरण करने पर मुख्य दो वर्ग होते हैं । बाह्य कारण (भौतिक अवरोध) जन्य और आन्तरिक कारणजन्य (पित्तमें चिपचिपापन-सांद्रता-Viscosity आ जाने पर) कामलाकी प्राप्ति होती है ।

(१) बाह्य कारणजन्य कामला निदान—भौतिक अवरोधजन्य कामलाकी उत्पत्तिके निम्नानुसार अनेक हेतु हैं ।

अ—पित्तनलिकामें विजातीय पदार्थ द्वारा अवरोध-पित्ताश्मरी, घनीभूत पित्त, महागुदा कृमि (Round worms) या इतर कृमि-जन्य रसाबुद (Hydatid Cyst) या इतर अन्नके पित्तस्रोतके मुख को बन्द करने वाला शल्य (Foreign Bodies) का पित्तस्रोतमें आ जाना । इनमें महागुदा कृमिजन्य कामलाके लिये चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ८०७ में देखें ।

आ—ग्रहणी या पित्तस्रोतसका प्रदाह । इस प्रदाहसे पित्तनलिकामें

लसीकाका प्रवेश हो जानेसे पित्तावरोध हो जाता है । इस प्रकारको प्रदाहजन्य कामला अर्थात् कैटार्हल जॉन्डिस (Catarrhal Jaundice) कहते हैं ।

इ—पित्तस्रोतका सकोच (Stricture) अथवा जन्मजातन्यूनता या अभाव (Congenital Deficiency or Absence), इनमें स्रोत संकोच होनेके कारण—(१) यकृदावरण दाह-शोथ (Perihepatitis), (२) पित्तस्रोतके भीतर विद्रधि पर नूतन त्वचाका आच्छादन (Cicatrization of Ulcers), (३) ग्रहणीके भीतर क्षत या विद्रधि पर नूतन त्वचा आना, तथा (४) आक्षेपजनित अवरोध आदि हैं । क्वचित् जन्मसे पित्तप्रणालीका अभाव भी होता है ।

ई—पित्तस्रोतमे अबुर्द होना या अबुर्द द्वारा पित्तस्रोतके मार्ग का रोध होना ।

उ—इतर हेतुसे नलिका पर दबाव आना । इस प्रकारमें समीपकी इन्द्रिया-आमाशय, अग्न्याशय, मूत्रग्रन्थि, उदर्याकला, वपा (Omentum) उदरस्थ धमनियों, गर्भाशयके अबुर्द, ग्रन्थि, अन्त्रमें मल-संचय और गर्भ वृद्धि आदि कारणोंका अतर्भाव होता है ।

इन हेतुओंसे उत्पन्न कामलारोगको अवरोधात्मक कामला ओब्स्ट्रक्टिव जॉन्डिस (Obstructive Jaundice) कहते हैं । एवं इसे डाक्टरीमें हिपाटोजिनियस जॉन्डिस (Hepatogenous Jaundice) संज्ञा भी दी है ।

(२) आंतरिक कारणाजन्य कामला निदान—इसके निम्नानुसार कारण हैं ।

अ—संक्रामक ज्वर (विषमज्वर, आन्त्रिक ज्वर, श्वसनक ज्वर, पीत ज्वर, परिषर्जित ज्वर, रक्त ज्वर, प्रलापक ज्वर, श्लैष्मिक ज्वर आदि), या इतर व्याधिसे उत्पन्न विषके हेतुसे यकृतकोषोंमें उत्पन्न प्रदाह ।

आ—सर्प या इतर प्राणिज विष या पूयजन्य ज्वर ।

इ—धातव विष—फॉस्फरस, पारा, ताम्र, एन्टिमनि, सोमल आदि ।

ई—क्लोरोफार्म या इथर आदि रासायनिक विष ।

उ—यकृतका आशुकारी शोष ।

ऊ—अज्ञात विष, मानसिक आघात और मस्तिष्क पर चोट आदि से यकृतसे सम्बन्ध वाले वातविधानमें विकृति ।

इनमेंसे मानसिक हेतुके अतिरिक्त शेष हेतुओं अर्थात् विषप्रकोपसे रक्तमें रक्ताणुओंका भयंकर संहार होता है । फिर रक्तरंजक द्रव्य पृथक् हो जाता है । इस हेतुसे पित्तमें चिकनापन अधिक हो जाता है; फिर नियमित वेगसे स्त्राव नहीं होता । इस प्रकारके कामलाको विषजन्य या रक्तविनाशज कामला (टोक्सिमिक अथवा हिमाटोजिनियस जॉन्डिस—Toxaemic or Hematogenous Jaundice) कहते हैं । यह विशेष हानि कर है ।

ए—रक्तमें प्राणवायु (ऑक्सिजन) की उत्पत्ति रूप क्रियामें न्यूनता होनेसे पित्तके स्वाभाविक परिवर्तनमें अन्तराय आता ।

ऐ—पित्तिनिःसर्गाधिक्य अर्थात् निःसृत पित्तके अधिकांशका स्वाभाविक परिवर्तन न होनेसे पुनः शोषित हो जाना । यह यकृतमें रक्त संचित होने पर होता है ।

ओ—स्वभावज और अधिक कालस्थायी कोष्ठवद्धताके हेतुसे अत्यधिक पित्तःस्त्राव होना ।

पित्तप्रणालिकाओंमें प्रदाह होने पर विशेषतः कामला हो जाता है । किन्तु इसमें पित्तावरोध अपूर्ण ही होता है । कुछ पित्त तो अन्त्रमें चला ही जाता है । इन सब कारणोंमें पित्तस्रोतका प्रदाह और पित्ताश्मरी, ये दो कारण अधिक देखनेमें आते हैं । इन दो वर्गोंके पृथक्-पृथक् हेतुसे डाक्टरोंमें कामला रोगके निम्नानुसार ७ भेद होते हैं ।

(१) पित्तप्रणालीय प्रदाहज कामला—Catarrhal Jaundice.

(२) रक्त विनाशज कामला—Haemolytic Jaundice.

(३) बालकामला—Icterus Neonatorum.

(४) चिरकारी प्लीहा वृद्धि युक्त—Acholuric Jaundice.

(५) यकृच्छोषज आशुकारी कामला—Acute Yellow Atrophy of the Liver.

(६) सक्रामक तीव्र कामला—Infectious Jaundice.

(७) कुम्भकामला—Chronic Icterus.

यह रोग प्रायः २५ से ३० वर्षकी आयु वालेको पित्तप्रणालीके प्रदाहके हेतुसे अधिकतर हो जाता है । इससे बड़ी आयु वाली स्त्रियोंको पित्ताश्रमरीके हेतुसे होता है । ४० वर्षसे बड़ी आयु वाले पुरुषोंको यकृत की वृद्धि हो जानेसे एव प्रौढ़ स्त्रियोंको यकृतके कर्कस्फोटके हेतुसे होता है । सक्रामक कामलाके लिये आयुका कोई नियम नहीं है । क्वचित् यह कामला एक ही मकानमें रहने वाले अनेकोंको एक साथ भी हो जाता है ।

इन कामलाओंमेंसे पित्तप्रणालीके प्रदाहजनित और पित्ताश्रमरीजन्य कामला थोड़े ही समयमें (२ से ६ सप्ताहमें) अच्छे हो जाते हैं । यकृद्बृद्धिजन्य कामला ४-८ मास तक रह जाता है । कर्कस्फोटजन्य कामला दीर्घकाल तक रहता है; और शनैः शनैः सुदृढ़ होता जाता है । पित्ताश्रमरीजन्य कामला तो किसीकिसी स्त्री पर बारबार आक्रमण करता रहता है । अतः इसके समयका निर्णय नहीं होता ।

सम्प्राप्ति—रक्तमें पित्तरूपी मल मिल जानेसे मस्तिष्क और शारीरिक धातुओं पर दुष्परिणाम होता है । एव पित्त आँतोंमें यथोचित न आनेसे अन्नपचन विशेषतः वसाका पचन, और अन्नका सात्त्व्य नहीं होता । पित्त के अभाव या न्यूनतासे अन्नकी पुरःसरण क्रियामें न्यूनता होती है । अन्नकी प्रेरणाशक्ति मन्द हो जाती है । इस हेतुसे आन्त्रिक कीटाणुओं को सुविधा मिल जाती है, और वे फेनीभवन और सड़न क्रिया (Decomposition) करने लग जाते हैं । फिर इस सड़नसे उत्पन्न विष रक्तमें लीन हो जाता है । इस तरह पित्त और आँतमें उत्पन्न विष, दोनों रक्तमें जितने अंशमें मिलते हैं, उतने अंशमें कामलाकी सम्प्राप्ति होती है ।

कामलाके सामान्य लक्षण—सब प्रकारके कामला रोगोंमें सामान्यतः निम्नानुसार लक्षण प्रतीत होते हैं ।

(१) नेत्रकी श्लेष्मिक कला, नाखून, मुख, त्वचा, स्वेद, मूत्र आदि सब पीले हो जाते हैं; किंतु थूक, श्लेष्म और दूधमें मूल रंग कायम रहता है । यकृत बढ़ जाता है । रोग न बढ़े, तब तक नेत्रमें पीलापन होने पर भी दृष्टिमें दोष नहीं होता । रोगबल बढ़ जाने पर दृष्टिमें आने वाले सब पदार्थ पीले भासते हैं । सामान्य अवस्थामें त्वचाका रंग मेंढक के सदृश पीला बन जाता है; और रोगवृद्धि होने पर विकृति या अवस्था भेदसे हरा, श्याव या कृष्ण भी हो जाता है ।

(२) भोजनका विपाक न होना, उबाकें, वमन, अरुचि, आफरा आदि हो जाते हैं । कारण, रक्तमें पित्तमिश्रित हो जानेसे पाचक रस चाहिये वैसा तैयार नहीं हो सकता; और आँतमें पित्तस्त्राव न होनेसे वसा पचन और आहार रसका यथा समय आगे बढ़ना, ये दोनों कार्य सम्यक् प्रकारसे नहीं होता । वसा वैसी-की-वैसी रह जाती है । मलमें दुर्गन्ध आती है; और मल परिमाणमें भी अधिक निकलता है ।

(३) क्वचित् कोष्ठवद्धता और क्वचित् अतिसार । मलमें पित्त न होनेसे सफेद मैला अर्थात् तिलपिष्टनिभ (Clay coloured) रंग हो जाना, मलमें फेनी भवन और पूतीभवन होनेसे अतिशय दुर्गन्ध आना आदि अवरोधक कामलाके स्पष्ट लक्षण हैं । कभी-कभी रक्तमें पित्त मिश्रित होनेसे रक्तवाहिनियां फूटकर स्थान-स्थान पर रक्तस्त्राव होता है । ताकि मलमूत्रमें रक्त मिश्रित हो जाता है ।

(४) रासायनिक परीक्षासे मूत्रमें पित्तरंजक की विद्यमानता जानी जाती है । परीक्षा विधि प्रथम खण्ड पृष्ठ १२३ में लिखी है ।

(५) रक्तमें पित्त मिश्रित हो जानेसे मस्तिष्कमें विकृतिजन्य लक्षण (Cerebral Symptoms) उत्साह क्षय (Depression of Spirit), उदासीनता, आलस्य, बेचैनी आदि, तथा बलक्षय, दुर्बलता हाथपैर टूटना और मैथुनमें अरुचि आदि हो जाते हैं । यदि रोग अति

अबल बन जाय, तो मोह, तन्द्रा, चक्कर, मूर्च्छा (Coma), प्रलाप (Delirium), तीव्र आक्षेप (Convulsions) आदि लक्षण भी हो जाते हैं ।

(६) मंद नाड़ी (Slow pulse) अर्थात् स्पन्दन संख्या ४०-५० होती है । कभी कभी नाड़ीके स्पन्दन ८० में से केवल २० तक रह जानेके उदाहरण भी मिलते हैं । मंद श्वास (श्वासोच्छ्वासकी संख्या १८ मेंसे ७ तक हो जाना), हृदय, फुफ्फुस और मस्तिष्कको दूषित रक्त मिलता रहता है । इस हेतुसे श्वासोच्छ्वास और नाड़ीकी गतिमें शिथिलता आ जाती है ।

(७) दूषित रक्तके हेतुसे त्वचापर कण्डू और अति स्वेदन आता है । कभी-कभी रक्तविकार अथवा शीतपित्तके सदृश धब्बे हो जाते हैं ।

(८) जिह्वा मलयुक्त, मुँहमें कड़वा स्वाद, निःश्वासमें दुर्गन्ध मात्रमें उष्णता, प्यास वृद्धि आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

उपर्युक्त लक्षणोमें से सब न्यूनाधिक रूपसे सब प्रकारके कामला रोगोमें प्रतीत होते हैं ।

रोगविनिर्णय—यह कामला रोग किस हेतुसे हुआ है ? निःसृत पित्तके शोषणमें न्यूनता अथवा पित्तनलिकाके मार्गमें व्याघात होने पर, इस बातके निर्णयार्थ २-३ ड्राम पेशाब में आधा ड्राम गंधकका तेजाब शनैः शनैः इस तरह डाले कि, दोनोका मिश्रण न हो जाय । फिर उसमें एक टुकड़ा मिश्रीका डालें । अवरोध जनित कामला होने पर दोनोके संयोग स्थलमें बैंगनी या रक्तवर्णकी रेखा प्रतीत होती है, और शोषण वशतः रोगोत्पत्ति होनेपर धूसरवर्ण की रेखा भासमान होती है । एव पित्तनिःसरण लोप होने पर कामलामें शिरदर्द आदि मस्तिष्कगत वेदनाके लक्षण वर्तमान होते हैं ।

कोई कोई समय इस कामला रोगके प्रारम्भमें कोई भी प्रकारकी वेदना नहीं होती । इस रोगकी तरुणावस्थामें चर्म उज्ज्वल पीले रंगका तथा जीर्णावस्थामें हरा-पीला हो जाता है ।

(१) पित्तप्रणालीय प्रदाहज कामला ।

पित्तप्रणालीय प्रदाहज कामला—कैटरहल जॉन्डिस—Catarrhal Jaundice ।

इस प्रकारका कामला रोग अधिकतर प्रतीत होता है; अतः इसे इक्टेरेस सिम्पलेक्स (Icterus Simplex) संज्ञा भी दी है। यह रोग कभी-कभी निरोगी मनुष्यों को केवल आहार-विहारका सामान्य परिवर्तन, अपरिमित आहार, अधिक पेयका सेवन, अकस्मात् शीत लग जाना आदि हेतुओंसे उत्पन्न हो जाता है; और २-३ सप्ताह रहकर शमन हो जाता है।

निदान और सम्प्राप्ति—ग्रहणीका दाह—शोथ होनेपर वहाँपर संयुक्त साधारणी पित्तनलिकाके मुख भागपर दाह—शोथ होकर लसीका या श्लेष्म द्वारा पित्तस्रोतका संकोच हो जाता है। फिर पित्तावरोध होकर कामला होजाता है। इस रोगमें स्थानिक वेदना नहीं होती। किसी रोगविष या अन्तर विकृतिसे ग्रहणीका प्रदाह हो जाय, तो उसका असर पित्तनलिका पर हो जाता है। आमाशय और ग्रहणीके प्रदाहके साथ इस रोग का बहुधा साहचर्य देखनेमें आता है। अनेक बार पित्त-प्रणालिकाओंकी श्लैष्मिक कलामें प्रदाह होनेसे पित्त निर्गमनका रोध होकर थोड़े ही समयमें तीव्र कामला रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है। इसमें बहुधा कण्डू उपस्थित होती है।

कभी-कभी ४-६ वर्षकी आयुवाले बालकोंको कामला की सम्प्राप्ति पित्तनलिका और ग्रहणीकी श्लैष्मिक कलाके प्रदाहवश होती है। फिर त्वचा, अक्षि आवरण आदि पीले हो जाते हैं। सारी देहपर खुजली आती है। मल दुर्गन्ध रहित और मलिन वर्णका हो जाता है। मूत्रका रंग अति पीला हो जाता है। मूत्रसे गीले वस्त्रको मुखानेपर हल्दीके सदृश पीला दाग हो जाता है। जीभ पीले रंगकी, काटेदार, मैल लगी हुई दीखती है। शिरमें वेदना, वमन और अपचन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

नाड़ीकी गति मन्द हो जाती है; और शारीरिक उत्ताप कम हो जाता है ।

विद्वानोंने पित्ताश्मरीजन्य कामला, संक्रामक रोगसे उत्पन्न कामला, मानसिक आघातजन्य कामला, तीनोंको पित्तप्रणालिकाके विकार-जन्य माना है । अतः संक्रामक ज्वरजन्य कामलामें भी बहुधा इसी कामलाके लक्षण प्रतीत होते हैं ।

पूर्वरूप—कामला होनेके कुछ दिन पहले आमाशय और ग्रहणीके दाह-शोथके लक्षण—अपचन, अफारा, उदरपीड़ा, उबाक, वमन, कोष्ठबद्धता और कभी कभी पतले दस्त हो जाना आदि प्रतीत होने हैं ।

लक्षण—अपचन आदि होनेके पश्चात् कामलाके लक्षण—सबके पहले मूत्रमें पित्त जाना, फिर त्वचा आदिमें पीलापन, मन्द ज्वर, तिल-पिष्टनिभ मल, मन्दनाड़ी, बलक्षय और तन्द्रा आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । मृदु अवस्था रही, तो सप्ताहके पश्चात् रोग बल घटने लगता है । मध्यम अवस्थामें २ से ६ सप्ताह और रोग अधिक बलवान होनेपर ३-४ मास तक कायम रहता है । यकृद्वृद्धि न हो और अपचन आदि कारणोंसे अथवा संक्रामक ज्वर आदिसे पीड़ित रोगीको कामला हो जाय, तो अनुमान होता है कि, उसे बहुधा इस प्रकारका ही कामला होना चाहिये ।

यदि पित्ताशयमें पीड़ा होती हो, तो पित्ताश्मरीजन्य कामला होने की सम्भावना है । इस तरह यकृद्वृद्धि है और दो माससे अधिक काल तक कामला रह जाता है, तो पित्ताश्मरी, कर्कसफोट या यकृदात्युदर रोग का संशय होता है ।

आशुकारी यकृत् शोषज कामला और पित्तनलिका प्रदाहज कामला, इन दोनोंके लक्षण अधिकांशमें समान दीखते हैं; परन्तु यकृत् शोषज असाध्य कामलामें बिल्कुल इतने ही लक्षण क्वचित ही होते हैं । यकृत्में पीड़ा अदि लक्षण कुछ-न-कुछ अधिक मिल जाते हैं ।

(२) आशुकारी रक्तविनाशज कामला ।

आशुकारी रक्तविनाशज—हिमोलिटिक जॉण्डिस—Haemolytic Jaundice ।

लक्षण—इस विकारमें लक्षण सौम्य होते हैं । किन्तु तीव्र प्रकार होनेपर ज्वर, प्रलाप, मूर्च्छा, आक्षेप, मूत्राभाव या रक्तमिश्रित मूत्र, लाल या काली वमन और उपत्वचा या श्लैष्मिक कलामेंसे रक्तस्राव होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । रक्तकणों का अधिक संहार होनेसे रंजक द्रव्य अधिक रूपमें पृथक् होता है; उसमेंसे पित्त बननेके अतिरिक्त रहा हुआ द्रव्य पुनः रक्तमें मिल जाता है । इस हेतुसे रक्तविनाशज कामला हो जाता है ।

(३) बालकामला ।

बालकामला—इक्टेरेस नियोनॅटोरम—Icterus Neonatorum.

यह रोग २-४ दिनके शिशुको हो जाता है । इस हेतुसे इस व्याधि को डाक्टरीमें जॉन्डिस आफ् धी न्युबॉर्न—Jaundice of the new born) कहते हैं । यह विकार बहुधा ५० प्रतिशत बालकोंको हो जाता है । जन्म लेनेके पश्चात् रक्ताणु नष्ट होने लगते हैं; इसी हेतुसे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । इसमें सौम्य और तीव्र, दो प्रकार हैं । यदि लक्षण सौम्य हैं तो देह पीली पड़ जाती है; और बाधा नहीं होती । फिर १-२ सप्ताहमें स्वयमेव अच्छा हो जाता है । सामान्य अवस्थामें चिकित्सा करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती । त्वचाको शुद्ध रखनी चाहिये; तथा एरंड तैल आदिसे कोष्ठको शुद्ध रखना चाहिये ।

तीव्र प्रकारके निम्नानुसार ३ हेतु हैं ।

(१) याकृती पित्तनलिकाका अभाव ।

(२) उपदंश रोगके हेतुसे गर्भमें यकृतका प्रदाह ।

(३) नाभिस्थ शिराका प्रदाह—Phlebitis ।

इन कारणोंसे तीव्र कामला हो जाता है । इस विकारको विद्वानोंने मारक माना है ।

बाल कामला निदान—सामान्यतः शिशुका जन्म पूर्णकालके पहले हो जाने या जन्म कालमें शरीर अति क्षीण होने अथवा किसी कारणवश शिशुके त्वचा और श्वासोच्छ्वास सस्थाकी क्रिया यथोचित न होनेसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है ।

बाल कामला लक्षण—बालकोंको कामला होनेपर बद्धकोष्ठ होता है, त्वचा, अक्षि आवरण, मुखस्थ श्लेष्मिक कला और मूत्र आदि पीतवर्ण धारण करते हैं; बालकका मन अस्थिर हो जाता है, तथा चर्म रूद्ध हो जानेसे बार-बार खुजाता रहता है ।

पित्त नलिकाके अभावजन्य कामला—किसी-किसी बच्चेको जन्मसे पित्तनलिका ही नहीं होती । यह रोग असाध्य माना जाता है । किसी भी प्रकारकी चिकित्सासे लाभ नहीं पहुँचता ।

उपदश विषज कामला—कॉन्जेनिटल सिफिलिटिक हिपटाइटिस—*Congenital Syphilitic Hepatitis*—रोगीके माता पिताको उपदश होनेपर उसके विष द्वारा गर्भस्थ शिशुके यकृतका प्रदाह होकर कामलाकी उत्पत्ति होती है । फिर उपदशके इतर लक्षण यकृद्वृद्धि, कामला, जलोदर आदि उपस्थित होते हैं । जिससे रोग निर्णय सरलतापूर्वक होता है । आजन्म उपदश पीड़ित रोगीको यह व्याधि मृदु भावसे उत्पन्न होनेपर इसका सहज निर्णय नहीं होता, परन्तु रोग प्रबल होने पर यकृत् स्निहा वृद्धि, जलोदर, रक्तके धब्बे (*Echymosis*) हो जाने, शारीरिक उत्तापका हास, नाभि और अन्नसे रक्तस्राव तथा क्रमशः देह गलना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

इस रोगके साध्यासाध्यका निर्णय उपद्रव और रोगीकी शारीरिक अवस्था परसे होता है । अधिक शक्तिक्षय होनेपर रोग असाध्य हो जाता है । इस रोगमें उपदश विष नाशक चिकित्सा करनी चाहिये ।

नाभिस्थ शिराप्रदाहज कामला को प्राणघातक माना है । इस विकारमें नाभिस्थ शिराप्रदाहके और कामलाके लक्षण पूर्णरूपसे प्रकाशित होते हैं ।

(४) चिरकारी प्लीहावृद्धियुक्त कामला ।

चिरकारी प्लीहावृद्धियुक्त कामला—अकोलयुरिक जॉन्डिस—
Acholuric Jaundice ।

इस रोगमें अवरोधात्मक कामलाका एक भी कारण नहीं मिलता । किंतु रक्त विनाश होता है; मलमें पित्त जाता है; और मूत्रमें नहीं जाता । मूत्रमें पित्त न जाना, यह इस रोगकी विशेषता है । रक्तमें कुछ पित्तरंजक द्रव्य मिश्रित हो जाता है; और पाण्डु रोगके समान रक्तके रक्ताणुओंका विनाश भी होता है । यह प्रकार क्वचित् ही देखनेमें आता है । यह रोग जन्मार्जित और स्वसंपादित, दोनों प्रकारका होता है ।

प्लीहावृद्धियुक्त जातज कामलाके लक्षण—यह व्याधि शिशुका जन्म होने पर तुरन्त या कुछ दिनोंके पश्चात् होती है; और वर्षों तक रह जाती है । किसी-किसीको ठीक होकर बार-बार होती रहती है । रक्त शुद्ध न होनेसे देह पाण्डुवर्ण की भासती है । रक्तमें रक्तजीवाणु और रंजक द्रव्य, दोनोंकी कमी होती है । प्लीहा बढ़ जाती है और कठोर हो जाती है; यकृत भी कुछ अंशमें बढ़ जाता है; किंतु यकृदारि (Cirrhosis) नहीं होता । इस रोगके हेतुसे रक्ताणु सहजमें टूटने वाले (Fragile) हो जाते हैं । रोगीको इस रोगसे अधिक संताप नहीं होता । यह रोग एक ही कुटुम्बमें अनेकोंको हो जाता है ।

प्लीहावृद्धियुक्त स्वसंपादित चिरकारी कामला लक्षण—यह व्याधि बड़ी आयुमें धीरे-धीरे होती है । पाण्डु रोगके लक्षण इसमें मिलते हैं । इस रोगमें रक्तजीवाणु संख्या बहुत घट जाती है । इस विकारमें कामलाके लक्षण अधिक नहीं होते; प्लीहा वृद्धि अवश्य होती है ।

बहुधा इस रोग वाले रोगी १ या २ वर्षोंसे अधिक काल तक जीवित नहीं रहते ।

यदि इस कामला रोगमे हाथ-पैरके तलोंके पीतवर्णका क्षय हो जाय और मूत्रमें भी पित्त न जाय, तो यह डाक्टरीमें हेन्थोक्रोमिक जॉन्डिस Xantho chromic jaundice कहलाता है ।

(५) यकृच्छोषज आशुकारी कामला ।

यकृच्छोषज आशुकारी कामला—अक्युट यलो अट्रॉफी आफ् थी लीवर—Acute Yellow Atrophy of the Liver

इस रोगको इक्टेरेस ग्रेविस (Icterus Gravis) और मेलिगनन्ट जॉन्डिस (Malignant Jaundice) भी कहते हैं । यह रोग अति घातक है; परन्तु सौभाग्यवशतः क्वचित् ही होता है ।

इस व्याधिका कारण अज्ञात है । इस रोगमें यकृत्के समस्त कोषाणुओं (Cells) का तत्त्वर और पूर्ण रूपसे विनाश हो जाता है, और नूतन पदार्थ निर्मित होता है । यकृत्का रासायनिक उपादान परिवर्तित होता है, और यकृत्के तन्तुओंमे विशेष रूपसे विष (टायरोसिन—Tyrosine और ल्यूसिन Leucine) की उत्पत्ति हो जाती है । जो मूत्रकी रासायनिक परीक्षा करने पर प्रतीत होते हैं । यह रोग २० से ४० वर्ष की आयु वाली स्त्रियोंको, इनमे भी विशेषतः सगर्भाको होता है ।

सहायक निदान—शरावका अति सेवन, उपदश, मानसिक विकृति, अन्त्रविकार, भूतकालकी यकृद्व्याधि, विषम ज्वर और सगर्भावस्था, ये सब सहायक हेतु हैं । फास्फरसके विषजन्य कामला और इस कामलाके लक्षणोंमे अनेकाशमे साम्यता भासती है ।

सम्प्राप्ति—इस रोगमे यकृत् मृदु और सकुचिन हो जाता है, काटकर देखने पर यकृत्के कोषाणुओंका विनाश, पीत वर्णका परिवर्तन और इस हेतुसे पित्तका अभाव प्रतीत होता है ।

प्रारम्भिक रूप—मानसिक व्याकुलता, दुर्बलता, बलक्षय, शरीर

जकड़ जाना, मलाबरोध, कभी-कभी त्वचामें पीलापन आ जाना, यकृत को दबाने पर अधिक वेदना (Tenderness) और बहुधा मंद ज्वर आदि होते हैं; और क्वचित् ज्वर अति तब १०५ डिग्री तक बढ़ जाता है ।

पूर्व रूप—परिपाक क्रियामें सामान्य विकृति होती है । फिर अकस्मात् कामला होकर त्वचाका रंग गूढ़ा पीला हो जाना, क्वचित् उबाक, बमन, रक्तस्राव, मल-मूत्रमें रक्त जाना, कभी श्वेत मल, अतिशय-शिरःशूल, उग्रप्रलाप, कम्पन, आक्षेप, गर्भपात और तन्द्राकी प्राप्ति होती है । जिह्वा मलयुक्त भासती है ; नाड़ी वेगवती होती है; तथा यकृत और हृदयाधरिक प्रदेशमें वेदना होती है ।

मांसपेशियों और सांधो-सांधोंमें वेदना होना, नासिका और अन्त्रमेंसे रक्तस्राव होना, नाड़ीमें एक प्रकारकी विलक्षण गति होना (सामान्यतः नाड़ी अति तेज ही होती है; परन्तु बीच-बीचमें बिना हेतु और अधिक तेजी आती रहती है), क्रमशः चेतना शक्तिका लोप होकर मूर्च्छाकी प्राप्ति होजाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । शारीरिक उत्तापकी वृद्धि नहीं होती ।

स्पर्श और ठेपन परीक्षा करने पर यकृतके अवयवोंका ह्रास अनुभव में आता है । स्वस्थावस्थामें यकृतका वजन २-२½ सेर होता है । इस रोगमें घटकर वजन आधासे भी कम हो जाता है । साथ साथ प्लीहावृद्धि होती है; और उसमें रक्तका संचय हो जाता है । रक्तस्रावके हेतुसे देह पर रक्तकी पिटिकाएं (Petechia) और पचन विकृति उपस्थित होती हैं ।

मूत्रकी रासायनिक परीक्षा करने पर विष-ल्यूसिन और टाइरोसिन तथा पित्त प्रतीत होते हैं । कभी-कभी एल्ब्युमिन भी मिल जाता है; तथा यूरिया कम हो जाता है । आयुर्वेदमें कामलाके जो असाध्य लक्षण कहे हैं; वे इस रोगमें प्रतीत होते हैं । इस रोगको महाघातक माना है । इस रोगसे पीड़ित कोई बिरला ही बचता है ।

रोग विनिश्चय—कामलाके तीव्र लक्षण, यकृत संकोच और मूत्र

मे ल्युसिन और टाइरोसिनकी प्रतीति परसे इस रोगका स्पष्ट निर्णय हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना है । रोगी की १ से ४ सप्ताहके भीतर मृत्यु हो जाती है ।

(६) आशुकारी संक्रामक कामला ।

आशुकारी संक्रामक कामला—अक्युट इन्फेक्शियस जॉन्डिस—*Acute infectious Jaundice* ।

इस प्रकारमे यकृत प्लीहावृद्धि और ज्वर रहता है । इस रोगको फेब्रील इक्टेरेस और वील्स डीभीझ—*Febrile Icterus and Weils Disease* भी कहते हैं ।

निदान—इस रोगका हेतु एक प्रकारके कर्षिणी (स्क्रु) के सदृश कीटाणु हैं । उनको स्पाईरोकिटा इक्टेरोहेमोरहेजी—*Spirochaeta Ictero-Haemorrhagiae* कहते हैं । ये कीटाणु चूहे की देहमें रहते हैं । यदि ऐसे रोगी चूहे जलाशयके समीप रहते हैं, तो जल इस कीटाणुसे दूषित हो जाता है । फिर इस जलके ससर्गसे कीटाणु मनुष्य शरीरमें प्रवेश कर जाता है । पश्चात् रोगीके रक्त, मूत्र, थूक और मगज में रहे हुए जल—*Cerebro-spinal fluid* में से इन कीटाणुओं की प्राप्ति होती है ।

सम्प्राप्ति—यकृतवृद्धि, परन्तु प्रित्तस्रोतसोका अवरोध नहीं होता; रक्ताणुओंका नाश बहुत होता है, और प्लीहा बढ़ जाती है । इस रोगकी सम्प्राप्तिके चयकालमें ५-६ दिन लगते हैं ।

पूर्वरूप और रूप—प्रारम्भमें शीत लगना, शिरदर्द, वमन, अतिसार और उदरपीड़ा होती है । पश्चात् ज्वर (१०३ डिग्री तक) आ जाता है । तृषा, हाथपैर टूटना और बेचैनी आदि लक्षण भी होते हैं । दो तीन दिन बीत जानेपर कामला हो जाता है । फिर पीली या वसंती त्वचा, क्वचित् रक्तके धब्बे, पीला या लाल मूत्र, सफेद मैला मल, बलक्षय,

पित्ताशय, यकृत और प्लीहाकी वृद्धि आदि लक्षण होते हैं । इस तरह ताप ३ से १२ दिन तक रहकर उतर जाता है ।

कभी-कभी ताप उलट कर फिरसे आजाता है । इस हेतुसे इस कामलाके दो प्रकार होते हैं । तीव्र और परिवर्त्तित । परिवर्त्तित प्रकारमें ५ विभाग हैं ।

(१) सौम्य प्रसेकी, (२) ज्वरसह चिरकारी (चिरकाल तक रहने वाला) (३) मस्तिष्क ग्राही—Meningeal (४) फुफ्फुसग्राही Pulmonary (५) इतर लक्षणयुक्त ।

रोगविनिर्णय—(१) ५ दिनके बाद ८ वें दिन तक मूत्रमें १-२ बूंद असेटिक एसिड डालकर परीक्षा करने पर मूत्रका रंग तीव्र हरा हो जाता है ।

(२) तीसरे दिनतक रक्तपरीक्षा करने पर इस रोगके कीटाणु मिल जाते हैं । यदि संदेह रहे, तो गिनिपिग—Guinea pig नामक छोटे सूअरके शरीरमें रक्त या मूत्रका प्रवेश कराकर परीक्षा करने पर उसे यह रोग हो जाय तो रोगनिर्णय हो जाता है ।

(३) कीटाणु संग्राहक निश्चिती (अग्रगुल्यटिनेशन टेस्ट—Agglutination test द्वारा परीक्षा करने पर निर्णय हो सकता है, अर्थात् जिसकी रोग निरोधक शक्ति अधिक हो; उसके रक्तजल (सीरम) में रोग विशिष्ट कीटाणु डालने पर यदि उसकी गोली बन जाय, तो रोगका निर्णय हो जाता है । यह परीक्षा लगभग दो वर्षतक होती है ।

उपद्रव—नाक, मूत्राशय, अन्न और फुफ्फुसोंमेंसे रक्तस्राव होता है; और इस रोगके अनुगामी रूपसे निर्बलता और पाण्डु रोगकी प्राप्ति हो जाती है ।

(७) कुम्भकामला ।

कुम्भकामला—क्रॉनिक इक्टेरेस—Chronic Icterus ।

पूर्वोक्त विविध प्रकारके कामला रोग जीर्ण होने पर कुम्भकामला

कहलाता है । एव क्वचित् प्रारम्भसे ही मन्द वेग वाले चिरकारी कामला होने पर भी आयुर्वेदीय कुम्भकामलाके लक्षण उपस्थित होते हैं । इनके अतिरिक्त यकृतमे मासाबुर्द होने पर आयुर्वेद कथित कुम्भकामला के लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

कुम्भकामला भेद—यकृन्मासाबुर्द- Cancer of The Liver

देहके इतर स्थानोंके समान यकृत भी कर्कस्फोट रोगके वशवर्त्ती है । सामान्यतः यकृतमें अनेक प्रकारके अबुर्द दृष्टिगोचर होते हैं । इनमें कर्कस्फोट सबसे अधिक घातक है । कर्कस्फोटमें विशेषतः कोषाणुमय मृदु (Soft or Encephaloid Cancer), सौत्रिक तन्तुमय दृढ़ (Hard or Scirrhus Cancer) और पिच्छिल अर्थात् चिकने रसमय (Colloid), ये तीन प्रकार होते हैं । इनमें भी मृदु जातिका कर्कस्फोट अधिक देखनेमें आता है । इसमें सौत्रिक तन्तुओं की न्यूनता और वसाकी अधिकता होती है । कभी यह रससयुक्त या काले रगका भी होजाता है ।

कठिन कर्कस्फोटका रंग हल्दीकी आभा वाला लाल होता है । इसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु लगे होते हैं ।

तृतीय पिच्छिल प्रकारकी उत्पत्ति कोमल और कठिन, दोनों प्रकारके कर्कस्फोटोंकी आक्रान्ति होने पर होती है । एवं अनेक बार स्तन आदि प्रदेशोंके अपक्व कर्कस्फोटोंको काट देनेके पश्चात् विष, कीटाणु या रोगके कोषाणुका यकृतमे प्रवेश होता है ; तब इसकी गौण रूपसे उत्पत्ति होती है ।

यकृतका मासाबुर्द क्वचित् ही मूलभूत होता है । इस रोगकी अति सत्वर वृद्धि होती है ; और कुछ मासके भीतर रोगी की मृत्यु होजाती है । यह स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है । पुरुषोंमेंसे ३० से ५० वर्षकी आयु वालों पर विशेष आक्रमण होता है । यह पुरुषोंमें पचनेन्द्रिय सस्थाके और-स्त्रियोंमें पचनेन्द्रिय संस्था, स्तन और जननेन्द्रियके कर्कस्फोटोंके उपद्रव रूपसे प्रकाशित होता है ।

यकृतका कर्कस्फोट यकृतस्थ अन्य अर्बुदोंकी अपेक्षा ३० गुना अधिक होता है । अतः यकृतमें अर्बुदका सदेह होने पर सत्वर परीक्षा करा लेनी चाहिये । उपद्रवभूत कर्कस्फोट होने पर रोगकी अचिर कालमें वृद्धि होती है; जिससे रोगी कुछ महीनोंके भीतर ही मर जाता है ।

सम्प्राप्ति—उपद्रव भूत गौण विकार होनेपर मूलभूत व्याधिके सदृश ही व्यक्त होता है । परन्तु समस्त यकृत ग्रन्थि (Nodules) युक्त हो जाता है । जिससे यकृत खूब बड़ा बन जाता है । यदि ये ग्रन्थियाँ यकृतके ऊर्ध्व प्रदेशमें हैं, तो हाथसे स्पर्श करनेपर प्रतीत होती हैं । रोग बढ़नेपर इनमें अपक्रान्ति होकर बीच बीचमें खड्डे पड़ जाते हैं । पश्चात् उपरिस्थ वर्तुलकी आकृतिमें परिवर्तन हो जाता है । आन्तरिक अंशमें अस्वाभाविक परिवर्तन हो जानेसे अर्थात् यकृतके कोषाणुओंमेंसे कर्कस्फोटके कोषाणु बन जानेसे उस अवयवकी निर्जीवनावस्था (Necrobiosis) हो जाती है । उस समय वह स्फोटक सदृश अति कोमल हो जाता है । इसके भीतर रही हुई रक्तवाहिनियाँ छिन्न होकर रक्तपूर्ण थैलियाँ (Blood Cysts) बन जाती हैं । रक्तप्रणालियोंमें कर्कस्फोटजनित अवरोधके हेतुसे कर्कस्फोटके भीतर रक्त विहीनता हो जाती है; अथवा कर्कस्फोटकी चतुःसीमा बढ़ जाती है, फिर इसी हेतुसे मध्य स्थल अवनत भासता है ।

कितनेक विद्वानोंकी मान्यतानुसार प्रतिहारिणी शिरा या पित्तनलिका की बृहत् शाखाके मार्गका अवरोध होनेसे रक्तप्रवाहका दमन होता है, जिससे वहाँ पर रक्तका मृदु पिण्ड (Clot) बन जाता है । इस संयत रक्तमेंसे कर्कस्फोट उत्पन्न होता है । एवं उस शिरामें बृहत् कोमल कर्कस्फोट जनित (Carcinomatous) अवरोध प्रतीत होता है । कभी-कभी शिराकी दीवार प्रारम्भमें आक्रान्त नहीं होती; कुछ कालके पश्चात् प्रभावित होती है । फिर शनैः शनैः यकृतके कोषाणुओंका कर्कस्फोटके कोषरूपसे रूपान्तर होता जाता है ।

यकृत पर और अर्बुदोंके समान पिच्छिल जातिका कर्कसफोट मुख्य रोगरूपसे कभी आक्रमण करता हो, ऐसा नहीं जाना गया । यह सर्वदा इतर स्थानोंके कर्कसफोटोंके उपद्रवभूत प्रतीत होता है; एव पित्तवाहिनी की अपेक्षा प्रतिहारिणी शिराको अधिक प्रभावित करता है ।

मुख्यरोग प्रकार—मुख्य प्रकारमें ३ स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं ।
 १—स्थूल (Massive), २—ग्रन्थियुक्त (Nodular) और
 ३—पूर्ण विस्तृत (Diffuse) ।

लक्षण—यह रोग गौण होने पर मूलभूत रोगके लक्षण प्रारम्भ कालमें प्रतीत होते हैं; और रोग मूलभूत होने पर प्रारम्भिक अवस्था में लक्षण अस्पष्ट होते हैं । इस विकारकी उत्पत्ति होने पर यकृत और दक्षिण स्कंध प्रदेशमें वेदना होती है । पहले वेदना सौम्य फिर तीव्र होती है । यकृत खूब बढ़ जाता है; कभी-कभी नाभिके नीचे तक पहुँच जाता है । यकृतकी किनारी टेढ़ी मेढ़ी और कठिन हो जाती है । स्पर्श करने पर वेदना अधिक होती है । यकृत पर सर्वत्र गांठें भासती हैं । रोग बढ़ने पर ये गांठें फूटकर खड्डे हो जाते हैं । कभी-कभी ये गांठें पशुकाके नीचे प्रतीत होती हैं । इनके अतिरिक्त बार-बार सामान्य ज्वर आते रहना, मुख नासिका, योनि, आमाशय आदि स्थानोंसे रक्तस्राव होते रहना, अधिक रक्तस्राव हो जाने पर रक्तविहीनता, यकृद्वृद्धि, यकृतकी आकृति असम होजाना, दुर्बलता, आमाशय और अन्नक्रियाकी विकृति, उदरकी मास-पेशिया दृढ़ हो जाना, दोनों पैरों पर शोथ, धीरे-धीरे शीर्णताकी वृद्धि, शारीरिक वजन और शक्तिका हास होना तथा कभी-कभी उदर्याकला-प्रदाह आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

साधारणी पित्तनलिका पर दबाव होने पर ५० प्रतिशत रोगियोंको रक्तमें पित्तका संचय होने लगता है । फिर तीव्र कामला हो जाता है । कितनेक रोगियोंको प्रतिहारिणी शिराका अवरोध होनेसे जलोदर हो जाता है । उदर्याकला पर आघात पहुँचनेसे बीच-बीचमें उदर्याकलाप्रदाह

होकर उदरशूल होने लगता है । लक्षण बढ़ने पर ज्वर, किसी-किसीको दोनों पैरों पर शोथ तथा धीरे-धीरे शीर्षताकी वृद्धि होती जाती है ।

कभी-कभी यकृद्वाल्स्युदरसे कुश हुए यकृत् पर कर्कस्फोट हो जाता है; तब यकृद् वृद्धि नहीं हो सकती ।

यदि कर्कस्फोटके बदले कृष्ण मांसाबुद् (Melanotic sarcoma) हुआ हो, तो त्वचा पर सर्वत्र कृष्ण ग्रन्थियां हो जाती हैं, जिससे वह सहज पृथक् हो जाता है ।

लक्षण—यकृतमें और दाहिने कंधे पर पीड़ा होती है । पहले सामान्य दर्द होता है । फिर सुई चुभोने सदृश तीक्ष्ण वेदना हो जाती है । यकृतकी अति वृद्धि (क्वचित् नाभि तक बढ़ना), यकृतका किनारा टेढ़ा और कठोर होना, स्पर्श करनेपर वेदना अधिक होना, उदरकी माँस-पेशियाँ दृढ़ हो जाना, अति क्षीणता, पाण्डुता, बेचैनी तथा आमाशय और अन्नकी क्रियामें विकृति आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

५० प्रतिशत रोगियोंको साधारणी पित्तनलिका पर दबाव पड़ने पर रक्तमें पित्तका संचय होने लगता है; और तीव्र कामला हो जाता है । कितनेक रोगियोंको प्रतिहारिणी शिराका अवरोध होने पर जलोदर हो जाता है । उदर्याकला पर आघात पहुँचनेसे बीच-बीचमें उदर्याकला प्रदाह होकर उदरशूल हो जाता है । इस तरह लक्षण बढ़ने पर मंद ज्वर भी रहने लगता है । किसी-किसी को दोनों पैरों पर शोथ आ जाता है; तथा रोगी धीरे-धीरे गल जाता है ।

यदि यह मूलभूत रोग यकृद्वाल्स्युदरमें यकृत् संकुचित होनेसे उत्पन्न हुआ हो, तो यकृद्वृद्धि नहीं होती । एवं उपद्रव (गौण) रूपसे इस कर्कस्फोटकी प्राप्ति हुई हो, तो इतर मूल रोगोंके लक्षण भी साथ में होते ही हैं ।

क्वचित् इस कर्कस्फोटके बदले कृष्ण मांसाबुद् (Black Cancer or Melanotic Sarcoma) हो जाता है । यह भी एक प्रकार

का घातः मासार्बुद या रक्तार्बुद है । इस सार्कोमासे त्वचापर स्थान स्थान पर काली-काली गाँठे उत्पन्न हो जाती हैं ।

मारक अर्बुदोंमें सार्कोमा और कांसिनोमा (Sarcoma and Carcinoma), ये दो प्रकार हैं । कांसिनोमाको केन्सर कहते हैं । इन दोनोंमें स्थान और रूप भेदसे अनेक प्रकार हैं ।

जिन स्थानों पर अर्बुद उत्पन्न होता है, उन स्थानोंके गर्भ व्याकरण (Embryology) की दृष्टिसे तीन कलल-पत्र हैं । अन्तर, मध्य और बाह्य । इन संधानक धातु भेदमें अर्बुदोंके मुख्य ३ विभाग हो जाते हैं । अतःकललीय (Hypoblast) मध्य कललीय (Mesoblast) और बाह्य कललीय (Epiblast) ।

इनमें मध्यकललीय संधानक धातुमेंसे अनेक सौम्य अर्बुद एवं घातक अर्बुद (सार्कोमा) की उत्पत्ति होती है, तथा अतःकललीय और बाह्यकललीय धातुमेंसे केन्सरकी उत्पत्ति होती है । इन अर्बुदोंका विशेष वर्णन यथास्थान अर्बुद रोगमें किया जायगा ।

अनेक बार यकृतके कर्कस्फोट और यकृद्वाल्न्युदरके निर्णयमें आपत्ति आ जाती है । अतः दोनोंके व्यवच्छेदक लक्षण कोष्ठकमें देते हैं ।

यकृतकर्कस्फोट

यकृद्वाल्न्युदर

१—रोगाक्रम सत्वर होता है ।

शनैः शनैः रोगारम्भ ।

२—यकृदाकृति टेढ़ी-मेढ़ी गाँठों वाली बड़ी ।

गाँठ रहित आकृति, कभी छोटी, कभी बड़ी आकृति, क्वचित् छोटी गाँठे देरसे होती है ।

३—पीड़ा शूल सदृश तीक्ष्ण ।

कम पीड़ा ।

४—जलोदर निश्चित रूपसे नहीं होता ।

जलोदर होता ही है ।

५—कामला होता है तो तीव्र होता है ।

कामला बहुत देरसे होता है ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना है । यह रोग १ वर्षके भीतर रोगीको मार डालता है । इस रोगकी सफल चिकित्सा अभी तक नहीं मिली । वेदना और लक्षणोंका उपशम करनेके लिये चिकित्सा करते रहना चाहिये ।

कामला चिकित्सोपयोगी सूचना ।

रेचनं कामलार्तस्य स्निग्धस्याऽदौ प्रयोजयेत् ।

ततः प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता ॥

कामला रोगीको पहले स्नेहन देकर कोष्ठको स्निग्ध करें । फिर विरेचन ओषधि दें ; पश्चात् रोगकी गतिको जान कर रोगशामक चिकित्सा करनी चाहिये ।

कामला रोगमें पाण्डुरोगसे अविरোধी हो, ऐसी पित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिये । पित्तवर्धक ओषधि और आहार-विहारका सेवन नहीं करना चाहिये ।

कामला रोगीको पञ्चगव्यघृत, महातिक्त घृत (कुष्ठरोगमें कहा हुआ) या कल्याण घृत स्नेहनार्थ देना विशेष हितकर है । कामला रोगमें अनेक प्रकारके अंजन और नस्य लाभ पहुँचाते हैं । अतः आवश्यकतानुसार अंजन और नस्यको भी प्रयोगमें लाना चाहिये ।

जिस कामलारोगीको तिलपिष्टनिभ (मैला सफेद) रंगका मल उतरता हो ; पित्तके मार्गका श्लेष्मसे अवरोध होगया हो ; उसके पित्तको कफहर पदार्थोंसे जीतना चाहिये ।

कचित् कामला रोगमें वातश्लेष्मात्मक उपद्रव होजाता है ; अर्थात् रूक्ष, शीतल, गुरु और मधुर भोजन, व्यायाम और मलमूत्र आदि वेगोंका धारण करने पर वायु प्रकुपित बन कफसे मिश्रित होकर जब पित्तको बाहर फँकती रहती है ; तब नेत्र,

मूत्र और त्वचामे पीलापन, आंतोंमें पित्तस्रावके अभावसे सफेद रंगका मल, आफरा, मलावरोध, हृदयमें भारीपन, दुर्बलता, अग्निमान्द्य, पार्श्व भागमें पीड़ा, हिक्का, श्वास, अरुचि, और ज्वर आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। संक्षेपमें वायु जब कुपित होती है; पित्तका बल घट जाता है, और वह शाखासमाश्रित (रक्त आदि धातुओंमें प्रवेशित) होता है, तब ये सब लक्षण एक पीछे एक खड़े होजाते हैं ।

ऐसे रोगीको रुक्, चरपरे और खट्टे रस वाले पदार्थ, मोग तीतर और मुर्गेका मांसरस तथा सूखी मूली या कुलथीके यूषके साथ भोजन आदिका सेवन कराना चाहिये । ऐसे रोगीके भोजन में अधिक खटाई आदिको हितकर माना है । विजौरेकें रसके साथ शहद और त्रिकटुका सेवन लाभदायक है । जब तक वात प्रकोप शमन न हो, तब तक रक्तपित्तवर्धक खट्टे, चरपरे, रुक्, उष्ण और नमकीन रसका सेवन कराते रहे ।

इस तरह चिकित्सा करने पर पित्त अपने आशयमें आजाता है ; अन्त्रमें नियमित पित्तस्राव होने पर मल पीला बन जाता है ; और वात प्रकोपका शमन होकर आफरा, आंतोंमें गूड़गुड़ा-हट आदि विकार नष्ट होजाते हैं । फिर कामला रोगके लिये विहित चिकित्सा करनी चाहिये ।

कामला रोग सत्वर दूर करनेके लिये आचार्योंने कहा है कि:—

घृतदुग्धौदनं पथ्यं कुर्याद् वै लवणं विना ।

कामलां नाशयत्याशु वायुरभ्रं हरेद्यथा ॥

यदि कामला रोगी केवल भात, दूध और घी का सेवन करें, लवणका भी त्याग करे; तो जैसे वायु बहलोको उड़ा देती है, वैसेही तुरन्त सद्दौषधसे कामला नष्ट होजाता है ।

इस रोगमें नित्यप्रति मलशुद्धि अर्थ मृदु विरेचन देने

रहना चाहिये । पित्तक्षयजन्य तीव्र कामलामें ताप्यादि लोह आदि ओषधि इतर कामलाके समान ही दीजाती है । ज्वर होने पर आरोग्यवर्धनी देनी चाहिये ।

अधिक घी युक्त पदार्थ और मैदा आदि न देवें । दूध और दूधको फाड़ छानकर निकाला जल अति हितकर है ।

यकृतमें रक्तवृद्धि होने पर विरेचन देना चाहिये ; यकृतके ऊपर दशांगलेप या इतर लेप लगाना चाहिये ; और यकृत-विरेचक चिकित्सा करनी चाहिये ।

कण्डु—कामला रोगमें अति कष्टप्रद कण्डु उत्पन्न हो जाती है । इस खुजलीके शमनार्थ रात्रिके सोते समय चर्मरोगनाशक तैलकी मालिश करें । सुबह सोड़ा मिलाये हुए निवाये जलसे स्नान करें ; अथवा कार्बोलिक एसिड २० बूंद १ सेर गरम जल में मिला उसमें कपड़ा भिगोकर शरीरको पोंछनेसे खुजली नष्ट होजाती है । खुजली आने पर चार एवं प्रवेद लाने वाली ओषधि द्वारा कुछ अंशमें लाभ पहुँचता है । डाक्टरीमें लोशन हाइडार्जिरी (Lotion Hydrargyri Perchloride) १००/१०० को जलमें मिला उसमें वस्त्र भिगो कर देहको पोंछे या धोवें ।

पचन क्रिया मंद होगई हो, तो भोजन नियमित समय पर स्वल्प परिमाणमें और पथ्यही लेना चाहिये । आध्मान होने पर शौक्तिक भस्म, प्रवाल पञ्चामृत, शंख भस्म, वराटिका भस्म आदिका उपयोग करना चाहिये । एवं पित्तविकृति दूर करने के लिये पंचसकार आदि मृदु विरेचन ओषधिका सेवन कराना चाहिये ।

कितनेक समय (अवरोध जनित कामला रोग होने पर) जिन-जिन ओषधियोंसे पित्त निःसरण क्रिया अधिक उत्तेजित हो; इन सबका प्रयोग नितान्त अनुचित माना जाता है । पारद, ताम्र, नौसादर, रेवाचीनी, निसोत, एलुवा आदि पित्तनिःसारक

ओषधियां है । पित्तनिःसारक और पित्तशामक आदिका विशेष वर्णन हमने वैज्ञानिक विचारणामें किया है । विरेचन ओषधियों का प्रयोग अवरोधात्मक कामलामें निषिद्ध होने पर भी एरंड तैल या ग्लिसरीनकी पिचकारी द्वारा उदरशुद्धि करालेनेमें बाधा नहीं है ।

रक्तस्राव—अनेक बार कामला रोगमें नाक, कण्ठ, आमाशय, अन्त्र आदि स्थानोंसे या और किसी स्थानमें क्षत होकर भयंकर रक्तस्राव होने लगता है, उस क्षत आदिको सत्वर शुष्क करनेके लिये योग्य चेष्टा करनी चाहिये । शरीर पर क्षत न होजाय, इस बातका लक्ष्य रखना चाहिये । एवं अत्यावश्यकता न हो तब तक क्षत पर अस्त्रचिकित्सा नहीं करनी चाहिये । नाक, कण्ठ-नलिका आमाशय और अन्त्रसे रक्तस्राव होता है । इन स्थानोंकी चिकित्सा के लिये शीतल जलका सेक, बर्फके जलकी पिचकारी अथवा इतर शीतल, सौम्य, संकोचक प्रयोग करना चाहिये । विश्रान्ति कराना चाहिये ।

वमन—यकृतके अनेक विकारोंमें वान्ति उपस्थित होती है । यकृतके रक्तसंचालनमें व्याघात वशतः प्रतिहारिणी शिराके रक्त-संचालनमें पूर्णता वा रक्ताधिक्य होने पर वमनकी प्राप्ति होती है । पित्तनलिकाकी उग्रता या पित्ताशमरीकी गतिकी प्रतिफलित क्रिया द्वारा कै होती है । इस वमनकी निवृत्तिके लिये रोगीको तरल द्रव्य अति अल्प परिमाणमें पथ्यरूपसे बार-बार दना चाहिये । क्वचित् जलीय पदार्थ उदरमें स्थिर नहीं होता । ऐसे समय पर अर्ध तरल या कठिन पदार्थ स्वरूप मात्रामें प्रयोजित करनेसे वमनका निवारण होता है । दूधके साथ चूनेका जल या सोड़ा मिश्रित जलका प्रयोग विशेष उपकारक होता है ।

अतिसार—यकृतद्विकारमें क्वचित् घोर अतिसारकी संप्राप्ति होती है । उसे दूर करनेके लिये सौम्य, शीतल, पित्तशामक

और ग्राही ओषधिकी योजना करनी चाहिये । पित्तशामक और ग्राही ओषधियोंका विवेचन हमने वैज्ञानिकविचारणाके पृष्ठ ४८ से ५० तक किया है । शंख भस्म, जहरमोहरा, कुटजत्वक्, बिजौरा, अनार, रसोंत आदि ओषधियां पित्तशामक और ग्राही हैं । नेत्रवाला, सोंठ और पाठा, अथवा नागरमोथा, पित्तपापड़ा और पाठा मिलाकर यवागू बनाकर रोगीको खानेके लिये दे सकते हैं ।

अर्श—यकृद्के व्याधिग्रस्तोंको अनेक बार अर्श रूप उपद्रव की प्राप्ति हो जाती है । ऐसे रोगियोंके लिये मांसाहार का निषेध है । एवं उत्तेजक गरम मसाला मिर्च आदिका भी परित्याग करा देना चाहिये । अति विरेचक ओषधि भी नहीं देनी चाहिये । आवश्यकतापर हरड़ आदि मृदु विरेचन और मृदु व्यायाम हितावह हैं । अर्शमेंसे रक्तस्राव होता हो, तो तृणकान्तमणिपिष्टी, बोलबद्ध रस या जातिफजादिवटी (अर्श) का प्रयोग करना चाहिये ।

कामला चिकित्सा ।

(१) कविवर लोलिम्बराज कहते हैं कि:—

अये मनोज्ञकुण्डलै स्फुरन्मुखेन्दुमण्डले ।

गवां पयः सनागरं निहन्ति कामलामयान् ॥

गौके दूधमें सोंठ का चूर्ण (और जल) मिला उबाल शीतलकर पिलानेसे कामला नष्ट हो जाता है । यह ओषधि पित्तनलिका-प्रदाह या श्लेष्माके अवरोध होनेसे उत्पन्न कामलापर अति हितकर है ।

(२) त्रिफलाका काथ, गिलोयका स्वरस, दारुहल्दीका काथ या नीमके पत्ते या छालका रस, इनमेंसे किसी एकके साथ शहद मिलाकर पिलानेसे कामला नष्ट होता है ।

(३) निसोतका चूर्ण मिश्रीके साथ देनेसे मलशुद्धि होती है, और पित्तस्रावमें श्लेष्माजन्य या अशमरीके अगुजन्य अवरोध होता हो, तो वह दूर होकर कामला नष्ट हो जाता है ।

(४) इन्द्रायणके मूलका चूर्ण मिश्रीके साथ देनेसे कामला दूर हो जाता है ।

(५) सोठका चूर्ण गुड़के साथ देनेसे तिलपिष्टनिभ मल-युक्त कामला दूर हो जाता है ।

(६) गिलोयके पत्तों का कल्क मट्ठेमें मिलाकर पिलानेसे कामला शमन हो जाता है । मलका रंग सफेद हो, वह भी बदल जाता है ।

(७) पाण्डु रोगपर लिखा हुआ फलत्रिकादि काथ देनेसे पाण्डु सह कामला रोगकी निवृत्ति होती है ।

(८) वासादिक्वाथ—अडूसा, गिलोय, नीमकी अन्तर-छाल, चिरायता और कुटकीका काथकर शहद मिलाकर पिलानेसे कामला, पाण्डु, रक्तपित्त, हलीमक और कफजनित रोग नष्ट होते हैं ।

(९) गोदन्ती भस्म ४ रस्सी एरंडके पत्तोंके स्वरस ३-४ तोलेके साथ देने या एरंड स्वरसको दूध या तक्रके साथ देनेसे कामलाकी निवृत्ति होती है; अथवा एरंड पत्रका स्वरस ४ तोलेमें १ तोला गुड़ मिलाकर प्रातःकाल और सायंकालको देनेसे कामला ३ दिनमें दूर हो जाता है ।

(१०) कच्ची हल्दीका चूर्ण ३ माशे, ६ माशे घी और ६ माशे मिश्री मिलाकर सेवन करानेसे कामलाका निवारण होता है ।

(११) हल्दीके ६ माशे चूर्णको ४-८ तोले दहीके ताजे घोलमें मिलाकर प्रातःकाल पिलानेसे श्लेष्मादि प्रतिबन्धजनित कामला दूर होता है ।

(१२) लोह भस्म २ रत्तीको हरड़, हल्दी, धी और शहदके साथ चटानेसे ज्वरजन्य और श्लेष्मावरोधसे उत्पन्न कामला रोग शमन हो जाता है ।

(१३) आंवला, हरड़, सोंठ, मिर्च और पीपलके चूर्णमें धी, शक्कर और शहद मिलाकर सेवन करानेसे पाण्डु, कामला और हर्लामक रोग निवृत्त होते हैं ।

(१४) आलुबुखारा और इमलीको जलमें भिगो मसल खान, फिर मिश्री मिलाकर पिलानेसे यकृतप्रदाहजनित कामला दूर हो जाता है ।

(१५) भूनी हुई कुटकीका चूर्ण ३ से ६ माशे प्रातःकाल ६ माशे मिश्री मिलाकर निवाये जलके साथ देनेसे यकृद्वृद्धि, मलावरोध, ज्वर, उदरविकार, शोथ और अग्निमान्यसह कामलाकी निवृत्ति होती है । यह चूर्ण बालकोंके लिये भी अति उपकारक होनेसे रसतन्त्रसारमें इसे बालमित्र चूर्ण नं० ३ में लिखा है ।

(१६) लोहभस्म २ रत्तीको हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला और कुटकीके चूर्णमें मिला धी-शहदके साथ चटानेसे पित्तप्रणालिका-प्रदाह, मलावरोध, श्लेष्मजन्य प्रतिबन्ध और रक्तमें पित्त प्रवेश आदि दूर होकर कामला शमन होजाता है ।

(१७) शिलाजीत १-१ माशा दिनमें २ बार गोमूत्रके साथ देते रहनेसे जीर्णकामला और कुम्भकामला दूर होते हैं ।

(१८) नीमकी अन्तरछालके रसमें सोंठका चूर्ण और शहद मिलाकर देनेसे कामला शमन होजाता है ।

(१९) प्लीहान्तक चूर्ण १-१ माशा दिनमें २ बार कुटकीके काथ या जलके साथ देनेसे कामला, यकृत्प्लीहावृद्धि, शोथ, मलावरोध, अग्निमान्य, श्लेष्मात्मक प्रकोप, मैला सफेद दस्त आदि विकार दूर होकर पित्तका सम्यक्साव होने लगता है ।

यह सामान्य ओषधि होने परभी यकृतके पित्तका अन्त्रमें स्राव करानेके लिये अच्छा काम देती है ।

(२०) मूत्र थोड़ा-थोड़ा आता हो, तो गोमूत्र या जलके साथ कलमीशोरा या जवाखार मिलाकर देनेसे मूत्रशुद्धि होती है, और शोथ दूर होजाता है । इस ओषधिका कुम्भकामलामें आवश्यकता पर उपयोग किया जाता है ।

(२१) गंधकरसायन ६-६ माशे समान मिश्री मिलाकर प्रातः-सायं देने रहनेसे पाण्डु, रक्तविकार और कामलाकी निवृत्ति हो जाती है । कदाच पेचिस जैसा असर होजाय तो मात्रा कम करें । जीर्ण रोगमें मात्रा २-२ माशे ज्यादा दिनो तक देनी चाहिये ।

(२२) फिटकरीका फूला ४ से ६ रत्ती २ माशे मिश्रीके साथ मिलाकर दिनमें ३ बार जलके साथ देनेसे कामला शमन होजाता है ।

(२३) मैले सफेद रंगका मल हो, और कामला नया हो, तो लाल फिटकरी कच्ची २ से ६ रत्ती तक गोमूत्र या मट्टेमें मिलाकर देनेसे पित्तस्राव नियमित बनकर मलरंजित होजाता है; और कामला शमन होजाता है । फिटकरी गोमूत्रमें मिलाने पर भाग आते हैं; भाग उतरे तबतक उसे चम्मचसे चलाते रहे, फिर मिला देवे । २१ दिन तक यह प्रयोग करनेसे कामला और पाण्डु दूर होजाते हैं ।

(२४) शुद्ध नौसादर ४ से ६ रत्ती और १-२ मासे मिश्री मिलाकर शीतल जलके साथ देनेसे अन्त्रमें पित्तस्राव होकर कामला दूर होजाता है । यह ओषधि रोज सुबह १ बार देवें । भोजनमें केवल दूध और भात देवें । रात्रिको धनिया और मिश्री का भिगोया हुआ जल पिलावें; तथा प्रातःकाल नौसादर सेवन

से दो घण्टे पहले बीज निकाली हुई मुनक्काको पीस नीबूका रस मिलाकर सेवन करावें ।

(२५) कामलामें नस्य, अंजन और मर्दन—(अ) देवदाली के फलका रस २-४ बूँद नाकमें प्रातःकाल टपकानेसे नाकमें से पीले पानीका स्राव होकर कामला नष्ट होजाता है । जब फल सूख जाते हैं ; तब १ रत्ती चूर्ण सुँघाया जाता है । दाह होने पर गोघृत सुँघाना चाहिये । छोटे बालक और नाजुक प्रकृति वालों को नस्य नहीं देना चाहिये । आवश्यकता पर नस्य २-४ दिन तक सुँघाया जाता है ।

(आ) कड़वी तुम्बीका रस २-४ बूँद नाकमें टपकानेसे कामला चला जाता है । भोजनमें केवल दूधभात देना चाहिये । ३ दिन तक यह प्रयोग करें ।

(इ) ककोड़ेकी जड़के रसका नस्य प्रातःकालको देनेसे कामला शमन होता है ।

(ई) धीकुवारकी जड़का रस नाकमें डालनेसे पीलास्राव होकर कामला नष्ट होजाता है ।

(उ) देव कपासके कच्चे फल (जिसमें रुई न हुई हो) के रसका नस्य करानेसे कामला दूर हो जाता है ।

(ऊ) द्रोणपुष्पीके रसका अंजन करनेसे कामलाकी निवृत्ति होती है ।

(ए) हल्दी, सोनागेरू और आंवलेके चूर्णका अंजन; और जलमें मिलाकर देह पर मालिश करनेसे कामला शमन हो जाता है । नेत्रमें अंजन करनेके पहले सलाई पर शहद लगा कर चूर्णमें डुबोना चाहिये ।

(ऐ) कांसीकी थालीमें जल भरकर रोगीके हाथोंके पंजोंको फैलावें । फिर परिचारक अपने हाथ पर चूना (जल मिला हुआ) लगा रोगीके हाथ पर कूर्परसे नीचे मणिबन्ध तक मसलें । मसलने

में ऊपरसे नीचे को ही हाथ जाना चाहिये । फिर हाथोंको थालीके जलमें डुबोते जोय । इस तरह प्रयोग करनेसे देहका पीलापन दूर हो जाता है, और थालीका जल पीला हो जाता है ।

(ओ) ज्वारके दाने १ तोलेमें १ रत्ती चूना और २ बूँद जल मिलाकर रोगी को हाथसे मसलनेको कहे । ऐसा करने पर दाने पीले हो जाते हैं, और कामला दूर हो जाता है ।

(औ) कण्डु शमनार्थ चर्मरोग नाशक तैल की मालिश करे; अथवा नीबूके रससे मर्दन करने पर भी खुजली दूर होती है ।

(२६) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग सग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—मण्डूर भस्म (२० १७४—मूलीके रस और मिश्रीके साथ), पुनर्नवा मण्डूर (२० ५४४ शोथ हो, तो), कुमार्यासव (२० ७४४ हरड़ मिश्रित), तक्रमण्डूर (२० ५४३), ताप्यादिलोह (२० ४३७), नवायस लोह (२० ४४६), योगराज रस (२० ४४८), पञ्चामृत-पर्पटी (२० ३२५), द्राक्षावलेह (२० ८०४) पञ्चगव्यघृत (२० ८२७), कल्याणघृत (२० ८३२), लोहभस्म नं० २ (२० १३६ हरड़, हल्दी, घृत और शहदके साथ), सुवर्णमाक्षिक भस्म (२० १६६), कुष्माण्डावलेह (२० ८०२), सुवर्णमाक्षिक भस्म, प्रवाल पिष्टी और शौक्तिक भस्म, तीनों का मिश्रण (मूलीके रस और मिश्रीके साथ), मण्डूर भस्म और सुवर्णमाक्षिक भस्म-मिश्रण, महासुदर्शन चूर्ण, (२० ६७२), बालमिर्च चूर्ण तृतीय विधि (२० ६६६), ये सब कामला रोगको शमन करनेमें उपयोगी है ।

मण्डूर, सुवर्णमाक्षिक और लोहभस्म पाण्डु और कामला के लिये अति हितकर ओषधियाँ हैं । मण्डूर और माक्षिक, दोनों लोह भस्मके ही सौम्य कल्प हैं । बालक, नाजुक प्रकृतिके स्त्री-पुरुष आदिको सत्वर पचन होते हैं । रक्तपित्त या रक्तस्त्राव होने या पित्तप्रकोपजन्य दाह अधिक होने पर मण्डूरके साथ सुवर्ण माक्षिक भस्म मिलाई जाती है ।

अनुपान रूपसे कुमार्यासव या मूलीका रस और मिश्री देनेसे यकृतके पित्तका अन्त्रमें सम्यक् स्थाव होने लगता है, मलरंजित होता है; और रक्तमें रक्ताणुओं की वृद्धि होती। कुम्भकामला पर मरुद्धर या लोह-भस्मके साथ पुनर्नवादि काथ और शिलाजीतका सेवन चढ़िये ।

ताप्यादि लोह, नवायस लोह, योगराज रस, इन तीनोंमें लोह की प्रधानता है। उपद्रव रहित रोगमें नवायस लोह दिया जाता है; और श्वास, कास, शोथ आदि विकारसह कामला होने पर ताप्यादि लोह और योगराज रस हितकारक है। यकृत में रक्तवृद्धि होगई हो, तो उसको भी ये दोनों दूर करते हैं। इन दोनोंमें भी कफविकृति अधिक होने पर योगराज रस विशेष लाभ पहुँचाता है। रक्तमें रक्ताणुओंकी वृद्धि करना और वातप्रकोपको दबाना, ये गुण ताप्यादि लोहमें अधिक हैं। ताप्यादि लोहसे रुधिराभिसरण क्रिया सत्वर सबल बनती है; और रक्तप्रसादन होता है।

पञ्चाशत पर्वटी दिनमें ३ बार शहदके साथ देते रहनेसे कामला, पाण्डु, अतिसार और ग्रहणी विकार दूर होते हैं।

द्राक्षावलेह सौम्य ओषधि है। नाजुक प्रकृति वालोंके लिये हितकर है। एवं अनुपान रूपसे भी दिया जाता है। अम्लपित्त और मन्द वेग युक्त चिरकारी कामलामें केवल इस अवलेहका उपयोग भी हितकर माना गया है।

कुष्माण्डावलेह अम्लपित्त सह कामलामें विशेष लाभदायक है। जिनको पित्तकी उत्पत्ति अधिक होने लगती है; मस्तिष्कमें उष्णता बनी रहती है; रक्तपित्त या रक्तस्राव होता है; ऐसे रोगियोंको कुष्माण्डावलेह देना हितकारक है।

पञ्चगव्य घृत और कल्याण घृत स्नेहनार्थ एवं भोजनके लिये प्रयोगमें खानेसे रोग सत्वर शमन होता है।

महासुदर्शन चूर्ण सौम्य और उत्तम ओषधि है; ज्वर सह कामला होने पर इससे अच्छा लाभ पहुँचता है।

बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि अति सौम्य, यकृद्विरेचक (यकृत मेंसे पित्तका अधिक स्राव कराने वाला), शोथ हर और कब्जको दूर करने वाला है । बालक, स्त्री, वृद्ध, युवा, सबको निर्भयतापूर्वक दिया जाया है ।

(२७) हरिद्रादिघृत—हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीमकी अंतरछाल, खरैटी और मुलहठी, इन ७ ओषधियों को समभाग मिला दूधमें पीसकर १ सेर कल्क करें । फिर भैंसका दूध ४ सेर, जल ८ सेर और भैंसका घी ४ सेर मिला यथाविधि घृतको सिद्ध करें । इस घृतका ओषधि और भोजनरूपसे उपयोग करनेसे कामला रोग सत्वर नष्ट होता है ।

हल्दीमें रक्तशोधक, स्तम्भक, कफघ्न, प्रमेहनाशक, शोथघ्न, विषहर और कण्डुघ्न आदि गुण रहे हैं । अतः यह घृत कामला नाशके अतिरिक्त रक्तशोधन, रक्तस्रावका स्तम्भन, श्लेष्मका शोषण, मूत्रशुद्धि, शोथशमन, कण्डूनाश आदि कार्य भी करता है ।

(२८) यकृद्विद्रधिजन्य कामलापर—ताप्यादिलोह अथवा शुद्ध शिलाजीत और लोहभस्म (गोमूत्रके साथ) देते रहना चाहिये; किन्तु कफवृद्धि और पित्त क्षण होने पर ताम्रभस्म (अनार शर्बत या दाड़िमावलेहके साथ) या आरोग्यवर्धिनी देनी चाहिये । मलावरोध होने पर आरोग्यवर्धिनी हितावह है ।

(२९) यकृतमें रक्तवृद्धि होनेपर ताप्यादिलोह कुमार्यासवके साथ दें । यदि ज्वर हो, तो आरोग्यवर्धिनी या ज्वरकेसरी बटी देवे; तथा यकृत पर दशांगलेपका मोटा लेप करें ।

(३०) पित्तक्षयजन्य कामलापर प्रारम्भमें लीलाविलासरस दें । फिर रोगकी तीव्रता कम होनेपर ताप्यादिलोह या इतर ओषधिका सेवन करावें । अनुपानरूपसे सौम्य विरेचक ओषधि-त्रिफला, पक्वसकार आदि देते रहे ।

(३१) रक्तसाव होनेपर सूतशेखर रस और कुष्माण्डाबलेह विशेष हितकारक हैं ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(पित्त प्रणालीय प्रदाहज कामला—Catarrhal Jaundice)
पर—

(१) हाइड्रार्जिरी सबक्लोराइड—Hydrargyri Subchloride आधसे १ ग्रेनकी गोली, टेब्लेट या चूर्ण रात्रिको सोनेके समय एपसम सॉल्ट, रोचल सॉल्ट या इतर मलशुद्धिकर ओषधिके साथ देवें । फिर सुबह सोडियम सेलीसिलेट—Sodium Salicylate बड़ी मात्रामें दें ।

हाइड्रार्जिरी सबक्लोराइडको कैलोमेल (Calomal) भी कहते हैं । यह रक्तशोधक, रेचक और पित्तशामक है । यकृद्व्याधियाँ, कामला, जलोदर और उपदंश रोगमें जुलाबके लिये १ से ३ ग्रेन तक दिया जाता है ।

सोडा सेलीसिलासमें ज्वरेघ्न, स्वेदल, मूत्रल, अम्लतानाशक, रोपण और जन्तुघ्न गुण हैं । यकृद्व्याधियाँ, ज्वर, शिरदर्द, आमवात, मधुमेह, इन्फ्ल्युएन्ज़ा, वातवहा नाड़ियोंमें वेदना (Neuralgia) और विसर्प आदि रोगोंमें हितकर है । मात्रा १० से ३० ग्रेनकी है ।

(२) किनाइन सल्फास—Quinine Sulph १० ग्रेन
एसिड नाइट्रो-हाइड्रो क्लो० डि०—Acid Nitro-Hydro-
Chlo Dil ३० बूँद
एमोनिया क्लोराइड—Ammon Chloride ३० ग्रेन
सक्कस टेरेक्ससी—Succus Taraxaci १ ड्राम
इन्फ्युझम चिरेटा—Inf Chiretta ad ३ औंस तक
इन सबको मिलाकर १-१ औंस दिनमें ३ बार पिलावें ।

यह मिश्रण ज्वरघ्न यकृद्विरेचक, मूत्रल, स्वेदल और पित्तहर है ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—पाण्डु रोगमें लिखे अनुसार इस रोगमें भी पथ्य पालन करना चाहिये । सामान्य रूपसे प्रकाश वाले पवित्र मकान में रहना, ब्रह्मचर्य पालन, शीतल स्थानमें घूमना, पुराना शालि चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, अरहरकी दाल, मसूर, थोड़ा घी, दूध, कच्ची मूली, तोरई, कच्चे वेगन, करेला, प्याज, कच्चा केला, बिह-दान, ककड़ी, अंजीर, नारंगी, अगूर, मुनक्का, आलुबुखारा, लाल ईख, आँवला, पक्की इमली, परवल, पालक, चंदलोई, सैधानमक, पीनेके लिये उबलकर शीतल किया हुआ जल, जंगलके पशुओंके मांसका रस, पुनर्नवा, गोमूत्र, हरड़, थोड़ी मिश्री, कुटकी और पेठा आदि पथ्य है ।

कामला रोगकी चिकित्साके प्रारम्भमें स्नेहपान और विरेचन से देहको शुद्ध कर लेना चाहिये । रोगी यदि केवल दूध, भात, थोड़ा घी और थोड़ी शक्कर पर रहे और नमक भी छोड़ दे, तो मत्वर लाभ होता है । अधिक प्रकारका भोजन लेना हो, तो फुलका, खिचड़ी, मूँग या मसूरकी दाल, कच्ची मूली, परवल, चंदलोई और कच्चे केलेका शाक, थोड़ा सैधानमक मिलाकर लेवें । तीक्ष्ण पदार्थ और गरम मसाला इस रोगमें अति हानि पहुँचाता है ।

जिन रोगियोंको भयंकर कण्डू हो, उनके लिये रात्रिको यदि चर्मरोगनाशक तैल, गन्धकका तैल या इतर कण्डूघ्न तैलकी मालिश करें, तो विशेष हितकारक है, यदि ऐसा न हो सके, तो प्रातःकाल स्नानके पहले तैल मर्दन करें । फिर निवाये जलमें सोड़ा या सज्जीखार मिलाकर स्नान करें । इस तरह नीबूके रससे मालिश करके भी स्नान कराया जाता है ।

सुबह एरंड ककड़ी (पपीता) खिलानेसे मल शुद्धि और

पित्तशमन, दोनों कार्य हो जाते हैं । उदरमें वायु उत्पन्न न हो, तो पपीता देना चाहिये । ईख चूसनेसे भी पित्त नष्ट हो जाता है ।

कितनेक देशोंमें रात्रिको कामला रोगियोंको १ मुट्टी भूना चना और १-२ तोले मिश्री (या गुड़) खिलाने और जल न पिलानेका रिवाज है । इससे लाभ होने देखा गया है ।

अपथ्य—पाण्डु रोगमें लिखे अनुसार अपथ्यका त्याग करें । एवं डटकर खाना, उड़द, पित्तवर्धक पदार्थ, लाल मिर्च, गरम मसाला, खटाई, ज्यादा नमक, दाहकारक भोजन, हाँग, मैदेके पदार्थ, चार, धूम्रपान, शराब, मत्स्य, माँस, अधिक घी, राई, सरसों, तैल, नया गुड़, चाय, गरम-गरम भोजन, सूर्यके तापका सेवन, अग्निसेवन, क्रोध, मैथुन, मार्गगमन और अधिक श्रम आदिका त्याग करना चाहिए ।

पथ्यापथ्य सम्बन्धी विशेष विचार ।

यकृद्विकार—कामला, यकृद्वालयुदर, यकृद्विकारजन्य जलोदर, वमन, अर्श, अतिसार, अजीर्ण, यकृत्में रक्तवृद्धि, पित्ताश्मरी, यकृद्दाह, यकृत्में शूल, यकृद्विद्रधि, यकृत् पर कर्कस्फोट या रसाबुद, पित्तप्रकोप आदिकी चिकित्सा करनेके लिये पथ्यापथ्य, व्यायाम, जलवायु, स्नान, वस्त्रपरिधान, निवासस्थान, व्यवसाय, व्यसन आदिके सम्बन्धमें यथोचित लक्ष्य देना चाहिए । योग्य पथ्यापथ्यका पालन करनेसे रोग सत्वर शमन हो जाता है ।

भोजन धीरे-धीरे चबाकर खाना चाहिए । दूधको भी मुँहमें खूब चला चला कर धीरे-धीरे पीना चाहिए । भोजन थोड़े परिमाणमें करना चाहिए; और गर्म-गर्म नहीं करना चाहिए । हाथ लगाने पर शीतल मालूम हो, ऐसा भोजन लेना चाहिए । जो आहार द्रव्य यकृत्की क्रिया द्वारा पचन होते हैं; उन सबके

परिमाणका ह्रास कर देना चाहिए, या बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। इस तरह यकृतको शान्ति देनेके लिए गुड़, मिश्री, शकर, आलू शकरकन्द आदि शाक, श्वेतसार (मैदा) और चर्बी या घृत संयुक्त पदार्थोंको हो सके उतना कम कर देना चाहिए। यदि पित्तसाव अत्यधिक होता है, तो शर्करा बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए। कारण, शकरसे यकृतकी क्रिया उद्विग्न होती है, और अन्त्रमें उत्सेचन क्रिया बढ़ जाती है।

जो आहार यकृतको उत्तेजना देने वाले है, उन सबका त्याग कर देना चाहिए। लालभिर्च आदि विविध मसाला मिलाकर तैयार किया हुआ मांस और शाकभाजी आदिको हो सके उतना कम कर दें। एवं खमीर प्राप्त ताजी पाउ रोटी आदिका सेवन नहीं करना चाहिए। बासी पाउ रोटी स्वल्प परिमाणमें ले सकते हैं।

यकृतके निर्माण विकारकी शेषावस्था और यकृतमें रक्ताधिक्य की परिणतावस्थामें लोहित वर्णके मांसका बिल्कुल निषेध करना चाहिए। पक्षियोंका मांस या श्वेत मांस लेना हो तो ले सकते हैं। मछली खानेवालोंको बिना तैल वाली दे सकते हैं। अण्डे और दूधका सेवन लाभदायक है, किन्तु कितनेकोंको ये भी सहन नहीं होते। ऐसे समय पर अर्धपाचित दुग्ध (पेप्टोनाइज्ड मिल्क) की व्यवस्था कर देनी चाहिए; अथवा दूधके साथ सम-भाग जल मिला उबाल दूधमात्र शेष रहने पर उतार शीतल कर पिलाना चाहिए। कितनेक रोगियोंको निवाए दूधमें थोड़ा सैधानमक मिलाकर पिलानेसे सहन हो जाता है। किसी-किसीको चूनेका जल, सज्जीखार (सोडावाई कार्ब), क्षार जल आदि मिश्रित करके देनेसे दूध सरलता पूर्वक पचन हो जाता है। एवं किसी-किसीको दूधके स्थानमें मट्ठा विशेष अनुकूल रहता है। पथ्य केलिए सर्वदा रोगीकी पचनशक्ति तथा रोज लेनेके सामान्य

भोजनके नियम आदि पर लक्ष्य देकर व्यवस्था करनी चाहिए । वर्तमानमें दीर्घकाल तक प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध कठोर पथ्य पालन करनेसे लाभके स्थानमें हानि पहुँच जाती है ।

यदि उत्तेजक ओषधि-आहार आदिकी आवश्यकता हो, तो अम्ल रस, आसव आदि दे सकते हैं । परन्तु शराब, काफी आदि नहीं देनी चाहिए ।

फलोंमें मुसंबी, मीठा नीबू, मीठा अनार, संतरा आदि दे सकते हैं । शाकके लिये लौकी, मीठी तुम्बी, तोरई, बैंगन, चंद-लोई, बथुआ, पालक, कुस्माण्ड आदि देने चाहिए । अन्नमें जौ, गेहूँके माटे आटेकी रोटी, पुराने चावलोंका मांड निकाला हुआ भात तथा मूँग, मसूर या अरहरकी दालका यूष दिया जाता है ।

भोजन दिनमें ३-४ या ५ बार थोड़ा-थोड़ा देना चाहिये । एक साथ अधिक भोजन न दें । यकृतके कितनेक विकारोंमें तरल द्रव्य का निषेध किया जाता है । अतः इस बातको भी लक्ष्यमें रखकर पथ्य व्यवस्था करनी चाहिए । आहारके पदार्थों का विभाग और आमाशय आदि स्थानोंमें पचन प्रकार आदि का विवेचन प्रथम-खण्डके पृष्ठ ७४७ से ७५२ तक किया गया है ।

व्यायाम—यकृतकी विविध व्याधियोंसे विमुक्त होनेपर व्यायाम और शुद्ध वायु का सेवन अति हितकारक माना जाता है । जिन क्रियाओंसे उदरमें रक्तसंचालन विधान उत्तेजित हो, वे सब हितकारक हैं । आलसी स्वभाव वालोंके लिये तो शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यन्त आवश्यक है । व्यायाम, अश्वारोहण और भ्रमणसे फुफ्फुस, श्वासवाहिनियाँ, उदर की मांस पेशियाँ आदि सबल बन जाते हैं । इनमें अश्वारोहण विशेष उपकारक है । इस बातको भी लक्ष्यमें रखना चाहिए कि तीव्र परिश्रम युक्त व्यायाम हानिकर है ।

जलवायु—यकृतके जीर्ण रोगियोंके लिये जलवायु परिवर्तन का प्रबन्ध करना चाहिए । समुद्र भ्रमण या समुद्र किनारे निवास करनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । शिमला, मसूरी, काश्मीर, महाबलेश्वर, दार्जिलिंग आदि ऊँचे पहाड़ी प्रदेशोंके जलवायु बहुधा सहन नहीं होते । कितनेक नगरनिवासी रोगियोंके छोटे ग्रामोंमें रहनेपर शरीर स्वस्थ हो जानेके उदाहरण मिले हैं । जिस स्थानमें मलेरियाका प्रकोप होता हो, ऐसे स्थानमें यकृतके रोगीको नहीं रहना चाहिए ।

स्नान—यकृतके रोगीको शीतल जलमें, वस्त्र भिगोकर अंग पोछ लेना चाहिए; या निर्वात स्थानमें शीतल जलसे स्नान कर शरीरको कपड़ेसे हड़तापूर्वक रगड़ कर पोछना चाहिए । स्नान करके बलपूर्वक अंग पोछनेसे त्वचा की क्रिया प्रबल होती है, बलकी वृद्धि होती है विष निकल जाता है, आंर मानसिक प्रसन्नता होती है ।

यदि यकृतमें रक्ताधिक्य है, तो रोगीको ईषदुष्ण (निवाये) जलसे स्नान कराना चाहिए, और स्नान करके सब अंगोंको उत्तम रूपसे रगड़ना चाहिए । स्नान जहाँ तक हो सके सुबह ही कराना चाहिए । परिश्रम, मानसिक उद्वेग और भोजनके पश्चात् तो स्नान कदापि नहीं कराना चाहिए ।

रोग जीर्ण हो, तो जलके साथ सज्जीखार (सोडावाई कार्ब) नमक या नमक-सोरेका तेजाब (नाइट्रोहाईड्रोक्लोरिक एसिड) मिलाकर स्नान कराना चाहिए । स्नानके लिये टबमें ६६ डिग्री गरम जल भरें । फिर उसके भीतर १ गैलन जलमें १॥ औंसके हिसाबसे तेजाब मिला लें । स्नानसम्बन्धी नियम प्रथम खण्डके पृष्ठ २६६ से ३०० तक दिये हैं । इसके अतिरिक्त १ फीट चौड़े और दो गज लम्बे फलालेनको तेजाब मिश्रित जल में भिगो निचोड़कर यकृतके ऊपर लपेट देना चाहिए । फिर उस

पर दूसरा गरम वस्त्र अथवा रोगन युक्त रेशम (Oiled silk) लपेट देना चाहिए । इस वस्त्रको रोज रात्रिको बदल देना चाहिए ।

यदि यकृतमें शूल चलता हो और पित्ताशयमें अशमरी हो; तो निवाए जलसे स्नान कराना चाहिए । अशमरीकणको निकाल देनेके लिये निवाये जलका स्नान हितावह है ।

उष्ण जलका स्नान क्षीणता लाता है; इसलिये उष्ण जलसे स्नान-सप्ताहमें २-३ से अधिक बार नहीं कराना चाहिए । यदि मस्तिष्कमें रक्ताधिक्य जनित चक्कर, कानमें सूँसूँ आवाज आना, शिरमें भारीपन आदि हो, तो गरम जलसे स्नान नहीं कराना चाहिए । कामला आदि रोगोंमें स्वेदन, और बाष्प स्नानसे अनेक बार अच्छा उपकार होता है ।

वस्त्र परिधान—यकृतकी पीड़ा होने पर शीत काल और शीतल देशमें गरम वस्त्र धारण करना चाहिए । गरम देश और ग्रीष्म ऋतुमें भी वस्त्रकी समझाल योग्य रूपसे रखनी चाहिए । जिस तरह शीत न लग जाय उस तरह बर्त्ताव करना चाहिए । यदि यकृतमें रक्ताधिक्य है; या रोगी रक्ताधिक्यके वशवर्त्ती है, तो यकृतके ऊपर सर्वदा सतत फलालेन या गरम वस्त्र बँधा रहना चाहिए ।

निवासस्थान—यकृतके पीड़ाग्रस्त रोगीको एवं व्याधिके-वशवर्त्तीको सर्वदा शुष्क स्थानमें रहना चाहिए । जिस स्थानमें सूर्यका ताप अधिक समय तक रहता हो, ऐसा स्थान हितकारक है । शौच आदिके लिये भी निर्वात स्थानका प्रबंध करना चाहिए । तीव्र वायु वाले स्थानमें शौच नहीं जाना चाहिए ।

व्यवसाय—यकृतके रोगीको ऐसा उद्योग करना चाहिए कि, जिसमें शरीरको श्रम पहुँचता रहे । बिल्कुल बैठे रहनेवाले व्यापार-उद्योगका त्याग करना चाहिए । एवं जिन उद्योगोंमें क्षणमें

उष्णता, क्षणमें शीतलता बारबार शरीर गीला होजाना आदि होते हों, ऐसे कार्योंको तो छोड़ ही देना चाहिए ।

व्यसन—शराब, अफीम, भांग, गांजा, बड़ी, सिगरेट, तमाखू, चाय, काफी, आदि व्यसनोंका त्याग कर देना चाहिए । रोग निवारणार्थ नियमित समयपर भोजन, मर्यादित पथ्य आहार, नियमित समय पर शयन, यथासमय शय्यात्याग, यथासमय स्नान और यथोचित व्यायाम आदिका सेवन करना चाहिए ।

सूचना—यकृतके रोगियोंको विलासपरायणता, आलस्य, सीलवाले मकानमें रहना, असमय पर सोना, अपथ्य भोजन, तेज शीतल वायुका सेवन, क्षणमें शीतल और क्षणमें उष्ण स्थान पर जाना, गरम मसाला, गरम-गरम भोजन और गरम-गरम दूध आदि हानिकर हैं ।

यकृतप्रदाह ।

यकृतप्रदाह—हिपेटाइटिस—Hepatitis ।

निदान—बहुधा यह व्याधि उष्ण कटिबन्ध प्रदेशमें २० वर्षसे अधिक आयुवाले युवकोंको होती है । अकस्मात् शीत लग जाना, देह उत्तम होने पर पंखेसे वायु डालना, या ज्वरावस्थामें ज्वर प्रतिरोधक शक्ति कम हो, ऐसी अवस्थामें निद्रा आजाने पर शीतल वायु लगती रहना इत्यादि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होजाती है । निद्रावस्थामें ज्वर रोगोत्पादक कारणोंका प्रतिरोध करनेकी क्षमता (Ability) का ह्रास होता है, तब इस व्याधिकी संप्राप्ति होजाती है । शीत प्रधान देशमें ऐसे समय पर शीत लग जानेसे कास, न्यूमोनिया या वृक्कप्रदाहकी उत्पत्ति होती है; परन्तु ग्रीष्म प्रधान देशमें ऐसी अवस्थामें यकृतप्रदाह या रक्तातिसार होजाता है । एव आन्त्रिक ज्वर, विषमज्वर और इतर संक्रामक व्याधियोंके विषके प्रभावसे यकृत प्रभावित होजाता है, तथा अति उतेजक आहार, अपरिमित मद्यपान, श्रमाधिक्य या अति तेज

तापका सेवन, इन कारणोंसे भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । यकृत में चिरकारी रक्तसंग्रह और यकृद्वृद्धि वर्तमान होने पर उपरोक्त उद्दीपक कारणोंका सम्बन्ध हो जाय, तो सहज यकृतप्रदाह होजाता है ।

विशेषतः आशुकारी रोगकी सम्प्राप्ति अति शराब सेवन और अकस्मात् शीत लगजाना आदि कारणोंसे होती है; तथा चिरकारी यकृत-प्रदाह की प्राप्ति, आशुकारी रोगकी जीर्णावस्था, घृत-तैल-मिश्रित अधिक आहारका सेवन करने पर भी योग्य परिश्रमका अभाव, शराब, किनाईन, पारद आदि ओषधियोंसे उत्पन्न विष और इतर यन्त्रोंके चिरकारी प्रदाहके हेतुसे होती है ।

आशुकारी यकृतप्रदाहमें विशेषतः यकृतस्थ पदार्थ आक्रान्त होते हैं । यदि बाहरकी ओर प्रदाह हो तथा विद्रधि रूप धारण कर लेवें; तो पूय विशेषतः बाहरकी ओर गति करता है, यदि पूयगमन भीतरकी ओर होजाय; तो रोग अधिक दुःखदायी बन जाता है ।

सम्प्राप्ति—रोगारम्भ होने पर यकृतमें रक्तवृद्धि (Hyperaemia) होती है । फिर अनेक या समस्त कोषसमूह (Lobules) की वृद्धि हो जाती है । सब कोषसमूह प्रदाहग्रस्त होने पर यकृत सत्वर फूल जाता है । अधिकांश स्थलोंमें यकृतके कुछ अंशका ही प्रदाह होता है । फिर और स्थानोंके अनुसार शोथ आ जाता है । यह शोथ अनुकूलता अनुसार आगे गति करता है । यह शोथ ऊर्ध्व, दक्षिण-कुम्फुसाभिमुख, दक्षिण दिशामें उरःपञ्जरके निम्नप्रदेशकी ओर, उरःपञ्जरके मध्यभागमें या पशुर्काके निम्न किनारेके नीचे भी हो सकता है; अर्थात् रोग होनेके पहले दाह-शोथके स्थानका निर्णय नहीं हो सकता । सामान्यतः यकृतका दक्षिण खण्ड पीड़ित हो जाता है ।

यदि रोगकी प्रथमावस्थामें रोगीकी मृत्यु होने पर शवच्छेद किया जाय तो, यकृतमें रक्तवृद्धि और सर्वरक्त प्रणालियाँ रक्तसे पूर्ण प्रतीत होती है । काटने पर यकृतके अंश अत्यंत रक्तवर्णके और कोमल प्रतीत होते हैं; तथा उनमें से प्रचुर रक्तस्राव होने लगता है । इस रक्तवृद्धिकी

अवस्थाके साथ-साथ स्थान स्थान पर मोम सदृश कोमलता युक्त अपक्रान्ति (Waxy Degeneration) होती है । यह अपक्रान्ति संयोजक तन्तुओं (Connective tissue) और कोषोंमें रही हुई रक्तवाहिनियोंकी होती है । इस अपक्रान्तिसे धूसर रंगके छोटे छोटे कोमल खण्ड बन जाते हैं । प्रदाहग्रस्त अश धनीभूत हो जाता है ; और वह सौत्रिक तन्तुके दृढ़ स्तर द्वारा परिवेष्टित हो जाता है । फिर प्रदाहग्रस्त कोषसमूहोंकी बहुधा अपक्रान्ति हो जाती है , तथा वे पीतवर्णके बन जाते हैं । कोषसमूहोंकी बाह्य सीमा अदृश्य हो जाती है ; और पित्तनिसारक कोष सब नष्ट हो जाते हैं । फिर ये सब तैलकोष रूप (Oil Globules) और धातुरजक मेदकोषाणु (पिगमेण्ट मोलेक्युलस—Pigment Molecules) मिश्रित बालुकासदृश दानेदार त्याज्य पदार्थ (Granular Debris) में परिणत हो जाते हैं । एव इनके समीप रहे हुए याकृतकोषका अश बहुधा मलिन, रूद्ध, और लसीकासे आवृत हो जाता है ।

अपक्रान्ति—(Degeneration) शरीरके किसी तन्तु (Tissue) के मूलभूत जीवन पदार्थ (Protoplasm) के रासायनिक (Chemical) परिवर्तन या सूक्ष्मतरंग अणुओंके वैधानिक (Molecular) परिवर्तन होनेसे तन्तुओंके धर्म और प्रकृतिमें रूपान्तर होकर शनैः-शनैः तन्तु विनाशके वशवर्ती हो जाय, उस क्रिया अथवा विकार को अपक्रान्ति और अपकर्ष कहते हैं । इस अपक्रान्तिसे पीडित होने पर संयोजक तन्तु स्वकार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । इस अपक्रान्तिमें अनेक प्रकार हैं । इनमें से एक दानेदार अपक्रान्ति है ।

दानेदार अपक्रान्ति—पेरिक्लाइमेटस या ग्रैन्युलर डिजनरेशन—Paranchymatous or Granular Degeneration—यकृत और वृक्स्थानके कोषोंकी स्थूल कलामयी वृत्तिके कोषात्मक आच्छादन (Epithelium) की अपक्रान्ति हो जाती है । अपक्रान्त कोषोंके अशुचीकरण यन्त्रसे देखने पर कोषोंमें रेत समान पृथक् पृथक् कण प्रतीत

होते हैं । इन कणोंको सिका, चार या इधरके द्रवमें डाला जाय, तो ये नहीं गलते । ये सब कण रहने पर कोष कीचड़में लपेटे हुएके सदृश (Rather Muddy) भासते हैं । आन्त्रिक ज्वर, शोणज्वर, प्रलापक ज्वर, कण्ठरोहिणी, पूयमय रक्तरोग आदि व्याधियोंमें इस प्रकारकी अपक्रान्ति हो जाती है । यह अपक्रान्ति विद्वानोंकी मान्यता अनुसार शारीरिक उत्ताप अति बढ़ने पर हो जाती है ।

लक्षण—इस रोगके प्रारम्भमें ऐसा कोई महत्त्वका लक्षण नहीं मिलता कि, जिससे तत्काल रोगका निर्णय हो सके । पेटिशमें अनेक वार यकृद्वृद्धि हो जाती है । एवं कास-श्वास रोगमें भी यकृत्के भीतर वेदना होना, ऐसा देखनेमें आता रहता है । सामान्य रूपसे अतिशय कम्प, शीत लगना, और व्याकुलता आदि लक्षणों सह इस रोगका अकस्मात् प्रारम्भ हो जाता है । किसी-किसीको पूर्व कालमें कुछ दिनों तक बेचैनी रहती है । रोग प्रारम्भ होने पर ज्वर आ जाता है । क्षुधानाश, उबाक, वमन, सफेद पीले रंगकी लेपयुक्त जिह्वा, बद्धकोष्ठ (किसीको बद्धकोष्ठके पश्चात् अतिसार), मलका रंग भस्मके समान हो जाना, कामला रोग के समान त्वचाका रंग बन जाना (कामला होने पर नेत्रावरण पर पीलापन आ जाता है; यह इस रोगमें नहीं होता), मूत्रमें एल्ब्युमिन जाना (कामलामें पित्त भी जाता है), यकृत्की वृद्धि होनेसे यकृत्में वेदना और भारीपन तथा दबाने पर अधिक पीड़ा होना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

इनके अतिरिक्त दक्षिण स्कन्ध और हस्तमें वेदना होना, यह इस व्याधिका प्रधान लक्षण है । शिरमें भारीपन, निद्रा, तन्द्रा, प्रलाप आदि मस्तिष्क गत लक्षण उपस्थित होते हैं । यदि रोग भयंकर रूप धारण कर लेता है, तो रोगी क्षीण और अस्थिपिञ्जर-सा कुश होकर मृत्बु-मुखमें गिर जाता है ।

दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Hypochondriac region) की स्पर्श परीक्षा करने पर पूर्णताका बोध होता है । यकृत् पर दबाने या ठेपन

करने पर पीड़ा होती है । ठेपन करनेसे समग्र यकृद्वृद्धि हो, तो घनध्वनि अधिक व्यापक होती है । किन्तु सामान्य रूपसे यकृत्का केवल दक्षिण खण्ड (Right Lobe) एवं किसी-किसी बार यकृतके सीमावद्ध अल्प अशकी ही वृद्धि होती है ।

उदर्याकला प्रदाह—यदि उदर्याकलाका लघु कोष (Lesser Sac) आक्रांत हो जाता है, तो शूल चुभाने या काटने सदृश वेदना होती है । यदि इसके कोष समूह (Lobules) प्रभावित हो जायें, तो गंभीर वेदनाका अनुभव होता है । करवट बदलने या अगसचालन करने पर वेदनाकी वृद्धि होना, वामपार्श्वसे शयन करनेमें असमर्थता, कभी-कभी दाहिने कंधे पर तीर मारने सदृश या शनैः शनैः काटने सदृश वेदना होना, श्वासोच्छ्वासमें तेजी, दीर्घ श्वास लेनेपर वेदना, कुछ अंशमें श्वास कृच्छ्रात् और दुःखदायी शुष्क कास तथा ज्वर आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

यकृदावरण प्रदाह—(Perihepatitis) यदि यकृतके कोष-समूहोंके बाह्य अशके समीप प्रदाह स्थित हो और यकृत्का आच्छादन (Glisson's Capsule) अर्थात् उदर्याकलाके नीचे और याकृती पित्तनलिका आदि अश पर रहे हुए सयोजक तन्तुओंमेंसे बना हुआ आवरण भी साथ-साथ प्रभावित हो जाय, तो पार्श्व भागमें अति प्रबल वेदना होती है । यह विकार सामान्य रूपसे यकृतके आंतरिक प्रदेशके प्रदाह (Interstitial Hepatitis) सह उत्पन्न होता है । इस प्रदाह की उत्पत्ति उपदृशके विषप्रकोप, समीपमें रहे हुए फुफ्फुसावरणके प्रदाहके विस्तार तथा आशुकारी यकृत्प्रदाहसे होती है ।

यकृत्का बाह्य प्रदेश आक्रान्त होनेपर वेदना, पीड़नाक्षमता, शुष्क कास, दीर्घ श्वास लेनेमें शूल सदृश वेदना आदि होते हैं; किन्तु यकृत् की वृद्धि प्रारम्भमें नहीं होती; अथवा स्वल्प परिमाणमें होती है ।

प्रतिहारिणी शिराप्रदाह—(Pylephlebitis) कभी-कभी यकृतके भीतर अन्नरसका वहन करने वाली प्रतिहारिणी शिरा (Portal

Vein) प्रभावित हो जाती है । इस व्याधिसे यकृतका पूयमयप्रदाह और विद्रधि होते देखा गया है । निकटके किसी स्थानका प्रदाह विस्तृत होनेपर यह शिरा प्रभावित हो जाती है; या किसी दुष्ट आहार सेवन द्वारा भी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

इस व्याधिके प्रारम्भमें यकृत पर भयानक वेदना होती है । फिर मोटापन आ जाता है । प्रदाहमें जब पूय होनेका प्रारम्भ होता है; तब वेदना और ज्वरकी वृद्धि हो जाती है । इस रोगमें कामला भी हो जाता है । इसके साथ अन्त्रमेंसे रक्तस्राव और उदर्याकलाप्रहाह भी हो जाता है । यह रोग क्वचित् जल्दी अन्त्रा हो जाता है; विशेषतः पूय होकर विद्रधि बन जाता है ।

यदि महाप्राचीरा प्रदेश आक्रान्त होता है, तो प्रबल आक्षेप युक्त वेदना, कास और श्वास, अतिशय क्षीणता तथा अवसाद प्रतीत होते हैं । अनियमित सविराम प्रकार का ज्वर आता रहता है । क्रमशः ज्वर-वृद्धि, वेदना, दवानेपर वेदनाकी वृद्धि होना, पाँचवीं, छठवीं, और सातवीं उपपशुका को लगी हुई उदरदण्डिका (Rectus Abdominis) नामक लम्बी मांसपेशीका आक्षेपग्रस्त होकर संकुचित और दृढ़ हो जाना तथा कभी-कभी कामलाका क्रमशः घोर रूप धारण कर लेना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

यदि रोगका दमन न हो, तो सम्भवतः यकृतपर विद्रधि उत्पन्न हो जाता है; किन्तु किसी-किसी समय यकृतके भीतरका गम्भीरतर अंश आक्रान्त होनेसे विद्रधिजन्य प्रादाहिक लक्षण इतने अस्पष्ट होते हैं कि, रोग विनिर्णय दुःसाध्य हो जाता है । यकृतप्रदेश पर दवानेसे वेदना होना और यकृतकी वृद्धि होना, ये दोनों लक्षण बहुधा नहीं होते । अति मन्द ज्वर रहता है । ऐसे समयपर लक्षण फुफ्फुस वेदनाके रूपमें प्रकाशित होते हैं । पुनः पुनः शुष्क कास, भागवाला कफ और कुछ अंशमें श्वासकृच्छ्रता होते हैं; तथा प्रच्छन्नभावसे रोग परिवर्धित

होना जाता है । फिर रोग दृढ़ बन जानेके पश्चात् यकृतपर विद्रधि उपस्थित होता है ।

साध्यासाध्यता—यकृतप्रदाहमेंसे यदि विद्रधि बन जाय, तो अति विषम व्याधि मानी जाती है । यदि सबल रोगीकी यथासमय चिकित्सा की जाय, तो प्रदाह शमन होकर वह स्वस्थ हो जाता है ।

यकृतप्रदाहचिकित्सा ।

रोगीकी शारीरिक अवस्था और आदाहिक क्रियाधिक्यके अनुसार इस रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये । इस रोगमें स्थानिक या सार्व-
ज्ञिक रक्तमोक्षण कराना । स्थानिक रक्तमोक्षण इष्ट हो, तो जलौका या कपिगुलासको उपयोग में लाना चाहिये । रक्तमोक्षणके लिये विधि चि० त० प्र० प्रथम खण्डके पृष्ठ २७४ से २८२ तक विस्तारसे लिखी हैं, अथवा अलसी या राईकी पुल्टिस बाँधे, या ब्लिस्टरका प्रयोग करे और पीड़ा शमनार्थ अफीम मिश्रित ओषधि दे ।

यदि अतिसार या प्रवाहिका न हो, तो रोगीको मृदु विरेचक ओषधि देनी चाहिये । एवं उदरशुद्धि कायम रहनेके लिये बार-बार मृदु विरेचक (सारक) ओषधि देते रहना चाहिये । कोष्ठशुद्धि और वेदना कम करानेके लिये सुदर्शन चूर्णके फाँटके साथ रेवाचीनी या कुटकी का थोड़ा चूर्ण देना हितकारक हैं । सुदर्शन चूर्ण तीव्र प्रकोप और मन्द प्रकोप, दोनों समयमें लाभदायक माना गया है ।

इस रोग की मुख्य ओषधि सूतशेखर हैं । यह ओषधि यकृतप्रदाहके अतिरिक्त आमोशय और अन्नमे रहे हुए विषको भी दूर करती है । सूतशेखरको गिलोय सत्व और शहदके साथ दिनमें दो बार देते रहना चाहिये, और कोष्ठको शुद्ध रखना चाहिये ।

यदि विरेचनकी तीव्र ओषधि देनी हो, तो नारायण चूर्णका सेवन कराना चाहिये । विरेचनके पश्चात् प्लीहान्तक चूर्ण दिनमें ३ बार १-१ माशा देते रहें; तथा रात्रिको पचसकार या पचसम चूर्ण देते रहनेसे

भी थोड़े ही दिनोंमें तीव्र और चिरकारी, दोनों प्रकारके यकृत प्रदाह शमन हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त हरइयुक्त कुमार्यासव भोजनके पश्चात् देते रहना अति हितकर है।

रोग शमन होनेपर हृदयपौष्टिक ओषधि रूपसे ताप्यादि लोह (२० ४३७), नवायस लोह (२० ४४६), लक्ष्मीविलास रस (२० ३७४) और शिलाजीत देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है।

यदि अतिसार हो तो पञ्चामृत पर्पटी दूसरी विधि (२० ३२७) बीराके चूर्ण और शहदके साथ दिनमें ३ समय ८-१० दिन तक देते रहना चाहिये। पञ्चामृत पर्पटी द्वितीय विधि मलका वर्ण, सफेद होनेपर अधिक उपकारक है।

यदि यकृतमें विद्रधिकी उत्पत्ति हो जाय, तो विद्रधिकी प्रथमावस्था में पुलितस, तारपीन तैलकी मालिश, सेक आदि उपचार करें। यकृत पर जल मिश्रित नमक-सोराके तेजाब (एसिड नाइट्रो-हाइड्रोक्लोरिक डिल्यूट-Acid Nitro Hydrochloric Dil) में बल्ल भिगो कर सतत रखते रहें। विद्रधि होने पर वंग भस्म और शृंग भस्म मिश्रितकरके देना हितकारक माना गया है। इस मिश्रणसे विद्रधिकी उत्पत्तिका अवरोध होता है; एवं उत्पन्न हो गया हो, तो पूयके शोषण करनेमें सहायता मिलती है; और ज्वरका भी शमन होता है। विशेष विचार विद्रधि रोगमें यथास्थान किया जायगा।

पथ्यापथ्य—इस रोगका पथ्यापथ्य कामला रोगके अन्तमें पृ० ४१७ से ४२२ तक लिखा है, उसके अनुसार पथ्यका पालन करना चाहिये।

सूचना—इस रोगमें जुधा नष्ट हो जाती है; परन्तु जब चिकित्सासे लाभ होनेपर जुधाकी वृद्धि होती है; तब भी एक समयमें अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। शनैः शनैः आहार बढ़ाना चाहिये। घृत, तैल, मत्स्य, मांस, गरम मसाला आदि आहारका उपयोग हो सके उतना कम करना चाहिये। एवं शराबका तो बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये।

चिरकारी यकृतप्रदाह होने पर अधिक मद्यपान करनेसे यकृतदाल्युदर, मेदोवर्धक आहारका अधिक सेवन करनेसे यकृतमें मेदोभरण, पारद, क्विनाईन, आदि ओषधियोंका अधिक व्यवहार करने या उपदंश अथवा क्षय रोग की उत्पत्ति हो जाय, तो मोमवत् यकृत, तथा उपदंश हो जानेसे ग्रन्थिमय यकृत आदि व्याधियां उपस्थित होती हैं । अतः पथ्यापथ्यके सम्बन्धमें आग्रहपूर्वक समझना चाहिये ।

यकृतपक्रान्ति ।

यकृतकी अपक्रान्ति—डिजिनरेशन ऑफ धी लीवर—*Degeneration of the Liver* ।

यकृतमें रासायनिक विकृति होने पर अपक्रान्ति होती है । यह अपक्रान्ति विशेषतः रक्त विकारके हेतुसे होती है अपक्रान्तिमें अनेक प्रकार हैं । इनमेंसे विशेषतः यकृत दो प्रकारकी अपक्रान्ति के वशवर्ती है । मोमवत् अर्थात् सिक्थापक्रान्ति (*Waxy Degeneration*) और मेदमय अपक्रान्ति (*Fatty Degeneration*) । इन दोनोंका विवेचन डॉक्टरी ग्रन्थोंके आधारसे यहाँ किया जाता है ।

यकृत की सिक्थापक्रान्ति ।

यकृतकी सिक्थापक्रान्ति—यकृतकी वसापक्रान्ति—मोमवत् यकृत—एल्ब्यु मिनोइड लिवर—अॅमिलोइड लिवर—लार्डेशस लिवर—वेक्स लिवर—*Albuminoid Liver-Amyloid Liver-Lardaceous Liver-Waxy Liver* ।

सिक्थापक्रान्ति को श्वेत सारमय अपक्रान्ति (*Amyloid*) वसापक्रान्ति (*Lardaceous*) और ओजापक्रान्ति (*Albuminoid*) भी कहते हैं । यह अपक्रान्ति सयोजक तन्तुओं पर आक्रमण करती है, जिससे वहाँ पर मोम या एल्ब्युमिन सदृश पदार्थ विशेष समृद्ध होता है । फिर उस स्थानकी वृद्धि होजाती है । वहाँ पर अणुबीक्षण यन्त्र से देखने

पर उज्ज्वल पदार्थ प्रतीत होता है । सूक्ष्म रक्तवाहिनियोंके मध्यकोष, प्लीहा, यकृत, वृक्क, हृदयकी अन्तरकला (Endocardium), अन्नकी श्लैष्मिक कला, लसीका ग्रन्थियाँ, अग्न्याशय, ग्रैवेयग्रन्थि (Thyroid gland) अधिवृक्क ग्रन्थि (Suprarenal gland) और प्रजनन यन्त्र समूह, इन सबके संयोजक तंतु सिक्तापक्रान्तिके वशवर्ती हैं । इनमें जिसकी अपक्रान्ति होती है ; उस पीड़ित यन्त्रकी आकृति, वजन और आपेक्षिक गुरुत्वकी वृद्धि होती है ।

श्वेतसारमय पदार्थ—(Amyloid) प्रारम्भमें किसी यन्त्रकी केशिकाओं और क्षुद्र धमनियोंकी दीवारोंमें प्रतीत होता है । फिर उसके तन्तुओंको प्रभावित करता है; पश्चात् कोषके भीतर और कोषमध्यस्थ पदार्थमें वह फैल जाता है । अन्तमें वह समस्त यन्त्रकी अपक्रान्ति करा देता है । जैसे-जैसे श्वेतसारकी वृद्धि होती जाती है; वैसे वैसे उन स्थानोंकी आकृति बढ़ती जाती है; और उनको पूर्ण भर देता है । पूर्णता आजाने पर जीवकेन्द्र अदृश्य हो जाते हैं; सब कोष उज्ज्वल पदार्थमें परिवर्तित होजाते हैं; अनेक कोष एकत्र होजाते हैं; और उनकी सीमा-रेखा दृष्टिगोचर नहीं होती । अपक्रान्ति पीड़ित अंश मोमसदृश मुलायम होजाता है ; और उसका आवरण (Capsule) दृढ़ होजाता है । यन्त्र कुछ अंशमें स्थितिस्थापक (Elastic) होता है ; और काटने पर मोमसदृश मृदु और उज्ज्वल प्रतीत होता है ।

इस अपक्रान्ति से पीड़ित अंशका पोषण और क्रिया, दोनों क्रमशः नष्ट होजाते हैं । सब कोषोंका हास होता है; और वे अपक्रान्तिग्रस्त हो जाते हैं । इस तरह कोषीय पदार्थका हास होता है; और उसकी क्रिया भी स्थगित होजाती है ।

यह अपकर्ष देहपोषणके अभावरूप (Cachexia) दूषितावस्था के साथ होजाता है । अस्थिकी चिरकारी वेदना, फुफ्फुसावरण विद्रधि (Empyema), जीर्ण राजयक्ष्मा, उपदंश, वृक्क और मूत्राशयका

जीर्णप्रवाह, वृक्कविद्रधि (Pyelitis) आदि रोगोंमें तथा किमी स्थानमें से प्रचुर पूय निकलने पर यह परिवर्तन होजाता है ।

वृक्क इस अक्क्रान्तिके हेतुसे निस्तेज और बड़ा होजाता है । यह अपक्क्रान्ति वृक्कमें रही हुई मूत्रोत्सिकाओं (Malpighian Capsules) में अवस्थित कृजु का धमनियोंके गुच्छाओं (Glomeruli) से प्रारम्भ होती है । स्त्रीहामे इस अक्क्रान्तिके दो प्रकार हैं । राजयक्ष्मामे वृक्क की अक्क्रान्तिके सदृश स्त्रीहामे साबूगानेके समान कण (Sago Spleen) हो जाते हैं, और उपदशके हेतुसे समस्त प्लीहाकी अक्क्रान्ति होती है । इस प्रकारमे प्लीहा बड़ी और कठोर हो जाती है ।

यकृत्के भीतर अनेक सूक्ष्म कोषसमूह (Lobules) हैं । उनके भीतर रही हुई केशवाहिनियोंसे अपक्क्रान्तिका प्रारम्भ होता है । केशवाहिनियाँ सूज जाती हैं । फिर इस अपक्क्रान्तिसे उत्पन्न पदार्थका यकृत्के कोषाणुओं पर दबाव पड़नेसे वे सब चिटक जाते हैं; और अक्क्रान्ति-अस्त होकर शीर्ण (Atrophy) हो जाते हैं । यकृत् बहुत बड़ा और मुलायम हो जाता है । कटने पर कटा हुआ भाग (Cut-surface) तेजस्वी और मोम सदृश पीले वर्णका प्रतीत होता है । यदि इसके ऊपर टिङ्चर आयोडीन डाला जाय, तो उसका वर्ण गहरा रक्त-पिङ्गल बन जाता है, फिर वह क्रमशः तिरोहित होकर मूल रंगकी प्राप्ति हो जाती है । यदि आयोडीन प्रयोगके पश्चात् ५ प्रतिशत गन्धकके तेजाबका द्रव डाले, तो वर्ण काला-नीला या बैंगनी-सा हो जाता है । यदि मैथिल बायोलेट (Methyl Violet) का प्रयोग किया जाय, तो वर्ण गुलाबी हो जाता है ।

सिक्थापक्क्रान्तिके सामान्य लक्षण—क्षीणता, व्याकुलता, शीर्णता और मुखका रंग मोमसदृश हो जाना, इत्यादि सार्वज्ञिक लक्षण उपस्थित होते हैं । स्थानिक लक्षण स्थानभेदसे पृथक् होते हैं ।

इस अपक्क्रान्तिको दूर करनेके लिये पौष्टिक ओषधि, बादामका तैल,

च्यवनप्राशावलेहके साथ लोहभस्म और अभ्रक भस्म आदि-आदि हित-कारक हैं ।

रोग परिचय—यह यकृतकी चिरकारी वेदना है । इस व्याधिमें यकृतके कोषसमूह या रक्तवाहिनियां अथवा दोनोकी स्थानिक अथवा व्यापक सिक्थापक्रान्ति होती है । कण्ठस्थ लसीकाग्रन्थिके विकार अपची (Scrofula) के पदार्थके समान इसमें नूतन कोषोकी उत्पत्ति नहीं होती । इसमें तो संयोजक तन्तुओंमें मोमवत् पदार्थ संचित होता जाता है ।

इस अपक्रान्तिसे यकृतका वजन बढ़ जाता है । कभी-कभी वजन १॥ सेरसे बढ़कर ८ सेर पर्यन्त हो जाता है; किन्तु मेदकी अधिकता न हो, तो इसके अवयवमें कुछ मी विलक्षणता नहीं होती । कोई-कोई समय यकृद्वृद्धि इतनी हो जाती है कि दक्षिण वृक्क और लीहा आदि इतर यन्त्रोंको यकृत आच्छादित कर देता है ।

इस अपक्रान्तिमें बहुधा मंडलके बाहर मेदसंचय, मध्यमें मोमवत् द्रव्य संचय और भीतर धातुरंजक द्रव्य (Pigment) संग्रहित होता है ।

निदान—यह रोग स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है । किसीभी धातुका क्षय, राजयक्ष्मा, अपची, चिरकारी पूयोत्पत्ति, उपदंश, रक्तमें विषमिश्रण और जीर्ण विषम ज्वरजनित शीर्णता (Malarial cachexia) आदि विकारोंमें यकृतकी सिक्थापक्रान्ति हो जाती है ।

लक्षण—यकृत स्थानमें जड़ताका भास होता है; किन्तु प्रारम्भिक कालमें दबाने पर वेदना नहीं होती । या स्वल्प वेदनाका अनुभव होता है । फिर यकृत मृदु, मोटा और बढ़ा हुआ भासता है । उबाक, वमन, आफरा, मलके रंगका परिवर्तन, अतिसार और क्वचित् कामला आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

रोगके अंतमें प्लीहा, वृक्क, आमाशय और यन्त्रकी विकृति हो जाती है । जिससे उपद्रव रूप जलोदर और रक्तमें मूत्रविषवृद्धि (वृक्क-संन्यास-Uraemia) की उत्पत्ति भी हो जाती है । देहमेंसे प्रस्वेद और श्वास द्वारा विशेष दुर्गन्ध निकलती रहती है । तथा मूत्रमें कसा या

एल्युमिन जाने लगता है । विशेष विचार रोगारम्भमे सिक्थापक्रान्तिकी सम्प्राप्तिके वर्णनमे दर्शाया है ।

यकृत् रर ठेपन करनेसे जड़ध्वनि (Dull resonance) की सीमामें वृद्धि होनेका बोध होता है । इस रोगका विनिर्णय प्लीहा और वृक्क एक ही समयमे विकृत हो जानेसे सरलता पूर्वक हो जाता है ।

मोमवत् यकृद्व्याधि चिकित्सा ।

इस रोगकी चिकित्सा रक्तशोधक और रक्तपौष्टिक ओषधियों द्वारा की जाती है । यदि रोग अति बढ गया है, तो परिणामका निर्णय नहीं हो सकता । लघु-पौष्टिक पथ्य भोजन और ऊनी वस्त्र परिधान लाभदायक हैं । यदि रोग बढनेसे जलोदर हो गया हो, तो जलोदरमें लिखे अनुसार चिकित्सा की जाती है ।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग सग्रहमें लिखी हुई ओषधियोंमें—योगराज रस (२० ४४८), ताप्यादिलोह (२० ४३७), जयमगल रस (२० ३५४), हेमगर्भगोटली रस प्रथम विधि (२० ४५५), लक्ष्मीविलास रस सुवर्णयुक्त (२० ४३७), नवायस लोह (२० ४४६), तक्रमण्डूर (२० ५४३), त्रिफलारिष्ट (२० ७५५) और अष्टमूर्ति रसायन (२० ३०५) आदि ओषधिया हितकर हैं ।

पूयजन्य विकारमे योगराज रस या ताप्यादि लोह, क्षयजनित विकारमे हेमगर्भगोटलीरस और लक्ष्मीविलास, जीर्ण विषमज्वरजन्य व्याधिमे जयमगल रस और उपदशज विकारमे अष्टमूर्ति रसायन देना हितकर है । इन ओषधियोंके सेवनकालमें ही शिलाजीत देते रहना चाहिये । यदि रक्तमे न्यूनता है, और अपचन बना रहता है, तो भोजन कर लेने पर त्रिफलारिष्टपिलाते रहना चाहिये ।

कामला उत्पन्न हो तो योगराज रस अथवा ताप्यादि लोह दिया जाता है । जलोदर या शोथ होनेपर तक्रमण्डूर या जलोदरारि रस देना चाहिये ।

रोगकी प्रथमावस्थामें यदि रोगीको तक्रकल कराय जाय; और तक्रमण्डूर दिनमें दो या तीन बार थोड़ी-थोड़ी मात्रामें देते रहें, तो रोगी निःसंदेह स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है ।

पथ्यापथ्य—कामलारोगमें लिखे अनुसार पथ्यापथ्यका पालन करना चाहिये ।

यकृतभेदोभरण ।

यकृतभेदोभरण—यकृतकी मेदापक्रान्ति—फेटी लिवर—
Fatty Liver ।

देहके किसी अवयवके जीवाणुमें नूतन पदार्थ भरने पर या अवस्थित पदार्थकी वृद्धि होनेपर अंतर्भरण (Infiltration) कहलाता है । इस अंतर्भरणके निम्नानुसार तीन प्रकार हैं ।

- (१) मधुमरण (Glycogenic) अर्थात् शहद सदृश मधुर पदार्थ (Glycogen) की वृद्धि हो जाना ।
- (२) मेदोभरण (Fatty Infiltration) अर्थात् मेदाधिक्य हो जाना ।
- (३) क्षारभरण (Calcification) अर्थात् मृत कोषाणुओंमें चूने सदृश क्षार (Calcium salts) जम जाना ।

यकृतमें मेद २ से ३ प्रति शत स्वस्थ अवस्थामें रहता है । इस परिमाणकी वृद्धि होनेपर यकृतका मेदोभरण कहलाता है । यह मेद तेज शराब और इथरमें डालने पर पिघल जाता है । सिकामें नहीं गलता; तथा ऑस्मिक एसिडमें काला हो जाता है । इस प्रकारका मेदोभरण होनेपर संयोजक तन्तुओं (Connective tissues) की चारों ओर मेदकोष (Fat Globules) और मेदाणु (Molecular Fat) अस्वाभाविक रूपसे परिव्याप्त हो जाते हैं ।

मेदापक्रान्ति—जीवाणुओंका जीव द्रव्य नष्ट होकर मेद जमता है । उसे मेदापक्रान्ति कहते हैं । मेदापक्रान्ति होनेके पहले उस स्थान पर

मेघवत् श्याम शोफ (Cloudy Swelling) उत्पन्न होता है । सक्रामक ज्वर, पूयमय रक्त रोग (Pyaemia) घातक कीटाणुमय रक्त रोग (Septicemia), शारीरिक उच्चाप वृद्धि, मधुमेह, कामला, पाण्डु रोग, क्षय, कण्ठ रोहिणी, कुष्कुस प्रदाह; तथा सोमल, फॉस्फरस, कार्बोेलिक एसिड, क्लोरोफॉर्म, आयडोफॉर्म, आल्कोहोल आदि विष पदार्थसे संयोजक तन्तुओंके पोषणमें बाधा होनेपर श्याम शोफकी उत्पत्ति होती है । विशेषतः पाण्डुके हेतुसे मांस पेशियोंके कार्यमें न्यूनता होनेसे और रोगोत्पादक कीटाणुओंमें भी पूयोत्पादक (Pyogenic) कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न विषसे सम्प्राप्ति होती है । शोफ आनेपर जीवाणु (Cells) फूल जाते हैं, और उनमें रहे हुए मूलभूत जीव द्रव्य (Protoplasm) में नूतन कणोंकी उत्पत्ति हो जाती है, और वे सब श्याम बन जाते हैं । उनमें रहे हुए जीवकेन्द्र (Nuclei) प्रायः अदृष्ट हो जाते हैं ।

देहके जो कोष (Cells) रासायनिक क्रिया करते हैं; वे सब इस शोफसे ग्रस्त होते हैं । विशेषतः रसस्त्राव करनेवाले ग्रन्थियुक्त (Glandular Organs) यन्त्र, यकृत, मूत्रपिण्ड, श्लैष्मिक कला, सब आवश्यक कोष, हृदय आदि की मांस पेशियोंके कोष तथा सब स्नायु इस अपक्रान्तिके वशवर्त्ती हैं । यदि यह परिवर्त्तन मर्यादाके भीतर हो, तो जीवाणु पुनः पूर्ववत् हो जाते हैं । किन्तु शोफ अत्यधिक होनेसे, परिवर्त्तनके पश्चात् मेदोपक्रान्ति (Fatty Degeneration) हो जाती है । यदि यह अपक्रान्ति हृदयके सूत्रोंकी होती है, तो उनका विनाश हो जाता है ।

मेदोपक्रान्ति प्राप्त होनेपर तन्तु कोमलतर हो जाते हैं । उनके परिमाणकी वृद्धि हो जाती है; और उनके टूट जाने या फट जानेकी विशेष सम्भावना रहती है । इस अपक्रान्तिसे पीड़ित अवयव पीताभ या पिङ्गल वर्णका हो जाता है । उस यन्त्रकी स्वाभाविक क्रिया यथोचित नहीं होती । इस अपक्रान्ति युक्तस्थानको काटनेपर छुरीको भी मेद समान

दाग लग जाता है । एवं इस अपक्रान्तिसे अत्यधिक रूपान्तर हो जानेपर यदि अवयवको जलमें डाला जाय, तो वह जलपर तैरता है ।

सब संयोजक तन्तु और सब कोषोंका आच्छादक आवरण (Epithelium) इस मेदापकर्ष ग्रसित हो सकते हैं । परतन्त्र मांस-पेशियो (Voluntary muscles) के स्नायु दीर्घकाल स्थायी पीड़ा होनेपर मेदोपक्रान्तिसे ग्रस्त हो जाते हैं । युवा और वृद्धावस्थामें धमनियों की दीवार भी इस अपक्रान्तिसे पीड़ित हो सकती है । यदि मस्तिष्ककी सूक्ष्म धमनीकी अपक्रान्ति होकर फट जाय, तो रक्तस्राव होकर संन्यास और अर्धाङ्ग पक्षघातकी प्राप्ति हो जाती है । वृद्धावस्थामें नेत्रकी कनीनिका (Cornea) के चारों ओर श्वेत वर्णका मण्डल इस मेदोपक्रान्तिके हेतुसे हो जाता है, जिसे वार्धक्यमण्डल कहते हैं ।

स्वस्थावस्थामें त्वचाके नीचे रस विधानमें और अस्थि, मज्जा आदि स्थानोंमें मेद रहता ही है; इन सब स्थानोंके भीतर संयोजक कोषोंमें निर्मित मेद या बाहरसे प्राप्त मेद संचित होजाता है । मेद संग्रहका परिमाण अधिकतर होने पर देहमें जहाँ मेद नहीं रहता, वहाँ पर भी मेद प्रतीत होता है । संचित मेद प्रारम्भावस्थामें नुद्र तैलबिन्दुके सदृश होता है । फिर शनैः-शनैः सम्मिलित होकर बृहद्गोलाकार धारण करता है । अन्तमें समस्त कोष एक मेदबिन्दुसे-पूर्ण होजाता है । इस अपकर्ष की जब अत्यधिक वृद्धि होजाती है; तब कोषका आच्छादन स्थानसे च्युत या विच्छिन्न होजाता है । फिर उसमेंसे मेद बाहर निकल जाता है ।

जैसे तन्तुओंके भीतर मेदसंचय होता है, वैसे किसी-किसी स्थान पर मेदापक्रान्ति भी होती है । इन दोनोंमें कुछ अन्तर है । मेदापक्रान्ति में जो मेद प्रतीत होता है, वह रोगाक्रान्त कोषोंमें एल्ब्युमिन की अपक्रान्तिके हेतुसे उत्पन्न होता है । वह संचित मेद नहीं है । कोषोंके एल्ब्युमिन मेंसे मेदोत्पत्ति होना, यह एक स्वाभाविक क्रिया है; जैसे-जैसे यह मेदोत्पत्ति होती जाती है; वैसे-वैसे शारीर विधानमें मेदका खर्च भी होता जाता है । इसमेंसे जो शेष रह जाय, वह संचित मेद कहलाता

है; और जब कोषोंमें एल्युमिन तत्त्वकी न्यूनता होजाती है; अथवा उत्पन्न मेदका उपयोग होनेमें व्याघात पहुँचता है; तब इन दोनों कारण प्रकीर्ण होकर मेदापक्रान्ति की उत्पत्ति कर देते हैं । मेदापक्रान्तिमें एल्युमिन नष्ट होजाता है; उसकी पूर्ति किसी प्रकारसे नहीं होती । इस हेतुसे अन्तर्में आक्रान्त विधानका क्षय (Atrophy) हो जाता है ।

मेदोभरण निदान—यह रोग पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको अधिक होता है । मेदोवृद्धि (Obesity), कीटाणु विष, खनिज विष, शराब का अति सेवन, श्रमका अभाव और मधुर पदार्थका अति सेवन आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । यह रोग राजयक्ष्मा, फुफ्फुस-प्रदाह, संतत विषम ज्वर, मधुरा आदि पिटिकायुक्त ज्वर, क्षत, आम-शय विकार, पाण्डु, यकृद्वाल्स्युदर, यकृतमें अवश रक्ताधिक्य और इतर यकृद्विकारोंके साथ इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

मेदोभरण सम्प्राप्ति—मेदमय यकृद्विकारमें यकृतके अवयवोंकी अति वृद्धि हो जाती है, और यकृत पदार्थ स्वाभाविक अपेक्षा कोमल हो जाते हैं । यकृतके पित्तनिःसारक कोष तैल पूर्ण बन जाते हैं, तथा यकृतके आपेक्षिक गुरुत्वका ह्रास हो जाता है । जल पर रखनेसे तैरता है; स्पर्श करने पर हाथको तैल लग जाता है; जलाने पर मेद निकलता है और अणुवीक्षण यन्त्रसे परीक्षा करने पर मेद कोष (Globules) का आकार जाना जाता है ।

प्रारम्भमें यकृतके कोष समूहोंके संधिस्थानों पर मेद सचयका प्रारम्भ होता है, फिर मेद बीचमें प्रवेश कर जाता है ।

लक्षण—यकृत अति बड़ा हुआ प्रतीत होता है । लीहावृद्धि नहीं होती । मल बहुधा पतला होता है; और इसका वर्ण मलिन श्वेत हो जाता है । इनके अतिरिक्त यकृतमें अवश रक्तवृद्धिके लक्षण भासते हैं ।

यकृन्मेदोभरण चिकित्सा ।

इस रोगमें पथ्य पालन करने और आवश्यक श्रम लेनेकी आवश्यकता है । स्वेदन द्वारा मेदके अणुओंको बाहर निकाल देना अति हितकर है ।

कीटाणु विष या खनिज विष जनित रोग हो, तो कारण अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये । शिलासिंदूर वटीसे मेद कम होकर रोगी स्वस्थ हो जाता है । उदरमें दोष हो तो आरोग्यवर्द्धिनीका सेवन कराना चाहिये ।

राजयक्ष्मा, फुफ्फुसप्रदाह आदि रोगोंके सहवर्त्ती, इसकी उत्पत्ति हुई है, तो मूल रोगको दूर करनेकी चिकित्सा प्रधानतासे करनी चाहिये । हृदय और फुफ्फुसके बलकी रक्षाके लिये अभ्रक प्रधान लक्ष्मीविलास रस देते रहना चाहिये ।

इस रोगको दूर करनेके लिये मेदोहर अर्कके साथ शिलाजीत या चन्द्रप्रभावटी अथवा महायोगराज गूगलका सेवन दीर्घकाल तक कराना चाहिये । अति जीर्णरोगमें त्र्युष्णाद्य लोह हितावह है । इस लोहसे यकृत् और रक्त सबल बनते हैं; और मेद शनैः-शनैः कम होकर रोगका निवारण हो जाता है ।

पथ्यापथ्य

पथ्य—भात, घी, शकर आदि मेदवर्धक आहारको हो सके उतना कम कर देना चाहिये । भोजनका परिमाण कम किया जाय, तो सत्वर लाभ होता है । प्रातः सायं श्रमण, परिश्रम, स्वेदन क्रिया, शुष्कभोजन आदि हितकर हैं । गेहूँ, चने, मूंग, बाजरी, ज्वारी, मक्का, कोदों, सामो, आदि धान्य और लङ्घन पथ्य हैं । प्रथमखण्डके पृ० ३२१ में कफप्रधान प्रकृतिके लिये जो पथ्य लिखे हैं; उनमेंसे जो अनुकूल हों उनका सेवन करना चाहिये ।

चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ४४ में लिखा हुआ व्योषादि चूर्ण

मिश्रित सत्तूके सेवनसे अग्नि प्रदीप्त होती है; और भेदोभरणकी निवृत्ति होती है ।

अपथ्य—शराब, आलस्य, दिनमें शयन, अधिक भोजन, खट्टे पदार्थोंका सेवन, दही, अधिक घी, अधिक शक्कर आदिका त्याग कर देना चाहिये । प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२३ में कफप्रकोपक आहार-विहार लिखे हैं, उनको छोड़ देना चाहिये ।

पित्ताशयप्रदाह ।

पित्ताशयप्रदाह—कोलेसिस्टाइटिस—Chole-cystitis ।

निदान—यह विकार बहुधा पित्ताशय की उत्पादक चार या पित्ताशय में कीटाणुओंका प्रवेश होनेपर होता है । ये कीटाणु फुफ्फुस, दात, गलग्रन्थि, अन्न, अन्नपुच्छ या इतर समीप रहे हुए यन्त्रमेंसे रक्तके साथ या पित्तप्रणालियों द्वारा आजाते हैं । सामान्यतः फुफ्फुससे न्युमोकोकाई (Pneumococci), अन्नमेंसे आन्त्रिक ज्वरके कीटाणु (Bacilli Typhosus), पूयज कीटाणु (Pyogenic Cocci) और अन्नस्थ कीटाणु (Bacilli Coli) द्वारा इस रोगकी संप्राप्ति होती है । इनमें से आन्त्रिक ज्वरके कीटाणुओंकी आबादी विशेष लक्षण प्रकाशित किये बिना वर्षों तक पित्ताशयमें रह सकती है ।

सम्प्राप्ति—बहुधा इस व्याधिकी उत्पत्ति आमाशयरसकी न्यूनता होने पर ही होती है । इस रोगकी सम्प्राप्ति होनेपर श्लैष्मिक कला नष्ट हो जाती है, और उस स्थान पर सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं । फिर पित्ताशयकी दीवार मोटी और खर हो जाती है । दीर्घकाल तक रोग रह जाने से पित्ताशयमें सचित पित्त जमकर पित्ताशय बनने लगती है ।

समीपस्थ अन्नवलयोंमें प्रदाह होनेसे उनका बध (Paralysis) हो जाता है । फलतः कोष्ठबद्धता हो जाती है; उदरकी दक्षिण उदर-दण्डिका पेशी (Rectus abdominis) के खड़े स्नायु तग हो जाते हैं; तथा रोग अधिक जीर्ण होने पर पित्ताशय उदर्याकलाको चिटक जाता है ।

लक्षण—उदरके दक्षिण प्रदेशमें पित्ताशयके भीतर पीड़ा, दबाने पर पीड़ा अधिक होना, ऊपरके भागमें कुछ शोफ, ज्वर, उबाक, वमन, आध्मान, दुर्गन्धयुक्त डकार, मलावरोध, शिरदर्द और शीतल स्वेद आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । तीव्रावस्थानमें ज्वर १०१ से १०३ डिग्री तक हो जाता है; और कामला भी हो जाता है । रोग जीर्ण होने पर ज्वर मन्दरूपसे रहता है ।

आध्मान न होने परभी उदरमें वायु भरा है, ऐसा रोगीको भास होता है । इस हेतुसे रोगी डकार द्वारा वायुको निकालनेका प्रयत्न करता है । प्रातःकाल उबाक, शिरदर्द और मलावरोध रहते हैं । दोपहरको भोजनके पश्चात् थोड़ा-थोड़ा मल त्याग होता है । एवं हाथ-पैरोंमें शीतल स्वेदका अनुभव होता है ।

इस रोगकी पीड़ा भोजनके पश्चात् कुछ शमन हो जाती है; परन्तु अधिक घृत युक्त भोजन, पक्का भोजन या वसा उत्पादक द्रव्य (कोलेस्टेरिन-Cholesterin) प्रधान सूअरका मांस या अण्डे आदिके सेवनसे पीड़ा की वृद्धि हो जाती है । यदि पित्ताशयकी बन जाती है, तो पित्ताशय शूलके लक्षण भी उपस्थित होते हैं । इस शूलका समय अनिश्चित रहता है ।

उपद्रव—यदि इस व्याधिकी उत्पत्ति पूयज कीटाणु जंजीर सदृश कीटाणु (Streptococci) अथवा समुदाय रूप कीटाणु (Staphylococci) द्वारा हुई हो, तो पित्ताशयमें विद्रधि हो जाता है । विद्रधि होने पर पित्ताशय उदर्याकलाको भली भांति चिटक जाता है, तो स्थानिक व्रण हो जाता है; और उदर्याकलाको सामान्यरूपसे चिटका है, तो विद्रधि उदर्याकलामें फूटकर उदर्याकलाप्रदाह हो जाता है ।

यदि स्थानिक प्रदाह हो, तो कुछ समयमें शमन होजाता है । फिर भी भविष्यमें पित्ताशयकी इतर यन्त्रसे संलग्नता त्रासदायक ही होती है ।

कचित् प्रदाहका कारण—पित्ताशयकी या इतर जो हो, वह दूर होजाने पर भी पित्ताशय संकुचित हो जाता है, जिससे वह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं रहता ।

रोग विनिर्णय—स्थानिक लक्षण और पित्ताशय शोथका स्पर्शसे बोध होजाने पर निर्णय सरलतासे होजाता है । सदिग्धावस्थामें पित्ताशय मेंसे पित्त निकाल कर परीक्षा करनी चाहिये ।

पित्ताशयप्रदाह-चिकित्सोपयोगी सूचना ।

तीव्रावस्थामे रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये । यदि प्रारम्भ कालमें पित्तःस्त्राव कराने वाला विरेचन—कुटकी या निसोत प्रधान, या इतर दिया जाय, तो रोग सत्वर शमन होजाता है ।

भोजनमें मलाई निकाला हुआ दूध देवे, या दूध फाड़ कर ऊपरका जल ही देना चाहिये, अथवा आवले मिलाये हुए मूँगका दूध देना चाहिये ।

रसतन्त्रसारमें लिखे हुए प्रयोगोंमेंसे लोकनाथ रस (२० ५३६), नवायस लोह (२० ४४६), योगराज रस (२० ४४८), त्रिवृदष्टक मोदक (२० ६३०) और बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि (२० ६६६) आदि अति हितावह हैं ।

लोकनाथ रस पित्ताशयप्रदाह और पित्ताशयविद्रविकी पच्यमान अवस्थामे हितकारक है । ताप्यादि लोह और योगराज रस, इन दोनों ओषधियोंमेंसे कोई भी एक ज्वर मन्द होने पर दी जाती है । इनमें शिलाजीत रहनेसे रक्तमे रहे हुए विषको मूत्र द्वारा बाहर निकालनेका कार्य भी इनसे हो जाता है । ताप्यादि लोहकी अपेक्षा योगराज रस विशेष हितकारक हैं ।

प्रारम्भावस्थाके लिये त्रिवृदष्टक मोदक और बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि, दोनो निर्दोष और श्रेष्ठ ओषधियाँ मानी जाती है । दोमेंसे किसी एकको प्रयोगमे लाना चाहिये ।

तीव्रावस्था शमन होनेपर कोष्ठबद्धता हो जाने पर रात्रिको या प्रातः-काल त्रिवृदष्टक मोदक, बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि या पचसम चूर्ण देना चाहिये । एव भोजनके पहले लवणभास्कर चूर्ण देते गहना चाहिये ।

बाह्यप्रयोग—अलसी या सरसों की पुल्टिस या ब्लिस्टरका प्रयोग करना चाहिये; अथवा तार्निन तैलकी मालिश और सेक करनेसे भी लाभ पहुँचता है ।

डाक्टरीमें इस रोगपर यूरोट्रोपाइन (Urotropine) उत्तम ओषधि मानी गई है । यह ओषधि २०-२० ग्रेन सुबह शाम, दिनमें दो बार जलमें मिलाकर पिलाते हैं; तथा भोजनके पहले एसिड हाईड्रोक्लोरिक डिल्युट १०-२० बूँद जलमें मिलाकर दिनमें दो बार देते हैं ।

सूचना—यदि मूत्रमें उष्णता, पीलापन, बहुमूत्र, रात्रिको बार-बार पेशाब करनेके लिये उठना आदि विकार उत्पन्न हो जाय, तो यूरोट्रोपाइन ४-६ दिन तक बन्द कर देंगे; और मूत्रल ओषधि—पोटाल साइट्रास (Pot. Citras) का सेवन करावें ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—कामला रोगके अन्तमें यकृद्विकार वालोंके लिये पथ्यापथ्य पृष्ठ ४१७ से ४२२ तक लिखा है, उस अनुसार पथ्यापथ्यका पालन करना चाहिये ।

तीव्रावस्थामें गोदुग्ध, फाड़े हुए दूधका जल, या आंवले मिश्रित मूँग का यूस देवें । जीर्णावस्थामें, गोदुग्ध, तक्र, दूध-भात, या इतर लघु पथ्य भोजन देवें ।

तीव्र ज्वर या जीर्ण ज्वर हो, तो ज्वरके अनुरूप एवं पित्ताशमरी हो, तो पित्ताशमरीके अनुसार पथ्यापथ्यका पालन करना चाहिये । यदि विद्रधि बनता है, तो आयुर्वेदके मतानुसार रोगीको दूध नहीं देना चाहिये । दूध का जल या मूँगका यूस देते रहना चाहिये ।

अपथ्य—घृत युक्त भोजन, वसाप्रधान मांस, अण्डे और बादाम आदि तैली फल, सब रोगको बढ़ाते हैं । एवं अम्ल पदार्थ भी हानि पहुँचाते हैं । अतः इन सबका त्याग करना चाहिये ।

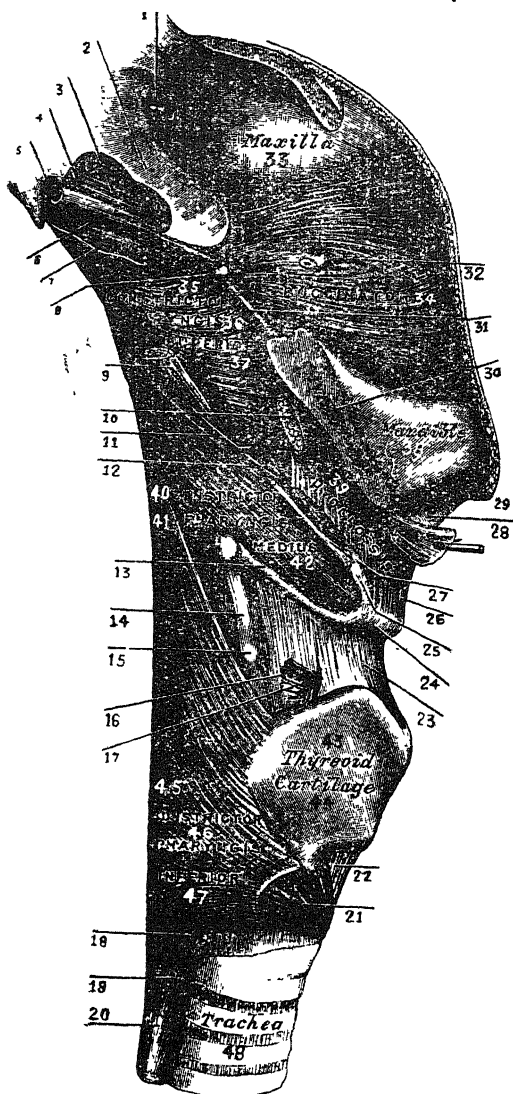
हिका ।

हिका—हिचकी—हिकप—सिंगलटस—Hiccup—Singultus ।

रोग परिचय—जब हृदयमे रहा हुआ प्राण और कण्ठस्थित उदानवायु, दोनों कुम्भित होकर बार-बार ऊर्ध्वगति करते रहते हैं; तब अन्ननलिका और ग्रसनिकामेंसे निकलकर वायु मुख द्वारा हिक्-हिक् सदृश आवाजके साथ बाहर निकलती रहती है, उसे हिका संज्ञा दी है, अथवा जब किसी भी कारणसे स्वर यंत्रका मुँह बन्द होजाता है । फिर प्राणवायु आमाशयमेंसे कुम्भित होकर ऊपर उठती है, पश्चात् वह अन्ननलिका और ग्रसनिका मेंसे आवाजसह मुँहमेंसे बाहर आती है, उसे हिका कहते हैं ।

ग्रसनिका—(फेरिक्स—Pharynx) हम जो भोजन—ग्रन्थ जल ग्रहण करते हैं; वह मुँहमेंसे ग्रसनिका और अन्ननलिकामेंसे होकर आमाशयमें प्रवेश करते हैं । यह ग्रसनिका अन्न नलिकाके ऊपर रही है । इसकी आकृति धतूरेके फूलके समान है । यह ग्रीवा कशेरुकाके आगे तथा नासागुहा, मुख गुहा और स्वरयन्त्रके पीछे रही है । इस स्थानमें सात छिद्र (द्वार) रहनेसे इसे सप्तपथ और सप्तसिन्धु प्रदेश भी कहते हैं । उपरोक्त सात छिद्रोंमेंसे दो छिद्र नाकसे, दो कानसे, एक मुखसे, एक अन्ननलिकासे तथा एक श्वासनलिकासे सम्बन्ध रखता है ।

मनुष्य नाक या मुँह द्वारा जो वायु ग्रहण करते हैं; वह पहले इस ग्रसनिकामें और फिर स्वरयन्त्रमें होकर फुफ्फुसोंमें जाती है । जब हम बोलते हैं या गाते हैं, तब ग्रसनिका स्वरके तरंगोंको बड़ा बनाती है । भोजन निगलनेके समय इस ग्रसनिकाकी मांस पेशियाँ ग्रासके चारों ओर सकुचित होती हैं । फिर भोजन अन्ननलिकामें जाता है । उस समय पहले ग्रसनिका ऊपर उठती है; फिर नीचे जाती है; तथा भोजन निगलने पर स्वरयन्त्रका द्वार और नासिकाके पीछे रहे हुए द्वार अधिजिहिका और कोमल तालुसे बन्द हो जाते हैं ।



कपोल और ग्रसनिका की मांसपेशियां

- १ अन्तर्हानव्या धमनी Internal maxillary artery.
- २ जतुकास्थि के चरण की पार्श्विका कला Lateral pterygoid lamina.
- ३ तालूत्तंसनी पेशी Tensor veli palatini.
- ४ अधरा हान्विकी नादी Mandibular nerve.
- ५ मस्तिष्क कला पोषणीधमनी Middle meningeal artery.
- ६ तालूत्थापिका पेशी Levator veli palatini muscle.
- ७ अन्नद्वारिणी ऊर्ध्वगा धमनीकी शाखा Branch of ascending pharyngeal artery.
- ८ जतुकास्थिचरण का अकुश सदृश सिरा Pterygoid hamulus.
- ९ शिफागलान्तरिया पेशी Stylopharyngeus muscle
- १० शिफारसनिका पेशी Styloglossus muscle.
- ११ जिह्वा कण्ठिका नादी Glossopharyngeal nerve
- १२ बहिर्वक्त्रधमनीकी शाखा Branch of external maxillary artery.
- १३ कण्ठिकास्थि का बृहद् शृङ्ग Greater cornu of hyoid bone.
- १४ पार्श्विक कण्ठिकावटुक स्नायु Lateral hyothyroid ligament.
- १५ अवटुकण्ठिका तरुणास्थि Cartilage tritacea.
- १६ अन्तर्स्वरिणी नादी Internal laryngeal nerve.
- १७ उत्तर स्वरिणी नलिका Superior laryngeal vessels.
- १८ अधरा स्वरिणी धमनी Inferior laryngeal artery.
- १९ स्वरयन्त्रारोहिणी नादी Recurrent nerve.
- २० अन्ननलिका Oesophagus.

- २१ अवटुककाटिका पेशी Crico-thyreoid muscle.
- २२ अवटुककाटिका मध्य स्नायु Middle crico-thyreoid ligament.
- २३ कण्ठिकावटुक श्लैष्मिक कला Hyothyreoid membrane.
- २४ कण्ठिकापिण्ड Body of hyoid bone.
- २५ कण्ठिकास्थिका लघु शृङ्ग Lesser cornu of hyoid bone.
- २६ चिबुककण्ठिका पेशी Geniohyoid muscle.
- २७ शिफाकण्ठिका स्नायु Stylohyoid ligament.
- २८/२९ मुखभूमिकण्ठिका पेशी Mylohyoid muscle.
- ३०/३१ जतुकास्थिचरण, ढान्विकी अधरा सेवनी, अधरा दन्तिका नाडी और नलिकाएं Pterygomandibular raphe, Inferior alveolar nerve and vessels.
- ३२ कर्णमूलिका नली Parotid duct.
- ३३ हनुपिण्ड—ऊर्ध्व हन्वस्थि Maxilla.
- ३४ कपोलिका पेशी Buccinator muscle.
- ३५/३६ कण्ठसंकोचनी ऊर्ध्वा पेशी Constrictor Pharyngis superior muscle.
- ३८ अधो हन्वस्थि Mandible.
- ३९ जिह्वाकण्ठिका पेशी Hyoglossus muscle.
- ४०/४२ कण्ठसंकोचनी मध्यमा पेशी Constrictor Pharyngis medius muscle.
- ४३/४४ अवटु तरुणास्थि Thyreoid cartilage.
- ४५/४७ कण्ठ संकोचनी ऊर्ध्वा पेशी Constrictor Pharyngis inferior muscle.
- ४८ वृहच्छ्वास नलिका Trachea.

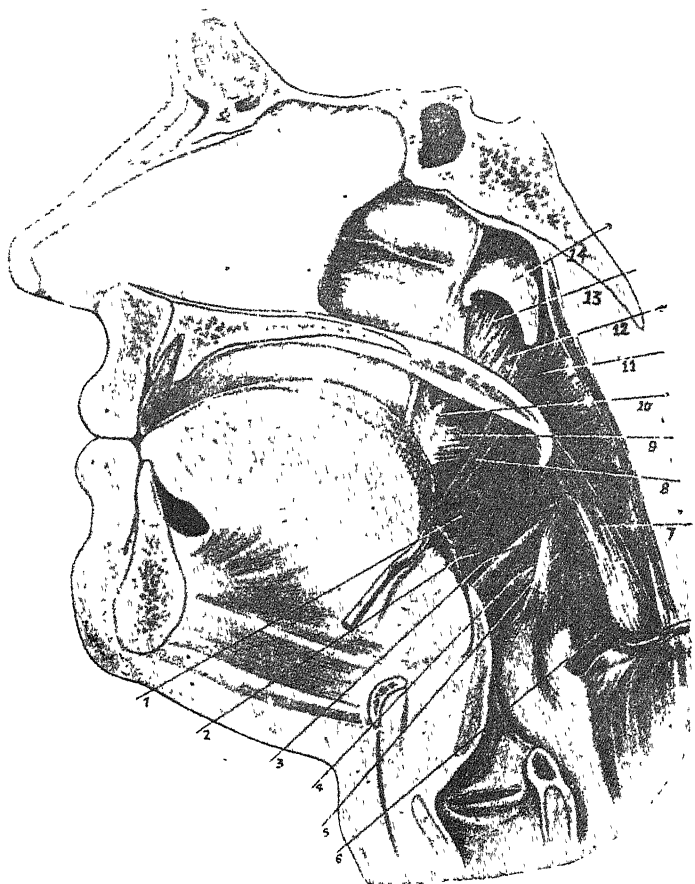
ग्रसनिका के अभ्यन्तरस्थ मांसपेशियां

- १ शिफारसनिका पेशी Styloglossus muscle.
- २ जिह्वाकण्ठिका नाडी Glossopharyngeal nerve.
- ३ शिफाकण्ठिका स्नायु Stylohyoid ligament.
- ४ कण्ठसंकोचनी मध्यमा पेशी Middle constrictor muscle
- ५ शिफागलान्तरिया पेशी Stylo pharyngeus muscle
- ६ कण्ठसंकोचनी अधरा पेशी Inferior constrictor muscle.
- ७ ग्रसनिकाताल्विकी पेशी Pharyngopalatinus muscle.
- ८ जिह्वाताल्विकी पेशी Glossopalatinus muscle.
- ९ कण्ठसंकोचनी ऊर्ध्वा पेशी Superior constrictor muscle
- १० जतुकास्थि चरणका अकुशसदृश शिरा Pterygoid hamulus.
- ११ आरोही ताल्वीनाडी Ascending palatine artery.
- १२ तालूत्थापिका पेशी (तालूत्तोलनी पेशी) Levator veli palatini muscle.
- १३ तालूत्तंसनी पेशी Tensor veli palatini muscle.
- १४ श्रुतिसुरंग के तरुणास्थि Cartilage of auditory tube.

विद्वानोंने विद्यार्थियोंको समझानेके लिये इस ग्रसनिकाके ३ विभागों की कल्पनाकी है । नासागुहा पश्चिम, गलद्वार पश्चिम तथा स्वरयन्त्र पश्चिम ।

(१) नासागुहापश्चिम—(नभ्रल पार्ट ऑफ फेरिक्स—Nasal part of Pharynx) यह भाग कोमल तालुके ऊपर रहा है । इस भाग में नासागुहाके मध्यमे रहा हुआ पर्दा, नासागुहाके पीछेकी ओर रहे हुए दो छिद्र, इन छिद्रोंकी बाजूमें कानके भीतर जाने वाला पोलाभाग अर्थात् श्रुतिसुरंगके दो द्वार, एक त्रिकोणाकार तरुणास्थि तथा कण्ठ और कपालके संधिके पास रुईकी मोलीके सदृश एक छोटी-सी नासिका

ग्रसनिका के अभ्यन्तरस्थ मांसपेशियाँ ।



ग्रन्थि-प्रसनि का ग्रन्थि (फेरिंजियल टॉसिल या एडिनाइड—Pharyngeal Tonsil or Adenoid) इतने अवयव होते हैं ।

(२) गलद्वारपश्चिम—(गलबिल-ओरलपार्ट—Oral part)—यह भाग ऊपरमें नासागुहापश्चिम प्रदेशसे तथा नीचे स्वरयंत्रके पश्चिम भागसे सम्बन्ध रखता है । यह भाग कोमल तालुसे कण्ठकास्थि पर्यन्त अवस्थित है ।

(३) स्वरयन्त्रपश्चिम—(लेरिंजियल पार्ट—Laryngeal part)—यह ऊपरमें गलबिलसे और नीचे अन्ननलिकासे सम्बन्ध रखता है ।

इस प्रसनि का की दीवार १० मांसपेशियोंसे बनी है । दोनों ओर पांच पांच मांसपेशियां रही हैं । तीन कण्ठ संकोचनी (Constrictor pharyngis inferior, medius and superior) एक शिफा-गलान्तरिया (Stylopharyngeus) और एक श्रुतिसुरंग द्वारिका (Salpingo-pharyngeus muscle) । इनमेंसे तीन कण्ठ संकोचनीमें शोथ आने पर श्रुतिसुरंग बन्द हो जाता है । जिससे रोगीकी श्वणशक्ति नष्ट हो जाती है, या कम हो जाती है ।

दोनों ओरकी कण्ठसंकोचनियोंकी संधान रेखाओंको प्रसनि का सेवनी (Median pharyngeal raphe) कहते हैं । इनमें विकार होनेपर मुहसे श्वास लेना पड़ता है; नासिकासे श्वासोच्छ्वासक्रिया बन्द हो जाती है । फिर कण्ठमें घूलि, कीटाणु आदिका प्रवेश होने लगता है; तथा नासिका, ऊपरके होठ, दांत और छाती आदि विकृत हो जाते हैं; एवं मुख उदासीन हो जाता है । यदि उसमें पीप हो जाय, तो मंदज्वर, कास आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । प्रसनि का सेवनीके इस विकारकी चिकित्सा शस्त्र क्रियासे ही हो सकती है ।

इस कण्ठस्थानकी श्लेष्म कलामें कीटाणु पहुँच जाय, तो वहां पर शोथ होजाता है । जहरी वायु, धूल, गरम-गरम चाय आदि पीने

और गरममसाला आदिके सेवनसे भी शोथ होकर ब्रण होजाता है । फिर वह नाक, कान या श्वासनलिकाकी ओर गति करता है ।

कण्ठरोहिणी (Diphtheria) रोगका मुख्य स्थानभी यही है । कभी ग्रसनिकाके पीछेकी दीवारमें विद्रधि (Retropharyngeal abscess) होजाता है एव बारबार आघातके हेतुसे छोटी-छोटी फुन्सिया (Follicles) होजाती हैं । जिनको लक्षणभेदसे कण्ठ-शालूक, रोहिणी, एकवृन्द, वृन्द, बलाश, गलौघ, शतघ्नी, गलायु, स्वरध्न आदि नाम भगवान् धन्वन्तरिजी ने दिये हैं । इनमेंसे अनेक असाध्य माने गये हैं ।

कचित् छोटे बच्चे भूलसे किसी वस्तुको निगल लेते हैं, तो वह गलेमें रुक जाती है ; और कचित् अन्ननलिकामें चली जाती है । गले में रुक जाय, तो प्रायः कठिनतासे निकल आती है ; और अन्न नलिकामें चली जाय, तो शस्त्रक्रिया करकेही निकाली जाती है ।

श्वासनलिका—(ट्रेकिया और विण्ड पाइप—Trachea or Wind pipe) यह नली ४-४½ इञ्च लम्बी और एक इञ्च चौड़ी है । श्वास वायुको भीतर जाने-आने के लिये यह नली कण्ठके अगले हिस्सेमें रही है ; और कण्ठके निम्न-भागमें दोनों फुफ्फुसोंमें जानेके लिये दो मुख्य शाखाओंमें विभक्त होजाती है । इस श्वासनलिकाके ऊपरका द्वार स्वरयन्त्र (Larynx) के साथ सम्बन्ध वाला है । हिकका अति वेग बढ़ने पर स्वर यन्त्र और श्वासनलिका, इन दोनों पर आघात पहुँचता रहता है ।

अन्ननलिका—(इसोफेगस—Oesophagus) यह नलिका लगभग १० इञ्च लम्बी और १½ इञ्च चौड़ी है । यह मासपेशियोंसे बनी है । ग्रसनिकामें से आये हुए अन्न-जलको आमाशयमें लेजाती है । यह नलिका छठवीं ग्रीवा कशेरुका के पाससे प्रारम्भ होकर ग्यारहवीं पृष्ठ-कशेरुका तक नीचे उतर कर आमाशयसे मिल जाती है । यह पृष्ठ वंशकी आर्गेकी ओरसे लगभग सीधी नीचे आती है ; व भी इस अन्ननलिकामें

अन्ननलिका और महाप्राचीरा पेशी ।



अन्ननलिका और महाप्राचीरा पेशी ।

- १ दक्षिण अक्षाधरा धमनी R. Subclavian art.
- २ तोरणी महा धमनी Aortic arch.
- ३ दक्षिण श्वास नलिका R. Bronchus.
- ४ वाम श्वास नलिका L. Bronchus.
- ५ दक्षिण पुरोवंशिका शिरा Azygos vein.
- ६ अन्ननलिका Oesophagus.
- ७ अवरोहिणी महाधमनी Desc. thoracic aorta.
- ८ महाप्राचीरा पेशी Diaphragm.
- ९ अन्ननलिकाके लिये छिद्र Oesophagus hiatus. (अन्ननलिका महाप्राचीराका भेदन करके उदरगुहामें जाती है ।)
- १० } महाधमनीको उदरगुहामें प्रवेश करनेके लिये छिद्र Aortic
- ११ } hiatus.
- १२ दक्षिण महामातृका धमनी R. Com. Carotid art.
- १३ बृहच्छ्वास नलिका Trachea.
- १४ वाम महामातृका धमनी L. Com. Carotid art.
- १५ वाम अक्षाधरा धमनी L. Subclavian art.
- १६ अन्ननलिका Oesophagus.
- १७ प्रथम पशुका First. rib.

कोई बाह्य पदार्थ आजाता है, या दीवारका संकोच होजाता है ; तब आहार सरलतासे नीचे नहीं जा सकता । कण्ठमें ग्रन्थियां होने पर उनके दबावसे भी ऐसा होजाता है ।

अन्ननलिकाका संकोच प्रायः त्रणोंके सौत्रिक तन्तु (Fibrous tissues) और अबुद (Malignant growth) के हेतुसे होता है । हिस्टीरियामें आक्षेपयुक्त संकोच (Spasmodic stricture) हो जाता है । संकोचके प्रारम्भमें शुष्क पदार्थ निगलनेमें त्रास होता है । फिर मृदु पदार्थ भी नहीं निगला जाता । पश्चात् प्रवाही दुग्ध आदि निगलनेमें भी वेदना होने लगती है । यदि यह व्याधि कर्कस्फोटजन्य हो, तो असाध्य ही मानी जाती है ।

हृदयके नीचे और उदरके ऊपर दोनोंके मध्यमें सर्पणके समान रही हुई महाप्राचीरापेशी (डायफ्राम—Diaphragm) का संकोच होना, यह स्वासोच्छ्वास क्रियामें मुख्य हेतु है । इन पेशियोंके संकोचसे छातीका विस्तार बढ़ जाता है और बाहरकी वायु भीतर प्रवेश करती हैं; परन्तु श्वास लेनेके समय पूरा श्वास लेनेके पहले ही स्वरयन्त्रका मुँह (ग्लोटिस—Glottis) संकुचित हो जाता है । जिससे भीतर आनेवाली वायुको प्रतिबन्ध होता है । फिर बलात्कारसे हिक्-हिक् ऐसी विचित्र आवाजसह वायु बाहर निकलती है । इसी लिये यह रोग हिक्का कहलाता है ।

हिक्का निदान—भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, विदाही, भारी, मलावरोधकारक, रुक्त, अभिष्यंदी, ठण्डा और बासी भोजन, विषम भोजन, अध्यशन (भोजन पर भोजन), शीतल जलपान, बर्फ, आईसक्रीम आदिका सेवन, शीतल जलसे स्नान, धूल या धुआँका मुँह और नाकमें जाना, सूर्यके ताप और तेज वायुमें फिरना, अधिक व्यायाम, कुश्ती, अधिक बोझ उठाना, बहुत चलना, डकार, छींक आदि वेगोंको रोकना, अनेक उपवास, आमप्रकोप, चोट लग जाना, अधिक स्त्रीसंस्वासा,

धातुक्षय, कुपित धातुके समय संशमन क्रिया करना इत्यादि कारणोंसे वात प्रकुपित होनेसे हिक्का, श्वास और कास रोग की उत्पत्ति हो जाती है ।

भगवान् आत्रेयने चरकसंहितामें कहा है कि, धूलि या धुआँ सह वायुका श्वासनलिकामें प्रवेश, शीतल स्थानका अधिक सेवन, अति शीतल जलपान, व्यायाम, अधिक स्त्रीसहवास, अधिक चलना, रुक्ष अन्न, विषम भोजन, आमप्रकोप, आनाह, अपतर्पण चिकित्साके पश्चात् रुक्ष पदार्थका सेवन, अति दुर्बलता, मर्मस्थान पर आघात, शीत या उष्णका अतियोग, वमन, विरेचन आदि शोधन क्रियाका अतियोग, अतिसार, ज्वर, वमन, प्रतिश्याय, क्षतक्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूचिका, अलसक आदि रोग, पाण्डु तथा विषसेवन आदि कारणोंसे हिक्का रोगकी उत्पत्ति होती है ।

निष्पाव (भटवाँसु), उड़द, पिएयाक (तिलकी खल) और तिलके तैलका अति सेवन, पिट्टीके पदार्थ, शालूक (सूरण आदि कंद शाक) इत्यादि वातकफ प्रकोपक और कब्ज करने वाले पदार्थ, बिंदाही (भोजनके परिपाक कालमें दाह उत्पन्न करने वाले), भारी भोजन, जलजीव और अनूप देशके प्राणियोंका मांस, दही, कच्चे या दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंका सेवन, दूधका अति सेवन, नाड़ियोंके स्रोतोंमें रोध करने वाले उपचार और कफवर्धक पदार्थोंके अति सेवनसे कफ प्रकुपित होता है । एवं कितनेक कारणोंसे कण्ठ, छाती आदि स्थानोंमें चोट लगना, कब्ज या इतर हेतुओंसे वायु प्राणवाहिनियोंके स्रोतोंमें प्रवेश कर प्रकुपित होती है । फिर कुपित वायु वक्षस्थलसे कफको उठाकर हिक्का या श्वास रोगको उत्पन्न कराती है । शास्त्रकारोंने इन दोनों रोगोंको और प्राणनाशक माना है ।

हिक्का स्वरूप—उदानवायु और प्राणवायु प्रकुपित होने पर

आमाशयसे उछलकर प्राण श्वासवाहिनी और अन्नजलवाहिनी (अन्ननलिका) के स्रोतोंको आघात पहुँचाता हुआ तथा प्लीहा और आँतोंको बारबार ऊपरकी ओर उछालता हुआ आवाज सहित मुखमेंसे निकलता रहता है ।

हिक्का सम्प्राप्ति—जब प्रकुपित वात और कफसे प्राणवाहिनी और अन्नजलवाहिनी नाड़ियाँ भर जाती हैं, और स्रोत रुक जाते हैं; तब हिक्का रोगकी प्राप्ति होती है ।

पूर्वरूप—हिचकी होनेके पहले कण्ठ और छातीमें भारीपन व्याधि प्रभावसे वातवृद्धिके कारण हृदयमें पीड़ा, मुँहका स्वाद कसैला होना, पेटमें आफरा, मलावरोध और पार्श्वशूल आदि लक्षण होते हैं ।

हिक्काप्रकार—शास्त्रकारोंने हिचकी रोगके अन्नजा, यमला, बुद्धा, गंभीरा और महती, ये पाँच प्रकार दर्शाये हैं ।

(१) **अन्नजाके लक्षण**—भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, बहुत जल्दीसे ऊपर-ऊपर जलपान या भोजन करने पर पीड़ित हुआ प्राणवायु ऊर्ध्वगामी होकर हिक्काको उत्पन्न करता है, उसे अन्नजा हिक्का कहते हैं ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, जब असात्म्य अन्न-पान आदिकोंके सेवनसे पीड़ित हुई वायु सहसा कोष्ठसे ऊर्ध्व-गतिको प्राप्त होती है; तब अन्नजा हिक्का उत्पन्न होती है । अति नशा लाने वाली शराबका सेवन, अति क्रोध, आवेगपूर्वक बोलना, रास्ता चलना, भार ढोना या इतर किसी क्रियासे अति परिवर्तन हो जाने पर कोष्ठगत वायु गति करने लगती है । फिर वह अन्नपान आदिसे प्रपीड़ित होकर उरःस्रोत (अन्ननलिका) में प्रवेश करती है; तब यह हिक्काकी उत्पत्ति कराती है । यह हिक्का धीरे-धीरे परस्पर सम्बन्धसे रहित उत्पन्न होती है । मर्म स्थानोंको बाधा नहीं पहुँचती । इन्द्रियोंको त्रास नहीं देती । एवं जल पीने

या थोड़ा सात्म्य भोजन करने पर (सामान्योपचारसे) शमन हो जाती है । अतः इसे अन्नजा कहा है ।

वृद्ध वाग्भटाचार्यके मतमें अन्नजा हिक्कामें हिचकीके साथ छीकें भी आती रहती है । उदरके खाली होने पर हिक्का शान्त होती है, अथवा सात्म्य अन्नपानके सेवनसे शमन हो जाती है ।

(२) यमलाके लक्षण—भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, जिस हिचकी रोगमें एक साथ दो-दो वेग उठे, मस्तिष्क और कण्ठको कम्पायमान करे, उसे यमला कहते हैं ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, यह यमिका, भक्ष्य, मोक्ष्य, लेह्य और चोष्य, इन चारों प्रकारके अन्नपानसे भोजनके परिपाक कालमें उत्पन्न होती है, और शनैः-शनैः बलवान् बनती है । प्रलाप, वमन, अतिसार, तृषा, बेहोशी, जम्भाई, नेत्र फटजाना, मुखका सूखना, शरीरका संकुचित हो जाना, उदरमें खूब आफरा आना और जत्रुमूल (ग्रीवामूल) से थोड़े-थोड़े समय पर हिक्काके वेग उठते रहना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । यह हिक्का प्राणों का नाश करने वाली है । यह भोजनके पचन कालमें प्रकाशित होती है । एव यह व्यपेता (दो-दो वेगोंमें विभाजित) और मारक होनेसे इसे यमिका सज्ञा दी है ।

भगवान् धन्वन्तरि कथित यमलाको ही व्यपेता और यमिका नाम दिये हैं ऐसा वाग्भट आदि कितनेक आचार्योंका मत है । वृद्ध वाग्भटाचार्यने सुश्रुत और चरकाचार्य, दोनोंके लक्षण एकत्र किये हैं । तब कितनेक आचार्य दोनोंको पृथक् पृथक् मानते हैं ।

(३) क्षुद्राके लक्षण—कण्ठनलीमें विकृति होने पर मात्र चक्षानवायुके कुपित होनेसे बहुत देरके बाद मंद-मंद वेगपूर्वक मृदु रूपमें ग्रीवामूलसे जो हिचकी उठती रहती है, उसे 'क्षुद्रा' कहते हैं ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, जब व्यायाम आदि कारणोंसे

प्रकुपित उदानवायु कोष्ठ आदि स्थानसे बलपूर्वक कण्ठस्थान को प्राप्त होती है; तब जुद्रा हिक्काकी उत्पत्ति होती है। यह अति दुःख नहीं देती। छाती शिर और मर्भस्थानों को आघात नहीं पहुँचाती; तथा श्वासवाहिनी और अन्ननलिकाके मार्गों को आवृत्त भी नहीं करती। परिश्रम करने पर उत्पन्न होती है; और भोजन करने या (शान्ति मिलने) पर शमन हो जाती है। जैसे यह सामान्य हेतुओंसे बढ़ती है; वैसे ही यह सहज दूर हो जाती है। यह महा हिक्का आदिके समान दृढ़अनुबन्ध युक्त न होनेसे सत्त्वर शान्त हो जाती है। यह हृदय, कण्ठ, क्लोम, (प्रसनिका) और तालु के आश्रयसे उत्पन्न होती है; और जुद्र वायु द्वारा मृदु रूपमें उत्पन्न होनेसे यह जुद्र हिक्का कहलाती है। शास्त्रकारोंने इसे साध्य माना है।

(४) गम्भीराके लक्षण—जो हिचकी नाभि स्थानसे उत्पन्न होकर भयंकर शब्द करती है। ओष्ठ, कण्ठ, जिह्वा आदि को सुखाती है; तथा जिस हिक्काके साथ ज्वर, शिरदर्द, श्वास, पार्श्व-पीड़ा आदि अनेक उपद्रव हों, उसे गम्भीरा कहते हैं। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, यह हिक्का अति वयोवृद्ध, अति दुर्बल और दीन मन वाले मनुष्यों को होती है। जर्जरित वक्षस्थलसे कष्ट पूर्वक गंभीर शब्द निकलता है। जम्भाई बार बार आती रहती है। रोगी हाथपैर पटकता रहता है। दोनों पसवाड़े श्वासके साथ खींचते रहते हैं; इनमें पीड़ा होती है; और रोगी स्तब्ध हो जाता है। कण्ठमेंसे कपोतवत् कूजन शब्द निकलता रहता है। इस हिक्काकी उत्पत्ति नाभि या पक्काशय (छोटी आँत) से होती है। यह हिक्का देहका अत्यन्त क्षोभ कराती है। वेगकालमें देह मुड़ जाता है। अंगोंका संकोच, ग्लानि, मार्गका रोध, तथा बल और चित्तकी शक्तिका ह्रास कराती है। इस तरह गम्भीर लक्षणों-युक्त होनेसे इसे गंभीरा संज्ञा दी है। यह प्राणनाशक ही है।

(५) महाहिकका (महती) के लक्षण—जो हिचकी बस्ति-स्थान, हृदय और मस्तिष्क आदि मर्मस्थानोंमें पीड़ा करती हुई और सब गात्रोंको कंपाती हुई लगातार चलती रहती है उसे “महती” और महाहिकका कहते हैं । भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, जिसका मांस, बल, प्राण और तेज क्षीण हो गये हो, उसके कण्ठमें कफयुक्त प्रकुपित वायु सहसा प्राप्त होती है । फिर अत्यन्त ऊँचा शब्द वाली हिकका उत्पन्न करती है ।

इस हिककाके वेगमें एक, दो, तीन या अनेक हिकका एक पीछे एक आती रहती हैं । इस तरह अनेक आवृत्तिसह वेग बार-बार आते रहते हैं । प्राण वायु, प्राणवाहिनियां, मर्मस्थान और देह की उष्णता का संरोध होता है । फिर संज्ञा नष्ट होती है । शरीर निश्चेष्ट हो जाते हैं, अन्न-पानके मार्ग रुक जाते हैं; स्मृति लोप हो जाती है, नेत्र अश्रुओंसे पूर्ण और स्तब्ध दृष्टिवाले हो जाते हैं; दोनों शंखस्थान और भ्रूस्थान च्युत हो जाते हैं; वेदनाके मारे रोगी प्रलाप (अस्पष्ट भाषण) करता है, बोलता हुआ रुक भी जाता है, और लेशमात्र शान्ति नहीं पाता । यह हिकका महा-तेजस्वी, अति वेगवान, घोर शब्दवाली और गम्भीर दोषरूप आश्रययुक्त होनेसे अति बलवान होती है; तथा तुरन्त प्राणोंका हरण कर लेती है । अतः इसे महाहिकका कहा है ।

साध्यासाध्यता—इन प्रकारोंमें गम्भीरा और महती बहुधा मनुष्यको मार डालती हैं । अन्नजा प्रायः बिना ओषधि शमन हो जाती है । यमला और जुद्रा उपचार करनेसे दूर हो जाती हैं ।

अन्नजा हिकका स्थानके दृढ़ आश्रयसे रहित होनेसे शनैः-शनैः आती रहती है । मर्मस्थान या इन्द्रियोंको बाधा नहीं पहुँचाती । जलपान या सात्व्य भोजन आदिसे शान्त हो जाती है । जुद्रा भी अधिक दुखदायी नहीं है । हृदय, शिर या इतर मर्मस्थानको बाधा नहीं पहुँचाती; तथा श्वासनालिका या अन्न-

नलिकाके मार्गमें प्रतिबन्ध नहीं करती । सामान्य श्रम, व्यायाम आदि कारणोंसे उत्पन्न होती है ; और कारणकी निवृत्त होने पर बहुधा स्वयमेव निवृत्त होजाती है । जब हिक्का किसी रोगमें उपद्रव रूपसे उत्पन्न होती है, तब अनेक बार उस रोगकी निवृत्ति होने पर और कभी-कभी सामान्य उपचारसे भी निवृत्त हो जाती है ।

अरिष्ट लक्षण—जिस रोगीका शरीर हिचकीके वेगके समय पसर जाय ; दृष्टि ऊपरकी तरफ होजाय ; चक्कर आजाय ; शरीर क्षीण हो जाय ; बेहोशी, अरुचि और शुष्क कास आदि उपद्रव हों ; वह रोगी नहीं बच सकता ।

जिसके वात आदि दोष अति संकुचित हुए हों ; उपवास करनेसे जो दुर्बल हुआ हो ; अनेक व्याधियोंसे क्षीण होगया हो; क्षतक्षीण देह वाला, वृद्ध या अधिक स्त्री प्रसंग करनेसे जिसकी धातुका क्षय होगया हो, उन सबको यह हिक्का रोग मार डालता है ।

यमला (यमिका) हिक्का प्रलाप, वेदना, तृषा और मोह सहित हो; तो रोगीको मारडालती है । यदि रोगी क्षीण न हुआ हो; मनसे दीन न बना हो, धातु और इन्द्रियाँ स्थिर हों; तो हिक्का साध्य होसकती है । अन्यथा यह रोगीको मार डालती है । भगवान् आत्रेय कहते हैं कि :—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।

यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥

विसूचिका सन्निपात आदि अनेक रोग प्राणघातक हैं; परन्तु हिक्का और श्वास रोग जितना जल्दी जीवनक्रिया समाप्त करते हैं; उतना जल्दी प्राणसंहार अन्य रोग नहीं करते ।

हिक्का और श्वास, दोनोंको कफवातात्मक कहा है । उसकी

उत्पत्ति पित्त-स्थानसे मानी है। ये दोनो हृदयके रस आदि धातुओंके शोषण करने वाले है अतः ये साधारण अवस्था में भी दुर्जय ही होते हैं। दोनो रोग मिथ्या उपचार होने पर महा विषधर क्रूरकाले नागके दंश या घोर विषके सेवनके सदृश कुपित हो जाते है।

हिकका डाक्टरी निदान ।

हिकका रोगको डाक्टरीमे आमाशय विकारका एक लक्षण माना है। पाश्चात्य विद्वानोंके मतमे जब महाप्राचीरा पेशीका मूलभाग संकुचित होता है, तब उरोगुहाका विस्तार होकर श्वासनलिकाका मुख खुलता है। फिर वायु बाहरसे आकर्षित होती है, और पुनः महाप्राचीराका विस्तार होने पर वायु बाहर निकल जाती है। यह क्रिया स्वस्थावस्थामें नियमित होती रहती है; किन्तु जब श्वासनलिका और महाप्राचीरा पेशीके बीचका सम्बन्ध बिगड़ता है, तब कचित् श्वासनलिकाके मुख (स्वरयन्त्र) के बन्द हो जाने पर ही महाप्राचीरा पेशीका संकोच होने लगता है। बस यह सम्बन्धविपर्यय ही हिककी उत्पत्तिका मूल हैं, इस नियम भङ्गके निम्नानुसार ५ कारण माने गये हैं।

(१) अजीर्ण, विसूचिका, आध्मान, अति चरपरे या उष्ण पदार्थ के सेवनसे आमाशय पीडित होना अथवा यकृद्विकार या उदरगत किसी इन्द्रियका प्रदाह होना, इन कारणोंसे महाप्राचीरा पेशीकी अनुकोष्ठिकानाड़ियाँ (Phrenic Nerves) उत्तेजित होजाती हैं। फिर अनियमित समय पर महाप्राचीरा पेशी संकुचित होती रहती हैं।

(२) उदरार्थकलाके प्रदाहसे अनियमित संकोच होता है।

(३) उरस्थानमें रही हुई इन्द्रियोका विकार, इनमें भी विशेषत महाप्राचीरा पेशी पर रहे हुए कलाकोषोंमेसे फुफ्फुसधर कलाकोषके दाहशोथसे संकोच-विकासमें भेद हो जाता है।

(४) रक्तमें विषवृद्धि युक्त रोग—वृक्क. संन्यास (Uraemia) और मधुमेह आदि ।

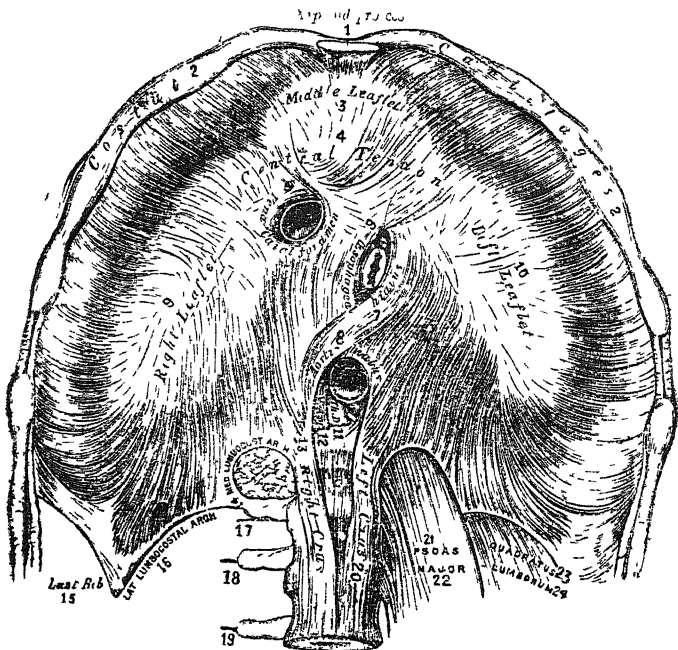
(५) वातवहानाडियोंके विकृतिजन्य रोग—अपस्मार, अपतन्त्रक (Hysteria), मस्तिष्क प्रदाह, मस्तिष्कगत अर्बुद आदि और गर्भ-धारण । इनके अतिरिक्त अज्ञात कारणोंसे भी हिक्का की उत्पत्ति होजाती है । क्वचित् हिक्का संक्रामक रूप धारण कर लेती है ।

महाप्राचीरा पेशी—(डायाफ्राम-Diaphragm) यह मांसपेशी शरीरमें रही हुई सब मांसपेशियोंसे बड़ी है । इसकी आकृति सांपके फेण सदृश है । इसका ऊपरका भाग कूर्मकी ढालके सदृश बहिर्गोल है । नीचेकी बाजू अंतर्गोल है । मध्यभाग समतल है । यह विशाल पेशी उरोगुहाके नीचे और उदर गुहाके ऊपर रही है; अर्थात् यह पेशी उरोगुहाको उदरगुहासे पृथक् करती है । इस पेशीका सम्पूर्ण परिघ और मूलभाग मांसमय तन्तुओंसे बना है । किन्तु इसके विपरीत इसका मध्य भाग जो अर्ध चन्द्राकृति है; वह सुदृढ कलाकण्डरा (Strong aponeurosis) से बना है । मध्यभाग (Central Tendon) के स्नायु सूत्र परस्पर ऐसी विचित्र रीतिसे प्रेरित हुए हैं कि, वह पत्रके सदृश आकृतिके तीन विभागोंसे बना हो; ऐसा भास होता है ।

इस पेशीका मूल भाग दो मूलों (Crura or pillars) मेंसे बना है । इसके प्रारम्भका भाग स्नायुमय और शेष भाग मांसमय है । इस मूल भागके दोनों ओर दृढ़ स्नायु सूत्रोंसे बने हुए दो-दो तोरण (Medial and Lateral Lumbo-Costal arches) हैं ।

इस पेशीमें उदरगुहा और उरोगुहाके बीचका सम्बन्ध सम्हालने के लिये कितनेक छिद्र हैं; जिनमें ३ मुख्य हैं । सबके ऊपर कुछ दाहिनी ओर महाशिराका छिद्र है । जिसमेंसे अधरा महाशिरा छातीके भीतर प्रवेश करती है (नीचेसे ऊपर जाती है); और दक्षिण अनुकोष्ठिका नाडियों (Right Phrenic Nerves) की शाखाएं उरस्थानमें से उदर-गुहाके ऊपरके हिस्सेमें जाती हैं; अर्थात् ये ऊपरसे नीचे उतरती हैं ।

महाप्राचीरा पेशी



- १ अग्रपत्र नामक तरुणास्थि Xiphoid process.
- २ उपपशुकाएँ Costal Cartilages.
- ३ मध्य प्रदेश Middle Leaflet.
- ४ केन्द्रीय कण्डरा Central Tendon.
- ५ अधरा महासिराके लिए छिद्र Vena Caval foramen.
- ६/७ अन्नलिका के लिए छिद्र Oesophageal hiatus
- ८ महाधमनीके लिए छिद्र Aortic hiatus.
- ९ दक्षिण प्रदेश Right Leaflet
- १० वाम प्रदेश Left Leaflet.

- ३१ रसकुल्या Thoracic Duct.
- ३२ दक्षिण पुरोवंशिका शिरा Right azygos vein.
- १३ दक्षिण मूल (स्तम्भ) Right Crus.
- १४ महाप्राचीराका अन्तर्तोरण Med. lumbocostal Arch.
- १५ १२ वीं पशुंका Last Rib.
- १६ महाप्राचीराका बहिस्तोरण Lat. Lumbocostal Arch.
- १७ से १३ कशेरुका Lumbar vertebrae.
- २० वाम मूल (स्तम्भ) Left Crus.
- २१।२२ कटिलम्बिनी दीर्घा Psoas major muscle.
- २३।२४ कटिचतुरखा पेशी Quadratus Lumborum.

दूसरा छिद्र मध्य रेखासे कुछ ऊपर है, जिसे अन्ननलिका छिद्र कहते हैं । इसके द्वारा अन्ननलिका उरस्थानमेंसे उदरगुहामें प्रवेश कर आमाशयके साथ संलग्न होती है । इस अन्ननलिकाके साथ प्राणदा नाड़ियाँ (Vagus Nerves) भी उदर गुहामें उतरती हैं ।

तीसरा छिद्र दोनों मूलके मध्यमें पीछे की ओर रहा है । जिसे महाधमनी छिद्र कहा है । इसमें होकर महाधमनी उदरगुहामें उतरती है; तथा दक्षिण पुरोवंशिका शिरा (Right Azygos Vein) और एक बड़ी रसवहा नामक लसीकावाहिनी (रसकुल्या—Thoracic Duct), ये दोनों उरोगुहामें ऊपर चढ़ती हैं ।

इस महापेशीकी ऊपरकी बहिर्गोल बाजू पर और मध्य रेखाकी सब बाजूमें फुफ्फुसधर कलाकोष (Pleura) के अन्तिम शिरा है; और मध्यरेखामें कलाकण्डरामय भागके ऊपर हृदयधर कलाकोष—(Pericardium) का मूल अवस्थित है । निम्न अन्तर्गोल बाजूके विशेषांश पर उदर्याकला (Peritoneum) फैली हुई है ।

यह महाप्राचीरापेशी प्राणवायुको भीतर आकर्षण करनेका मुख्य साधन है । इसके परिधका और मांसमय तन्तुओंके बने हुए मूलभागका संकोच होनेपर पेशी नीचे जाती है । ताकि उरोगुहाका विस्तार बढ़ता

है । फिर इस बढे हुए स्थानमे वायु प्रवेश करने पर फुफ्फुस फूलते हैं । दीर्घ श्वास लेनेमे इस पेशीको छाती पर रही हुई इतर पेशिया भी सहायता करती हैं ।

इसके अतिरिक्त यह पेशी जंभाई, वमन, हिक्का, मल-मूत्र त्याग, प्रसव, हास्य, रुदन आदि अनेक कर्मोंमें भी भाग लेती है । कारण, ये सब क्रिया उच्छ्वास (श्वास भीतर लेने) के पश्चात् ही होती हैं; और उच्छ्वासकार्य इस पेशीके सकोच बिना हो ही नहीं सकता ।

इस महाप्राचीराके निम्न प्रदेशमें उदरकी इर्द गिर्द तीन उदरच्छदा मासपेशियाँ रहीं हैं; जो उदरमे रहे हुए आशकांयो दबाती है । फिर इन पेशियोंका दबाव बढता है । तब महाप्राचीरापेशी नीचेके आशयोके दबावसे ऊँची उठती है; और फुफ्फुसोमेसे वायु बाहर निकल जाती है । इस तरह महाप्राचीरा पेशीको ऊर्ध्व फेक कर श्वासको बाहर निकालनेका कार्य उदरच्छदा पेशियाँ कर रहीं हैं । जैसे महाप्राचीरा उच्छ्वासकार्य (श्वास आकर्षण करने) का मुख्य साधन हैं । वैसे उदरच्छदाएँ निःश्वास कार्यके साधन हैं । जब श्वास रोगमे श्वास बाहर निकलनेमे त्रास होता है; तब ये पेशियाँ अत्यन्त सकुचित होकर कार्य करती हैं । इनके अतिरिक्त, कास, छीक, जभाई, हिक्का, हास्य आदि कार्योंमे भी ये सहायक होती हैं । कारण, इन सब क्रियाओमे वायुका कुछ-न-कुछ अशमे बाहर निकालना ही पड़ता है । इनके अतिरिक्त इतर आशयोंको दबाकर वमन कराना, मल-मूत्र त्याग करना, प्रसव कराना, इत्यादि कार्योंमें भी यह मासपेशी सहायता पहुँचाती है । इस पेशीका कार्य जब यथोचित नहीं होता, तब हिक्कारोगकी उत्पत्ति होती है ।

कभी-कभी हिक्का सन्निपात और उदरगत तीव्र विकारोमे अरिष्ट रूपसे प्रतीत होती है । वह कोई-कोई समय किसी भी उपायसे शमन नहीं होती । रोगीके प्राणोंको ही हर लेती है । यदि विकृति अधिक न हुई हो, तो चिकित्सा करने पर सफलता मिल जाती है । विसूचिका रोगमे हिक्का

उत्पन्न होती है; वह कितनेक रोगियोंके रोग शमन होनेके पश्चात् भी अनेक दिनों तक बनी रहती है ।

महाप्राचीराप्रदाह—डायाफ्रामाइटिस—**Diaphragmitis**—
कभी-कभी इतर अवयवोंके प्रदाहका विस्तार होने पर महाप्राचीरापेशीका प्रदाह हो जाता है; इसका प्रधान लक्षण हिका है । महाप्राचीराप्रदाह होने पर रोगी दीर्घ श्वास नहीं ले सकता । हाथ सरलतासे नहीं उठा सकता । मुखमण्डल उदास होजाता है; स्कन्ध देशमें वेदना, हरे रंगकी वमन, भोजनको निगलनेमें भयानक कष्ट आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । इनके अतिरिक्त फुफ्फुसावरणप्रदाह या हृदयावरणप्रदाह आदिके लक्षण भी उपलब्ध होते हैं ।

हिका चिकित्सोपयोगी सूचना ।

आयुर्वेदके मतानुसार हिका और श्वास रोग दोनोंके बाह्य-कारण, प्राग्रूप और आश्रय स्थान आदि की एकता होनेसे दोनों की चिकित्सा भी समान होती है । चिकित्सा करनेके पहले अवस्थाभेदका विचार करना चाहिये । इन दोनों रोगोंमें मुख्य ४ प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं । (१) बलवान् वाताधिक (२) बलवान् कफाधिक, (३) दुर्बल वाताधिक और (४) दुर्बल कफाधिक । इनमें रोगी यदि कफाधिक बलवान् है, तो वमन विरेचन करावें; अन्यथा केवल संशमन चिकित्सा (धूम, अवलेह आदि) करनी चाहिये ।

वाताधिक रोगी दुर्बल, बालक, वृद्ध, सगर्भा या क्षीण धातु वाले हैं, तो वातनाशक और रोगशामक चिकित्सा करें; तथा स्नेह, यूप और मांस रस आदि का भोजन करावें ।

इन दोनों रोगोंमें वमन-विरेचन करानेके पहले स्वेदन क्रिया करानी चाहिये । स्वेदन भी तैल मर्दनके पश्चात् ही करावें । मर्दनार्थ तैल स्निग्ध ओषधियोंसे सिद्ध करना चाहिये (शुष्क

ओषधियोसे सिद्ध तैल बहुधा वातप्रकोप कराता है), और फिर उसमें नमक मिलाकर प्रयोग में लाना चाहिये। इस तरह स्नेह-नके पश्चात् स्वेदन क्रिया करानेसे नाड़ियोंके स्रोतोंमें रहा हुआ कफ, जो श्वास या हिक्काके उत्पादक है; तथा जो कफ नाड़ियोंके भीतर अति चिटका हुआ है, वह भी विलीन होकर और कोष्ठको प्राप्त होकर सरलतापूर्वक बाहर निकल जाता है। जैसे पर्वतोंके शृङ्गां पर पड़े हुये हिमकण सूर्यके तापके प्रभावसे प्रभावित होकर गल जाते हैं; वैसे देह की नाड़ियोंके भीतर रहा हुआ श्लेष्मा प्रस्वेदरूप सन्तापसे पिघलकर कुछ अंशमें प्रस्वेदके साथ बाहर निकल जाता है, तथा शेष अंश कोष्ठमें चला जाता है। फिर वह वमन विरेचन आदि क्रिया द्वारा बाहर निकल आता है। स्वेदन देने अयोग्य रोगियोंको भी उरःस्थान और कण्ठपर साधारण उष्ण घृत और शर्करायुक्त पुलिटससे थोड़े समय तक मृदु सेक करें; अथवा तिल, अलसी, उड़द या गेहूँ आदिके आटेमें स्नेह आदि वातहर ओषध मिला अम्ल रस या दूध से पुलिटस बाँधकर सेक करें, तो उसमें कोई विरोध नहीं है।

यदि नूतन ज्वर और आम दोष है, तो रुद्धस्वेद, लङ्घन और नमक मिले हुए उष्ण जलसे वमन करानी चाहिये। यदि वमन आदि क्रियाओंके अतियोगसे आयु बढ़ी हो, तो वातशामक रस आदि जो अति शीतल और अति उष्ण न हो, उनसे मालिश करा प्रकोपको शान्त कराना चाहिए।

यदि उदावर्त्त और आध्मानजनित प्रकोप हो, तो बिजौरा, अम्लबेत, हींग, पीलू और बिड़नमक मिला हुआ भोजन कराने से वायु अनुलोम हो जाती है।

रोगी बलवान हो, कफकी अधिकता हो, रोगका वेग तीव्र न हो, और स्नेहन, स्वेदन कराया हो, तो ही मृदु वमन-विरेचन आदिसे ऊर्ध्व और अधोभागका शोधन कराना चाहिये। यदि

कफ अधिक नहो और स्वेदन कराया हो; अथवा रोगी दुर्बल होने से स्वेदन न कराया हो, तो भी संशमन ओषधियोंसे ही चिकित्सा करनी चाहिये । कषाय, अवलेह, घृत, तैल, आदि देवें । अन्यथा (शोधन करने पर) वायु प्रकुपित होकर तुरन्त प्राणोंका हरण कर लेता है । कफाधिक रोगियोंको भी स्वेदन क्रिया करा, एवं अनूप देशके पशु-पक्षी और जलचर जीवोंके मांसरससे तृप्त करके ही वमन विरेचन आदि देवें । दुर्बल वाताधिकता वाले (और कफाधिकता वाले को भी) बृंहण क्रिया करानी चाहिये । मयूर, तीतर, कुक्कुट आदि पक्षी और जांगल पशु-पक्षी हिरन आदिके मांसको दशमूलके काथ या कुलथीके क्वाथमें सिद्ध कर स्वेदन कराना चाहिये ।

जैसे जलप्रवाहके मार्गमें अंतराय आजानेसे जलवृद्धि हो जाती है, उसी प्रकार वायुके मार्गमें प्रतिबंध होने पर वातवृद्धि हो जाती है । अतः जिस तरह कफ दूर होकर वायुकी गतिका मार्ग प्रतिबंध रहित हो; उस तरह सम्हालपूर्वक शोधन क्रिया करनी चाहिये ।

पित्तप्रकोपज दाहपीडित, अतिसारी, क्षतपीडित, रक्तपित्त रोगी, जिसे अधिक स्वेद आता हो; क्षीण धातु और क्षीणबलयुक्त रुक्ष, गर्भिणी तथा पित्तप्रकृतिवालोंको स्वेदन नहीं कराना चाहिये ।

जिनको स्वेदन कराया जाय उनको भी स्वेदन क्रिया करानेके पश्चात् तुरन्त घृत मिले हुए भातका भोजन अथवा मछली या शूकरके मांस रस सह भोजन कराना चाहिये; अथवा कफवृद्धि के लिये दही की मलाई या निवाये घृतमें मिश्री मिलाकर देना चाहिये । फिर आमाशयमें कफसंचय होने पर विधिपूर्वक वमन करानी चाहिये ।

कास, वमन, हृद्ग्रह, स्वरभंग आदि उपद्रवोंसे पीडितों को वमन करानी चाहिये; और वायुके अविरोधी, पीपल, सैधानमक

और शहद मिलाकर देवें। विशेषतः दो तोले मैनफलका काथ कर छान निवाया रहने पर पीपल आदिका चूर्ण प्रक्षेप रूपसे मिलाकर पिला देवें; अथवा आककी जड़का चूर्ण १॥ माशे निवाये जलके साथ देनेसे वमन होकर नाड़ियोंमें और आमाशयमें रहा हुआ दोष निकलजाता है। इस तरह कफको निकाल देनेसे श्वास और हिक्का रोगी को शान्ति मिल जाती है, तथा स्रोतोकी शुद्धि हो जानेसे वायु सुखपूर्वक नाड़ियोंमें विचरण करने लग जाती है।

यदि कदाचित् वमन कराने पर भी दोषका लेश रह जाय, तो उसे विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धूम पिलाकर नष्ट कर देना चाहिये। यदि रोग आनाह, उदावर्त या तमक श्वास रूप उपद्रवसे पीड़ित हो, तो स्रोतोकी शुद्धिके लिये विरेचन देना लाभदायक है। विरेचन की ओषधि भी सैधानमक तथा बिजौरे और अम्लबैत आदि खट्टे फलोंका रस मिला निवायी करके देनी चाहिये। फिर जुलाब लगजाने पर हीग, पीलु, और बिड़नमक मिला हुआ हल्का भोजन वायुको अनुलोम कराने वाला देना चाहिये।

तीव्र हिक्काकी चिकित्सामें श्वासका अवरोध (प्राणायाम) कराना या अकस्मात् शीतल जलके छींटे डालना चाहिये; अथवा तिरस्कार युक्त वचन सुनाना, जिससे रोगीको दुःख या उद्वेग हो। हर्ष, ईर्ष्या, भय, शोक, लज्जा, अथवा संशय विकारो आदि से मानसिक वृत्तिका परिवर्तन होकर बहुधा हिक्का शमन हो जाती है। यदि बेहोशी आजाय और आवश्यकता हो, तो सुई चुभाना या चीटी आदि जन्तुओंसे कटवाना इत्यादि उपचार हितकर होते हैं। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं, कि—

विरेचनं पथ्यतमं ससैन्धवं घृतं सुखोष्णं च सितोपलायुतम् ।
सदागतावूर्ध्वगतेऽनुवासनं वदन्ति केचिच्च हिताय हिक्किनाम् ॥

हिक्का रोगमें सैन्धवयुक्त विरेचन देना पथ्यतम (अत्यन्त

हितकर) है; एवं घृतमें सैधव मिलाकर पिलाना भी लाभदायक है । कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि, हिक्का रोगीके लिये ऊर्ध्वगामी वायु होनेसे अनुवासन वस्ति भी हितकर है ।

यदि हिक्का और श्वासरोगी तृषासे पीड़ित हो, तो दशमूल वा देवदारुका काथ अथवा वारुणी (शराब) का मण्ड पिलाना चाहिये । (तीव्रप्रकोपमें शीतल जल देने पर मृत्यु हो जानेकी भीति रहती है) ।

हिक्का रोगीको क्षार, होंग, घी, विड़नमक, अनारदाने, पुष्करमूल, कचूर, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, बिजौरा, और अमल-वैत आदि पदार्थ मिलाया हुआ भोजन देना चाहिये ।

भगवान् आत्रेय हिक्का और श्वास रोगकी चिकित्सार्थ संक्षेपमें कहते हैं कि:—

यत् किञ्चित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।

भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्कनैः ॥

आहार-विहार-औषध आदि जो-जो कफ और वातको हरने वाले उष्ण (गरम गुण वाले) और वायुको अनुलोम करने वाले (स्निग्ध) हैं; वे सब श्वास और हिक्का रोगीके लिये हितकारक हैं ।

कफाधिक रोगीके लिये प्रायः वातकृत और कफहर; तथा वाताधिक रोगीके लिये कफकृत और वातनाशक चिकित्सा लगातार नहीं करनी चाहिये । कदाच प्रकृति भेदसे ऐसी चिकित्सा करनी पड़े, तो इन दोनोंमें वातनाशक चिकित्सा अच्छी मानी जायगी । कारण, हिक्का और श्वास रोगीको बृंहण औषधि देने पर कदाचित् दैववशात् कुछ हानि हो जाय, तो भी वह साधारण उपाय से सुखपूर्वक सम्बहल जाती है । एवं संशमन चिकित्सा करने पर प्रारब्धवशात् कुछ अपाय हो जाय, तो भी अधिक नहीं हो

सकेगा, मध्यम होगा; किन्तु हिक्का या श्वासकी निवृत्ति निमित्त यदि कर्षण चिकित्सा—वातवर्धक की जाय; और उससे कदाच अपाय हो जाय, तो वह अति दुःसह होगा, किसी तरह वह नहीं जीता जायगा । इसलिये हिक्का और श्वास रोगमें संशोधन किये हुएकी और अशुद्ध (संशोधनके अयोग्य) रोगियोंकी विशेषतः संशमन और बृहण चिकित्सा करनी चाहिये ।

कास, श्वास, क्षय, वमन, हिक्का, ये सब रोग परस्पर सम्बन्ध वाले हैं । अतः इन सबमें परस्पर एक दूसरेकी ओषधियोंसे उपचार हो सकता है, ऐसा आचार्यने “कास-श्वास क्षय-च्छर्दि-हिक्काश्चान्योन्यभेषजैः” इस वचनसे कहा है ।

हिक्का रोग अनेक बार अतिशय कष्टदायक बन जाता है, फिर किमी भी ओषधिसे लाभ नहीं पहुँचता । कभी-कभी बड़ी-बड़ी मात्रा निरुपयोगी हो जाती है; और इसके विपरीत काली मिर्चका धूम, शीतल जल, बर्फ, सोठका काथ, सोंठके चूर्णका नस्य आदि सामान्य उपचारोंसे लाभ पहुँच जाता है । अनेक समय उदरमें उष्णता वृद्धि होकर हिक्का उपस्थित होती है । ऐसे समय पर उष्ण ओषधियोंका व्यवहार करनेसे अपकार होता है; तथा पथ्य भोजनसे उपकार हो जानेके उदाहरण मिलते हैं ।

जब महाप्राचीरा पेशी आदि आभ्यन्तरिक यन्त्रोंमें विकृति होनेसे हिक्का उत्पन्न होती है; तब सरलतापूर्वक शमन नहीं हो सकती । ऐसी हिक्का असाध्य हो जाती है । ऐसी व्याधियोंमें मूल यन्त्रविकारको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए । अनेक डाक्टरों ग्रन्थकारोंने भोजन और जलपानके पश्चात् हिक्कावृद्धि होनेका लिखा है; किन्तु इसके विपरीत अनेक रोगियोंको भोजन और जलपान करने पर रोग बल कम होनेका भी अनुभवमें आया है । एवं कभी-कभी हृदयाधरिक प्रदेश पर राईका प्लास्टर लगाने से हिक्का शमन हो गई है ।

हिक्का-चिकित्सा ।

तीव्र वेगशामक प्रयोग—(१) स्त्रीके दुग्धमें रक्तचन्दनको घिसकर या मुलहठीको शहदमें घिसकर नस्य करानेसे दाह युक्त हिक्का नष्ट हो जाती है ।

(२) पीपल और मिश्री मिलाकर सुंघाने पर बहुधा छींकें नहीं आती; और तुरन्त सामान्य और भयंकर हिक्का भी दूर हो जाती है ।

(३) सोंठके काथमें गुड़ या अदरकके रसमें मिश्री मिलाकर नस्य देनेसे हिक्काका प्रबल वेग भी तत्काल शान्त हो जाता है ।

(४) लहसुन, प्याज या गाजरका रस सुंघानेसे हिक्का शमन हो जाती है ।

(५) मक्खियोंकी विष्टा (जिस डोरी पर मक्खियाँ बैठती है; उस डोरी) को स्त्रीके दूधमें मसलकर सुंघानेसे तुरन्त हिक्का दूर हो जाती है ।

(६) सोंठ, पीपल और आँवलेके चूर्णको शहद मिश्री मिलाकर चटानेसे वात प्रकोप दूर होकर हिक्का शान्त हो जाती है ।

(७) बिजौरेके रसमें ६ माशे-शहद और २ माशे काला नमक मिलाकर पिलानेसे हिक्का दूर हो जाती है ।

(८) भारंगी, सोंठ, मिश्री और कालानमक निवाये जलमें मिलाकर पिलानेसे कफप्रकोप दूर होकर हिक्का निवृत्त हो जाती है ।

(९) पुष्करमूल, जवाखार और कालीमिर्चको निवाये जलमें मिलाकर पिलानेसे श्वास और हिक्काका शमन होता है ।

(१०) मोरपंखके चन्दवोंकी भस्म और पीपलका चूर्ण ४-४ रत्तीको ६ माशे शहदके साथ मिलाकर चटानेसे तत्काल हिक्का बन्द हो जाती है ।

(११) हालों (चन्द्रसूर) को ८ गुने जलमें मिलाकर

यकावें । फिर कपड़ेसे छानकर बार-बार ४-४ तोले जल पिलाते रहनेसे हिक्काका तीव्र वेग शमन हो जाता है । यह सामान्य ओषधि होनेपर भी अपना प्रभाव तत्काल दर्शाती है ।

(१२) यवक्षार ४ से ८ रत्ती ६ माशे गोघृतमें मिलाकर चटानेसे थोड़े ही समयमें कफकी अधिकतासे उत्पन्न भयंकर हिक्का शान्त हो जाती है । आश्वयकता हो तो २-२ घण्टे बाद दूसरी और तीसरी मात्रा देवें ।

(१३) केलेके मूलको ४ तोले रसमें ६ माशे मिश्री मिलाकर २-२ घण्टे पर २-३ बार पिलानेसे भयंकर हिक्का दूर हो जाती है ।

(१४) बहेड़ेका चूर्ण ६ माशे और शहद ६ माशे मिलाकर सेवन करानेसे कफप्रकोप नष्ट होकर श्वासका दौरा और प्रबल हिक्का शमन हो जाते हैं ।

(१५) পেठेका चूर्ण ६ माशे निवाये जलके साथ सेवन कराने से दाह और पित्त प्रकोपसह हिक्का दूर हो जाती है ।

(१६) शृङ्गादि चूर्ण—काकड़ासिंगी, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आवला, छोटी कटेली, भारंगी, पुष्करमूल, और पाँचोंनमक, ये १५ ओषधियोंको समभाग मिला कूट कपड़-छान करें । इसमेंसे ४-४ माशे चूर्ण निवाये जलके साथ सेवन करानेसे हिक्का, श्वास, उर्ध्ववात, कास, अरुचि, और पीनस रोग दूर हो जाते हैं ।

(१७) कांसकी जड़का चूर्ण ६-६ माशे शहदके साथ चटाने से दाहयुक्त हिक्का दूर होती है ।

(१८) १ रत्ती माणिक्य रस (हरतालसे बना हुआ) गुड़ के जलके साथ १-१ घण्टे पर २-३ बार देनेसे हिक्का दूर होती है । १ तोला गुड़को ५-७ तोले जलमें मिला निवाया करें । फिर छानकर पिलावें ।

(१६) मैन्सिल १ रत्ती और कालीमिर्च ४ रत्तीके चूर्णको २ माशे अदरखके रस और ६ माशे शहदके साथ मिलाकर चटानेसे तत्काल हिक्का दूर हो जाती है ।

तीव्रवेगमें धूम्रपान—(१) हींग ३ माशे, उड़द १ तोला, कालीमिर्च ६ माशे और मक्खन १ तोला मिला निधूम अग्नि पर डालकर नली या चिलम द्वारा धुआँ पिलानेसे सत्वर हिक्का दूर हो जाती है ।

(२) हल्दी और उड़दके चूर्णका धुआँ पिलावें ।

(३) रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ मनःशिलादि धूम्रपान (२० ८६१) करानेसे अति बड़ा हुआ कफप्रकोप दूर होकर वायु अनुलोम हो जाती है । जिससे हिक्का, श्वास और कास, तीनोंका तुरन्त नाश हो जाता है ।

(४) नारियलकी चोटीको चिलममें रख धुआँ पिलानेसे हिक्का शमन हो जाती है ।

(५) चित्रककी छाल और हल्दीका धूम्रपान करानेसे हिक्का तत्काल निवृत्त हो जाती है ।

तृषा शमनार्थ—(१) दशमूलको १६ गुने जलमें मिला काथ कर अर्धावशेष किया हुआ जल थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें, या देवदारुके जौकुट चूर्णको १६ गुने जलमें औटा छानकर पिलाते रहें ।

(२) द्राक्षासव या शराब (वारुणी मण्ड) पिलानेसे तृषा निवृत्त हो जाती है ।

(३) बकरीके २० तोले दूधमें १ तोला सोंठ और १ सेर जल मिला दुग्धावशेष काथ कर मिश्री मिलाकर पिलानेसे तृषा और हिक्का, दोनों शमन हो जाते हैं । आवश्यकता पर पुनः-पुनः ३-४ बार पिलानेमें भी आपत्ति नहीं है ।

जीर्ण वातकफात्मक हिक्कानाशक प्रयोग—(१) ताम्र भस्म

और सुवर्णमाक्षिक भस्म २-२ रत्ती काकडासिंगी और पीपलके चूर्णके साथ देवें ।

(२) ताम्रभस्म २ रत्तीको यवक्षार ६ रत्ती और ६ माशे घृतके साथ दे ।

(३) रसतन्त्रसारमें लिखे हुए प्रयोग—हिक्कान्तक रस (२० ४७०), कनकासव (२० ७५३), या समीरपन्नग (२० २६७), लौग और सोठके काथके साथ देवें; अथवा हरतालभस्म (२० २२८) १ रत्ती ईखके रसके साथ दें; या आरोग्यवर्द्धिनी (२० ५३०) जलके साथ सेवन करवें । इनमेंसे अनुकूल ओषध कुछ दिनों तक सेवन करानेसे जो हिक्का बारबार थोड़े-थोड़े दिनों पर उत्पन्न होती रहती है; वह नष्ट हो जाती है ।

जीर्ण पित्तानुबन्धयुक्त हिक्कानाशक प्रयोग—(१) सूतशेखररस (२० ५५७ धमासेके काथ और शहदके साथ), (२) मौक्तिक पिष्टी (कुटकी और सोनागेरूके चूर्णके साथ), (३) ताम्रभस्म और सुवर्णमाक्षिक भस्म (बिजौरेके रसके साथ), (४) प्रवाल भस्म और शंखभस्म (त्रिफला, पीपल और शहदके साथ) । ये चारों ओषधियाँ हितकर हैं । इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन कराना चाहिए ।

हिक्कान्तक रस (२० ४७०) अथवा सुवर्ण, मौक्तिक, ताम्र और लोहभस्मको मिला बिजौरेके रस, शहद और काला नमकके साथ देनेसे सब जातिकी हिक्का शमन होती है । इस हिक्कान्तक रससे तीव्र भयंकर वेगयुक्त, सामान्यवेगयुक्त, जीर्ण और असाध्य हिक्का भी शमन हो जाती है ।

शुकक्षयजनित हिक्कापर—लक्ष्मीविलास रस (२० ४५७) या वसंतकुसुमाकर रस (२० ५१८) दें; अथवा पूर्णचन्द्रोदय रस, मौक्तिक भस्म और वंगभस्म, तीनोंको मिला, सोंठ मिलाकर औंटाये हुए बकरीके दूधसे देवें ।

बाह्योपचार—तीव्र वेगके समय कण्ठ, फुफ्फुस, उदर आदि अवयवोंपर नारायण तैल या इतर वातश्लेष्मनाशक सिद्ध तैल की मालिश करें। फिर दशमूल काथकी अथवा इतर वात-श्लेष्मनाशक क्वाथकी बाष्पसे सेक करनेसे तीव्र वेदना दूर होजाती है।

पिप्पल्यादि लोह—पीपल, आंवला, मुनक्का, बेरकी गुठली का मगज, बायबिंडग, पुष्करमूल और लोहभस्म, ये ७ ओषधियाँ समभाग मिलाकर कूट लेवें। इसमेंसे २-२ माशे चूर्ण शहद और मिश्रीके साथ सेवन करानेसे वमन, हिक्का और तृषा निश्चय पूर्वक ३ दिनके भीतर नष्ट हो जाते हैं। तीव्र वेगके समय २-२ घण्टेपर २-३ बार इस ओषधि का सेवन करानेसे वेग शमन हो जाता है।

शंखचूड़ रस—रससिन्दूर, अभ्रकभस्म और सुवर्णभस्म १-१ भाग, वैक्रान्त भस्म ३ भाग और शंखभस्म ३० भाग मिलाकर खरल कर लें। इसमेंसे २ से ३ माशे अनुकूल अनुपान (बिजौरे का रस या जवाखार और घी) अथवा इतर अनुपान मिलाकर देनेसे आसन्न मृत्यु रोगीकी पांचों प्रकारकी हिक्का बन्द हो जाती हैं। महाप्राचीराप्रदाह पर भी यह रस हितावह है। आवश्यकता होनेपर बाह्य उपचार रूपसे राईका लास्टर कौड़ी प्रदेश पर लगाना चाहिये।

तेजोवत्यादि घृत—चव्य, हरड़, कूठ, पीपल, कुटकी, अज-वायन, पुष्करमूल, पलाशकी छाल, चित्रकमूल, कचूर, काला नमक, भूमि आंवला, सैधानमक, बेलकी गिरी, तालीसपत्र, जीवन्ती और बच, इन १७ ओषधियोंको १-१ तोला तथा हींगको ३ माशे मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, गोघृत ६४ तोले और जल २५६ तोलेको मिलाकर यथाविधि पाक करें। इस घृतमेंसे

शक्ति अनुसार १ से ४ तोले तक पिलानेसे हिक्का और श्वास रोग दूर हो जाते हैं। एवं शोथ, वातप्रकोपजन्य अर्श, ग्रहणी, हृदय शूल और पार्श्वशूल नष्ट हो जाते हैं। हिक्का और श्वास रोगीको इसी घृत का पान कराया जाय, और भोजनमें भी इस घृतका सेवन कराया जाय, तो विशेष हितावह माना जाता है।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) क्लोरोफॉर्म Chloroform	२ बूंद
सल्फ्युरिक इथरीज Sulphuric Aetheris	१० बूंद
दालचीनीका तैल Oil Cinamom	२ बूंद
क्रियासोट Creosote	२ बूंद
एसिड हाईड्रोस्येनिक डिल्यूट Acid Hydrocyanic Dil	५ बूंद
स्पिरिट एमोनिया एरोमेटिक Spt Ammon Arom	३० बूंद
ब्रान्डी Spt Vini Gallici	२ ड्राम
टिञ्चर वेलीरियन Tinct Valeriane	३० बूंद
जल Aqua	ad १ औंस तक

इन सबको मिलाकर पिला लेवे। आवश्यकता पर २-२ घण्टे पर पुनः पुनः दो बार देनेसे हिक्का शमन हो जाती है।

(२) क्लोरल हाइड्रेट Chloral Hydrate	१ ड्राम
पोटास ब्रोमाइड Potas Bromide	१ ड्राम
एक्वामेन्था पिप Aqua Mentha Pip ad	६ औंस तक

तीनों को मिलाकर ४-४ ड्राम दिनमें ३ बार पिलाते रहे।

(३) यदि वेग शमन न होता हो, तो नाइट्रोग्लिसरीनकी टेब्लेट—Nitroglycerine tablets $\frac{1}{100}$ ग्रेन की १ से २ तक देवे; अथवा १० बूंद टेरिबेन (Terebene) को केपसूलमें डालकर देवे; और कौड़ी स्थान पर राईका प्लास्टर लगावे।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—हिक्का रोग कफवातात्मक होनेसे जो ओषधि-आहार विहार कफवातघ्न, उष्ण, वायुको अनुलोमन करने वाले हों, वे सब पथ्य हैं । स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, तैलमर्दन, नस्य, धूम्रपान, दिनमें शयन, मूर्च्छावस्थामें शीतल जल छिड़कना, डराना, धमकाना, क्रोधित करना, संशयमें डाल देना, प्राणायाम, स्निग्ध भोजन, खट्टे और मृदु पदार्थ, नमक, बिड़नमक, पुरानी कुलथी, गेहूँ, शालि चावल, पुराना सौंठी चावल (अति वात-प्रकोपन हो तो), जौ (कफाधिक है तो), काले हिरन, तीतर, लावा आदि जांगल पशु पक्षियोंका मांस, औटाया हुआ जल, परवल, कोमल मूली, पके कैथ, कड़वा निम्ब, लहशुन, शहद, बकरी का दूध, जवाखार, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हल्दी, बेरकी गुठली की मींगी, पके आँवले, पक्का बिजौरा, पुष्करमूल, काली तुलसी, शराब, गोमूत्र, यवागू, भूनीं हींग इत्यादि पथ्य हैं ।

जली हुई मिट्टी पर जल छिड़ककर सुंघाना (बाष्प नाकमें न जाय इस तरह जल छिड़कना), कण्ठके संधिस्थान पर जलकी धारा डालना, नाभिके ऊपर दबाना और दोनों पैरोंके दो अंगुल ऊपर और नाभिके दो अंगुल ऊपर दाग देवें । यह दाग दीपक की अग्निपर हल्दीको जलाकर उससे देवें । हल्दीसे दाग देनेकी विधि और अधिकारी आदिके लिये चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके शरीर शुद्धि प्रकरणके भीतर दम्भविधि पृ० २८२ में देखें, ये सब हिक्का रोगमें पथ्य हैं ।

हिकारोगीके लिए अन्नपान—पुष्करमूल, कचूर, सोंठ, काली-मिर्च, पीपल, बिजौरा, अम्लबेंत, घी, बिड़नमक और हींग मिलाकर देना लाभदायक है । सूखी मूली, कसौंदीके पत्ते या सुहिंजने के पत्ते, इनमेंसे किसी एकके साथ ३ गुनी कुलथी मिलावें । फिर

सबके वजनसे ८ गुना जल मिला अर्धवशेष काथ (यूष) बनाकर पिलावें । यह हिक्का और श्वास रोगीके लिये अति हितकारक है, अथवा कुलथीके साथ सोंठ, कटेली और अडूसेके पत्ते मिलाकर यूष करें । फिर पुष्करमूलका चूर्ण मिलाकर पिलावें ।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि—

सर्पिः स्निग्धा घ्नन्ति हिकां यवाग्वः

कोष्ण ग्रासाः पायसो वा सुखोष्णः ।

शुण्ठीतोये साधितं क्षीरमाजं

तद्वत्पीतं शर्करासंयुतं वा ॥

अतृप्तेर्वा सेव्यमानं निहन्याद्—

घ्रात्वा हिक्कामाशु मूत्रं त्वजाव्योः ॥

यवागू घी मिलाकर खाना, निवाये-निवाये ग्रास लेना, निवायी निवायी क्षीर खाना, सोंठ और जल मिलाकर बकरी का दूध उबाल दुग्धावशेष काथ कर मिश्री मिलाकर तृप्ति पर्यन्त पीना, तथा बकरी और भेड़ का मूत्र सुँधाना, ये सब हिक्काको नष्ट करने वाले हैं ।

कपोत, पारावत (कबूतर), लावा, शल्यक पक्षी तथा श्वदंष्ट्र (सेह) गोधा (गोह) और वृष दंश (वनकी बिल्ली) आदि पशु, इनमेंसे किसीके मांसरसमें खट्टे फलोंका रस, सैधानमक और घी मिलाकर निवाया-निवाया पिलावें । इस तरह हिरन और जंगली पक्षियोंके मांसका रस भी पिलाया जाता है । रात्रिको भोजन अति लघु, निवाया और सात्म्य देना चाहिये ।

अपथ्य—अपानवायु, मूत्र, ढकार, खोंसी और मलके वेगका धारण, धूल, वायु, अग्नि, सूर्यके तापका सेवन, परिश्रम, विरुद्ध

भोजन, मलावरोधकारक (कब्ज करनेवाले) पदार्थोंका सेवन, दाहकारक, रुक्ष और कफवर्धक, भोजन, निष्पाव (भटवांसु), पिट्ठी, उड़द, तिलकी खल, मैदेके पदार्थ, बेसनके पदार्थ, अधिक जलपान, शीतल जल, मछली, और अनूप देशके पशुओं का मांस, भेड़ी का दूध, दतौन, बस्ति, सरसों, अति तेज खटाई (करौंदा, कच्ची इमली और अति खट्टे दही आदि), मीठी तूम्बी, कन्दशाक (आलू, अरबी, रतालु आदि), तैलमें भूना हुआ पोई का शाक और पोई की पकौड़ी, भारी और शीतल अन्न-पान, खट्टा दही, लाल मिर्च, रात्रिमें जागरण, तेज वायुमें रहना, पक्का केला, सीताफल, रामफल, अमरुद, बेर, भिण्डीका शाक, सूर्योदयके पहले शीतल जलसे स्नान और मैथुन इत्यादि हिक्का रोगीके लिये अपथ्य हैं ।

तृषा लगनेपर शीतल जल नहीं देना चाहिये । दशमूलका काथ या द्राक्षासव देना हितकारक है ।

अग्न्याशय विकार ।

अग्न्याशय विकार—डिजीजिज ऑफ़ धी पेन्क्रियाज—Diseases of the Pancreas ।

जिस तरह प्राचीन आचार्योंने पचनेन्द्रिय संस्थामें रहे हुए आमाशय, अन्न, यकृत आदि आशयोंके रोगोंका वर्णन किया है, उस तरह अग्न्याशयके रोगोंका वर्णन नहीं किया । आधुनिक युगमें अनेक परीक्षण-साधन होने पर भी जीवितावस्थामें अग्न्याशयके रोगोंका निर्णय नहीं हुआ । फिर भी सामान्य सम्प्राप्ति शास्त्रानुसार वर्णन देना अच्छा माना है । कितनेक विद्वानोंने इस अग्न्याशयको क्लोम संज्ञा दी है । क्लोम शब्द विवादास्पद होनेसे इस ग्रन्थमें अग्न्याशय ही नाम लिखा गया है । इस आशयका चित्र प्रथम खण्डके पृ० ७५१ में दिया है ।

अग्न्याशय—इस आशयकी लम्बाई लगभग १२ से १५ सेन्टीमीटर (५ इञ्च) और चौड़ाई २ इञ्च है । यह उदरगुहाके भीतर रहा है । यह अनेक छोटी-छोटी ग्रन्थियोंके समूह रूप भासता है । यह आमाशयके पीछे पहली और दूसरी कटि कशेरुकाके आगे आड़ा रहा है । इसका वजन लगभग ५-७ तोले तक होता है । इसके दाहिनी ओर का मोटा भाग (शिर) ग्रहणी द्वारा लपेटा हुआ है; और उससे संलग्न है; तथा बायी ओरका हिस्सा (पुच्छ भाग) मुक्त और पतला है, यह प्लीहाकी ओर रहा है । अभिप्लीहिका धमनी (Splenic art.) इसकी ऊर्ध्व धाराका अनुसरण करती हुई प्लीहाकी ओर जाती है । इस अग्न्याशयके पीछेकी ओर निम्न अवयव दृष्टिगोचर होते हैं । साधारणी पित्तनलिका, अधरा महाशिरा, वाम अनुवृक्का शिरा, (Left Renal Vein), महाधमनी, उत्तरा आन्त्रिकी शिरा और धमनी (Superior Mesenteric Vein and Artery) पृष्ठवश, महाप्राचीरा पेशीके दोनों मूल, वाम वृक्क, वाम अधिवृक्क ग्रन्थि और वाम कटि चतुरस्रा पेशी (Left Quadratus Lumborum) आदि । इस आशयकी निम्न धाराका दक्षिण हिस्सा ग्रहणी द्वारा घिरा हुआ है, तथा बाया भाग बृहदन्त्रके आडे भागकी प्रग्रन्थियोंसे आच्छादित है ।

इस आशयको खड़ा चीरने पर इसमें दो लम्बे स्रोत प्रतीत होते हैं । अग्न्याशयके सूक्ष्म कोषोंमें तैयार किया हुआ आग्नेय रस (Pancreatic Juice) इन स्रोतों द्वारा संग्रहीत होता है । दोनों स्रोत बायी ओरसे दाहिनी ओर जाने पर कभी-कभी सम्मिलित होकर उनमें से एक स्रोत बन जाता है । इन स्रोतोंको आग्नेय स्रोत (Pancreatic duct or ductus Wirsungi) सज्ञा दी है । ग्रहणीके भीतर यह स्रोत साधारणी पित्तनलिकाके साथ खुलता है । कभी-कभी अग्न्याशयमें एक ही स्रोत होता है । विशेषतः ये दोनों स्रोत एक साथ सम्मिलित नहीं होते । अलग-अलग खुलते हैं । एक पित्तनलिकाके साथ और दूसरा स्वतन्त्र रूपसे ग्रहणीमें खुलता है ।

निर्माण—इस आशयमें असंख्य कण्डिकाएं (Lobules) संयोजक सूत्रोंसे इकट्ठी होकर छोटे पिण्डों (Lobes) की रचना करती हैं । अनेक पिण्ड मिलकर अग्न्याशय बना है । अणुवीक्षण यन्त्रसे देखने पर प्रत्येक कण्डिका द्राक्षके गुच्छे जैसी छोटी-छोटी थैलियाँ (Saccules) मिलकर बनी है । प्रत्येक कण्डिकामें आग्नेय स्रोतकी एक सूक्ष्म प्रशाखा प्रवेश करती है, जो तैयार हुए आग्नेय रसको बाहर लाती है ।

इनके अतिरिक्त इस आशयमें कण्डिकाओंके भीतर किसी-किसी स्थान पर कितनेक कोषसमूहोंके द्वीप (Islands of Langerhans) देखनेमें आते हैं, जो अग्न्याशयका अन्तःस्राव (इन्स्युलीन—Insulin) को उत्पन्न करते रहते हैं । यह स्राव सीधा रक्तमें मिल जाता है ; और निसास्ता (Starch) और शर्कराकी पचनक्रियामें महत्त्वका भाग लेता है । इस रसके अभावमें रक्तके भीतर शर्करा बढ़ जाती है ।

पोषण—इस अग्न्याशयका पोषण अभिप्लीहिका, अभियाकृती और उत्तरा आन्त्रिकी धमनियों की शाखा-प्रशाखाओं द्वारा होता है । शिराएँ इन धमनियोंके साथ जाती हैं । इस अग्न्याशय पर प्राणदा नाड़ी और इडा पिंगला नाड़ीमण्डलके तन्तु फैले हुए हैं ।

कर्म—यह आशय आग्नेय रस तैयार करता है । जिस रस द्वारा आमाशयके अर्ध पाचित आहारका पूरा पचन होता है । सामान्यतः मानव देहके भीतर २४ घण्टेमें लगभग ३०-४० तोले आग्नेय रसकी उत्पत्ति होती है ।

अग्न्याशय विकारके सामान्य लक्षण—अग्न्याशयमें विकृति होने पर हृदयाधरिक प्रदेश (कौड़ी स्थान) से वामस्कंध और वामपार्श्वकी ओर जाने वाली तीव्र वेदना, उबाक, वमन, खट्टीडकार, जुधानाश, शारीरिक और मानसिक बल क्षय, मलमें अपाचित चर्बी, मधुमेह, क्वचित् कामला, रक्तपित्त प्रवृत्ति, हृदयकी क्रिया मन्द होजाना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

सेलोल खिलाकर कार्बोलिक एसिड द्वारा मूत्र परीक्षा करने पर सामान्यावस्थामें जैसी प्रतिक्रिया होती है, ऐसी अग्न्याशय विकारोंमें नहीं होगी ।

विशिष्ट मूत्र परीक्षा केमीज रिएक्शन (Cammidge's Reaction) द्वारा अग्न्याशयकी विकृति जानी जाती है । एवं आयडोफॉर्म मिश्रित पदार्थ खिला कर मूत्रपरीक्षा करने पर मूत्रमें आयडोफॉर्म की प्रतीति नहीं होती । अग्न्याशय विकार न हो, तो आयडोफॉर्म मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है ।

अग्न्याशय विकार—सम्प्राप्ति शास्त्रानुसार निम्न रोग हो सकते हैं—

- १ अग्न्याशयप्रदाह—Pancreatitis ।
- २ अग्न्याशयमें रसाबुद—Cyst ।
- ३ अग्न्याशय पर अबुद—Pancreatonicus ।
- ४ अग्न्याशयमें विद्रधि—Pancreat-helkosis ।
- ५ अग्न्याशयमें शूल—Pancreatalgia ।
- ६ अग्न्याशयमें रक्तसंग्रह—Pancreatempthraxis ।
- ७ अग्न्याशयमें अश्मरी—Pancreatolith ।
- ८ अग्न्याशयके तन्तुओंका नाश—Pancreatolytic ।
- ९ अग्न्याशयमें कर्कसफोट—Cancer ।
- १० अग्न्याशयकी शीर्णता—Atrophy ।
- ११ अग्न्याशयमेंसे रक्तस्राव—Haemorrhage आदि-आदि ।

अग्न्याशयप्रदाह—अग्न्याशय प्रदाहमें आशुकारी और चिरकारी दो प्रकार हैं । इनमेंसे आशुकारीमें रक्तस्रावी (Haemorrhagic pancreatitis) तीव्र पूयमय (Suppurative) और कोथयुक्त (Gangrenous), ये ३ प्रकार हैं । इनमेंसे रक्तस्रावीमें उदरकी बाँयी ओर तीव्रशूल, वमन, आधमान और विबध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । शारीरिक उत्तापकी वृद्धि नहीं होती । परन्तु रोगी ३-४ दिनमें ही मर जाता है । पूयमयमें शूल, ज्वर आदि अन्तर्विद्रधिके सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं, और रोगी क्वचित् ३-४ घण्टेमें ही चला जाता

है । तीसरे कोथयुक्त प्रकारमें अग्न्याशयका कोथ होकर पूर्ण इन्द्रिय अन्न द्वारा मलके साथ बाहर निकल जाती है ।

चिरकारी प्रदाह होने पर मधुमेह (Pancreatic Diabetes) होता है । इसका विशेष विचार प्रमेहके तृतीय खण्डमें यथास्थान किया जायगा । सामान्यतः यह दाह शनैः शनैः गुप्त रूपसे बढ़ता जाता है । अपचन, अग्निमान्द्य, नाभिके ऊपर बांयी बाजूमें वेदना, रोग बढ़ने पर पित्तस्रोतका प्रदाह होकर कामला और पित्ताशयवृद्धि आदि लक्षण होते हैं । फिर पित्ताशयवृद्धि आदि हेतुसे कर्कस्फोटका भ्रम होजाता है । इस रोगका निर्णय मलपरीक्षा और केमिज शोधित मूत्रपरीक्षा (Cammiges Reaction) द्वारा किया जाता है ।

रसाबुद—पित्तस्रोत और अग्न्याशय स्रोतका मुख एक ही होनेसे दोमेंसे किसीमें भी अश्मरी आजाने पर अग्न्याशयके रसका प्रवाह रुक जाता है । जिससे रसाबुद बन जाता है; अथवा इस स्रोतमें या अन्नमें ब्रण होने पर ब्रणरोपण कला (Scar tissue) द्वारा स्रोतो मुख संकुचित होकर सद्रव ग्रन्थि होजाती है । यह ग्रन्थि आमाशय और वृहदन्त्रके समीपमें रहे हुए भागको लग जाती है । फिर श्वासोच्छ्वासके समय अचल रहती है ।

अबुद, विद्रधि और कर्कस्फोट—अग्न्याशय पर क्वचित् ये रोग हो जाते हैं । कर्कस्फोट होने पर प्रारम्भ कालमें कौड़ी स्थानके भीतर आवेग युक्त वेदना, फिर सतत और चिरकारी शूल; कर्कस्फोट बढ़ने पर स्पर्शप्रतीति और अचलत्व तथा क्वचित् अधरा महाशिरा (Inferior Vena Cava) पर दबाव पड़नेसे पादशोथ आदि लक्षण होते हैं ।

अश्मरी—अग्न्याशयमें क्षार संचित होकर अश्मरी बनती है । यह अश्मरी क्ष-किरण (X. Rays) द्वारा प्रतीत होती है; और पित्ताश्मरी क्ष-किरण द्वारा नहीं दिखती; यह दोनोंमें अन्तर है ।

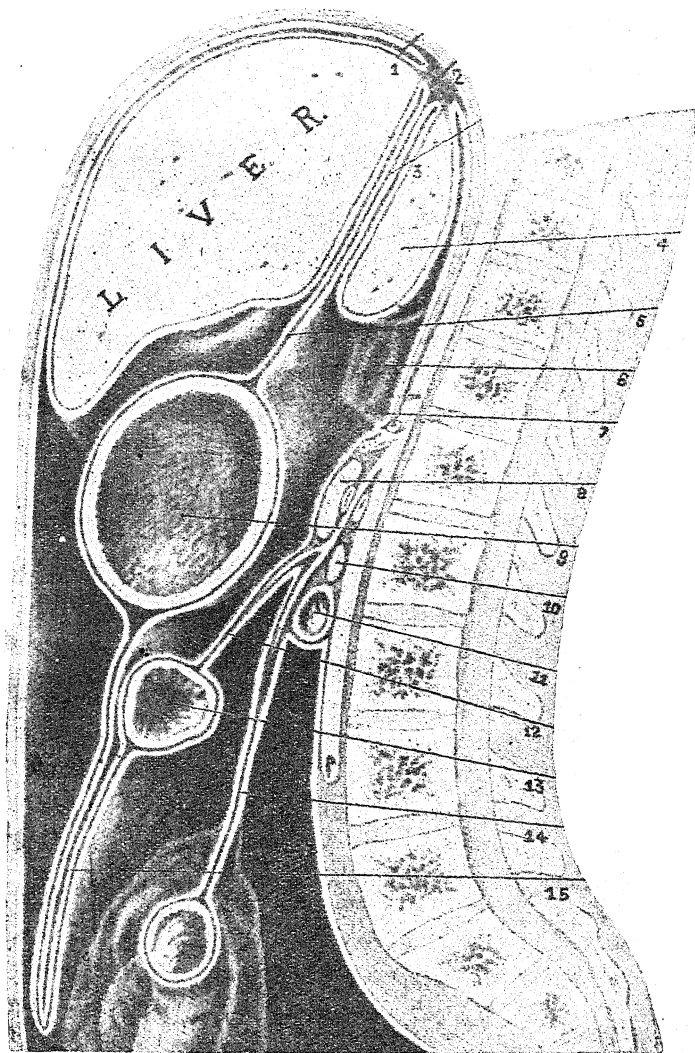
रक्तस्राव—अग्न्याशयमेंसे रक्तस्राव होने पर शूल, वमन और बलक्षयादि लक्षण उत्पन्न होकर रोगी २४ घण्टेमें चला जाता है ।

उदर्याकलाके दोनों कोष ।

(बीचमें से कटे हुए)

- १ यकृतके ऊपर रही हुई महाकोषकी ऊर्ध्व सीमा ।
- २ उदर्याकला रहित यकृतपीठ ।
- ३ लघुवपाका ऊर्ध्व भाग Lesser omentum in fissure for ductus venosus.
(दरार के भीतर संवाहिनी शिरा और आरोही अधरा महाशिरा के संयोग स्थान पर) ।
- ४ दीर्घ पिण्ड का Caudate lobe of liver.
- ५ लघुवपाका ऊर्ध्व भाग Lesser omentum.
- ६ उदर्यान्तरिक छिद्र Epiploic foramen.
- ७ याकृती धमनी Hepatic artery.
- ८ अग्न्याशयका कण्ठ Neck of pancreas.
- ९ आमाशय—Stomach.
- १० अग्न्याशयका शीर्षप्रवर्धन Uncinate process of head of pancreas.
- ११ ग्रहणीका क्षैतिज प्रदेश horizontal part of Duodenum.
- १२ उदर्याकलाप्रवर्धन—अनुप्रस्थ अन्त्रसे संयुक्त Transverse mesocolon.
- १३ अनुप्रस्थ अन्त्र Transverse colon.
- १४ अन्त्रबन्धनी Mesentery.
- १५ वपा Greater omentum.

उदर्याकला के दोनों कोष (बीचमे से कटे हुए)



उदर्याकलाप्रदाह ।

उदर्याकलाप्रदाह—अन्त्रावरणप्रदाह—पेरिटोनाइटिस —Peritonitis ।

रोग परिचय—उदरप्रदेशमें तीव्र शूल, दबाने पर वेदनाकी वृद्धि, बद्धकोष्ठ, आफरा, वमन, ज्वर, अति कृशता, क्षुद्र और तीव्रनाड़ी आदि लक्षणों सह यह रोग होता है ।

भूलसुधार—चिकित्सा तत्त्वप्रदीप प्रथमखण्डके पृष्ठ १७३ के ५ वें पेरेप्राफके अंतमें उदर्याकलाप्रदाह और इतर कितनेक रोगोंमें उष्णता की वृद्धि नहीं होती, ऐसा छप गया है । वहां पर निम्नानुसार वाक्य चाहिये । “उदरस्थ अंगोंका फटजाना, तीव्र व्यापक उदर्याकलाप्रदाह (Acute General Peritonitis), बद्धगुदोदर, गर्भ धारण हो जाने या अर्बुद आदि कारणोंसे गर्भाशयका स्थान भ्रष्ट हो जाना, उदर्याकलाकी धमनीमें अवरोध, आशुकारी अग्न्याशयप्रदाह, उपवृक्कप्रदाह, इन कारणोंसे पीड़ा अकस्मात् हो जाती है । फिर इनमें शारीरिक उष्णता का हास भी हो सकता है ।”

उदर्याकला—(पेरिटोनियम Peritonium), छातीके अवयव जिस तरह फुफ्फुसधरा कलाकोष (Pleura) के भीतर रहे हुए हैं; इस तरह उदरगुहाके भीतर सब अवयव उदर्याकला नामक रस त्वचा (Serous membrane) से आच्छादित हैं । यह कला अति पतली कोमल और मोतीके समान स्वच्छ श्वेत वर्ण की है । फुफ्फुसधराकलाकोषके समान इस कलाकी भी एक ही थैली है । पुरुष देहकी इस थैली में एक भी छिद्र नहीं है; किन्तु स्त्री शरीरकी थैली छिद्रयुक्त है । कारण बीजवाहिनियोंके सिरे (Free ends of the Uterine tubes) उदरगुहामें खुलते हैं । इस थैलीके दो स्तर हैं । इनमेंसे एक स्तर उदर की दीवारको भीतरसे ढकता है; तथा दूसरा स्तर उदरस्थ यन्त्र—पचन यन्त्र, मूत्रोत्पादन यन्त्र और प्रजनन यन्त्रको आच्छादित करता है । इनके अति-

रक्त भिन्न भिन्न अवयवोंको रक्त देने वाली घमनिया, शिराएँ और वातवाहिनिया आदि सबको आवृत करता है ।

उदर्याकलाके दो स्तरोंके भीतर कुछ पतला चिकना पदार्थ हा है । इस हेतुसे उदरके भीतर रहे हुए अवयवोंका परस्पर घर्षण होनेपर भी बाधा नहीं पहुँचती । यद्यपि उदर्याकला एक सलग स्थली है, तथापि वह उदरके भीतर इस तरह रही है कि, इसका दिखाव दो थैलियोंके समान होता है । समझानेकी सरलताके हेतुसे भासमान इन दो भागोंका वर्णन दो थैली रूपसे करते हैं । इसके बाह्य भागको महाकोष और अन्तर भागको लघुकोष सज्ञा दी जाती है ।

महाकोष—मेन पोर्शन और ग्रेटर सैक ऑफ़ पेरिटोनियम—Main Portion or Greater Sac of Peritonium—इस महाकोष का बाह्य स्तर लगभग उदरगुहाकी पूरी दीवारको आवृत करता है; तथा भीतरका स्तर यकृत, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, बृहदन्त्र, लघुअन्त्र, बस्तिका शिखर प्रदेश, स्त्री शरीरमें गर्भाशय और उसके समीपके छोटे-छोटे अवयव आदि को ढकता है । कितनेक स्थानों पर यह कला अवयवोंके चारों ओर लपट जानेसे द्विगुण होती है । इसी हेतुसे प्रबन्धनियोंकी रचना होती है, जो इन अवयवोंको डोरीके सदृश बन्धनमें रखती हैं ।

ऐसे प्रबन्धनीयुक्त अवयवोंमें यकृत, प्लीहा, आमाशय, लघु अन्त्र, बृहदन्त्र, बस्ति, गर्भाशय और गुदा आदिका समावेश होता है ।

लघुकोष—ओमेन्टल बर्सा—लेसर सैक—Omental bursa—Lesser Sac—यह थैली यकृत और आमाशयके बीचमें उनके पीछे तथा नीचे की ओर रही है । इस थैलीके नीचेका लम्बा हिस्सा वपा नामक असिद्ध कलासे विरचित मोटे स्तरमें मिल जाता है । इसमें यकृतके मूलके नीचे, उदर्याकलाकी दोनो छोटी बड़ी स्थलियोंको जोड़ने वाला छिद्र प्रतीत होती है, उसे उदर्यान्तरिक छिद्र (एपिप्लोइक फोरामेन एन्ड फोरामेन ऑफ विन्सलो—Epiploic foramen and Foramen

of Winslow) संज्ञा दी है । दोनों कोषोंमें रही हुई लसीकाका सम्बन्ध इस छिद्र द्वारा होता है ।

वपा—ग्रेटर ओमेन्टम—Greater Omentum—लघु उदर्याकला का यह भाग चार स्तरोंसे बना है । यह उदरगुहाके भीतर मोटे पदोंके समान लटकता है । यह आमाशयके निम्न किनारेसे लटकता है । इस पदोंकी निम्न धारा मुक्त रहती है । मेदोवृद्धि वाले मनुष्योंके शरीरमें इस वपामें बहुत चर्बी संग्रहित हो जाती है । इस वपाके भी छोटे (Lesser) और बड़े (Greater), ऐसे दो विभाग होते हैं ।

लघुवपा—ऊपर आमाशय की क्रोडिकाधारा (Lesser Curvature) और ग्रहणीके प्रारम्भिक स्थानसे लेकर यकृतप्रदेश तक फैला हुआ है । इस लघुवपामें दो पर्त हैं; जो आमाशयके पुरोत्तान (Antero-superior) और पश्चिमाधर (Posteroinferior) प्रदेशके लगभग १ इंच जितने भागको और कुछ अंशमें ग्रहणीको ढकता है । यह दोहरी पर्त यकृतके द्वारसीता (Porta Hepatis) प्रदेश तक ऊपर उठी है ।

बृहद्वपा—उदर गुहामें सबसे बड़ी पर्त है । यह दोहरी बन जाती है; जिससे इसमें चार पर्त होती हैं । दो पर्त आमाशयके आरोही भाग और ग्रहणीके प्रारम्भिक भागसे नीचे लघु अन्त्रपर चल रूपसे अवतरण करती हैं । फिर ऊपर उठने पर यह बृहदन्त्रके अनुप्रस्थ भाग तक आ जाती है । इस बृहद्वपाकी वाम धारा सर्वदा आमाशय-प्लीहाके (Gastro-splenic) स्नायुके ऊपर बराबर अचल रहती है ।

इस उदर गुहामें किसी-किसी स्थान पर स्थालीपुट (खड्डोंके सदृश स्थान Excavations) दृष्टिगोचर होते हैं । इन स्थानोंमें उदर्याकलाके प्रवेशसे दो पर्त हो जाती हैं । फिर पूर्ण स्थालीपुट इससे छा जाता है । ग्रहणीके समीप ऐसे ५-६ खड्डे, उगडुकके पास ३ और कुण्डलिका भाग में १ खड्डा रहा है । स्त्री शरीरमें गुदा, बस्ति, गर्भाशय और योनिमार्ग, इन चार अवयवोंके बीचमें २ गड्ढे हैं । इनमेंसे एकको बस्तिगर्भाशया-

न्तरीय स्थालीपुट (Uterovesical excavation) और दूसरेको योनिगुदान्तरीय स्थालीपुट (Rectouterine excavation) संज्ञा दी है । इन दो स्थालीपुटोके बदले पुरुषदेहमें केवल एक बस्तिगुदान्तरीय स्थालीपुट (Rectovesical pouch) रहा है । जो गुदा द्वारसे ७। सेन्टीमीटर (c. m.) अर्थात् लगभग ३ इञ्च दूर है ।

इस उदर्याकलासे यकृत, आमाशय, ग्रहणीका ऊर्ध्व प्रदेश, प्लीहा लघु अन्न, बृहदन्नका अनुप्रस्थ भाग, कुण्डलिका, उत्तरगुद, स्त्रीदेहमें दोनों बीजकोष, बीजस्रोत और गर्भाशय, ये सब पूर्णांशमें आन्ध्रादित हैं । ग्रहणीका अनुप्रस्थ और निम्नभाग, उण्डुक, बृहदन्नका आरोही और अवरोही भाग, मध्यगुद, योनि का ऊर्ध्वभाग और बस्तिपृष्ठ आदि कुछ अंशमें आवृत हुए हैं; तथा अग्न्याशय, दोनों वृक् और वृक्को पर रहे हुए अधिवृक् ग्रन्थियाँ, इनको उदर्याकला केवल मामूली स्पर्श करती है ।

इस उदर्याकलाके रोग बहुधा मूलभूत नहीं होते, लक्षण या उपद्रव रूपसे उत्पन्न होते हैं । अतः आयुर्वेदने इनका स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया, जो अन्तर्विद्रधिजन्य विकार है, उनका विवेचन आयुर्वेदने असाध्य अन्तर्विद्रधिके लक्षणरूपसे किया है । उदर्याकलाका सम्बन्ध पचनेन्द्रिय संस्थासे अधिक होनेसे इस कलाके रोगोंको डाक्टरोंके आधारसे इस अकरणमें लिखा है ।

रसत्वचाके विकार—उदर्याकला, फुफुसावरण, हृदावरण, संधि-कला आदि सर्व रसत्वचा (Sereous Membranes) हैं । सब रसत्वचाये सर्वदा रसस्त्राव करती रहती हैं; अर्थात् रसत्वचाके भीतर रही हुई इन्द्रियाँ—अन्न, फुफुस, हृदय और संधि आदिको स्निग्धता मिलती रहनेसे सब का चलन-वलन सरलतापूर्वक होता रहता है । इन सब रसत्व-चाओंके विकार सर्वत्र समान ही होते हैं । इन विकारोंमें निम्नानुसार विभाग होते हैं ।

आशुकारी प्रदाह—(Acute Inflammation) इसमें भी

सामान्य-कीटाणु रहित (Non-bacterial) और कीटाणुजन्य (Bacterial), ये दो प्रकार हैं । सामान्य प्रकारमें प्रकृतिभाव— (Resolution) सुलभतासे प्राप्त हो जाता है । यदि सत्वर प्रकृति भाव न हुआ, तो रोग जीर्णविस्था धारण कर लेता है ।

कीटाणुजन्य विकृति आघात होनेपर होती है । इस आघातज प्रकार (Mechanical Injury) को भगवान् धन्वन्तरिने ब्रह्मशोथ संज्ञा देकर पृथक् कही है । इस प्रकारके शोथमें पूयोत्पत्ति हो जाती है ।

(२) चिरकारी दाह-शोथ (Chronic Inflammation)—पीड़ाकर कारण क्षुद्र और चिरकारी होनेपर चिरकारी दाह शोथ की सम्प्राप्ति होती है । इस प्रकारमें कलाएँ परस्पर या भीतर रहे हुए अवयवके साथ चिपचिपे (चिकने-Adhesive) रसस्रावसे संलग्न हो जाती है । फिर सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धि (Hypertrophy) होनेसे प्रदाह स्थानमें रसत्वचा मोटी हो जाती । इसके अतिरिक्त इस प्रकारके अन्तर्गत उच्चेजक (Irritative) प्रकार है । जिसमें अधिक रसस्राव होकर रस जम जाता है । (Effusion); अथवा रक्तसंचालनमें प्रतिबन्ध होनेसे शिराएँ रक्तपूर्ण बन जाती हैं । फिर रस अधिक मात्रामें चूकर जम जाता है । इस प्रकारको डाक्टरीमें अवश रसस्रावसंग्रह (पेसिव ड्रोप्सिकल एफ्युशन-Passive Dropsical effusion) संज्ञा दी है ।

(३) सम्बन्ध अनुरूप विकृति—जिस इन्द्रियपर रसत्वचाका आवरण हो उस इन्द्रियकी विकृतिसे रसत्वचामें भी वैसी ही विकृति हो जाती है ।

(४) व्यापक आक्रमण—चिरकारी वृक्कप्रदाहसे रसत्वचामें विकृति आकर प्रदाहकी प्राप्ति हो जाती है । एवं क्षयकीटाणु, कर्क-स्फोट और वृक्कप्रदाहके हेतुसे कभी-कभी रसत्वचाका घातक आंशिक प्रदाह (Polyorrhomenitis) अथवा व्यापक प्रदाह (Polyserositis) हो जाता है; अर्थात् क्वचित् एक, अधिक या

सर्व रसत्वचा प्रभावित हो जाती है । कभी एक साथ, कभी एक फिर दूसरी, तीसरी इस तरह प्रभावित होती जाती है ।

उदर्याकला प्रदाह और फुफ्फुसावरण प्रदाहके रसमें कुछ अन्तर है । उदर्याकलाके रस संचयमें अन्न सन्निधिके हेतुसे अन्नकीटाणु (Bacilli Coli) प्रवेशकर जल्दी पूयोत्पत्ति करा देते हैं । फुफ्फुसावरणके रससंचय में यह विकृति नियमपूर्वक नहीं होती ।

इस उदर्याकलाप्रदाहके आशुकारी और चिरकारी, ये दो विभाग हैं । पुनः प्रदाह निश्चित सीमातक होने पर स्थानिक (Local) और समस्त आवरण प्रभावित होजाने पर व्यापक (General) विभाग होजाते हैं ।

इनके अतिरिक्त आक्रमण स्थानानुसार लघुकोष, महाप्राचीरा पेशीके आवरण, अन्त्रावरण, श्रोणिगुहाके आवरण आदिके प्रदाह, ऐसे विभाग होजाते हैं । सम्प्राप्ति शास्त्रानुसार (Pathologically) विस्तृत (Diffuse), कीटाणुजन्य (Septic), सड़ा हुआ (Putrid), रक्तसाविक (Haemorrhagic), पूयमय (Suppurative), रक्तरसमय (Serosus) और सौत्रिक तन्तुमय (Fibrinoplastic) आदि विभाग होते हैं । रोगमीमासाकी दृष्टिसे (Clinically) कहा जाय, तो अमुक सीमातक फैला हुआ (Circumscribed), पूयमय, व्यापक पूयमय, विस्तृत कीटाणुजन्य आदि प्रकार होसकते हैं ।

आशुकारी उदर्याकलाप्रदाह ।

आशुकारी उदर्याकला प्रदाह निदान—यह रोग मूलभूत क्वचित् ही होता है । विशेषतः उपद्रव रूपसे और कीटाणुजन्य होता है । इस रोगकी सम्प्राप्ति होनेके निम्नानुसार ६ कारण है ।

(१) बाह्य आघात (Traumatation)—अर्थात् लकड़ी, पत्थर, शस्त्र आदि लगना ।

(२) रासायनिक उग्रता (Chemical Aseptic Irrita-

tion)-अर्थात् अत्यंत शीत लगना, या उदर पर ब्लिस्टर प्रयोग द्वारा चिरकालपर्यन्त उभ्रता रहना ।

(३) सम्बन्ध वाले यन्त्रोंका विदारण या क्षत (Perforations)-आन्त्रिक ज्वर, कीटाणु, अश्मरी आदि कारणोंसे उदर्याकलामें रहे हुए आमाशय, अन्त्र, पित्ताशय, मूत्राशय, प्रभृति यन्त्रोंका विदारण या क्षत ।

(४) अन्नपुच्छ (Vermiform Appendix) या उसके समीप स्थानका प्रदाह ।

(५) सुजाक आदिसे मूत्राशयके किसी भी अवयवका प्रदाह या रक्तमें कीटाणुवृद्धि (Septicaemia), रक्तमें पूयमिश्रण (Pyæmia), विसर्प (Erysipelas), अन्त्रावतरण (Hernia) आदि ।

स्त्रियोंमें गर्भाशयके साथ रहे हुए दोनों स्त्री बीजोंके मुख उदर्याकलामें खुलते हैं । इस हेतुसे सुजाक आदिके कीटाणु बीजवाहिनि (Uterine Tubes) द्वारा अथवा गर्भकला प्रदाह द्वारा बीजाशयमें प्रवेश कर उदर्याकलामें चले जाते हैं । फिर वहाँ प्रदाह उत्पन्न कर देते हैं । जब उदर्याकलाके किसी भी स्थानमेंसे जीवनशक्ति (Vitality) किसी भी हेतुसे कम होजाती है; तब उस स्थानमें कीटाणुओं (Bacteria) का प्रवेश होजाता है । फिर वे अपनी सृष्टि निर्माण करने लगते हैं । इन कीटाणुओंमें विशेषतर जंजीरसदृश कीटाणु (Streptococci), समुदायबद्ध रहने वाले कीटाणु (Staphylococci) और आन्त्रिक कीटाणु (Colon Cocci) उल्लेख योग्य हैं । इनमें भी जंजीर सदृश कीटाणु अति प्रबल वेगपूर्वक विस्तृत स्थानमें फैल जाते हैं । इस जंजीर सदृश कीटाणुके आक्रमण होने पर रस (लसीका) साव नहीं जमता; और लसीकाणुओं (Leukocytes) के समूह सीमान्तमें इकट्ठे नहीं होते । फिर पतन या आशय चिपक नहीं जाते । इस हेतुसे सब विष तत्काल शोषित हो जाता है । फिर रूपान्तरित होकर घोरतर आशयिक विष बन जाता है ।

आन्त्रिक कीटाणु द्वारा विशेष प्रकारका प्रदाह होता है । फिर भी:

जंजीरसदृश कीटाणुकी अपेक्षा अल्प वेगपूर्वक और मर्यादित स्थानमें व्याप्त होता है । एवं लसीकास्राव जम जाना, पर्देका छिटक जाना आदि कुछ बाधाएँ होती हैं । सामुदायिक कीटाणुओंद्वारा प्रवाह अपेक्षाकृत सीमाबद्ध रहता है ।

(६) कभी-कभी वशानुगत उपदशविषसे गर्भस्थ शिशुको उदर्याकलाप्रदाह होजाता है । एव नवजात शिशुकी नाभिमें पूयोत्पत्ति होकर या संक्रामक कीटाणुका प्रवेश होकर उदर्याकलाप्रदाह होजाता है । एव अन्नान्नप्रवेश, रक्तातिसार, अभिघात, शीत लगना आदि कारणोंसे भी शिशुको इस रोगकी सम्प्राप्ति होजाती है ।

सम्प्राप्ति—यह प्रदाह सर्व आवरणका व्यापक (Generalised) थोड़ेसे स्थानमें सीमाबद्ध (Localised) होता है । दोनों प्रकारकी प्रारम्भावस्थामें उदर्याकला रक्तपूर्ण बनती है, और उस स्थानकी कैशिकाएँ प्रसारित हो जाती है । कोई-कोई कैशिका फटभी जाती है । फिर उसमें से रक्तस्राव होने लगता है; तथा आवरणके स्वाभाविक रक्तस्रावका रोध होता है । आवरणके भीतर लसीकास्राव होने लगता है । जिससे सौत्रिक तन्तुओं (Fibrin) की वृद्धि होकर आवरणमें स्थान-स्थान पर तह आ जाती है । फिर लसीका, स्वच्छ रक्तरस, रक्तमिश्रित रस अथवा कभी पूयमिश्रित रस आने लगता है । इस रसका शोषण होकर उदर्याकलाकी दोनों कलाएँ स्थान स्थान पर छिटक जाती है; या कीटाणुओंके हेतुसे उन स्थानों पर पूयकी उत्पत्ति हो जाती है ।

उत्सृष्ट लसीकास्रावका शोषण (Absorption) महाप्राचीरा पेशी प्रदेश या लघु अन्नप्रदेशमें अति तीव्र भावसे होता है; और ओशिगुहा पर धीरे-धीरे होता है । इस दृष्टिसे महाप्राचीराप्रदेश और आन्त्रिक प्रदेश पर आक्रमण होने पर रोग जितना घातक बन सकता है । उसकी अपेक्षा वक्षोत्तरिकसे उत्पन्न रोग कम घातक बनता है ।

प्रदाहके हेतुसे वातवहा नाड़ियोंमें उत्तेजना (Irritation) होती है । फिर उनका सकोच हो जाता है । अत्यन्त वेदना होने पर अन्नवध

हो जाता है । पश्चात् उसकी पुरःसरण क्रिया का अभाव होता है; आफरा आ जाता है; और उदर तन जाता है ।

तरल भरने पर लक्षण मृदु, सौत्रिक अवस्थामें कुछ तीव्र और पूयावस्थाकी सम्प्राप्ति होने पर अति तीव्र होते हैं । यदि व्यापक कलामें पूयावस्थाकी प्राप्ति हो जाय, तो बहुधा रोगीकी मृत्यु हो जाती है । यदि प्रदाह स्थानिक (आंशिक) हो, तो स्थानकी न्यूनताके हेतुसे लक्षण कुछ मृदु रहते हैं ।

आशुकारी व्यापक उदर्याकलाप्रदाह लक्षण—इस प्रकारमें रोगोत्पादक कारण भेदसे लक्षणों का भेद हो जाता है । सामान्यरूपसे शूल, उदरपर पीड़नाक्षमता (Tenderness), आध्मान, उदरकी वात वहानाडियोंके संकोचसे उदर कड़ा (Rigor) हो जाना, तीव्र वेगयुक्त श्वास, विवर्ण मुखमुद्रा, प्यास वृद्धि, क्षुधानाश, बद्धकोष्ठ, वमन, हिक्का, शीतलप्रस्वेद आना, ज्वर १०५ डिग्री या इससे भी अधिक (पहले अधिक फिर न्यून) आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । नाड़ी तेज हो जाती है । स्पन्दन १६० से २०० तक बढ़ जाता है । यदि उबाक, वमन और हिक्का, इन उपद्रवों की उत्पत्ति होती हैं, तो वे लक्षण बहुधा दुर्दमनीय होते हैं ।

रोगारम्भके साथ ज्वर होता है; या ज्वरकी उत्पत्ति फिर होती है । दुःखप्रद वेदना (शूल) रोगारम्भमें रहती ही है; यह प्रधान लक्षण है; तथा पीड़नाक्षमता अर्थात् उदर प्रदेशपर थोड़ा सा दबानेपर भी दर्द बढ़ जाना, यह दूसरा लक्षण है । यह पीड़नाक्षमता कभी-कभी इतनी प्रबल हो जाती है कि, उदरपर वस्त्र चलनेका आघात भी सहन नहीं होता । छींक, खांसी और श्वासोच्छ्वासासे तो अतिशय वेदना हो जाती है । इस हेतुसे रोगी शय्यापर स्थिर रूपसे जानुओंसे पैरों को मोड़कर सोता रहता है; तथा वेदना वृद्धि होने की भीतिसे करवट बदलने और हाथ-पैर चलानेमें भी संकोच करता है । यदि साधारण कास हो, तो भी

रोगीका मुख वेदनासे विकृत हो जाता है । जब कुछ कहना हो, तब रोगी धीरेसे बोलता है ।

वेदना होनेके थोड़े ही समयमे उदर बढ़ा हुआ, उष्ण और कठिन हो जाता है । उस्तृष्ट रस संचित होने या आफराके हेतुसे फुफ्फुसोंके निम्न खण्डपर दबाव पड़ता है । जिससे इनका ऊर्ध्व अंश अतिशय रक्तावेग ग्रसित हो जाता है । परिणाममें श्वासोच्छ्वास क्रिया अगम्भीर और वेगपूर्वक (*Hurried shallow Thoracic breathing*) होने लगती है । उदर्याकलाकी वातबहा नाड़ियोंकी चेष्टा बन्द हो जाती है । जिससे श्वास क्रिया करनेमे महाप्राचीरा पेशी और इतर उदरीय मासपेशियोंका कार्य तुरन्त स्थगित हो जाता है । श्वासोच्छ्वास-केवल ऊर्ध्वभाग (वक्षः स्थान) में होता है । यदि ज्वर और रक्तकीटाणु मय विकार हो, तो ही श्वसन क्रियामें तेजी आती है ।

फुफ्फुसोंके रक्त संचालन की विलक्षणताके हेतुसे हृदय की दक्षिण दिशामें सार्वार्द्धिक शैरिक विधानके रक्तसंचालनमे भी प्रतिबन्ध होता है । परिणाममे रोगीका गात्र विवर्ण हो जाता है ।

उदर्याकलाका पक्षाघात होजानेसे अनेक रोगियोंके लिये अत्यन्त मलाबरोध हो जाता है; परन्तु प्रसूतावस्थामे यदि इस रोग की उत्पत्ति हुई हो, तो बहुधा अतिसार (जलवत् पतले दस्त) हो जाता है । इसके अतिरिक्त इस रोगमें प्रधान लक्षण रूपसे वमन विकार भी उपस्थित हो जाता है । वमन होनेपर प्रारम्भमें वान्त पदार्थ श्लेष्म मिश्रित वर्ण-विहीन होता है । फिर कुछ पीले रंगके जल सदृश या अत्यन्त पीले रंग का होता है । किसी-किसी रोगीको प्रारम्भमें वमन नहीं भी होती ।

कदाच मूत्राशयके आवरण परसे प्रदाह विस्तृत हुआ हो, तो मूत्राशयमे मूत्र भरा रहना, बार-बार मूत्र त्याग करनेकी इच्छा होना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं । इस रोगमें नाड़ीकी गति अति तेज और क्षुद्र होती है । क्वचित् शारीरिक उष्माप १०५ डिग्रीसे भी बढ़ जाता है, ज्वर

की प्रबलता अनुसार रोगीके सार्वज्ञिक लक्षण प्रकाशित होते हैं । परन्तु मानसिक अवस्थामें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता ।

घातक अवस्था होनेपर रोगीकी जिह्वा शुष्क, मलिन और खुरदरीसी हो जाती है । जुधानाश, तृषाकी अधिकता और कफ रहित वमन होना, क्वचित् हिक्का भी हो जाना आदि लक्षण हो जाते हैं ।

यदि समीपके किसी यन्त्रका प्रदाह विस्तृत होकर आशुकारी व्यापक उदर्याकला प्रदाहकी उत्पत्ति करा देवें, तो सब लक्षण अति प्रबल रूप से प्रकाशित होते हैं । वेदना क्रमशः वृद्धिगत होती जाती है । प्रारम्भमें पीड़ा आक्रान्त यन्त्रमें सीमाबद्ध रहती है । फिर क्रमशः स्थान विस्तृत होनेके साथ पीड़ा बढ़ती जाती है ।

यदि आमवातज (Rheumatic) या संक्रामक कीटाणुजनित प्रदाह है, तो प्रारम्भमें अत्यंत शीत लगना, कम्प और तीव्र ज्वरके साथ प्रादाहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

क्षतजनित उदर्याकलाप्रदाह (Perforative Peritonitis) होनेपर कम्प, शीत और तुरन्त शक्तिगत हो जाता है । व्यापक प्रदाहमें नाड़ी अति तेज बन जाती है । प्रारम्भमें डोरी सदृश (Wiry) होती है । फिर अति मुलायम वायु भरी हुई (Gaseous) हो जाती है । शारीरिक उत्ताप पहले बढ़ जाता है । फिर अति कम (Sub-normal) हो जाता है । वेदना, शुष्क जिह्वा, आक्षेप (Tetany), प्रलाप, भयंकर वमन और कोष्ठबद्धता आदि विकार उत्पन्न होते हैं । मांस पेशियोंकी दृढ़ता और बद्धोदर भी हो जाता है । इस प्रकारमें व्यथा अत्यन्त तीव्र होती है । रोगी बहुधा ५-६ दिनके भीतर मृत्यु मुखमें गिर जाता है ।

रोग प्रबल होनेपर वायु जब उदर्याकलामें प्रवेश कर जाती हैं; तब यकृत और हृदय ऊँचे उठ जाते हैं । उस समय ठेपनपरीक्षा करने पर सर्व उदर पर (प्लीहा और यकृतके जड़ प्रदेश पर भी) सौषिर ध्वनि (Tympanitic Resonance) उत्पन्न होती है ।

तत्पश्चात् यदि रसोत्सृजन अधिक होता है, तो प्रतिघात ध्वनि मन्द हो जाती है; और रोगी अतिशय व्याकुल और हताश हो जाता है ।

इस अवस्थामें तत्काल रक्तमोक्षण कराना चाहिये; अथवा किसी भी रीतिसे देहमेसे रक्तस अधिक मात्रामे निकाल देना चाहिये । ऐसा न करने पर रोगीका शरीर अति नीले रंगका हो जाता है । फिर मानसिक जड़ता और अव्यवस्था आ जाती है ; निद्रा नहीं आती; व्याकुलता बनी रहती है; रोगी प्रलाप करता रहता है, रोगीकी मुखमुद्रा अरिष्टसूचक नीलाभ (*Facies Hippocratica*) भासती हैं; नाक, कान और कपाल शीतल होते हैं, नाड़ी क्षुब्धतर और अति तेजीसे चलती है, तथा गात्र पर शीतल स्वेद आ जाता है । ऐसे रोगी कभी कभी रोगारम्भसे तीसरे या चौथे दिन अथवा एक सप्ताहके भीतर प्राणमुक्त हो जाता है । मृत्युके पहले कुछ थोड़ी-सी तन्द्रा आ जाती है, फिर मृत्यु हो जाती है ।

अभिघातज उदर्याकला प्रदाह (*Traumatic Peritonitis*) होने पर आहत स्थान पर शूल चलकर वेदना समग्र उदरप्रदेशमें व्याप्त हो जाती है । आमाशय या अन्न आदि यन्त्र अकस्मात् विदीर्ण होने पर उदर्याकलामें प्रदाह उत्पन्न हो जाता है । यदि अन्त्रावरणकी कलामें बाह्य पदार्थ प्रविष्ट हुआ हो, तो प्रारम्भमे ही समस्त उदरमें अत्यन्त पीड़ा होने लगती है; साथ-साथ सार्वजनिक अतिशय अवसादके लक्षण और अत्यधिक ज्वरका प्रकाशन हो जाता है । यदि विदारण सहसा न होकर धीरे धीरे हो, तो प्रारम्भमे स्थानिक प्रदाहके लक्षण और फिर समग्र आवरणके प्रदाहके लक्षण—शीत, कम्प, प्रबल ज्वर आदि उपस्थित होते हैं ।

व्यापक पूयप्रदाह होने पर दूर तक कला आशयोको चिपक जाती है । फिर अधिक सकटापन्न स्थिति हो जाती है । अनेक बार कीटाणुजन्य व्यापक प्रदाह होने पर शारीरिक परिवर्तन होनेके पहले ही विष शोषण होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

आशुकारी उदर्याकला प्रदाहके रोगीकी प्रथम सप्ताहमें मृत्यु न

हुई और रोगोपशमन भी न हुआ; तो रोग जीर्णवस्था धारण कर लेता है। फिर उदरशूलका हास, पीड़नाक्षमतामें न्यूनता (बलपूर्वक दबानेसे वेदना), आफरा कम हो जाना, क्रमशः ज्वरका शमन, श्वासोच्छ्वास क्रियामें सुधार आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। किन्तु कितनेक रोगियोंको रोगारम्भमें सौत्रिक तन्तुओंके स्त्रावके हेतुसे आँतोंकी गिंडुलियाँ चिटक जाती हैं और फिर आकुंचित हो जाती हैं। जिससे अन्नकी पुरःसरण क्रिया यथोचित नहीं होती; अन्नपचन ठीक नहीं होता; कोष्ठवद्धता रहती है, और मलत्यागके पहले शूलसदृश वेदना होती है। ये विकार मृत्यु तक रह जाते हैं। यदि अन्नमें रसोत्सृजनकी अधिकता होकर अतिसार हो जाता है, तो उदरकी कठिनता कम हो जाती है। नाड़ीस्पन्दन और शारीरिक उष्णताका हास होता है (फिर भी स्वाभाविक अवस्था नहीं आती)।

आफरा जितने अंशमें शमन हो उतने अंशमें ठेपन परीक्षामें प्रतिघात ध्वनि मन्द होती जाती है। इस मन्द ध्वनिके स्थानमें क्रमशः प्रतिबन्धकता प्रतीत होती है। धीरे-धीरे उदर प्रदेश ग्रन्थियुक्त (Nodular) और ऊँचा-नीचा हो जाता है। जिससे सौत्रिक स्त्राव वाले सब स्थान अर्बुदके सदृश भासते हैं।

ज्वर कम हो जाता है; तथापि बीच-बीचमें बढ़ जाता है। रोगी निर्बल, निस्तेज और कृश हो जाता है। देहमेंसे वसा कम हो जाती है। जिससे मासपेशियाँ कोमल और शिथिल हो जाती हैं। त्वचा शुष्क और मुरझा जाती है। दोनों पैरों पर शोथ आ जाता है; और ४-६ सप्ताहमें रोगी अति क्षीण होकर मृत्यु मुखमें गिर जाता है।

यदि उत्सृष्ट रस पुनः शोषित हो जाता है, तो रोगका अन्त दुर्बलता में आ जाता है। यह दुर्बलता दीर्घकाल तक रह जाती है। एवं अन्न के संकोच और विकृतिके लक्षण प्रकाशित हो जाते हैं। यदि फिर उदर्याकलामें क्षत और विदारणकी उत्पत्ति होती है, तो ज्वर बढ़ जाता है। उदरकी किसी-किसी स्थानकी दीवार रक्त, अन्तर्भरण (Infiltration)

ticn) या सौत्रिक पदार्थ (Fibrin) विशिष्ट होती है; और कुछ समय पश्चात् वह स्थान पूयमय बन जाता है; अथवा विद्रधि होकर वह किसी और स्थानमें फूट जाता है। किसी-किसी समय विद्रधि अन्नमें फूटने पर मलके साथ पूय निकलने लगता है। ऐसे प्रसंगों पर बहुधा अति निर्बलता आकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है। कोई-कोई समय रोगी चिरकाल तक दुःख भोगकर सद्भाग्यसे स्वस्थ हो जाता है।

आशुकारी स्थानिक उदर्याकला प्रदाह लक्षण—इस आशिक (Partial) प्रकारमें प्रायः पूर्ववर्त्ती सब लक्षण प्रकाशित होते हैं। इतर यत्रके प्रभावित होनेके पश्चात् सीमा बढ़नेसे उदर्याकलाके किसी एक भागमें प्रदाह हो जाता है। दक्षिण श्रोणिगुहान्तरीया मासधरा कला (Iliac Fascia) के प्रभावित होने पर जब इस रोगकी सम्प्राप्ति होती है; तब उण्डुक (Coecum) के दाह-शोथ (Typhlitis) के लक्षण प्रकाशित होते हैं। अधिबस्तिक प्रदेश (Hypogastric), उदर्याकलाके लघुकोष (Omental Bursa) से सम्बन्ध वाला हृदयाधरिक प्रदेश (Epigastric) तथा दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Right Hypochondric) में रोगारम्भ होने पर कुछ समयके पश्चात् अन्न या आमाशयके क्षतके अथवा यकृद्विद्रधिके लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

महाप्राचीरापेशीके नीचे उत्पन्न विद्रधि (Subphrenic Abscess) के फूटने पर उदर्याकलाका पूयमय प्रदाह हो जाता है। इस विद्रधिमें प्रवाही और जहरी वायु (Gas), उभय विद्यमान होते हैं। फुफुसावरण विद्रधि (Empyema) के साथ इसका विशेष सादृश्य होता है। इस विद्रधिकी ऊर्ध्व सीमा उन्नतोदर (Convex) होती है, तथा इसका पूय निःश्वास कालमें अधिक बाहर निकलता है। फुफुसावरण विद्रधिकी ऊर्ध्व सीमा नतोदर (Concave) होती है। एव इसका पूय श्वासग्रहणकालमें अधिक निकलता है। इन दो लक्षणोंके भेदसे निर्णय हो जाता है। यदि यकृद्विद्रधि हुआ हो, तो

उससे वायु संचित नहीं होती । एवं यकृतकी वृद्धि और आकृति परिवर्तनसे निर्णय हो जाता है ।

महाप्राचीरा पेशीके निम्न स्तरमें विद्रधि की उत्पत्ति आमाशयविद्रधि पित्ताशय या पित्तनलिकाका क्षत, ग्रहणीका विद्रधि, प्लीहा, अग्न्याशय, अन्न या वृक् स्थानोंका व्याधि, कृमिज रसाबुद, अभिघात, पशुका की विकृति और फुफ्फुसावरणका विकार आदि कारणोंसे हो जाती है । फिर यह फूटने पर पूय उदर्याकलाके लघु कोषमें प्रवेश करता है । कभी कभी पूय संचय उदर्याकलाके बृहत् कोषमें या महाप्राचीरा पेशी और आमाशयके मध्य, महाप्राचीरा पेशी और यकृतके मध्य, अथवा महाप्राचीरा पेशी और प्लीहाके मध्यमें होता है । क्वचित् पूय फुफ्फुसावरणमें गति करता है । सामान्यतः विद्रधि उदर्याकलामें फूटता है ।

महाप्राचीरा विद्रधिजन्य उदर्याकलाप्रदाह होने पर हृदयका स्थान-भ्रष्ट होना, विकृत यन्त्रोंका प्रदाह, श्वासोच्छ्वास वक्षस्थानके ऊपर ऊपरमें चलते रहना, विषम ज्वर सदृश ताप, प्रस्वेद और कृशता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । इनके अतिरिक्त आमाशय, प्लीहा या यकृत किसी एक यन्त्रके विकारके लक्षण पूर्वकालीन होते ही हैं; वे भी रोगविनिर्णय में सहायक होते हैं । यदि आमाशय या अन्नका विदारण उदर्याकला के लघु कोषमें होनेपर उसमें रही हुई वायु उक्त विद्रधिमें प्रवेश कर जाती है, तो फुफ्फुसावरणकी सवात पूय भृत फुफ्फुसावरण (Pyopneumothorax) व्याधिके सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं ।

अन्त्रावरणीय कलाके एक भागमें दाह-शोथ होने पर वेदना समग्र उदरमें व्याप्त हो जाती है; किन्तु केवल सीमाबद्ध प्रभावित भाग पर दबानेसे अत्यन्त वेदना होती है । आफरा नहीं होता; अथवा सामान्यरूप से रहता है । व्यापक विकारकी अपेक्षा ज्वरमें न्यूनता होती है । यदि रसस्त्राव अत्यधिक न हो; तो ये सब लक्षण सत्वर शमन हो जाते हैं; और रोगी स्वास्थ्यको प्राप्त कर लेता है । कभी-कभी चिकने स्त्रावसे आंतोंकी गिंडुलियां चिटक जानेसे अन्नकी पुरःसरण क्रियामें व्याघात

उत्पन्न होता है; अथवा पूर्ववर्त्ती पीड़ा किसी इतर विकारमे परिणत हो जाती है ।

रक्तसाव अत्यधिक होने पर प्रदाहग्रसित झिल्लीके समोपके स्थानके ऊपर ठेपन करनेसे ध्वनि घन निकलती है । उदरकी दीवारोंकी प्रतिरोधकता बढ़ जाती है; और उदरपर सस्पर्श करने पर अबु'दका अनुभव होता है ।

आमाशयके क्षतका विदारण होनेसे दाह शोथ उत्पन्न हो जाय; तब पूर्वोक्त अबु'दकी प्रतीति नहीं होती; किन्तु अन्नके क्षयकीटानुजन्य क्षतमें शनैः शनैः अन्न फटने तथा उण्डुक और उण्डुक पुच्छ (Appendix) के अग्रभागका क्षत विदीर्ण होकर दाह-शोथ उत्पन्न होने पर सामान्य रूपसे अबु'द विदित होता है । इस रोगका परवर्त्तीक्रम दीर्घस्थायी और व्यापक उदर्याकलाप्रदाह रोगमें उत्पन्न विद्रुधिके अनुरूप होता है ।

रोग विनिर्णय—सामान्यरूपसे यह रोग अभिघातज और उदरके विभिन्न यन्त्रोंके विकार सहवर्त्ती रोगरूप या उपद्रवरूपसे प्रकाशित होता है । इस रोगके लक्षण इतर रोगोंमें भी प्रतीत होते हैं; अतः इस रोगको इतर रोगोंसे पृथक् करनेकी आवश्यकता रहती है ।

आशुकारी आमाशय दाह-शोथ (Acute Gastritis) होने पर अत्यन्त वेदना, तीव्र शूल और सत्वर वमन आदि लक्षण आमाशयके भीतर होते हैं; तब इस रोगमें ये सब विकार आमाशयके नीचे होते हैं ।

आशुकारी आन्त्रिक दाह शोथ (Acute Enteritis) में स्थानिक वेदना, दबाने पर अधिक पीड़ा और अतिसार आदि होते हैं; किन्तु इस रोगमें कोष्ठबद्धता और समग्र उदर प्रदेशमें वेदना प्रतीत होती है ।

उदरकी मासपेशिया वातरोगसे पीड़ित होने पर पूर्वकालमे वातप्रकोप हेतु विदित होता है; उदरका विस्तार नहीं होता, उदरमें वेदना होती है; तथापि दबाने पर वेदना वृद्धि नहीं होती; तब इस उदर्याकला प्रदाहमें दबाने पर असह्य पीड़ा होती है ।

पित्ताश्मरी निर्गमन जनित शूल रोगमें ठहर-ठहरकर काटनेके सदृश

अत्यधिक वेदना और कामला होता है; किन्तु उदरप्रदेश पर दंबानेसे उदर्याकलाप्रदाह सदृश पीड़नाक्षमता नहीं होती ।

बद्धोदर (अन्त्रमें प्रतिबन्ध—Intestinal Obstruction) के प्रारम्भमें वेदना या ज्वर नहीं होता; आफरा आने पर भी हाथ लगानेसे पीड़ा नहीं होती; अति कोष्ठवृद्धता होनेसे अपानवायु भी नहीं सरती और वमनमें मलकी दुर्गन्ध या मल ही आने लगता है । ये सब लक्षण इस उदर्याकलाप्रदाहमें नहीं होते । इनके विपरीत लक्षण भासते हैं; अर्थात् प्रारम्भमें ही ज्वर, उदरमें तीव्र शूल, पीड़नाक्षमता, अपानवायुका सरना और वमनमें विष्ठा न होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

साध्यासाध्यता—यदि स्वतः जात उदर्याकलाप्रदाह में १ सप्ताह व्यतीत हो जाय, तो सामान्यरूपसे रोग साध्य हो जाता है । यदि अन्त्र आदि यन्त्रोंके विदारण होनेसे रोगकी उत्पत्ति हुई हो, तो रोग असाध्य माना जाता है । रोग जीर्ण हो जाने पर रोगी सम्पूर्ण या आंशिक आरोग्य की प्राप्ति कर लेता है ।

चिरकारी उदर्याकला प्रदाह ।

चिरकारी उदर्याकलाप्रदाह निदान—यह विकार क्षयकीटाणु, मूत्रमें एल्ब्युमिन जाना (Albuminuria), कर्कस्फोट, कण्ठमाला (Scrofula), यकृद्वाल्त्युदर आदि रोगोंके हेतुसे गौरवरूपसे उत्पन्न होता है । इस चिरकारी उदर्याकलाप्रदाहमें सौम्य, कर्कस्फोटज और क्षयज भेदसे ३ प्रकार हैं ।

चिरकारी सौम्य स्थानिक उदर्याकला प्रदाह लक्षण—इस प्रदाह के स्थानिक और व्यापक, ऐसे दो भेद हैं । इनमेंसे स्थानिक भेदकी उत्पत्ति बहुधा यकृत् या प्लीहाके आवरण पर होती है । यकृत्के ऊपर रही हुई उदर्याकलाका प्रदाह हो, तो उसे डॉक्टरीमें पेरिहिपेटाइटिस (Perihepatitis); और प्लीहाके ऊपर रहे हुए आवरणमें प्रदाह हो, तो पेरिस्प्लेनाइटिस (Perisplenitis) संज्ञा दी है । इन दोनों

प्रकारों में प्रादाहिक स्थानों पर श्रवणयन्त्रसे सुनने पर घर्षणध्वनि (Friction sound) सुननेमें आती है । किसी-किसी समय यह प्रदाह इन दो स्थानोंके अतिरिक्त स्थानों में भी होजाता है । किसी भी स्थानमें यह विकार हो, तो भी इस आवरणकी कला परस्पर चिटक जाती है ; और जिस यन्त्रमें विकार उत्पन्न हुआ हो, उससे भी संलग्न होजाती है । अन्त्रावरण विकृत होने पर अन्त्रवलय अवरोद्ध होते हैं । फिर अन्त्रावरोध अथवा उदावर्त्तकी उत्पत्ति हो जाती है ।

चिरकारी सौम्य व्यापक उदर्याकलाके निदान-सम्प्राप्ति—यह विकार बहुधा यकृदाल्युदर और चिरकारी वृक्कप्रदाहसे तथा शराबी मनुष्यों को अधिक होता है । क्वचित् अनेक स्थानोंमें रसत्वचाका घातक प्रदाह (Pollyrrhomenitis) होने पर उदर्याकला, हृदावरण और कुम्फुमावरण भी प्रभावित हो जाते हैं । इस प्रदाहसे उदर्याकला मोटी होजाती है, सकोच उत्पादक सौत्रिक धातुकी अधिकताके हेतुसे क्षुद्रान्त्र-बन्धनी (Mesentery) और वपा (Omentum) आदि संकुचित होते हैं । इस तरह आवरण सकोचके हेतुसे अन्त्रके भीतरका स्थान भी संकुचित होता है ; तथा अन्त्रवलय इतर यन्त्रोंके साथ या परस्पर संलग्न होजाते हैं । अन्त्रावरण स्थान-स्थान पर चिटक जाने से उन स्थानोंमें छोटे छोटे कोष्ठ बन जाते हैं ; और उनमें तरल सग्रहित होजाता है । अन्त्रके चिटक जाने और अन्त्रसकोच होजानेके हेतुसे कोष्ठबद्धता बनी रहती है । यदि इस प्रदाहमें लसीकास्राव अधिक होता है, तो वह इस आवरणमें संचित होनेसे जलोदर हो जाता है ।

चिरकारी सौम्य व्यापक उदर्याकलाप्रदाह लक्षण—इस प्रकारमें अनियमित रूपसे कम्प, शीत लगना, ज्वर, पुनः पुनः प्रस्वेद आना, बढ़ा हुआ उदर, क्वचित् कोष्ठबद्धता, या अतिसार प्रकाशित होते हैं । रोगी क्रमशः कृश और निर्बल होता जाता है , उदर प्रदेश पर दबानेसे वेदना होती है ; और किसी-किसी स्थानमें यह पीड़ा अधिक प्रतीत होती है । कुछ मासके पश्चात् अत्यन्त कृशता आजाती है ;

उदर बढ़ जाता है ; दोपहरको ज्वर बढ़ जाता है; तथा अंतमें उदरकी दीवार कठिन, चिकनी (मसृण-Smooth), उज्ज्वल और सर्वत्र उभरी हुई सिरायुक्त प्रतीत होती है । रसस्वाद वर्त्तमान होने पर उदरके निम्नांशमें ठेपन करने पर मंद ध्वनि उत्पन्न होती है । विकारके स्थान-मेदसे ध्वनिस्थान भी बदल जाता है । अधिकांश स्थलोंमें उदरके किसी-किसी स्थानमें सौषिर ध्वनि और अपर स्थानमें ध्वनिका अभाव प्रतीत होता है ।

जीर्ण स्थानिक उदर्याकलाप्रदाहके रोगीकी मृत्यु होजानेके पश्चात् शवच्छेद करने पर उदर्याकलामें क्षत जन्य संकोच, कलाओंकी संलग्नता और स्थूलता आदि स्पष्ट विदित होते हैं ।

कर्कस्फोटज चिरकारी उदर्याकलाप्रदाह लक्षण—इस प्रदाह का मूलभूत रोग कर्कस्फोट बहुधा आमाशय अथवा बीजाशय पर होता है । यह रोग स्त्रियोंको अधिक होजाता है । इस रोगमें छोटी-छोटी ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं ; और दाह-शोथके हेतुसे अन्नबन्धनी सौत्रिक धातुके आकुंचनसे ऊपर खिंचती है; जिससे उदरमें एक लम्बा-सा गुल्म बन जाता है । क्वचित् आकुंचनक्रियामें अन्न आजाता है , तो मलाव-रोध भी बना रहता है ।

बहुधा मुख्य लक्षण तीव्र जलोदर है; परन्तु यह जल रक्त-मिश्रित होता है । कभी-कभी नाभिके चारों ओर त्वचा मोटी होजाती है ; और उसके मूलमें रही हुई ग्रन्थियोंमें कोई बड़ी और कठोर भी होजाती है ।

क्षयज चिरकारी उदर्याकलाप्रदाह निदान—(Tuberculosis Peritonitis)—यह रोग सामान्य रूपसे चिरकारी होता है ; और गुप्त रूपसे बढ़ता जाता है । कोई-कोई समय यह रोग अकस्मात् तीव्र रूप धारण कर लेता है । यह विकार किसी भी आयुमें होजाता है ; तथापि छोटी आयुमें अधिक होता है । बाल्यावस्थाके पश्चात् २० से ४० वर्षकी आयुमें इतर आयुकी अपेक्षा अधिक होता है । छोटे बच्चोंको

बहुधा क्षयपीडित गौके दूधमें रहे हुए कीटाणुओंसे (Bovine Type of Tubercle Bacilli) से इस रोगकी सम्प्राप्ति होती है ।

बालकोंके इस रोगमें अन्न और अन्नबन्धनीमें रही हुई लसीका-ग्रन्थियाँ सब क्षय कीटाणुओंसे संपीडित होजाती हैं । इसे डॉक्टरोंमें टेबिज़ मेसेण्टेरिका (Tabes Mesenterica) सज्ञा दी है । इसका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ६६२ में किया है ।

विशेषतः यह व्याधि स्थानिक (Local) होती है ; परन्तु कभी-कभी यह रोग सार्वजनिक आशुकारी क्षय रोगमें उत्पन्न होजाता है । एव अनेक बार स्त्रियोंके जननेन्द्रिय सम्बन्धी यन्त्र, अन्न और फुफ्फुसावरण आदि यन्त्रोंके क्षय होने पर उदरकी लसीका ग्रन्थियाँ आक्रमित होजाती हैं । जिससे उदर्याकलाका क्षय होजाता है । स्त्रियोंमें बीज वाहिनिया (Fallopian Tubes) द्वारा और पुरुषोंमें क्वचित् वृषणके क्षयके विस्तारसे होजाता है । यह रोग आशुकारी बनने पर इसका आशुकारी उपान्त्रप्रदाहके साथ अधिक सादृश्य प्रतीत होता है ।

क्षयज उदर्याकला प्रदाह सम्प्राप्ति—उदर्याकला पर सूक्ष्म-सूक्ष्म क्षय ग्रन्थियाँ (Tubercles) उत्पन्न होती है । महाप्राचीरा पेशीके नीचे और दोनों पार्श्व भागमें ये अधिक प्रतीत होती हैं । इन ग्रन्थियोंके हेतुसे अन्त्रावरण की दोनों कलाओंमें सलग्नता अधिक होजाती है । लघुकोषके लटकते भाग (बग) का अग्रभाग सकुचित होकर उदरमें एक लम्बा गोला होजाता है, जो स्पर्श करने पर जाना जाता है । उदरस्थ लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं, जो उदर पर दबानेसे हाथको लगती हैं । चिरकारी दाहशोथके हेतुसे कभी-कभी द्रव संचित होकर सामान्य मात्रामें जलोदर होजाता है । कभी-कभी रसस्राव सौत्रिक तन्तुओंके बन्द कोष्ठोंके भीतर जमा होता है । इस तरह अनेक छोटे-छोटे कोष्ठ निर्माण हो जाते हैं ।

सम्प्राप्ति भेदानुसार इस रोगकी ३ अवस्था प्रतीत होती हैं । जलोदर मय (Ascitic), सौत्रिक तन्तुमय (Fibrinoplastic) और

पनीर वत् (Caseous) । यह व्याधि दीर्घ काल पर्यन्त कोई भी प्रकारके विशेष लक्षण उत्पन्न किये बिना ही रहती है । फिर कोई-कोई समय अकस्मात् बद्धोदर या वात संस्थाका सर्वाङ्गवात (Paralysis) आदि दुर्दमनीय लक्षण एक साथ दृष्टिगोचर होजाते हैं ।

क्षयज उदर्याकलाप्रदाह लक्षण—यदि रोग आशुकारी तीव्र होने पर ज्वर, आध्मान, वायुका गुड़गुड़ाहट (Borborigmi), उदर तन जाना और वेदना आदि आन्त्रिक ज्वरके सदृश लक्षण होते हैं ।

रोग चिरकारी होने पर लक्षण धीरे-धीरे प्रकाशित होते हैं । छोटे छोटे बच्चोंका उदर शनैः शनैः बढ़ते जाना, अंगुलियोंसे ठेपन करने पर कभी सौषिर ध्वनि और कभी मंद ध्वनि निकलना, उदरको स्पर्श करने पर किसी किसी स्थान पर ग्रन्थियां लगना या एक लम्बा-सा गुल्म प्रतीत होना, उदरमें स्थान स्थान पर वेदना, दबाने पर वेदनावृद्धि, उदरमें कठिनता, हाथपैर कुश हो जाना, उदर घड़े सदृश हो जाना, अतिसार, अग्निमान्द्य, आफरा, उदरमें वेदना होना और अनियमित मंद ज्वर आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । प्रातःकाल ज्वर कम रहता है; सायंकाल को कुछ बढ़ जाता है; जलोदर होता है; फिर भी रस संचय अधिक नहीं होता । परीक्षा करने पर तरंगानुभूति (Flactuation) होती है; विरलावस्थामें उवाक और वमन भी प्रतीत होती है; तथा रोग दिन-प्रति-दिन गलता जाता है ।

कभी कभी उदर्याकलामें क्षयग्रन्थियोंका पनीरवत् परिवर्तन होकर प्रदाहरहित विद्रधि (Cold Abscess) हो जाता है । फिर फूटनेपर अन्नमें या बाहर पूयस्ताव होता है । बाहर फूटने पर अन्नसे सम्बन्ध वाला नाड़ीत्रण (Fecal Fistula) बन जाता है । एवं यदि उदर्याकलाकी पर्त चिपक जाती है, तो बद्धोदरकी प्राप्ति हो जाती है । बड़े मनुष्यमें इस रोगका निश्चय करना कठिन है; परन्तु और जगह क्षयचिह्न रोग निर्णयमें सहायक होते हैं ।

आशुकारी उदर्याकलाप्रदाहचिकित्सा ।

इस रोगमे कारण अनुरूप चिकित्सा की जाती है । शीत लग जाना रक्तातिसार, अन्नप्रदाह आदि कारणजनित रोगमे अन्न और उदरके आवरणको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये । इस हेतुसे विरेचक ओषधिका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये । आवश्यकता पर बस्ति द्वारा तार्पिन तैल मिश्रित एरंड तैल चढ़ा कर उदर शुद्धि कर लेनी चाहिये ।

इस रोगमें अफीम और अफीमके क्षार सब हितकर हैं । योग्य मात्रा में अफीम देनेसे वेदना निवारण होती है; और मलशुद्धि भी होती रहती है ।

कब्ज होने पर तार्पिन तैल मिश्रित बस्तिसे कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये । यह निश्चित हुआ है कि, इस रोगसे ग्रसित व्यक्ति अधिक मात्रामे भी अफीम सहन कर लेता है । इस रोगमे शनैः शनैः बढ़ाई हुई २-३ माशे तक अफीम एक दिनमें विना कष्ट पचन हो जाती है; और अपना गुण प्रदान करती है । अतः जब तक वेदना शमन न हो और रोगी सुस्थिर न हो; तब तक अफीम की मात्रा बढ़ाते जानी चाहिये । अफीमसे उबाक और वमन निवारित होती है; उदरवृद्धिका हास होता है । उदरप्रदेशमें वेदना और पीड़नाक्षमता दूर होती है; और उदर पहले जैसा बन जाता है ।

दुर्दमनीय हिक्का होनेपर थोड़ी अफीम मिलाकर धूम्रपान करावें । अथवा हिक्कान्तक रस मयूरपुच्छ भस्म अथवा कोकेन देवे; या श्वास द्वारा क्लोरोफॉर्म सुंघावें ।

आशुकारी रोग शामक प्रयोग—रसतन्त्रसारमें लिखी हुई—जाति फलादिवटी (२० ६५१), दुग्धवटी (२० ४१२), शंखोदर रस (२० ४१६), अगस्तिसूतराज रस (२० ४०५), महावातराज रस (२० ५६६) इनमेंसे प्रकृतिके अनुकूल ओषधि देवें ।

इनमेंसे जातिफलादिवटीमें शूल और वेदनाशामक गुण, दुग्धवटीमें

रोगशमनके अतिरिक्त ज्वरशामक गुण, अगस्ति सूतराजमें रक्तछाव कम करानेका गुण, शंखोदर रसमें उदरवात और पित्तविकार को दूर करनेका गुण तथा महावातराजमें शक्ति संरक्षण, वेदना शमन और रोग नाश करनेका गुण विशेष रहा है ।

आघातजन्य व्याधि उत्पन्न होने पर—आघातकी प्रथमावस्थामें द्विनिशादि लेप (२० ८६५) अथवा अस्थिसंधानक लेप (२० ८६६) अति लाभदायक है । यदि जीवनीय शक्ति क्षीण हो गई हो, तो हृदयको उत्तेजना देनेवाली ओषधि—रससिंदूर (२० २७८), लक्ष्मी विलासरस (२० ३७४) या शराब देनी चाहिए ।

सूतिका रोगके उपद्रवभूत उदर्याकलाप्रदाह चिकित्सा—सूति का अवस्थामें गर्भाशय विकारसे उत्पन्न उदर्याकलाप्रदाहकी चिकित्सा उपरोक्त क्रमसे बिल्कुल भिन्न प्रकारसे की जाती है । इन रूग्णाओंको भी अफीम तो हितावह है ही; तथापि प्रसूताको प्रारम्भमें जल सदृश प्रवाही दस्त लानेवाली विरेचन ओषधि पूर्णमात्रामें देनी चाहिए । कुटकी, निसोत, या काला दाना देवें; अथवा सूतिकारि रस (२० ५८१) या बालमित्र चूर्ण तीसरी विधि (२० ६६६) अथवा आरोग्यवर्धिनी दूसरी विधि (२० ५३०) देवें; अथवा मेगनेशिया सल्फास देकर कोष्ठ शुद्धि करानी चाहिए । फलतः अन्न की पुरःसरण क्रियामें वृद्धि होकर उदर्याकलामें संचित तरल सब निकल जाता है; नाड़ीके स्पंदन बढ़ जाते हैं; तथा शारीरिक उत्ताप और वेदनामें कमी हो जाती है । इस तरह विरेचनसे उदरदोषके निवारण होनेके पश्चात् अहिफेनप्रधान ओषधि देनी चाहिए । भोजनमें दूध, मछलीके मांसका यूष, और फल देना चाहिए ।

अभिघातज और पूयमय प्रदाह चिकित्सा—पित्ताशय या उपान्त्र आदि स्थानोंमें पूयोत्पत्ति होकर उदर्याकलामें प्रवेश होनेपर अथवा आघातके कारणसे कीटाणुजन्य विषकी रक्तमें वृद्धि (Septicæmia) होकर उदर्याकलाका प्रदाह होनेपर शस्त्रचिकित्सा ही करनी चाहिए ।

शस्त्र द्वारा दूषित भागका उदरकी दीवारमेंसे छेदन (Laparotomy) और विषधन (Antiseptic) चिकित्साका अवलम्बन लेना चाहिए। इस प्रकारमें आवश्यकतानुसार अहिफेन प्रधान ओषधि दी जाती है।

सूचना—विद्रधिको हाथोंसे दबाना नहीं चाहिए, अन्यथा अधिक शूल निकलकर चारों ओर फैल जाता है।

आमाशय और अन्नक्रा क्षत होनेपर आहार बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। प्यासशमनार्थ बर्फके टुकड़े देते रहें। देह पोषणार्थ बस्ति द्वारा दुग्ध आदि प्रवाही चढ़ाते रहें। दुग्ध आदि देनेके पहले कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिए। विरेचन नहीं देना चाहिए। अन्यथा व्यापक प्रदाह हो जाने की भीति रहती है।

रोग की अन्तिम अवस्थामें अति कृशता आनेपर—पूर्ण विश्राम, लघु पौष्टिक, पथ्य भोजन तथा मृदु उत्तेजक, पौष्टिक और रक्तशोधक ओषधि; एवं उदरके स्थान स्थान पर बिलेटर प्रयोग करना चाहिए। पौष्टिक ओषधियोंमेंसे मधुमालिनी वसत (२० ३६१), ब्राह्मी वटी (२० ३८१), कस्तूरीभैरव रस (२० ३३४) अथवा च्यवनप्रसावलेह के साथ रससिन्दूर और छाह भस्म देना चाहिए।

विद्रधिजन्य उदर्याकला प्रदाह होनेपर—आक्रान्त स्थानको शुद्ध करें। फिर १-२ सेर नमक विलियन (Saline Solution) से उदर्याकलाको धो लेना चाहिए। एवं समस्त उदरभर लगानेके लिए पञ्चत्वीर (उदुम्बर, वट, अश्वत्थ, वेतस, प्लव) वृक्षोंकी छालके कलकोंके मोटे-मोटे लेपका अथवा असली या गेहूँके आटेकी पुल्टिसका उपयोग करें; अथवा फलालेनको गर्भ जलमें भिगो, निचोड़, उस पर तार्पिन तैल डालकर उदर पर बाँधें; अथवा बर्फकी थैली या बर्फकी पुल्टिस रखकर शीतलता दें; किंवा अहिफेन अर्क (Tinct Opii) में वस्त्रको भिगोकर उदर पर रखें; फिर उस पर उष्ण सेक करें।

आवश्यकता पर वेदना निवारणार्थ जलौका लगावें या कपिंग ग्लास का प्रयोग करें । इन दोनोंमें जलौकाका प्रयोग विशेष उपकारक है ।

होमियोपैथिक मतानुसार इस रोगकी बच्छनाग (एकोनाइट) का द्वार मुख्य ओषधि है । अतिशय ज्वर, श्वासप्रश्वासमें कष्ट, प्यास, उदर में भयानक वेदना, वमन, मूत्रमें अल्पता आदि लक्षण प्रकाशित होने पर बच्छनागके द्वारका सेवन हितकारक है । उदरमें अधिक वेदना और नाड़ीमें क्षीणता आने पर होमियोपैथिक मतानुसार सोमल (आर्सेनिया) दिया जाता है ।

चिरकारी प्रदाह चिकित्सा—रोगीकी अवस्था और लक्षणोंके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये । वेदना निवारणार्थ उदर पर पुल्टिस, ब्लिस्टर, अहिफेन अर्कका लेप, टिञ्चर आयोडीन (Tinct Iodine) और दोषघ्न लेप आदि ओषधियाँ हितकारक हैं ।

जलवायुका परिवर्तन या शुद्ध वायुका सेवन रोगशमनमें सहायक होता है । ओषधि रक्तशोधक और पौष्टिक देनी चाहिए । मधुमालिनी वसंत, रससिंदूर, अभ्रकभस्म और लोहभस्मको मिला कर सेवन कराना विशेष उपयोगी है ।

यदि उदरमें मामूली जलसंचय हुआ हो, तो वह बाहरके लेप और विरेचन ओषधिसे रोग शमनके साथ निवृत्त हो जाता है । अधिक तरल हो, तो ब्रीहिमुखयन्त्र द्वारा निकाल लेना चाहिए । इसका वर्णन जलोदर चिकित्सामें पहले किया है । पूयमय प्रदाहके लिए शस्त्रचिकित्साका अवलम्बन लेना चाहिए ।

उदर्याकलाका क्षय होने पर सूर्यप्रकाश और शुद्ध वायुमें निवास, पूर्ण विश्राम और लघुगौष्टिक भोजन देना चाहिए । उदर पर टिञ्चर आयोडीन या अहिफेनको बकरीके दूध या मूत्रमें मिलाकर लगाते रहें । खानेके लिए ओषधियाँ फुफ्फुसक्षयमें लिखे अनुसार देनी चाहिए । चतुर्मुख रस (२० ६१६), महामृगाङ्ग (२० ४५५), हेमगर्भ पोटली

रस (२० ४५५) तथा लक्ष्मीविलास रस सुवर्ण मिश्रित (२० ४५७) अति हितकर हैं ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

अहिफेन Pulv Opii १ ग्रेन ।

एक्सट्रेक्ट बेलाडोना आल्कोहॉल Ext belladonna alc $\frac{1}{2}$ ग्रेन
विस्मिथ कार्बोनास Bismuth carb $\frac{1}{2}$ ग्रेन ।

इन सबको मिलाकर देवें । इस तरह दिनमें ४ समय देते रहनेसे उदर्याकलाप्रदाह शमन होता है, और व्याधि शनैः शनैः निवृत्त हो जाती हैं ।

आवश्यकता पर अहिफेन सत्व (मोर्फिया) का इन्जेक्शन करने से वेदना तत्काल शमन हो जाती है । रोग अधिकारमें न आवे तब तक क्विनाइन ५-५ ग्रेन ४-४ घण्टे पर देते रहना चाहिए । फिर २-२ ग्रेन दिनमें ३ बार देते रहें ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देना, सूर्य-प्रकाश, शुद्ध वायु, तीव्र प्रकोप कालमें लङ्घन, दूध, मुसम्बी, सतरा, अनार आदि फलोके रस, अफीम, अफीम क्षार, अफीममिश्रित धूम्रगान, रोग बलका ह्रास होने पर मासका यूस, मछली, किसमिस, मुनक्का, नीबू, मट्ठा, लघु पौष्टिक भोजन और कब्ज न करने वाले शाक आदि पथ्य हैं ।

विद्रधि होने पर विद्रधिके अनुसार और ज्वरावस्थामें ज्वरके समान पथ्यका पालन करना चाहिए ।

अपथ्य—विरेचन, अधिक घी, गुड़, मधुर पदार्थ, अधिक दाल, शुष्क भोजन, मास, शराब, तेज मसाला, अधिक नमक, तैल, घूमना-फिरना, गरम चाय और गरम काफी आदि अपथ्य । । उपद्रव भूत उदर्याकलाप्रदाह होने पर मूल रोगके समान पथ्या-पथ्यका भी पालन करना चाहिए ।

सार्वजनिक व्याधि ।

(General Disease)

शोथ रोग ।

शोथ—शोफ—श्वयथु—अनासार्का—ड्रॉप्सि—ईडिमा—स्वेलिंग
Anasarca—Dropsy—Oedema—Swelling.

रोगपरिचय—रसगह्वर और त्वचाके संयोजक तन्तुओंमें प्रदाह उत्पन्न किये बिना रक्तरस संचित होने पर शोथ रोग कहलाता है ।

पचनेन्द्रिय संस्थामें आये हुए जलोदर रोग और शोथ रोगकी सम्प्राप्ति और चिकित्सामें अति समता होनेसे पचनेन्द्रिय संस्थाके पश्चात् सार्वजनिक व्याधियों (General diseases) में से शोथ रोगको स्थान दिया है । शोथकी सम्प्राप्ति त्वचाके भीतर होती है । अतः त्वचाकी शारीरिक रचनाका वर्णन पहले करते हैं ।

त्वचा—आयुर्वेदके सिद्धान्तानुसार भगवान् आत्रेयने मानवदेहमें निम्नानुसार ३ त्वचा दर्शाई हैं ।

१—उदकधरा—जलको धारण करने वाली बाह्य त्वचा । यह भीतरसे रस या जलको बाहर नहीं फूटने देती; बाहरकी आर्द्रता (Moisture) को भीतर प्रवेश करने नहीं देती । एवं बाह्य विष, कीटाणु आदिसे रक्षा भी करती है ।

२—असृग्धरा—रक्तको धारण करने वाली ।

३—सिध्म किलासके उत्पत्तिके अधिष्ठान रूप । इस तृतीया त्वचा में सिध्म और किलासकी उत्पत्ति होती है ।

४—दद्रुकुष्ठकी उत्पत्तिके आश्रय रूप ।

५—अलजी विद्रधिके उत्पत्तिके आधार रूप ।

६—जिसके कटने पर रोगी अन्धकारसे युक्त होता है; अर्थात् चक्कर आ जाता है । जिसका आश्रय करके पर्वों पर काली, लाल, अत्यन्त स्थूल मूल वाली, दुश्चिकित्स्य पिटेकाए आदि होती हैं । ये ६ त्वचाएं सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करके रही हैं ।

सुश्रुत संहितामे ७ त्वचाएं मानी हैं (१) अवभामिनी, (२) लोहिता (३) श्वेता, (४) ताम्रा, (५) वेदिनी, (६) रोहिणी और (७) मासधरा । आधुनिक शारीर शास्त्रके मत अनुसार त्वचाके निम्नानुसार मुख्य दो विभाग हैं ।

१—बाह्य चर्म—एपिडर्मिस और क्युटिकल—*Epidermis or Cuticle*.

२—आभ्यन्तर चर्म—डर्मिस—*Dermis*.

बाह्य चर्म—यह सम्पूर्ण शरीर को ढकता है ; और इस देहकी रक्षा करता है । भीतरके रस-रक्त आदिको बाहर नहीं निकलने देता । एव बाहरसे रोगोत्पादक कीटाणु और विषको देहके भीतर प्रवेश नहीं करने देता । इनके अतिरिक्त रक्तमेसे विष आदि दूषित पदार्थोंको बाहर निकालनेके लिये त्वचा महत्त्वका कार्य करती है । इस त्वचाकी मोटाई भिन्न-भिन्न स्थानोंमें न्यूनाधिक रही है । पादतल, हथेलियां और दूसरे स्थान, जहा अधिक रगड़ लगती है, वहाँ पर अधिक मोटी है । यह बाह्य चर्म आभ्यन्तर चर्मके ऊपर बिछा हुआ है । इसमें मुख्य ३ स्तर हैं ।

(१) दृढ़ स्तर—*Horney layer or Stratum Corneum*—

यह सबसे ऊपर है । इसमें कोष चपटे, शुष्क और दृढ़ होते हैं ।

(२) उज्ज्वल स्तर—*Stratum lucidum*—इस स्तरमें बिम्बयुक्त कोषोंकी अनेक तह रही हैं ।

(३) श्लैष्मिक स्तर—*Malpighian layer or Rete Mucosum*—इसका ऊर्ध्व भाग कण्टक कोषोंकी अनेक तहोंसे,

और निम्नभाग दण्डाकार कोषोंकी एक तहसे बना है । इस निम्न पर्तमें रज्जक द्रव्य पाया जाता है ।

इस बाह्य त्वचामें रक्तवाहिनियोंके स्रोत नहीं हैं । एवं वातवाहिनियोंके सूत्र भी श्लैष्मिक स्तरके नीचे ही रहे हैं । इस हेतुसे ऊपरके अंशमें सुई चुमाने पर भी कष्ट नहीं होता । इस बाह्य त्वचाका पोषण आभ्यन्तरिक चर्ममें रही हुई कैशिकाओं द्वारा होता है ।

इस चर्ममें श्लैष्मिक स्तर कोमल, सद्यप्रसृत जाल सदृश और गोलाकार कोषों द्वारा विरचित है । इसके ऊपरका उज्ज्वल स्तर अपेक्षा कृत जीर्ण (पक्क) कोषोंसे विनिर्मित है । जैसे-जैसे नीचे नूतन-नूतन कोष बनते जाते हैं; वैसे-वैसे यह स्तर ऊपर उठता जाता है । फिर संचापके हेतुसे चापट और दृढ़ बनता जाता है ।

आभ्यन्तरिक चर्म—यह सच्ची त्वचा है । यह विविध तन्तुओंके गुथे हुए जालसे बनी है । इन तन्तुओंमें श्वेत सौत्रिक तन्तु (White Fibrous tissues), स्थितिस्थापक पीत तन्तु (Yellow Elastic tissues), अणु (Corpuscles), लसीका वाहिनियोंके स्रोत (Vessels) और सूक्ष्म वातवाहिनियाँ रहती हैं । इनके अतिरिक्त स्थानोंमें शिशु, वृषण, गुदा आदि स्थानोंके समीपस्थ चर्ममें रेखाविहीन क्लायु सूत्रभी रहे हैं । रोम कूपोंके पास भी छोटे-छोटे क्लायुसूत्र प्रतीत होते हैं । चर्मके निम्न तन्तुओंमें मेदोमय तन्तु अत्यधिक रहते हैं । इथेलियाँ और पाँवके तन्तुओंमें जो बहुत छोटे छोटे उभार भासते हैं । ये सब कैशिका आदिके कारणसे हैं । इन उभारोंको प्रवर्धन (Papillae) कहते हैं । ये प्रवर्धन कुछ अंशमें शंकु आकार (Conical) और कभी-कभी दण्डाकार (Club-shaped) होते हैं । इनमें कैशिकाएँ और स्पर्शाणु (Touch Corpuscles) रहते हैं । इतर पदार्थोंके स्पर्शका बोध इन स्पर्शाणुओं द्वारा होता है ।

यह चर्म बाह्य चर्मसे अधिक मोटा और सुदृढ़ है । इस आभ्यन्तरिक चर्मके कोष विविध उपादानोंसे बने हैं । जिससे वर्ण और

रूपमें विभिन्नता हो जाती है। इसी हेतुसे मूल स्तर को वर्णकोष (Colour Cells) सज्ञा दी है। जल वायु और सूर्यके ताप आदि नाना कारणोंसे इस वर्णकोषमें कितने ही रंगों की उत्पत्ति हो जाती है। यदि इस कोषको काटकर निकाल दिया जाय, तो समस्त शरीर श्वेत-सा बन जायगा।

इस त्वचाके भीतर स्वेदग्रन्थिया (Sweat glands), तैल ग्रन्थिया (Sebaceous glands), स्वेद ग्रन्थियों की नली, केशकोष (Hair Follicles), केशमूल, और चर्बिकोष अवस्थित हैं। नख और केश, ये दोनो बाह्य चर्मके रूपान्तर मात्र हैं।

स्वेदग्रन्थियाँ—इस त्वचाके निम्न स्तरके तन्तुओंमें स्वेदग्रन्थिया अवस्थित हैं। विद्वानों की मान्यतानुसार देहमें लगभग ३० लक्ष स्वेद-ग्रन्थिया रही हैं। हथेलीके एक वर्ग इञ्च स्थानमें लगभग ३००० स्वेद-ग्रन्थिया रही हैं। यथार्थमें प्रत्येक स्वेद ग्रन्थि एक नली है। इसका निम्न मुख बन्द रहता है। इसके ऊपरका भाग सीधा है, और नीचेका भाग सर्पके सट्टश गेंडली मारे रहता है। इसका व्यास $\frac{1}{8}$ इञ्च है। इन ग्रन्थियोंके चारो ओर कैशिकाओंका जाल विनिर्मित है; जिससे इनकी आकृति ग्रन्थि सट्टश हो जाती है। इस ग्रन्थियोंका निम्न $\frac{1}{2}$ भाग दण्डाकार कोषोंकी एक तहसे बना है। इस तहके बाहर रेखाविहीन पेशी-कोषों (Muscular Cells) की एक तह है। फिर उसके बाहर बाह्यावरण रहा है।

उसके बाद गेंडलीका कुछ अश और स्वेदवाहिनी (Sudoriferous Canal) का श्लैष्मिक स्तर तकका भाग बहुपार्श्विक (Polyhedral cells) कोषोंकी कई तहोंसे निर्मित है। इन कोषों की तहोंके बाद दो आच्छादन हैं। एक आन्तरिक दूसरा बाह्य। स्वेदवाहिनी बाह्य चर्ममें जहाँ खुलती है; वहाँ इसकी उपश्लैष्मिक कला (Epithelium) वर्त्तमान होती है। फिर वही आगे जाकर बाह्यचर्म

की उपश्लैष्मिक कला बन जाती है । ये स्वेदग्रन्थियां सबसे अधिक हाथों की हथेलियोंमें हैं । उससे कम पैरोंके तलुओंमें है ।

इन स्वेदग्रन्थियों द्वारा स्वेद सर्वदा बाहर निकलता रहता है । इस हेतुसे रक्तके संशोधनका कार्य कितनेक अंशमें हो जाता है ।

तैलग्रन्थियोंसे तैलमय पदार्थ निर्मित होता है; जो लोमोंको स्निग्ध रखता है ।

जिस तरह मनुष्य फुफ्फुसों द्वारा प्रतिदिन ८०० ग्राम (लगभग २६ औंस) आंगारिक वायु (Carbon dioxide) निकालता है; उस तरह त्वचा द्वारा भी १० ग्राम आंगारिक वायु निकलती रहती है; एवं १० ग्राम ओषजन (Oxygen) भीतर प्रवेश करती है । इस क्रियाको त्वगीय श्वासोच्छ्वास (Cutaneous Respiration) कहते हैं ।

एवं कितनीक विविध तैल, पारद, सोमल आदि ओषधियोंकी मालिश करने पर वह त्वचा द्वारा भीतर प्रवेश कर जाती है । एवं त्वचाके समीप आयोडीनका प्रयोग किया जाय, तो वह इसे शोषण कर लेती है । फिर आयोडीन मूत्र द्वारा बाहर निकल आता है ।

स्वेदक्रिया—मुष्मणा शीर्षकमें उभय पार्श्वके लिये एक-एक मुख्य स्वेद केन्द्र (Sweat Centre) है । इनके अतिरिक्त कितनेक गौण स्वेदकेन्द्र भी हैं । ये जितने अंशमें उत्तेजित होते हैं उतने अंश में प्रस्वेद अधिक आता है । रुधिर विषमय होने, शारीरिक उत्तापकी वृद्धि होने और इन केन्द्रोंको उत्तेजित करने वाली ओषधियोंके सेवनसे स्वेद ग्रन्थियों द्वारा प्रस्वेद निकालनेकी क्रिया अधिक होने लगती है । इनके अतिरिक्त चाय आदि गरम पेयका पान, त्वचाको उष्णता पहुँचना, मानसिक उत्तेजना, अधिक परिश्रम आदि कारणोंसे भी प्रस्वेदकी वृद्धि हो जाती है । प्रस्वेद वृद्धि होने पर मूत्रमें न्यूनता होती है; और मधुमेह आदि जिन रोगोंमें मूत्र अधिक आता है; उन रोगोंमें त्वचा खुरदरी और शुष्क बन जाती है ।

शोथ प्रकार—यह शोथ रोग निज और आगन्तुक भेदसे दो

प्रकारका है । एवं स्थानिक और सार्वज्ञिक भेदसे भी दो प्रकार का है । फिर सबमें वातज, पित्तज और कफज भेदसे त्रिविधता हो जाती है ।

निज शोथ निदान—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन आदि संशोधनका अयथावत् प्रयोग, ज्वर, उदर रोग आदि जीर्ण व्याधि, अधिक उपवास, या अपथ्य सेवन, इनमेसे किसी कारणसे कृशता और निर्बलता आने पर क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण या गुरु भोजनका अधिक सेवन, अथवा दही, कच्चा अन्न, मिट्टी, शाक, विरोधी भोजन, दुष्ट-भोजन, गर (संयोगज मंदप्रकापी विष) मिश्रित भोजन, अर्श, शारीरिक श्रमका अभाव, देहमें मल आदिके संचय हो जाने पर शुद्धि न करना, आन्तरिक शल्य द्वारा किसी मर्मस्थान पर चोट लग कर आभ्यन्तरिक विकृति होना, विषम प्रसूति (गर्भस्त्राव, गर्भपात या प्रसवावस्थामें बाधा हो जाना) और चिकित्सा अथवा वमन आदि शोधनका मिथ्या उपचार, ये सब निज शोथ के उत्पादक कारण हैं ।

इन कारणों के अतिरिक्त चरकसंहिताके सूत्रस्थानमें कहा है कि, अति मात्रामें नमक, अचार, चटनी, शराब, मांस, जल चर और ग्राम्य जीवोंका मांस, अनूपदेशक जीवोंका मांस, शुष्क-मांस, पिट्टीके पदार्थ, पक्का भोजन, दूषित जलका सेवन, असमय पर जागरण और शयन, अजीर्णमें चलकर या ऊँट, घोड़ा आदि से मार्ग गमन, अजीर्णमें व्यायाम अथवा श्रम या मैथुनसेवन, श्वास, कास, अतिसार, शोष, पाण्डु, उदरविकार, प्रदर, ज्वर, भगंदर, विसूचिका, अलसक, वमन, गर्भधारण, विसर्प, पाण्डु और मिथ्या उपचारसे उत्पन्न इतर रोग, कुष्ठ, कण्डू, पिडका आदि रोग, वमन, छींक, डकार, शुक्र, अधोवात, मल-मूत्र आदि के वेगोंका निग्रह, गर्भका सपीडन, गर्भ द्वारा किसी शिराका

द्वजाना, प्रसूतावस्थामें अपथ्य सेवन आदि कारणोंसे भी शोथ रोगका आविर्भाव हो जाता है ।

वातज शोथ निदान—शीतल, रुक्ष, लघु और विशद गुण युक्त भोजनका अति सेवन, अतिश्रम, उपवास, अति कर्षण (कृषता लाने वाले कर्म) और अति क्षण (वमन, विरेचन आदिका अतियोग) आदि कारणोंसे प्रकुपित वायु त्वचा, मांस और रक्तको प्रदूषित करके शोथकी उत्पत्ति कराता है ।

पैतिक शोथनिदान—उष्ण, तीक्ष्ण, चरपरे, क्षार, लवण और अम्ल पदार्थोंका अत्यधिक सेवन, अपचन होने पर भी भोजन तथा अग्नि और सूर्यके तापका सेवन इत्यादि कारणोंसे पित्त प्रकुपित होकर त्वचा, मांस और रक्त आदिको दूषित कर शोथकी सम्प्राप्ति कराता है ।

कफज शोथनिदान—गुरु, मधुर, शीतल और स्निग्ध भोजन का अतियोग, अति शयन और व्यायामका अभाव आदि कारणोंसे प्रकुपित कफ, त्वचा, मांस और रक्त आदिको दूषित कर शोथ की उत्पत्ति कराता है ।

द्वन्द्वज और त्रिदोषज शोथ निदान—अपने-अपने कारणोंके संमिश्रण से वातपित्तज, वातकफज और पित्तकफज शोथ उत्पन्न होते हैं; अर्थात् वातपित्तजमें वातज और कफजके हेतुओंका, तथा पित्तकफजमें पित्तज और कफजके हेतुओंका मिश्रण होकर रोगोत्पत्ति होती है । जैसे मिश्रित निदानसे रोगोत्पत्ति होती है ; ऐसे लक्षणोंमें भी मिश्रितपन प्रतीत होता है । द्वन्द्वजके समान त्रिदोषजमें तीनों दोषोंके ही निदान और लक्षणों का प्रकाशन एक साथ होता है ।

आगन्तु शोथ निदान—शस्त्र, लकड़ी, अग्नि, पत्थर, बिजली, सींग, दांत, नख, रस्सी, कांटे आदिसे प्रहार, छेदन, भेदन, पिच्छन (कुचल जाना), बंधन, व्यधन (कांटे आदि चुभना) या क्षत

आदि होजानेसे तथा शीतल तेजवायु और समुद्रकी तेज वायुके संस्पर्शसे आगन्तु शोथकी उत्पत्ति होजाती है। एवं भिलावा, कौचकी फली या शोथोत्पादक विषयुक्त पत्ती आदिके रस या कौचकी फलीके रोयें या इतर दाहक बिछुआ आदि ओषधियों या विषयुक्त जन्तुओंका स्पर्श होजाने पर बहुधा आगे बढ़ने वाला, अति उष्ण और त्वचा लाल बनाने वाला पित्तप्रधान लक्ष्ण युक्त शोथ उपस्थित होजाता है। इस शोथका डाक्टरोंमें ज्वराशोथ-प्रदाह (इन्फ्लेमेशन-Inflammation) संज्ञा दी है।

आगन्तु शोथमे प्रथम व्यथा होती है; पश्चात् वात, पित्त, कफ धातुओंमें विकृति होती है, किन्तु निज शोथ रोगमें पहले वात आदि धातुओंकी विकृति और फिर शोथ रूप व्याधिका प्रकाश होता है। यह इन दोनोंमें विभिन्नता है।

यह आगन्तु शोथ पट्टीबन्धन, मन्त्र, अगद (विषघ्न औषध), प्रलेप, मेक, निर्वापण (दाह शामक औषध या बर्फ-शीतल जल) का सेक आदि उपचार द्वारा शमन होजाता है। इस आगन्तुके अभिघातज और विषज ऐसे दो प्रकार हैं। इनमें चोट आदिसे शोथ हो, वह अभिघातज, और विष स्पर्श आदिसे हो, वह विषज कहलाता है। दोनोंके निदान भगवान् आत्रेयने एक साथमें ही कहे हैं।

माधवनिदानमें विषजके हेतु-विष, सर्प आदि प्राणियों का देह पर चलना या मूत देना, व्याघ्र आदिके दाढ़, दांत, नख, सींग आदिसे आघात होना, विष्टा, मूत्र, वीर्य लगे हुए वस्त्रोंका धारण करना, विष वृक्षकी वायुका स्पर्श और कृत्रिम विषके चूर्णका स्पर्श इत्यादि कारणोंसे मृदु, चल (संचरण शील) अधोगमन-शील, शीघ्र उत्पत्तिकर, दाह और पीडा करने वाला विषज शोथ उत्पन्न होता है।

शोथसंप्राप्ति—जब वायु प्रकुपित होकर बाह्य शिराओंमें

प्रवेशित होकर रक्त, पित्त और कफको दूषित करती है; तब उनके मार्गका अवरोध होजाता है, जिससे रक्त आदि समूह फैल जाते हैं; और वायु त्वचा, मांस आदि का आश्रय करती है, फिर उत्सेध (उठाव) लक्षण वाले शोथ रोगकी संप्राप्ति हो जाती है ।

जब दोष उरोदेश (आमाशय) में स्थित हों; तब ऊपरके देशमें शोथ होता है । जब दोष निम्न देशमें अर्थात् वायुके स्थान पुरीषाशय (बड़ी आंत) में स्थित हों तब निम्न प्रदेशमें; और जब मध्य स्थानमें (पकाशय-छोटी आंतमें) दोष संचित हों, तब शोथ भी मध्य देहमें प्रकाशित होता है ।

यदि दोष सर्व देहव्यापी होजाता है, तो सर्वाङ्ग शोथ; और जब किसी स्थान विशेषमें दोष संगृहीत होजाता है; तब स्थानिक शोथकी उत्पत्ति होती है ।

निज और आगन्तु शोथ प्रकार—दोनों प्रकारके शोथोंके सर्वाङ्ग, अर्धाङ्ग और स्थानिक (एक अवयवमें रहा हुआ), ये त्रिविध भेद हैं । दूसरी दृष्टिसे वातज, पित्तज, कफज, वात-पित्तज, कफपित्तज, वातकफज, त्रिदोषज, अभिघातज और विषज, ऐसे ६ भेद होजाते हैं ।

पूर्वरूप—निज शोथ रोगकी उत्पत्तिके पूर्वकालमें ऊष्मा (शोथ जहाँ होना हो, वहाँपर उष्णता बढ़ जाना) नेत्र आदि इन्द्रियों में दाह, शिराओंमें खिचावट अथवा पीड़ा और अङ्गमें भारीपन आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

यद्यपि शोथ एक दोषज नहीं होता, सब त्रिदोषज ही होते हैं; तथापि जिस शोथमें जिस दोषकी विकृतिके अधिक लक्षण प्रकाशित हों, उस शोथको उस दोषसे उत्पन्न कहा जाता है ।

शोथसामान्य लक्षण—अंगमें भारीपन, प्रारम्भकालमें शोथकी

अस्थिरता (दिनमें ज्यादा और रात्रिको कभी या रात्रिको ज्यादा दिनमें कभी, अथवा एक स्थानमेंसे दूसरे स्थानमें चले जाना), उठाव, उष्णता, शिराओंकी दीवारोंका पतलापन, या शिराका बाहर उभर आना, लोमहर्ष (रोंगटे खड़े हो जाना) और देहका रंग विकृत हो जाना आदि शोथ रोगमें सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं ।

वातज शोथ लक्षण—वातकी प्रधानता होनेपर संचरणशील, पतली त्वचावाला, खुरदरा, रक्त या श्यामवर्ण, स्पर्शज्ञानरहित, रोगहर्ष या भिनभिनाहट सदृश वेदनायुक्त, बिना निमित्त शमन होजाना (अथवा तैल आदिके मर्दन और सेक आदि उपचारसे सत्वर शमन हो जाना), शोथस्थानको दबानेपर दबना, फिर तुरन्त फूल जाना और दिवाबली (दिनमें बढ़नेवाला और रात्रिको घट जानेवाला) आदि लक्षणो युक्त रहता है ।

यह वातज शोथ आगे-आगे फैलता जाता है । सत्वर बढ़ता है; और सत्वर घटता है । शोथयुक्त स्थानमें काटने, फाड़ने, दबाने, सुइयां चुभाने या चिऊँटियाँ चलनेके सदृश पीड़ा होती रहती है; अथवा सरसोके कल्कका लेप करनेसे जैसी चिमचिमाहट हो, वैसी वेदना होती रहती है । एवं जैसे कोई उस स्थानको सिकोड़ता या खींचता हो; ऐसा भास होता रहता है । यह वातज-शोथ चल होनेसे कभी वेदना होती है; और कभी नहीं ।

पित्तज शोथ लक्षण—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, पित्तात्मक शोथमें मृदु, गन्धयुक्त और काले-पीले रंगकी दाहमय त्वचा, स्पर्श करनेपर पीड़ा होना, नेत्रमें दाहके हेतुसे लाली, पाकवान (अति दाह होनेसे अधिक जलसंचय होना), चक्कर, रुवर, प्रस्वेद, तृषा, और मद (मोह) आदि लक्षण रहते हैं ।

यह शोथ शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है, और शीघ्र ही शान्त हो जाता है । शोथका वर्ण काला-पीला, नीला और लाल आभा

वाला होता है। शोथका स्थान उष्ण और मृदु रहता है। शोथ स्थान पर रोम कपिल या ताम्रवर्णके हो जाते हैं। शोथस्थानमें दाह, चूसने और तपानेके सदृश पीड़ा, प्रस्वेद आकर गीला हो जाना आदि प्रतीत होते हैं; तथा स्पर्श और उष्णता से दुःख होता है। इस शोथमें त्वचा, नेत्र और मुँह पीले हो जाते हैं; तथा त्वचा पतली हो जाती है।

रोगीको शीतल वायु, जल आदिकी अभिलाषा रहती है; तथा अतिसार आदि लक्षणयुक्त होता है। यह मध्यदेहमें पहले होता है, फिर सारे शरीरमें फैल जाता है। इस पैत्तिक शोथके लक्षण डाक्टरी यकृद्विकारजन्य शोथके साथ मिलते हैं।

कफज शोथ लक्षण—श्लैष्मिक शोथ, गुरु, स्थिर (न फैलने वाला) स्निग्ध, शीतल, कठिन और पाण्डु वर्णकी श्वेत आभा वाला होता है, शोथ स्थानमें खुजली आती रहती है; तथा अरुचि मुँहसे लार गिरना, निद्रावृद्धि, वमन और अग्निमान्द्य आदि लक्षण सहवर्त्ती होते हैं। यह शोथ वातिक शोथके सदृश दबाने पर जल्दी नहीं उठता। इसकी उत्पत्ति, वृद्धि और लय कष्टसे (शनैः शनैः) होते हैं। यह शोथ 'रात्रिबली' होनेसे दिनकी अपेक्षा रात्रिमें अधिक रहता है। यह शोथ स्पर्श और उष्णता को सहन कर सकता है।

जिस शोथको शस्त्रसे काटने पर भी रुधिर न निकले, शनैः-शनैः थोड़ी-थोड़ी मात्रामें पिच्छा (चिकना और गाढ़ा) स्राव होता रहता है; वह कफज कहलाता है।

इस शोथ रोगके स्थानिक भेदरूपसे उपजिह्विका, गलशुण्डी, गलगण्ड, विसर्प, शंखक, पिडका, कर्णशोथ, प्लीहावृद्धि, गुल्म, वृषणवृद्धि, अधिमांस, अर्बुद, ग्रन्थि, श्लीपद, बध्न, रोहिणी आदि अनेक प्रकार हैं। इन सबको स्थानभेदसे पृथक्-पृथक् नाम दिये गए हैं। इन सबका विवेचन यथास्थान किया जायगा।

साध्यासाध्यता—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, जिस रोगीके मांसमें हीनता न हुई हो, ऐसे रोगीका शोथरोग यदि एकदोषज, नया और बलहीन हो, तो वह सुखसाध्य माना जाता है ।

जो शोथ पहले पैरों पर उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीरमें फैल जाय, वह पुरुषोंके लिए अति कष्टसाध्य माना जाता है । जो शोथ स्त्रियोंको मुँह पर पहले होकर सर्वांगमें फैलता है, वह कष्टसाध्य है । स्त्री या पुरुष, दोनोंमेंसे किसीके गुह्यदेशसे उत्पन्न होकर बढ़ता है, एवं जिस शोथ रोगमें उपद्रवकी उत्पत्ति हो जाय, वह कष्टतम हो जाता है ।

अष्टाङ्ग संग्रहकार लिखते हैं कि, पैरोंसे उत्पन्न सर्वाङ्ग शोथमें तन्द्रा, दाह, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, आफरा और अतिसार, आदि उपद्रव होने पर असाध्य माना जाता है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, जो शोथ शरीरके मध्य देशमें होकर सारे शरीरमें व्याप जाता है, वह कष्टसाध्य माना जाता है । जो शोथ अधो देशमें होकर ऊर्ध्वभागमें फैल जाता है, वह पुरुषोंके लिये; तथा ऊर्ध्व देशमें प्रारम्भ होकर अधोभाग में गति करने वाला स्त्रियोंके लिये असाध्य माना जाता है ।

चारपाणि कहते हैं कि, पुरुषोंके लिये पैरों पर प्रारम्भ होकर ऊर्ध्वगामी शोथ, स्त्रियोंके लिये मुख पर प्रारम्भ होकर अधोगामी शोथ और स्त्री-पुरुष, उभयके लिये बस्ति स्थानसे उत्पन्न शोथ असाध्य माना जाता है ।

जो शोथ कृश देह वालोंको या इतर रोगोंसे निर्बल हुए देह वालोंको उत्पन्न हुआ हो, जो वमन आदि उपद्रवोंसे युक्त हो, जिस शोथ रोगका कुत्ति, उदर या कण्ठ आदि देशोंमें प्रवेश होगया हो, तथा जो बलहीन व्यक्तिको सर्वाङ्गशोथ हुआ हो, शिराएँ उभरी हुई प्रतीत होती हो और जिनमेंसे स्राव होता रहता हो, ऐसे सब शोथ असाध्य माने जाते हैं ।

शोथ उपद्रव—भगवान् आत्रेयके मतमें शोथके वमन, श्वास अरुचि, तृषा, उ्वर, अतिसार और दुर्बलता, ये ७ उपद्रव हैं । और भगवान् धन्वन्तरिजी ने इनके अतिरिक्त ह्रिक्ता और कास, ये दो अधिक कहे हैं ।

शोथ रोगका डाक्टरी निदान ।

डाक्टरीमें शोथ रोगमें निम्नानुसार ३ प्रकार हैं ।

- (१) रक्तरससंग्रह युक्त शोथ—अनासार्का—Anasarca.
- (२) आभ्यन्तरिक चर्ममें कफसंग्रह जनित सार्वजनिक घन शोथ—मिक्सिडिमा—Myxoedema.
- (३) रोगोत्पादक कीटाणुओंके आक्रमणजनित जनपद व्यापी रक्तरससंग्रहमय सर्वाङ्गशोथ—एपिडेमिक ड्रोप्सि—Epidemic Dropsy.

इनके अतिरिक्त प्रदाहजनित शोथ (Inflammation) है; इसका वर्णन तृतीय खण्डमें किया जायगा ।

(१) रक्तरससंग्रहयुक्त शोथ ।

देहके भीतर शिराओं द्वारा सतत कितनेक परिमाणमें रक्तरस उत्सृष्ट होता रहता है । जिससे शारीरिक गुहाओंमें रहे हुए यन्त्र और तन्तु आदि सर्वदा आर्द्र रहते हैं । यह निःसृत रस पुनः लसीका प्रणालियों द्वारा शोषित होता रहता है । इस तरह देहके भीतर रसस्त्राव और रसशोषण होनेका व्यापार अविराम होता रहनेसे आरोग्य बना रहता है; किन्तु जब इन दो स्वाभाविक क्रियाओंके सामञ्जस्यका भंग होता है; अर्थात् दोनोंमें तारतम्य हो जाता है; तब शोथ रोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

त्वचाके नीचे संयोजक तन्तु (Areolar tissues) में रस-संचय होने पर वह स्थान स्फीत होता है; चर्मका वर्ण बदल जाता है । चर्म खिंचा हुआ, मैले रंगका और उज्ज्वल हो जाता है । अँगुलीसे

द्वाने पर गढ़ा पड़ता है । फिर शनैः-शनैः गढ़ा भर जाता है । इस शोथके स्थानभेदसे नाम भेद हो जाता है । उदर्याकलामें शोथ होने पर जलोदर (Ascitis), सयोजक तन्तुओंमें रसस्राव होने पर शोथ (Anasarca), मस्तिष्कमें रस समग्रित होने पर शिरोगत जलसमग्र (Hydrocephalus), फुफ्फुसावरणमें संचय होने पर रसमय कुक्ष्युदर (Hydrothorax), हृदयावरणमें रस संचय होने पर रसमय हृदावरणप्रदाह (Hydroperi cardium), वृषण कोषमें रस समग्रित होने पर मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) आदि सज्ञा दी है ।

रक्तसमग्रहजनित शोथ निदान—निम्न दो प्रकारके भौतिक कारणोंसे रक्तस अधिक निःसरण होकर शोथ रोगकी सम्प्राप्ति कराते हैं ।

१—अवश शोथ—(Passive Dropsy)—सब शिराओंमें रक्तकी अत्यधिक वृद्धि होकर फिर और उसी हेतुसे शिराओंकी दीवारोंमें रक्त दबावकी वृद्धि होना ।

२—जलाधिक्यजनित शोथ—(Hydremic Dropsy)—पाण्डु आदि रोगोंमें रक्तमें जलीय अंशकी वृद्धि होती है । फिर शिराओंकी दीवारोंमें विविध परिवर्तन होनेपर दीवारका भेदन होकर रस निःसरण होने लगता है ।

संचित रस स्वरूप—इस शोथ रोगमें जो तरल समग्रित होता है, वह जलके सदृश पतला और भूसे सदृश वर्ण वाला होता है । इसका आपेक्षिक गुरुत्व १००८ से १०१४ तक होता है । इस रक्तसमें एल्ब्युमिन और इतर सेन्द्रिय पदार्थ तथा निरिन्द्रिय लवण (विशेषतः क्लोराइड) आदि प्रतीत होते हैं ।

अवश शोथ निदान—प्रथम प्रकारके शोथकी उत्पत्ति विशेषतः हृदयकी निर्बलताके हेतुसे होती है । हृदयविकृतिजनित शोथका प्रारम्भ देहके अवनत प्रदेशसे अर्थात् दोनों पैर (Feet) और गुल्फसंधि (Ankle joints) से होता है । रक्तिको शयन करने पर शोथ कम होने लगता है । प्रातःकाल उठने पर शोथ अदृश्य हो जाता है । पुनः

दिनमें धीरे-धीरे शोथ बढ़ने लगता है । इस तरह कुछ काल होता रहता है । फिर शोथ स्थायी हो जाता है । आगे शोथ क्रमशः हस्त, जंघा, जननेन्द्रिय, वृषण, उदर और वक्षःस्थान आदिमें व्याप्त हो जाता है; तथा रोगकी अन्तिमावस्थामें उदर्याकला, फुफ्फुसावरण और हृदयावरणके भीतर भी तरलका संग्रह होने लगता है ।

जब हृदयके वाम भागमें रहे हुए द्विपत्र कपाट (Mitral Valve) मेंसे रक्तका प्रत्यावर्त्तन होने लगता है; अथवा रक्तावरोध और महाधमनी (Aorta) के विकारकी शेषावस्थामें हृदयके दक्षिण अलिन्द-निलयमें रक्त सतत अत्यधिक भरा रहता है । तब शिरासमूहमें रक्त पूर्ण भरा रहता है । उनमें रक्तसंचालन क्रिया यथोचित नहीं हो सकती । इस हेतुसे शिराओंके कोषमेंसे रक्त रसका स्राव होकर शोथोत्पत्ति हो जाती है ।

इन दो कारणोंके अतिरिक्त फुफ्फुसोंके वायुकोषोंका विस्तार (Emphysema) की अन्तिमावस्थामें जब हृदयके दक्षिण अलिन्द में रक्त अत्यधिक शेष रह जाता है; तथा यकृद्वाल्स्युदर, यकृत् पर कर्क-स्फोट, उदर्याकलाका क्षय और उदर्याकलामें कर्कस्फोट आदि कारणोंसे दक्षिण निलयमेंसे शिराओंके भीतर रक्त जानेमें जब बाधा पहुँचती है; तब अवश शोथका आविर्भाव हो जाता है ।

जलाधिक्य जनित शोथ निदान—अनेक समय इस शोथकी उत्पत्ति रक्तमें जलका परिमाण बढ़ जाने पर होती है । पहले रक्तवाहिनियोंकी रचनामें परिवर्तन हो जाता है । रक्तमें ओजतत्व (एल्ब्युमिन) और पौष्टिक तत्त्व (फाइब्रिन) कम हो जाता है; अथवा प्रस्वेद और मूत्रस्राव स्थगित या स्वल्प हो जाता है, फिर रक्त रसका निःसरण अत्यधिक परिमाणमें होकर शोथोत्पत्ति होती है ।

रक्तजल (Blood Plasma) के भीतर सामान्यतः जल ८०-९० प्रतिशत होता है । शेष अंशमें देहके विविध अवयवोंके लिये उपकारक विविध पदार्थ और त्याज्य पदार्थ होते हैं । इनमें सीरम एल्ब्युमिन (Serum Albumin), वसा, ग्लूकोज (Glucose), रक्तपोषक द्रव्य

(Fibrin), नमक आदि क्षार, लोह आदि पदार्थ, यूरिक एसिड और यूरिया आदि त्याज्य पदार्थ, कार्बन डाइ ऑक्साइड, नाइट्रोजन और ऑक्सीजन आदि वायु, कतिपय ग्रन्थियोंके अतःस्त्राव और देहमें रासायनिक व्यापार प्रवर्त्तक पदार्थ आदि आदि द्रव्य अवस्थित होते हैं। जब इनमेंसे एल्ब्युमिन और रक्तपोषक द्रव्यमें न्यूनता आजाती है; तब रक्त-वाहिनियों की रचना विकृत हो जाती है।

वृक्कके आशुकारी अथवा चिरकारी प्रदाह (Acute or Chronic Nephritis) होने पर मूत्रमें एल्ब्युमिन जाने लगता है। जिससे रक्तमें एल्ब्युमिनका परिमाण कम हो जाता है। इस हेतुसे सर्वाङ्ग शोथ आ जाता है।

वृक्कके प्रदाहवशा केशवाहिनियोंकी दीवारोंको यथोचित पोषण नहीं मिलता। इस हेतुसे और रक्त दबावके परिवर्त्तनके हेतुसे शोथ आ जाता है। वृक्कविकार प्रस्त होने पर मूत्र द्वारा यथोचित परिमाणमें रक्तविष और त्याज्य पदार्थ बाहर नहीं निकल सकता। रक्तमें संग्रह होता रहता है। फिर त्वचाके संयोजक तन्तुओंमें जलीय अंशका निकास होने लगता है। दूसरी ओर मूत्रपिण्डकी क्रिया का ह्रास होनेसे सब रक्त-वाहिनियाँ रोगग्रस्त होजाती हैं। परिणाम मे हृदयविकृति और कैशिकाओंमेंसे रक्तसका स्त्राव होकर सर्वाङ्ग शोथ प्रकाशित होता है।

प्रकृत पक्षमें शोथको रोग नहीं कहा जायगा; रोग विशेषका लक्षण रूप है। धामनिक संचार (Arterial tension) का ह्रास होने अथवा शैरिक संचार (Venous tension) की वृद्धि होने पर शोथ उपस्थित होता है। कैशिकाओं (Capillaries) मेंसे शोथोत्पादक रक्त-रस उत्सृष्ट होता है। रक्तप्रणालियोंकी दीवार रक्त द्वारा सम्यक् प्रकारके परिपोषित होने पर वे स्वस्थ रहती हैं; और योग्य पोषणका अभाव होने पर वे अस्वस्थ हो जाती हैं। परिणाममें शोथोत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त रक्तमें जलीय अंशकी अनावश्यक वृद्धि होने पर अस्वाभाविक रूपसे रसोत्सृजन होता है।

जब हृदय क्षीण बनता है, तब वामनिलयमेंसे धमनीके भीतर यथोचित परिमाणमें रक्तका प्रक्षेप नहीं होता । इस हेतुसे धमनीका स्वाभाविक संचाप न्यून हो जाता है । एवं जब हृदयके दक्षिण अनिल-निलयमें रक्त संगृहीत रह जाता है; तब शैरिक विधानमें रक्तप्रवाहका अवरोध होने लगता है । इन दो (धमनीमें रक्तदबावकी न्यूनता या शिराके रक्तदबावकी वृद्धि) मेंसे कोई भी एक कारण होने पर शोथ उत्पन्न हो जाता है ।

केशवाहिनियोंमें रक्तसंचारका आधार हृदयकी शक्ति पर रहता है । जब हृदयकी क्षीणताके हेतुसे सब धमनियोंमें रक्त दबाव (Blood pressure) न्यून हो जाता है; तब परिणाममें केशवाहिनियोंमें रक्त संचालन क्रिया मंद हो जाती है । फिर रक्त रस चूकर शोथ आ जाता है ।

धमनीके दबाव (Arterial tension) और रक्त प्रवाहके वेग का आधार धमनीकी दीवारोके बल पर भी रहता है । यदि हृदय सबल हो; और धमनी विस्तृत हो गई हो, तो भी रक्तदबावका ह्रास हो जाता है । अतः हृदयकी निर्बलता या धमनीकी दीवारोंकी विकृति, इन दोनोंमें से एक भी हेतु हो, तो कैशिकाओंका रक्तसंचार मन्द गति युक्त होता है; या स्थगित हो जाता है (रक्तभार वृद्धि और क्षयके हेतु प्रथम भागके पृष्ठ ६८ में लिखा है; अतः यहाँ पुनरुक्तिकी आवश्यकता नहीं है) फिर रसोत्सृजन होकर शोथका आविर्भाव हो जाता है ।

नैसर्गिक नियम अनुसार स्वस्थावस्थामें धमनी, उसकी शाखा, प्रशाखा, अनुशाखा और केशवाहिनियोंकी अपेक्षा शिराओंमें रक्तदबाव कम ही रहता है । फिर धमनीकी दीवारोंकी संहति होने पर रक्तका विंचाव (Tension) जब और न्यून हो जाता है; तब रक्त सम्प्रहित होने लगता है । जिससे शिराओंमें रक्तवेग बढ़ जाता है । परन्तु शिराओं का रक्त जैसे-जैसे हृदयके दक्षिण अलिन्दकी ओर आगे बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे शिराओंमें आकर्षण (Tension) न्यून होता जाता है । यदि इस शैरिक रक्तप्रवाहमें किसी कारणवश बाधा पहुँचे; तो शिराओंमें

रक्तसंचाप (Venous tension) बढ़ जाता है, और इन शिराओंसे सम्बन्धवाली केशवाहिनियोंमें रक्तप्रवाह मन्द होजाता है । परिणाममें इन केशवाहिनियोंमेंसे रक्तस भरने लगता है, और फिर शोथकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

यकृद्विकारसे जब प्रतिहाभिणी शिरा पर दबाव आ जाता है; तब उदरगह्वरम और निम्नभागमें रही हुई शिराओंसे रसोत्सृजन होकर जलोदर और शोथकी सम्प्राप्ति हो जाती है । यकृत्की वेदना अत्यधिक प्रबल होने पर रक्तवाहिनियोंके समुदायको कुछ अंशमें पोषण कम मिलता है, और रक्तमें रहे हुए रक्ताणु, श्वेताणु आदिमें विलक्षणता आ जाती है । इस हेतुमें शोथकी उत्पत्ति हो जाती है ।

श्वासोच्छ्वास यन्त्रमें विकार होने पर भी क्वचित् शोथ आ जाता है; परन्तु ऐसा बहुत कम होता है । यदि श्वासयन्त्रकी विकृतिसे शिराओं पर अधिक दबाव आ जाय, तो हृदय गह्वर प्रसारित हो जाता है, फिर हृदय में रक्त सग्रहित रहने लगता है । जिससे शोथ उत्पन्न हो जाता है । एवं राजयक्ष्मा आदि रोगोंमें शारीरिक पोषणके अभावसे रक्त और रक्तप्रणालियोंकी दीवार विकारग्रस्त होने पर शोथ प्रकाशित होता है ।

शोथके इतर प्रकारसे भी दो भेद होते हैं । स्थानिक और सार्वजनिक । स्थानिक शोथ देहमें किसी एक स्थानमें प्रकाशित होता है । सार्वजनिक शोथमें निदान भेदसे अनेक प्रकार हो जाते हैं । प्रदाहके हेतुमें उत्पन्न अवश रक्तसंग्रह (Passive Congestion) जन्य, रक्तमें रक्तजलकी वृद्धिजन्य (Hydremic) और रक्तस्थानकी शिथिलता (Vasomotor) जन्य । अवश रक्तसंचयजन्य शोथमें ३ प्रकार हो सकते हैं । (१) हृदयविकारजन्य, (२) यकृद्विकारजन्य और (३) वृक्क विकार जन्य ।

(१) स्थानिक शोथ—दबावके हेतुसे किसी अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा रक्तका प्रत्यावर्त्तन होनेमें व्याघात होने पर स्थानिक शोथ उगस्थित होता है । जैसे अंगुली पर दृढ़ अंगूठी पहनने या पैर आदिकी अस्थिभंग होने

पर उस पर सबल पट्टीबंधन (Bandage) बाँधने पर अथवा सर्प-विष आदि प्रकोपके हेतुसे हाथ-पैर आदि अवयव पर सुदृढ़ डोरी बांधने पर बंधन स्थानके निम्न भागपर शोथ आ जाता है ।

सब धमनियोंकी दीवार-टूट होजाने और रक्तसंचाप बढ़ने पर यदि सब शिराएँ अपेक्षाकृत मुलायम हों, तो इनके भीतर रक्तके प्रत्याव-र्तनमें अवरोध होजाता है । अनुमान है कि, सब रसायनियोंमें खिंचाव हो जानेके हेतुसे भी ऐसा होता होगा; परन्तु शोथका यह मुख्य हेतु नहीं है । कारण, इतर कोई उत्सर्ग न हो, तो भी जब किसी बड़ी शिरामें स्थानिक शल्य (Thrombosis) द्वारा अवरोध हो जाता है; तब शोथ प्रकाशित होता है ।

हाथ-पैर की शिरा बांधने पर जब तक रसायनियोंमें लसीका वहन सबल रहता है ; तब तक शोथकी उत्पत्ति नहीं होती । कारण, रसाय-नियों उनके संयोजक तन्तुओंके भीतर रहे हुए रिक्त स्थानों (Lymph- spaces) में उत्सृष्ट रक्तजलको सत्वर ग्रहण कर स्थानान्तरित करने लग जाती है; किन्तु शिराका अवरोध होजाने पर जब अधिकांश स्थानोंमें विविध कारणोंसे रसायनियों की रक्तशोषण क्रियामें व्याघात होजाता है ; तब अन्तमें शोथ उपस्थित होता है ।

जब किसी बड़ी शिराका अवरोध होता है ; तब उसकी शाखा-प्रशाखाओंमें थोड़े ही समयमें रक्तदबाव बढ़ जाता है । फिर रक्तदबावके बढ़नेसे सब केशवाहिनियोंमेंसे संयोजक तन्तुके सब रिक्त स्थानोंमें रक्तजल या तरल अंश चूने लगता है ; फिर शोथ आ जाता है ।

जैसे हाथ-पैरकी धमनियोंमें रक्तसंचापकी वृद्धि होनेपर शोथ हो जाता है, वैसे ही स्थानिक रक्त संचापकी वृद्धि होने पर आक्रान्त यकृतसे याकृती शिराएँ (Hepatic Veins) या प्रतिहारिणी शिराकी शाखा-प्रशाखाओंमें दबाव या अवरोध हो कर शोथ और जलोदरकी उत्पत्ति हो जाती है । विशेषतः यकृतकी कण्डिकाओं (Lobules) के भीतर रही हुई प्रतिहारिणी शिराओंकी कण्डिकान्तराला शिराओं

(Interlobular veins) पर दबाव बढ़ जानेसे प्रतिहारिणी शिरा के रक्तप्रवाहमें रक्तसंचापकी वृद्धि हो जाती है। इन शिराओंमें रक्तसंचय होनेसे प्लीहा प्रसारित और दृढ़ हो जाती है। फिर आमाशय और अन्नकी श्लैष्मिक कला रक्तसावके वशवर्त्ती हो जाती है। पश्चात् उदर्याकलामे रक्तस जाने लगता है।

(२) सर्वाङ्ग शोथ—यह व्याधि बहुधा हृदयके विकारोसे उत्पन्न होती है। इनमें भी विशेषतः हृदयके कपाटकी विकृति होनेपर होती है। कपाटकी विकृति होनेपर इतर लक्षणोंके समान हार्दिक शोथ (Cardio Dropsy) भी उद्भूत हो जाता है। हृत्पिण्डके किसी भी खण्डमे किसी भी प्रकारका अवरोध होने पर हृदयके कपाटकी क्रियामें परिवर्त्तन हो जाता है। कपाट द्वारा स्वस्थ हृदयखण्डका द्वार बन्द होकर प्रतिरुद्ध हो जाता है, अथवा हृदयद्वार प्रसारित होनेसे हृदयकपाट स्वस्थ होने पर भी हृदयद्वार यथोचित रूपसे बन्द नहीं हो सकता। यदि कपाट विकार ग्रसित है, तो उस कपाटके पश्चात्वर्त्ती रक्तसंचालक विधान (शिराओं) में पूर्ण रक्तसंग्रह और रक्तसंचापकी वृद्धि होती है। एव सम्मुखवर्त्ती सब विधान (धमनियों) में रक्तकी अल्पता और रक्त संचापका ह्रास हो जाता है। इस नियमके अनुसार हृदयके सब विकृतिलक्षणोंको दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है।

सब धमनियोंमें रक्तकी अल्पताजन्य सब लक्षण, और सब शिराओंमें रक्तसंग्रहजनित सब लक्षण।

अ—उपसर्गविहीन महाधमनीकी पीड़ामें सब धमनियामें रक्तन्यूनताजन्य सब लक्षण अर्थात् विशेषतः निस्तेजता, वेशुद्धि या मूर्च्छा, हाफ (ऊपर-ऊपरसे श्वास चलना—Panting) आदि होते हैं। यदि अत्यधिक विकृति हो जाय; तो श्वासमान्द्यता होकर मृत्यु हो जाती है।

आ—शैरिक रक्तसंग्रह लक्षण विशेषतः वाम हृदयमें रहे हुए द्विपत्र कपाटकी विकृति, फुफ्फुसीय रक्तसंचालनमें दीर्घ काल स्थायी अवरोध रहनेसे दक्षिण हृदय खण्डका प्रसारण, महाधमनीमें

विकृतिकी अन्तिमावस्थामें द्विपत्र कपाट (*Mitral valve*) विकारग्रस्त हो जाना, चिरकारी वृक्कप्रदाह (*Bright's Disease*) की शेषावस्थामें हृदयके वाम निलय खण्ड (*Left Ventricle*) का प्रसारण, क्षुद्र कठिनता युक्त वृक्क शोथ (*Granular Kidney*) आदि रोगोंमें दो प्रकारसे प्रकाशित होते हैं ।

१—शिराओं की दीवार प्रसारित होनेसे शिरा विदीर्ण हो जाती हैं । फिर रक्तस्राव होकर रक्तसंचापका हास हो जाता है । (इसी हेतुसे यकृद्वाल्थुदर जनित प्रतिहारिणी शिराका रक्तसंग्रह होनेपर रक्तवमन उपस्थित होती है ।) यदि रक्तस्राव न हो, तो दीर्घ काल स्थायी द्विपत्र कपाट का अवरोध रह कर फुफ्फुस, प्लीहा, वृक्क आदि यन्त्र विस्तृत, दृढ़, और श्याम हो जाते हैं । फिर वे अपने कार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं ।

२—रक्तसंग्रहके हेतुसे त्वचा, त्वचाके निम्नस्थ संयोजक तन्तु और श्लैष्मिककलामें अर्थात् क्षुद्र और बृहद् संयोजक तन्तुओंके भीतर रिक्तस्थानों (*Lymph-spaces*) में रक्तस्राव न होने पर उसके बदले प्रसारित सब रक्त-प्रणालियोंमेंसे रक्तजल चूने लगता है । यह रसोत्सृजन प्रारम्भमें सरलतापूर्वक त्वचाके नीचे फिर फुफ्फुसावरण या उदर्याकलमें होने लगता है, जिससे सर्वाङ्ग शोथ और उरस्तोय या जलोदरकी संप्राप्ति होती है । हृदय-धरकला कोष (*Pericardium*) में यह शोथ अपेक्षाकृत कम प्रतीत होता है । एवं वृषणके भीतर रहे हुए अण्डधरपुटक (*Tunica Vaginalis*), मस्तिष्क, कशेरुचकके भीतर रहा हुआ सुषुम्णाविवर (*Vertebral foramen*), देहके सब चल संघियोंके

स्नायुओंको आच्छादन करने वाली थेलिया-श्लेष्मधर-कला पुटक (Synovial bursae), इनमें प्रारम्भिक अवस्थामे रसोत्सृजन नहीं होता, या अति कम मात्रामे होता है ।

यह शोथ गुरुत्वाकर्षण (Law of gravitation) नामक भौतिक नियमके अधीन है, अर्थात् देहमें पैर सबके नीचे होनेसे उनमें रक्तजलका स्त्राव पहले होता है । इस हेतुसे हृद्रोगपीडित मनुष्यका पैर शामको सूज जाता है । पैरोंमें भी शोथ पहले गुल्फ संधिके समीप प्रकाशित होता है । कारण, इस स्थानमें रक्तके भारमें सब शिराओंमें रक्तसंग्रह इतर स्थानोंकी अपेक्षा अधिक होता है । इस तरह चलने-फिरने वाले रोगीके हाथ भी लटकने रहते हैं । जिससे उन पर भी शोथ आने लगता है, परन्तु रात्रिको शय्यापर स्वस्थ पड़े रहनेमें गुरुत्वाकर्षण नियम के अविरुद्ध हृदयको कार्य कम करना पड़ता है । जिससे रात्रिकी विश्रान्ति के पश्चान् पैरो परसे शोथ सुबह कम हो जाता है, और मुख मण्डल पर कुछ अंशमें शोथ-सा मालूम पड़ता है । विशेषतः रक्तस पृष्ठ देश, कटि देश, ऊर्ध्व शाखा आदि स्थानोंकी ओर आकर्षित हो जाता है । यदि रोगी एक पार्श्वसे सोता है, तो उस पार्श्वके बाहु गुरुत्वाकर्षणके नियम अनुरूप इतर बाहुकी अपेक्षा अधिक सूजा हुआ प्रतीत होता है ।

वृक्कप्रदाहस शोथ प्रकाशित होता है, उसके दो हेतु हैं । चिरकारी वृक्कप्रदाहजन्य और आशुकारी वृक्कप्रदाहजन्य ।

चिरकारी वृक्क प्रदाह (Chronic Interstitial Nephritis) की शैषावस्थामें यह शोथ क्रमशः बढ़ता जाता है । मूत्रग्रन्थिकी बाह्य सीमा पर रहा हुआ बहिर्वस्तु विभाग (Cortical Matter) शीघ्रता ग्रस्त हो जाता है; और इसके सहवर्ती हृदय और सब रक्त प्रणालियोंकी रचनामें परिवर्तन (रोग संप्राप्ति दर्शक रूपान्तर) भी हो जाता है । ये सब परिणाम भौतिक नियमके अनुसार होता है । जब

हृदयकी क्षीणताकी उत्पत्ति होती है ; तब इस प्रकारका शोथ प्रकाशित होता है ।

यह शोथ प्रारम्भमें दोनों पैरों पर आक्रमण करता है । मुखमण्डल पर नहीं । इसके साथ इतर यन्त्रोंमें अत्यधिक रक्त संग्रह हो जाता है; जिससे आमाशय और फुफ्फुसमेंसे रक्तस्राव होने लगता है ।

आशुकारी वृक्कप्रदाहकी जीर्णावस्था (Parenchymatous Nephritis) में एक प्रकारका सर्वव्यापी शोथ प्रकाशित होता है । मूत्र परीक्षा करने पर वृक्कोंमें रही हुई सूक्ष्म मूत्रवह सोतों (Tubules) में प्रदाह प्रतीत होता है । यह विकार त्वचाके नीचे रहे हुए तन्तुओंके रिक्त स्थानों पर आक्रमण करके त्वचाको सत्वर शोथग्रस्त कर देता है । रसायनियोंके भीतर रही हुई श्लैष्मिक कला (Serous membrane) में अपेक्षाकृत विलम्बसे रसोत्सृजन होता है । यह क्रिया गुरुत्वाकर्षणके नियमके साथ सम्बन्धवाली नहीं है । परिणाम में शरीरके सब स्थानोंमें वसाका अभाव, सब स्थानोंकी त्वचा प्रसारित और सब स्थानोंके संयोजक तन्तु में शिथिलता आकर वे शोथग्रस्त होजाते हैं । इसी हेतुसे नेत्रावरण, नेत्रका निम्न प्रदेश, वृषण, और मूत्रेन्द्रिय, इन सबकी त्वचापर शोथ प्रतीत होता है । इस व्याधिमें रक्तकी अतिशय न्यूनता होजाती है । इस हेतुसे भी कुछ अंशमें शोथकी उत्पत्ति होती है । रोगी स्थूल, निर्बल और मलिन श्वेत वर्ण का भासता है ।

यकृतकी व्याधियोंमें जब यकृतमें रही हुई बड़ी रक्तप्रणालियों पर दबाव आता है; तब विशेषतः उदरगह्वर के भीतर निम्न शिराओंमें से रसोत्सृजन होता है । फिर जलोदर और शोथ रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है । इसका विशेष विवेचन उदररोगमें किया गया है ।

इन हृदय, वृक्क और यकृतके विकारजनित शोथके अतिरिक्त इतर कितनेक रोगोंमें शोथ प्रकाशित होता है । जैसे राजयक्ष्मा आदि दुर्बलता लानेवाली व्याधियां, पाण्डु, कफरक्तज रक्तपित्त (Scurvy) और त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) में योग्य पोषणका अभाव होनेपर

एव कितनेक आशुकारी रोगोंमें दुर्बलता आ जानेसे रक्तसकी हीनावस्था और रक्तवाहिनियोंकी दीवारोंमें विकृति हो जाती है । फिर शोथ उपस्थित हो जाता है ।

चिरकारी यक्ष्मा रोगमें फुफ्फुसोंकी केशवाहिनियोंका दीर्घकाल-पर्यन्त अवरोध, हृदयके दक्षिण खण्डका प्रसारण और समस्त देहकी शिराओंमें रक्तसंग्रह होनेपर शोथकी उत्पत्ति हो जाती है ।

आशुकारी व्याधिमें शोथ उपस्थित होनेपर हृदयमें क्षीणता होती है । फिर हृदयके वाम निलयमें विकृति होनेसे धमनीमें रक्तकी न्यूनता, क्षीण और पीड़ित नाड़ी, शिराओंके रक्तसंचालनमें अति मन्दता तथा, हाथ पैरकी मासपेशियोंमें क्षीणता भासमान होती है; और प्रारम्भमें गुल्म-सन्धिके समीप शोथ आता है ।

जब पाण्डु रोगकी वृद्धि होनेपर हृदयकी क्षीणता, धमनियोंमें रक्त-संचालनका हास, नाड़ी पीड़ित चंचल और क्वचित् अव्यवस्थित तथा हृदयकी प्रथम ध्वनि अपेक्षाकृत स्वल्पकाल स्थायी प्रतीत होती है, तब शोथ उपस्थित हो जाता है ।

रोगविनिर्णय—यद्यपि शोथ है, या नहीं ? इस बातके निर्णयमें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं है; तथापि वर्तमान शोथकी उत्पत्ति में वास्तविक हेतु क्या है ? इस बातके निर्णयार्थ विशेष विचारकी आवश्यकता रहती है ।

जैसे प्रारम्भमें हाथ पर कुछ शोथका भास हुआ हो, तो ऐसा अनुमान होता है कि, कक्षाधरा शिरा (Axillary vein) या कक्षाधरा धमनिके किसी स्थानमें रक्तसंग्रह, विद्रधि या मारक अर्बुदजन्य स्फोटसे रक्तदबाव की वृद्धि होनेपर उस ओरका बाहु शोथयुक्त बना है ।

शिरामें रक्तजमाव-अचलशल्य (Thrombosis) की उत्पत्ति हो जानेपर ज्वर आकर फिर हाथ-पैर पर शोथ प्रकाशित होता है ।

जिस ओरके बाहुपर शोथ आया हो, उस ओरके वक्षः और मुख-मण्डलपर शोथ प्रकाशित हो, तो विदित होता है कि, उस ओरकी

वाम काण्डमूला शिरा (Innominate vein) में दबाव की वृद्धि हुई है ।

समस्त मस्तिष्क, ग्रीवा, दोनों बाहु और वक्षः की चारों ओरकी दीवार शोथग्रस्त हो, तो वह उत्तरा महाशिरा (Superior Vena Cava) के अवरोध का बोध कराती है ।

बाहुपर शोथ यकृद्विकारजन्य होनेपर हृदयविकारसे पृथक् कर सकते हैं । यदि एक ओरके बाहुकी अपेक्षा दूसरी ओरके बाहु अथवा एक ओरके मुखमण्डलकी अपेक्षा दूसरी ओरका मुखमण्डल अधिकतर स्फीत हो, तो सिद्धान्त किया जाता है, वह वृक्कविकारजनित नहीं है । एवं हृदयके विकारजनित जीर्ण शोथमें बहुधा मुखमण्डल शोथग्रस्त नहीं होता । फलतः वह यकृद् विकारजन्य है ।

इस तरह यदि लिङ्ग स्फीत हो, तो उस पर स्फीति सामान्य होती है । द्विपत्रकपाटकी विकृतिजन्य शोथसे चर्म मलिन हो जाता है । जायफलके सदृश यकृद्विकारमें शोथ पाण्डु वर्णका बन जाता है; किन्तु यकृदात्युदरजनित शोथमें त्वचापर पाण्डुता नहीं आती ।

जीर्ण कास और अति जीर्ण वृक्कविकारके हेतुसे उत्पन्न शोथमें कुम्कुस या सारी देहके रक्तसंचालनमें अवरोध होता है; और परम्परागत हृदयमें क्षीणता आकर शोथ आता है; तब त्वचामें ऐसी विवर्णता नहीं आती; किन्तु वृक्कविकारजन्य जो सर्वाङ्ग शोथ होता है, वह अपेक्षाकृत सत्वर प्रकाशित होता है, साथ-साथ त्वचाका वर्ण मलिन हो जाता है; और किसी स्थान विशेषमें विशेष रूपसे शोथ व्याप्त हो जाता है ।

वृक्कविकारजन्य शोथमें मुखमण्डल कटि, वृषण और लिङ्ग त्वरित शोथग्रस्त हो जाते हैं; परन्तु हृदयविकार या प्रतिहारिणीशिराके अवरोधजन्य शोथमें वे सब स्थान इस तरह शोथयुक्त नहीं होते ।

वृक्क विकारमें भी शोथ मूत्रवहस्रोतोंके विकार (Paraneuritic Nephritis) जनित है, उसमें अक्षिपल्लव पर शोथ, श्वेतवर्णके उज्ज्वल और जलपूर्ण नेत्रावरण, कटि देशमें शोथ, वृषणपर

बालकके मस्तिष्कके सदृश शोथ, मूत्रेन्द्रियका विषम प्रसारण और मूत्रेन्द्रिय की त्वचामें अतिशय शोथ होकर, फिर मूत्रेन्द्रिय पशुशृंगके सदृश मुड़ जाती है । तथापि मूत्रावरोध नहीं होता । इन लक्षणों पर से बिना मूत्र-परीक्षा भी रोगविनिर्णय हो जाता है ।

इस मूत्र वह स्रोतोंके प्रदाहसे उत्पन्न शोथमें सब रसगह्वर (Serous Cavities) शोथ प्रसृत होते हैं, और प्रारम्भसे ही जलोदर या फुफुसावरणमें जलसंचय प्रतीत होता है । वक्ष और उदरकी दीवार स्थूल और शोथयुक्त हो जाती है । इस हेतुसे आभ्यन्तरिक रससंग्रह निर्णायक तरंगानुभूति (Fluctuation) की प्रतीति सहज नहीं हो सकती ।

इस रसमय शोथ रोगके लक्षण इतर कतिपय रोगोंके सदृश भासमान होने हैं, अतः इन रोगोंके प्रभेद निर्णायक लक्षणों को लक्ष्यमें रखना चाहिये ।

(१) व्रण शोथ (Inflammation) होनेपर स्थानिक वेदना, शारीरिक उत्तापवृद्धि और त्वचाका रक्तवर्ण प्रभृति लक्षण होते हैं ।

(२) त्वचा और अनेक आभ्यन्तरिक यन्त्रोंमें क्लेदन कफके संचय (Mucoid) जन्य सार्वज्ञिक घन शोथ (मिक्सीडिमा Myxedema) रोगमें वृद्धि स्थायी होती है; और वह दृढ़ होती है, तथा स्पर्श शून्यता (Anesthesia) या वेदनानुभवका अभाव (Analgesia) उपस्थित होता है ।

(३) सयोजक तन्तुओंके शोष (Dystrophy) जन्य कठिन शोथ होने पर निर्दिष्ट स्थान व्यापी ही होता है; और दबाने पर नहीं दबता । वह देहके निम्न भागमें नहीं होता, वह विशेषतः बाहु, ऊर्ध्वप्रदेश, पृष्ठ भाग और वक्ष प्रदेशमें प्रकाशित होता है ।

(४) वायुकोष विस्तार (Emphysema) में भी स्थान सूजा सा प्रतीत होता है; किन्तु यह फुफुसस्थ पीड़ासे उत्पन्न होता है; उसके भीतर वायु भरी रहती है; स्पर्श परीक्षा करने पर अंगुली को आवाजका

भास होता है; परन्तु अंगुलीसे दबाने पर शोथके सदृश वहाँ खड्डा नहीं होता ।

(२) सार्वार्जिक घन शोथ ।

सार्वार्जिक घन शोथ—मिक्सिडिमा—Myxoedema ।

डाक्टरोंमें इस रोगको अन्तःस्त्राविक ग्रन्थियोंके रोगसमूहमें लिखा है; परन्तु इस ग्रन्थकी मर्यादा अनुसार शोथ रोगका एक अंश होनेसे शोथ रोगके अन्तर्गत लिया है ।

रोगपरिचय—ग्रैवेय ग्रन्थि (Thyroid gland) का हीन-योग, मेदोवृद्धि, रुद्ध त्वचा, बाल गिरना और मानसिक निर्बलता आदि लक्षण युक्त यह सार्वार्जिक घन शोथ होता है ।

यह विकार बहुधा विशेषतः गरीब स्थिति वाली स्त्रियोंको होता है । स्त्रियोंको भी प्रौढ़ावस्थामें जब मासिक धर्म बन्द होने लगता है; या जिनको अनेक संतान होनेसे निर्बलता आई है; या बारबार गर्भाशयमें से रक्तस्राव होता रहता है; उन स्त्रियों पर इस रोगका आक्रमण अधिक होता है । मानसिक उद्वेगके हेतुसे यह रोग कभी-कभी पुरुषोंको भी हो जाता है । विशेषतः इस रोगमें ग्रैवेय ग्रन्थिका ह्रास हो जाता है । किन्तु क्वचित् वह अपक्रान्ति ग्रसित होकर बढ़ जाती है । यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियोंको सात गुना अधिक होता है । यह रोग विशेषतः शीत कटिबन्ध प्रदेशमें होता है ।

निदान—यह व्याधि ग्रैवेय ग्रन्थिके अन्तःस्त्राव (Internal Secretion) का हीन योग होने पर उत्पन्न होती है; परन्तु यह हीन-योग क्यों होता है ? इस बात का निर्णय नहीं हुआ । बाल्यावस्थामें किसी कारणवश इस ग्रन्थिका हीन योग हुआ; तो बालक की अपूर्ण वृद्धि (Cretinism) रोग हो जाता है । इस रोगसे बालक वामनके सदृश ठिगना भासता है । यदि युवावस्थाके पश्चात् हीन योग हो, तो सार्वार्जिक घन शोथकी सम्प्राप्ति होती है; और ग्रैवेय ग्रन्थिकी वृद्धि होने

पर शस्त्र से काट दिया जाय, तो भी हीनयोग होकर सार्वाङ्गिक घन शोथके सदृश विकार हो जाता है, उसे डाक्टरीमें कैकेक्सिया स्ट्रुमिप्राइवा एन्ड थाइरियो प्राइवा (Cachexia Strumipriva and Thyreopriva) सज्ञा दी है ।

सम्प्राप्ति—ग्रैवेयग्रन्थिमें अन्तःस्त्राव उत्पादक तन्तुका ह्रास हो जाता है और सौत्रिक तन्तु बढ जाते हैं । फिर ग्रैवेय ग्रन्थि कुश और कठिन हो जाती है । फिर इसके अन्तःस्त्रावका अभाव होकर अनेक लक्षणोंकी उत्पत्ति हो जाती है । आभ्यन्तरिक त्वचा, केशमूल और प्रस्वेद ग्रन्थियों के चारों ओर सौत्रिक तन्तु निर्माण होनेसे इन सबका नाश हो जाता है । इस हेतुसे बाह्य त्वचा केशहीन और रूद्ध हो जाती है; आभ्यन्तरिक त्वचामें क्लेदन कफ (Myx or mucoid) की वृद्धि होती है, और विविध यन्त्रोंमें चिकने कफकी उत्पत्ति हो जाती है । दोनों अक्षकास्थियाँ (Clavicles) मेदोवृद्धिके हेतुसे ऊपर उठ जाती है ।

लक्षण—यह रोग प्रच्छन्न भावसे आक्रमण करता है । प्रारम्भिक अवस्थामें जुधानाश, बारबार प्रतिश्याय हो जाना, सामान्य श्रमसे थकान आ जाना, हृदय की गति बढ जाना, हृत्कम्प और कुछ अंशमें मानसिक अवसाद आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । कुछ समयके पश्चात् वात-बहानाडियोंमें मन्द मन्द पीड़ा या शूल और स्पर्श शक्तिमें विलक्षणता उपस्थित होती है ।

रोग स्पष्ट प्रकाशित हो जाने पर सर्वाङ्ग शोथ, विशेषतः मुख-मण्डलके गाल, कपाल, नेत्र, पलक और जिह्वा आदि भागों पर शोथ आ जाता है । देखने पर रोगीकी मुखाकृति जडभरतके सदृश भासती है । शरीर भारी, मुख चौड़ा, ओष्ठ मोटे और बड़े बड़े, नेत्रपलक भारी, स्थूल नासिका, बड़ी और चौड़ी कर्णपाली, त्वचा मोटी, खर, शुष्क, और मलिन वर्णकी, केश शुष्क, मोटे और पतनशील तथा शोथ अंश कठिन आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । शोथ स्थान जलसे गूँधे हुए आटेके समान दबाने पर नहीं दबता । शोथके हेतुसे मुखके ऊपर

की सब रेखाएँ विलुप्त हो जाती हैं । गाल कुछ लाल रहता है । दाँत गिरने लगते हैं । कपाल बढ़ जाता है; तथा दूसरी ओर झुक जाता है । जिह्वा मोटी, नीली और उज्ज्वल भासती है । सब स्वर तन्त्रियों (Vocal Cords), में कफ भर जानेसे मोटी हो जाती है; और परस्पर मिल नहीं सकती । जिससे शब्दोच्चारणमें स्थूलता और विकृति आ जाती है । मुँहमें शुष्कता रहती है । कुछ लालारस संग्रहित होता है । वह गाढ़ा होता है । हाथ-पैर मोटे और फावड़े सदृश हो जाते हैं । रोगीको चलनेमें कष्टका भान होता है । अंग संचालन क्रिया भी योग्य रूपसे नहीं होती । अंगुलियों से जो कार्य किया जाता है, उसमें बाधा पहुँचती है । प्रस्वेद कम आता है । स्त्री रुग्णा होनेपर मासिक धर्म चला जाता है । भवण शक्ति, स्मरण शक्ति, बुद्धि आदिका हास हो जाता है । किसी विषयका सोच विचार नहीं कर सकता । शारीरिक उष्णताका हास हो जाता है । बहुधा यह विकार शीतकालमें बढ़ जाता है ।

रोग अत्यधिक बढ़ जाने पर मूढ़ (Dementia) के सदृश अवस्था हो जाती है । मतिभ्रम होकर विविध कल्पनाएँ होती हैं; और कभी-कभी आत्महत्या करनेकी प्रबल इच्छा हो जाती है । धमनियोंमें रक्तचापकी वृद्धि हो जाती है, और रक्तसंचालन विधानमें भौतिक प्रतिबन्ध उपस्थित होता है । सामान्यतः एक ओर की शारीरिक उष्णता दूसरी ओरकी अपेक्षा न्यून भासती है । मस्तिष्क, बगल और बस्ति प्रदेश के बालोंमेंसे बहुतसे उड़ जाते हैं; और इन बालोंका रंगभी मलिन हो जाता है । रोगी दिन-प्रति-दिन दुर्बल होता जाता है; इस तरह १०-१२ वर्ष तक पीड़ित रहता है ।

साध्यासाध्यता—प्रैवेय ग्रन्थिका सख खिलाने पर रोग साध्य हो जाता है ।

(३) जनपद व्यापी शोथ ।

जनपदव्यापीशोथ—एपिडेमिक ड्रोप्सि—Epidemic Dropsy ।

डाक्टरीमें इस रोगको कीटाणुजनित आशुकारी सार्वजनिक व्याधि समूह (Acute general diseases) के साथ लिखा है; परन्तु इस ग्रन्थकी मर्यादाके अनुसार इस व्याधिको शोथ मानकर शोथ रोगके अन्तर्गत लेलिया है ।

रोग परिचय—यह सक्रामक रोग कभी-कभी जलवायु की विकृति होने पर देशमें चार्गे और फैल जाता है; और ३ से ६ सप्ताह या कभी कुछ अधिक समय तक जनताको त्रास पहुँचता है । इस व्याधिमें विशेषतः मद, स्वल्प विरामी ज्वर, वमन, प्रवाहिका आदि उदरविकार, प्रबल पाण्डु, निर्बलता, त्वचामें उग्रता या त्वचामें ग्रन्थिया बन जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

निदान—यह रोग बहुधा आसाम और बंगालमें अधिक फैलता है । यह रोग जिस तरह बड़े शहरोंमें सीलवाले मकानोंमें रहने वाले निर्धन लोगों पर आक्रमण करता है, उस तरह धनिक लोगोमें भी फैल जाता है । युवावस्था वाले स्त्री पुरुषों पर इस रोगका अधिक प्रेम है । सबल और दुर्बल, सबमें समभावसे संक्रमण करता है । छोटी आसुवाले बालक बालिकाओंको यह कम होता है । स्तनपायी शिशुओंको तो यह व्याधि क्वचित् ही होती है । इस रोगके प्रादुर्भावकी प्रणाली और इतिहासको देखने पर निर्णय होता है कि, यह कीटाणुजन्य रोग है, तथापि इस रोग के कीटाणुओंका अभी तक प्रत्यक्ष नहीं हुआ । एवं किम तरह इस व्याधि का अकुर संचारित होता है, यह भी अभी तक निर्दिष्ट नहीं हो सका । कितनेक चिकित्सकोंकी मान्यता अनुसार इस रोगकी उत्पत्ति मीलोंके साफ किए हुए (Polished) चावल हैं, इस हेतुसे यह रोग पक्षपात सह सर्वाङ्ग शोथ (बेरि बेरि-Beri-Beri) का प्रकार भेद है । सार्द्र बेरि-बेरि रोगमें सर्वाङ्ग शोथ और जलोदर होते ही हैं । बेरि-बेरि रोग जनपद व्यापी होने पर वातवहा नाड़ियोंके विकृतिजन्य सत्र लक्षण साथमें रहते हैं, परन्तु इस जनपद व्यापी शोथ रोगमें बहुधा पक्षवध आदि अवस्था की प्राप्ति नहीं होती । एव बेरि बेरि रोग चिरकारी क्रमका पालन करता

है; आशुकारी आक्रमण नहीं करता । बेरिबेरिमें इस रोगके समान ज्वर विशेष नहीं रहता; और देह पर विलक्षण प्रकारकी ग्रन्थियां भी नहीं उठती; इत्यादि विभिन्नता होनेसे दोनोंको पृथक्-पृथक् मानना पड़ता है ।

पूर्वरूप—इस रोगके प्रारम्भके पहले वातवहा नाड़ियोंकी उत्तेजना के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । दाह, त्वचामें भूनभूनाहट, कण्डु, मूत्रा-वरोध, हाथ-पैरोंकी नसें खिंचना, मांसपेशियां और अस्थियोंमें दुःखदायक वेदना और दिनकी अपेक्षा रात्रिमें अधिक पीड़ा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । क्वचित् ज्वर भी पहले आ जाता है । फिर हृदयकी विकृति होकर शोथ उत्पन्न होता है ।

लक्षण—यह जनपद व्यापी शोथ सामान्य रीतिसे प्रारम्भ में दोनों पैरों पर प्रतीत होता है । इस रोगमें यह विशेषता है कि, अनेक रोगियों में तो देहके निम्न शाखाके अतिरिक्त इतर प्रदेशमें शोथकी उत्पत्ति ही नहीं होती; और अनेक रोगियोंमें सर्वाङ्ग शोथ हो जाता है । किसी-किसी रोगीके लिये तो ऐसा देखा गया है कि, रोग चिरकाल पर्यन्त वर्तमान रहता है । एवं कितनेक रोगियोंमें इतर रोगोंसे निर्बलता आजानेपर उपद्रव रूपसे इस व्याधिका जन्म हो गया है ।

इस शोथ रोगके सहवर्ती ज्वर रहता है; यह ज्वर किसीको शोथके पहलेसे ही, किसीको शोथके साथ और किसी रोगीको शोथकी उत्पत्ति हो जानेके पश्चात् उपस्थित होता है । यह ज्वर ६६ से १०२ डिग्री तक बढ़ जाता है । कभी किसी-किसी रोगीमें १०४ डिग्री भी हो जाता है । इस ज्वरके विराम होनेपर कम्प प्रतीत होता है । किसी रोगी को वमन और प्रवाहिका विशेष लक्षण रूपसे प्रकाशित होते हैं ।

इस रोगमें सामान्य रूपसे मुख, छाती और दोनों हाथों पर ग्रन्थि-विसर्प (Erythema) के सदृश ददोरे (Exanthems), एक सप्ताहके पश्चात् निकल आते हैं; और वे १०-१२ दिन तक रह जाते हैं ।

इस रोगमें हृत्पिण्ड और रक्तसंचालन क्रियामें विकृति होनेसे नाड़ी क्षीण, सतत द्रुतगामी और अनियमित होती है । ध्वनिवाहक यन्त्रसे

हृदयकी आवाज़ सुनने पर किसी-किसी स्थान पर विलक्षण मर्मर ध्वनि (Bruit) प्रतीत होती है ।

श्वसोच्छ्वास क्रिया आक्रामित हो जानेसे थोड़ेसे श्रमसे श्वास भर जाता है; और अनेक रोगियोंको तो श्वास लेनेमें भी कष्टका भान होता है । किसी किसी रोगीको फुफ्फुसावरण और हृदावरणमें रक्तस्राव, फुफ्फुस शोथ, फुफ्फुस खण्डोंमें प्रदाह और हृत्पिण्डका प्रसारण आदि हो जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त इस रोगमें पाण्डुता आ जानेसे रोगी अति दुर्बल और निस्तेज प्रतीत होता है । सामान्य रूपसे यकृत, प्लीहा और वृक्कोंमें विकृति नहीं होती ।

शोथचिकित्सोपयोगी सूचना ।

देहबल, मनोबल, रोगबल, दोष और काल आदिको जान-नेवाले चिकित्सक साध्य शोथरोगकी चिकित्साका प्रारम्भ निदान-विपरीत, दोषविपरीत और ऋतुविपरीत विचारपूर्वक करें ।

सब प्रकारके दोषोंसे उत्पन्न और सर्वाङ्ग शोथ एवं आम-दोषसे उत्पन्न शोथके प्रारम्भमें लङ्घन और पाचन चिकित्सा करनी चाहिये । इस शोथरोगमें जो दोष प्रबल हो, उस दोषको दूर करनेके लिये प्रारम्भमें वमन, विरेचन आदि द्वारा संशोधन कराना चाहिये । मस्तिष्कगत दोष होनेपर शिरोविरेचन नश्य, अधोभागमें दोष होनेपर विरेचन और ऊर्ध्वभागमें दोष अवस्थित होने पर उसके अनुरूप वमन द्वारा दोषसंशोधन आदि क्रिया करानी चाहिये ।

यदि शोथ घृत आदिके अधिक सेवनसे हुआ हो, तो रोगीको रुक्ष करना चाहिये; और रुक्ष हेतुसे वातप्रकोप होकर शोथ हुआ हो, तो स्नेह विधिक्रा आश्रय लेना चाहिये ।

वातज शोथके प्रारम्भ में १५ दिन तक रोज सुबह निसोतका क्वाथ पिलाना चाहिये; अथवा एरंड तैल द्वारा उदर शोधन

कराना चाहिये । फिर पुराने शालि चावलका भात दूध या मांस-रसके साथ देवें । एवं स्वेदन, तैलमर्दन, सेक, लेप आदि वातहर चिकित्सा करनी चाहिये ।

यदि वातजशोथ में मलावरोध रहता हो, तो निरुह बस्ति देनी चाहिये ।

पित्तज शोथके रोगीको भोजनमें दूध या दूध-भात देना चाहिए; और उदरशोधनके लिये त्रिफला, गिलोय और निसोत का क्वाथ अथवा त्रिफलाचूर्णमिश्रित गोमूत्र पिलाना चाहिए ।

यदि पित्तवातज व्याधि है, तो कड़वी ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत देना चाहिये । यदि इस पित्तवातज शोथमें मूच्छ्रा, बेचैनी, दाह, तृषा आदि लक्षण भी हों, तो दूध पिलाना हितकर है; एवं उदरशोधन कराना हो, तो दूधके साथ गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये ।

कफजशोथकी चिकित्सा क्षार, चरपरे और गरम पदार्थ, गोमूत्र, तक्र और आसव आदिसे करनी चाहिये ।

यदि मल पतला और भारी है, तो त्रिकटु, कालानमक और शहद मिलाकर मट्ठा पिलाना चाहिये । एवं कक्षा, सदोष पतला और भारी मल हो, तो हरड़ और गुड़ या सोंठ और गुड़का सेवन कराना चाहिए ।

मल और अधोवायुका निरोध हो, तो भोजनके पहले दूध या मांसरसके साथ एरंड तैल पिलाना चाहिए । यदि नाड़ियोंके भीतर अवरोध हुआ हो ; तथा अग्नि और रुचि नष्ट होगई हो, तो शास्त्रोक्त विधिसे तैयार की हुई मद्य या अरिष्टका सेवन कराना चाहिए ।

आगन्तुक शोथ रोगमें लेप, सेक आदि शीतल उपचार करना चाहिये । इसका विशेष विचार व्रणशोथके साथ किया जायगा ।

शोथ रोगकी चिकित्सामें पहले संगृहीत रसको दूर करना चाहिए । फिर शोथके उत्पादक कारणका उपशमन (होसके तो लय) करना चाहिए ।

संगृहीत रसको दूर करनेके लिये उस स्थानके प्रति लक्ष्य रखकर रोगीको आवश्यक विश्रान्ति देनी चाहिए । मानसिक श्रम भी छुड़ा देना चाहिए । आवश्यक विश्राम, आवश्यक व्यायाम या अंग मर्दन, उत्तेजक ओषधि और शुद्ध खुली वायुका सेवन आदिका उचित प्रबन्ध करना चाहिए । जिस तरह रसका सत्वर शोषण होजाय, जल जाय या प्रस्वेद और मल-मूत्र द्वारा बाहर निकल जाय, उस तरह चिकित्सा करनी चाहिए ।

रोगीको स्थानान्तरित करानेसे रोग शमन होनेमें अच्छी सहायता मिल जाती है । पुनर्नवामण्डूर आदि शोथहर ओषधियों और तालसिंदूर आदि रक्तशोधक ओषधियों लाभदायक हैं । श्वास लेनेमें कष्ट होता है, तो अभ्रक और लोह मिश्रित ओषधि देनी चाहिए । हृदयविकृति हो, तो रससिंदूर, ब्रह्मी वटी, लक्ष्मी-विलास रस आदि हृदयपौष्टिक ओषधि देनी चाहिए ।

रोगके हेतुसे अधिक निर्बलता आने पर लोह भस्म और ताल प्रधान ओषधि द्वारा चिकित्सा करना चाहिए ।

बद्धकोष्ठ हो, तो मृदु विरेचन देना चाहिए ।

विशेष चिकित्सा जलोदर और सामान्य शोथके अनुसार करनी चाहिये ।

यदि वृक्कविकारजन्य शोथ है, तो डाक्टरों मत अनुसार शोथघ्न ओषधिके साथ उष्ण जलसे स्नान, उष्ण जलसे स्वेद, बाष्प स्नान (Vapour bath), उष्ण वायुसे स्नान और उष्ण कमरेमें बैठकर शीतल जलकी बस्ति लेना (Turkish Bath), ये सब प्रयोग हितकर हैं । हृदय यदि क्षीण हो, तो हृदय पौष्टिक ओषधिका भी साथ साथ सेवन कराना चाहिये ।

हाथ या पैर प्रभृति (अभिघात आदिसे) शोथग्रसित स्थानको देहकी अपेक्षा कुछ ऊँचा रखें । पट्टी (Bandage) यथोचित दबाव देकर बांधें ; और शोथग्रसित बाह्य स्थानको सम्हाल-पूर्वक स्वच्छ और शुष्क (शीतल जल या शीतल वायुसे सुरक्षित) रखें ।

शोथ रोगमें तरल भोजन और जल हो सके उतना कम देना चाहिए; किन्तु दुग्धको पथ्य माना गया है ।

जलसंग्रह अधिक होने पर विरेचन और मूत्रल ओषधि देनेसे शोथ कम हो जाता है । अवश रक्ताधिक्यमें मूत्रल, बल्य और मृदु उत्तेजक ओषध देना चाहिये ।

विरेचन ओषधि, जो पतले जल सदृश दस्त लाती है, वह देनेसे रक्तमेंसे रस प्रचुर परिमाणमें निकल जाता है । फलतः रक्तरस न्यून होकर घन बन जाता है । फिर रक्तमें क्षारकी अधिकता होजाती है । इस क्षतिके पूरणार्थ रक्त प्रणालियाँ अन्तर्वहन और बहिर्वहन (Endosmosis and Exosmosis) क्रियाके नियमानुसार संयोजक तन्तुओंमें से संग्रहित रसको आकर्षित कर लेती है । फलतः शोथ कम होजाता है । इस उद्देश्यसे जलोदर और शोथ रोगोंकी चिकित्सामें प्रातःकाल क्षार-प्रधान विरेचन ओषधिका प्रयोग करना चाहिए । एवं जलपानका उस समय निषेध करना चाहिये ।

मूत्र मार्ग द्वारा रसको दूर किया जाता है । इस उद्देश्यसे मूत्रपिण्ड की क्रिया बढ़ानी चाहिए । यदि वृक्क विकार-ग्रस्त हों, तो उनसे अधिक कार्य नहीं लेना चाहिए । यदि वृक्क पीड़ित होने पर भी मूत्रल ओषधि दी जायगी ; तो शोथमें लाभ नहीं होगा ; बल्कि हानि होगी । वृक्क निर्दोश है और क्रिया शिथिल होगई हो, तो मूत्रल ओषधि देने पर मूत्र-निसारक विधानमें उत्तेजना आती है । फिर रक्तदबावमें वृद्धि होकर मूत्र द्वारा अधिक रस निकलने लगता है । जिससे जलोदर आदि सब प्रकारके शोथ रोगोंमें लाभ पहुँच जाता है ।

सूचना— यदि ओषधि-चिकित्सा करने पर भी शोथ शमन न हो, और विषम लक्षण प्रतीत हों, तो हाथ पैर पर किसी बृहद्रसायनी गह्वर (Serous Cavity) के शोथमें छिद्रयन्त्र (Paracentesis) अथवा स्वर की नली वाली सूक्ष्म आर (Trocar) या इतर सूची द्वारा सूक्ष्म-सूक्ष्म छिद्र करके अथवा किञ्चिन्-किञ्चित् काट करके रसको निर्गत करा देना चाहिए ।

शोथ रोगकी चिकित्सा जलोदर चिकित्सामें विशेष रूपसे लिखी है । डॉक्टरोंमें जलोदरको भी एक प्रकारका स्थानिक शोथ माना है । जलोदर का विवेचन पहले किया गया है अतः शोथ चिकित्साके लिये सूचना और विधि जलोदर चिकित्सामें देख लेना चाहिए ।

वृक्कविकार जन्य शोथके लिये वातबलासक ज्वर (Nephritic Fever) चिकित्सा में प्रथम भाग पृष्ठ २६८ में विवेचन किया है ।

शोथ चिकित्सा ।

(१) हरड़, सोठ और देवदारु, इन तीन ओषधियोंका कपड़छान चूर्ण ४ माशे निवाये जलके साथ या हरड़, सोठ, देवदारु और पुनर्नवा, इन चारोंका चूर्ण ४ माशे गोमूत्रके साथ देवें, तथा ओषधि जीर्ण होजाने पर स्नान कराके दूध भातका भोजन कराते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें शोथ शमन होजाता है ।

(२) त्रिफलाके काथके साथ शिलाजीत २ से ४ रत्ती तक प्रातःकाल देते रहनेसे त्रिदोषज शोथ दूर होता है । वृक्कविकार से उत्पन्न शोथ में भी यह ओषधि हितकर है ।

(३) **कुष्मादि चूर्ण**—पीपल, पाठा, गजपीपल, छोटी कटेली, चित्रकमूल, सोंठ, पीपलामूल, हल्दी, जीरा, नागरमोथा, इन १० ओषधियोंको कूट चूर्ण कर ४-४ माशे निवाये जलके साथ दिनमें २ बार प्रातः सायं देते रहने से त्रिदोषज जीर्ण शोथ नष्ट होजाता है ।

(४) सोंठ और चिरायताको जलके साथ पीस कल्क कर, निवाये जल अथवा पुनर्नवाके काथके साथ देते रहनेसे त्रिदोषज सर्वाङ्ग शोथ नष्ट होजाता है ।

(५) त्रिकटु १ माशा, यवक्षार १ माशा और लोहभस्म २ रत्ती, तीनों को घीके साथ मिलाकर चाटलेवें; फिर ऊपर त्रिफला का काथ पीनेसे त्रिदोषज जीर्ण (वृक्कविकार एवं हृदयविकृति से उत्पन्न) शोथ शमन होजाता है ।

(६) कच्ची फिटकरीका चूर्ण ३-३ रत्ती गोमूत्र या पुनर्नवा-मूलके काथके साथ देते रहनेसे शोथ रोग नष्ट होजाता है । भोजनमें दूध भातका सेवन कराना चाहिए ।

(७) पथ्यादि क्वाथ—हरड़, गिलोय, भारंगी, पुनर्नवा, चित्रकमूल, दारुहल्दी, हल्दी, देवदारु और सोंठ, इन ६ औषधियों का काथ कर पिलाते रहनेसे उदरशोथ तथा पैर और मुखपर आया हुआ शोथ सत्वर दूर होजाता है ।

(८) गुडार्द्रक योग—रोगीको रोज प्रातः काल ताजे अदरख, सोंठ, हरड़, या पीपल, इनमें से किसी एकके साथ समान गुड़ मिलाकर १ तोला देवें । फिर ३-३ माशे रोज बढ़ाते जायें ; अदरख आदिको दो तोलेसे अधिक न बढ़ावें । फिर रोज सुबह २-२ तोले देते रहने से गुल्म, उदर, अर्श, शोथ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अपचन, कामला, शोष, उन्माद आदि मनोविकार तथा कास और कफप्रकोप आदि व्याधियोंका नाश होता है । औषध जीर्ण होने पर दूध, यूष या मांसरसके साथ भोजन देना चाहिये ।

(९) वातज शोथ पर सरल प्रयोग—

(अ) पुनर्नवा, सोंठ और नागरमोथाके ४ से ६ माशे के

कल्क को ६४ तोले दूधके साथ देनेसे वातज शोथ शमन होजाता है ।

(आ) अपामार्ग, पीपल, पीपलामूल और सोंठ के ३-४ माशे कल्कको आधसेरसे तीन पाव दूधके साथ दिनमें दो बार देनेसे वातज शोथ दूर होता है ।

(इ) शुण्ठ्यादि क्वाथ—सोंठ, पुनर्नवा, एरंड मूल और लघुपञ्चमूल, इन ८ ओषधियोंको समभाग मिलाकर २-२ तोले का क्वाथ कर भोजन पचन हो जाने पर (सुबह और रात्रिको सोनेके समय) दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे वातप्रधान शोथ दूर होता है ।

(१०) वातपित्तज शोथ पर सरल प्रयोग—

(अ) दन्त्यादि क्षीर—दन्तीमूल, निसोत, त्रिकटु (सोठ काली मिर्च, पीपल) और चित्रकमूल, इन सबको ४-४ माशे लेकर ६४ तोले दूध और ६४ तोले जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर छान लेवें । फिर प्रातःकालको पिलाते रहनेसे वात-पित्तज शोथ निवृत्त होता है ।

(आ) निसोत, एरंडमूल और काली मिर्चसे उपरोक्त विधि से दूध सिद्ध कर प्रातःकालको पिलाते रहनेसे वातपित्तज शोथ नष्ट होता है ।

(इ) गिलोय, सोठ और दन्तीमूलका चूर्ण मिला दूध सिद्ध कर पान करानेसे पित्तवातज शोथ शमन होता है ।

(११) पित्तप्रधान शोथ पर सरल प्रयोग—

(अ) परवल, त्रिफला, नीमकी अन्तरछाल और दारुहल्दी, इन ६ ओषधियोंको समभाग मिलाकर २-२ तोलेका क्वाथ करें । फिर छानकर १-१ माशे शहद-गूगल मिलाकर पिलाते रहनेसे रुषा और ज्वर सह पैत्तिक शोथ निवृत्त हो जाता है ।

(आ) बेलपत्रोंका स्वरस १ से २ तोले तक काली मिर्चका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे बद्धकोष्ठ, अर्श, अपचन, और कामला सह शोथ रोग नष्ट होता है ।

(१२) कफात्मक शोथ पर—चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड के पृष्ठ ५६६ में लिखे हुए त्रिकण्टकादि क्षीर और पुनर्नवादि काथ हितकर ओषधियाँ हैं । इस प्रकारके शोथमें मूत्रपिण्ड अपना कार्य यथोचित नहीं कर सकता । इस हेतुसे तीव्र मूत्रल ओषधि नहीं दी जाती; और मात्रा अधिक नहीं देनी चाहिए । शिलाजीत मिला देनेमें हानि नहीं होती; बल्कि लाभ ही पहुँचता है ।

(१३) पटोलमूलादि कषाय—परवलके मूल, देवदारु, दन्तीमूल, त्रायमाण, पीपल, हरड़, इन्द्रायण, मुलहठी, कुटकी, लाल चन्दन, निचुल (समुद्रशोषके बीज) और दारुहल्दी, इन १२ ओषधियोंको सम भाग मिलाकर जौकुट चूर्ण करें । फिर दो तोले चूर्णको १६ गुने जलमें मिलाकर चतुर्थांश काथ करें । पश्चात् छान दो तोले गोघृत मिलाकर प्रातःकालको पिलाते रहने से विसर्प, दाह, ज्वर, सन्निपात, तृषा, विष और शोथ की निवृत्ति होती है ।

(१४) मन्लातकारिष्ट—मिलावा, चित्रकमूल, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), बायविडंग और बड़ी कटेलीके फल, ये सब ६४-६४ तोले लेवें । फिर इनको कूट २०४८ तोले काँजीमें मिलाकर गोबरीकी अग्नि पर चतुर्थांश काँजीको जलावें । तीन भाग काँजी शेष रहने पर उतार छानकर दहीका जल २०४८ तोले और ४०० तोले मिश्री मिलावें । पश्चात् एक दृढ़ बड़े (अमृत-बान) के भीतर चित्रकमूल और पीपलके कल्कका लेप कर इस मिश्रणको भर दें । मुख बन्द कर किसी कमरेमें १० दिन तक

रख दें। बादमें २॥ से ५ तोले तक दिनमें २ बार देते रहनेसे शोथ, उदर रोग, अर्श, भगंदर, ग्रहणी, कृमि रोग, कुष्ठ, प्रमेह, कृशता और हिक्का रोग सत्वर दूर होते हैं। यह वातप्रधान शोथ रोग पर हितावह है।

(१५) पुनर्नवाधरिष्ट—श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, बला (खरैटी), अतिबला (कंगई), पाठा, दन्तीमूल, गिलोय, चित्रकमूल, छोटी कटेली, ये ६ ओषधियाँ १२-१२ तोले लेकर ८१६२ तोले जलमें मिलाकर चतुर्थांश काथ करें। फिर छान शीतल होनेपर ८०० तोले पुराना गुड़ और १२८ तोले शहद मिलाकर चिकने घड़े (अमृत बान) में भरें। मुख बन्द कर एक मास तक जौके मीतर दबा दें। पक जाने पर निकाल ऊपर के साफ नितरें भागमें तेजपात, दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने, काली मिर्च, नेत्रवाला और नागकेशर, सबका चूर्ण २-२ तोले ढालकर पुनः अमृतबान या बोतलोंमें भर लें। फिर इस अरिष्ट को २॥-२॥ तोले (या अधिक मात्रामें) भोजन जीर्ण होनेपर दिनमें दो बार पिलाते रहनेसे हृद्रोग, पाण्डु, प्रवृद्ध शोथ, सीहा-वृद्धि, भ्रम, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, भगंदर, ६ प्रकारके उदर रोग (छिद्रोदर, जलोदर और शल्ल साध्यको छोड़ कर शेष उदर रोग), कास, श्वास, ग्रहणी, कुष्ठ, कण्डू, शाखागत वात, कोष्ठ-बद्धता, हिक्का, किलास (शिवत्र) और हलीमक आदि रोगोंका शमन होता है, तथा वर्ण, बल, तेज और ओजकी वृद्धि होती है। भोजनमें मांस रस या दूधके साथ पुराना शालि चावल देना चाहिये।

(१६) चित्रकादि घृत—चित्रकमूल, धनिया, अजवायन, पाठा, अजमोद, सोठ, काली मिर्च, पीपल, अम्लबैत, बेलगिरी, अनारदाने, खवचार, पीपलामूल, और चव्य, इन १४ ओषधियों

को १-१ तोला मिलाकर कल्क करें । फिर कल्क, जल ५१२ तोले तथा घी ६४ तोलेको मिलाकर मन्दाम्नि पर यथाविधि पाक करें । इस घृतको आधसे दो तोले तक दिनमें २ बार देते रहनेसे अर्श, गुल्म और कष्टसाध्य शोथ नष्ट होते हैं; तथा अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(१७) **श्ववधुघातो रस**—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोह-भस्म, पीपल, निसोत, काली मिर्च, देवदारु, हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इन सबको समभाग लेवें । पहले पारद गन्धककी कज्जली करके लोह भस्म मिलावें । फिर काष्ठादि ओषधियोंका कपड़-छान चूर्ण मिला गोमूत्रके साथ खरलकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १ से २ गोली गोमूत्र या गोमूत्रके अर्कके साथ सेवन कराते रहनेसे सब प्रकारके शोथ रोग और उदररोग शमन हो जाते हैं ।

(१८) **रसतन्त्रसारमें लिखी हुई ओषधियाँ**—तक्रमण्डूर (२० ५४३), पुनर्नवा मण्डूर (२० ५४४), दुग्ध वटी (२० ४१२), ताप्यादि लोह (२० ४३७), त्रिफलारिष्ट (२० ७५५), अभयारिष्ट (२० ७६५), पुनर्नवादि चूर्ण (२० ६८७), लक्ष्मीविलास रस (२० ३७४ और ४५७—मर्कटके अर्कके साथ), आरोग्यवर्द्धिनी (२० ५३०) दूसरी विधि, पञ्चगव्य घृत (२० ८२७), कल्याण घृत (२० ८३२), मूलकादि तैल (२० ८४७), इच्छाभेदी रस (२० ३६६), ये सब हितावह ओषधियाँ हैं ।

तक्रमण्डूर पतले दस्त सह सर्वाङ्ग शोथ, यकृतप्लीहावृद्धि, पाण्डु और ग्रहणी विकार, सब को दूर करके सत्वर रोगी को बलवान् बनाता है । रोगी को केवल मट्ठे पर ही रखना चाहिए । जिनको मट्ठा अनु-कूल न हो उनको इस ओषधिका सेवन नहीं कराना चाहिए ।

पुनर्नवा मण्डूर अति बढ़े हुए सब प्रकारके शोथ अर्थात् हृदय, यकृत, प्लीहा, वृक् स्थान या रक्त निर्बलता आदि हेतुसे उत्पन्न शोथ को

पाण्डु, कामला, उदर रोग, ज्वर, संग्रहणी और अर्श आदि उपद्रवों सह निवृत्त करता है ।

दुग्ध वटी संग्रहणी पाण्डु और ज्वर सह सर्वाङ्गशोथ, हृदय, यकृत, प्लीहा या वृक्कविकारजन्य शोथ, सबको दूर करती है । जिन रोगियों को दूध अनुकूल रहता है, उनके लिये यह अमृतसदृश लाभदायक है । रोगीको केवल दूध पर रखना चाहिए ।

ताप्यादि लोह नया वातज और कफज शोथ, रक्त की निर्बलता, प्लीहावृद्धि और वृक्कप्रदाहसे उत्पन्न शोथमें लाभदायक है ।

त्रिफलारिष्ट हृदय या रक्त की निर्बलतासे उत्पन्न शोथको अग्निमान्द्य, अर्श और पाण्डु सह दूर करता है ।

अभयारिष्ट अर्श, संग्रहणी और उदरविकारसह शोथ पर हितावह है ।

पुनर्नवादि चूर्ण सब प्रकार के नूतन शोथ रोगमें मूत्र द्वारा विषको निकाल कर सत्वर लाभ पहुँचाता है । दूसरी विधिवाला पुनर्नवादि चूर्ण मूत्र द्वारा एव मल द्वारा भी द्रव को निकालता है ।

लक्ष्मीविलास रस अम्रकयुक्त हृदयविकृतिजन्य नये सर्वाङ्ग शोथ को और सुवर्ण युक्त लक्ष्मी विलास पाण्डु, कामला, क्षय, हृदयविकृति और यकृत की निर्बलता सह सर्वाङ्ग शोथको दूर करता है । ये दोनों रसायनोंमें हृदय पौष्टिक गुण होनेसे मूत्रल अनुपानके साथ देने पर मूत्र-द्वारा रक्तस्को बाहर निकाल कर शोथको शमन करते हैं । एवं शनैः शनैः शोथके कारण रूप हृदयकी निर्बलता को भी दूर करते हैं ।

आरोग्यवर्धिनी दूसरी विधि मूत्रपिण्डकी विकृतिसे उत्पन्न जलोदर और सर्वाङ्ग शोथ को दूर करनेमें अति हितकर है । तरलको विशेषतः मलद्वारा निकलती है; तथा वृक्कशोथको शमन कर जलोदर और सर्वाङ्ग शोथको नष्ट करती है ।

पंचगव्य घृत और कल्याण घृत भोजनके साथ या प्रातःकाल देते रहना, यह वातज शोथमें विशेष हितकर है ।

मूलाकादि तैल की मालिश करनेसे शोथ सत्वर कम हो जाता है ।

इच्छाभेदीरस उदरशोधनार्थ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त जलोदर रोगमें कही हुई ओषधियां भी शोथ रोग पर हितकर मानी गई हैं। वर्णन पृष्ठ ३०१ से ३१८ तक किया है।

(१३) शैलेयादि तैल—शैलेय (छारछरीला-पत्थर फूल) कुष्ठ, अगर, देवदारु, कौन्ती (निगुण्डीके बीज), दालचीनी, पद्माश्व, छोटी इलायचीके दाने, नेत्रवाला, पलाशबीज (टीका-कारोंके मतमें कचूर), नागरमोथा, प्रियंगु, गठिवन, नागकेशर, जटामांसी, तालीसपत्र, प्लव (जुद्र मोथा), तेजपात, धनिया, गन्धाबिरोजा, ध्यामाक (गन्धतृण), पीपल, स्पृक्षा (अभावमें मालती पुष्प) और नखी, इन २४ ओषधियोंमेंसे जो-जो मिल सके, वे सब समभाग मिलाकर ३२ तोले कल्क करें। फिर कल्क, तिल तैल १२८ तोले और ५१२ तोले जल मिलाकर यथा-विधि तैल को सिद्ध करें। इस तैलकी मालिश करनेसे वात-प्रधान शोथ सत्त्वर कम होने लगता है। इस तैलकी शुष्क ओषधियोंके कपड़छान चूर्णको जलके साथ पीस निवायाकर शोथ स्थानपर लेप भी किया जाता है।

(२०) वातिक शोथपर स्वेदन, स्नान और अनुलेपन—रोगीको पहले शैलेयादि तैलकी मालिश करें, वासा, आक, करंज, सुहिंजना, गम्भारी और वनतुलसी, सबके पत्तोंको जलमें मिलाकर उबालें। फिर जलको छान निवात स्थानमें टब या बड़ी कड़ाईमें भरकर (सहन हो सके ऐसे जलमें) रोगीको बैठावें। जल कण्ठ तक रहना चाहिए। पसीना आ जानेके पश्चात् सूर्यकिरणों से तपाये हुए जलसे स्नान करावें। पश्चात् अगरादि सुगन्धि वाले पदार्थों का अनुलेपन करें।

(२१) वेतसादि तैल—बैत, वट, पीपल, गूलर और प्लव की छाल, मजीठ, कमलकी नाल, सफेद चन्दन, पद्माश्व, नेत्र-

वाला, सबको समभाग मिला पीसकर ३२ तोले कल्क करें । फिर कल्क, १२८ तोले तिल तैल और ५१२ तोले जल मिलाकर मन्दाग्निपर यथाविधि पाक करें । इस तैलका पित्तात्मक शोथ-पर मर्दन करनेसे शोथ सरलतासे कम होने लगता है । एवं इन ओषधियोंके कल्कका लेप करनेसे भी शोथ शमन हो जाता है ।

(२२) पैंतिक शोथपर स्वेदन, स्नान और अनुलेपन—

रोगीको पहले वेतसादि तैलकी मालिश करावें । फिर बट, पीपल, गूलर, प्लक्ष, और वेतस, इन चार वृक्षों की छाल मिलाकर उबाले हुए जलमें या दूधमिश्रित जलमें बैठाना चाहिए; तथा चन्दन, खस, और पद्माख मिलाकर सूर्यके तापसे तपाये हुए जलसे स्थान कराना चाहिए । पश्चात् श्वेत चन्दनको जलसे घिस शोथ-स्थान पर लेप करना चाहिए ।

(२३) श्लैष्मिक शोथपर लेप, स्नान और अनुलेपन—

कफात्मक शोथपर पीपल, बालू, पुराना तिलकल्क, सुहिंजनेकी छाल और अलसी, सबको गोमूत्रके साथ पीस निवायाकर शोथ स्थानपर लेप करना चाहिए । फिर कुलथी और सोंठको गोमूत्रमें मिला, सूर्यके तापसे तपाये हुए जलमें डाल कर; अथवा कुलथी और सोंठको गोमूत्रमें ही मिला सूर्यके तापमें तपाकर स्नान या परिषेचन करना चाहिए । पश्चात् चण्डा (चोरक) और अगरको जलमें घिसकर अनुलेपन करना चाहिए ।

(२४) सब प्रकारके शोथ पर लेप—

(अ) सब प्रकारके शोथोंमें दाह और पीड़ा होती हो, तो बहेड़ेके फलकी गिरीको जलके साथ पीसकर लेप करनेसे दाह और वेदना शमन होते हैं ।

(आ) रास्ना, अड्डसाके पत्ते, आकके पत्ते, हरड़, बहेड़ा, आंवला, बायबिडङ्ग, सुहिंजनेकी छाल, मूषाकर्णी, नीमके पत्ते,

बनतुलसीके पत्ते, व्याघ्रनख, दूब, सुवर्चला (हुलहुल), कुटकी मकोय, बड़ी कटेली, कूठ, पुनर्नवा, चित्रकमूल और सोंठ, इन २१ ओषधियोंको गोमूत्रमें पीस कर शोथ पर दिनमें दो बार मर्दन करना चाहिए ।

(इ) मूलीके रस या काथका परिषेचन करनेसे शोथ शमन हो जाता है ।

(ई) पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, सरसों और सुहिंजनेकी छाल को कांजीमें पीसकर लेप करनेसे सब प्रकारके शोथोंका विनाश हो जाता है ।

(व) शोथहर गुटिका—छोटी हरड़ १ सेर, आंवला ४० तोले, सोरा २० तोले और नीलाथोथा १० तोले लेवें । हरड़ और आंवलेको कूटकर कपड़छान चूर्ण करें । फिर सोरेका कपड़छान चूर्ण मिलावें । पश्चात् नीलेथोथेके चूर्णको १५ तोले जलमें मिला चूर्णके साथ मिश्रित कर एक गोला बाँध लेवें । इसे १ दिन रहने दें । दूसरे दिन गोलेको अच्छी तरह कूटकर गोलियां बना लेवें । इसे जलमें घिसकर लेप करनेसे साँधाओंकी पीड़ा, चोट लगनेसे उत्पन्न शोथ, जन्तुओंके काटनेसे आया हुआ शोथ और शारीरिक विकृतिसे उत्पन्न शोथ, सब दूर हो जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त यह गुटिका क्षत पर लगाई जाती है । चक्षु-पाक होने पर नेत्रके चारों ओर लगाई जाती है । एवं कानमें शूल चलने पर और कानके मूलमें सूजन आने पर इस गुटिकाका लेप करनेसे तत्काल अपना प्रभाव दर्शाती है ।

सूचना—बनानेके समय जल अधिक होजाने पर गोखियां शिथिल बनती हैं । जल्दी घिस जाती हैं; और लाभ पूरा नहीं पहुँचा सकतीं । अतः जितना जल चाहिये उतना मिलाने पर गोली कठोर बनती है; जल्दी नहीं घिसती; तथा तत्काल अपना प्रभाव दर्शाती है ।

(२५) भल्लातक तैलज शोथ—(१) यदि भिलावाके तैलके स्पर्शसे शोथ आया हो, तो तिल और काली मिट्टी या केवल तिलको मक्खन या दूधके साथ पीसकर लेप करना चाहिये ।

(२) मुलहठी और तिलको मक्खनमें पीसकर लेप करनेसे भिलावेसे उत्पन्न शोथ नष्ट हो जाता है ।

(३) नारियलका तैल या मालकांगनीका तैल लगानेसे शोथ की निवृत्ति हो जाती है ।

(२६) थूहरके दूधसे उत्पन्न शोथ पर घी लगानेसे शोथ और दाह दूर होते हैं ।

(२७) अभिघातज शोथ पर (१) रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ अस्थिसंधानक लेप (२० ६६६) लगानेसे मांस फट जाना, हड्डी पर चोट आ जाना, हड्डी मुड़ जाना, हड्डी टूट जाना आदि सब दोष दूर होकर सूजन थोड़े ही समयमें शान्त हो जाती है ।

(२) गेहूँके आटेको तिल या सरसोंके तैलका मौए दें, थोड़ा हल्दी और सज्जीखार डाल, जल मिलाकर पतले दही समान घोल करें । परचात् गरम कर गाढ़ा होने पर उतार लें । फिर चोट स्थान पर लेप करनेसे वेदना दूर हो जाती है; तथा जमा हुआ रक्त फैल जाता है ।

(३) सामान्य चोट होने पर सत्यानाशीके रसमें हल्दी और नमक मिला गरमकर लेप कर देनेसे शोथ दूर हो जाता है ।

(४) सत्यानाशी या पुनर्नवाके मूलको घिसकर लेप करनेसे शोथ उतर जाता है ।

(५) निम्बपत्रके काथसे घाव धोकर तैलकी पट्टी लगा देने से सूजन, रक्तस्राव, मांस पीस जाना, दर्द होना, पूय हो जाना आदि विकृति दूर हो जाती है ।

(६) शोधनाशक अर्क अथवा टिक्चर आयोडीन लगानेसे शोथ दूर हो जाता है । मांस पर चोट आनेसे दर्द होता हो, तो

टिक्चर आयोडीन लगाकर ग्लिसरीन मिला हुआ एकसट्रैक्ट बेलेडोना लगा रुई चिपका कर पट्टी बाँधनेसे शोथकी निवृत्ति होजाती है ।

(७) यदि रक्तस्राव होता हो, तो कार्बोलिक लोशनसे धोकर टिक्चर बेन्जोइनका फोहा रख देनेसे रक्तस्राव बन्द होजाता है । रक्त बन्द होजाने पर आयडोफार्म भरकर पट्टी बांध दें । आवश्यकता पर बोरिक एसिडके मलहमकी पट्टी भी लगाई जाती है ।

डाक्टर की चिकित्सा ।

शोथ रोगकी डाक्टर की चिकित्सा जल्बोदर रोगमें पहले लिखदी है । जल्बोदर और शोथ, दोनोंकी चिकित्सा समान मानी गई है ।

सार्वज्ञिक घन शोथ और देहकी अपूर्ण वृद्धि (Cretinism) रोगमें ग्रैवेयग्रन्थिका सत्व (एकसट्रैक्ट थाइरोडिन—Ext. Thyrodin) विशेष लाभदायक माना जाता है । २-२ ग्रैनकी १-१ गोली दिनमें ३ बार देते रहना चाहिए । सामान्य रीतिले मात्रा १॥ से ४॥ ग्रैन तक है । सहन हो सके और आवश्यकता हो, तो मात्रा बढ़ा दें । जब हृत्स्पंदन वृद्धि होकर व्याकुलता, मुख पर लाली, उबाक, मांसपेशियोंमें आन्धेप, निद्रानाश आदि लक्षण प्रकाशित होजायँ ; तब मात्रा कम कर देनी चाहिए । फिर इस ओषधिका सेवन कम मात्रामें आवश्यकता अनुसार जीवनपर्यन्त कराया जाता है । इस तरह इसके सत्वका इन्जेक्शन कंधे-ग्रंथप्रदेशके भीतर सप्ताहमें एक बार करनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है ।

थाइरोडियम सिक्कम (Thyroideum Siccum) अर्थात् मेघ के ग्रैवेय ग्रन्थिके शुष्क चूर्णका सेवन करावें । प्रारम्भमें कुछ दिनों तक २-२ ग्रैन दोबार दें । फिर वजनका निर्णय करें । वजन कम हो जाय, तो ओषधिकी अधिक मात्राकी आवश्यकता नहीं रहेगी । रोगबल घट जाने पर बुधावृद्धि, शारीरिक उत्तापवृद्धि, देहके वजनका हास, मुख-

विकृति और मस्तिष्क विकृतिका शमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । इस अवस्था को कायम रखनेके लिये आजीवन सप्ताहमें एक, दो या अधिक बार ओषधि सेवन करते रहना चाहिए । यदि किसीको कम मात्रासे लाभ न पहुँचे, तो मात्रा बढ़ा देनी चाहिए, और दीर्घकाल तक दिनमें ३ बार सेवन कराना चाहिये ।

मेषका वध होने पर तुरन्त ग्रैवेयग्रन्थिको निकाल ऊपरसे चर्बी और संयोजक तन्तुओं को हटा देना चाहिए । फिर काटकर देखें । भीतर रसावृद्ध (Cyst) तो नहीं है ? यदि रसावृद्ध है या इतर कुछ भी विकार है, तो उसे त्याग देना चाहिए । बिल्कुल स्वस्थ ग्रन्थिको चूर्ण कर ६० से १०० फाइरनहीट (३२ से ३७ सेन्टीग्रेड) उष्णता पर रखकर सुखा लें । फिर बारीक चूर्ण करलेवें । साथमें रही हुई चर्बीको पेट्रोलियम स्पिरिट द्वारा दूर करना चाहिए । शेष भागको पुनः सुखा लेना चाहिए । इस चूर्णमें सामान्य मांसके स्वाद और गंध होते हैं । चूर्णका रंग पिङ्गल-सा होता है; तथा वायुमें रखने पर आर्द्र होकर बिगड़ जाता है । इसकी मात्रा ३ से १० ग्रोन तक है ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—पुराना जौ, पुराना शालिचावल, कुलथीका यूप, पीपल मिला हुआ मूँगका यूप, सोंठ, काली मिर्च और पीपल, तथा विष्कर जीव, जंगलके जीव, कछुआ, गोह, मोर, और शल्लक (सेह), इन सबका मांसरस जवाखार मित्रा हुआ हितकर है । रोगीको शाक खानेकी इच्छा हो, तो सुवर्चिका (हुलहुल), गृज्जनक (गाजर), परवल, मकोयके पान, मूली, बैतका अग्र-भाग और नीमके पत्तेका शाक देना चाहिए । यदि रोगी अन्न-जलका त्याग कर एक सप्ताहसे एक मास तक केवल ऊँटनीके दूध पर ही रह जाय, तो जलोदर सह शोथ नष्ट हो जाता है; अथवा गाय या भैंसके दूधके साथ गोमूत्र मिलाकर पिलाते

रहनेसे शोथ रोग शमन हो जाता है; या रोगी केवल गो दुग्ध पर ही रह जाय, तो भी शोथ रोग निवृत्त हो जाता है ।

रोगीको निम्बपत्र, पुनर्नवा और अम्लतासकी फलीके काथ या रससे स्नान कराना लाभदायक माना जाता है ।

रोगीको निवाये जलसे स्नान कराना चाहिए, या टबमें गरम जल भर कर आध-आध घण्टे तक प्रतिदिन सुबह निर्वात स्थान में बैठाना चाहिए । रोगीका शीतल वायु और शीतल जलसे रक्षण करना चाहिए । गरम वस्त्र धारण करावें । भोजनमें अण्डे का सेवन हितकर है ।

जीवन्त्यादि यवागू—चावलोंको ६ गुने जलमें सिद्ध कर यवागू बना लेवें । फिर जीवन्ती, जीरा, कचूर, पुष्करमूल, काला जीरा, चित्रकमूल, बेलगिरी, यवक्षार, इन ८ ओषधियोंको ६-६ माशे मिलावें । वृक्षाम्ल (कोकम या डाँसरिया) मिलाकर थोड़ी खट्टी कर लेवें । यह यवागू अर्श, अतिसार, वातगुल्म, शोथ, हृद्रोग और मन्दाग्निमें हितकर है ।

अथवा लघुपञ्चमूलके काथमें चावलोंकी सिद्ध की हुई यवागू पिलाई जाती है ।

अथवा दशमूल काथमें पुराना जौ या शालि चावलका आटा मिला यवागू बनाकर देते रहना चाहिए । सैंधा नमक और घी बहुत थोड़े परिमाणमें देवें ।

भैषज्यरत्नावलीकारने लिखा है कि, शोथ रोगीके दोषोंका शोधन करने वाली ओषधियाँ, लङ्घन, रक्तमोक्षण, स्वेदन, शरीर पर ओषधियोंका लेप और सिंचन क्रिया, पुराने शालि चावल, जौ, कुलथी और मूँग आदि अन्न, गोह, सेई, मोर, तोतर, मुर्गा, लवा एवं जङ्गली जीवों और विष्कर जातिके जीवों का मांस, कछुएका मांस, शृङ्गीमत्स्य, पुराना घी, मट्ठा, शराब, शहद, आसव, अरिष्ट, सेमकी फली, करेला, लाल सुहिंजना,

आम, ककोड़ा, मानकन्दकी मूल, हुलहुलके पत्ते, गाजर, परबल, बैतका अग्रभाग, बैंगन, मूलीके पत्ते, पुनर्नवा, चित्रकमूल, फरहद, अरणी, नीमके पत्ते, तालमखानेके पत्ते, एरंड तैल, कुटकी, हल्दी, हरड़, खार वाले द्रव्य, भिलावा, गुग्गल, अगर तथा कड़वे, चरपरे और पाचक पदार्थ, गौ, बकरी और भेंसका मूत्र, कस्तूरी, शिलाजोत और पाण्डु रोगाधिकारमें कही हुई अग्निप्रदीपक क्रियाएँ, ये सब हितकर हैं। इनका दोषानुसार विचार-पूर्वक सेवन करानेसे शोथ रोग शमन होजाता है।

अपथ्य—इस शोथ रोगमें ग्राम्य, जलचर और आनूप जीवोंका मांस, समुद्रनमक, सांभर नमक, खारी मिट्टीमेंसे निकाला हुआ नमक, सूखे शाक, नया अन्न (जिस अनाजको एक वर्ष न हुआ हो वह), गुड़के बने हुए पदार्थ, पिट्टीके पदार्थ, दही, तिलके बने पदार्थ, सूखे मांस, पथ्य और अपथ्य मिश्रित भोजन, गुरु भोजन, असात्म्य भोजन, विदाही वस्तु, दिनमें शयन और मैथुन आदि शोथ रोगीको त्याग देना चाहिये।

शोथ रोगमें हो सके, तब तक सम्पूर्ण प्रकारके नमक, तैल और मिर्च का त्याग कर देना चाहिए। यदि नमकका पूर्णांशमें त्याग न हो सके तो स्वल्प मात्रा में सैन्धा नमक देना चाहिए।

भैषज्यरत्नावलीमें लिखा है, कि दूषित वायुका सेवन, दूषित जलपान, मल-मूत्र आदिके वेगोंको धारण, सब प्रकारके विरुद्ध पानीय द्रव्य, विषम भोजन, मृत्तिका भक्षण, ग्रामोमे रहनेवाले और अनूपदेशके जीवोंका मांस, नमक, सूखे शाक, नया अन्न, गुड़की बनी हुई मिठाई, पिट्टीमेंसे बने हुए पदार्थ, खिचड़ीके साथ दही, बिना जल मिली मदिरा, खट्टे पदार्थ, खील, शुष्क मांस, भारी, अहितकारी और विदाही पदार्थोंका सेवन, रात्रिमें जागरण और स्त्रीसमागम, आदि शोथरोगीको त्याग देने चाहिए।

रक्तरचना विकृति प्रकरण ।

Diseases of the Blood

रक्तकी व्याधियोंके सम्बन्धमें जाननेके पहिले रक्तकी स्वाभाविक अवस्था और अस्वाभाविक अवस्थामें परिवर्तनको जाननेकी आवश्यकता है । व्याधिग्रस्त अवस्थामें रक्तके स्वाभाविक परिमाणकी विलक्षणता, उपादानके हास-वृद्धि, द्रवीभूत पदार्थोंके परिवर्तन और अस्वाभाविक पदार्थोंका अस्तित्व, ये सब लक्षित होते हैं ।

स्वस्थावस्थामें बहुधा देहकी रचना करने वाले संयोजक तन्तुओं (Tissues) के परिमाण और उपादान एक रूप होते हैं । फिर विविध संस्थाओंमें रही हुई स्वाभाविक जीवनीय शक्ति द्वारा प्रयोजनीय पदार्थोंका समीकरण, अप्रयोजनीय पदार्थोंका दूरीकरण तथा अप्रकृत पदार्थ रक्तमें प्रविष्ट होने पर उसे बाहर फेंक देना या नाश करना, ये सब कार्य नियमबद्ध होते रहते हैं ।

रक्तकी स्वाभाविक अवस्थाका संरक्षण करनेके लिये अनेक यन्त्रोंमें सावधानतापूर्वक अहोरात्र सतत क्रिया वर्तमान रहती है । फिर भी किसी सबल हेतु द्वारा जब व्याधिकी सम्प्राप्ति हो जाती है; तब रक्तका स्वाभाविक सामञ्जस्य नष्ट हो जाता है; तथा इसकी भौतिक अवस्था और रासायनिक उपादानमें विलक्षणता आ जाती है ।

प्राणिमात्रके जीवनका सच्चा आधार रक्त है । इस रक्तमें शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार हैं । शुद्ध रक्त चिरमीके सदृश रक्त वर्णका है; और अशुद्ध रक्तका रंग बैजनी होता है । इस रक्तकी उत्पत्ति रसमें रंजकपित्त मिलने पर होती है । अतः इस रसका वर्णन करनेके पश्चात् रक्तका विवेचन करेंगे । इस रसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि—

**पाञ्चभौतिकस्य...आहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्ते-
जोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते ॥**

पाञ्चभौतिक आहारका भलीभाँति पचन होकर जो तेज स्वरूप परम सूक्ष्म सार भाग बनता है, वह रस कहलाता है ।

मनुष्य जो भोजन करते हैं, उस पर आमाशय और अन्नमें पचन क्रिया होती है । जिससे उसका रूगान्तर होकर पतला प्रवाही पदार्थ बन जाता है । फिर इस प्रवाहीमें से शोषण करने योग्य अंश अन्नमार्गकी चारों ओर रही हुई सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा शोषित होकर यकृत और प्लीहाकी ओर जाता है, और शोषित न होने योग्य या अधिक होनेसे रहा हुआ भाग मलरूप बनकर आत, मूत्रपिण्ड और त्वचा द्वारा बाहर निकल जाता है । इनमें जो उपयोगी प्रवाही पदार्थ है, उसे रस (Watery essence of food) कहते हैं । यह रस पदार्थ है । यहाँ पर रसका अर्थ स्वाद (Taste) नहीं है । भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

**स खन्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्यरागमुपैति,
रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अध्यापन्ना असक्तेन रक्कमित्यभिधीयते ॥**

आहारके साररूप यह रस यकृत और प्लीहाको प्राप्त होकर राग (लाल रंग) को प्राप्त होता है । प्राणियोंकी देहमें अवस्थित परिवर्तन कराने वाले तेज (रजक पित्त) से रंगा हुआ जो स्वच्छ रस है, वही रक्त कहलाता है ।

आहारके सत्वरूप रसमें दो प्रकार हैं । सौम्य और आग्नेय रस ।

सौम्यरस—(काइल—Chyle) दूध आदि सौम्य पदार्थोंमें से पचन होकर जो रस बनता है, वह सौम्य रस कहलाता है । यह रस आतोंमेंसे सूक्ष्म-सूक्ष्म रसायनियों द्वारा रसप्रण (Cisterna

Chyle), वामरसकुल्या (Thoracic duct), गलमूलिका शिरा और उत्तरा महाशिरामें क्रमशः प्रवेश कर शैरिक रक्तमें मिल जाता है ।

आग्नेयरस—मांस आदि आग्नेय पदार्थों (Nitrogenous and Carbohydrates) में से जो रस तैयार होता है, उसे आग्नेयरस कहते हैं । यह रस आमाशय और आंतोंकी चारों ओर रही हुई सूक्ष्म शिराओं द्वारा शोषण हो, प्लीहा आदि अवयवोंमें से वापस लौट, रक्तके साथ मिलकर प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृतमें जाता है । वहाँ पर उसमें रंजकपित्त मिल जाता है; और कितनेक प्रकारके विष पृथक् हो जाते हैं । फिर याकृती शिरा द्वारा यह रक्त अधरा महाशिरामें जाता है । वहाँसे हृदयमें प्रवेश करता है ।

रक्त—रक्तमें शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार हैं । यह कुछ चिकना है । वजनमें जलकी अपेक्षा कुछ भारी है । इसका आपेक्षिक गुरुत्व १.०५५ है; अर्थात् १ घड़ेमें जल १००० तोले रहता है; तो उस घड़ेमें रक्त १०५५ तोले रह सकता है । स्वाद कुछ नमकीन-सा है । इसमें एक विशिष्ट प्रकारकी गन्ध है । सामान्य रीतिसे उष्णता लगभग १००° अंश (Fahrenheit) जितनी रहती है । रासायनिक गुण किञ्चित् अम्ल विरोधी है । रक्तमें यदि अम्लता बढ़ जाय; तो वह रोग उत्पन्न होनेका चिह्न समझा जाता है ।

देहमें रहे हुए रक्तका परिमाण देहके वजनसे लगभग १६ वां या २० वां भाग जितना है; अर्थात् १॥ मन वजनवाले मनुष्यके शरीरमें रक्त लगभग ३-३॥ सेर रहता है । इस रक्तके निम्नानुसार ५ कार्य हैं ।

१—कोषोंको पोषक पदार्थ और प्राणवायु (ऑक्सिजन Oxygen) देना, और कोषोंसे मल और आंगारिकवायु (Carbon dioxide gas) को बाहर निकालना ।

२—पृथक् पृथक् अन्तःस्त्रावों (Internal secretion) जो नली-रहित ग्रन्थियोंमेंसे निकलता है । जो ग्रन्थियां देहमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर रही हैं । उन सबका रस रक्तमें मिलकर अलग-अलग

भागोपर असर पहुँचाता रहता है । जैसे वृषणके अन्तःस्त्रावसे मूँछ और दाढ़ीके बालोंकी उत्पत्ति होती है ।

३—देहकी उष्णताको मर्यादामें रखना ।

४—देहके प्रवाही तत्त्वको सम परिमाणमें रखना ।

५—विजातीय द्रव्य अथवा बाहरके रोग, कीटाणु और विषके साथ युद्ध करके देह का संरक्षण करना ।

रक्तमें द्रव और घन, ऐसे दो विभाग हैं । द्रव भागको रक्तजल (प्लाज्मा-Plasma) कहते हैं । घन भागमें ३ प्रकारके पदार्थ हैं । रक्तकण, श्वेतकण और सूक्ष्म चक्रिकाएँ ।

रक्तकण—Red Cells or Red-blood Corpuscles—इन रक्तकणोंकी आकृति गोल और दोनों ओरसे कुछ पिचकी हुई होती है; अर्थात् लगभग टेब्लोइड या सूखे अंजीरके सदृश भासती है । एक रक्तकणका व्यास लगभग .००७७ मिलीमीटर ($\frac{1}{12800}$ इञ्च) होता है; तथा इसकी मोटाई $\frac{1}{16000}$ इञ्च लगभग होती है । यदि १० अरब रक्ताणुओं का वजन किया जाय; तो लगभग १ माशा होता है । सामान्यतः हिमोसाइटोमीटर (Haemocytometer) द्वारा परीक्षा करनेपर १ क्युबिक मिलीमीटर ($\frac{1}{1732}$ घन इञ्च) में स्वस्थ पुरुषके भीतर ५० लक्ष और स्त्री शरीरमें ४५ लक्ष रक्तकण रहते हैं । १ घन इञ्च रक्तमें ८१ अरब ६० करोड़ रक्ताणु होते हैं । इस हिसाबसे सामान्यतः इस मानवदेहमें लगभग १॥ पद्म लालकण होते हैं ।

एक क्युबिक सेन्टीमीटर (Cubic Centimeter) में १६ बूँदे रहती हैं । इस हिसाबसे १ क्युबिक मिलीमीटरमें $\frac{1}{16}$ बूँद रहती है । जब इस $\frac{1}{16}$ बूँदमें ५० लक्ष रक्तकण रह जाते हैं; तब ये रक्तकण कितने सूक्ष्म होंगे, यह पाठक सहज सोच सकेंगे । ये रक्तकण पृथक्-पृथक् होनेपर पीलेसे भासते हैं; परन्तु अनेक रक्ताणु साथमें रहनेपर लाल प्रतीत होते हैं ।

श्वेतकण अति मृदु होनेसे दबने या मुड़नेपर भी पुनः अपनी मूल

आकृतिको प्राप्त होजाते हैं इस गुणके हेतुसे सूक्ष्म सूक्ष्म केशवाहिनियोंके भीतरमेंसे भी ये आवागमन करते रहते हैं। इन रक्ताणुओंमें कितनेक पक्व रक्ताणु हैं। एवं कितनेक नव्य अपक्व रक्ताणु भी रहते हैं। ये नव्य अपक्व रक्ताणु (Alimentary Granulose) क्षुद्र, वर्णहीन और बहुधा कोणविशिष्ट होते हैं। इसका व्यास $\frac{1}{1000}$ से $\frac{1}{500}$ इञ्च तक होता है। इन रक्ताणुओंके साथ जीवकेन्द्र और कुछ अंशमें चर्बी भी रहती है। ये कण मज्जामें बनते हैं। जब ये कण पक्व होते हैं; तब जीवकेन्द्र और चर्बी नष्ट हो जाते हैं।

रक्त-रंजक—(Haemoglobin) परिपक्व रक्ताणुओंके भीतर रक्त-रंजक द्रव्य रहा है। यही द्रव्य इनके लोहित वर्णका कारण है। यह रक्ताणुओंकी मुख्य विशेषता है। हिमोग्लोबिनोमीटर (Haemoglobinometer) से परीक्षा करने पर विदित होता है कि, पुरुष देहके ३ औंस रक्तमें इस द्रव्यका परिमाण लगभग ४ ड्राम होता है; और स्त्री देहके उतने ही रक्तमें यह द्रव्य $\frac{3}{4}$ औंस अवस्थित है। यदि इस रक्त रंजक द्रव्यको गरम किया जाय; तो उसमेंसे मुख्य रंजक द्रव्य (Hematin) और एल्ब्युमिन वियुक्त हो जाता है। वस्त्र या काष्ठ पर रक्त लग जाने पर फिर उस पर सिरकाका स्वच्छ तेजाब (Acid acetic glacial) और स्वल्प मात्रामें सामान्य नमक लगानेसे धीरे-धीरे रक्त-पीत वर्ण (हीमेटिन) के क्षारके चतुष्कोण अणु बन जाते हैं। इनको स्वल्प ग्लिसरीनका संयोग करा फिर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाती है।

यह रक्त-रंजक फुफ्फुसोंमें प्राणवायुके साथ तत्काल मिश्रित हो जाता है; और फिर वह वापस सब कोषोंको दे दिया जाता है। इन दोनोंके संयोगसे रक्तका रंग लाल हो जाता है। फिर जब प्राणवायु दूषित हो जाती है; तब रक्तका रंग बैजनी बन जाता है।

रक्त-रंजक भिन्न-भिन्न रोगोंमें न्यूनाधिक हो जाता है। किसी रोगमें रक्त-रंजक रक्ताणुओंके भीतर अपेक्षाकृत बढ़ जाता है; एवं किसीमें न्यून

और किसीमें अतिन्यून हो जाता है। इस निर्णयके लिये रक्ताणुओमे रहे हुए रक्तरंजकके परिमाणको रक्ताणुसंख्याके परिमाणसे भाग किया जाता है। इस रीतिको रंग अनुपात (Colour index) कहते हैं। स्वस्थावस्थामें यह अनुपात १ प्रतिशत मान लिया जाता है। स्त्रियोंके हलीमक-पाण्डुरोग (Chlorosis) में आधा प्रतिशत हो जाता है; और इसके विरुद्ध मारक पाण्डु रोगमें १॥ प्रतिशत हो जाता है।

रक्तरंजक की न्यूनाधिकताके निर्णयार्थ रजकनिर्णायक यन्त्र (Haemochromometer) का उपयोग किया जाता है। इससे २० प्रतिशतसे लेकर शत प्रतिशत रक्तरंजकके रंगके भेदका निश्चय हो सकता है। इस यन्त्रमे छोटे-छोटे रंगीन पत्र लगे हैं। इनके साथ मिलान किया जाता है। मिलानके लिये एक शोषक पत्र पर रक्तबिन्दु डालते हैं; जिससे वह पत्र रंग जाता है। फिर यन्त्रस्थ पत्रोंसे मिलान करके निश्चय कर लिया जाता है। इस परीक्षाके लिये ग्लिसरिन जेली (Glycerine Jelly), कार्माइन (Carmine) तथा पाइक्रो-कार्माइन आफ एमोनिया (Picrocarmine of ammonia) का उपयोग किया जाता है।

सर्प विष या इतर विषका रक्तमें प्रवेश हो जाने पर रक्तकणोंका नाश होता है। तब रक्तरंजक उनसे पृथक् होकर रक्तवारिमे घुल जाता है। इसे रक्तकण विनाश (Haemolysis or Licking of blood) कहते हैं। यदि एक जातिके प्राणिके रक्तके रक्तकणोंको दूसरी विरोधी जातिके प्राणिके रक्तमें प्रवेश करा दिया जाय, तो रक्तकण स्वविरोधी पदार्थकी उत्पत्ति कर देते हैं। जिससे अनेक रक्तकणोंका विनाश हो जाता है।

निरोगी मनुष्यके इन रक्तकणोंकी सख्यामें भी अनेक कारणोंसे न्यूनाधिकता होजाती है। जैसे समुद्रके किनारेसे ६००० फीट ऊंचाई वाले गिरिशिखर पर रहनेवालोंकी देहमें शुद्ध वायुसे रक्तकण और रक्त-वर्ण, दोनों बढ़ जाते हैं। रक्तकणोंमें प्रति घन मिलीमीटर २० लक्षकी

वृद्धि होजाती है; शीतकालमें रक्तकणोंकी वृद्धि होजाती है; इस तरह पौष्टिक आहार, मानसिक शान्ति, चिन्ताका अभाव, बलवर्धक अवस्था, स्त्रियोंमें मासिक धर्म नियमित आना, ब्रह्मचर्य का पालन इत्यादि कारणों से भी रक्तकणोंकी वृद्धि हो जाती है; तथा इनसे विपरीत परिस्थितिमें ह्रास होता है ।

स्वस्थावस्थामें स्तनधारी जीवों (मनुष्य, गौ, भेंस, हाथी, घोड़ा, बकरी आदि) के रक्ताणुओंमें जीवकेन्द्र (Nucleus) प्रतीत नहीं होता एवं मज्जाणु भी नहीं मिलते । वे दोनों रोगावस्थामें उत्पन्न होजाते हैं; एवं रोगके हेतुसे इन रक्ताणुओंकी अंतर्बाह्य आकृतिमें भी अन्तर पड़ जाता है । इस हेतुसे इनके दो विभाग होजाते हैं । जीवकेन्द्ररहित और जीवकेन्द्रसहित । दोनोंमें निम्नानुसार ४-४ प्रकार हैं ।

जीवकेन्द्ररहित रक्ताणु—

- (१) सूक्ष्म-माइक्रोसाइट्स—Microcytes ।
- (२) स्थूल-मेग्यालोसाइट्स—Megalocytes ।
- (३) अतिस्थूल-जायगांटोसाइट्स—Gigantocytes ।
- (४) अपूर्ण आकृति वाले—पॉइकिलोसाइट्स Poikilocytes ।

जीवकेन्द्र सहित रक्ताणु—

- (१) सामान्य-नॉर्मोब्लास्ट्स—Normoblasts ।
- (२) सूक्ष्म-माइक्रोब्लास्ट्स—Microblasts ।
- (३) स्थूल—मेग्यालोब्लास्ट्स—Megaloblasts ।
- (४) अतिस्थूल—जायगांटोब्लास्ट्स—Gigantoblasts ।

इनमेंसे पहले वर्गके स्थूल और अतिस्थूल जीवणु तथा दूसरे वर्गके सामान्य, सूक्ष्म और स्थूल, ये सब मारक और तीव्र पाण्डु रोग में प्रतीत होते हैं ।

रक्तकणोंकी विकृति पर रोगोंकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो पाण्डु रोग अपना अधिक ध्यान खींचता है । जब रक्तकणोंकी संख्या और रक्त-रंजककी मात्रा न्यून होती है; तब पाण्डु रोग हुआ, ऐसा कहा जाता है ।

अस्वस्थावस्थामें रक्तके भीतर मिलने वाले जीवाणु ।

मज्जाणु

- १ मध्यस्थ बृहद् मज्जाणु Neutrophil myelocyte
Large type
- २ मध्यस्थ क्षुद्र मज्जाणु Neutrophil myelocyte
Small type.
- ३ परिवर्तनशील मध्यस्थ मज्जाणु Transitional neutrophil.
- ४ अम्लरंगेच्छु मज्जाणु Eosinophil myelocyte.
- ५ स्थूलाकृति मज्जाणु Basophil myelocyte.

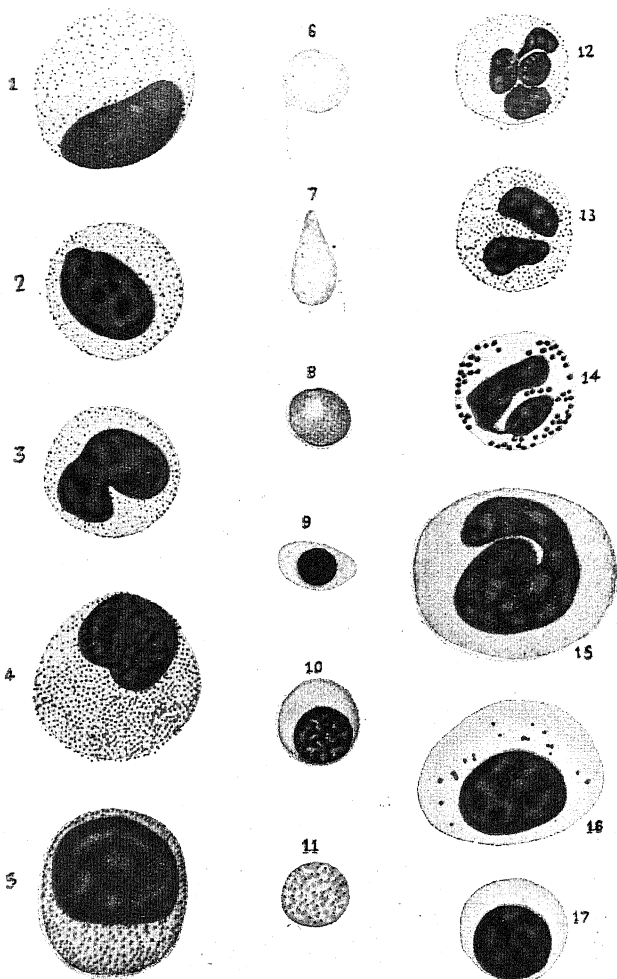
रक्ताणु

- ६ सामान्य रक्ताणु Normal red cell.
- ७ अपूर्ण आकृतिवाले जीवकेन्द्ररहित रक्ताणु Poikilocyte
- ८ विविध दागयुक्त जीवाणु Polychromatophilia.
- ९ सामान्य जीवकेन्द्रसह रक्ताणु Normoblast.
- १० स्थूल „ „ Megaloblast.
- ११ कणयुक्त अपक्रान्तियुक्त रक्ताणु Granular degeneration.

श्वेताणु

- १२ अधिक जीवकेन्द्रयुक्त मध्यस्थ श्वेताणु Polynuclear neutrophil Leukocyte.
- १३ अम्लरंगेच्छु श्वेताणु Eosinophil Leukocyte.
- १४ स्थूलाकृति श्वेताणु Mast cell.
- १५ बृहत् पारदर्शक जीवाणु Large Hyaline.
- १६ बृहद् लसीकाणु Large Lymphocyte.
- १७ क्षुद्र लसीकाणु Small Lymphocyte.

रक्तके भीतर मिलने वाले जीवाणु
(स्वाभाविक और अस्वाभाविक)



श्वेतकण—(White Cells or Colourless Blood Corpuscles)—इनकावर्ण कुछ मैला है । इनके भीतर एक कोषेश वा कितनेकोंमें २ या ३ कोषेश (Nuclei) होते हैं । ये बार-बार छोटे बड़े होते रहते हैं । कुछ समय पहले जो त्रिकोण हों, वह चतुष्कोण फिर चतुष्कोणका द्विकोण हो जाता है । अतः इसका कोई निश्चित आकार नहीं है । किन्तु जब ये कण गति हीन बन जाते हैं; तब उनका आकार गोल दिखाई देता है । सामान्य रीतिसे इसका व्यास $\frac{1}{100}$ इंच है । ये रूईकी सूक्ष्म फुरेरियोंके सदृश प्रतीत होते हैं । इनका मुख्य कार्य रक्त-कणोंका संरक्षण करना है । आकृति और कार्य भेदसे इनके ५ प्रकार हैं ।

१—**क्षुद्रलसीकाणु गोल—**(स्मॉल मोनोन्युक्लियर ल्युकोसाइट्स—Small Mononuclear Leukocytes) ये श्वेताणु एक बड़े जीव-केन्द्र सह होते हैं । इसकी संख्या २०-२५ प्रतिशत होती है । इन अणुओं को स्मॉल लिम्फोसाइट (Small Lymphocytes) भी कहते हैं ।

२—**बृहत्लसीकाणु—**(लार्ज मोनोन्युक्लियर ल्युकोसाइट्स—Large Mononuclear Leukocytes)—ये श्वेताणु गोलाकार या अण्डे के सदृश आकृति वाले होते हैं । इनकी संख्या लगभग ३ से ५ प्रतिशत तक रहती है । ये बड़े गोल परन्तु छोटे गोल जीवकेन्द्रसह होते हैं । इनकी आकृति लाल रक्ताणुओंकी अपेक्षा दुगुनी या तिगुनी बड़ी होती है । इनमें से किसी-किसी लसीकाणुमें वृक्कके आकारका जीवकेन्द्र भी होता है । इस जीवकेन्द्रके चारों ओर जीवनरस रहता है । इन लसीकाणुओंको लार्ज लिम्फोसाइट्स (Large Lymphocytes) भी कहते हैं ।

३—**अनेक जीवकेन्द्रयुक्त बृहदाकार श्वेताणु—**(पोलिमोर्फोन्युक्लियर ल्युकोसाइट्स—Polymorphonuclear Leukocytes)—ये श्वेताणु बड़े आकारके और अनेक जीवकेन्द्र युक्त होते हैं । इन जीव-केन्द्रोंके छोटे छोटे अनेक खण्ड होते हैं । इनकी आकृति E, V, S, U, Z, अक्षरोंमेंसे किसी एकके साथ मिल जाती है । श्वेत रक्ताणुओंमें इसकी संख्या ६७-७० प्रतिशत तक होती है । रक्तको पूयभावकी प्राप्ति

हो जाने पर उसमें इसी प्रकारके श्वेताणु वर्तमान होते हैं। इन श्वेताणुओंके भीतर रहे हुए जीवन रसमें छोटे-छोटे अनेक कण भासते हैं।

४—अम्लरगेच्छु श्वेताणु—(इयोनोफाइल ल्युकोसाइट्स—Eosinophil Leukocytes)—इन श्वेताणुओंके जीवकेन्द्र गोल होते हैं; और कभी जूतेकी नालके सदृश मुड़े हुए होते हैं। इन जीवकेन्द्रोंमें अनेक खण्ड होते हैं, जो परस्पर तारोंसे जुड़े रहते हैं। इनके जीवन रस (Protoplasm) में अनेक मोटे कण होते हैं। इस प्रकारके श्वेताणुओंकी संख्या २-४ प्रतिशत तक होती है। इन कणोंको अम्ल रंगसे रंगने पर खूब गहरा रंग पकड़ लेते हैं। इस हेतुसे इनको अम्लरगेच्छु सजा दी है।

५—स्थूलाकृति श्वेताणु—(बेसोफाइल ल्युकोसाइट्स और मास्टसेल्स Basophil Leukocytes or Mast Cells)—ये कभी-कभी प्रतीत होते हैं। इनकी संख्या श्वेताणुओंके भीतर आधसे १ प्रतिशत जितनी होती है।

नीरोगावस्थामें इन श्वेताणुओंकी संख्या १ घन सहस्रांश मिलीमीटरमें ७००० से १०००० लगभग रहती हैं। बहुधा रक्तकणोंकी अपेक्षा ये ७०० वॉ हिस्सा जितने कम होते हैं। इस संख्यामें सामान्य न्यूनाधिकता, बिना रोग भी हो जाती है। नव जात शिशुमें इन श्वेताणुओंकी संख्या १७००० के हिसाबसे होती है। यदि युवा मनुष्यमें इन श्वेताणुओंकी संख्या दीर्घकाल तक एकघन सहस्रांश मिलीमीटरमें दशसहस्रसे अधिक रहे; तो श्वेत जीवाणु वृद्धि विकार (ल्युकोसाइटोसिस Leukocytosis) कहलता है। नीरोगावस्थामें भोजनके पश्चात् ३-४ घण्टे पर वृद्धि हो जाती है। एवं कितनीक ओषधियोंसे भी ये बढ़ जाते हैं। इस तरह व्यायाम, सगर्भावस्था, बाल्यावस्था, शीतल जलसे स्नान और जठराग्नि विकार आदि कारणोंसे इनकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है। यदि इन कारणों के अतिरिक्त समयमें संख्यामें अधिकता प्रतीत हो; तो रक्तमें कीटाणुओं का संसर्ग हुआ है, ऐसा माना जाता है। यदि २०००० अधिक संख्या हो

जाय, तो मानना चाहिये कि, कहीं पूयकी उत्पत्ति हो गई है । फिर यह संख्या बढ़ती ही जाती है, तो कीटाणुओंकी वृद्धि हो रही है । अतः शस्त्र कर्म विहित है, ऐसा निश्चय होता है ।

सब प्रकारके श्वेताणुओंकी वृद्धि—अनेक रोगोंमें श्वेत जीवाणुओंकी सब जातियोंकी वृद्धि होती है । जैसे उपद्रव रहित मधुरा, रोमान्तिका, विषमज्वर, इन्फ्ल्युएन्जा, कर्णमूलिक ज्वर, तीव्र राजयक्ष्मा और कुछ, इन रोगोंमें; तथा इतर तीव्र संक्रामक रोग, कितनेक प्रकारके मारक अर्बुद और रक्तस्राव होनेपर सब प्रकारके श्वेताणुओंकी संख्या बढ़ जाती है ।

क्षुद्रलसीकाणुवृद्धि—कालीखांसी, अस्थिमार्दव, रक्तपित्त, जिसमें दन्तवेष्टोंसे रक्तस्राव होता है (Scurvy) वंशानुगत रक्तपित्त प्रकृति (Haemophilia) उपदंश (Syphilis), बालकों का अतिसार श्वेतजीवाणु वृद्धि (Leukaemia) और एक प्रकार का घातक अर्बुद लिम्फोसार्कोमा (Lymphosarcome) में क्षुद्रलसीकाणु बढ़ जाते हैं ।

बृहल्लसीकाणु वृद्धि—विषमज्वर, अमेरिका, और आफ्रिका में होने वाला निद्रावृद्धिरोग (ट्रायपेनोसोमियासिस-Trypanosomiasis), काला आज़ार और शीतलारोगमें बृहद लसीकाणु बढ़ जाते हैं ।

अनेक जीवकेन्द्र युक्त बृहदाकार श्वेताणुवृद्धि—पूयमयप्रदाह न्यूमोनिया और श्वेतजीवाणु वृद्धि जिनमें न होती हो, ऐसे संक्रामक ज्वरके अतिरिक्त सांसर्गिक रोगोंमें इन अनेक आकारवाले श्वेताणुओंकी संख्या बढ़ जाती है ।

अम्लरंगेच्छु श्वेताणुवृद्धि—श्वास रोग, वायुकोषविस्तार (Emphysema), खुर्ची (Eczema), शीतपित्त, विविध त्वचारोग (Psoriasis, Lupus, Pemphigus and Serodermatosis), अनेक प्रकार के कृमिरोग (Trichinosis,

Ankylostomiasis and Bilharziasis), वातरक्त और वृक्कसंन्यास आदि रोगोंमें इन श्वेताणुओंकी वृद्धि हो जाती है ।

इन श्वेताणुओंके अतिरिक्त नूतन प्रकारके श्वेताणुओंकी उत्पत्ति भी अनेक प्रकारके रोगोंमें हो जाती है । जैसे प्लीहा और अस्थिमज्जाकी वृद्धि सह श्वेताणु वृद्धि रूप पाण्डुरोग (Spleno-myelogenic leukemia), न्युमोनिया, शीतला और अस्थिमज्जाप्रदाह होने पर नव्य प्रकारके श्वेताणु उत्पन्न हो जाते हैं । एव वृहद् मज्जाणु (माइलो-ब्लास्ट्स Myeloblasts) श्वेताणुके भीतर नूतन जातिके जीवाणु लिम्फोब्लास्ट्स (Lymphoblasts) तथा रक्तरस जीवाणु (Plasma cells) आदि जीवाणुओंकी उत्पत्ति रक्तके भीतर व्याधि कालमें हो जाती है ।

इस वृद्धिके प्रतिकूल श्वेत जीवाणु संख्याका हास (ल्यूकोपिनिया Leukopenia) भी कितनेक रोगोंमें हो जाता है । तीव्र और घातक पाण्डुरोग, मधुरा और न्युमोनिया का प्रारम्भकाल, क्षय, काला आजार और लङ्घन आदि हेतुसे श्वेत जीवाणुओं की कमी हो जाती है ।

इन श्वेताणुओंके निम्नानुसार ५ मुख्य कार्य हैं ।

- १—बाहरसे प्रवेश कर देहको हानि पहुंचाने वाले विष या कीटाणुओं (फॅगोसाइट्स Phagocytes) को खा जाना, या कीटाणुनाशक प्रतिविषकी उत्पत्ति कराना ।
- २—देहके किसी भी भागमें चोट लगने, शोथ आने या विषस्पर्श होने पर उस स्थानके संरक्षणार्थ और शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए दौड़ जाना । फिर शत्रुओंको नष्ट कर हानि पहुंचे हुए अवयव या कोषसघातोंको अपनी मूल स्थितिमें ला देना ।
- ३—आतोंमेंसे आहार रसके शोषणमें सहायता देना ।
- ४—रक्तके जमजाने (Clotting) में सहायता देना ।
- ५—रक्तमें रहे हुए प्रोटीन्सकी रक्षा करना ।

इन सब जीवाणुओंकी जीवनी जाननेके लिये जिज्ञासुओंको प्राकृतिक विज्ञानके ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिए ।

सूक्ष्मचक्रिकाएँ—(ब्लड प्लेटलेट्स Blood platelets)—ये अत्यन्त छोटी वर्णहीन चक्रिकाएँ हैं । ये सब जीवनरस Protoplasma में अनियमित आकारके बिन्दुओंके सदृश भासती हैं । रक्ताणु और श्वेताणु, दोनोंके परिमाणसे भी ये सूक्ष्म (रक्ताणुओंसे लगभग आधे आकार की) होती है । रक्त जमजानेमें ये विशेष भाग लेती है, ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है ।

रक्तजल—(ब्लड प्लाज़्मा Blood plasma) रक्तमें हलके पीले रंगका जो द्रव पदार्थ है, उसे रक्तजल कहते हैं । इस रक्तजलमें रक्तजीवाणु फिरते रहते हैं । इनके अतिरिक्त इस रक्तजलमें शरीरपोषक द्रव्य, कुछ निरुपयोगी मल (Waste products) और रोगविरोधी (Antibodies) द्रव्य आदि रहते हैं । इसमें कीटाणुओंको नष्ट करने वाली और रक्तको जमाने वाली वस्तुएँ तथा प्रतिविष होते हैं ! यह रक्त-जल केशवाहिनियोंके छिद्रोंमेंसे सर्वदा खवता रहता है; और धातुओंका पोषण करता रहता है ।

इस रक्तजलके और दो प्रकार हैं । केशवाहिनियोंकी दीवारोंमेंसे एक प्रकारका रक्तजल—रक्तका स्वच्छ प्रवाही अंश सर्वदा भरता रहता है; उसे लसीका (लिम्फ-Lymph) संज्ञा दी है । एवं देहसे बाहर निकाला हुआ रक्त जब कुछ काल तक पड़ा रहता है; तब उसमें द्रवभाग और घनभाग, ऐसे दो प्रकार बन जाते हैं । इनमें जो द्रवभाग है, वह भी रक्त जल है; परन्तु उसे रक्तरस और रक्तमस्तु (सीरम Serum) संज्ञा दी है । इस तरह तीनोंकी संज्ञा-भेद करनेसे समझने-समझानेमें सुविधा होती है ।

रक्तके १०० भागोंमें ६०-६५ भाग रक्तजल रहता है; और शेष ३५-४० भागमें रक्ताणु, श्वेताणु और चक्रिकाएँ रहती हैं । रक्तजलका गुरुत्व १०२६ से १०२६ तक होता है । इस रक्तजलके भीतर २० प्रति-

शत जल रहता है । शेष १० प्रतिशत भागमें एल्ब्युमीन आदि नत्रल पदार्थ, फाइब्रिनजनक पौष्टिक पदार्थ (Protein), चर्बी, द्राक्षौज, क्षार (नमक आदि) और देहमें से बाहर फेंकने योग्य पदार्थ (यूरिया, यूरिक एसिड आदि) इत्यादि वस्तुएँ रहती हैं । इस मिश्रणयुक्त रक्त मूत्रपिण्ड आदि स्थानोंमें से आवागमन करता रहता है ; जिससे इन अवयवों में जो दूषित पदार्थ संचित हुए हो, उनको रक्तले लेता है, और पोषक पदार्थ देता रहता है ।

इस रक्त वारिमें आगारिक वायु (कार्बन डाई ओक्साइड,) उद्जन (हाइड्रोजन), नत्रजन (नाइट्रोजन) और प्राणवायु (ओषजन-ओक्सिजन) आदि वायु, नलिकारहित ग्रन्थियोंके अन्तःस्त्राव और देहमें रासायनिक व्यापार प्रवर्तक पदार्थभी रहते हैं । जिन संरक्षक पदार्थोंके हेतुसे रक्त बाहरकी आपत्तियोंसे अपना रक्षण करता है; वैसे बलवान् पदार्थभी इस रक्त वारिमें रहते हैं । इनके मुख्य दो प्रकार हैं । कीटाणुनाशक और विषशामक ।

कीटाणुनाशक पदार्थ—ये पदार्थ अपने बलसे अनेक प्रकारके कीटाणुओंको मार डालते हैं; और अनेक प्रकारके कीटाणुओं के समूहकी चारों ओर ऐसा स्वादिष्ट रस डाल देते हैं कि, रक्त के श्वेतकण वहाँ आकर कीटाणु समूहोंको खाजाते हैं ।

विषशामक पदार्थ—ये पदार्थ कीटाणुओंके हानिकर आहार-रूप विष को शमन करते रहते हैं । इस परसे स्पष्ट जाना जाता है कि रक्त जितना शुद्ध होगा, उतने अंशमें बाहरके कीटाणु, विष या रोगोंके साथ युद्ध करने की शक्ति अधिक रहेगी ।

रक्तस्थानी भवन—(Clotting of Blood)—यदि रक्तको बाहर निकाल कर किसी पात्र में कुछ काल तक रख दिया जाय, तो वह जम जाता है; और उसमें से कुछ अंश का एक चक्का (Coagulum or Clot, बनकर पीले प्रवाही द्रवमें तैरने लग जाता है । इस चक्केकी

चारों ओर जो प्रवाही पदार्थ हैं, उसे सीरम (Serum) कहते हैं । यह रक्तका मुख्य गुण है ।

रक्तके भीतर ३ प्रकारके पौष्टिक तत्त्व (Protein) हैं । इनमेंसे एक घुलनशील है, जो रक्तजलमें घुला रहता है । उसे डाक्टरीमें फाइब्रिन (Fibrin) संज्ञा दी है । जब रक्त जम जाता है; तब इस पौष्टिक तत्त्वमें एक परिवर्तन होता है । इसी हेतुसे वह रक्तवारिके भीतर रक्तरस से पृथक् हो जाता है । परिणाममें रक्त जम जाता है । फिर जमे हुए रक्त वाले बरतनको देखने पर लाल थक्का पीलेसे पानी पर तैरता हुआ प्रतीत होता है । इनमें जो पीला पानी है, वह रक्तरस (Serum) है । इस रक्तरसको निकाल फिर लाल थक्केको जलसे धो देने पर उसका लाल रंग धुल जाता है; और एक श्वेतपदार्थ शेष रह जाता है । यह पदार्थ अति सूक्ष्म तन्तुओंसे बना है । इन तन्तुओंके परस्पर संयोगसे एक जाल-सा भासता है; और इनके छिद्रोंमें गोल, रक्तकण फंसे हुए दिखाई देते हैं । यह तन्तु जाल फाइब्रिनमें से बनता है ।

रक्तरञ्जक भी एक प्रकारका प्रोटीन है, वह लाल रक्ताणु टूट जाने पर रक्तरसमें मिल जाता है । इस पौष्टिक तत्त्वके भीतर आंगारिक वायु, उदजन, नेत्रजन, ओषजन, गन्धक और लोह आदि पदार्थ मिलते हैं ।

जब किसी स्थानसे रक्त निकलने लगता है, तब वहां पर रक्त जमने लगता है । इस तरह जब रक्त जमनेसे रक्तवाहिनियोंके मुख बन्द हो जाते हैं; तब रक्तस्त्राव बन्द हो जाता है । रक्तके इस गुणको लक्ष्यमें रखकर रक्तस्त्राव बन्द करनेकी चिकित्सा की जाती है । यह शक्ति भिन्न-भिन्न मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न मात्रा में रहती है । अनेक वंशोंमें परम्परागत इस शक्तिकी प्राप्ति कम होती है । ऐसे वंशानुग रक्तपित्त प्रकृति (Haemophilia) विकार वाले को सामान्य शस्त्र लगाने पर भी अधिक हानि हो जाती है ।

जब रक्तस्त्राव हो जानेसे देहमें रक्त कम हो जाता है; तब प्रारम्भमें रक्तवारि अपने न्यून अंशकी पूर्ति देहके इतर कोषोंमें से कर लेता है ।

अधिक रक्त बह गया हो, तो २४ से ४८ घण्टेमें प्रवाही भाग पूर्वके समान हो जाता है । फिर रज्जक पित्त, रक्तकण और श्वेतकण, ये सब अपनी न्यूनताको मिटानेके लिये प्रयत्न करते हैं ।

जिनको अधिक रक्तस्राव हो जाता है, उनके शरीरमें शिरा द्वारा नमक मिश्रित जल प्रवेश करा रक्तके जलभागका परिमाण तुरन्त पूरा करा देनेका रिवाज डाक्टरोंमें था और है । इसके अतिरिक्त अब दूसरे नीरोगी मनुष्यका रक्त भी शिरा द्वारा रोगीकी देहमें प्रवेश करा दिया जाता है, जिससे सब प्रकारकी कमी तत्काल पूरी हो जाती है ।

आयुर्वेदकी दृष्टिसे इस रक्तमें से मांस, मांसमें से मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है, ऐसा भगवान् धन्वन्तरिजीने सुश्रुत संहिताके निम्न श्लोकमें कहा है ।

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान् मेदः प्रजायते ।

मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य संभवः ॥

किन्तु यह मत पाश्चात्य विद्वानोंने स्वीकार नहीं किया । पाश्चात्योंकी मान्यतानुसार रक्तमेंसे ही मांस, अस्थि, शुक्र आदिकी उत्पत्ति होती है ।

इस तरह आयुर्वेदकी दृष्टिसे रक्तको रक्तवर्णका बनानेवाला रक्तरंजकपित्त (Haemoglobin) यकृत और प्लीहामें बनता है । किन्तु अभी तक नव्यमतके अनुसार यह केवल प्लीहामें तैयार होता है । अब इस मतमें कुछ संशय होने लगा है । घातक पाण्डु रोगमें यकृतकी विकृतिपरसे कल्पना की जाती है कि, यकृतके रसमेंसे रक्ताणुओंको बनाने या उनको जीवित रखनेके लिये कोई विशेष पदार्थ रहता है ।

क्षमता या रोगनिरोधक शक्ति—(इम्युनिटी-Immunity)
रोगोत्पादक कीटाणुओंका प्रतिकार करने या उनका नाश करनेकी शक्ति-न्यूनाधिक अंशमें प्रत्येक प्राणीमें रहती है । यह शक्ति नैसर्गिक और स्वसंपादित भी होती है । नैसर्गिक शक्ति अनेक बार व्यक्तिगत

(Individual) या वंशागत अथवा जातिगत (Racial) होती है । यह शक्ति आजीवन समस्वरूपमें नहीं रहती । शक्तिपात, मिश्रकृमि, विष या विरोधी पदार्थों का अधिक सेवन आदि हेतुसे न्यून हो जाती है ।

जैसे बकरीको राजयक्ष्माके कीटाणु बाधा नहीं पहुँचा सकते, यह जातिगत गुण है । कितनेक व्यक्तियोंको बिच्छूका जहर नहीं चढ़ता, यह व्यक्तिगत या वंशानुगत गुण है । अनेक व्यक्ति और कितनेक वंशमें कण्ठरोहिणी (Diphtheria) के विष या कृमिसे विरोध करनेकी स्वाभाविक शक्ति रहती है । जिससे उनके कण्ठमें इस रोगके कीटाणु (Klebs-Löffler Bacilli) दीर्घकाल तक प्रतीत होनेपर भी उनको कुछ भी बाधा नहीं पहुँचती; आदि-आदि स्वाभाविक शक्ति है ।

स्वसंगदित शक्ति दो प्रकारसे प्राप्त होती है । व्यसन आदिसे और शिरावेधमें सीरम प्रवेश द्वारा । जैसे अफीमके व्यसनी दूसरेके लिये मारकमात्रा जितनी अफीम सरलतापूर्वक पचा जाते हैं । कॉलेरा, मलेरिया आदि रोगोंके कीटाणु मिश्रित सीरमको शिरामें प्रवेश करानेसे उस रोगको निरोध करनेकी शक्ति उत्पन्न होजाती है । यह कृत्रिम शक्ति है ; यह शक्ति दीर्घकाल जीवनीयशक्तिके साथ मिश्रित होकर रहजाय ; और किसीभी प्रकारकी भविष्यमें हानि न पहुँचावे; यह अभी निश्चित नहीं हो सकेगा । इस बातका निर्णय भविष्यमें ही होगा ।

यह रोगनिरोधकशक्ति रक्तमें रहती है । रक्तमें किसके साथ रही है, इस विषयमें दो उपपत्ति हैं । १-मेचनिकॉफका श्वेत जीवाणुकृत कीटाणुनाशक सिद्धान्त (यह पहले श्वेत रक्ताणुओंके ५ कार्योंमें दर्शाया है ।) २-एहरलिककी विराट रूप उपपत्ति (Eherlich's Side-chain or Lateral chain theory) !

इस एहरलिकके मत अनुसार प्रत्येक जीवाणुकों विराट भगवान्के समान अनेक हाथ (Receptors) हैं । इन हाथोंसे कीटाणु, विष आदि, जो कुछ विरोधी हो, उसे पकड़ लेते हैं ; किन्तु जब विष या कीटाणु जीवाणुओंके हाथोंकी अपेक्षा अधिक होते हैं, तब अनेक हाथोंसे

कीटाणुओंको स्वाहा करने लगता है । उस समय कीटाणुओंके सूक्ष्म अगोको वे हाथ चिटककर नहीं रह सकते । फिर वे रक्त जलमें गल जाते हैं । ये मुक्त कर ही विषनाशक पदार्थ (Anti-toxins) हैं । रक्तमें ये फैल जाने पर नये आने वाले कीटाणुओंको नाश करने लगते हैं । ये हाथ नैसर्गिक शक्ति से प्राप्त होते हैं ; स्वार्जित शक्ति से उत्पन्न किये जाते हैं , एव परार्जित शक्तिसे तैयार भी मिलजाते हैं ।

यह रोगनिरोधक शक्ति जो कृत्रिम रीतिसे उत्पन्न कीजाती है , वह एक विशिष्ट रोगके निरोधके लिये ही होती है । एकके लिये उत्पन्न की हुई शक्ति दूसरेके लिये काम नहीं देती ; किन्तु भिन्न-भिन्न रोगोंके लिये विरोधी विविध शक्ति एक ही व्यक्तिके रक्तमें एकही कालमें रह सकती है ।

रोगनिरोधक शक्ति किसमें कितनी है, यह किसी यन्त्र द्वारा नहीं जाना जाता । इस तरह रक्तमें और भी अनेक तत्त्व ऐसे रहे होंगे कि, जिन्हें किसी यन्त्रकी सहायतासे भविष्यमें भी मनुष्य नहीं जान सकेंगे । तथापि विद्वानोंने जो अनेक आश्चर्यकारक सत्त्यों-नियमों की शोध की है, और कर रहे हैं ; वे भी सराहनीय हैं ।

रक्तमें परिवर्तन—विविध व्याधियोंमें रक्तके रक्ताणुओं और श्वेताणुओंकी संख्या और आकृतिके सम्बन्धमें निम्नानुसार विभिन्न प्रकारसे व्यतिक्रम प्रतीत होता है ।

१—रक्ताणुवृद्धि—(Polycythemia) विसूचिका रोगकी शीतलावस्थामें थोड़े समयके लिये रक्ताणुओंकी संख्या कुछ बढ़ जाती है ।

२—रक्ताणु हास—(Oligocythemia) पाण्डु, ज्वर, रक्तस्राव आदिसे रक्तका परिमाण कम होना, रक्तमें श्वेताणुवृद्धि (Leukaemia), हलीमक (स्त्रियोंका पाण्डु), रक्तमें ओजक्षय आदि-व्याधियोंमें रक्तमेंसे रक्ताणुओंकी संख्याका हास हो जाता है ।

३—श्वेताणुकी अति वृद्धि—रक्तमें श्वेताणुवृद्धि जन्य श्लैष्मिकपाण्डु

(Leukaemia) होने पर रक्तके भीतर श्वेताणुओं की संख्यामें सातिशय वृद्धि हो जाती है ।

४—रक्तरंजक ह्रास—हलीमक रोगमें रक्तमें से वर्ण द्रव्यका परिमाण अत्यन्त न्यून हो जाता है । रक्ताणुओंका उतना अधिक ह्रास नहीं होता । इस हेतुसे रक्ताणुओंका रंग मलिन भासता है । श्वेताणुओं का अनुपात स्वाभाविक रहता है ।

५—अतिस्थूल रक्ताणु की उत्पत्ति—पाण्डु, विशेषतः घातक पाण्डु रोगमें अति बृहदाकारके रक्ताणु प्रतीत होते हैं । एवं पाण्डुरोगमें रक्ताणु सामान्यतः स्वाभाविककी अपेक्षा आकृतिमें छोटे देखने में आते हैं । इसके अतिरिक्त इस रोगमें रक्तमें रक्ताणुओंकी आकृति अनियमित प्रतीत होती है । इस अवस्थाको पेसिलो-साइटोसिस (Pecilocytosis) कहते हैं ।

६—रक्तरंजकवृद्धि—कभी कभी अधिक रक्तरंजक विशिष्ट क्षुद्र गोलाकार रक्ताणु देखनेमें आते हैं । इस अवस्थाको माइक्रोसाइटोसिस (Microcytosis) संज्ञा दी है ।

७—जीवकेन्द्रयुक्त रक्ताणु—तीव्र पाण्डुरोगमें रक्तके सब रक्ताणु जीवकेन्द्रयुक्त बन जाते हैं । एवं घातक पाण्डुमें जीवकेन्द्रयुक्त रक्ताणु सब बृहद् आकार के हो जाते हैं ।

८—श्वेताणुओं की वृद्धि—फुफ्फुस सन्निपात (न्युमोनिया), प्रलापक सन्निपात, विसर्परोग (Erysipelas), पूयोत्पत्ति प्रक्रिया, प्रादाहिक विक्रिया, कर्कसफोटजनित विवर्णता (कैकहेक्टिक—Cachectic) आदिसे रक्तमें प्रबल श्वेताणुवृद्धि (Leukocytosis) हो जाती है ।

९—रक्ताणुओंका अति ह्रास और श्वेताणुओंकी अति वृद्धि—प्लीहावृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि (Leukaemia) में रक्ताणुओंके वर्णद्रव्यका परिमाण इतना अधिक कम हो जाता है कि, कभी-कभी श्वेताणुओं की संख्या रक्ताणुओंके लगभग समान हो

जाती है । रोगकी प्रथमावस्थामे जब तक श्वेताणुओंकी संख्या प्रबल श्वेताणुवृद्धि (Leukocytosis) की अपेक्षा अधिकतर वृद्धिकी प्राप्ति न हो जाय, तब तक रोग निर्णय नहीं हो सकता ।

इस तरह लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि (Lymphatic Leukaemia) रोगमें क्षुद्र लसीकाणुओं (Lymphocytes) की संख्या भी बहुत बढ़ जाती है ।

१०—सामान्य परिवर्तन—लसीकाग्रन्थिओंकी वृद्धिसह घातक पाण्डु (Pseudo Leukaemia) रोगमे रक्ताणुओंकी संख्या और रक्त वर्णद्रव्यका परिमाण कुछ कम हो जाता है । एव श्वेताणुओंकी संख्यामे वृद्धि नहीं होती ।

११—रक्ताणु और रक्तरंजकका ह्रास—अत्यधिक रक्तसावके पश्चात् प्रारम्भके कितनेक दिनो तक रक्ताणु और रक्तरंजक स्वाभाविककी अपेक्षा आवेसे भी कम हो जाते हैं; और श्वेताणुओंकी संख्या बढ़ जाती है । रोगके अन्तमे अति निर्बलावस्था आनेपर रक्तके वर्णद्रव्यकी अपेक्षा रक्ताणुओंका परिमाण सत्वर बढ़ जाता है । एव मोतीभरा, राजयक्ष्मा, विषमज्वर, वृक्कप्रदाह, कर्कसफोट, नागघातु विष आदि जनित पाण्डु रोगमे रक्ताणुओंकी संख्या और वर्णद्रव्य, दोनोंके परिमाणका ह्रास होता है; तथा श्वेताणुओंकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है ।

१२—रक्ताणुओंका अतिह्रास—सन्निपातिक पाण्डु रोग (Progressive Pernicious Anaemia) में रक्ताणुओंकी संख्या अत्यधिक न्यून हो जाती है । यहाँ तक कि स्वाभाविक अवस्थाकी अपेक्षा $\frac{1}{10}$ हो जाती है; किन्तु रक्ताणुओंकी आकृति और रक्तरंजककी मात्रा बढ़ जाती है ।

१३—रक्तवारिकी न्यूनता—विस्मृचिका रोगमे रक्तवारि अत्यधिक कम होजाता है । जिससे रक्त गाढ़ा हो जाता है । इसी हेतुसे रक्ताणुओं

की संख्यामें वृद्धि भासती है । इस तरह हृदयकी विविध व्याधियों में भी रक्ताणुओंकी संख्या विशेष लक्षित होती है ।

१४—वर्ण द्रव्यसह श्वेताणु उत्पत्ति—विषमज्वर दीर्घकाल तक रह जाने पर श्वेताणु वर्णद्रव्य (Pigment) युक्त प्रतीत होते हैं ।

१५—कीटाणुमय रक्तप्रतीति—कितनेक कीटाणुजन्य रोगोंमें अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा रक्त सूक्ष्म कीटाणु (Micro-organisms) मय देखनेमें आता है । जैसे मिटिकायुक्तराज्यक्षमा (Miliary Tuberculosis) रोगमें बेसिलाई ट्यूबरकुलोसिस (Bacilli Tuberculosis), गलत्कुष्ठमें बेसिलाई लेप्री (Bacilli Lepae), घातक स्फोटक (Anthrax) रोगमें बेसिलाई एन्थ्रासिस (Bacilli Anthracis), परिवर्तित ज्वरमें स्पाइरिला ओबरमायरि (Spirilla Obermeieri) आदि-आदि कीटाणु प्रतीत होते हैं ।

१६—रक्तमें विविध द्रव्य—इनके अतिरिक्त रक्तमें मेद, विविध क्षार, बाष्प आदि रहते हैं ।

रक्तपरीक्षामें विचारणीय बातें—रक्तके रोगोंकी परीक्षार्थ डाक्टरी मतमें निम्न बातोंका विशेष विचार किया जाता है ।

१—रक्तहीन योग—(ओलिगीमिया—Oligæmia)—रक्तकी कमी हो जाना इसमें रक्त की गति कम होजाती है ।

२—रक्ततनुता—(हाइड्रिमिया—Hydremia)—रक्तवारिकी वृद्धि ।

३—रक्तवारिन्यूनता—(ओलिगोप्लाज्मा—Oligoplasma)

४—रक्तवारिमें ओजद्रव्य वृद्धि—(पॉलिमिया हाइपरएल्बुमिनोसा Polyemia Hyperalbuminosa)—रक्तजलमें एल्बुमिन की वृद्धि होजाना ।

५—रक्तजीवाणुहीनता—(ओलिगोसाइथीमिया—Oligocythemia)—इस रोगको विलोहितता भी कहते हैं । इसके कारण भेदसे दो

भेद हैं । रक्त रोगसे पाण्डु और इतर रोगसे पाण्डु । यदि रक्ताणुओंमें से वर्ण द्रव्य कम हो गया हो, तो उसे ओलिगो-इरिथ्रो साइथीमिया (Oligo-erythro Cythemia) कहते हैं ।

६—रक्तजीवाणु वृद्धि—(पॉलिसाइथीमिया-Polycythemia)-
अर्थात् रक्तमें रक्तकणोंकी वृद्धि होना ।

७—रक्तमें रहे हुए श्वेताणुओंकी वृद्धि—(ल्युकोसाइटोसिस-Leukocytosis)

८—रक्तमेंसे श्वेताणुओंका हास (ल्युकोपिनिया-Leukopenia)

९—रक्तमें रक्तरजक कम हो जाना—(ओलीगोक्रोमेमिया-Oligochromemia)

१०—रक्तवृद्धि—(पॉलीमिया-Polyemia) ।

यदि रक्तके उपादानमें कुछ भी व्यतिक्रम न होने पर देहमें रक्ताधिक्य हो जाय, तो उसे प्लेथोरा (Plethora) कहते हैं । रक्तप्रणालीमें यन्त्र द्वारा रक्तस प्रविष्ट करानेमें रक्तधारिकी वृद्धि हो जाती है; परन्तु इस तरह वृद्धि कराने पर सत्त्वर मूत्र द्वारा अधिक जलीय अंश निर्गत हो जाता है । इसे पॉलीमिया सेरोसा (Polyemia Serosa) संज्ञा दी है ।

अदि प्रचुर मात्रामें जलपान किया जाय, तो रक्तमें जलकी वृद्धि हो जाती है; परन्तु वह अधिक काल तक स्थिर नहीं रहता । थोड़े ही समयमें पेशाब द्वारा निकल जाता है । यदि वृद्धविकार ग्रस्त होने पर मूत्रोत्पत्ति सम्यक् न हो सके, फिर इसी हेतुसे रक्तमें जलीय अंश रह जाय, तो उसे हाइड्रिमिया या हाइड्रिमिक प्लेथोरा (Hydremia or Hydremic Plethora) कहते हैं । ऐसा होने पर सार्वजनिक शोथकी सम्प्राप्ति होती है ।

इनके अतिरिक्त एल्ब्युमिनका परिमाण रक्तमें न्यून होजाने पर भी रक्तवारिवृद्धि (हाइड्रिमिया) की उत्पत्ति हो जाती है ।

इस विकारको हाइपेल्ब्युमिनोसिस (Hypalbuminosis) कहते हैं । जीर्ण पचन विक्रिया, जीर्ण संग्रहणी, रक्तातिसार, जीर्ण प्यूलेपत्ति, बालकको स्तनपान कराना, बारबार रक्तस्राव और वृक्कविकृति होनेसे मूत्रमें ओज जाना आदि कारणोंसे ओजक्षय होकर रक्तवारिवृद्धिः विकारकी संग्राप्ति होती है । एवं स्वाभाविक या स्वभावगत रक्तस्राव (रक्तार्शमेंसे स्राव), नासास्राव, रजःस्राव आदि स्थगित हो जानेसे देहमें रक्तके परिमाणकी वृद्धि होजाती है ।

११—रक्तमें सूक्ष्म चक्रिकावृद्धि (पॉलिप्लास्टोसाइटोसिस-Polyplastocytosis) ।

१२—रक्तमेंसे क्षारत्वका ह्रास—पाण्डु, जीर्ण पाण्डुकी विलोहितावस्था, जीर्ण वातरोग, विसूचिका आदिमें रक्तमेंसे क्षारत्वका हास हो जाता है ।

१३—रक्तस्राव होना (हीमोफाइलिया-Haemophilia) ।

इस तरह और भी विभाग हो सकते हैं, परन्तु इस रक्त संस्थाका रोगज्ञान अभी तक अति सीमित है ।

डाक्टरीमें रक्तजीवाणुओंकी संख्याके निर्णयार्थ रक्तजीवाणु परिमाण-बोधकयन्त्र (हीमोसाइटोमीटर Haemocytometer), रक्तरंजककी मात्राके बोधके लिये रक्तरंजकनिर्णायक यन्त्र (हीमोग्लोबिनोमीटर-Haemoglobinometer), श्वेत जीवाणुके लिये श्वेत जीवाणु परिमाणबोधक यन्त्र (ल्यूकोसाइटोमीटर Leukocytometer) तथा अणुवीक्षण यन्त्र और विशिष्ट रंग आदि उपकरण हैं ।

रक्त परीक्षा—रक्तकी परीक्षामें निम्न ८ बातों पर लक्ष्य दिया जाता है ।

१—रक्तका रंग, गुरुत्व और शीघ्र जमता है या देर से ?

२—रक्त की प्रतिक्रिया कम क्षारीय है या अधिक ?

३—रक्ताणुओं और श्वेताणुओं की संख्या प्रति सहस्रांश मीटर और रक्ताणुओं और श्वेताणुओं का अनुपात ।

४—लाल कणोंकी आकृति । रक्ताणु टूटे तो नहीं है ? या नूतन प्रकारके रक्ताणुओं की उत्पत्ति तो नहीं हुई है ? रक्ताणुओंके भीतर रोगोत्पादक कीटाणु तो नहीं है ?

५—सब प्रकारके श्वेत कणों की संख्या और शक्ति । चारों प्रकारके श्वेताणु कितने परिमाणमें हैं ? श्वेताणुओंका वृद्धि-ह्रास तो नहीं हुआ ? कणोंमें रोगोत्पादक कीटाणुओंका प्रवेश या उत्पत्ति तो नहीं हुई ? नूतन प्रकारके श्वेताणुओं की उत्पत्ति तो नहीं हुई ?

६—रक्तवारिमें रोगोत्पादक कीटाणु तो नहीं हैं ?

७—रक्तरेज्जकका परिमाण ।

८—रक्तकी रासायनिक रचना, शर्करा, क्षार आदि पदार्थों की न्यूनाधिकता हुई है या नहीं ?

इन बातों की परीक्षा करने पर अनेक रोगोंके विनिर्णयमें अनेकांश में सहायता मिल जाती है ।

रक्ताणुओंकी संख्याके निर्णयार्थ श्रृंगुलियोंको शराब (आल्कोहल) या कीटाणुरहित जल (Sterile water) से धोकर सुखा लेना चाहिये । फिर विशुद्ध किये हुए शस्त्रसे रक्त निकाल काँचपात्र (Cover-Glass) पर डालें । फिर काँचपटिका (Slide) पर इस तरह डालें कि, वह पतले लम्बे आकारमें फैल जाय । फिर प्लेट देखनेके लिये एक प्रतिशत ओस्मिक एसिड (Osmic Acid) का एक बूंद मिला लेवे । इसके अतिरिक्त मेथिल वायोलेट (Methyl Violet) के क्षीण द्रव और ६ प्रतिशत नमकके जलके मिश्रणको उपयोगमें लिया जाता है । इस प्रकारसे प्रयोग करने पर रक्तके सब रक्ताणुसमूह और प्लेट, दोनों रंग जाते हैं । फिर यन्त्र द्वारा संख्या निर्णित की जाती है ।

अथवा रोगविज्ञानके लिये गोबर या टोमाके रक्ताणुमापक यन्त्रसे रक्ताणुओंकी गणना की जाती है । इस यन्त्र द्वारा रोगीके ५ घन मिली-मीटर स्थानके रुधिरको सोडियमके १०२५ आपेक्षिक गुरुत्व वाले मिश्रण

६६५ घनमिलीमीटर आयतनके साथ मिला देते हैं । फिर इस मिश्रणके १ बूंदको छोटे-छोटे वर्ग युक्त कॉचपटिका पर डालते हैं । जिन एक एक वर्गोंका क्षेत्रफल मिलीमीटरका दशवां भाग होता है । इस वर्गमें कितने रक्ताणु हैं, यह अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा गिन लेते हैं, इस पर से सारी देहके रक्तका हिसाब कर लेते हैं ।

स्वस्थावस्थामें रक्तके भीतर रंजकपित्त बिलकुल नहीं रहता । यह रक्ताणुनाशक रोग और कामलामें उपस्थित होजाता है । इस तरह अग्न्याशयमें विकृति होने पर मधुमेहमें द्राक्षौज की वृद्धि होजाती है ; और वृक्की क्रिया सदोष बनने पर रक्तमें यूरिया आदि मूत्रविषकी मात्रा बढ़ जाती है । द्राक्षौज, यूरिया आदिकी परीक्षा रासायनिक क्रियाओं द्वारा की जाती है । इनके अतिरिक्त अनेक सांसर्गिक व्याधियोंके हेतुसे रुधिरके भीतर रोगके कीटाणु या विषका प्रवेश होकर उनकी वृद्धि होजाती है ।

रोगोंके कीटाणु कभी रक्ताणुओं और श्वेताणुओंमें रहते हैं ; और कचित् रक्तवारिमें प्रतीत होते हैं । इनमें रक्ताणु और श्वेताणुओं में कीटाणुओंकी परीक्षाके लिये कॉच पट्टी पर रक्तत्रिंदुको फैलाकर रंग लेते हैं । फिर अणुवीक्षण द्वारा देखकर निर्णय किया जाता है ।

रक्तवारिमें अवस्थित आन्त्रिक ज्वर आदि रोगोंके कीटाणु या विषके निर्णयार्थ विडाल्स टेस्ट (Widal's Test) द्वारा निश्चय किया जाता है । यह क्रिया रोगके कीटाणु रक्तमें फैल जाने पर अर्थात् रोगारम्भ होने पर कम से कम १० दिनके पश्चात् ही की जाती है ।

परीक्षाके लिये रक्तको कैपस्यूलमें निकाल, उसमेंसे रक्तमस्तु (सीरम) को पृथक् करते हैं । फिर विभिन्न कीटाणुओंके भिन्न-भिन्न मिश्रणोंमें मिला छोटी नलिकाओं (Pipette) में भर २४ घण्टे तक सम शीतोष्ण स्थानमें रख देते हैं । इस सीरमके प्रभावसे जिस मिश्रणमें से कीटाणु पृथक् होकर एकत्रित होजायँ, वही रोग रोगीको हुआ है ।

इस मिश्रणमें कीटाणु ८०, ४०, २० आदि भिन्न-भिन्न अनुपातोंमें

एक-एक रखे जाते हैं । जितने कम कीटाणुके परिमाण वाले मिश्रणसे कीटाणुका बोध होजाय, उतना ही रोगनिर्णय दृढ़ होता है—अर्थात् ८० में १, ४० में १ और २० में १, यदि तीनोंमें कीटाणु एकत्रित होने की क्रिया हो जाय; तो रोगका निःसन्देह अस्तित्व माना जाता है । केवल २० में १ वाले मिश्रणमें ही सचित हो जाय ; तो रोगकी उत्पत्ति की सम्भावना कम ही मानी जाती है ।

यदि उपदशके लिये रक्तपरीक्षा करनी हो, तो पृथक् रीतिसे की जाती है, वह उपदश रोगके साथ यथास्थान लिखी जायगी ।

पाण्डु रोग ।

पाण्डु-एनिमिया—Anaemia ।

रोगपरिचय—रक्तमेंसे रक्तकणोंकी संख्यामें अति न्यूनता हो जाती है; या रक्तमें रहे हुए रक्तरंजककी मात्रा कम हो जानेपर देहका वर्ण निस्तेज पीला-सा हो जाता है; तब पाण्डु रोग कहलाता है ।

जब पित्त आदि प्रधान दोष प्रकुपित होकर रक्त आदि दूष्यों को दूषित करते हैं; तब धातुओंमें शिथिलता और देहमें भारीपन आ जाता है । दोष और दूष्योंका क्षय होनेसे ओजके गुण, वर्ण, बल, स्नेह आदिका क्षय होता है । फिर भेदकी न्यूनता, धातुओं में निःसारता इन्द्रियोंमें शिथिलता, देहका रंग विवर्ण (मलिन-निस्तेज) हो जाना इत्यादि परिणाम हो जाते हैं ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, ओजके शीतल और उष्ण भेदसे २ प्रकार है । यही सब धातुओंका मूल है । यह हृदय (मस्तिष्क) में स्थित है । सारे शरीरको नियम या बन्धनमें रखनेका यही हेतु है । इस ओजके क्षयसे रोगीके रक्तकी न्यूनता हो जाती है ।

इस पाण्डु रोगके वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, और

मृज्ज (मिट्टी खानेसे उत्पन्न) भेदसे ५ प्रकार हैं; यह चरकाचार्य का मत है। सुश्रुताचार्यने मृत्तिकाजन्य पाण्डुको अलग नहीं कहा ।

पाण्डु रोगके विप्रकृष्ट (दूर) निदान पूर्वक सम्प्राप्ति—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, क्षार, खटाई, नमक, अति उष्ण, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, सेम, उड़द, तिलकी खल, तिलका तैल, पित्तप्रकोप आदि कारणोंसे अन्नका विपाक विदग्ध हो जाना, दिनमें शयन, अधिक व्यायाम, अधिक मैथुन, वमन-विरेचन आदि शुद्धि कर्ममें भूल, ऋतु परिवर्तन, मलमूत्र आदिके वेगोंका धारण, काम, चिन्ता, भय, क्रोध, शोक आदि वृत्तिसे चित्तका उपहत होना, अति शराव सेवन, मिट्टी खाना, इन कारणोंसे हृदयमें रहा हुआ पित्त दूषित होता है। फिर वायु द्वारा हृदयाश्रित दश धमनियोंमें फँका जाता है। वहाँसे सारे शरीरमें व्याप्त हो जाता है। पश्चात् त्वचा, मांस आदिका आश्रय करके कफ, वात, रक्त, त्वचा और मांस आदि दूष्योंको दूषित कर देता है। जिससे त्वचा, हरी-पीली, हल्दी जैसी या अनेकविध वर्ण युक्त हो जाती है, उसे पाण्डु रोग कहते हैं।

भगवान् धन्वन्तरिजी संक्षेपमें कहते हैं कि, अति मैथुन, अति खट्टे या नमकीन पदार्थोंका अधिक सेवन, अधिक क्षार सेवन, अति मद्यपान, मिट्टी खाना, दिनमें सोना, राई आदि तीक्ष्ण पदार्थ या तीक्ष्ण ओषधि आदिका सेवन करना, इन कारणोंसे पित्त आदि दोष प्रकुपित होकर रक्तको दूषित करते हैं; तथा त्वचा में पीलापन ला देते हैं। इनके अतिरिक्त अधिक रक्तस्राव, वृक्क स्थानकी विकृति, कृमिप्रकोप, शुक्रक्षय, शीत स्वरमें लीहावृद्धि और प्रसूति रोग, इन कारणोंसे भी पाण्डु रोग हो जाता है।

पूर्वरूप—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, हृदयस्पंदन बढ़ जाना, त्वचा पीली और शुष्क हो जाना, पसीना रुक जाना, थकावट, भोजन नहीं पचना, अरुचि, बार-बार थूकना, मिट्टी

खानेकी इच्छा, नेत्रपर सूजन, मल-मूत्रमें पीलापन और भोजन का विपाक न होना, ये सब चिह्न पाण्डुरोग होनेके पहले दृष्टि-गोचर होते हैं ।

सब प्रकारके पाण्डुके सामान्य लक्षण—कर्णनाद, लुधानाश, निर्बलता, हाथ-पैर टूटना, कम निद्रा, थकावट, भ्रम, गात्रशूल, उ्वर, श्वास, अंगकं भारीपन, अरुचि, देहमें तोड़ने समान पीड़ा, नेत्रपर शोथ, देहका रंग हरा-सा हो जाना, बाल उड़ जाना, निस्तेजता, क्रोधी हो जाना, शीतल वायु और शीतल जल लगने पर दुःख होना, (शिशिरद्वेषी), तन्द्रा रहना, पड़े रहनेकी इच्छा, बार-बार थूकना, थोड़ा बोलना, जंघाकी मांस पिण्डियोंमें तोड़ने समान पीड़ा, कटि, ऊरु और पैरोंमें पीड़ा और चढ़ने उतरनेमें अति परिश्रम होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

वातज पाण्डु निदान—वातुल आहार और उपचारसे वायु प्रकुपित होती है । फिर कष्ट देने वाला वातज पाण्डु रोग हो जाता है । इस विकारमें देह रूक्ष और अरुण वर्णकी हो जाती है ।

वातज पाण्डु लक्षण—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, हाथ-पैर टूटना, वेदना, तोड़ने समान पीड़ा, कम्प, पार्श्वशूल, शिरदर्द, मलावरोध, मुँहका स्वाद नष्ट हो जाना, शोथ और बलक्षय आदि लक्षण होते हैं ।

श्रीमाधवाचार्य कहते हैं कि, त्वचा, नेत्र, और मूत्र आदिमें रुक्षता और लाल-कालापन, अङ्ग टूटना, सुई चुभानेके सदृश पीड़ा, कम्प, आफरा, भ्रम (चक्रर), शिरदर्द, शुष्क मल, मुँहमें बिरसता, नेत्रमें नीली नसें दीखना, शोथ, कमजोरी और धड़कन आदि लक्षण होते हैं ।

पित्तज पाण्डु लक्षण—भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, जब पित्त प्रधान आहार आदिका सेवन अत्यधिक होता है; तब पित्त धातु प्रकुपित होकर रक्त आदि दूष्योंको दूषित करके पाण्डुरोग

की उत्पत्ति करा देते हैं । फिर शरीर पीला-हरा-सा हो जाना, ज्वर, दाह, तृषा, मूच्छा, मल-मूत्र पीले हो जाना, स्वेद अधिक आना, शीतल पान आदिकी इच्छा, अरुचि मुँहमें कड़वापन, उष्णता और खटाई सहन न होना, अन्नपाक विदग्ध हो जानेसे खट्टी डकारें आना, दुर्गन्धयुक्त दूटा-सा मल, दुर्बलता और चक्कर आना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

श्रीमाधवाचार्य कहते हैं कि, मूत्र, मल और नेत्र आदिमें अति पीलापन, मल दूटा हुआ होना, देह अति पीली हो जाना, दाह, तृषा, ज्वर आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

कफज पाण्डुके लक्षण—भगवान् आत्रेयने कहा है कि, कफ-वर्धक आहार आदिके अति सेवनसे कफकी अति वृद्धि होने पर वह पाण्डु रोगकी सम्प्राप्ति कराता है । फिर भारीपन, तन्द्रा, वमन, शरीर निस्तेज, सफेद-सा दीखना, मुँहसे लार गिरना, रोमांच खड़े होना, बेचैनी, मूच्छा, चक्कर, थकान, श्वास, कास, आलस्य, अरुचि, आवाज रुकना, मल-मूत्र सफेद हो जाना, चरपरे, रूक्ष और उष्ण पदार्थकी इच्छा, शोथ, मुँहमें मीठा स्वाद हो जाना आदि लक्षण कफज पाण्डु होने पर प्रतीत होते हैं ।

श्रीमाधवकराचार्य लिखते हैं कि, मुँहमें चिकना थूक आते रहना, शोथ, तन्द्रा, आलस्य, देहमें अति भारीपन, त्वचा, मूत्र, नेत्र और मुख सफेद हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

त्रिदोषज पाण्डु लक्षण—भगवान् आत्रेयने कहा है कि, तीनों दोषोंको बढ़ाने वाले आहार आदिके सेवनसे जब वात आदि तीनों दोष प्रकुपित होते हैं; तब अति दुःखदायी पाण्डुरोगकी उत्पत्ति होती है । इसमें तीनों दोषोंके मिश्रित लक्षण देखनेमें आते हैं ।

माधवनिदानकारने इस त्रिदोषज पाण्डुके लक्षण लिखे हैं कि, ज्वर, अरुचि, उवाक, वमन, तृषा, ग्लानि, क्षीणता और इन्द्रियें नष्ट हो जाना, अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियोंका अपने विषयको ग्रहण

करनेमें असमर्थ हो जाना, इत्यादि तीनों दोषोंके मिश्रित लक्षण होते हैं ।

मृज्ज पाण्डुकी सम्प्राप्ति—मिट्टी खानेका स्वभाव होजानेसे वात पित्त या कफ प्रकुपित होकर वे पाण्डुकी उत्पत्ति कराते हैं । कसैली मिट्टीसे वात, क्षार प्रधान मिट्टीसे पित्त और मधुर रस वाली मिट्टीसे कफप्रकोप होकर पाण्डु रोग उत्पन्न होते हैं । जो मिट्टी उदरमें जाती है, वह रस आदि धातुओंको शुष्क बना देती है । अविषक कच्चे रूपमें ही रसवहा स्रोतोंमें प्रविष्ट होकर मार्ग निरुद्ध कर देती है; तथा इन्द्रियोंके बल, तेज (दीप्ति), ओज और वीर्यको नष्ट करके पाण्डु रोगकी उत्पत्ति कराती है । जिससे शरीरके बल, वर्ण और जठराग्निका नाश होता है ।

मृज्ज पाण्डु लक्षण—नेत्रगोलक, गाल, भ्रू, पैर, नाभि, मूत्रेन्द्रिय आदि भागों पर शोथ, उदरमें कृमिकी उत्पत्ति, रक्त और कफ मिले पतले दस्त, तन्द्रा, आलस्य, श्वास, कास, शूल और अरुचि आदि लक्षण होते हैं ।

हलीमक लक्षण—पाण्डुरोग जीर्ण होनेपर वातपित्तप्रकोप होकर जब मन्द मन्द ताप, रक्तमें रक्तकण कम होना नेत्र, जिह्वा, मुँह, नाक और गालपर किञ्चित् शोथ, श्वास, मूर्च्छा, क्रोध, उदासीनता, तन्द्रा, हाथ-पैर टूटना, भयंकर निर्बलता, बल और उत्साह का क्षय, चक्कर आना और स्त्री सेवनमें अप्रीति आदि लक्षण होते हैं; तब हलीमक रोग कहलाता है । इस हलीमकको 'लाघरक' 'लोढर', और 'अलस' संज्ञाएँ भी दी है । इस रोगमें वात और पित्तदोष अधिक कुपित होते हैं । वर्तमानमें यह रोग तरुण स्त्रियोंको ही होता है । इस हेतुसे कितनेक विद्वान् इसे युवती पाण्डु कहते हैं ।

पानकी—पाण्डु रोग जीर्ण होनेपर यदि सन्ताप, मल फट जाना, अत्यन्त कृशता, पीला शरीर, अति पीड़ा और नेत्रोंमें

पाण्डुता आदि लक्षण प्रतीत हों; तब वह पानकी, पालकी और पल्लकी कहलाता है । इस पानकी रोगको हलीमकके अन्तर्गत ही माना है ।

पाण्डु रोगके उपद्रव—भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, पाण्डुरोगमें अरुचि, प्यास, वमन, ज्वर, शिरदर्द, अग्निमान्द्य, कण्ठमें शोथ हो जाना, निर्बलता, मूर्च्छा, ग्लानि और हृदयमें पीड़ा आदि उपद्रव होते हैं ।

असाध्य पाण्डु लक्षण—

- १—पाण्डुरोग जीर्ण होने पर शरीर अति शुष्क हो जाना ।
- २—सारे शरीरपर शोथ आ जाना और सब पदार्थ पीले भासना ।
- ३—मल थोड़े अंशमें बँधा, अधिकांशमें पतला, हरा, कफयुक्त हो जाना ।
- ४—उदास, निस्तेज मुह, त्वचा सफेद वर्ण लगी सी हो जाना, वमन, मूर्च्छा, तृषासे अति पीड़ित होना ।
- ५—रुधिरका क्षय होकर पाण्डु होना, और देह सफेद-पीली हो जाना ।
- ६—दांत, नाखून और नेत्र पाण्डुवर्णके हो जाना, तथा सब वस्तुएँ पीले रंगसे रंगी हुई प्रतीत होना ।
- ७—बाहु, जङ्घा और शिरपर शोथ आना तथा मध्य भाग (उदर आदि) दुर्बल रहना ।
- ८—मध्यभाग पर शोथ और बाहु, जंघा और शिर स्थान दुर्बल हो जाना ।
- ९—गुदा, लिङ्ग और अण्डकोषपर शोथ, ज्वर और अतिसार से पीड़ित होना तथा मृतप्रायः हो जाना ।

इन ९ प्रकारके उपद्रवयुक्त रोगियोंके रोगको असाध्य माना है । अतः यशोभिलाषी वैद्यको चाहिए कि, ऐसे रोगियोंका त्याग करें या असाध्य कह कर चिकित्सा करें ।

पाण्डु रोगका डॉक्टरी निदान ।

डाक्टरीमे पाण्डु रोगके निम्नानुसार ७ प्रकार हैं ।

- १—सामान्य पाण्डु—Anaemia ।
- २—सान्निपातिक पाण्डु—त्रिदोषज पाण्डु—Progressive Pernicious Anaemia ।
- ३—हलीमक—Chlorosis ।
- ४—कृमिज पाण्डु (हलीमक)—Tropical chlorosis ।
- ५—श्वेतजीवाणुवृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु—Leucaemia ।
 (अ) मज्जाप्लीहावृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि—Spleno-Medullary Leucaemia ।
 (आ) लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि—Lymphatic Leucaemia ।
- ६—लसीकाग्रन्थिवृद्धिसह घातक पाण्डु—Anaemia Lymphatica ।
- ७—लसीका घातु वृद्धिजन्य असाध्य पाण्डु—Status Lymphaticus Lymphatism ।

पाण्डु रोग ।

पाण्डुरोग—एनीमिया—Aneamia ।

डाक्टरी मतानुसार रक्तमे रक्ताणु और ओजस द्रव्य (Albuminoid) मिश्रित पदार्थका हास होनेसे रक्तकी हीनावस्था होती है । फिर सार्वज्जिक क्षीणता और देहकी विवर्णता होने पर पाण्डु रोग कहलाता है । मुखमण्डल, नेत्रकी श्लैष्मिक कला, नाखून और होठोमे रक्तकी हीनावस्था प्रतीत होने पर पाण्डु रोगका बोध हो जाता है ।

मुख्य रोग निदान—इस रोगकी सम्प्राप्ति ३ हेतुओंसे होती है ।

(१) देहमें घूमने वाले रक्तकी न्यूनता, (२) कैशिकाओंकी अपूर्ण-वस्था, (३) रक्ताणुओंका हास ।

(१) रक्तकी न्यूनता—फुफ्फुस, आमाशय, अन्त्र या गर्भाशय आदिसे अधिक रक्तस्राव होकर देहमें से रक्तका परिमाण कम हो जाता है; अथवा परम्परासम्बन्धसे भी रक्तकी न्यूनता हो जाती है । अति कष्ट सह मासिक धर्म आने या आमाशय, वृक्क आदिकी चिरकारी व्याधिके हेतुसे भोजनका सम्यक् पाक न होना, या उपवासके हेतुसे रक्तका परिमाण कम हो जाता है ।

(२) कैशिकामें रक्तहीनता—अतिशय भय, चिन्ता, हृद्रोग या किसी इतर कारणवशतः हृदयके खण्डोंका आकुंचन योग्य बलसे न होने पर कैशिकाओंमें यथोचित पूर्ण रक्त नहीं पहुँच सकता । जिससे देह अति शिथिल और निस्तेज हो जाती है ।

(३) रक्ताणुओंकी न्यूनता—रक्तमें से रक्ताणुओंका अधिक हास होने पर रक्तकी न्यूनता हो जाती है । फिर देह हरी-पीली-सी हो जाती है ।

सामान्यतः विविध अवस्था और विविध कारणोंसे पाण्डुताकी प्राप्ति हो जाती है । कितनेक कुटुम्बोंमें वंशानुगत पाण्डुरोग आता है । उनके लिये किसी भी प्रकार की चिकित्सासे लाभ नहीं पहुँच सकता । अनेक व्यक्ति बड़े शहरोंके अंधकारमय मलिन वातावरण वाले मोहल्लेमें रहते हैं; अनेक रात्रि को जागरण करते रहते हैं; अनेकों को योग्य आहार नहीं मिलता; और अनेकों को मानसिक चिन्ता बनी ही रहती है । यदि इन सब मनुष्योंको विशुद्ध वायु, सूर्यका प्रकाश, यथोचित व्यायाम, पथ्य पौष्टिक भोजन और चिन्ताका अभाव आदि साधनों की सुविधा मिल जाय, तो पाण्डुता सहज दूर हो जाती है ।

कितनेक अज्ञानी या व्यसनी मनुष्य छोटी आयुमें मैथुन सेवन, अति मैथुन, हस्तमैथुनाधिक्य, अकाल रतिसेवन आदि कारणोंसे पाण्डु

रोगसे ग्रस्त हो जाते हैं । इस तरह बाल्यावस्थामे तमाखू सेवनसे भी पाण्डुता आ जाती है ।

इनके अतिरिक्त विषमज्वर, काला आजार, इन्फ्ल्युएन्जा, तीक्ष्ण आमवात आदि सक्रामक रोग, उपदंश, नाग (सीसा) विष, उदरकृमि, आम्राशय या आतो की व्याधियों (अजीर्ण रोग, अतिसार, कर्कसफोट आदि), मधुमेह, क्षय, चिरकारी पूयभवन, मुख्य धमनि, वृक्क, उपवृक्क, यकृत अथवा प्लीहाके चिरकारी रोग, रक्तमें श्वेत जीवाणुवृद्धि (Leukaemia) और लसीका ग्रन्थियों की वृद्धिसह पाण्डु (Pseudo leukaemia) आदि कारणोंसे इस गौण पाण्डुरोग की उत्पत्ति हो जाती है । एव गर्भावस्था, सन्तानका जन्म होना, स्वाभाविक मासिक धर्म स्थगित होना, दीर्घकाल तक स्वप्नदोष, बालक को अत्यधिक स्तन्यदान, जीर्ण अन्नप्रदाह, मानसिक चिन्ता और उपवास आदि कारण भी पाण्डु रोग की उत्पत्तिमें सहायक हैं ।

पाण्डुरोगकी सम्प्राप्ति होने पर रक्तमें प्राणवायु मिश्रित पदार्थ (Oxidation) कम हो जाता है, और रक्त अशुद्ध बन जाता है । फिर देह को सम्यक् पोषण नहीं मिलता । परिणाममें इन्द्रिया स्वकार्यक्षम नहीं रह सकती; रक्तजीवाणु क्षीण होते हैं । धमनियों की दीवार मृदु हो जाती है, उसमेंसे रक्तवारिका स्राव अधिक होता रहता है; इस कारणसे शोथ आ जाता है, श्लैष्मिककलामेंसे रक्तस्राव होने लगता है; तथा अनेक इन्द्रियोमें मेदापक्रान्ति (Fatty degeneration) हो जाती है । फिर दोनों परस्पर वर्धक हो जाते हैं; अर्थात् मूल रोगसे इन्द्रिय विकृति और इन्द्रियकी विकृति होनेसे दोषवृद्धि, ऐसा दुष्ट चक्र (Vicious Circle) चलने लगता है ।

मासमें क्षीणता आजानेसे हृत्कोष विस्तृत होजाता है । मस्तिष्क विकृति होजानेसे रोगी चिड़चिड़ा (Peevish) होजाता है ; अथवा निरुत्साही और उदासीन बन जाता है; तथा निम्न प्रदेशमें रहे हुए और निराधार अवयवों पर शोथ प्रतीत होता है ।

रक्तकी अल्पताके हेतुसे पाण्डु रोगकी सम्प्राप्ति होने पर निम्नानुसार कारणोंको श्रेणीबद्ध कर सकते हैं ।

(१) रक्तरंजक निर्माणकी स्वल्पतावशतः पाण्डु होनेमें विशेषतः लङ्घन कारण होता है । लङ्घनसे नीरक्तावस्थाकी सहज उत्पत्ति होजाती है ।

(२) रक्तस्रावजन्य पाण्डुमें अभिघातिक रक्तस्राव, अधिक रजःस्राव, अशंसे रक्तस्राव, कांच आदि पदार्थ सेवनसे रक्तस्राव, अधिक पूयनिःसरण, अधिक स्तन्यनिःसरण आदि कारण होते हैं ।

(३) विषमज्वर आदि व्याधि होने पर गौण पाण्डु (Secondary or Symptomatic Anaemia) की उत्पत्ति होती है ।

(४) पारद, शीशा आदि विष पदार्थ सेवन जनित पाण्डु ।

(५) लसीका ग्रन्थि और प्लीहावृद्धिजन्य पाण्डु ।

(६) हलीमक (युवती पाण्डु-Chlorosis) ।

(७) मूलभूत पाण्डु (Primary Aaemia and Essential or Idiopathic Anaemia) ।

लक्षण—इस रोगमें सर्वाङ्गमें त्वचा कोमल, शिथिल और मलिन निस्तेज रंगकी होजाती है । ओष्ठ, जिह्वा, मुँहके भीतरकी श्लैष्मिक कला, नेत्रके भीतरकी श्लैष्मिक कला आदि रक्तहीन होजाते हैं । मुख-मण्डल निस्तेज प्रतीत होता है । किसी-किसी रोगीको शीर्णता सामान्य आती है ; और किसी-किसीको अत्यधिक शीर्णता आजाती है । देहबल कम होजाता है । हाथ-पैर शीतल होते हैं । अनेकोंको पैरों और नेत्रों पर शोथ आजाता है । रोगी निस्तेज, निद्रातुर और उत्साह-रहित हो जाता है । मुखमण्डल, मस्तिष्क और पशुकाओंके भीतरकी मांस-पेशियोंमें शूल सदृश वेदना होती है । शिरदर्द, तन्द्रा, चक्कर और बेहोशी प्रतीत होते हैं । समग्र शारीरविधान विकारग्रस्त होनेसे जीवन-क्रिया मृदु और क्षीण भावसे चलती है । श्वासोच्छ्वास जल्दी होता है ; और थोड़े ही परिश्रमसे श्वास भर जाता है ।

नाड़ी मृदु, क्षीण और द्रुतगामी भासती है । किसी-किसी व्यक्तिको कभी-कभी नाकमेसे रक्तस्राव होता है । हृदयमें वेदना और कम्प उत्पन्न होते हैं । हृदयकम्पके साथ हृदयमूलके ऊपर बृहद्धमनीके ऊर्ध्वगामी मुड़े हुए भाग पर हृदयके आकुंचनके पश्चात् कोमल मर्मर ध्वनि सुनने मे आती है । हृदयक्षीण हो जानेसे वह सामान्य कारणसे उत्तेजित हो जाता है । हृदयखण्ड प्रसारित हो जानेसे हृत्कपाट सम्यक् प्रकारसे बन्द नहीं होते । जिससे मर्मर ध्वनि उत्पन्न होती है । मन्या शिरामेसे तरल रक्त निम्न ओर संचालित होता है, उस समय उस पर भ्रमरवे गुञ्जारके सदृश आवाज उत्पन्न होती है । सब रक्तवाहिनियोंमे रक्तकी कमी हो जाती है; मस्तिष्कमे रक्तकी न्यूनता हो जानेसे चक्रर आते रहते हैं । यदि रोग अति प्रबल हो, तो मूर्च्छा आच्छेप आदि वातप्रकोपके लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

परिपाक विधानमें विशेष विलक्षणता प्रतीत होती है । लुधाका लोप या लुधाकी विकृति, जिह्वा श्वेतवर्ण की रक्तविहीनता विशिष्ट हो जाना, अपचन, उबाक, निद्राभग होने पर और भोजनके अंतमें उबाककी वृद्धि होना और विशेषतः प्रबल बद्धकोष्ठ आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । स्त्रियोंको सतत रजोवैलक्षण्य, रजःस्राव कम होना, रक्तहीनता उत्पादक रक्तप्रदर, रजःकृच्छ्र और श्वेत प्रदर आदि विकार उत्पन्न होते हैं । सामान्यतः मूत्रका परिमाण बढ़ जाता है । मूत्रका वर्ण फीका होता है । मूत्रमें कभी विपरीतता भी देखनेमे आती है ।

सामान्यतः यह रोग दीर्घकालस्थायी और मृदु गति वाला होता है । मूलभूत पाण्डुमें अपथ्य योग होनेपर सान्निपातिक घातक पाण्डु बन जाता है । यदि इसकी यथा समय चिकित्सा की जाय, तो रोग दूर हो जाता है ।

रक्तस्रावसे पाण्डु होने पर बहुत जल्दीसे रक्तवारिको पूरा कर रक्ताणु बननेका प्रारम्भ हो जाता है । उस समय रक्तरंजक कम होता है । रक्ताणुमें जीवकेन्द्र होते हैं । व्याकुलता अधिक रहती है; तथा वायु सेवनकी इच्छा बनी रहती है । यदि रक्तस्रावसे पाण्डुता न आई हो,

इतर रोगों द्वारा पाण्डुता आई हो, तो रक्ताणुओंकी संख्या कम हो जाती है; और रक्तरंजक अति न्यून हो जाता है । जिस रोगके हेतुसे पाण्डुता आई हो, उसका असर रहजानेसे उस रोगके अनुरूप नाना प्रकारके लक्षण देखनेमें आते हैं ।

आयुर्वेदने चिकित्सा भेदसे गौण पाण्डुके वातज, पित्तज, कफज और कृमिज, ये चार विभाग किये हैं; और मारक रोगोंके साथ जो सामान्य लक्षण रूपसे पाण्डुता आ जाती है, उसका आयुर्वेदने पाण्डु रोगमें अंतर्भाव नहीं किया ।

रोगविनिर्णय—इस रोगका निर्णय अति सरलतासे हो जाता है; किन्तु इसके कारणका निरूपण करना, यह अनेक स्थलोंमें कठिन होता है । विषम ज्वर, राजयक्ष्मा, उपदंश, ओजक्षय आदि किस रोगके लक्षण रूपसे पाण्डु हुआ है, इसका निर्णय करना चाहिये । यदि पाण्डु गौण नहीं है, मूलभूत है, तो हलीमक और श्वेताणुवृद्धिमय पाण्डुका प्रभेद कर लेना चाहिए । हलीमक रोगमें रक्तवारिके भीतर कुछ भी परिवर्तन नहीं होता; और उसमें त्वचा पीताभ वर्ण धारण करती है; तथा शीर्षता और शोथ न होने पर श्वेताणुवृद्धिमय पाण्डुका निर्णय रक्त, प्लीहा और लसीका ग्रन्थियोंकी परीक्षा द्वारा हो जाता है ।

रोगावस्था—पाण्डु रोगमें रक्तके भीतर मुख्य तीन प्रकारके परिवर्तन लक्षित होते हैं । (१) रक्तके परिमाणमें न्यूनता (२) रक्ताणुओंके वर्णद्रव्यका हास (३) रक्तके ओजस उपादानका हास । इन प्रकारोंका वर्णन पहले रक्त विवेचनके भीतर रक्तके परिवर्तनमें लिख आये हैं ।

(२) सन्निपातिक पाण्डु रोग ।

सन्निपातिक पाण्डु—प्रोग्रेसिव पर्निशियस एनिमिया Progressive Pernicious Anaemia ।

रक्तमें रक्ताणुओंका अत्यधिक हास, नेत्रका अन्तरीयपटल (Retina),

त्वचा, श्लैष्मिककला और आभ्यन्तरिक यन्त्रसमूह, सबमें बूद बूद रूपसे रक्तस्राव सह अपेक्षाकृत विरल, चिरकारी (जीर्ण) पाण्डु रोगको डाक्टरोंमें प्रोग्रेसिव पर्निशियस एनिमिया कहते हैं । इस रोगको एसेन्शियल एनिमिया और इडियोपैथिक एनिमिया (*Essential Anaemia and Idiopathic Anaemia*) भी कहते हैं । यह रोग विशेषतः २५ वर्षसे बड़ी आयुवाले पुरुषोंको होता है ।

यह रोग चिरकारी, वर्षिष्णु और मारक है । इस रोगसे रक्तका परिमाण और रक्ताणुओंकी संख्या, दोनों अत्यन्त कम हो जाते हैं, ओजस पदार्थ और सौत्रिक पदार्थका ह्रास होता है; तथा रक्तकी सयम-शीलता भी घट जाती है । श्वेताणुओंकी वृद्धि नहीं होती, अस्थियोंके भीतर मज्जा बढ़ जाती है, तथा वह रक्त आभासवाली, अस्थिमय और जीवकेन्द्र रहित सूक्ष्म रक्ताणु (*Microcytes*) विशिष्ट हो जाती है । शनैः शनैः हृदय, बड़ी बड़ी धमनिया, क्वचित् कैशिकाएँ भी सब सीमाबद्ध या व्यास मेदापक्रान्तियुक्त लक्षित होते हैं । आमाशय, यकृत, प्लीहा, वृक्क आदि नीरक्तावस्था ग्रस्त हो जाते हैं । फिर इनकी मेदापक्रान्ति होने लगती है । यह रोग बहुधा शनैः-शनैः बढ़ता है; क्वचित् अति शीघ्र प्रगति करता है ।

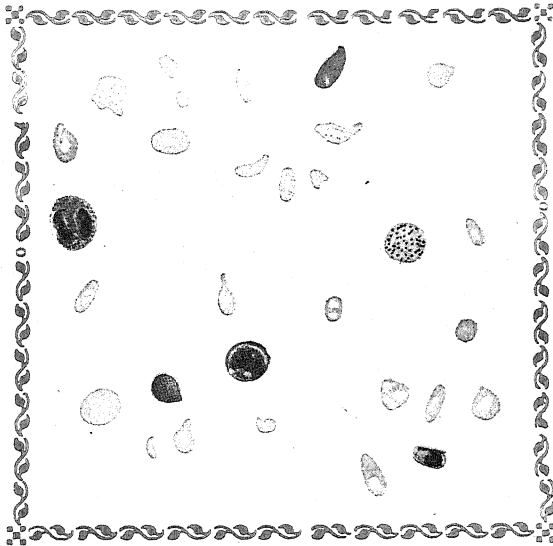
निदान—इस रोगका कारण अभीतक अज्ञात है । रक्तमें विषोत्पत्ति, अन्त्रमे विष अथवा अस्थिमज्जागत विषका रक्तमें प्रवेश होनेपर इस रोगकी उत्पत्ति होती है, ऐसा अनुमान होता है । जब आमाशयिक रक्तकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है, तब यह रोग प्रकाशित होता है । इस तरह दन्त-पूय, उदरकुमि और अन्त्रक्षयसे भी इस रोगकी उत्पत्तिमें सहायता मिल सकती है ।

कभी-कभी निर्बल सगर्भा स्त्रियोंको गर्भ धारणके ६ मासके पश्चात् इस रोगकी प्राप्ति हो जाती है । जिससे समयके पहले प्रसव हो जाता है; या रोगिणीकी मृत्यु हो जाती है । यह रोग वशपरम्परा भी उतरता है ।

लक्षण—अत्यधिक रक्तहीनता होनेसे अति निर्बलता आ जाना,

त्रिदोषज शक्तिक पाण्डु रोग में
रक्तके भीतर रक्ताणुओंका हास

चित्र नं० ८



THE BLOOD IN PERNICIOUS ANAEMIA.

धूकमें मिलने वाले राजयक्ष्माके कीटाणु

चित्र नं० ८



TUBERCLE BACILLI IN SPUTUM.

चक्र, अस्थिरता, नेत्र और त्वचाका वर्ण निस्तेज हो जाना, भोजनका परिपाक न होना, जिह्वा फट जाना, अग्निमान्द्य, निद्रानाश, उबाक, वमन, भयंकर अतिसार, नाखून और मल-मूत्र पीला होना, मुखसे रक्तस्राव, क्वचित् नाकसे रक्तस्राव, क्वचित् कामला, फिर पित्तज पाण्डु रोगमें कहे हुए दाह, विषम ज्वर, क्वचित् तीव्र ज्वर, ज्वर जानेपर अति निर्वलता आ जाना, श्वासकृच्छ्रता स्फूर्तिका नाश आदि लक्षण होते हैं । बीच-बीचमें रोगीको अच्छा हो जानेका भास होता है ; परन्तु धीरे-धीरे पुनः विकारकी वृद्धि होती है ।

त्वचापर चारों ओर धब्बे हो जाते हैं । शोथ पैरोंसे घुटनोंकी ओर बढ़ता जाता है । बलक्षय होनेपर मेद बढ़ जाता है । इस हेतुसे देह कुश नहीं भासती । देखनेमें रोगी पुष्ट भासता है; किन्तु देह अत्यन्त निस्तेज हो जाती है । रक्तहीनताके हेतुसे हृदयमें निरन्तर प्रबल और स्थिर मर्मर ध्वनि सुननेमें आती है । स्थान-स्थानसे रक्तस्राव, नेत्रके अन्तरीय पटलमें रक्तस्राव, रक्तमें रक्ताणुओंकी संख्या बहुत कम हो जाना, रक्तरंजक द्रव्यकी वृद्धि होना, रक्तविकृति हो जानेसे हृदयविस्तार और हृत्संद वेगकी वृद्धि होना, रक्ताणुओंकी आकृति बदलजाना, श्वेताणुओंकी संख्या कुछ कम हो जाना, श्वास, बार-बार मूच्छा आ जाना, किसी-किसी रोगीको तीव्र अतिसार, क्वचित् ऊरुस्तंभ या वात प्रकोपजन्य इतर विकार हो जाना इत्यादि लक्षण देखनेमें आते हैं । रोग बढ़ जानेपर किसी-किसीको रात्रिमें ज्वर १०२-१०४ डिग्री तक बढ़ जाता है । प्रातःकाल कम हो जाता है; परन्तु रोगके प्रारम्भ कालमें तथा रोगपूर्ण रूपसे बढ़ जानेपर कितनेक सप्ताह तक ज्वर नहीं आता; एवं रोगकी अन्तिमास्थामें भी ज्वर नहीं रहता ।

नेत्रके अन्तरीय पटलमें रक्तस्राव होने पर दृष्टिविकार होता है । रोग जितना बढ़ता है; उतना ही बुद्धिशक्ति—विवेकशक्तिका हास हो जाता है; तथा अनेक इन्द्रियोंकी क्रियामें क्षीणता उपस्थित होती है । अन्तमें रोगी मूर्च्छाविस्थाको प्राप्त होकर मृत्युके मुँहमें गिर जाता है ।

यह रोग शनैः-शनैः बढ़ता जाता है । कभी-कभी कुछ समयके लिये लक्षण कम हो जाते हैं । कभी कोई रोगी बिल्कुल अच्छे हो गये हैं । फिर अनेक वर्षों तक जीवित रह गये हैं ।

सम्प्राप्ति—रक्तमें रक्तजीवाणु अति कम हो जाते हैं । एक घन मिलीमीटरमें ५० लाखके स्थान पर ५ लाख या इससे भी कम हो जाते हैं; परन्तु रक्तरंजक द्रव्यका रंग-अनुपात १॥ हो जाता है । रक्तजीवाणुओंकी आकृति विचित्र हो जाती है । रक्तमें निस्तेजता आ जाती है, और रक्तमें परिवर्तन हो जाता है ।

यकृतमें मेदोपक्रान्ति, यकृत, प्लीहा और वृक्कमें रक्तद्रव्यके भीतर लोहसंग्रह और क्वचित् वृक्कप्रदाह हो जाता है ।

यकृतमें संचित लोह (हीमोसिडेरीन-Haemosiderin) और मूत्रमें निकलने वाले वर्णद्रव्य (यूरोबाईलिन-Urobilin) का पृथक्करण करनेपर जो द्रव्य मिलता है; वही रक्त विनाश (Haemolysis) का निश्चय कराने वाला है ।

रोग विनिर्णय—रोगकी शनैः शनैः प्रगति होनेसे और चिकित्सा द्वारा लाभ न होनेसे इस रोगका निर्णय होता है । श्वेत जीवाणु वृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डुमें यकृतप्लीहावृद्धि हो जाती है; किन्तु इस रोगमें यकृतप्लीहावृद्धि नहीं होती, एवं श्वेताणुओंकी सख्यामें भी वृद्धि नहीं होती । इस परसे दोनों रोगोंका भेद हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग असाध्य है । अनेक रोगियोंकी १-११ वर्षके भीतर मृत्यु हो जाती है । बहुत थोड़े रोगी वर्षों तक जीवित रहते हैं ।

(३) हलीमक ।

हलीमक—युवतीपाण्डु-क्लोरोसिस-Chlorosis ।

रोग परिचय—यह १५ से २५ वर्षकी आयु वाली युवतियोंको होता है । आयुर्वेदमें इसे स्त्रियोंका रोग नहीं लिखा; किन्तु चरक सहिता

कथित सब लक्षण इस रोगमें प्रतीत होते हैं । इस हेतुसे विद्वानोंने इसे हलीमक संज्ञा दी है । इस रोगमें त्वचा हरी-पीली हो जाती है; रक्तमें से रक्ताणुओंकी संख्या $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ हो जाती है; रक्त-रंजकका अत्यधिक हीन-योग होता है; तथा रक्तकणोंकी आकृतिभी बदल जाती है । इस रोगमें प्लीहा, लसीकाग्रन्थियाँ और अस्थि-मज्जाके भीतर कोई वैलक्षण्यकी प्रतीति नहीं होती । रक्तवारिमें भी परिवर्त्तन नहीं होता । रक्तस्थ ओजस पदार्थके परिमाणमें न्यूनता अथवा अधिकता हो जाती है । इनके अति-रिक्त सब धमनियाँ, विशेषतः बड़ी धमनियोंके भीतरकी कला मेदोप-क्रान्तियुक्त हो जाती है; और उनकी दीवार पतली हो जाती है । हृदय की मांसपेशी मेदोपक्रान्तिग्रस्त होती है; तथा शोणित संचालन विधानमें भी इतर विविध अस्वाभाविकता आ जाती है । यह रोग विशेषतः सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायुसे वंचित रहने वाली निर्बल स्त्रियोंको हो जाता है; किन्तु कभी-कभी अकस्मात् सबल स्वस्था युवतीको भी हो जाता है ।

निदान—इस रोगका सच्चा हेतु अभी तक अज्ञात है; किन्तु बद्ध-कोष्ठसे उत्पन्न विषका आघात, धमनीकी दीवार पतली हो जाना, लोह-मय अन्न प्रतिकूल होना, मासिक धर्ममें खून अधिक जाना और रक्तमें रक्तजलकी वृद्धि हो जाना, ये सब कारण हैं । ऐसी-ऐसी अनेक कल्पनाएं विद्वानोंने की हैं । परन्तु इनमें से कोई भी एक सर्वत्र लागू नहीं होती ।

लक्षण—चरकसंहिताके चिकित्सित स्थान (अ० २० श्लोक १२८-१२९) में कहे हुए श्रम, बलक्षय, उत्साहनाश, श्वास, हृदय-स्पंदन, धबराहट, शिरमें शूल, कान गूँजना, अग्निमांघ, हरी-पीली त्वचा, मलावरोध और चक्र आना आदि सब लक्षण प्रतीत होते हैं । केवल 'स्त्रीष्वहर्षो' इस लक्षणका अर्थ पुरुष सहवासमें अप्रीति किया जाय; तो हलीमकके पूर्ण लक्षण मिल जाते हैं ।

इस रोगमें देह कृश नहीं होती; शरीरकी चर्बी कम नहीं होती । इस हेतुसे रोगिणी पुष्ट-सी भासती है । मासिक धर्म अनियमित आना, मासिक धर्ममें कष्ट होना, या मासिक धर्म न आना, श्वेत प्रदर, मूत्रका

रग फोका हो जाना, रक्त-रजककी न्यूनता, रक्तमें रक्तवारि बढ़ जानेसे निस्तेजता, हृत्कोषविस्तार और हृदयमें सर्वत्र परिवर्तनशील मर्मरध्वनि (Hemic Murmur), सुननेमें आना (यह ध्वनि फुफ्फुसके समीप प्रदेशमें अधिक स्पष्ट होती है), मन्दज्वर रहना और जननेन्द्रियका यथोचित विकास न होनेसे स्तन छोटे रह जाना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

मन्या शिरा पर एक प्रकारकी विलक्षण आवाज सुननेमें आती है; उसे डाक्टरीमें वेनस हम (Venous Hum) सज्ञा दी है । हृदयके अलिन्द खण्डोंमेंसे मर्मर ध्वनि निकलती है, श्वास शिथिल हो जाता है; आमाशयमें आहार न होनेपर शूल चलता है, तथा सर्वाङ्गमें स्थान-स्थानपर शूल निकलता रहता है ।

रोगिणीकी क्षुधा मन्द पड़ जाती है । भोजन कर लेने पर १-२ घण्टेमें पेट भारी हो जाता है । शारीरिक शक्ति दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती है । दोनों पैरोंमें भारीपन आ जाता है, मांस पेशियाँ निर्वल हो जाती हैं । मुँह, हाथ, पैर, नेत्र, होठ और गाल आदिमें निस्तेजता आ जाती है; तथा इन सब पर कुछ शोथ आ जाता है । थोड़ा-सा कार्य करने पर थकावट आ जाती है । मानसिक श्रम लेनेपर शिरःशूल हो जाता है; और चक्कर आने लगता है । मनमेंसे उत्साह नष्ट हो जाता है । निद्रा अत्यधिक बढ़ जाती है । कभी-कभी ज्वर १००-१०१ डिग्री तक आ जाता है । अनेक रोगिणियोंमें अतन्त्रक (Hysteria) के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं । रोग बढ़ जानेपर आमाशयमें क्षत हो जाता है, और भयंकर बद्धकोष्ठ उपस्थित होता है ।

रोग विनिर्णय—इस रोगके और क्षयके कुछ लक्षण समान प्रतीत होते हैं; किन्तु निष्ठीवन परीक्षा, ज्वराधिक्य, प्रस्वेदकी अधिकता, श्वास और कास आदि लक्षणोंसे क्षय रोग पृथक् हो जाता है ।

इस रोगमें रक्ताणु और श्वेताणुओंके अनुपातमें अन्तर नहीं पड़ता । इस परसे लसीकाग्रन्थिविकारजनित पाण्डु रोगसे इसका सहज प्रभेद हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग लोह चिकित्सासे निःसंदेह साध्य होजाता है । धैर्यपूर्वक ३-४ मास तक चिकित्सा करनी चाहिये । ताप्यादि लोह (२० पृ० ४३७) से इस रोगमें सत्वर और स्थिर लाभ पहुँचता है । पूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति न होने पर कभी-कभी इस रोगका आक्रमण पुनः पुनः भी होजाता है । यदि इस रोगमें उपद्रवरूपसे आमाशयक्षत या राज्यक्षमा आदि रोगोंकी संप्राप्ति हो जाय, तो रोग असाध्य होजाता है ।

(४) कृमिजपाण्डु (हलीमक)

कृमिज पाण्डु—ट्रोपिकल क्लोरोसिस—इजिप्शन क्लोरोसिस—
अन्कायलो स्टोमियासिस—टनल एनिमिया—माइनर्स एनिमिया—
Tropical Chlorosis—Egyptian Chlorosis—Ankylo-
stomiasis—Tunnel Anaemia—Miner's Anaemia—

यह अन्त्रदा कृमि (Hook worm) जन्य पाण्डुरोग है । इस कृमिका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ ८०६ में किया है । इस कृमिजन्य पाण्डुरोगमें आबुर्वेदीय हलीमक रोगके लक्षण देखने में आते हैं । इस रोगके भयप्रद कृमि इस समय भारतवर्षमें प्रतीत नहीं होते ; इन कृमियोंका निवासस्थान अधिकतर अमरीकामें हैं ।

निदान—अन्त्रदा कृमिवशतः पाण्डु होनेमें मुख्य ३ कारण होते हैं । कृमियों के दंशित स्थानसे रक्तसाव, (२) आमाशय और अन्त्रके प्रदाहजनित पचन विक्रिया और पोषण क्रियामें प्रतिबन्ध, (३) कृमिओं के हेतुसे रासायनिक परिवर्तन (Metabolism) या पाचन विक्रियासे उत्पन्न विषका रक्तमें प्रवेश ।

लक्षण—कृमि रोग बढ़जाने पर शारीरिक उत्ताप कुछ बढ़ जाता है । आध्मान, वमन, उदर पीड़ा आदि होते हैं । फिर रोगकी परिणता-वस्थामें शारीरिक उत्ताप स्वाभाविककी अपेक्षा न्यून लक्षित होता है । नेत्रकी श्लेष्मिक कला अत्यधिक रक्तहीनावस्था को प्राप्त होजाती है, जिससे नेत्र श्वेत भासते हैं । दधानाश, चलनेमें कष्ट, यन्त्रणाजनक

श्वासकुच्छ्रता, हृत्कम्प, नेत्रके अन्तरीय पटलमें रक्तस्राव, दृष्टिमान्द्य, कानमें गुंज, चक्कर आना, कभी-कभी मूर्च्छा आना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। हरी-पीली त्वचा, बलक्षय, बेचैनी और नपु सकृता आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

कृमि विकार बढ़ने पर रक्तमें विषप्रवेश होकर परिवर्धनशील पाण्डु की प्राप्ति होती है। फिर क्रमशः हृदय और कितनेक यन्त्रोंमें मेदापक्रान्ति और रक्तरस निकलता है, शोथ आजाता है। फिर रोगी मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

मृत्युके पश्चात् परीक्षा करने पर विदित होता है कि, देह कुश नहीं होती, किन्तु स्थूल होती है। मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण, फुफ्फुस और इतर यन्त्रोंमें निस्तेजता और रक्तहीनावस्था आ गई है। अन्न की परीक्षा करने पर सर्वत्र अन्नदा कृमि देखनेमें आते हैं। एव कितनेक स्थान पर रक्तस्रावके चिह्न तथा आमाशय और अन्न की प्रादाहिक अवस्थाका बोध होता है। हृदय कोमल, शिथिल, पतला और पाण्डुवर्णका या पीताम्ब होता है। हृदयकी दीवार मेदापक्रान्ति ग्रस्त होती है। एव किसी किसी गह्वर, मस्तिष्क और फुफ्फुस कोषमें रसनिक्षिप्त देखनेमें आता है।

(५) श्वेतरक्ताणुवृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु ।

श्वेतरक्ताणुवृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु—ल्युकाेमिया—ल्युकोसाइथीमिया—Leucaemia—Leucocythemia ।

रोग परिचय—यह व्याधि रक्तमें श्वेत जीवाणुओं की अत्यधिक वृद्धि रूप है। इसमें रक्तस्राव, मज्जा विकृति तथा प्लीहा और लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस रोगमें दो प्रकार हैं। (१) प्लीहा और अस्थिमज्जाकी वृद्धिजन्य (२) लसीका ग्रन्थियोंकी विकृति जन्य। इस रोगमें प्लीहा, मज्जा और लसीका ग्रन्थियोंके भीतर अधिकांशमें परिवर्तन लक्षित होता है। इनके अतिरिक्त यकृत, वृक्क, फुफ्फुसावरण और उदर्याकलाकी लसीका

ग्रन्थियोंमें भी वृद्धि हो जाती है । फिर रोगक्रान्त यन्त्र बहुत बढ़ा भासता है ।

सामान्य लक्षण—यह चिरकारी व्याधि है । प्रथमावस्थामें रोगका निर्याय नहीं होता । कभी कभी यह रोग इतर रोगोंके पश्चात् प्रकाशित होता है । रोग बढ़ने पर सर्वाङ्गमें निस्तेजता, पाण्डुता और स्फूर्ति नाश दिखाई देते हैं । दुर्बलता, अतिसार, शीघ्रश्वासोच्छ्वास, अनेक स्थानोंसे रक्तस्राव, प्रस्वेदाधिक्य, दोपहरके पश्चात् मंद ज्वर, बेचैनी, मूत्रमें यूरिया के परिमाण की वृद्धि, उदरमें कभी कभी वेदना आदि लक्षण होते हैं । रोगीका स्वभाव उग्र-चिड़चिड़ा हो जाता है । यह रोग बालक को होने पर फुफ्फुसप्रदाह तथा प्रौढ़ व्यक्तिको होने पर जलोदर और शोथ रूप उपद्रवों की प्राप्ति होती है । नेत्रके अन्तरीय पटलमें रक्तस्राव और प्रदाह आदि हो जाते हैं । फिर दृष्टिविकार, बधिरता, असहनशीलता आदि होते हैं । जुघानाश, अपचन, उरुफलकास्थिमें वेदना और हृदयमें कम्प आदि पाण्डुरोगकथित विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

रक्तपरीक्षा करने पर रक्तका वर्ण अपेक्षाकृत फीका प्रतीत होता है । रक्ताणुओं की संख्या घट जाती है ; और श्वेताणुओं की संख्या बढ़ जाती है ; तथा रक्तवारिमें विशेष रूप दानामय (Granular) पदार्थ उत्पन्न होजाता है ।

(अ) मज्जा-प्लीहावृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि ।

मज्जा-प्लीहावृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि—स्प्लीनो मेड्यूलरी ल्युकीमिया—
Spleno-medullary Leukaemia ।

रोग परिचय—इस रोगमें अस्थिमज्जा और प्लीहाकी अहेतुकी वृद्धि होकर श्वेताणुओंकी वृद्धि होजाती है । प्लीहावृद्धि होनेसे उदर का वाम प्रदेश अति बढ़ जाता है । प्लीहास्थानमें भार और पीड़ाका भास होता है । किसी-किसी रोगीकी प्लीहाको दबाने पर वेदना (Splenodynia) का अनुभव होता है । कभी-कभी स्थानिक

उदर्याकलाके प्रदाह वशतः या अकस्मात् प्लीहाकी अत्यन्त वृद्धि होनेसे प्लीहाके ऊपर रहे हुए आच्छादन (Fibro-elastic Capsule) का विस्तार होजाता है । जिससे रोगीको शूल चुभानेके सदृश तीव्र वेदना होती रहती है । यह रोग स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है । एवं पूर्ण युवावस्थामें बाल्य और वृद्धावस्थाकी अपेक्षा अधिक होता है ।

निदान—इस रोगका सच्चा कारण अभीतक जाननेमें नहीं आया । किसी सेन्द्रिय विष जनित होना चाहिए । परन्तु यह विष कैसे उत्पन्न हुआ, ये सब बातें अभी तक अन्धकारमें हैं ।

सम्प्राप्ति—इस रोगके हेतुमें रक्तमें विलक्षण परिवर्तन होजाता है । रक्ताणु प्रतिघन मिलीमीटरमें ५० लाखके स्थानपर २०-३० लाख रह जाते हैं । एव इनका वर्ण, आकृति और रचना भी बदल जाते हैं । रक्ताणुओं की संख्याका अति हास और श्वेताणुओंकी अति वृद्धि (७००० के स्थान पर ४-५ लाख) होनेसे दोनोंके अनुपातमें बड़ाभारी अन्तर होजाता है । स्वस्थावस्थामें दोनोंके बीचमें ७००:१ अनुपात रहता है । उस स्थान पर कभी-कभी ३:१ (श्वेताणु) होजाते हैं । इस रोगमें विशेषतः प्लीहाकी अति वृद्धि होजाती है । और वह सारे उदरमें फैल जाती है । मज्जा विकृति होनेसे मज्जामें रहने वाले अनेक जीव-केन्द्रवाले बृहज्जीवाणु (Myelocytes) जो कभी रक्तमें नहीं मिलते, वे अवतीर्ण होते हैं । अम्लरगेच्छु श्वेताणुओंकी भी वृद्धि होती है ।

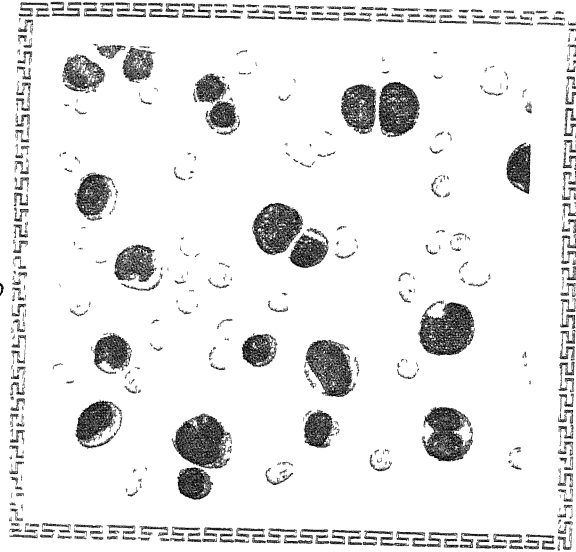
लक्षण—प्लीहावृद्धि, यकृतकी कुछ वृद्धि, हाथपैरोंके साधोंमें शिथिलता, शिरःशूल, भ्रम, वेदना, शारीरिक बलक्षय, मन्दज्वर, स्वेद आना, प्लीहावृद्धि होनेसे उदरकी बायी ओर भारीपन, रक्तपित्त (मुख और नाकसे रक्तस्राव, कभी-कभी गुदासे रक्तस्राव) और रोग बढ़ने पर मूच्छा आजाना इत्यादि लक्षण देखनेमें आते हैं ।

यह रोग शनैः-शनैः बढ़ता जाता है । साथ-साथ उदासीनता, त्वचा की निस्तेजता, रक्तस्राव और ज्वर आदि लक्षण बढ़ते जाते हैं । प्लीहा

धारीका ग्रन्थिप्रद्विजल्य रवेताणु वृद्धि

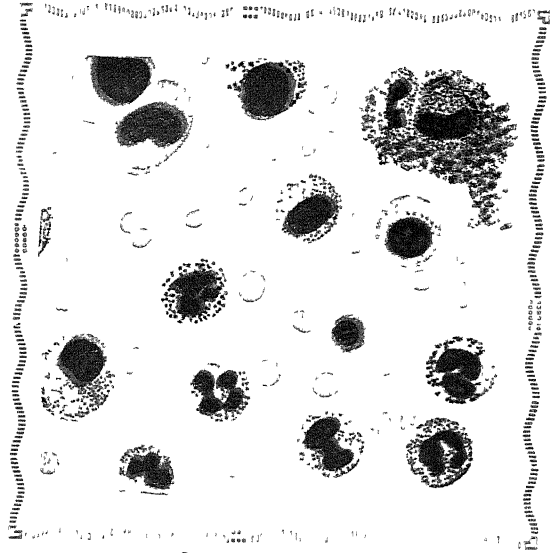
रक्तके भीतर अस्वाभाविक आकारके लुद

लसीकाणुओंकी वृद्धि



THE BLOOD IN LYMPHATIC
LEUKAEMIA.

मज्जाप्रद्विजल्य रवेताणु वृद्धि
रक्तके भीतर मज्जाणुओंकी उत्पत्ति और अभल-
रगेच्छु रवेताणुओंकी वृद्धि



THE BLOOD IN MYELOID
LEUKAEMIA

कठोर पत्थर सदृश प्रतीत होती है । जब तक रक्तमें रक्ताणुओंका हास और श्वेताणुओंकी वृद्धि न हो जाय; तब तक विशेष लक्षण नहीं होते ।

विशेषतः प्लीहावर्धन समरूपसे होता है; इस हेतुसे प्लीहाकी आकृति और प्लीहाद्वारक खात (Notch) में कोई विशेष विलक्षणता नहीं होती; तथा उदरकी दीवारके संलग्न अवरोही बृहदन्त्रके प्लैहिक कोणके सम्मुखमें प्लीहा रहती है; जो अवरोही अन्न और लघुअन्नको दूर हटा देती है । फिर वे श्वासोच्छ्वासके साथ ऊपर नीचे उठते रहते हैं । कितनेक स्थानोंमें प्लीहा इतनी बढ़ जाती है कि, उदरके समग्र वाम अनुगार्श्विक प्रदेश (Left Hyhochondriac) और वाम बन्धणोत्तरिक प्रदेश (Left Iliac) प्लीहासे परिपूरित हो जाते हैं । एवं प्लीहा उदरकी मध्यरेखाका उल्लंघन कर दक्षिण ओरमें भी फैल जाती है । कभी-कभी प्लीहाके ऊपर सुनने पर एक प्रकारकी विलक्षण आवाज सुननेमें आती है । जिसे डाक्टरोंमें वेनस हम (Venous Hum) कहते हैं । प्लीहाके वृद्धिवशतः महाप्राचीरा पेशी ऊँची उठ जाती है । रक्तकी न्यूनताके हेतुसे श्वासकृच्छ्रा उत्पन्न होती है; और वह बढ़ जाती है । कभी-कभी हृदयमें कम्प भी होता है । उदरके सब यन्त्र प्लीहाकी वृद्धिसे दबते जाते हैं । आमाशय विकार होने पर वमन, अपचन आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

यह रोग कितनेक वर्षों तक रह जाता है; और रोग शनैः-शनैः बढ़ बनता जाता है । इस रोगमें लसीकाग्रंथियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं होता । कभी-कभी ज्वर १०३ से १०५ डिग्री तक बढ़ जाता है । रोग प्रबल हो जाने पर रक्तसाव, बलक्षय, फुफुसप्रदाह या राजयक्ष्मा आदि की उत्पत्ति होकर मृत्यु हो जाती है ।

चिरकारी अवस्थाके बदले किसी रोगीको तीव्रवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है । फलतः वह एक वर्षके भीतर ही चला जाता है । यदि अति तीव्रवस्थाकी प्राप्ति हो जाय, तो ज्वर बना रहना, रक्तसाव अधिक होना, प्लीहा की अति वृद्धि, तृषा, दाह, कण्ठमें और मुखमें व्रण, व्रणोंकी वेदनासे

भोजन चबाने और निगलनेमें अति कष्ट होना, लसीकाग्रन्थियोंका बढ़ जाना (चिरकारी प्रकारमें लसीकाग्रन्थियाँ नहीं बढ़तीं) इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । फिर रोगी ४-६ सप्ताहमें ही प्राणमुक्त हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग असाध्य है । यदि तीव्रवस्थाकी सम्प्राप्ति हो जाय, तो १ से ३ वर्षमें प्राणघात कराता है, और अति तीव्र प्रकार होनेपर ४-६ सप्ताहमें ही रोगी चला जाता है ।

(आ) लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि ।

लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि—लिम्फैटिक ल्युकीमिया—
Lymphatic Leukaemia ।

रोग परिचय—इस रोगमें सारे शरीरकी लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाती है; जिससे रक्तमें नुद्र लसीकाणुओंकी संख्या अत्यन्त बढ़ जाती है । यह रोग स्त्री पुरुष सबको होता है, और यह तरुणावस्थामें विशेष होता है ।

निदान—इस रोगका कारण विषम ज्वर, सगर्भावस्था, वशागत विकार, चोट लग जाना आदि होना चाहिए ।

लक्षण—गाण्डुता, बलक्षय, श्वास, हृदयस्पंद बढ़ जाना, अपचन, नेत्र और मूत्र सफेद हो जाना, सब लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाना; इनमेंभी कण्ठ, कक्षा और वक्ष्य प्रदेशकी लसीकाग्रन्थियोंकी अत्यधिक वृद्धि हो जाना, (ये ग्रन्थिया अधिक कठोर या अधिक मृदु नहीं होती), लीहा वृद्धि, यकृत और वृक् स्थानकी किञ्चित् वृद्धि, नेत्रका अन्तर-पटल विकृत हो जाना, नेत्रकी पुतलिया बड़ी हो जाना, रक्तमें रक्त जीवाणुओंकी कमी होना, और श्वेत नुद्र लसीकाणुओंकी अति वृद्धि होना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

यह रोग प्रारम्भमें शनैः शनैः बढ़ता जाता है । कुछ काल तक तो रोगीको इस रोगके होनेका बोध ही नहीं होता । यह रोग कई वर्षों तक रह जाता है । इस रोगका शमन क्वचित् ही होता है । यह रोग किसीके लिये आरम्भमें तीव्रता धारण करता है; और किसीके लिये बीचमें

तीव्रावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है । तीव्रावस्था होने पर ज्वर, वमन, अग्निमान्द्य, अरुचि, हाथ पैर द्रुटना, निद्रानाश, बेचैनी, शोथ, क्वचित् अतिसार और रक्तसाव आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । यह अवस्था दो मास तक रह जाय, तो रोगी मर जाता है ।

सम्प्राप्ति—लसीकाग्रन्थियोंकी अत्यधिक वृद्धि होती है । रक्त जीवाणु प्रारम्भमें कम घटते हैं । फिर अधिकाधिक नष्ट होते जाते हैं । श्वेताणुओं, इनमें भी क्षुद्र लसीकाणुओं (Small Lymphocytes) की संख्या अत्यन्त बढ़ जाती है । श्वेताणुओंकी संख्या प्रतिघन सहस्रांश मीटर (मिली मीटर) लगभग २-३ लक्ष हो जाती है ।

रोग बढ़ने पर रक्तका स्वरूप सुश्रुतसंहिताके निम्न वचन अनुसार श्लेष्म दुष्ट रक्तके सदृश हो जाता है ।

“गैरिकोदकप्रतिकाशं स्निग्धं शीतलं बहुलं पिन्धिलं चिरस्तावी, मांसपेशीप्रभं श्लेष्मदुष्टं च” ।

अर्थात् कफसे दूषित हुआ रक्त गेरुके जलसमान, स्निग्ध, शीतल, अति रेसायुक्त, धीरे-धीरे स्रवित होनेवाला और मांसकी छोटी-छोटी पेशियोंके सदृश भासता है ।

उपद्रव—इस रोगमें मुख, नासा और सर्वत्र रोमोंमेंसे रक्तसाव तथा फुफुसप्रदाह आदि उपद्रव हो जाते हैं ।

साध्यासाध्यता—डाक्टरोंमें इस रोगको असाध्य माना है । तीव्रावस्था होने पर ओषधिसे लाभ नहीं होता । चिरकारी अवस्थामें कुछ लाभ होनेकी आशा रहती है ।

(६) लसीका ग्रन्थिवृद्धिसह घातक पाण्डु ।

लसीकाग्रन्थिवृद्धिसह घातक पाण्डु—एनिमिया लिम्फेटिका—सूडोल्युकीमिया—होडकिन्स डिजीज—Anaemia lymphatica—Pseudoleukaemia—Hodkins Disease ।

रोगपरिचय—यह रोग चिरकारी है । इस रोगमें धीरे धीरे लसीकाग्रन्थिया बढ़ती हैं; और रक्तजीवाणुओंका नाश होता है, तथा कुछ अंशमें श्वेत जीवाणुओंकी वृद्धि होती है । इनमें क्षुद्र लसीकाणुओंकी संख्यामें तो कुछ भी अन्तर नहीं होता । यह रोग बहुधा तरुणावस्था वाले पुरुषोंको होता है । स्त्रियोंको कम होता है ।

निदान—इस रोगका मुख्य कारण अज्ञात है । उपदश और क्षय रोगका विष इसका प्रवर्त्तक कारण माना जाता है । इस तरह दीर्घकाल पर्यन्त, विषमज्वरके प्रकोप वाले स्थानमें निवास, बार-बार विषम ज्वरका आक्रमण होना, रक्तसंचालनमें अवरोध, श्लैष्मिक कलामें उग्रता आदि कारण भी सहायक माने जाते हैं ।

सम्प्राप्ति—लसीकाग्रन्थिया पृथक् रहते हुए, दर्द न होते हुए और किसीसे सलग्न न होते हुए बढ़ती जाती है । यदि किसी समीपकी इन्द्रियों में प्रदाह हो, तो उनका ससर्ग होने पर कोथ या पूयकी उत्पत्ति होती है; अन्यथा पीप नहीं पड़ता । यह इस व्याधिका विशेष चिह्न है ।

ये लसीकाग्रन्थिया बहुधा सारे शरीरकी बढ़ जाती है; किन्तु किसी किसी रोगीकी कोई-कोई ग्रन्थिया बढ़ती हैं । यदि केवल अतस्थ ग्रन्थिया ही बढ़ती हैं, तो रोगीको रोगका बोध नहीं होता । यदि इन ग्रन्थियोंको काटे, तो बीचसे गली हुई निकलती है । पहले कण्ठमें एक ओर की लसीकाग्रन्थि बढ़ती है । फिर कक्षा और वक्षस्थानमें रही हुई लसीकाग्रन्थिया बढ़ने लगती है । पश्चात् सारे शरीरकी लसीकाग्रन्थिया बढ़ जाती हैं । क्वचित् ऐसा भी हो जाता है कि, पहले कक्षा और जंघाकी ग्रन्थियोंकी वृद्धि होती है, फिर दूसरी प्रभावित हो जाती है ।

इस रोगमें मज्जाप्लीहावृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि युक्त रोगकी अपेक्षा प्लीहाकी वृद्धि कम होती है; फिर भी ज्यादा ही बढ़ती है ।

रक्तके रक्ताणुओंकी संख्यामें प्रारम्भिक अवस्थातक कोई अन्तर नहीं पड़ता । फिर संख्या घटने लगती है, साथ-साथ रक्तरंजक द्रव्य भी घटता जाता है । जिससे परिणाम में पाण्डुता आ जाती है ।

श्वेताणुओं की संख्या प्रतिघन मिलीमीटर २०००० से ५०००० तक बढ़ जाती है । इनमें अधिक वृद्धि बहुरूपी जीव केन्द्रयुक्त श्वेताणुओं की होती है; और अम्लरंगेच्छु भी कुछ अंशमें बढ़ जाते हैं ।

श्वच्छेद करनेपर सब लसीका ग्रन्थियां और प्लीहाकी वृद्धि प्रतीत होती है । कभी-कभी एक ओर कभी-कभी दोनों कक्षान्तरा रस-ग्रन्थियां (Axillary Lymph Glands) वंचणीया रसग्रन्थियां (Inguinal Lymph Glands) और श्वासनालिका शिखरस्थ रसग्रन्थियां बढ़ी हुई देखनेमें आती हैं । ये सब ग्रन्थियां श्वेताभ पीतवर्ण या श्वेतवर्ण, मोमवत् मृदु और दृढ तथा रक्तस्त्रावजनित दाग-मय प्रतीत होती हैं । कभी-कभी वृक्क, अन्नस्थ रसग्रन्थियाँ और उप-जिह्विकाओं (Tonsils) की वृद्धि लक्षित होती है । क्वचित् बालग्रैवेय ग्रन्थि (Thymus Gland) और एक या दोनों शुक्रोत्पादक वृषण ग्रन्थियों (Testicles) की भी वृद्धि हो जाती है ।

लक्षण—शनैः-शनैः लसीकाग्रन्थियोंकी वृद्धि, लसीका धातुवृद्धि, पाण्डुता, रक्तजीवाणुओंकी न्यूनता, रक्तरंजक हीनता, अतिशय कृशता, त्वचाका रंग बदल जाना, कभी-कभी रक्तविकार जैसे धब्बे हो जाना, खुजली चलना, मंदज्वर, उदरकी लसीकाग्रन्थियोंकी वृद्धि होनेपर दबाव जनित जलोदर, कामला और शूल आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

इस रोगमें आक्रान्त लसीकाग्रन्थियोंमेंसे नासाग्रन्थिके तन्तु- (Adenoid Tissue) के सदृश तन्तुओंका निर्माण होता है । भिन्न-भिन्न शारीरविधानके ऊपर इन सब बढ़ी हुई ग्रन्थियोंके दबावसे पृथक्-पृथक् लक्षण प्रकाशित होते हैं । एवं देहके पोषणके अभावसे और रक्तकी न्यूनताके हेतुसे विविध विकारोंकी उत्पत्ति होती है ।

कण्ठस्थ (Cirvical) और श्वासनालिकाकी ग्रन्थियां बढ़नेपर कास, श्वासकृच्छ्रता और कण्ठसे निगलनेमें कष्ट आदि विकृतियां होती हैं । एवं उपजिह्विकाकी वृद्धि होने और ग्रसनिका (Pharynx) पर

एडिनोइड तन्तुओंकी वृद्धि होनेपर कास आदि लक्षण प्रबल रूपसे प्रकाशित होते हैं ।

कण्ठस्थ रक्तवाहिनियोंके ऊपर रही हुई ग्रंथियोंकी वृद्धि होकर दबाव होनेपर मस्तिष्कके रक्त संचालनमें व्याघात पहुँचता है । यदि दबाव उत्तरा महाशिरा (Superior Vena Cava) पर आता है, तो मस्तिष्क और ऊर्ध्वशाखाओंमें रक्तसंचालन योग्य नहीं होता ।

कक्षप्रदेशकी ग्रन्थियोंकी वृद्धिसे विशुद्धिचक्र अर्थात् कण्ठस्थ वातनाडी चक्र (ब्रेकियल प्लेक्सस—Brachial Plexus) पर दबाव आकर कण्ठमें अत्यन्त तीव्र शूल चलने लगता है । इसके साथ कक्षाधरा शिरा (Axillary Vein) पर दबाव आ जाय, तो शोथ उत्पन्न हो जाता है । स्तन प्रदेशमें ग्रंथियोंकी वृद्धि होने पर निम्न भागमें ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं; तथा प्रतिहारिणी शिरा परकी ग्रन्थियाँ बढ़ जाने पर कामला और जलोदरकी उत्पत्ति हो जाती है । यदि विवर्धित ग्रंथिका दबाव रसकुल्या (Thoracic Duct) पर आनेसे उदरस्थ रसग्रंथियोंमें रस संचय होता है, तो कोई रसग्रंथि (Lacteal) फट जाती है । यदि वातवहानाडियों पर दबाव पड़ता है, तो वेदना और पक्षाघात हो जाते हैं । एवं बीच-बीचमें मन्द ज्वर अनियमित रूपसे आता रहता है ।

अन्ननलिकाके भिन्न-भिन्न अंशमें ओडिनोइड तन्तु (Adenoid tissue) का निर्माण हो जाने पर मुखपाक (Stomatitis) तथा आमाशय प्रदाहके लक्षण—उबाक, वमन, अतिसार आदि प्रकाशित होते हैं । मस्तिष्क और सुषुम्णा प्रदेशकी लसीकाग्रन्थियाँ बढ़कर दबाव आने पर संज्ञा शक्ति और संचालन शक्तिका पक्षाघात उपस्थित होता है ।

विवर्धित ग्रन्थि वेदनाविहीन होती हैं, किन्तु उसे दबाने पर सामान्य पीड़ा होती है । विवर्धित प्लीहामें समय-समय पर तीक्ष्ण वेदना होती है । सामान्यतः इस रोगमें रात्रिको शारीरिक उत्ताप कुछ बढ़ जाता है । क्वचित् ज्वर सतत बना रहता है । क्वचित् ज्वर थोड़े ही समयमें दूर हो

जाता है; और क्वचित् ज्वर अनियमित समय पर आता रहता है । कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि, इन ग्रन्थियोंकी क्रमशः नियमपूर्वक वृद्धि नहीं होती । ज्वरकालमें ज्वरके साथ-साथ बढ़ती जाती हैं; और ज्वरके शमन हो जाने पर ग्रन्थिशोथ कम हो जाता है । एवं प्रति समय ज्वरके आक्रमणके पश्चात् ग्रन्थियां अपेक्षाकृत बड़ी हो जाती हैं । इस तरह ज्वरकी शमनावस्थाके साथ-साथ ग्रन्थियोंके आकारका हास होनेका अनुभवमें आता है । इनके अतिरिक्त देहपोषणमें न्यूनता और अत्यधिक बढ़े हुए पाण्डुरोगके हेतुसे विविध लक्षण उपस्थित होते हैं । यथा त्वचा की निस्तेजता, श्लैष्मिक कलामें रक्तहीनावस्था, हृत्कम्प, कभी-कभी हृदय के आकुंचनकालमें मर्मरध्वनि, नाड़ीमें तेजी, मांसपेशियोंकी अत्यधिक क्षीणता, शारीरिक कृशता, नासिकासे रक्तस्राव, शोथ, स्नेहमय कलामें रसोत्सृजन आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

यदि स्त्री रुग्णा है, तो मासिकधर्म अनियमित या स्थगित हो जाता है । सामान्य पाण्डुरोगके सब लक्षणोंके साथ सान्निपातिक पाण्डुके सदृश रक्ताणुओंकी संख्यामें न्यूनता हो जाती है । यदि बढ़ी हुई ग्रन्थियोंके दबावसे कदाच कोई लक्षण प्रकाशित न हो सका, तो भी सामान्यतः जीवनीय शक्तिकी क्षीणता या रक्तस्रावके हेतुसे शक्तिपात ग्रस्त होकर रुग्णा मृत्यु-मुखमें प्रवेश कर जाती है ।

इस रोगमें कभी लक्षणमंद, कभी लुप्त और कभी तीव्र हो जाते हैं । यदि रोग तीव्र होता है, तो देहमें कृशता अधिक ला देता है; और रोगी को जल्दी (१-२ वर्षमें) मार देता है; अन्यथा रोगी ३-४ वर्ष जीवित रह जाता है ।

रोग विनिर्णय—सामान्यतः लसीकाग्रन्थियोंकी दुःखरहित शनैः-शनैः वृद्धि और रक्ताणुओंके हास परसे इस रोगका बोध हो जाता है । तथापि संशय होनेपर लसीकाग्रन्थिवृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि (Leucocythemia), स्थानिक ग्रन्थिवर्धन, कण्ठमाल, तथा अबुद और कर्कस्कोट (सार्कोमा एण्ड कार्सिनोमा—Carcoma and Carci-

nomia) रोगसे इसका प्रभेद कर लेना चाहिए । अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर लसीकाग्रन्थि वृद्धिजन्य श्वेताणु वृद्धि रोगसे इस रोगका भेद सरलतासे हो जाता है । कण्ठमालमें शारीरिक विकार अत्यन्त प्रबल होते हैं, श्लैष्मिककला, त्वचा, अस्थि और सन्धि, सब प्रदाहके वशवर्त्ती हो जाते हैं; तथा विवर्धित ग्रन्थिमें पूयोत्पत्ति और पिच्छिल अपक्रान्ति (Colloid Degeneration) हो जाती है । फिर आक्रान्त ग्रन्थियाँ सब परस्पर चिटक जाती हैं । तब इस रोगमें बढी हुई ग्रन्थियोंके समूह प्रत्येक स्वतन्त्र संचालनशील होते हैं । अबुर्द रोगमें आक्रान्त ग्रन्थियोंमें संचालनशीलता नहीं होती । एव लसीकाग्रन्थियोंके कर्कस्फोट रोगके भीतर विशेष स्थलोंमें उसके विषके हेतुसे परम्परा रूपसे वही रोग प्रकाशित हो जाता है । इन लक्षणोंके भेदसे सब रोगोंका प्रभेद हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना है । फिर भी पथ्यपालन सह योग्य चिकित्सा होती रहे, तो रोगी ३-४ वर्ष जीवित रह जाता है ।

(७) लसीका धातुवृद्धिजन्य असाध्य पाण्डु ।

लसीका धातु वृद्धिजन्य असाध्य पाण्डु-स्टेटस लिम्फेटिकस-लिम्फेटिज्म—Status Lymphaticus Lymphatism ।

रोग परिचय—यह रोग विशेषतः बालकों को होता है । जब लसीका धातुका अतियोग और बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thymus Gland) की वृद्धि होती है, तब इस रोगकी उत्पत्ति होती है । फिर अन्त स्थ लसीका ग्रन्थियोंकी अधिक वृद्धि और बाह्य ग्रन्थियोंकी कम वृद्धि होती है ।

लक्षण—बालग्रैवेयकग्रन्थि की वृद्धि, प्लीहावृद्धि, पाण्डुता, हृदय और महाधमनीमें विकृति, मेद वृद्धि तथा शरीर भारी और शक्तिहीन बन जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । थोड़ा-सा शस्त्रकर्म करने, क्लोरोफॉर्म सु घाने, या थोड़ी सी चोट लग जाने पर बहुधा इन रोगियों की मृत्यु होजाती है ।

इन सब पाण्डु रोगोंके अतिरिक्त डाक्टरीमें प्लीहावृद्धिजन्य पाण्डु- (Splenic Anaemia) रोग हैं; उसका विवेचन पहले उदर रोगके भीतर पृष्ठ २७० में किया गया है ।

पाण्डुरोग चिकित्सोपयोगी सूचना ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, पाण्डुरोगीकी प्रकृति और दोष-दूष्यादि का निरीक्षण कर साध्य प्रतीत हो, तो स्नेहन क्रियाके लिये संशोधनात्मक घृतकी योजना करें । फिर वमन-धिरेचन आदिसे कोष्ठ शुद्धि करें ।

श्री० वाग्भट्टाचार्य लिखते हैं कि, घी पिलाकर स्निग्ध किये हुए पाण्डुरोगी को तीक्ष्ण वमनकारक ओषधिसे वाग्नि करानी चाहिए; (इतर आचार्योंके मतानुसार पाण्डुरोगीको वमन कारक ओषधि नहीं देनी चाहिए ।) वमन द्वारा ऊर्ध्वभागका शोधन करने पर पुनः घृत पिलाकर स्निग्ध करें । पश्चात् दूध और गोमूत्र पिलाकर या केवल गोदुग्ध पिलाकर अधोभागका शोधन करना चाहिए । फिर हरड़ आदि ओषधिको घी-शहदके साथ दें ; या इतर रोगानुसार चिकित्सा करें ।

पाण्डुरोगकी चिकित्सामें लोह भस्म, मण्डूर अथवा सुवर्ण-माक्षिक भस्मकी योजना करनेसे स्वल्पकालमें रोगी स्वस्थ हो जाता है । यदि मल्ल-मिश्रित ओषधि अनुकूल आजाय (मूत्र शुद्धि नियमित होती रहे, शोध न होजाय), तो मल्ल श्वेत-जीवाणु संख्या कम कर रक्त जीवाणुओंको बढ़ानेमें अच्छी सहायता करता है ।

पाण्डु रोगीको स्नेहनार्थ घी पिलाने और भोजनके साथ घी देने के लिये कल्याण घृत (ज्वर रोगमें कहा हुआ), पंचगव्य (अपस्मार रोग पर कहा हुआ), महातिक्त घृत (कुष्ठरोगोक्त), अथवा आरग्वधादिगणों की ओषधियोंसे सिद्ध किये हुए घृत

को उपयोग में लेना चाहिए, गुल्म चिकित्सामें कहे हुए दाधिक घृत और षट्पल घृत भी हितकर माने गये हैं ।

हलीमक चिकित्साके लिये आचार्यों ने कहा है कि :—

पाण्डुरोग क्रियां सर्वां योजयेच्च हलीमके ।

कामलायां तु या दृष्टा साऽपि कार्या भिषग्वरैः ॥

हलीमक रोगिणीके लिये पाण्डुरोगमें कहे अनुसार ओषधि, आहार और क्रिया आदिकी योजना करनी चाहिए। इस तरह जो ओषधि कामला रोगमें हितावह है, उनको भी प्रयोग में ला सकते हैं ।

वातज पाण्डुरोगमें स्निग्ध, पित्तजमें कडुवे और शीतल, कफज पाण्डुमें कडुवे, रुक्ष और उष्ण उपचार तथा मिश्र चिकित्सा करनी चाहिए ।

यदि पाण्डु रोग की प्रथमावस्थामें रोगी अजीर्णसे पीड़ित है या कफकी प्रधानता है, तो ही शास्त्रविधिसे स्नेहन कराकर वमन कराना चाहिए । पाण्डु रोगीके मलको अनेक बार थोड़ा थोड़ा करके निकालना चाहिए । इस बातको लक्ष्यमें रखना चाहिए कि, एक ही समयमें यदि ज्यादा मल दूर किया जायगा, तो शोथ आकर रोग अधिक दुःखदायी हो जायगा ।

यदि रक्तस्रावसे पाण्डुता आई हो, तो लघु पथ्य पौष्टिक भोजन दें, और रक्ताणुओंको बढ़ाने की चिकित्सा करे । पाण्डु रोग की विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है ।

कृमि या विषम ज्वर आदि हेतुसे पाण्डु रोग हुआ हो, तो मूलकारणकी नाशक चिकित्सा करनी चाहिए ।

मिट्टी खानेसे उत्पन्न पाण्डु रोगमें पहले थूहरके दूध आदि तीक्ष्ण विरेचन द्वारा मिट्टी को निकालें । फिर शक्ति बढ़ानेके लिये

घृत की योजना करें; तथा मिट्टीसे उत्पन्न वात, पित्त, कफ प्रकोप को जानकर उनके विपरीत चिकित्सा करें ।

पाण्डु और कामलामें लघु पञ्चमूलका उपयोग भोजन बनाने और पिलानेके जलमें करना हितकारक है । इस तरह आंवला और मुनक्काका रस भी पाण्डु और कामला रोगीके लिये लाभदायक माना गया है ।

पाण्डु रोग शमनार्थ शोथमें कही हुई चिकित्सा भी हितकारक है । यदि रक्तस्त्राव उपस्थित हुआ हो, तो प्रवाल, मौक्तिक, सुवर्णमाक्षिक, सुवर्णगैरिक आदि शीतवीर्य शामक ओषधि देनी चाहिए । यदि दांतोंसे पूय निकलता हो; अथवा शरीरके इतर भागमें अर्बुद या विद्रधि हुए हों; तो मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

त्रिदोषज दुष्ट पाण्डुमें पशुओंके यकृतका मांस खिलाने से या यकृत सत्व (Liver Extract) देनेसे रोग वृद्धि रुक जाती है, और रक्तवृद्धि होने लगती है ।

उपदंश रोगके पश्चात् पाण्डु होने पर मल्लमिश्रित ओषधि विशेष हितावह मानी गई है ।

क्षयरोगसे पाण्डुका संबंध होने पर शिलाजीत, लोहभस्म, अभ्रकभस्म और सुवर्ण मिश्रित ओषधि देनी चाहिए ।

प्रसूता को पाण्डु होने पर सूतिकारोगके विषकी नाशक चिकित्सा करनी चाहिए ।

शुक्रक्षयजन्य पाण्डु होने पर शुक्रवर्धक, वृंहण ओषधिका सेवन कराना चाहिए ; और दुग्ध आदि लघु पौष्टिक भोजन अधिक देना चाहिए ।

मानसिक विकार, वातवहा नाड़ियोंकी विकृति और फुफ्फुस-विकारसह पाण्डुमें मुख्य ओषधिके साथ ब्राह्मी बटी, लक्ष्मी-चिलास रस अभ्रक प्रधान या अभ्रक भस्म भी देनी चाहिए ।

पाण्डु रोगीको शुद्ध वायुमें रखना चाहिए । लघु पौष्टिक पथ्य आहार की व्यवस्था करनी चाहिए । एवं प्रारम्भमें कुछ दिनों तक पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिए । मानसिक श्रम नहीं लेना चाहिए । दूध, अण्डे और लघुपाक वाले मांस आदि भोजन हितावह है ।

कितनेक तरुण रोगियोंको हस्तमैथुन आदि दुष्ट आदतके हेतु से पाण्डुरोग होजाता है । ऐसे रोगियोंके दुष्ट अभ्यासको छुड़ा देना चाहिए । फिर लोह, अभ्रक, त्रिवंग, वंग आदि पौष्टिक ओषधि तथा लघुपौष्टिक आहार देना चाहिए ।

पाण्डु रोगमें क्षुधामान्द्य और कफ की अधिकता हो, तो उसे दूर करनेके लिये तुरन्त योग्य उपायकी योजना करनी चाहिए । गोमूत्रादिचार, विशालाचार आदि ओषधियां विशेष हितावह है ।

यदि बद्धकोष्ठ बना रहता हो, तो त्रिफला, चार या एलुबाके साथ लोह भस्म और मण्डूर भस्मकी योजना करनी चाहिये । चारमण्डूर और आरोग्यवर्द्धिनी भी हितावह ओषधि है । यदि जिह्वा मलावृत हो, बद्धकोष्ठ बना रहता हो और पाचन शक्ति अति क्षीणहो, तो लोहके स्थान पर मण्डूर देना चाहिए । मण्डूरवटक, पञ्चामृत-लोहमण्डूर, चारादिमण्डूर, विशालाचार इत्यादि ओषधियां विशेष लाभदायक हैं ।

यदि कीटाणुजन्य रोगमें सेन्द्रिय विषकी उत्पत्तिसे पाचन शक्ति मन्द हो गई है; तथा वात और कफप्रकोपजनित लक्षण प्रतीत होते हैं, तो मल्ल प्रधान और ताल प्रधान ओषधि कम मात्रामें देनी चाहिए । मल्लसिद्धूर, अष्टमूर्त्तिरसायन, समीरपन्नग, नारायण स्वरांकुश आदि हितावह हैं ।

स्त्रियोंके हलीमक रोगमें पौष्टिक (वृंहण) ओषधि, लोह घटित, रक्तजनक ओषधि तथा भैंसका घी और पौष्टिक आहारकी व्यवस्था करनी चाहिए । ताप्यादिलोह, नवायस लोह, लोह भस्म और त्रिवंग भस्मका मिश्रण (च्यवनप्राशावलौहके साथ) आदि

प्रयोग उपयोगी हैं । इस रोगमें शुद्ध वायुका सेवन, मानसिक प्रसन्नता, समुद्रका भ्रमण और पौष्टिक आहारकी योग्य व्यवस्था करनी चाहिए ।

सन्निपातिक पाण्डु रोगमें मल्ल प्रधान प्रयोग ही हितकारक है । विशेषतः सामान्य औषध या लोह घटित प्रयोगसे उचित लाभ नहीं पहुँच सकेगा ।

लसीका वृद्धिसह रक्तमें श्वेताणु वृद्धि (श्लैष्मिक पाण्डु) होने पर जसद भस्म और सुवर्णवसंत उत्तम औषधि हैं । रक्त-शोधक औषधिके साथ लोह भस्म दीजाती हैं । यदि श्वेताणु-वृद्धिजन्य पाण्डुमें प्लीहा अत्यधिक बढ़ गई है, तो डॉक्टरों मत अनुसार अस्त्र-चिकित्साका आश्रय लेना पड़ता है । इस रोगको डॉक्टरोंमें असाध्य माना है । प्लीहावृद्धिमें पञ्चामृत लोहमण्डूर, मण्डूरवटक, प्लीहान्तक क्षार घूर्ण, समीरपत्रग आदिसे अच्छा लाभ पहुँचता है ।

लसीकाग्रन्थिवृद्धिसह घातक पाण्डु रोगमें लोह भस्म, मल्ल प्रधान औषधि, जसदभस्म और सुवर्ण वसंत आदि औषधियां प्रयोजित होती हैं । डॉक्टरोंमें इस रोग को असाध्य माना है ।

पाण्डु रोग चिकित्सा ।

(१) हल्दीके कल्क और काथसे घृतको सिद्ध करके पिलाने से पाण्डु रोग दूर होता है ।

(२) त्रिफलाका कल्क और काथ मिलाकर या लोधके कल्क और काथसे गोघृतको सिद्ध कर पिलानेसे पाण्डु रोगका निवारण होजाता है ।

(३) यदि कोष्ठमें अधिक मल संचय हो, या विषप्रकोपके हेतुसे जिनको विरेचन प्रयोग लाभदायक हों, उनको विरेचन

द्रव्यसे सिद्ध किये हुए घृत या घृतमिश्रित विरेचन ओषधियोंका सेवन करानेसे पाण्डु रोग शमन हो जाता है ।

बहुधा जीर्ण ज्वरके पश्चात् उत्पन्न पाण्डु रोग, प्लीहावृद्धिसह पाण्डु, पित्त प्रकोपजन्य पाण्डु और हृत्मीमक आदिमें विरेचनयुक्त घृत की आवश्यकता होनेपर उपयोगमें लिया जाता है ।

(४) हरड़का चूर्ण ४-४ माशे को दिनमें दो बार गुड़के साथ २१ दिन तक सेवन करानेसे पाण्डु रोग नष्ट हो जाता है; अथवा हरड़का सेवन घृत और शहदके साथ करावें ।

(५) त्रिफलाके काथमें घी और मिश्री मिलाकर पिलानेसे वातप्रकोपजन्य पाण्डु रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जाता है ।

(६) दशमूल काथमें सोंठ मिलाकर पिलानेसे कफात्मक पाण्डु, ज्वर, अतिसार, शोथ, ग्रहणी, कास, अरुचि, कण्ठ-चिकार और हृदय विकृति आदि दूर होते हैं ।

(७) पित्तज पाण्डु पर विरेचनके लिये निसोतका चूर्ण ४-६ माशे दुग्धनी मिश्री मिलाकर शीतल जलके साथ देनेसे कोष्ठमें रहे हुए दोष दूर हो जाते हैं ।

(८) कफज पाण्डुमें कोष्ठ शोधनार्थ गोमूत्रसे शुद्ध की हुई हरड़का चूर्ण ६ माशे शहद या निवाये जलके साथ देना चाहिए ।

(९) फलत्रिकादि क्वाथ—हरड़, बहेड़ा, आंवला, गिलोय, वासा, कुटकी, चिरायता और नीमकी अंतरछाल, इन ८ ओषधियों को मिला २-२ तोलेका काथकर दिनमें २ बार प्रातः सायं शहद मिलाकर पिलानेसे कामलासह पाण्डु रोग नष्ट होता है ।

(१०) एरंडके पत्तेका या गिलोयका स्वरस २ तोले तक्रके साथ देनेसे पाण्डु रोग नष्ट होता है ।

(११) ४-४ पीपलको दूध और जलमें मिला दुग्धवशेष

काथ कर रोज सेवन कराते रहनेसे १ मासमें पाण्डुता दूर हो जाती है; अथवा जीर्ण ज्वरमें कहे हुए वर्धमानपिप्पली योग का सेवन कराना चाहिए ।

(१२) कच्ची फिटकरी १॥ माशे को २१ बार छाने हुए १० तोले गोमूत्रमें मिलावें । मिलाने पर उफाण आवेगा । इस उफाणके शमन होने तक चम्मचसे चलाते रहें । फिर पिला दें । इस तरह दिनमें ३ बार पिलाते रहनेसे १ मासके भीतर शोथ सह पाण्डु, कामला और कुम्भकामला की निवृत्ति हो जाती है ।

(१३) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहके प्रयोग—ताप्यादि लोह (२० ४३७) नवायस लोह (२० ४४६), योगराज रस (२० ४४८), लोहभस्म (२० १२६), मण्डूरभस्म (२० १७४), मण्डूर माक्षिक भस्म (२० १७६), सुवर्ण मालिनी वसंत (२० ३८४), लघुमालिनी वसंत (२० ३६३), पुनर्नवामण्डूर (२० ५४४), तक्रमण्डूर (२० ५४३), मल्लसिंदूर (२० २८४ प्रथम विधि), मल्लभस्म द्वितीय विधि (२० २३५), त्रैलोक्य-चिन्तामणि (२० ३५०), त्रिफलारिष्ट (२० ७५५), जसद भस्म (२० १५४), अभ्रक भस्म और लोह भस्म (२० १८०), रौप्य भस्म (२० ११५), सुवर्ण भूपति (२० ३०२), पञ्चगव्य घृत (२० ८२७), कल्याण घृत (२० ८३२), तालीसादि चूर्ण (२० ६८२), चन्द्रप्रभावटी (२० ६४२), द्राक्षावलेह (२० ८०४) ।

ताप्यादि लोह—शीत ज्वर बाद पाण्डु, हृदयविकृतिसह पाण्डु, त्रिदोषज पाण्डु, स्त्रियोंका पाण्डु (हलीमक), मिट्टी खानेसे होने वाला पाण्डु, कृमिजन्य पाण्डु, शोथ सह पाण्डु, इन सबमें लाभ पहुंचाता है ।

नवायस लोह, वातज, पित्तज, कफज पाण्डु और शोथको नष्ट करता है ।

योगराज रस—त्रिदोषज पाण्डु, मिट्टी खानेसे होने वाला पाण्डु, हलीमक, कृमिजन्य पाण्डु, विषविकारसे उत्पन्न पाण्डु, लसीका ग्रन्थि-

विकार जनित श्वेताणु वृद्धि, लसीका ग्रन्थि वृद्धिसह घातक पाण्डु, फुफ्फुस और हृदयविकार सह पाण्डु, शोथसह पाण्डु आदि सब प्रकारके पाण्डु रोगोंको नष्ट करता है ।

कीटाणु या विषप्रकोपजन्य घातक पाण्डुमें मलसिंदूर या मल्लभस्म देना हितकर माना गया है । मल्लसिंदूर या इतर मल्लमिश्रित ओषधि सेवन करानेसे कीटाणु और विष नष्ट होकर रोगी स्वस्थ हो जाते हैं ।

लोहभस्म पित्तज पाण्डु, हलीमक और कृमिजन्म पाण्डुको दूर करता है । कृमिजन्य पाण्डुके लिये बायविडग और अजवायनका फूल अनुपान रूपसे देवे । पित्तज और हलीमकमें च्यवनप्राशावलेहके साथ; तथा रक्तस्राव होनेसे पाण्डुता आई हो, तो शहद-पीपल या दाड़िमाव-लेहके साथ सेवन कराना चाहिए ।

मण्डूर भस्म नाजुक प्रकृति वाले पुरुष, स्त्री, और बालकोंके पाण्डु, मिट्टी खानेसे उत्पन्न पाण्डु, कामलासह पाण्डु, जीर्ण पाण्डु, शोथसह पाण्डु, स्त्रीहा वृद्धि, यकृद्वृद्धि, कृमिजन्य पाण्डु, इन सब पर लाभदायक है । अनुपान रूपसे त्रिफला और शहद देवें ।

मण्डूर मादिक भस्म सगर्भाका पाण्डु, पित्तप्रकोपजन्य पाण्डु और कामला सह पाण्डुमें सत्वर लाभ पहुँचाती है ।

सुवर्ण मालिनी और लघुमालिनी वसंत जीर्णज्वरसह पाण्डु, ज्वरके पश्चात् पाण्डु, लसीका ग्रन्थिवृद्धिसे श्वेताणु वृद्धि और प्लीहा वृद्धिसह पाण्डुको थोड़े ही दिनोंमें दूर करती हैं । ये सब बालकोंकी लसीका धातु वृद्धिजन्य पाण्डुतामें भी हितावह हैं ।

पुनर्नवा मण्डूर मकोयके अर्कके साथ देनेसे शोथसह पाण्डुमें सत्वर प्रभाव दर्शाता है ।

तक्र मण्डूर तक्रके अधिकारीको ही दिया जाता है । तक्रका विशेष वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम भाग पृष्ठ ६७६ में लिखा गया है । यह शोथ और पाण्डुके लिये अति हितावह ओषधि है ।

त्रिफलारिष्ट और पुनर्नवा मण्डूर, दोनों साथ-साथ भी दिये जाते हैं । हृदयविकृति और शोथसह पाण्डुमें लाभदायक है ।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस ज्वर, हृदयशूल, श्वास, कास और क्षय-सह पाण्डुमें सेवन कराना चाहिए ।

जसदभस्म, सुवर्णमालिनी और लघुमालिनीका उपयोग लसीका रस वृद्धि या लसीका ग्रंथियोंकी विकृति और पित्तप्रकोप सह पाण्डुमें हितकर माना जाता है ।

रौप्य भस्म वातवहा नाडियोंकी विकृति या मानसिक चिन्ताजन्य पाण्डु होने पर अभ्रक भस्म और ज्यवनप्राशावलेहके साथ सेवन कराई जाती है ।

सुवर्ण भूपति रस वातवहानाडियोंकी विकृति, अज्ञातविष प्रकोप, श्वास, कास और मन्द ज्वर सह पाण्डु रोगमें अपना प्रभाव थोड़े ही दिनोंमें दर्शाता है ।

पञ्चगव्य घृत या कल्याण घृत स्नेहनार्थ एवं भोजनमें नित्यप्रति देते रहनेसे पाण्डु रोग सत्वर आराम होता है । विषम ज्वर जन्य व्याधि पर कल्याण घृत और वातवहानाडियोंकी विकृति पर पञ्चगव्य घृतका सेवन कराना हितकारक है ।

तालीसादि चूर्ण, द्राक्षावलेह और चन्द्रप्रभावटी पाण्डुत्वनाशक सौम्य औषधियाँ हैं । इनमें चन्द्रप्रभावटी विषको मूत्र द्वारा बाहर निकाल कर विषजन्य दुष्ट रोगोंको भी नष्ट कर देती है ।

(१४) उपदंश रोगके पश्चात् पाण्डु होने पर अष्टमूर्ति रसायन (२० ३०५), उपदंश सूर्य (२० ५४६) या मल्लादि बटी (२० ५५५) का सेवन कराना चाहिए ।

(१५) शुक्लक्षयजन्य पाण्डु पर सुवर्णमालिक भस्म, प्रवालपिष्टी और वङ्गभस्म मिश्रण (२० १४५), वङ्गभस्म, शिला-जीत और लोह भस्म मिश्रण (२० १४५), बृहद् वङ्गेश्वर रस (२० ५२५), पूर्णचन्द्रोदय रस (२० २७४), रस सिंदूर (२०

२७८-लोह भस्म और वज्रभस्म सह), वसन्तकुसुमाकर रस (२० ५१८), अश्वगन्धारिष्ठ (२० ७५४) और कौचपाक आदि मेंसे प्रकृतिको विशेष अनुकूल हो उस ओषधिका सेवन कराना चाहिए । शिलाजीतको केशर, मिश्री और गोदुग्धके साथ देनेसे शुक्र क्षय और पाण्डुता की निवृत्ति होती है ।

(१६) आमवृद्धि और अपचन सह पाण्डु पर काशीश भस्म और लोह भस्मको त्रिफला और शहदके साथ मिलाकर सेवन करानेसे पाण्डुता की निवृत्ति होती है ।

(१७) प्रसूता की पाण्डुता शमनार्थ मण्डूर भस्म (२० १७४-दशमूलारिष्ठके साथ), सूतशेखर रस (२० ५५७), दशमूलारिष्ठ (२० ७३६), अम्रक और लोह भस्म (द्राक्षारिष्ठके साथ) और सौभाग्य सुण्ठीपाक (२० ७६१), इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन कराना चाहिए इनमें वातपित्तप्रकोप होने पर रुग्णाको सूतशेखर विशेष अनुकूल रहता है ।

(१८) रक्तस्त्रावसह पाण्डु पर दुर्वाद्यघृत (२० ८३१), कामदूधा रस (२० ४७४-द्राक्षावलेहके साथ), मौक्तिकपिष्टी (२० २०२-धारोष्ण दूधके साथ) और उशीरासव (२० ७४६) आदिमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन कराना चाहिये ।

(१९) क्षयजन्य पाण्डु होने पर राजयक्ष्मा नाशक महामृ-गाङ्ग रस (२० ४५५) या लक्ष्मीविलास रस (२० ४५७) का सेवन कराना चाहिये । अनुपान रूपसे च्यवनप्राशावलेह या दाडिमावलेह देवें ।

(२०) अतिसार या ग्रहणी सह पाण्डु होने पर पञ्चामृत पर्पटी (२० ३२५) दिनमें ३ बार थोड़ी-थोड़ी मात्रामें देते रहना चाहिए । या हिङ्गुल रसायन (२० ५०७) दूसरी विधि १-१ रत्ती दिनमें २ बार अनार शर्बत या दाडिमावलेहके साथ सेवन कराना चाहिए ।

(२१) मूत्र द्वारा विष बाहर निकालनेके लिये—शुद्ध शिला-जीत गिलोयके रसके साथ या जलके साथ प्रातः सायं देते रहें; अथवा चन्द्रप्रभा वटी (२० ६४२) का सेवन करावें ।

(२२) मृज्जन्य पाण्डुनाशक प्रयोग—मृदु विरेचन रस (२० ५८४) या आरग्वधादि काथ दूसरी विधि (२० ७०६) से कोष्ठ शुद्धि करा, फिर ताप्यादि लोह (२० ४३७) या मण्डूर भस्म (२० १७४) द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

(२३) प्लीहावृद्धि और मज्जाविकृतिसह पाण्डु पर आगे लिखा हुआ पञ्चामृत लोह मण्डूर अथवा सुवर्ण मालिनी वसन्त (२० ३८४), और समीर पन्नग (२० २६७) का मिश्रण या लोह मिश्रित प्लीहान्तक गुटिका (२० ५३०) और मल्लभस्म द्वितीय विधि (२० २३७) का सेवन २-३ मास तक पथ्य पालन सह कराते रहना चाहिए ।

(२४) जीर्ण मंदज्वर और कामला सह पाण्डु पर चन्दनादि चूर्ण (२० ५२६) शहद या इतर अनुकूल अनुपानके साथ देते रहना चाहिए ।

(२५) हर्लामक नाशक प्रयोग—ताप्यादिःलोह (२० ४३७) द्राक्षारिष्टके साथ), योगराज रस (२० ४४८), प्रवालपिष्टी (२० २०६), शौक्तिक भस्म (२० २१८), मण्डूरभस्म (२० १७४-मूलीके रसके साथ), सुवर्णमालिनी वसन्त (२० ३८४), सूत-शेखर रस (२० ५५७-द्राक्षाबलेहके साथ) आदिमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करानेसे थोड़े ही दिनोंमें रोगिणी स्वस्थ हो जाती है ।

(२६) लोहभस्म २-२ रत्ती नागरमोथेका चूर्ण ३-३ माशे के साथ मिला खैर छालके काथके साथ दिनमें २ समय देते रहने से थोड़े ही दिनोंमें हलीमक दूर हो जाता है ।

(२७) कृमिजपाण्डु (हर्लामक) चिकित्सा—इस रोगमें नेत्र

गाल, भ्रू, पैर, नाभि और मूत्रेन्द्रिय पर सूजन, उदरमें कृमि और कफ तथा रक्त मिश्रित दस्त इत्यादि लक्षण होते हैं। इस पर पहले कृमिघ्न विरेचन देना चाहिए। फिर पाण्डु रोगकी चिकित्सा करनी चाहिए। मण्डूरभस्म (२० १७४ - त्रिफलाके साथ), लोह भस्म (२० १२६ बायविडंग और अजवायनके फूलके साथ), कृमिकुठार रस (२० ४३५), ताप्यादि लोह (२० ४३७), त्रिफला-रिष्ट (२० ७५५), पुनर्नवा मण्डूर (२० ५४४), आदिमेसे अनु-कूल ओषधिका सेवन करानेसे कृमिज पाण्डु और कृमिज हली-मक का निवारण हो जाता है।

(२८) पञ्चामृत लोहमण्डूर—लोहभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, शुद्ध पारद, सोठ, कालीमिर्च, पीपल हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा, बायविडङ्ग, चित्रकमूल, चिरा-यता, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, पुष्करमूल, अजवायन, जीरा, कालाजीरा, कचूर, धनियां और चव्य, ये २५ ओषधियां २-२ तोले, मण्डूरभस्म २५ तोले, गोमूत्र १०० तोले और पुनर्नवाके मूलका काथ २०० तोले लेवें। पारद-गन्धककी कजली करके भस्म मिलावें। पश्चात् गोमूत्र मिलाकर पाक करें। फिर पुनर्नवा का क्वाथ डालकर पाकको सिद्ध करें। नीचे उतार कर शेष चूर्णको मिलावें। शीतल होने पर ४ तोले शहद मिला एक चौड़े मुँहके बोतलमें भर लेवें। इसमेंसे १ से २ माशे प्रातः-सायं तालमखाने के क्वाथके साथ सेवन करानेसे जीर्ण ग्रहणी, शोथ सह पाण्डु, कामला, जीर्ण ज्वर, यकृतप्लीहा वृद्धि, अग्निमान्द्य, गुल्म, उदर रोग, कास, श्वास और प्रतिश्यायआदि व्याधियां दूर होती हैं; तथा शरीर सबल और कान्तिवान् बनता है। ज्वर, अतिसार, शोथ, श्वास, कास आदि उपद्रव युक्त जीर्ण पाण्डुरोग भी इस रसायनके सेवनसे निवृत्त हो जाता है। हृदय विकृतिवाले रोगियोंको मात्रा कम देनी चाहिए।

(२६) मण्डूरवटक—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा, बायबिडंग, चव्य, चित्रकमूल, दारुहल्दी, दालचीनी, सुवर्णमालिक भस्म, पीपलामूल और देवदारु, ये १५ औषधियाँ ८-८ तोले, मण्डूर भस्म २४० तोले और गोमूत्र १६२० तोले लें। पहले मण्डूरको गोमूत्रमें पकावें। फिर शेष औषधियोंका चूर्ण मिला २-२ रत्तीकी वटी बना लें। इनमेंसे १ से २ वटी तक्रके साथ सेवन करावें। फिर लुधा लगनेपर तक्रके साथ सात्त्व्य भोजन कराते रहनेसे घातक पाण्डु रोगका भी निवारण हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुष्ठ, कृमि, उदररोग, कण्ठ रोग, अग्निमान्द्य, अरुचि, अजीर्ण, शोथ, ऊरुस्तम्भ, कफ विकार, सब प्रकारके अर्श, अतिसार, आफरा, ग्रहणी, कामला, प्रमेह, मीहावृद्धि आदि रोगीका भी नाश होता है।

जिन रोगियोंको तक्र अनुकूल आता है, उन रोगियोंके लिये यह रसायन जीवनदान देने वाली है। सब प्रकारके पाण्डु, हलीमक, लसीका ग्रन्थि विकृति, मीहावृद्धि, विषविकार, अस्थि-मज्जामें विकृति, इन सबको यह रसायन नेष्ट करती है। रोगी केवल तक्रपर रह जाय, तो सत्वर लाभ होता है।

(३०) चारादिमण्डूर—सैधानमक, एलुवा, सोंठ, काली-मिर्च, पीपल और मण्डूर भस्म, इन सबको समभाग मिला घीकुँवारके रसमें ३ दिन खरल कर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बाँधें। इनमेंसे १ से ३ गोली तक दिनमें २ या ३ बार गोमूत्र या जलके साथ देनेसे थोड़े ही दिनोंमें मिट्टी खानेसे उत्पन्न पाण्डु और इतर पाण्डु रोग दूर हो जाते हैं।

(३१) गोमूत्रादि चार—लोहेकी कड़ाहीमें ८ सेर गोमूत्र और १ सेर कड़वी काली जीरी मिलाकर चूल्हे पर चढ़ावें। जब गोमूत्र और काली जीरी, दोनों जलकर भस्म हो जाय; तब

कड़ाहीको नीचे उतार राखको बोटलमे भर लेवें । इसमेंसे ४ से ६ रत्ती तक दिनमें ३ बार शहद या निवाये जलके साथ देनेसे अपचन, आमामीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण, पाण्डु रोग, कीटाणुजनित घातक पाण्डु, श्वेताणुवृद्धिसह पाण्डु, मन्द ज्वर, लीहावृद्धि आदि थोड़े ही दिनोमे दूर हो जाते हैं । जिस पाण्डु रोगमें अधिक अग्निमान्द्य हो, उस पर यह चार अधिक लाभ पहुँचाता है ।

(३२) **विशाला चार**—सज्जीखार, लोटियासज्जी, जवाखार, कालानमक, कांचनमक, सांभरनमक, सैधानमक, सोहागा, सोरा, नौसादर, ये १० ओषाधियाँ २-२ तोले और अजवायन २० तोले लेवें । सबको मिला कूटकर इन्द्रायणके रसमें खरल करें । फिर बड़ी इन्द्रायणमें भर कपड़मिट्टी कर गजपुटमें फूंक देवे । स्वांग शीतल होनेपर भस्मको निकाल बोटलमें भर ले । इसमेंसे ४ से ६ रत्ती तक दिनमे दो बार निवाये जलके साथ देनेसे अपचन, उदर शूल, मलावरोध, उवाक, वमन, अतिसार, लीहावृद्धि, मन्द ज्वर आदि लक्षणो सह पाण्डु रोग दूर हो जाता है ।

(३३) **पुनर्नवादि क्वाथ**—पुनर्नवाका मूल, हरड़, नीमकी अन्तर छाल, दारुहल्दी, कुटकी, परवलके पत्ते, गिलोय और सोठका काथ कर, फिर उसमें गो-मूत्र मिलाकर पिलानेसे पाण्डु, कास, उदररोग, श्वास, शूल और सर्वाङ्ग शोथ नष्ट होते हैं । इन पाण्डु आदि रोगोंमें जब शोथ आजाता है, तब अनुपान रूपसे इस काथका प्रयोग करनेसे कोष्ठबद्धता, मन्द ज्वर और यकृतलीहा वृद्धि सह शोथका सत्वर नाश होता है ।

उपद्रव भेदसे उपद्रव शामक अनुपानकी योजना करने पर रोग नाशक मुख्य ओषधि अपना कार्य सत्वर कर सकती है । यदि यह काथ सगर्भाको देना हो, तो कम मात्रामें देना चाहिए । प्रसूताको यह काथ अनुपान रूपसे दिया जाता है ।

(३४) **अमृततलादिघृत**—गिलोयके पञ्चाङ्गका कल्क १ सेर, गिलोय स्वरस १६ सेर, दूध ४ सेर और भैंसका घी ४ सेर मिलाकर यथा विधि सिद्ध करें। इस घृतको ४ से ८ तोले तक रोज ७ दिन तक सेवन करा रोगिणीको स्निग्ध करें। फिर आँवले के रसके साथ निसोतका चूर्ण विरेचन रूपसे देवें। पश्चात् ताप्यादि लोह और द्राक्षावलेह आदि ओषधियाँ देते रहनेसे हलीमक रोग समूल नष्ट होजाता है। विरेचनसे कोष्ठशुद्धि कर लेनेके बाद भोजन मधुर वातपित्तशामक देना चाहिए। अग्निमान्द्य वाली रोगिणीको दिनमें दो बार द्राक्षारिष्ट भी देवें; तथा आवश्यकता होने पर दूध और घृत मिलाकर अनुवासन वस्तिका उपयोग करें।

(३५) **धात्र्यवलेह**—आँवलोंका स्वरस १०२४ तोले, पोपल ६४ तोले, बीज निकाली हुई मुनक्काका कल्क ६४ तोले तथा सोंठ, मुलहठी और वंशलोचन ८-८ तोले लें। इन सबको मिलाकर मन्दाग्नि पर पचन करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर शकर २०० तोले मिला अवलेह सिद्ध करें। शीतल होने पर ६४ तोले शहद मिला लें। इस अवलेहमेंसे ६ माशेसे १ तोला तक दिनमें २ बार २ रत्ती लोह भस्म मिलाकर सेवन कराते रहनेसे हलीमक, कामला, पाण्डु और कास रोग दूर होते हैं।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) सामान्य पाण्डु रोग पर

फेरीएट् अमोनिया साइट्रस <i>Ferriet Ammon. Cit.</i>	३ ड्राम
लाइकर आर्सेनिक <i>Liq. Arsenic</i>	१ ड्राम
टिञ्चर नक्स वॉमिका <i>Tinct. Nucis Vomica</i>	२ ड्राम
स्पिरिट क्लोरोफॉर्म <i>Spt. Chloroform</i>	२ ड्राम
जल <i>Aqua</i>	ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवें । इस मिश्रणमेंसे २-२ ड्राम १-१ औंस जल के साथ मिलाकर भोजन कर लेने पर दिनमें ३ समय देंते रहें ।

(२) सान्निपातिक घातक पाण्डु (Progressive Pernicious Anaemia) पर

लाइकर आर्सेनिक Liq. Arsenic ३६ बूंद

टिञ्चर लवण्ड्यूला क० Tinct. Lavandula Co. १ ड्राम

जल Aqua ad ६ औंस तक

इन दोनों ओषधियोंके साथ जलको मिला लेवे । फिर उसमेंसे २-२ ड्राम १-१ औंस जलमें मिलाकर भोजन कर लेने पर दिनमें ३ बार देते रहें ।

(३) सान्निपातिक घातक पाण्डुगी बढ़ी हुई स्थितिमें

लाईकर आर्सेनिक Liq. Arsenic १३ ड्राम

टिञ्चर कार्डामम क० Tinct. Cardamom Co. ६ ड्राम

एका मेन्था पिप० Aqua Mentha Pip. ad ८ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर दो दो ड्राम १-१ औंस जलके साथ भोजन कर लेने पर दिनमें ३ समय देते रहें ।

तथा सल्वरसनाट्रियम (Salvarsannatrium) का इन्जेक्शन नितम्ब भागमें रही हुई मासपेशी (बुटाक मसल-Buttok Muscle) में १-५ दिनके अन्तर पर ३ बार करें । खानेमें यकृत सत्व (Liver Extract) देते रहें ।

(४) हलीमक (Chlorosis) पर

फेरीएट्र अमोनिया साइट्रास Ferriet Ammon. Cit. २ ड्राम

लाइकर आर्सेनिक Liq. Arsenic १ ड्राम

मेगनेशिया सल्फास Mag. Sulph. १ औंस

ग्लिसरीन Glycerine ६ ड्राम

जल Aqua ad ८ औंस तक

इनमें पहली दो ओषधियोंको मिलावे । फिर थोड़ा जल मिला

लेवें । मेगनेशियाको जलमें अलग मिलावें; फिर सबको एकत्र कर लेवें । इन मिश्रणमें से आध-आध औंस समान जल मिलाकर दिनमें ३ बार भोजन कर लेने पर देते रहें ।

(५) फेरि आर्सेनिक Ferri Arsenic ४ ग्रेन

एक्सट्रेक्ट नक्स वामिका Ext. Nucis Vomica ८ ग्रेन

इन दोनोंको मिलाकर ३२ गोलियाँ तैयार करें । फिर १-१ गोली भोजन कर लेने पर दिनमें २ बार देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें हलीमक का निवारण होता है ।

(६) सामान्य पाण्डुता और 'लीहा वृद्धि पर

किनाईन सल्फास Quinine Sulph ६ ग्रेन

कसीस Ferri Sulph ६ ग्रेन

एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट Acid Sulph. Dil. ५ बूंद

जल Aqua ad ३ औंस

इन सबको मिला १-१ औंस दिनमें ३ बार भोजन कर लेने पर या दूध मिलाकर देते रहें ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—सशक्त रोगीको वमन, विरेचन, पुराना जौ, गेहूँ और शालि चावल, मूँग, अरहर और मसूरका यूष, जङ्गल के जीवोंका मांस रस, परवल, पक्का पेठा, कच्चा केला, जीवन्ती, तालमखानेके पानोंका शाक, मत्स्याक्षी (मछैछी), गिलोय, चौलाई, पुनर्नवा, गुमा, बैंगन, प्याज, लहसुन, पक्के आम, हरड़, कन्दूरी, शृंगी नामक मछली, गो-मूत्र, आँवले, मट्ठा, घी, तैल, सौवीर और तुषोदक नामक काँजी, मक्खन, लाल चन्दन, हल्दी, नागकेशर, जवाखार, लोह भस्म, मण्डूर, कसैले रस वाले पदार्थ और केशर आदि पदार्थ पाण्डु रोगीके लिए पथ्य हैं ।

पाण्डु रोगीको आग्रह पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करना

चाहिए । भोजन लघुपौष्टिक लेवें । शुद्ध वायुका सेवन अति हितकर है । हल्दीसे सिद्ध किया घृत इस रोगमें अति लाभदायक है । अनार, आंवला, अंगूर आदि मधुर ताजे फल और मुनक्का आदि का सेवन करानेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । दूध, लघुपाकी मांस और अण्डेका सेवन लाभप्रद है ।

हलीमक रोगीके लिये गायकी अपेक्षा भैंसका घी विशेष हितकर है । हलीमक रोगमें मधुर और वातपित्तघ्न भोजन देना चाहिए । रोगीको पीनेके लिये लोहे की कड़ाईमें उबालकर शीतल किया हुआ जल देना चाहिये ।

अपथ्य—शिरा खोलकर रक्तस्राव कराना, जौंक लगवाना, धूस्रपान, वमनके वेगका धारण, स्वेदन क्रिया, मैथुन, सेम, चौलाईके अतिरिक्त पत्ती शाक, होंग, उड़द, अधिक जलपान, तिलकूट, पान, सरसो, शराब, मिट्टी खाना, दिनमें शयन, अति तीक्ष्ण और चरपरे भोजन, अधिक नमक, सद्याद्रि और विन्ध्याचलमेंसे निकली हुई नदियोंका जल, भारी भोजन और विदाही भोजन, ये सब पाण्डु रोगमें हानिकर हैं ।

बीड़ी, सिगरेट, चाय आदिका व्यसन हो, तो छुड़ा देना चाहिए । कुलथी और तेज खटाईका त्याग करना चाहिए ।

हलीमक रोगिणीको दूध और मांस हानिकर हैं । एवं मैथुन, मानसिक चिन्ता, क्रोध, सूर्यके तापमें घूमना, व्यायाम और अधिक परिश्रम, अति गरम-गरम भोजन, शुष्क भोजन, वर्षा ऋतुमें नदियोंका जलपान, बार-बार स्नान करना और रात्रि का अधिक जागरण, ये सब पाण्डु और हलीमक रोगको बढ़ाने वाले हैं ।

योगराज रसका सेवन कराने पर मकोय (शोथ नाशक होने पर भी) अपथ्य है । लसीका ग्रन्थियों की विकृति होने पर नया चावल, उड़द की दाल, कच्चा दूध, मैदेके पदार्थ, गोंद जैसी

चिकने रसवाली ओषधियाँ, चिकने कन्द शाक, चिकने भोजन, गरम भोजन और गरम चाय, आदि हानिकर हैं ।

कृमिजनित पाण्डु रोगमें कृमि रोगमें लिखे हुए पथ्यापथ्य का भी पालन करना चाहिए ।

रक्तपित्त ।

रक्तपित्त—हिमोर्हेजिक डिजीजिज—Haemorrhagic Diseases ।

रोग परिचय—इस रोगमें रक्त और पित्तके प्रकोपसे मुँह, नाक, कान, आंख, गुदा या मूत्रेन्द्रियमेंसे रक्तस्राव होता है ।

निदान—भगवान् धन्वन्तरिजीके मत अनुसार माधव निदान-कार लिखते हैं कि, सूर्यके तापका सेवन, व्यायाम, अधिक श्रम, शोक, क्रोध, भय, शराब, अधिक मार्ग गमन, अधिक स्त्रिसमागम खट्टेफल, कांजी, तैल, मछली, बकरे और भेड़का मांस, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त, नमकीन, खट्टे या चरपरे पदार्थोंका अधिक सेवन, कचित् स्त्रियोंका मासिक धर्म रुकना, इन कारणोंसे पित्त प्रकुपित होता है । फिर रक्तमें मिश्रित होकर रक्तको दूषित करता है । पश्चात् पित्तमिश्रित रक्तऊर्ध्व प्रदेश, अधःप्रदेश या दोनों ओरसे निकलने लगता है । ऊर्ध्व भागसे, नाक, कान, नेत्र और मुँहसे तथा अधोदेशसे मूत्रेन्द्रिय और गुदा द्वारासे बाहर निकलता है । इनके अतिरिक्त कचित् समस्त रोमकूपोंमेंसे भरने लगता है ।

महर्षि आत्रेय कहते हैं कि, जब मनुष्य जंगली श्रीहि धान्य, वनकोदों, कोदों आदि नये अन्न, अति उष्ण और अति तीक्ष्ण अन्न, निष्पाव, उड़द, कुलथी का यूप, क्षार, दही, दहीका जल, उदशिवत (आधा जल युक्त मट्टा), जल रहित मट्टा, खट्टा मट्टा, कांजी आदि पदार्थ, सूअर, भैंस, भेड़, मछली

और गौंके मांसका सेवन, तिलकुट, पिण्डालु, शुष्क शाक, पक्की मूली, सरसों, लहशुन, करंज, सुहिंजनेकी फलीका शाक, कड़वे सुहिंजनेकी फली, खड़यूष (रायता) भूस्त्रुण (सुगंधयुक्त घास), राई, ढालचीनी, जंगली तुलसी, श्वेत तुलसी, गण्डीर (एक प्रकार का क्षुद्रशाक), कालमानक (क्षुद्र तुलसी), पर्णश (काली जंगली तुलसी), क्षत्रक (नाकछिकनी या काली सरसों), फणिजक (क्षुद्र तुलसी-मरुवा), सुहिंजना, सुरा (शराब), सौवीर-नामक काजी, तुषोदक नामक कांजी, मैरेय नामक शराब, मेदक नामक शराब, मधुलक नामक शराब, शुक्त (कांजी), कुवर (एक प्रकारका जंगली अनाज) और खट्टे बेर आदि पदार्थोंका सेवन, भोजन करके फिर पिट्टीके बने पदार्थों को खाना, फिर ऊपरमें अति गरम, या अति ज्यादा या असमय पर दूध पीना, दूधका जिन पदार्थोंके साथ विरोध है, ऐसे रौहिणी शाक, कपोतमांस, सरसोंके तैल, क्षार मिश्रित भोजन, कुलथी, जामुन, कटहलके पच्चे फल, या बेरोंके साथ दूधका भोजन, वच्चा या अति विशेष या अति उष्ण दूध या इतर विरोधी पदार्थोंका सेवन आदि कारणोंसे पित्त कुपित्त होता है; और रक्त भी अपने परिमाणसे अति बढ़ जाता है । फिर प्रकुपित पित्त देहमें चारों ओर फैल जाता है; किन्तु रुधिर बहा नाड़ियों (रुधिर) के उत्पत्तिस्थान रूप यक्षु-त्प्लीहाके भीतर नाड़ियोंके खुले हुए मुखों पर अति प्रवृद्ध रक्त रुकावट डालता है, जिससे वह रक्तमें मिलकर रक्त को दूषित कर देता है । परिणाममें रक्तपित्तकी संप्राप्ति होती है ।

श्री० वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण अति चरपरे, अति खट्टे, अति नमकीन या अति विदाही अन्न और क्षार आदि पित्तप्रकोपक वस्तुओंका अति सेवन, एवं कोदों, उद्दालक (बन कोदो) आदि कुधान्योंमेंसे बने भोजन, जिनमें नमक, मिर्च, खटाई, हींग, राई, तैल आदि अति मिलाये हों

और जो अति गरम हों; ऐसे पित्तप्रकोपक पदार्थोंके चिरकाल पर्यन्त अति सेवनसे द्रव स्वभाववाले पित्त और रक्त प्रकुपित होते हैं। फिर दोनों मिलकर एक ही वर्णके बनकर देहमें सर्वत्र फैल जाते हैं।

इस कथनमें आचार्यने पित्तवर्धक पदार्थोंके नामके अंतमें 'पित्तलः' अर्थात् पित्तवर्धक शब्द विशेषण रूपसे बढ़ाया है; कारण अनार, आंवले, सेंधानमक आदि अनेक पदार्थोंमें खट्टापन, और नमकीनपना होने पर भी वे पित्तप्रकोपक नहीं है। दूसरा हेतु व्रीहि प्रभृति जो उष्ण वीर्य नहीं है; उनका यदि अति मात्रामें सेवन किया जाय, तो उनसे भी पित्त और रक्त प्रकुपित हो जाता है। जिस तरह अति गरम-गरम पदार्थ पित्त और रक्तको अति प्रकुपित करते हैं; उस तरह इतर व्रीहि आदिके भोजनसे नहीं होता फिर भी कोदों आदि शीतवीर्य पदार्थोंके साथ यदि अति गरम, अति मिर्च आदिका संयोग होता है; तो वे उनको भी पित्तवर्धक बना देते हैं।

रक्तपित्तकी व्याख्या करनेमें आचार्यने भिन्न-भिन्न समासका आश्रय लिया है। भगवान् धन्वन्तरिजीके मतमें 'रक्तञ्च पित्तञ्च रक्तपित्तम्' अर्थात् द्वन्द्वसमास अनुसार रक्त और पित्त, दोनों चहन करने लगते हैं, महर्षि आत्रेयके मत अनुसार राग परिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तं' अर्थात् 'रक्तं च तत् पित्तं च' इस कर्मधारय समासके अनुसार निरुक्ति करनेसे रक्त वर्ण को प्राप्त हुआ पित्त रक्तपित्त कहलाता है।

इस तरह आचार्योंके वचनके शब्दार्थमें भेद भासता है; किन्तु तात्पर्यार्थमें भेद नहीं है। अतः विद्वानोंने दोनों वचनोंका सयुक्तिक समन्वय किया है।

पित्तरक्तमेंसे उत्पन्न होता है; अतः पित्तको रक्तका विकार (मल) ही माना है। इस पित्तरूप मलका जब रक्तके साथ संसर्ग होता है; तब वह दूषित हो जाता है। एवं रक्तके गन्ध-वर्णको भी धारण कर लेता है। इसलिये इसका रक्तरूपसे ही निर्देश होता है; अर्थात् रक्त अधो या ऊर्ध्व-प्रदेशसे निकलता है; ऐसा जो कथन किया है; वह युक्तही माना जाता है।

पूर्वरूप—भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, अंग दूटना, शीतल वायु, शीतल जल और शीतल गुण वाले भोजनकी इच्छा, कण्ठमेंसे धुँआ निकलनेके समान प्रतीति, वमन, निःश्वासमें रक्त की गंध इत्यादि चिह्न प्रतीत होते हैं ।

चरकसंहिताकार लिखते हैं कि, भोजनकी इच्छा न होना, भोजन परिपाक कालमें विदाह, दुर्गन्धयुक्त खट्टी डकार, उबाक, बारबार वमन होना, वमनके पदार्थ दुर्गन्धयुक्त निकलनेसे मनमें घृणा आना, स्वरभेद (आवाज मन्द निकलना), हाथ पैर दूटना, सारे शरीरमें दाह होना, मुँहसे धुँआँ—गरम बाष्प निकलनेके सदृश भासना, उसमें रक्तकी वास भी आना, देहके अवयव, मल मूत्र, स्वेद, लाला, नासामल, थूँक, कानका मल और नेत्रमल सबके वर्ण लाल, हरे, पीले हो जाना, फुन्सियाँ होना, सारी देह में वेदना और स्वप्नमें बारबार लाल, नीले, पीले, काले प्रकाश वाले अग्निका दर्शन होना, इत्यादि रक्तपित्तके पूर्वरूपमें लक्षण होते हैं ।

इसके अतिरिक्त श्री वाग्भटाचार्यने पूर्वरूपमें कास, श्वास, भ्रम और क्लम, ये लक्षण अधिक लिखे हैं ।

जो दूषित रक्त आमाशयमें आता है, वह ऊपरकी ओर गति करता है ; तथा पक्काशय (आंत) में जाता है, वह नीचेकी ओर से निकलता है । यदि दूषित रक्त आमाशय और पक्काशय, दोनों स्थानोंमें प्राप्त होता है, तो दोनों तरफमे प्रवृत्ति करता है ।

जो रक्त ऊपरके स्थानोंसे गिरता है उसे ऊर्ध्वरक्तपित्त, और जो नीचेके स्थानोंसे गिरता है उसे अधोरक्तपित्त कहते हैं । ऊर्ध्व रक्तपित्त कफमिश्रित रहता है । अधोरक्तपित्त वातमिश्रित रहता है । यदि वात और कफ, दोनोंका संसर्ग हो जाय, तो दोनों मार्गसे प्रवृत्ति करता है ।

स्निग्ध और उष्ण हेतुसे प्रायः ऊर्ध्व रक्तपित्त और उष्ण

एवं रूक्षहेतुसे प्रायः अधोरक्तपित्त होते हैं । क्वचित् इस नियम के विरुद्ध अर्थात् रूक्ष हेतु होने पर भी ऊर्ध्व और स्निग्ध हेतु होने पर भी अधो रक्तपित्त होजाता है ।

रक्तपित्त वर्ण—रक्तपित्तमें वायुका आधिक्य रहनेसे रक्त मैले लाल रंगका, भागयुक्त, पतला और शुष्क होता है । पित्त की प्रधानता होने पर काढ़ेके सदृश काला, चिकना, गोमूत्रके समान, मोरकी पूंछके चन्द्रमाके सदृश या तीन वर्णविशिष्ट या सुरमाके समान होता है । कफकी अधिकता से रक्त गाढ़ा, किंचित् पाण्डु वर्ण युक्त, किञ्चित् स्नेह युक्त और पिच्छिल होता है ।

साध्यासाध्यता—ऊर्ध्व रक्तपित्त साध्य, अधोरक्तपित्त याप्य (कठिनतासे शान्त होने वाला), और द्विमार्गी रक्तपित्त असाध्य माना जाता है ।

यदि रोगी बलवान् है, रोग नूतन है, एक मार्गी और अति-वेगवान नहीं है, कोई उपद्रवकी उत्पत्ति नहीं हुई, और शीत काल (हेमन्त शिशिर ऋतु) है, तो रक्तपित्त रोग साध्य होता है ।

रक्तपित्त रोग एक दोषज है, तो साध्य, द्विदोषज है, तो याप्य ; तथा त्रिदोषज रक्तपित्त अति वेगवान हो, अग्नि मन्द हो, व्याधिसे देह क्षीण होगई हो या वृद्धावस्था हो, या रोगी अरुचि आदिके हेतुसे भोजन न कर सकता हो, तो असाध्य माना जाता है ।

जो रक्तपित्त रोग शान्त होकर बारबार होजाता हो, एक मार्गसे दूसरे मार्गकी ओर चला जाता हो, अति प्रवृत्त हो, द्विमार्गी हो, रोगीकी अग्नि मन्द हो, उसे असाध्य माना है ।

जिस रक्तपित्त रोगीके रोम-रोममेंसे रक्त झरने लग जाता है, उसका रोगभी असाध्य होजाता है ।

ऊर्ध्व रक्तपित्तमें पित्तके साथ कफका अनुबन्ध रहता है, उसका शोधन विरेचन द्वारा हो सकता है, इस विकारके लिए मधुर, कषाय और

कड़वे रस प्रधान अनेक ओषधियां हैं । इसमें पित्तको दूर करनेके लिये विरेचनको उत्तम माना है । साथ-साथ विरेचनसे अनुबन्धी कफकी भी शुद्धि हो जाती है । इस हेतुसे ऊर्ध्व रक्तापित्तको साध्य माना है ।

कषाय, स्वरस, कल्क; गरम कर शीतल किया हुआ फांट आदि स्वादु (मीठी) ओषधियां और कड़वी ओषधियां रक्तापित्त प्रधान सब प्रकार की व्याधियोंकी प्रतिपत्ती (व्याधिनाशक) होनेसे इस विकारमे भी हितकर हैं । जिन रोगियोंकी देह विरेचन आदिसे शुद्ध की हो, श्लेष्मविशुद्ध हो गया हो, उनके लिए कड़वी ओषधियोंके कषाय आदि जो स्वभाविक कफनाशक है, वे सब हितकर हो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अधोरक्तापित्तमें वायुका अनुबन्ध होनेसे उसे याप्य माना है । इसके शोधनका साधन वमन है । पित्तके नाशके लिये वमन अच्छा साधन नहीं माना जाता; वातशमनके लिये भी वमन हितकर नहीं है, एवं ओषधि भी अधोरक्त पित्तके लिये कम हैं । कारण, अनुबन्धी वात है, उसकी शान्ति वमनसे नहीं होती । कड़वी ओषधियोंके कषाय आदिसे वात प्रकुपित हो जाती है; तथा जो ओषधियाँ खट्टे नमकीन और चरपरे गुण वाली हैं, वे पित्तविरोधी होनेसे नहीं दे सकते । अतः केवल मधुर रस प्रधान कषाय आदि ओषधियाँ ही हितकर मानी जाती है । इन कारणोंसे अधोरक्तापित्तको याप्य कहा है ।

कफ और वायु, दोनोंके ससर्ग युक्त उभयमार्गी रक्तापित्तको असाध्य कहा है । कारण, वमन या विरेचन, दो मेंसे एक भी शोधन क्रिया नहीं करा सकते । रक्तापित्तमे सर्वदा प्रतिलोम शोधन कराया जाता है । दोनों ओरसे रक्ताव होता है; इस हेतुसे वमन-विरेचन नहीं दे सकते । एवं संशोधन न होनेसे मधुर या कड़वे रस प्रधान ओषधि कफ वात सह रक्तापित्तके शमनके लिये उपयोगी भी नहीं हो सकती, अर्थात् मधुर गुण वाली ओषधि दें, तो कफ वृद्धि होती है । कड़वे रस वाली ओषधिसे वात वृद्धि होती है, और शेष रसों वाली ओषधियोंसे पित्त बढ़ता है; इस हेतुसे सर्वजित् अर्थात् अनुबन्धभूत वात-कफ और मूलभूत पित्त,

सबको जीतने वाली ओषधि कोई हो, तो रोग दूर हो सकता है; किन्तु ऐसी उपशमनकारक ओषधि नहीं है। इसलिये भगवान् आत्रेय और श्री वाग्भटाचार्य जी द्विमागीं रक्तपित्तको असाध्य कहते हैं।

कदाच कोई कहे कि संशोधन न हो सके, तो मत करो; संशमन ओषधि दो; वह भी नहीं बन सकता। कारण, संशमन ओषधिके दो प्रकार हैं। संतर्पण और अपतर्पण। यदि संतर्पण (बृंहण ओषधि) अधोरक्तके वात दोषकी अपेक्षासे दी जाय, तो श्लेष्मवृद्धि हो जाती है; और यदि अपतर्पण (लङ्घन) रूप चिकित्सा ऊर्ध्व रक्तपित्तके कफ दोष की शान्तिके लिये की जाय; तो वायु प्रकुपित हो जाती है। नृसिंह भगवानके समान उभयात्मक (कफ और वात, दोनोंका नियमन करने वाली), शमन ओषधि हो, तो काम कर सकें। परन्तु ऐसी ओषधि असाध्य होनेसे उभयमागीं रोगको असाध्य कहा है।

संतर्पण और अपतर्पण चिकित्साके लिये विशेष रूपसे चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके उपोद्घात प्रकरणमें पृष्ठ ४१ से ४६ तक लिखा है।

यदि रोगी की अग्नि अति मंद है, तो उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। कारण, अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये चरपरी, खट्टी, उष्ण, रुक्ष और तीक्ष्ण ओषधि दी जाती है; परन्तु वे रक्तपित्त रोग की चिकित्सासे बिल्कुल विपरीत हैं। अतः अति मन्द अग्नि होने पर प्रायः रोग असाध्य हो जाता है।

उपद्रव—रक्तपित्त रोगमें निर्बलता (बलक्षय), श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद (नशा-सा), पाण्डुता, दाह, मूर्च्छा, हृदयमें तोड़नेके समान व्यथा, बेचैनी, प्यास, मल पतला हो जाना, मस्तिष्कमें उष्णता, अरुचि, अपचन, पेचिस, भोजनके बाद उदर में अति दाह होना, भोजनका पाक न होना, मुँहसे दुर्गन्ध निकलना, दांत और दाढ़के मसूड़े सूजनयुक्त, नरम और काले रंगके हो जाना, इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

अधोरक्तपित्त होनेपर यदि रक्त स्थूल अन्त्रके अन्त भागमें से निकलता है, तो रक्तका रंग लाल रहता है । और लघु अन्त्रमें से निकलता है, तो रक्त मैले रंगका मलमिश्रित हो जाता है ।

असाध्यलक्षण—जिन रक्तपित्तके रक्तमें सामान्य वर्ण और वास दूर होकर मांसके धोवनके समान वर्ण हो जाय, या अत्यंत दुर्गन्ध युक्त या कीचड़के जलके समान मैला या मेद, पूय और रक्तमिश्रित या यकृतके टुकड़ेके सदृश या जामुनके पक्के फलके समान स्निग्ध, नीला, काला, मुर्दे जैसी गंध वाला, या नाना प्रकारके रंग वाला, इनमेंसे किसी भी एक प्रकारका स्राव होने लगे; तो रोग असाध्य माना जाता है ।

आकाश और सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों को जो रोगी लाल रंग का देखता है; अथवा जिसे बार-बार रक्तकी वमन, डकार आनेके साथ कण्ठमें रक्तका-सा स्वाद आना और नेत्र अत्यंत लाल हो जाना आदि लक्षण प्रकाशित हों, वह नही बच सकेगा ।

रक्तपित्तका डॉक्टरी विवेचन ।

आयुर्वेदीय रक्तपित्तके स्थान पर डाक्टरीमें अनेक स्थानोंसे होने वाला रक्तस्राव है । जब रक्त संचालन विधानमें किसी भी अंशकी धमनी, शिरा या कैशिका आदि कट जाने पर रुधिर निकलने लगता है, उसे रक्तस्राव कहते हैं । इस रक्तस्रावकी उत्पत्तिमें अनेक कारण हैं । आघातादि से एव व्रण आदिसे धमनी, शिरा आदिका भेदन होने पर बाहरकी ओर रक्तस्राव होने लगता है । इस तरह देहके भीतर क्षत, विद्रधि आदि या धमनी की दीवार दूषित होना, अत्यंत रक्त सचय हो जाना, अकस्मात् गिरजाना आदि कारणोंसे रक्त संचालन क्रियामें विकृति होकर आभ्यन्तरिक रक्तस्राव होने लगता है ।

इनके अतिरिक्त अतिशय मानसिक आवेग, अत्यधिक परिश्रम और अति दाहक पदार्थोंके सेवन आदिसे स्वस्थ रक्तवाहिनियां विदीर्ण

होकर रक्तस्राव होने लगता है । किसीभी कारणसे स्थानिक रक्त दबाव और रक्त वेगकी अति वृद्धि होने पर रक्तस्राव होजाता है ।

हृदय खण्ड, महाधमनी, श्वास यन्त्र और यकृत ; इन स्थानोंमें विकार तथा अकस्मात् बाह्य उष्णता और वायुके दबावमें व्यतिक्रम, ये आन्तरिक रक्तस्रावके मुख्य कारण हैं । इनके अतिरिक्त क्वचित् किसी स्थान विशेषसे रक्तस्राव होता है, उसे बन्द करने पर इतर स्थान से रक्तस्राव होने लगता है, उसे प्रतिनिधि रूप (Vicarious) रक्तस्राव कहते हैं । इस तरह कितनीक स्त्रियोंको मासिकधर्म बन्द होकर, उसके बदले किसी अन्य स्थानसे रक्तस्राव होने लगजाता है, उसे डाक्टरीमें विकेरियस मेन्स्ट्रुएशन (Vicarious Menstruation) कहते हैं ।

जो आघातजन्य बाह्य रक्तस्राव होता है, वह इस प्रकरणका विषय न होनेसे उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जायगा । आन्तरिक यन्त्रोंमें से रक्तस्राव होकर देहके भिन्न-भिन्न मार्गसं जो रक्त बाहर निकलता है; उसमें यदि रक्तका परिमाण अधिक है, तो थोड़े ही समयमें बाहर निर्गत हो जाता है । एवं नासिका आदि स्थानसे तो स्वल्प रक्तस्राव भी त्वरित बाहर आ जाता है; किन्तु आमाशय, अन्न और मूत्राशयमें से रक्तस्राव सत्वर बाहर नहीं आता । कुछ काल तक भीतर संगृहीत होता है, फिर बाहर निकलता है ।

स्त्रावित रक्तके परिमाण भेद और द्रुत-मन्दगति भेदसे सार्वाङ्गिक असमान लक्षण उत्पन्न होते हैं । यदि एक समयमें अविराम अधिक परिमाणमें रक्तस्राव हो जाय और वह सत्वर बन्द नहीं हो सका, तो थोड़े ही समयमें हृदयकी क्रियाका लोप हो जाता है । फिर द्रुत आक्षेप होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है । यदि एक समयमें सबल मनुष्यकी देहमेंसे २-३ सेर रक्त निकल जाय, तो रोगीकी मृत्यु हो जाती है । इसके प्रतिकूल शनैः-शनैः इससे अत्यधिक रक्तस्राव हो, या कुछ-कुछ दिनोंके

अन्तर पर बार-बार रक्तस्राव होता रहे, तो भी रोगीकी मृत्यु नहीं होती, रोगी रक्तन्यूनता (पाण्डु रोग) से ग्रसित हो जाता है ।

यदि अपेक्षाकृत कम परिमाणमें बारबार रक्तस्राव होता रहता है, तो रोगीका मुख निस्तेज हो जाता है, और बारबार चक्कर आने लगता है । फिर मूर्च्छावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है । यदि उस रक्तस्रावको रोक दिया जाय, तो उन सब लक्षणोंका निवारण हो जाता है ।

कोई-कोई समय रक्त समग्रित हो जानेसे नासिका, फुफ्फुस या सरलान्त्रमें से रक्तस्राव हो जाता है । इस रक्तस्रावसे रोगीका भारी आपत्ति से रक्षण हो जाता है । यदि अधिक रक्तसंचय होने पर भी रक्तस्राव न हो जाय, तो जलादर, रक्षाघात, मूर्च्छा आदि प्रबल विकारोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

जो रक्त मुखविवर में निकलता है, वह विविध स्थानोंमें से आता है । आमाशय, फुफ्फुस, श्वासवाहिनी, स्वरयन्त्र, गलबिल, कोमल तालु पर रहा हुआ मस्तिष्क देश, मुखकुहर, जिह्वा और दात आदिमें से रक्त निकलने पर मुख द्वारसे बाहर निकलता है । इस तरह दूसरे स्थानोंसे निकलने वाला रक्त भी किसी सम्बन्ध वाले भागसे भी आ सकता है ।

डाक्टरोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंके रक्तस्रावके नाम निम्नानुसार भिन्न-भिन्न रखे हैं ।

(१) आमाशयमें से रक्तस्राव (रक्तवमन)—हिमेटेमेसिस—
Haematemesis ।

(२) श्वासयन्त्रसे रक्तस्राव (रक्तशीघन)—हिमोटिसिस—
Haemoptysis ।

(३) नासिकासे रक्तस्राव—एपिस्टाक्सिस—**Epistaxis** ।

(४) कानमें से रक्तस्राव—ओटोर्रजिया—**Otorrhagia** ।

(५) मूत्रमार्गसे रक्तस्राव (रक्तमेह)—हिमेयूरिया—**Haematuria** ।

(६) गुदासे रक्तस्राव—मेलिना—**Melaena** ।

(७) दंतवेष्टसे रक्तस्राव (कफरक्तज रक्तपित्त)—स्कर्वि—**Scurvy** ।

- (८) त्वचामें से रक्तस्राव (त्रिदोषज रक्तपित्त) पप्पुरा—Purpura.
 (९) रक्तस्रावी प्रकृति—हिमोफाईलिया—Haemophylia ।
 (१०) मासिकधर्ममें अधिक रजःस्राव मेनोरेजिया—Menorrhagia.
 (११) गर्भाशयमें से रक्तस्राव (मासिक धर्मसे इतर समयमें)
 मेट्रोरेजिया—Metrorrhagia ।
 (१२) स्वाभाविक रजःस्राव बन्द होकर उसके बदले इतर स्थानसे
 रक्तस्राव होना—विकेरियस मेनस्ट्रुएशन Vicarious
 Menstruation.

इन रक्तस्रावोंमें से यहां निम्नानुसार रोगोंका वर्णन किया है । रक्त-
 बमन, फुफ्फुसीय रक्तस्राव, नासा रक्तस्राव, कफरक्तज रक्तपित्त और रक्त-
 स्रावीय प्रकृति, इस क्रमसे वर्णन किया है । गुदासे रक्तस्रावका वर्णन
 चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्डमें मलपरीक्षाके भीतर पृष्ठ १२८-१२९ में
 तथा अर्शरोगके भीतर पृष्ठ ७११-२० में किया है । कर्ण, मूत्रमार्ग और
 गर्भाशयसे रक्तस्रावका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप तृतीय खण्डमें यथा-
 स्थान किया जायगा ।

इन आम्प्यन्तरिक यन्त्रोंमें से जो रक्तस्राव होता है; वह सचित्त होने
 पर यदि बाहर निकलता है, तो उस रक्तमें यन्त्र विशेषका रस या इतर
 पदार्थ मिश्रित हो जाता है; या रक्त रूपान्तरित हो जाता है ।

(१) आमाशयमेंसे रक्त आनेपर आमाशयरस मिश्रित होता
 है । यह रक्त अबमिश्रित पिसी हुई कॉफी (Coffee grounds) के
 सदृश वर्ण वाला भासता है ।

(२) फुफ्फुसमेंसे आने वाले रक्तका वर्ण उज्ज्वल लोहित होता
 है । कभी वायु साथमें हो, तो भाग्युक्त होता है ।

(३) दन्त वेष्ट, जिह्वा, तालु और कण्ठके भीतरसे रक्त निकलने
 पर श्लेष्मा, फेन और लाला मिश्रित हो जाता है ।

(४) बाह्यकर्णविवर और संमुख नासारन्ध्रमेंसे जो रक्त निकलता
 है, वह दीर्घकालस्थायी होनेपर सामान्यतः जल मिश्रित पतला हो
 ४१

जाता है; तथा पश्चात् नासारन्ध्रमेंसे बाहर निकलने वाला रक्त जमा हुआ, काला, गाढ़ा और श्लेष्मायुक्त होता है ।

(५) गुदा द्वारसे निकलने वाला रक्त समीपमेंसे ही आता हो, और स्वल्प परिमाणमें हो, तो मल पर केवल लाल दाग ही होते हैं । रक्त अधिक हो, उष्ण और तुरन्त निकलने वाला हो, तो वेगसे बाहर निकलता है । यदि आन्त्रिक ज्वर आदि कारणोंसे आतोंके किसी ऊँचे स्थानसे रक्त आता है, तो अन्त्रके भीतर रहे हुए विविध पदार्थ और रस आदि मिश्रित होनेसे परिवर्तित होकर निकलता है । ऊर्ध्व भागसे आने वाले रक्त का वर्ण काला हो जाता है । क्वचित् ऊर्ध्व प्रदेशसे आने वाले रक्तका परिमाण इतना अधिक होता है कि, वर सयत होकर मलके सदृश आकारका होकर निकलता है ।

(६) स्त्रियों को ऋतुकालमें बीज कोषोंमेंसे रक्तस्राव होता है; वह दोष भेदसे स्थानिक स्राव मिश्रित होकर रक्त या कृष्ण वर्णका और ग्रन्थि या भाग सह तथा विभिन्न प्रकारका होता है । इसका वर्णन स्त्रीरोगमें यथास्थान किया जायगा । यह मासिक धर्मका रक्तभी बहुधा परिवर्तन होने पर आता है । क्वचित् मासिकधर्मके अतिरिक्त पीड़ाके हेतुसे रक्तस्राव होता है, तो रक्तका परिवर्तन नहीं होता; कभी-कभी रुधिर जमा हुआ भी निकलता है ।

(१) रक्तवमन ।

रक्तवमन—हिमेटेमेसिस—Haemeatemesis ।

रक्तकी वमन होनेपर आहारके साथ जो रक्त गिरता है, उसमें आमाशयरस मिश्रित हो जानेसे वह पिसी हुई कॉफी सदृश मैले रंगका होता है । यदि आहार गिरजानेके पश्चात् रक्त निकलता है, या रक्तकी मात्रा अत्यधिक है; तो रक्त लाल होता है । क्वचित् दन्तवेष्ट, कण्ठ, जिह्वा, पुच्छुकुस या आमाशय नलिकामें से भी आता है । अतः रक्त कहां से आता है इस बातका निर्णय परीक्षा करके करना चाहिए ।

निदान—आमाशयमें से रक्तछर्दि होनेके मुख्य ७ हेतु हैं ।

- १—आमाशयका चिरकारी प्रदाह ।
- २—आमाशयस्थ क्षत या कर्कसकोटके हेतुसे रक्तवाहिनी टूटना ।
- ३—पक्काशयमें से आहार रस मिश्रित अशुद्ध रक्त प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृतमें होकर हृदयमें जाता है; किन्तु शिरापर दन्नाव, शल्य आ जाना, यकृतदाल्युदर या हृदयके दक्षिण भागमें द्विपत्र कपाटके अवरोध होने पर रक्त हृदयमें नहीं जा सकता । फिर प्रतिहारिणी शिरा और आमाशय की शिरापं रक्त बढ़ जानेके हेतुसे फूल जाती है; और अन्तमें फूटकर रक्त वमन द्वारा बाहर निकलने लगता है ।
- ४—फुफ्फुसावरण विकार या यकृतप्लीहामें इतर किसी हेतुसे रक्ताधिक्य हो जाने पर रक्तवमन होती है ।
- ५—विष प्रभावसे—कांच, सोमल आदिका भक्षण होने पर आमाशय में क्षत होकर रक्तस्राव होने लगता है, फिर वह वमन द्वारा बाहर निकलता है ।
- ६—संक्रामक त्रिदोषज ज्वर, पीतज्वर या इतर रक्तरोगोंमें रक्तवाहिनियां विकृत होकर फूटती हैं ।
- ७—धमनी विस्तार (*Aneurysm*) होकर फूटना ।
- ८—कितनीक स्त्रियों को मासिक धर्मके बदले रक्तवमन होना ।
असात्म्य या अपथ्य आहारसे किसी किसी को वमन हो जाती है । यह विषप्रभावके अन्तर्गत है । एक रोगिणीको दूध अनुकूल नहीं रहता था । उसको दो दिन सुबह दूध पिलानेसे तीसरे दिन रक्त की वमन हुई (पहले भी उनको ऐसा हुआ करता था) दूध बन्द करने पर वमन स्वयमेव दूसरे दिन बन्द हो गई । इस तरह किसी को गरम गरम चाय पीनेसे रक्तवमन हो जाती है । इनका आन्तरिक हेतु चिरकारी प्रदाहजन्य उग्रता ही माना जाता है ।

इनके अतिरिक्त त्रिदोषज रक्तपित्त (*Purpura*), चिरकारी कफ-रक्तव रक्तपित्त (*Scurvy*), रक्तस्रावीय प्रकृति (*Haemophylia*)

तथा क्षय आदि रोगमें उरःक्षत हो जाना आदि कारणोंसे भी रक्त की वमन होती है ।

पूर्वरूप—यदि रक्तस्राव सत्वर अधिक परिमाणमें होता है; तो वमन होनेके पहले आम्राशय प्रदेशमें उष्णता, भारीपन, उबाक मुँहमें बेचैनी उत्पन्न करे ऐसा किञ्चित् मधुर स्वाद तथा अन्ननलिकासे तरल द्रव्य ऊपर उठ रहा हो, ऐसी अनुभूति आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

लक्षण—अधिक रक्तस्राव होने पर मुखमण्डल पर निस्तेजता, चक्कर आना, मूर्च्छा, कानमें गुंज होना, नेत्रमेंसे अग्निकी चिनगारिया निकलती हों ऐसा भासना, नाड़ी क्षुद्र और द्रुतगामी होना तथा शरीर शीतल हो जाना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

क्षत या कर्कसफोट आदि कारणोंसे आम्राशयमेंसे रक्त आता हो; तो वमन होनेके पहले उबाक और चक्कर आते रहते हैं । फिर रक्तवमन होती है । तत्पश्चात् कर्कसफोटके हेतुसे कुछ मलरूप दूषित रक्त (*Melaena*) काले रगके आते हैं । इनके अतिरिक्त आम्राशयविकार के रोगानुसार इतर लक्षण और कौड़ी प्रदेशमें वेदना आदि प्रतीत होते हैं । इसका विशेष विवेचन शूल और गुल्मरोगके भीतर पृष्ठ १००-१०३ और १६३ में किया गया है ।

(२) फुफ्फुसीय रक्तस्राव ।

फुफ्फुसोंमेंसे रक्तस्राव—रक्तष्ठीवन—पल्मनरी हिमोर्हेज—हिमोप्टिसिज़—*Pulmonary Haemorrhage—Haemoptysis* ।

यह व्याधि मुख्यरोग नहीं है; इतर रोगोंका लक्षण है । इसमें दो प्रकार हैं । १ श्वास नलिकासे रक्तस्राव (*Broncho pulmonary haemorrhage*) । २ फुफ्फुस संन्यास (*Pulmonary Apoplexy*) प्रथम प्रकारमें श्वास नलिकाओंके भीतर रक्त सगृहीत होकर कास द्वारा निकलता है । यह रुधिर धीवनके साथ निकलता है । अतः

इसे हिमोप्टिसिस भी कहते हैं । द्वितीय प्रकारमें वायुकोष और फुफ्फुस विधानमेंसे रक्तस्राव होता है । इसे फुफ्फुस संन्यास कहते हैं ।

निदान—इनमेंसे श्वासयन्त्रके विविध व्याधियोंके भीतर कास द्वारा रक्तष्ठीवन होनेमें निम्नानुसार अनेक हेतु हैं ।

१—स्वरयन्त्र, बड़ी श्वासनलिकाके सामान्य या विशेष प्रकारके (Nonspecific or specific) क्षत, रक्तसंग्रह और प्रदाह ।

२—फुफ्फुसविधानमें प्रदाह, क्षय कीटाणुओंका प्रकोप, न्यूमोनिया रोगमें फुफ्फुसोंकी दृढ़ता होनेके पश्चात् कोमल हो जाना, क्षत, विद्रधि या कर्कस्फोट ।

३—फुफ्फुसस्थ रक्तप्रणालियोंमें प्रबल रक्तसंग्रह, स्थानिक या परिभ्रामक शल्य जनित अथवा अपक्रान्तिजन्य परिवर्तन ।

४—धमनीविस्तार (Aneurysm) का विदारण ।

५—वातरक्त या संघिस्थानोंका प्रदाह (Arthritis) ।

६—हृदयके वाम कपाटकी विकृति होने पर फुफ्फुसोंमें रक्तसंचय अत्यधिक हो जाता है । फिर फुफ्फुसोंमेंसे धूकके साथ रक्त आने लग जाता है ।

७—मासिकधर्मके रक्तस्रावके बदले किसी-किसी स्त्रियोंको फुफ्फुससे रक्तष्ठीवन होने लगता है ।

८—घातक ज्वर (Malignant fever), कफरक्तज और त्रिदोषज रक्तपित्त (स्कर्वी-पप्प्युरा), वंशागत रक्तपित्त आदि रोगोंमें भी किसी-किसीको रक्तष्ठीवन हो जाता है ।

९—यकृत, आमाशय आदि समीपस्थ इन्द्रियोंके रक्तस्राव स्थगित होने पर या फुफ्फुसमें विद्रधि आदिके फटने पर रक्तष्ठीवन होने लगता है ।

१०—चोट लगने पर चोटके अनुरूप कम ज्यादा रुधिर गिरता है ।

लक्षण—रक्तष्ठीवन सामान्यतः अकस्मात् प्रारम्भ होता है । अधिकांश स्थलोंमें कोई पूर्व लक्षण प्रकाशित नहीं होता । मुँहमेंसे जब

रक्त आता है; तब रोगीको ईषत् नमकीन स्वादका अनुभव होता है । क्वचित् कण्ठमें कण्डू-सी होती है । फिर श्लेष्ममिश्रित रक्त आने लगता है । कभी आध छटाक रक्त आकर फिर बन्द हो जाता है । कभी-कभी स्वल्प परिमाणमें रक्त दिनों तक आता रहता है । यदि कोई बड़ी धमनी का विस्तार होने पर या क्षत होने पर फटकर रक्तस्राव होता है, तो अत्यधिक परिमाणमें रक्त निर्गत होता है । एव रोगीको कितनीक बार खासनेकी चेष्टा करने पर श्वासावरोध हो जाता है; और श्वासनली में अधिक रक्त भर जाने पर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

किसी-किसी स्थान पर रक्तस्राव स्थगित हो जाता है । फिर कुछ दिनोंके बाद पुनः प्रारम्भ हो जाता है । एव कुछ दिनों तक रक्तमिश्रित कफ निकलता रहता है ।

चोट लगने आदि कारणोंसे रक्त आता है, तब श्लेष्म नहीं होता ; क्षारीय भागदार-लाल रंगका रक्त आने लगता है ।

जब रक्तस्राव अधिक होजाता है ; तब नीरक्तावस्थाकी प्राप्ति होकर मृत्यु होजाती है । क्वचित् न्युमोनिया, फुफ्फुसावरण प्रदाह या राजयक्ष्मा उपस्थित होजाता है । एव किसी किसी समय रोगी पूर्ण स्वस्थ भी होजाता है ।

रोगविनिर्णय—इस रक्तष्ठीवन और आम्राशय रक्तवमनके पूर्वरूप और लक्षणोंमें कुछ भेद है । इस हेतुसे दोनोंका सहज निर्णय हो जाता है । रक्तष्ठीवनके रक्तका वर्ण लाल, भागदार और स्वाद क्षारीय होता है, बिना कास या कास चलकर श्लेष्मके साथ बाहर आता है; फुफ्फुसमें वेदना होती है ; तथा मलमें रक्तकी प्रतीति नहीं होती । रक्त वमनमें पहले चक्कर और उबाक आते हैं ; रक्त पिसी हुई कॉफी सदृश या कुछ जमा हुआ काले रंगका निकलता है, यह रक्त खट्टे स्वाद वाला होता है; या भोजनसे मिश्रित निकलता है ; हृदयाधारिक प्रदेश में वेदना होती है और कभी-कभी रक्त मलमें भी जाता है । इस तरह रक्तवमनके सब लक्षण रक्तष्ठीवनसे विपरीत ही होते हैं ।

यदि किसी कारणवश जब विशेष निर्णय नहीं होता ; संशय रह जाता है ; तब एकसरे द्वारा परीक्षा कराकर निश्चय करा लेना चाहिए ।

फुफ्फुस संन्यास (Pulmonary Apoplexy) के हेतुसे रक्त वाहिनियोंमें रक्त जमकर रक्तावरोध (Infarct) होने पर रक्तस्राव होने लगता है । इस विकारमें सब वायुकोष और फुफ्फुसस्थ रक्त-प्रणालिमें सब रक्त पूर्ण होजाती हैं । फिर उनकी दीवारमें से रक्त भरने (Diapedisis) लगता है । इस रक्तका शोषण जबतक न हो, तब तक उस स्थान पर ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर द्रवध्वनि (Crepitation) सुननेमें आती है । इस व्याधिका विवेचन आगे श्वास रोगमें किया जायगा ।

(३) नासा रक्तस्राव ।

नासा रक्तस्राव—एपिस्टाक्सिस—Epistaxis ।

निदान—बाह्य आघात, रक्ताधिक्यावस्था (Plethora), नासा-विवरमें क्षत और आन्त्रिक ज्वर (Typhoid Fever) की पूर्वावस्था आदि कारणोंसे नासिकामेंसे रक्तस्राव होने लगता है । जब देहके किसी भी अंशमें रक्तका परिमाण अत्यधिक होजाता है ; तब उसमेंसे कुछ अंश रक्तस्राव होकर बाहर निकल जाता है । इस नियम अनुसार सार्वजनिक या स्थानिक कारणसे नासिकामें से रक्तस्राव हो सकता है । इस रक्तस्राव के बन्द करने की चेष्टा करनेके पहले इस बातका निर्णय करना चाहिए कि, किस हेतुसे और कहाँसे रक्तस्राव होरहा है ।

नासिकामें से किस ओरसे रक्त आरहा है, इसके निर्णयके लिये, पहले एक ओरके नासाछिद्रको दबाकर रेचन करें । फिर दूसरी ओरके नासाछिद्रसे वायु निकालें । जिस ओरसे रक्त आता होगा, उस ओरसे रक्त वायुके साथ बाहर आजाता है ।

यदि किसी सार्वजनिक पीड़ाके हेतुसे या किसी यन्त्रकी विषम वेदना के हेतुसे रक्तस्राव हुआ है ; अत्यधिक परिमाणमें रक्तस्राव नहीं होता ;

और क्रमशः सूख कम हो रहा है; तब बलात्कारसे सूखको बन्द करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए ।

यदि हृदय या फुफ्फुसके किसी चिरकारी रोगके हेतुसे या श्वास-नलिकाप्रदाहजन्य तीव्रकाससे यह नासारक्तसूख हो रहा है, तो वह उपकारक है, हानिकर नहीं है ।

अधिक परिश्रम, उत्तेजना, क्रोध और मानसिक आवेग आदि कारणोंसे कभी-कभी रक्तसंचयका वेग अत्यन्त बढ़ जाता है; फिर रक्तसूख होकर इसका उपशम हो जाता है । सम्भवतः इस रक्तसूखके होनेसे थोड़े ही समयमें होने वाले सन्यासका आक्रमण रहित हो जाता है; और हृदय खण्डोंकी तीव्र क्रियाजनित क्लान्ति निवारित हो जाती हैं ।

(४) कफरक्तज रक्तपित्त ।

कफरक्तज रक्तपित्त—शीताद-स्कर्वी—स्कोर्व्युटस—Scurvy-Scorbutus ।

रोग परिचय—यह रोग बलक्षय, पाण्डुता, संधिआर्मों शिथिलता, दन्तवेष्ठ पीले हो जाना और रक्तसूख आदि लक्षणों युक्त होता है । इस रोगमें त्वचाके नीचे नीले रंग का रक्तसंग्रह प्रतीत होता है । जिनको स्पर्श करनेपर चारों ओरकी अपेक्षा रक्तके दाम वाला स्थान कठिन प्रतीत होता है । संधियोंमें शिथिलता, वेदना और पाण्डुता देखनेमें आती है ।

इस स्कर्वि रोगको सुश्रुत संहिताके निदान स्थानमें शीताद सज्ञा दी है । वहाँ पर निम्नानुसार वर्णन लिखा है ।

शोणितं दन्तवेष्ठेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते ।

दुर्गन्धीनि सकुष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।

शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥

निदान—इस रोगका मुख्य कारण अपूर्ण और असात्म्य खानपान है । आहारमें विटामीन सी (Vitamin C) और इतर आवश्यक अंश न होनेसे इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । विटामीन का वर्णन प्रथम खण्ड पृष्ठ ७४६ में किया है ।

नमकका अत्याधिक सेवन, सीलवाले मकानमें रहना, शीतल और आर्द्र वस्त्र पहनना इत्यादि इस रोगके सहायक कारण हैं ।

यह रोग स्थलकी अपेक्षा जहाजोंके भीतर रहनेवाले मजदूरोंको अधिक होता है । कारण, जहाजके भीतर वायु संचारमें न्यूनता रहती है; और उन मजदूरोंको योग्य पौष्टिक भोजन भी नहीं मिलता ।

लक्षण—इस देह रूप नगरीमें यह रोग चोरके समान गुप्त रूपसे प्रवेश करता है; तथा धीरे-धीरे बढ़ता जाता है । रोग वृद्धिके अनुरूप रोगीके बलका क्षय होता जाता है । मुख निस्तेज और कृष्णाम पीतवर्ण या हरिताम वर्ण का हो जाना, अनियमित मंद नाड़ी, हृदय का प्रथम शब्द अति स्पष्ट, हृदय प्रदेशमें सर्वत्र मर्मरध्वनि, आलस्य, अति दुर्बलता सांघे टूटना, थोड़ेसे परिश्रमसे श्वास भर जाना, दन्तवेष्ट (मसूढ़े) पीले, नरम और सूजे हुए हो जाना, मसूढ़ोंको दबाने पर उनमेंसे रक्त निकलना, धीरे-धीरे दांतों का गलना, निःश्वास और मुँहमें से दुर्गन्ध निकलना, १-२ सप्ताह जानेपर शरीरकी उपत्वचाके रोमके छिद्रोंमेंसे स्थान-स्थानपरसे रक्तस्राव होना, रक्तस्राववाले स्थान काले हो जानेसे देहपर सर्वत्र छोटे छोटे काले दाग प्रतीत होना, ऊरुके पश्चात् भागमेंसे और पैरोंकी पिण्डियोंके नीचेके भागमेंसे रक्तस्राव होकर कठिन शोथ आ जाना और उसमें पीड़ा होना तथा इस पैरोंके शोथके हेतुसे दोनों जानुके मिलानेमें कष्ट होना इत्यादि लक्षण होते हैं । कोई-कोई रोगी को मस्तिष्कमें उष्णता अधिक पहुँच जानेसे रात्रिको दिखाई नहीं देता । यह नक्तान्धता इस रोगका एक विशेष लक्षण है । कभी-कभी प्रथमावस्थामें यह लक्षण नहीं उत्पन्न होता । परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् रोगी दिनमें अच्छा देख सकता है; और रात्रिको चन्द्रके प्रकाश

में कुछ भी नहीं देख सकता । यदि दीपक का प्रकाश न किया जाय, तो रोगी रात्रिको बिल्कुल अन्धा हो जाता है । नेत्र शुष्क हो जाते हैं, और अन्य नेत्र विकार भी हो जाते हैं ।

किसी-किसी रोगीके एक या दोनों नेत्रगोलकोंके चारों ओर त्वचा पर शोथ और नीलाभ वर्ण प्रतीत होते हैं । नेत्रके श्वेत पटल (Sclerotic Coat) की श्लैष्मिक कला (Conjunctiva) शोथ युक्त और उज्ज्वल रक्त वर्णकी होजाती हैं; तथा वह कर्नीनिका (Cornea) से लगभग ६ इञ्च ऊँची हो जाती है, फिर कर्नीनिका विवरके तल देश में घुस जाती है । ऐसा होने पर व्याधि घातक बन जाती है ।

नाकमेंसे और इतर श्लैष्मिक कलामेसे रक्तस्राव होने लगता है । फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण, हृदावरण और अन्त्रमें दाह-शोथ उत्पादक पदार्थ का सचय होने लगता है ।

कभी-कभी पैरोंके गुल्म सधियों पर शोथ आ जाता है । किसी-किसीको कोष्ठबद्धता या अत्यन्त उदरपीड़ा होती है । मूत्र रक्तवर्णका होता है; मूत्रको रोकनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है । कभी-कभी कपड़ेमें कुछ बून्द निकल जाती है ।

श्वासोच्छ्वासमें कष्ट होने लगता है; परीक्षाकी जाय, तो फुफ्फुसके आक्रान्त होनेका कारण नहीं जाना जाता । श्वासोच्छ्वासकी परीक्षा करने पर कभी-कभी आगन्तुक आवाज (Rales) और अँगुलियोंसे ठेपन करने पर घनध्वनि सुननेमें आती है । हृदय पर ध्वनि बाह्यक यन्त्रसे परीक्षाकी जाय, तो पाण्डु रोगके सदृश आवाज आती है ।

रोग विनिर्णय—अतिशय बलक्षय, दन्तवेष्ट विकृति, स्थान-स्थान परसे रक्तस्राव और सूजन परसे सहज निश्चय हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यदि इस रोगको सत्वर न दवा दिया; तो सब लक्षण प्रबलतर हो जाते हैं; एव व्रण होकर रक्तस्राव होने लगता है । चिरकारी क्षत पुनः उत्पन्न होते हैं । जुड़ी हुई हड्डिया पुनः खुल जाती हैं; रोगी बेहोश-सा रहता है; और अत्यधिक कृश हो जाता है । यदि

इस रोगमें रक्तके ददोरे (Eruption) अत्यन्त व्याप्त हो जाय; और श्लैष्मिक कलामेंसे रक्तस्राव अधिक होने लगे, तो रोग असाध्य हो जाता है । लसीकाग्रन्थियों या देहके संयोजक तन्तुओंमेंसे रक्त निःसरण होनेपर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

श्वपरीक्षा—श्वच्छेद करके देखने पर हृदय कोमल और म्लान या मेदयुक्त, स्नीहा बढ़ी हुई और कोमल तथा रक्त जलवत् प्रतीत होते हैं । अन्त्रमें त्रिदोषज रक्तपित्तके सदृश रक्तस्रावके चिह्न देखनेमें आते हैं । सब संघियोंमें रक्त संचित हो जाता है ।

(५) त्रिदोषज रक्तपित्त ।

त्रिदोषज रक्तपित्त—पयुरा-पेलियोसिस—Purpura-Peliosis ।

रोग परिचय—यह रोग आसुर्वेदीय त्रिदोषज रक्तपित्तके अन्तर्गत ही होना चाहिए । इस रोगमें त्वचा या श्लैष्मिक त्वचाके नीचे स्थान स्थान परसे रक्तस्राव होकर क्षुद्र-क्षुद्र लाल-नीले (Purple) दाग हो जाते हैं । इस रोगके क्षुद्र दागोंको पेटेकिया (Petachia) और बड़े लम्बे दागको वाइबेक्स (Vibex) कहते हैं ।

निदान—इस रोगका कारण अज्ञात है । शिरा और कैशिकाओंका अप्राकृतिक परिवर्तनके हेतुसे इस रोग की संप्राप्ति होती है । विद्वानोंका अनुमान है कि, रक्तके रक्ताणुओंके कोषोंमेंसे भीतर रहा हुआ पदार्थ बाहर निकलजानेके हेतुसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । कितनेक विद्वानों का मत है कि, इस रोगकी उत्पत्ति पचनेन्द्रियसंस्थाकी विकृति, दूषित आहारसे उत्पन्न सेन्द्रिय अन्त्रविष (Intestinal Sepsis) और इतरविषकी वृद्धिसे होती है ।

इस रोगके कारणभेदसे अनेक प्रकार हो जाते हैं । इन सबको दो विभागमें दर्शाया है । ज्ञात हेतुजन्य—लाक्षणिक और अज्ञात विषजन्य ।

(१) लाक्षणिक रक्तपित्त (Symptomatic Purpura) इस प्रकारमें निम्नानुसार ४ विभाग हैं ।

अ—रक्तमें पूय प्रवेश, रक्तमें कीटाणु वृद्धि, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका आदि सक्रामक तीव्र ज्वर ।

आ—उपदंश, चिरकारी वृक्कप्रदाह, कफरक्तज रक्तपित्त (Scurvy) आदि प्रबल तीव्र रोगोंसे उत्पत्ति ।

इ—सर्प विष, क्लिनाईन, ताम्र, पारद विष, पोटास आयोडाइड आदिके विषप्रकोपसे उत्पत्ति ।

ई—वातवहा नाड़ियों की विकृति—हिस्टीरिया, अपस्मार, पृष्ठवशरज्जु-प्रदाह (Myelitis) के पश्चात् पृष्ठवंशमे अपक्रान्तिजन्य विकृति (शकुन्तमति रोग—Locomotor Ataxia) और काली खासी आदिसे उत्पत्ति ।

(२) अज्ञात विषजन्य रक्तविष—इसमें ३ विभाग हैं ।

१—सौम्य—(Purpura Simplex) यह छोटे बच्चों को मृदु भावसे होता है । किसी भी प्रकारकी विकृति नहीं करता ।

निद्राभंग होनेपर देह पर नुद नुद कितनेक रक्तवर्णके ददोरे उत्पन्न होते हैं । ये दाग क्रमशः २-३ बार देखनेमें आते हैं; और दो सप्ताहमें शमन हो जाते हैं ।

२—तीव्र रक्तस्राव युक्त रक्तपित्त—(Acute Haemorrhagic Purpura) इसमें दो उर विभाग हैं । पहले प्रकारमें बहुधा वशागत रक्तपित्त (हिमोफीलिया) से उत्पत्ति छोटे बालकों को होती है । स्थान-स्थान पर बड़े दाने (Ecchymosis) के दृष्टकर होने वाले स्रावके सदृश रक्तस्राव होता है; और अगने आप बन्द हो जाता है, या अधिक रक्तस्राव होनेसे मृत्यु हो जाती है । उसे घातक रक्तपित्त (Purpura Fulminans) कहते हैं ।

द्वितीय उपविभागमें संक्रामक तीव्रज्वर, मुख पाक और कोथ, ये हेतु हैं । ऊर्ध्व रक्तपित्त (दन्तवेष्ट, जिह्वा और अन्ननलिकामेंसे रक्तस्राव) होने लगता है । ४८ घण्टेके भीतर देहमें दाने निकल आते हैं । दाने पहले

उज्ज्वल लाल रंगके होते हैं । फिर लाल-नीले रंग मिश्रित हो जाते हैं । देहमें पीड़ा होती है । जरासा दबाने पर रक्त निकलता है । किसी-किसी को नाक, फुफ्फुस, आमाशय, अन्त्र आदिमें से घातक रक्तस्राव होने लगता है । फिर रक्तस्रावके हेतुसे दुर्बलता, सर्वत्र शोथ और रक्तन्यूनता (पाण्डु) उपस्थित होते हैं । इस प्रकारको डाक्टरीमें पप्युरा एन्जियोन्युरोटिका (*Purpura Angioneurotica*) कहते हैं ।

३-संधिविकार युक्त—(*Purpura Rheumatica*) इसमें दो प्रकार हैं । पहला प्रकार तीव्र आमवात सह होता है । दूसरे प्रकारमें मंदज्वर, संधिपीड़ा, और संधियोंके चारों ओर त्वचाके निम्नस्थ कोषोंके तन्तु (*Cellular tissues*) शोथप्रसित हो जानेसे शीतपित्त (*Urticaria*) के सदृश रक्तके गोल ददोरे—कोठ हो जाते हैं । इस प्रकारको डाक्टरीमें पप्युरा एन्ग्युलरिजटेलेन्जिएक्टोडिस (*Purpura annularis telangiectodes*) कहते हैं । इस प्रकारमें कैशिकाएँ चौड़ी हो जाती हैं ।

त्वचाके नीचेसे जो रक्तस्राव होता है; वह क्षुद्र दाग या बड़े दाग होकर अथवा स्वाभाविक रक्तस्रावी प्रकृतिमें त्वचाके नीचे दाने होकर फटनेके सदृश होते हैं । - मूत्रेन्द्रिय, वृषण आदि स्थानसे प्रचुर मात्रामें रक्तस्राव होता है । यह अवस्था कोथ (*Gangrene*) में परिणत हो जाती है; अथवा कोथ द्वारा संयोजक तन्तुओंका नाश होकर वे क्रमशः पृथक् हो जाते हैं । क्वचित् नाकमें से रक्तस्राव होने लगता है । क्वचित् उपद्रव रूप हृदयान्तर त्वक्प्रदाह (*Endocarditis*) या हृदावरण प्रदाह (*Pericarditis*) उपस्थित होता है ।

यह रोग दीर्घस्थायी रहता है । संधिपीड़ा गुणयाङ्गके सदृश (*Multiple arthritic*) लक्षणों सह बारबार बढ़ती है; और शोथ भी हो जाता है । इस रोगके अन्तमें दीर्घकाल तक दुर्बलता रह जाती है ।

लक्षण—जिन-जिन स्थानोंसे रक्तस्राव होता है; उन-उन स्थानों पर लाल-नीले दाग हो जाते हैं; तथा पाण्डुता, वैवर्ण्य, जुधामें विल-

क्षयता, प्लीहावृद्धि, रक्तस्रावके स्थान पर और सर्वत्र सूजन आ जाना, हाथ-पैर टूटना, चक्कर आना, पीड़ा होना तथा आलस्य आदि लक्षण होते हैं। यदि इसके साथ अन्तरमें तीव्र रक्तस्राव होता है, या रक्तस्रावका पुनः आक्रमण होता है; तो बलक्षय होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

इस रोग और कफरक्तज रक्तपित्त (स्कर्वी), दोनोंमें त्वचामेंसे रक्तस्राव होता है। किन्तु इस रोगमें मसूदे नहीं सूजते; स्कर्वीमें सूज जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्कर्वीकी उत्पत्ति अपूर्ण भोजन, सत्वहीन भोजन तथा फल, फूल और ताजे शाक भाजी आदिके अभाव आदि कारणोंसे होती है। ये सब कारण इस रोगके निमित्त नहीं हैं।

(६) रक्तस्रावीय प्रकृति ।

रक्तस्रावीय प्रकृति—हिमोफीलिया—हिमोरेजिक डायेथेसिस—
Haemophilia—Haemorrhagic—Diathesis ।

रोग परिचय—यह रोग वंश परंपरागत उतरता है। यह केवल पुत्र परपरामें जाता है। पुत्रके समान पुत्रीको नहीं होता; किन्तु पुत्रीके पुत्रको फिर हो जाता है, और पुत्रीकी पुत्रीको नहीं होता। थोड़ा-सा क्षत होने पर बहुत रक्तस्राव हो जाता है। क्वचित् स्वयमेव संधिमेंसे रक्तस्राव होने लग जाता है।

इस रोगमें एक प्रकार ऐसा भी है; जो देहके किसी स्थानोंमें से रक्त स्थान भ्रष्ट होकर त्वचाके नीचे संचित और परिवर्तित रक्तके दाने (Ecchymosis) होकर स्वतः रक्तस्राव हो जाता है; यह प्रकार उस वंशकी स्त्रियों पर आक्रमण करता है।

इस रोगके ४ प्रकार हैं।

१—देहके किसी भी भाग पर (बाह्य या आभ्यन्तर) थोड़ा-सा आघात होने पर रक्तस्राव होना। इस प्रकारमें सब संधिस्थान अति शिथिल होते हैं। यह केवल पुरुषोंको ही होता है।

- २—श्लैष्मिककलामें से रक्तस्राव होना । यह रक्तस्राव देहके किसी भी भागकी श्लैष्मिक कलामें से स्वतः होने लगता है ।
- ३—त्वचाके नीचे स्थान-स्थान पर रक्तका अत्यधिक संग्रह होकर सङ्ख रक्तस्राव होने लगता है । यह विकार केवल स्त्री जातिको होता है ।
- ४—बाह्य रक्तस्रावसे भिन्न आन्तरिक संयोजक तन्तुओंमें भी रक्तस्राव हो जाता है । इस रोगमें सब संधिस्थान विशेषतः जानुसंधि पर थोड़ा-सा आघात होने पर उसमें से रक्तस्राव होने लगता है । संधिमें वेदना होती है; और ज्वर भी आ जाता है ।

संग्राप्ति—रक्तमें रक्तस्तम्भक तत्त्व (Prothrombin) पूरे परिमाणमें होने पर वह रक्तस्राव होनेके साथ तुरन्त वहाँ रक्तको जमानेकी क्रियाका प्रारम्भ कर देता है; किन्तु जब इस तत्त्वकी कमी होती है, तब रक्तप्रवाह जल्दी नहीं रुक सकता । इसके अतिरिक्त रक्तमें 'श्वेत जीवाणु' और रक्तकी चक्रिकाओंकी भी न्यूनता होती है । इस हेतुसे भी रुधिरका सत्वर निरोध नहीं हो सकता ।

लक्षण—लक्षण कारणसे भी अधिक रक्तस्राव होना, यह एक ही लक्षण इस रोगका निर्णायक देता है । चेचकका टीका लगाने, नाक, कान या दन्तवेष्टमेंसे रक्त निकलने, दाँतको निकालने, अर्शके मस्सेकी शस्त्रक्रिया और जलौकासे रक्त निकालना आदि मामूली कारणों से भी अत्यधिक रक्तस्राव होकर रोगीकी मृत्यु होजानेके उदाहरण मिले हैं । एवं इस वंशागत रक्तपित्त व्याधिके बीजके हेतुसे अनेक शिशुओंके जन्मकालमें नालछेदन करने पर अत्यधिक रक्तस्राव होकर मृत्यु हो गई हैं; और अनेक बालक छोटी आयुमें क्षत होनेसे मर गये हैं ।

अनेकोंके रक्तमें रक्तको जमानेकी शक्ति कुछ कम रहती है; कितनेक मनुष्योंमें अति कम रहती है; और किसी-किसीमें बिल्कुल नहीं होती । कुछ कमती है; तो प्रयत्न करने पर थोड़ी देर बाद रक्तस्राव बन्द हो जाता है । अति कम शक्ति है; और मर्म स्थान पर आघात पहुँचता है, तो रोगी नहीं बच सकता; वरना प्रयत्न करने पर बच जाता है । जिनमें इस

शक्तिका अभाव हो, उनको थोड़ा-सा क्षत होनेपर ही वे मृत्यु मुखमें गिर जाते हैं ।

इस रोगसे पीड़ित रोगी जो बच जाते हैं—बाल्यावस्थामें नहीं चले जाते; उनकी आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे रोगबल कम होता जाता है । युवावस्थाके पश्चात् बहुधा भय कम हो जाता है । बिल्कुल निर्भयता तो नहीं मानी जाती ।

रक्तपित्तचिकित्सोपयोगी सूचना ।

बलवान रागीके वेगसे गिरते हुए दूषित रक्तस्रावको एकदम बन्द करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए । कारण, दूषित रक्तका रोध होनेसे रक्तविकार, विद्रधि, विसर्प, गलगण्ड, ज्वर, खुजली, शोथ, पाण्डु, हृद्रोग, ग्रहणी, अर्श, भगंदर, प्लीहा वृद्धि, आनाह, गुल्म, ज्वर, मूर्च्छा, किलास, कुष्ठ, वातरक्त, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, बुद्धि या स्मरण शक्तिमें विकृति इत्यादि रोगोंकी उत्पत्ति होजाती है ।

यदि दूषित रक्त सूक्ष्म शिराओं द्वारा अन्तर्चर्ममें प्रवेश करता है, तो पाण्डुरोग; ग्रहणीमें प्रवेश करता है, तो ग्रहणी रोग; इतर धातुओंमें प्राप्त होता है, तो कुष्ठ; रक्तमें विकृति होने, पर रक्तविकार; प्लीहा पर आघात पहुँचावे तो प्लीहा वृद्धि; उदरमें या गर्भाशयमें संचित हो, तो गुल्म; एवं रसवाहिनियों और स्वेदाहिनियों की ओर प्रवृत्ति करे, तो ज्वर रोगकी उत्पत्ति कराता है । ऐसे ही पृथक् पृथक् स्थानोंमें दूषित रक्तकी गति अनुसार इतर रोगोंकी सम्प्राप्ति होजाती है ।

यदि रोगी बलवान, पुष्ट और प्रदीप्त अग्नि वाला है, तो तीव्र रक्तपित्तका प्रारम्भ होने पर लङ्घन कराकर कषे दोषको जला देना, यह परम हितकारी है; किन्तु निर्बलोंको लङ्घन नहीं कराना चाहिए । यदि रोगी अत्यन्त निर्बल है, और रक्त बन्द न

होनेसे मरण की भीति है, तो भावी उपद्रवका विचार किये बिना रक्तको सत्वर बन्द कर देना चाहिए । फिर रोगशामक संशमन ओषधियाँ देनी चाहिए ।

रोगकी उत्पत्ति संतर्पणसे हुई हो और रोगी सशक्त है, तो चिकित्साके प्रारम्भमें ऊर्ध्व रक्तपित्त वालेको विरेचन देकर और अधोरक्तपित्त वालेको वमन कराकर शुद्ध कर लेना चाहिए ।

यदि रोगकी उत्पत्ति अपतर्पणसे हुई हो और रोगी अशक्त हो, तो बिना संशोधन किये ऊर्ध्व रक्तपित्तमें संशमन चिकित्सा और अधोरक्तपित्तमें वृंहण चिकित्सा करनी चाहिए । एवं द्विमागीं रक्तपित्तका रोगी यदि बलवान् है, तो प्रथम लङ्घन करा फिर संशमन ओषधि देनी चाहिए ।

यदि बालक, वृद्ध, या शोष रोगसे पीड़ित को रक्तपित्त हुआ है, तो लङ्घन या वमन-विरेचन नहीं कराना चाहिए । संशमन उपचारका ही प्रारम्भ करना चाहिए ।

ऊर्ध्व रक्तपित्त और अधो रक्तपित्तमें मुख, नासिका, गुदा, मूत्रेन्द्रिय आदि स्थान भेद तथा देश, काल, रोग बल, अग्नि बल, रोगी बल और उपद्रव आदिके भेदको जानकर चिकित्सा करनी चाहिए । रक्तपित्तमें कफ नाश होने पर और जठराग्नि प्रदीप्त होजाने पर भी रक्तपित्त शमन न हुआ हो, तो वातप्रधान रक्तपित्त में दूधकी योजना करनी चाहिए ।

ऊर्ध्व रक्तपित्तमें कफ होने पर कमलकी नालके चारको बी-शहदके साथ मिलाकर देना लाभदायक है । यदि नाकसे रक्त गिरता हो, तो सूँघने की ओषधि—गोधृत, दुर्वाचघृत (२० ८३१) आदि देनी चाहिए ।

यदि अधो रक्तपित्तमें रक्त गुदा द्वारसे जाता है, तो सिद्ध घृतकी बस्ति देनी चाहिए, वातोल्वण रक्तपित्तमें बकरीके दूधकी

बस्ति और रक्तातिसारनाशक चिकित्सा हितकर मानी गई है ।
मूत्रमार्गसे रक्त जाने पर उत्तरबस्ति देनी चाहिए ।

जिन रोगियोंको लङ्घन कराया जाय, उनको लङ्घनके बाद चावलो की थोड़ी पेया पिलानी चाहिए ; तथा संतर्पण, पाचन अवलेह और रक्तपित्तशामक सिद्ध घृत देना चाहिए ।

ऊर्ध्व रक्तपित्तमें कड़वे और कसैले रस वाले पदार्थ, षडङ्ग जल (साँठ रहित), संशमन ओषधि और उपवास; तथा अधो-रक्तपित्तमें मधुर पदार्थ (पौष्टिक) का भोजन लाभदायक है ।

रक्तपित्त रोगीको विरेचनार्थ मुनक्का, मुलहठी, गम्भारी और मिश्री मिलाकर देवे , और वामक ओषधि मैतफल आदि देनी हो, तो मुलहठी और शहदके साथ मिलाकर देना चाहिए ।

रक्तपित्तके रोगीके पीनेके जलमें षडङ्ग जलकी ओषधियाँ (सोठको छोड़ शेष पाँच ओषधियाँ) मिला, या नेत्रवाला, चन्दन, खस, नागरमोथा और पित्तपापड़ा मिला, उबालकर शीतल किया हुआ जल देना चाहिए ; अथवा लघुपञ्चमूल मिलाकर उवाला हुआ, शहद मिला हुआ, खट्टे फल, मुनक्का आदि मिला हुआ, पित्तघ्न फल मिला हुआ या बिना ओषधि मिलाये केवल उबालकर शीतल किया हुआ जल देना चाहिए ।

क्षीण बल वाले रोगीको ऊर्ध्व रक्तपित्तमें पहले तर्पण करावें । फिर विरेचन दें ; और अधोगामी रक्तपित्तमें पहले लघु-पञ्चमूलके काथमें चावल की पेया पिलाकर वमन करावें ।

रक्तपित्तके रोगीको पेया, तर्पण, पाचन, अवलेह, और सिद्ध घृत देना, यह परम हितकर है ।

अधो रक्तपित्तमें यदि वायु बलवान् है, तो यवागू न दें, मूँग का यूष या मांस रस देना चाहिए । अधोगामी रक्तपित्तमें खजूर, मुनक्का, मुलहठी, और फालसाके जलके साथ मिश्री मिला तर्पण बनाकर पिलाना चाहिए ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्तमें खीलके सत्तूका तर्पण घृत और शहद मिलाकर खिलावें । यदि मन्दाग्नि हो, तो दाड़िम, आंवला आदि पथ्य अम्ल वस्तुका तर्पण देवें; अथवा इन ओषधियोंको भोजन आदिमें मिलाकर सेवन करावें ।

यहाँ जो ओषधियाँ रक्तपित्तशामक कही हैं; इनके अतिरिक्त पित्तज्वरमें अन्तर्बाह्य उपचार कहे हैं, तथा क्षत क्षीणके लिये जो ओषधियाँ कही हैं, वे सब रक्तपित्तमें हितकर मानी जाती है । आवश्यकता पर उनमेंसे भी विचारपूर्वक प्रयोगमें लाई जाती हैं ।

रक्त वमन रोगमें बर्फ चूसनेको देना हितकारी है । यदि यकृतमेंसे अधिक रक्तस्राव हो गया हो, तो लवण मिश्रित विरेचन देना चाहिए । भोजन और पेय बिल्कुल शीतल देना चाहिए ।

रक्तनिष्ठीवनमें रोगीको थोड़ा-थोड़ा बर्फ चूसने देवें । सम्पूर्ण विश्रान्ति देवें । ज्यादा बोलने भी नहीं देना चाहिए । रोगीको शीतल खुली वायु वाले स्थानमें रखना चाहिए । आवश्यकता पर फुफ्फुस पर बर्फकी थैली रखकर शीतलता पहुँचानी चाहिए । रक्त निष्ठीवन रोगीको जो भोजन और पेय आदि दिये जायँ, वे सब बिल्कुल शीतल करके देना चाहिए । यदि फुफ्फुस मेंसे अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो, तो तार्पिन तैलको श्वासके साथ प्रवेश करानेका प्रयत्न करना चाहिए ।

रक्तरोधक ओषध देनेसे संयोजकतन्तुओंका संकोच होकर और रक्त संयत होकर रक्तस्राव बन्द हो जाता है । चन्द्रकजारस, बोलबद्धरस, बोलपर्पटी, लृणकांतमणि पिष्टी, उशोरासव आदि ओषधियाँ सत्वर रक्तस्रावका रोध करती हैं ।

यदि नासिकामेंसे होनेवाला रक्तस्राव अधिक न हो, तो उसे बलात्कारसे रोकनेकी चिकित्सा न करनी चाहिए । यदि अधिक रक्तस्राव हो, और किसी कारणवश रोकनेको आवश्यकता हो,

तो रक्तस्राव रोकनेके दो उपाय हैं । नैसर्गिक बाह्योपचार और ओषधि चिकित्सा ।

नैसर्गिक बाह्योपचार—(अ)—चित्त लेट कर या आराम कुर्सी पर लेटकर मस्तिष्कको कुछ नीचा रखें । फिर शिर पर शीतल जल छिड़कें या बर्फ रखे ।

(आ)—दोनों पैरोंको गरम जलमें डूबो रखनेसे निम्न शाखाकी शिराएँ प्रसारित होती हैं । फलतः मस्तिष्कमेंसे रक्त नीचे की ओर आ जाता है ।

(इ)—पृष्ठदेशमें कशेरुकाओंके ऊपर गरम जलसे सेक करनेपर मस्तिष्कमेंसे रक्त सत्वर आकर्षित हो जाता है ।

विविध प्रकारकी ओषधचिकित्सा आगे पृष्ठ ६६५ से ६६७ तक दी है ।

रक्तस्रावीय प्रकृतिवालोंको (और दूसरोंको भी) बाह्यरक्त-स्राव बन्द करनेके लिए उस स्थानपर बर्फ रखना चाहिए ।

त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) में मूल कारणको दूर करना चाहिए । पौष्टिक, मधुर लघु भोजन देना चाहिए । इस रोगपर लोह प्रधान और रक्तवाहिनियोंको संकोच करनेवाली ओषधियाँ (चन्द्रकलारस, वासावलेह, बोलबद्ध रस आदि) लाभदायक हैं । विरेचन ओषधिद्वारा विषको निकाल देनेसे सत्वर लाभ हो जाता है ।

कफरक्तज रक्तपित्त (Scurvy) रोगसे पीड़ितको पक्के फल, नाना प्रकारके नीबू, सन्तरा, मुसम्बी, माल्टा आदि और पौष्टिक आहारकी व्यवस्था करनी चाहिए । रोगीको विशुद्ध खुली वायुमें रखें । च्यवनप्राशावलेह और लोह प्रधान ओषधि इसरोगमें अति हितकर मानी गई है ।

मसूढ़ोंके दोषकी निवृत्ति अर्थ त्रिफला या बंबूलकी छालके काथसे कुल्ले करावें, अथवा दन्तदोषहर मंजन (२० ६८६),

पाठादि चूर्ण (२० ६५०), जातिफलादि चूर्ण (२० ६६०) से मंजन कराना चाहिए ।

त्रिवृतादि मोदक—रवेत निसोत, हरड़, बहेड़ा, आंवला, काली निसोत, पीपल, ये सब समभाग, सबके बराबर शक्कर और शहद लड्डू बांधने योग्य लें। सबको मिला १-१ तोलेके लड्डू बनाकर खिलानेसे कोष्ठशुद्धि होकर त्रिदोषज ऊर्ध्व रक्तपित्त, शोथ और उवर दूर होते हैं ।

अमलतासके फलके गूदा और आंवले २-२ तोले का काथ कर मिश्री और शहद १-१ तोला मिलाकर पिलानेसे कोष्ठ शुद्धि होकर ऊर्ध्व रक्तपित्त शमन होजाता है ।

वामक ओषधियां—(१) पहले शालपर्णी आदि लघुपक्वमूल से सिद्ध पेया पिलावें; फिर मैनफलका चूर्ण ६ माशे, मिश्री, जल और शहद मिला मथन कर वमनार्थ पिलानेसे अधो रक्तपित्तमें पित्तदोष बाहर निकल जाता है ।

(२) ईखके रसमें मैनफलका चूर्ण और मिश्री मिला कर दें ।

(३) इन्द्रजौ, नागरमोथा, मैनफल और मुलहठीका चूर्ण शहदके साथ मिलाकर पिलानेसे वमन होकर ऊर्ध्वगत दोषोंका संशोधन हो जाता है ।

रक्तपित्त चिकित्सा ।

रक्तपित्त शामक सरल प्रयोग (१) अड्डूसेके पत्तोंका स्वरस (पुटपाक कृतिसे निकाला हुआ) ६-६ माशेको शहद-मिश्री मिला कर पिलानेसे दारुण रक्तपित्त भी नष्ट होजाता है ।

(२) अड्डूसेके पत्तों का स्वरस, गूलरका रस शहद और मिश्री ६-६ माशे को मिला कर पिलानेसे रक्त पित्त शमन होता है ।

(३) अड्डूसेके रसमें प्रियंगू, गोपीचन्दन, रसाँत और लोध

का चूर्ण तथा शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे अघो और ऊर्ध्व, दोनों प्रकारके रक्तपित्त शमन होजाते हैं ।

(४) वासा कषाय—अङ्गुसेके पत्ते का स्वरस या कषायके साथ नील कमल, गोपीचन्दन, प्रियंगू, लोध, रसौत और कमल-केशर, इन ६ ओषधियोंका कल्क तथा शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे रक्तपित्तके प्रबल वेगका भी शमन होजाता है ।

अङ्गुसाके लिये आचार्यों ने कहा है कि—

वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च ।

रक्तपित्तो ह्ययी कासी किमर्थमवसीदति ॥

जब तक अङ्गुसा संसारमें विद्यमान है ; तब तक रक्तपित्त, ह्य और कासके रोगीके जीवनकी आशा रहती है, फिर ये क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहे हैं ?

(५) वासा स्वरसके साथ शहद और तालीसपत्रका चूर्ण मिलाकर देनेसे कफ, पित्त, कास, तमकश्वास और स्वरभेद सह रक्तपित्त रोग नष्ट होता है ।

(६) अङ्गुसाके पत्ते, मुनक्का, और हरड़का काथ कर शहद-मिश्री मिलाकर दिनमें दो बार पिलानेसे कास, श्वास और रक्तपित्त दूर होते हैं ।

(७) गेंदेके पत्तेका रस २ तोले पिलानेसे रक्त गिरना तुरन्त बन्द होजाता है ।

(८) रात्रिको २ तोले लाखक चूर्णको जलमें भिगो दें । सुबह मसल छान कर पिला देनेसे रक्तस्राव बन्द होजाता है ।

(९) मोचरसका चूर्ण ३ माशे शहदके साथ मिला कर चाट लेनेसे गुदासे गिरने वाला रक्त बन्द होता है ।

(१०) खजूर, मुनक्का और मुलहठी का कषाय शक्कर मिलाकर पिलानेसे रक्तपित्त शमन होता है ।

(११) लाखका चूर्ण ६ माशे घी और शहद मिलाकर चाटने से रक्तपित्त की प्रबल वमनका भी शमन होजाता है ।

(१२) गूलर का पक्का फल (जन्तुओं को दूर करके), गम्भारीका फल, हरड़, पिण्डखजूर या अंगूर, इनमेंसे किसी एक को पीस शहद मिलाकर चाटनेसे रक्तपित्त शान्त होजाता है ।

(१३) अडूसेके स्वरसके साथ शहद-मिश्री तथा किसमिस, रक्तचन्दन, लोध और प्रियंगू, इन ४ ओषधियोंका कल्क मिलाकर पिलाने या चटानेसे वेगपूर्वक नाक, मुख, गुदा या मूत्रेन्द्रियसे गिरने वाला रक्त तुरन्त बन्द होजाता है । यह प्रयोग रक्तपित्त-शमनके लिये प्रयोगोंका राजा है । यदि कहींसे शस्त्र लगने पर रक्तस्राव वेगपूर्वक होता हो, तो उस स्थान पर किसमिस, रक्तचन्दन, लोध और प्रियंगूके चूर्णका लेप लगानेसे वह भी बन्दहोजाता है ।

(१४) सिंघाड़ा, धानका लावा और नागरमोथाके चूर्णके साथ कमल-केशर, खजूर और शहद मिलाकर चटानेसे रक्तपित्त शमन होजाता है ।

(१५) मरु देशके पशु पक्षियोंका रक्त शहद मिलाकर चटाने से रक्तपित्तसे उत्पन्न रुधिरकी न्यूनता दूर होजाती है ।

(१६) कबूतर की विष्ठाको पीस शहद मिलाकर खिलानेसे रक्तकी गांठे गिरना बन्द होजाता है ।

(१७) धान्यकादि काथ—धनिया, आँवला, अडूसेके पत्ते, द्राक्षा और पित्तपापड़ा, इनका चूर्ण १ से २ तोले ले, ४ गुने गरम जलमें मिलाकर ढक दें । फिर शीतल होने पर छानकर पिलावें । इससे रक्तपित्त, मंद ज्वर, दाह, तृषा और शोषकी निवृत्ति होती है ।

(१८) हीबेरादि क्वाथ—नेत्रवाला, नील कमल, धनिया,

रक्तचन्दन, मुलहठी, गिलोय, खस और निसोत, इन ८ औषधियोंका काथ कर शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे उग्र रक्तपित्तका सद्यः नाश होजाता है, तथा ज्वर, दाह और तृषा भी दूर होजाते हैं। यह काथ ऊर्ध्व रक्तपित्तमें बहुधा तत्काल लाभ दर्शाता है। इस काथकी एक दूसरी विधि रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह (पृष्ठ ७२७) में दी है; वह भी हितावह है।

(१६) अलसीके मूल, लजवन्ती, बड़के अंकुर और छाल, इन सबको सगभाग मिला जलमें पीस छानकर पिलाते रहने और पथ्यमें मूँगका यूष देने रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें प्रबल रक्तपित्त शमन होजाता है।

(२०) जीरा ३ माशे और मिश्री ६ माशे मिलाकर जलके साथ देनेसे रक्तस्राव, उबाक, वमन और अरुचि दूर होते हैं; तथा लुधा प्रदीप्त होती है। जीराको शास्त्रमें उष्ण माना है। फिर भी रक्तपित्त रोगमें लाभ पहुँचाता है, ऐसा अनुभवसे आया है।

(२१) फिटकरीका फूला ३ से ६ रत्ती ३-३ माशे मिश्रीमें मिलाकर देनेसे रक्तपित्त, रक्तवमन और राजयक्ष्माकी भयङ्कर वमनका सत्वर निवारण होजाता है।

(२२) सत्यानाशीके बीज ३ माशेको जलमें मिलाकर खरल करे। फिर ४ माशे नीबूका रस और १ छटांक जल मिलाकर पिला दें। इस तरह दिनमें ३ समय पिलानेसे ऊर्ध्व और अधो रक्तपित्त, दोनों की एक ही दिनमें निवृत्ति होजाती है। यह उपाय ३-४ दिन तक करते रहना चाहिए।

(२३) राल ३ रत्तीको १ माशा मिश्रीके साथ मिलाकर जलके साथ दिनमें ३ समय देनेसे कफके साथ आता हुआ रक्त बन्द होजाता है।

(२४) ताजा धनिया २ तोलेको जलके साथ पीसछानकर पिला देनेसे रक्तवमन सत्वर बन्द होजाती है।

(२५) साँपकी काँचली १ माशा और किसमिस ४ तोले मिला खरल कर ६ मोदक बनावें । प्रातः सायं १-१ शीतल जलके साथ देनेसे सब प्रकारके रक्तपित्तकी निवृत्ति होती है ।

(२६) गोदन्ती भस्म २ रत्ती, राल २ रत्ती जसद भस्म १ रत्ती और मिश्री १ माशा मिलाकर आँवलोंके जलके साथ सेवन कराने से अधो और ऊर्ध्व रक्तपित्त तथा रक्तप्रदरकी निवृत्ति होती है ।

नाकसे रुधिर गिरने पर ।

(१) आँवलोंको घीमें भून, काँजीमें पीस शिरपर लेप कर देनेसे नासास्त्रावकी निवृत्ति होजाती है । जिस तरह नदियोंका जल प्रवाह बांध द्वारा रुक जाता है ; उस तरह इस प्रयोग द्वारा रुधिरप्रवाह सत्वर शमन होजाता है ।

(२) मिश्री मिला हुआ जल, बकरीका कच्चा दूध, द्राक्षासव, दूधके मक्खनका घी या ईखका रस नाकसे पिलानेसे रक्तस्त्राव शमन हो जाता है ।

(३) अनारके फूल, दूब, आमकी गुठलीकी गिरी या प्याज, इन चारमेंसे किसी एकका रस सुँघानेसे नाकमेंसे गिरने वाला रक्त बन्द हो जाता है ।

(४) गोबर या घोड़ेकी लीदका रस सुँघानेसे तत्काल रक्तस्त्राव बन्द हो जाता है ।

(५) अनारके फूलोंका स्वरस और दूबका रस मिलाकर सुँघानेसे अथवा लाखके जल और हरड़को भिगोकर निचोड़े हुए जलको मिलाकर सुँघानेसे नाकसे गिरने वाला रुधिर त्रिदोषज हो, तो भी निःसंदेह उसी समय बन्द हो जाता है ।

(६) लजवन्ती, धायके फूल, मोचरस या लोधके जलका नस्य करानेसे नाकसे गिरने वाला रक्त बन्द हो जाता है ।

(७) कहेरबा (तृणकांतमणिपिष्टी) सुँघाने और ४-४ रत्ती

दिनमें ३ बार जलके साथ सेवन करानेसे रक्तस्राव दूर हो जाता है ।

(८) कलमी सोरा सिरकेमें पीस शिर पर लगानेसे नाकसे रक्त गिरना बन्द हो जाता है ।

(९) नीबूके रस या सिरकेकी पिचकारी लगानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(१०) फिटकरीका चूर्ण सुंधानेसे रक्तस्राव रुक जाता है ।

(११) तृणकान्तमणिपिष्टी और सोनागेरूको मिला दूध या जलके साथ दिनमें ३ समय देनेसे नासिका, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय आदिसे होने वाला रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(१२) तार्पिनके तैलकी पिचकारी लगानेसे रक्तस्राव शमन हो जाता है ।

(१३) बर्फके जलकी पिचकारी लगानेसे रक्तका रोध होजाता है ।

(१४) मुलतानी मिट्टी, गेरू और आंवलोको जलमें पीस शिरपर लेप करनेसे नकसीर बन्द हो जाती है ।

(१५) लौकी (घीया) का रस शिर पर छिड़कने या लौकी का कल्क शिर पर रखनेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(१६) नीबू, सन्तरे या केवड़े का शर्बत बर्फ और जल मिलाकर पिलानेसे दाह और बेचैनी सह रुधिर गिरना तत्काल बन्द हो जाता है ।

(१७) यदि रक्त किसी भी उपायसे न रुक सके, तब जिस ओरसे रक्त आता हो, उस ओरकी नासा गुहा (Nasal Cavity) में सिरके या इतर ओषधिमें भिगोये हुए लिण्टको दृढ़तापूर्वक दबा देना चाहिए ।

उपरोक्त क्रियाके लिये तर्जनी अंगुलीको मुँहमेंसे ऊपर पश्चात् भाग में रहे हुए नासा पश्चिम द्वार (Posterior Nasal Aperture)

में प्रवेश कराना चाहिए । फिर कपड़ेकी लम्बी पट्टी (Lint) को नासा-पुरो द्वार (Anterior Nasal Aperture) मेंसे प्रवेश करा फिर पश्चिम द्वारके ऊपर रहे हुए नासा विवरमें ठोस कर (बाहर निकल न सके उस तरह समहालपूर्वक) उसे बन्द कर देना चाहिए ।

इस क्रियाके लिये पहले नासा पुरो द्वारसे केथेटर या इतर यन्त्रके अग्रभाग पर सूत (डोरी) बाँधकर प्रवेश कराया जाता है । फिर नासा-पश्चिम द्वारसे खेंचकर सूतके सिरेको मुँहमेंसे बाहर खाना चाहिए; और पट्टी या रुईकी छोटीसी पोटली कर उस डोरीके बीचसे दृढ़ बाँध लेवें । पश्चात् नासिकामेंसे यन्त्रको बाहर निकाल लेवें; और उस सूतकी डोरी के बीचमें बंधी हुई पोटलीको बलपूर्वक नासा गुहामें जितने दूर हो सके उतने दूर दबा दें । बादमें डोरीके दोनों सिरे (नाक और मुँहमें बाहर रहे हुए) को एक साथ बाँध दें; और नाकमें रही हुई डोरीको खेंच, फिर नाकके भीतर रुई या लिण्टको ठोसकर भर दें । इस बन्धन को शनैः शनैः २४ घण्टेमें खोलें । तत्पश्चात् भी रोगीको २४ घण्टे तक पूर्ण विश्राम लेनेकी सूचना करें । नाकसे छींकनेका निषेध करें । भोजनमें दूध या फलोंका रस ही दें; अथवा सादा, लघु, शीतल और अनुत्तेजक भोजन दें ।

मूत्रेन्द्रियसे रक्तस्राव होनेपर ।

(१) पञ्चतुण्मूल २ तोले, बकरीका दूध १६ तोले और जल १२८ तोलेको मिला दुग्धावशेष काथ कर पिलानेसे मूत्रके साथ जानेवाला रक्त बन्द हो जाता है ।

(२) शतावरी और गोखरूके साथ या शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णीके साथ दूध और जल मिला दुग्धावशेष काथ कर पिलानेसे मूत्रमार्गका रक्तस्राव निवृत्त हो जाता है ।

(३) बकरीका दूध या अनारके फूलोंका रस और मिश्री मिलाकर उत्तरवस्ति देनेसे रुधिर रुक जाता है ।

रक्तपित्तशामक सिद्ध प्रयोग ।

(१) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—मौक्तिक पिष्टी (२० २०२), वैडूर्य भस्म (२० २००), सुवर्णमाक्षिक और प्रवाल पिष्टी (२० १६६ हल्दी, गेरू और बकरीके दूधके साथ), लोह भस्म (२० १२६ बकरीके दूध या ह्रीबेरादि काथके साथ), संगजराहृत भस्म (२० २४३), तृण कांतमणि पिष्टी (२० २२७), बोलपर्पटी (२० ३२३ प्रथम विधि), चन्द्रकला रस (२० ४४६), बोलबद्धरस (२० ४२२), एलादिवटी (२० ६४२), च्यवनप्राशावलेह (२० ७६७), दुर्वाद्य-घृत (२० ८३१), वासावलेह (२० ७६६), कुष्माण्डावलेह (२० ८०२), उशीरासव (२० ७४६), पर्पटादि काथ (२० ७१६) और ह्री बेरादि काथ (२० ७२७), ये सब इस रोग पर हितावह ओषधियाँ हैं ।

मौक्तिक पिष्टी—ऊर्ध्व और अधो रक्तपित्त, किसी भी हेतुसे होने वाला रक्तस्राव, सुजाक या इतर हेतुसे होने वाला मूत्रदाह, ग्रीष्म ऋतु से होने वाला रक्तस्राव और आम्लाशयप्रदाह आदि सब विकारों पर निर्भय और उत्तम ओषधि है ।

वैडूर्य पिष्टी पित्तजन्य दाह, क्षयके कीटाणु और दोनो मार्गके रक्त-पित्तोकी निवृत्ति करती है ।

सुवर्णमाक्षिक और प्रवालपिष्टी अति सौम्य ओषधि हैं । ऊर्ध्व रक्तपित्तमे विशेष हितकर है । पथ्यमे केवल बकरीका दूध देने पर तीव्र प्रकोपको सत्वर दबाती है; और आम्लाशयके पित्तकी अम्लता तथा तीक्ष्णताको कम करती है ।

लोहभस्म हृदयकी धबकाहट, रक्तकी कमी और निर्बलता पर विशेष हितकर है । लोहभस्म आँवले, पीपल और मिश्री मिलाकर सेवन कराने से रक्तपित्त, अम्लपित्त, पित्तविकार या वातविकारसे उत्पन्न रोग नष्ट

होते हैं । शास्त्रकारोंने इस अनुपानके साथ लोह मिलानेको आमल-
क्यादि लोह और रक्तपित्तान्तक लोह संज्ञा दी है ।

संगजराहत भस्म स्त्रियों और नाजुक प्रकृति वालोंके बारबार होने
वाले विकारमें अति लाभदायक है ।

तृणकान्तमणि पिष्टी रुधिरस्रावको सत्वर बन्द करती है । यह
ओषधि निर्दोष है । इसके सेवनसे शिरदर्द पीडित अनेक मनुष्योंके
मस्तिष्कमें से चौथाई इञ्चके लम्बे अनेक कृमि नासिकासे गिर कर
नासा रक्तस्राव और शिरदर्द, दोनों दूर हुए हैं । देहके ऊर्ध्व या अधो
किसी भी द्वारसे गिरने वाले रक्तको रोकनेमें यह आश्चर्यजनक लाभ
पहुँचाती है ।

बोल पर्पटी और बोलबद्ध रस अधो रक्तपित्त, गुदा और मूत्रेन्द्रिय
से जाने वाला रक्त (रक्तपित्त, अर्श या रक्तातिसारके हेतुसे) एवं नाक
से गिरने वाले रक्त पर भी लाभदायक है ।

चन्द्रकला रस सब प्रकारके रक्तपित्त, ऊर्ध्व और अधो किसी भी
द्वारसे रक्त गिरना, रक्तप्रदर, रक्तवमन, सबको दूर करता है । ग्रीष्म
ऋतुमें भी शान्तिदायक है । सामान्य अनुपान जीरा और मिश्री है ।
मूत्रमें रक्त जाता हो, तो गोखरू, धमासा और धनियाका हिम देवें ।
नासिकासे रक्तस्राव पर उशीरासव या बकरीके दूधके साथ; तथा रक्तप्रदर
में अशोकारिष्ट या उशीरासवके साथ दिनमें दो बार देते रहें । मूत्राशय
या मूत्रनलिकामें दाह होने पर ब्राह्मी, सारिवा और पित्तपापड़ाके शीत-
कषायके साथ देना चाहिए । यह रसायन रक्तपित्त रोगीके लिये अमृत
रूप है । चन्द्रकला रस चन्द्रकी कलाके समान शीतल होने पर भी
जठराग्निको मन्द नहीं करता । इस रसायनसे सन्निपातके पित्तप्रकोप
जन्य-प्रलापके भी शमन होनेके दृष्टान्त मिले हैं ।

वासावलेह रक्तपित्त, क्षय, और दारुणकासको नष्ट करता है ।

कुष्माण्डावलेह, अम्लपित्त, दाह और रक्तपित्तको दूर करता है ।

अ्यवनप्राशावलैह क्षय, उरःक्षत और निर्बलता सह रक्तपित्तको निवृत्त करता है ।

दुर्वाद्य घृत ओषध रूपसे और भोजनके साथ दिया जाता है । यह ऊर्ध्व रक्तपित्त, अधो रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, सबको शान्त करता है ।

पर्यटादि क्वाथ रक्तपित्त और पित्तज्वरको दूर करता है ।

ह्रींबेरादि क्वाथ तीव्र रक्तपित्तमें सत्वर लाभदायक है । ऊर्ध्व रक्तपित्तके लिये एक और पाठ पहले पृष्ठ ६६३ मे भी दिया है ।

एलादिवटी—अति सौम्य है । बारबार होने वाले रक्तस्रावमें दीर्घ काल तक सेवन करानेमे हितकर है । क्षय, उरःक्षत और मन्द ज्वरमें भी हितकर है ।

उपर्युक्त प्रयोगोमेसे सगर्भाके रक्तपित्त पर सुवर्णमाक्षिक भस्म, प्रवालपिष्टी, मौक्तिकपिष्टी, तृणकान्तमणि पिष्टी, चन्द्रकला रस, उशीरा-सव, वासावलेह, वासा स्वरस, एलादिवटी, दुर्वाद्यघृत, ह्रींबेरादि क्वाथ, आदिका सेवन निर्भयतापूर्वक कराया जाता है ।

(२) अर्केश्वर रस—ताम्र भस्म, रससिन्दूर, वंग भस्म, अभ्रकभस्म और सुवर्णमाक्षिक भस्म, इन ५ ओषधियोंको सम-भाग मिला गिलोयके स्वरसकी २१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बना लेवें । इनमेंसे एकसे दो गोली अङ्गुसाके पत्ते और विदारीकंदके रसके साथ देनेसे अति दारुण रक्तपित्त भी नष्ट हो जाता है । शक्तिका अधिक क्षय हो गया हो, ऊर्ध्व और अधो, दोनो मार्गोंसे रक्त बहता हो, या बार बार उलट-उलट कर रक्त-स्राव होता रहता हो, और इतर उपद्रव भी उत्पन्न हो गये हों, सबको यह निवृत्त करता है ।

(३) रक्तपित्तान्तक रस—अभ्रक भस्म, लोहभस्म, सुवर्ण-माक्षिक भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध हरताल और शुद्ध गन्धक, इन ६ ओषधियोंको समभाग लेवें । पहले पारद-गन्धककी कजली

करें । फिर हरताल मिलावें । तत्पश्चात् भस्म मिला, मुलहठी, मुनक्का (अंगूर) और गिलोयके रस या काथके साथ १-१ दिन खरल कर २-२ रक्तीकी गोलियां बनावें । इनमेंसे १ से २ गोली दिनमें २ बार शहद-मिश्रीके साथ देनेसे दारुण रक्तपित्त, ज्वर, दाह, क्षत क्षय, तृषा, शोष और अरुचि रोग दूर हो जाते हैं । यदि रक्तपित्तके साथ ज्वर बना रहता है; तो भी इस रसका सेवन अति हितकर है ।

(४) रसामृत रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोले सुवर्ण माक्षिक भस्म, शुद्ध शिलाजीत सूर्यतापी, गिलोय, रक्तचन्दन, मुनक्का, महुएके फूल, धनिया, कुड़ेकी छाल, इन्द्रजौ, घायके फूल, नीमके पत्ते और मुलहठी, इन १२ ओषधियोंको १-१ तोला लेंवें । पहले पारद-गन्धककी कजली करें । फिर भस्म मिलावें । तत्पश्चात् शिलाजीत को छोड़ शेष वस्तुओं का चूर्ण मिलावें । अंतमें जल मिश्रित शिलाजीत मिला खरल कर सूखा चूर्ण बना लेंवें । इस चूर्णमेंसे २ से ४ माशे समान मिश्री और शहद मिलाकर प्रातःकाल सेवन करा ऊपर बकरीका धारोष्ण दूध पिलाते रहनेसे पित्तप्रकोप, अम्लपित्त और विशेष कर ज्वर-सह रक्तपित्त रोग निःसंदेह नष्ट हो जाते हैं ।

जब खट्टी वमन, आमाशयप्रदाह, मुखपाक, ज्वर आदि उपद्रव हों; तब रक्तपित्तको शमन करनेमें यह रसायन अति हितकर है । इस रसायनके सेवनसे मूत्रकी शुद्धि हो जाती है । मूत्र-द्वारा विष सरलतापूर्वक बाहर निकलता रहता है ।

(५) वासाकुम्भाण्ड खण्ड—उत्तम पके हुए सफेद পেठे को छील बीज निकाल घीयाकसमें कसकर २०० तोले लेंवें । गोघृत ६४ तोले, अड्डसेकी जड़ ६४ तोले, शकर ४० तोले, नागर मोथा, आंवला, वंशलोचन, भारंगी, दालचीनी, तेजपात, छोटी

इलायचीके दाने, ये ७ ओषधियाँ १-१ तोला, एलवालुक (अभाव में नेत्रवाला), सोंठ, धनियाँ, कालीमिर्च, ये ४ औषधियाँ ४-४ तोले, पीपल १६ तोले और शहद ३२ तोले लेवें । पेटेको निचोड़ कर रस अलग रक्खें । फिर धूपमें थोड़ा सुखा घीमें मन्दाग्नि पर भून लेवें । अङ्गुसाकी जड़को १६ गुने जलमें मिला चतुर्थांश काथ करे और काष्ठादि ओषधियोंको पीसकर बारीक चूर्ण करें । फिर काथको छान पेटेका रस, शक्कर और भूना पेटा मिला अवलेह समान बना लेवें । तैयार होने पर नीचे उतार काष्ठादि ओषधियों का चूर्ण मिलावे, और शीतल होने पर शहद मिश्रा लेवें । इस अवलेहमेंसे १ से २ तोले तक दिनमें २ बार बकरीके दूधके साथ सेवन करानेसे कास, श्वास, क्षय, हिक्का, रक्तपित्त, हलीमक, हृद्रोग, अम्लपित्त और पीनस आदि रोग नष्ट होते हैं ।

नये तीव्र विकारमें—प्रवाल पिष्टी या तृणकांतमणि पिष्टी दिनमें ४ समय देवें । अनुपान रूपसे वासावलेह, वासास्वरस, अमृतासत्व, उशीरासव, ह्रीवेरादि काथ या कुष्माण्डावलेहको उपयोगमें लेवें ।

योनिमें दाह, खाज और स्राव शमनके लिए—शत धौत घृतका फोहा रखना चाहिए । अंजन, नस्य, पान, मर्दन, बस्ति आदि कार्यके लिये—दुर्वाद्यघृतको प्रयोगमें लावें ।

मालिशके लिये—दुर्वाद्यघृत (२० ८३१), चन्दनादि तैल (२० ८३५), चन्दनबलालाक्षादि तैल (२० ८३५), इनमेंसे अनुकूल ओषधिको प्रयोगमें लावें ।

मंद मंद ज्वर भी रहता हो तो सुवर्णमालिनी वसंत, (२० ३८४) या लघुमालिनी वसंत (२० ३६३) के साथ ह्रीवेरादि काथ का सेवन करावें; अथवा रक्तपित्तान्तक रस का सेवन करावें ।

कफ वृद्धि, श्वास, स्वरभंगसह रक्तपित्त पर अग्नि रस (२०४५६)

के साथ वासावलेहका सेवन करावें; अथवा चन्द्रकलारस (२० ४४६) तालीसपत्रके चूर्ण, वासापत्रके स्वरस और शहदके साथ देवें ।

डॉक्टरी चिकित्सा ।

(१) रक्त छीवन (Haemoptysis) पर—

(आ) रक्त छीवनमें रक्त अधिक जाता है, तो तत्काल रक्तको रोकने की चिकित्सा करनी चाहिए । रक्तदबाव (Blood pressure) भी बढ़ा हो, तो अमील नाइट्रेट (Amyl Nitrate) सुंघावें । सुंघानेके लिये इसे केपसुलमें भर फिर रुमालमें डाल नाकमें रख दबाकर तोड़ डालें । जिससे कांचके टुकड़े उड़े नहीं और वासरूपसे ओषधि फुफ्फुसोंमें चली जाय ।

(आ) कैल्शियम क्लोराइड (Calcium Chloride) १० ग्रेन या कैल्शियम लेक्टेट (Calcium Lactate) २० ग्रेन दिनमें ३ बार जलके साथ देनेसे रक्त छीवनका रक्त बन्द हो जाता है । यह प्रयोग सामान्य कारणसे उत्पन्न विकारमें लाभदायक है ।

(इ) तार्विन तैल Oil Turpentine

२० बूंद

मिश्रण मधुरबादाम Mist. Amygdala ad १ औंस तक । इन दोनोंको मिलाकर पिला देवें । इस तरह १-१ घण्टे पर देते रहें । अधिक समयका मिश्रण बनाया हो, तो बोतल को हिलाकर निकालें । यह ओषध ८ समय तक दे सकते हैं ।

बादामका मिश्रण तैयार करनेके लिए बादामको चटनी की तरह पीस १२॥ भाग लेवें । फिर जल १०० भाग तक मिला लेनेसे मिश्रण तैयार हो जाता है ।

सूचना—मूत्रमें रक्त जाता हो, या वृक्प्रदाह हो, तो तार्विन तैल नहीं देना चाहिए ।

(ई) मोर्फिया (Morphine Hypodermic) $\frac{1}{2}$ ग्रेन का इन्जेक्शन देनेसे रक्त छीवन दूर होजाता है ।

(२) रक्त वमन (Haemetemesiis) पर—

(अ) क्रियोसोट—Creosoti ६ बूंद
तारपीन तैल—Oil Turpentine २ ड्राम
शर्बत सतरा Syrup Auranti ६ ड्राम

मिश्रण अरबीगोद—Mucilage Acacia ad ६ औंस तक ।

इन सबको मिला लेवे । फिर १-१ औंस ४-४ घण्टे पर गिलाते रहे ।

अरबीगोद का मिश्रण बनाने की विधि—अरबी गोद २ औंसको ३ आंस गरम जलके साथ मिलाकर २ घण्टे तक रहने देवे । फिर छान ग्लिसरीन ४ ड्राम और रेक्टिफाइड स्पिरिट २ ड्राम मिला लेनेमे गम सोल्युशन (म्यूसिलेज अकाशिया) तैयार होता है ।

(आ) प्लम्बीकम ओपियाई (Pilula Plumbicium Opi)
क्री ४४ ग्रेन की १-१ गोली चार चार घण्टे पर देते रहे ।

(३) त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) के लिये ।

(अ) टिञ्चर फेरी पर क्लोराइड—Tinct Ferri Per Chlo. ३ ड्राम
लाइकर आर्सेनिक हाइड्रो • Liq Arsenic Hydro १ ड्राम
ग्लिसरीन Glycerine ६ ड्राम

जल Aqua ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर ४-४ ड्राम समान जल मिलाकर भोजन कर लेने पर दिनमे ३ बार लेवे ।

(आ) तारपीन तैल—Oil Terebinthine २ ड्राम
बादामका तैल—Oil Amygdala (Sweet) १ औंस
टिञ्चर ओपियाई—Tinct Opii ३० बूंद
म्यूसिलेज एकेशिया Mucilage Acacia १ औंस
एक्वा लौरोसिरसाई Aqua Laurocerasi ad ३ औंस

सबको मिला लेवें । फिर इसमें से १-१ ड्राम ३-४ घण्टेके अन्तर से देते रहें ।

(४) वंशानुगत रक्तस्रावीय प्रकृति (Haemophilia) पर ।

(अ) कैल्शियम लेक्टेट (Calcium Lactate) थोड़ी-थोड़ी मात्रामें देते रहनेसे रक्तमें संग्राहक शक्ति बढ़ती जाती है । इस ओषधिकी मात्रा १० से ३० ग्रेन तक है ।

(आ) कैल्शियम क्लोराइड—Calcium Chloride २ ड्राम

टिञ्जर फेरी पर क्लोराइड—Tinct Ferri Per Chlo. ३ ड्राम

शर्वत नीबू—Syrup Limonis १ औंस

एका क्लोरोफार्म Aqua Chloroform ad ६ औंस तक

सबको मिला लेवें । इनमेंसे ४-४ ड्राम समान जल मिलाकर दिनमें ३ बार भोजनके बाद देनेसे रक्त बलवान बनता है ।

(इ) रक्तसाव बन्द करनेके लिये १-१ मासके बाद नार्मल सेलाईन या कैल्शियमका इन्जेक्शन देते रहनेसे रक्त सबल बन जाता है ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—अधोगत रक्तपित्तमें वमन, ऊर्ध्वगत रक्तपित्तमें विरेचन, द्विमार्गी रक्तपित्तमें लङ्घन, पुराना, शालि और साँठी चावज, कोदों, काँगनीके चावज, नीवार धान्य, जौ, प्रशातिका (लाल नीवार), मूँग, मसूर, चने, अरहर, मोठ, चिङ्गर मछली, वर्मि मछली, खरगोश, कबूतर, हिरन, काले हिरन, लवा, शरारि पत्नी, परेवा, बतक, बगुला, भेड़, बारहसिंगा और तीतर, इन सब पशु पक्षियोंका मांस, कषाय वर्गकी सब ओषधियाँ (पृष्ठ ६७८-६७९ में लिखी हुई), गोदुग्ध, बकरीका दूध, घी, भैंसका घी, कटहल और चिरौंजी आदि पथ्य हैं ।

केला, नाड़ीका शाक, चौलाई, परवज, वेंत का अग्रभाग, बड़ी पक्की अदरक, पक्का कुम्भाण्ड, पक्के तालफल, उसके बीज और

जल, अड़ूसा, मीठी कन्दुरी, अनार, खजूर आंवले, सौंफ, नारियल, कशेरू, सिंघाड़े, भिलावा, पक्का कैथ, भसींड़े, फालसा, चिरायता, मीठे और कड़वे नीमके पत्तोंका शाक, लौकी, तरबूज, खीलोके सत्तू, अंगूर, किशमिश, मिश्री, शहद, ईखका रस, ईख के रसका पदार्थ, शीतल जल, शीतल भरनोका जल, शीतल जल का सिंचन, जलमें प्रवेश कर स्नान करना, शतधौत घृतकी मालिश, शीतललेप, शीतल वायु, चन्दन, चोंदनी और मनको प्रसन्न करने वाली मधुर वार्त्तालाप, ये सब पथ्य कहे हैं ।

इनके अतिरिक्त फुहारे वाले बाग और शीतल गुफाओंमें निवास, वैडूर्य, मोती आदि मणियोंकी मालाओंका धारण, केले, कुमुद और कमल, तीनोंमेंसे एक दो या तीनोंके पत्तों पर शयन, रेशमी वस्त्र धारण, शीतल बागोंमें विश्राम, प्रियगू, चन्दनके लेप वाली, रूपवती युवतियोंसे आलङ्घन, खिले हुए कमल वाले नदी या तालावके किनारे पुर निवास, चांदनीमें बैठना, बर्फके समान शीतल कन्दराओंमें रहना, पर्वतके शीतल भरनोका जलपान, कानको प्रिय हो ऐसे गीत और वाद्योंका श्रवण, निर्मल जल और कपूर, ये सब पदार्थ रक्तपित्त रोगीके लिये भैषज्य रत्नावलीकारने मित्र रूप कहे हैं ।

इनके अतिरिक्त सफेद मटरका यूष, करेला, सेमलके फूल, गूलरके पक्के फल (जन्तु निकाला हुआ), गूलरके मूलका जल, शंखके जीव और कछुवेका मांस, घृत मिली हुई यवागू, संतरा, मीठा नीबू, मुसम्बी, सेव, लहेसवा, बड़के अंकुर, चिरौजी, नारियलका जल, गरम करके शीतल किया हुआ जल, मुलहठी, महुआ, कचनारके फूल, तुरई, पीपल और कोमल फूलोंकी शय्या, इत्यादि भी पथ्य माने जाते हैं ।

भोजन, दूध या जल जो कुछ दिये जायें, वे सब शीतल

करके देना चाहिए । इन पथ्य पदार्थोंमेंसे भी कोई पदार्थ उपद्रव भेदसे वा स्वभावसे अनुकूल न रहता हो तो नहीं देना चाहिए ।

तीव्र प्रकोपमें रोगी केवल बकरीके दूध पर रह जाय, तो चिकित्सासे सत्वर लाभ पहुँचता है । संक्षेपमें जो ओषधि, आहार और विहार रक्त और पित्तके प्रकोपको शमन करने वाले हों; वे सब इस रोगमें हितकर माने जाते हैं । इस रोगमें उपवास उनको कराना चाहिए कि, जिनकी देहमें बल, मांस और अभिबलका क्षय न हुआ हो ।

सगर्भा, वृद्ध, बालक, रुद्ध और अल्प बलवाले को वमन या विरेचन नहीं कराना चाहिए ।

मंदाग्नि वालों को दाड़िम, नीबू और आंवले की खटाई दी जाती है । कफानुबंध रक्तपित्तमें शाक और यूष तथा वातानुबंध रक्तपित्तमें मांसरस अति हितकर है । घी से भूने शाक हितकर हैं; अर्थात् तैल वाला शाक लाभदायक नहीं है । लङ्घन करने वालों को सफेद मटरका यूष, मिश्री और चावलोंका सत्तू देवें ; या इसके साथ मांस रस देवें । वात प्रबल हो, तो यवागू नहीं देनी चाहिए, मूँगका यूष देवें ।

लघु पञ्चमूलके क्वाथमें पेया बनाकर गुद द्वारसे जाने वाले अधो रक्तपित्तके रोगी को देवें । पेया बनाने की विधि चिकित्सा-तत्त्व प्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ५६३-५६५ में लिखी है ।

दुग्धके लिये भगवान् पुनर्वसु चरकसंहितामें कहते हैं कि—
क्वाग्ं पर्यं स्यात्प्रथमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणै जले वा ।
सशर्करं माचिकसंप्रयुक्तं विदारीगन्धादि गणैः शृतं वा ॥

रक्तपित्त विकार शमनार्थ बकरीका दूध अति उत्तम है । गाय का दूध देना हो, तो ५ गुना जल मिला दुग्धावशेष रहने तक उबाल मिश्री व शहद मिलाकर देवें; अथवा विदारीगंध आदि गण की

ओषधिके क्वाथके साथ सिद्ध करके देना चाहिए । विदारी गंधादि गणका वर्णन वैज्ञानिक विचारणा पृष्ठ १६ में दिया है ।

अथवा (१) मुनक्का, (२) नागरमोथा, (३) खरैटीमूल, (४) गोखरू, (५) जीवक, (६) ऋषभक, (७) शतावरी और गोखरू, (८) शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी; तथा (९) मुलहठी, इन ९ प्रकारकी ओषधियोंमें से किसी एकके क्वाथके साथ दूध सिद्धकर पिलाना चाहिए । जीवक, ऋषभकसे दूध सिद्ध करने पर घी और मिश्री मिला लेवें, तथा शेष क्वाथका उपयोग करें, तो उनके साथ मिश्री और शहद मिला लेवें ।

लघुपञ्चमूलमे वातघ्न, मुनक्कामे पित्तशामक, नागरमोथामे कफहर और उवरहर, खरैटीमे मूत्रातिसारशामक और मूत्रकुच्छ नाशक, गोखरूमें मूत्राशयशोधक और पौष्टिक, पर्णीचतुष्टयमें बलवर्धक, वातहर और मूत्रल; तथा मुलहठीमे उपतापशामक और कफघ्न आदि गुण रहे हैं । इन गुणोंकी दृष्टिसे सब काथोंके साथ उबाले हुए दूधके गुणोमे कुछ अन्तर पड़ता है । जिस गुणकी अधिक आवश्यकता हो उसका उपयोग करना चाहिए ।

कषायवर्ग—(सुश्रुत संहिता सूत्रस्थानके आधारसे)

(१) न्यग्रोधादिगण—बड, गूलर, पीपल, पिलखन, महुआ, आमड़ा, अजुन, आम, कोशाम्र, चोरकान्न (लाखका वृक्ष), दो प्रकारके जामुन, चिरोजी, मुलहठी, रोहिणी (काश्मीरी), बेंत, कदम्ब, बेर, तेंदू, शल्लकी (शालई), लोध, पठानी लोध, भिलावा, पलाश, और पारस पीपल, ये २३ ओषधियों न्यग्रोधादिगणकी कहलाती है । यह गण ब्रणके लिये हितकारक, संग्राही, दूटे हुएको सांधनेवाला, रक्तपित्तनाशक, दाहशामक, मेदहर और योनिदोषहर हैं ।

(२) अम्बष्ठादिगण—अम्बष्ठा (पाठा), धायके फूल, ज्वाला, अरलू, मुलहठी, बेलगिरी, लोध, पठानी लोध, पलाश, पारस

पीपल और कमल केशर, इन ११ ओषधियोंको अम्बछादिगण कहते हैं । इस गणमें एक अतिसारशामक, भग्नसंयोजक, पित्तनाशक और ज्वररोपण आदि गुण रहे हैं ।

(३) प्रियंवदादिगण — प्रियंगु, लज्जालू, धातुके फूल, नागकेशर, लालचन्दन, कुचन्दन, मोचरस, रसौत, कुंभी (भोजपत्र), काला सुरमा, कमल केशर, मजीठ और धमासा, इन ११ ओषधियोंको प्रियंवदादिगण कहते हैं । इस गणका गुण अम्बछादि गणके समान माना गया है ।

(४) सालसारादिगण — सालवृक्ष (सखुवा), अजकर्ण (बड़ा सखुआ), खदिर, सफेद खदिर, कालस्कंध (बिट् खदिर, दुर्गन्धवाला खदिर या गूलर), सुयारी, भोजपत्र, मेंढासिंगी, तिनिस, सफेद चंदन, रक्तचंदन, शोशम, सिरस, असन (विजयसार), धव, अर्जुन, ताड़, सागोन, कटकरंज, पूतिकरंज, अश्वकर्ण (राल निकलनेवाला वृक्ष-शालवृक्षकी एक जाति), अगर और पीला चन्दन, इन २३ ओषधियोंको सालसारादिगण कहते हैं । इस गणमें कुछ, प्रमेह, पाण्डु, कफ और मेदको नाश करना इत्यादि गुण रहे हैं ।

(५) हरड़, बहेड़ा, आंवला, शल्लकी (शालई), जम्बुन, आम, बकुल (मौलसरी), तेंदूके फल, कतकशाक, पाषाणभेद, बड़ वृक्षके फल, चिल्ली शाक, पालक, कुरबक शाक, कचनार, जीवन्ती, चौपत्तियां (शिरयारी) आदि शाक-भाजी, नीवार आदि धान्य, मूंग आदि द्विदल धान्य, ये सब कषाय वर्गमें हैं ।

(६) बथवा, पोई, मारिष (सफेद मरसा) चौलाई, नाड़ीका शाक, पटुआ शाक, गोभीके पत्ते, ये सब शाक भी रक्तपित्तमें हितकर है ।

इन सबको कषायवर्ग कहा है । ये सब औषध, धान्य आदि रक्तपित्त रोगमें हितकर माने गये हैं ।

मूत्रमार्गसे रक्त जाता हो, तब शतावरी, गोखरू या ४ पर्णी के क्वाथके साथ उबाला हुआ दूध हितकर है; अथवा तृण पञ्च-

मूलको ८ गुने दूध और दूधसे ८ गुने जलमें मिला दुग्धावशेष क्वाथ कर पिलानेसे मूत्रमार्गसे रक्तपित्तका स्त्राव बन्द हो जाता है ।

यदि गुदासे रक्त जाता है, तो दूधको मोचरससे सिद्ध करके देना चाहिए, अथवा बड़के अंकुर या बड़के कोमल पत्ते; या नेत्र वाला, कमल और स्रोठ, इन तीन ओषधियोंको मिलाकर दूधको सिद्ध करें । इनमेंसे किसी एक अनुकूल क्वाथके साथ घीको सिद्ध कर पिलाना चाहिए, एवं भोजनमें भी उपयोगमें लेना चाहिए ।

नाकसे रक्त जाने पर शिर पर शीतल पानी छिड़कनेसे रक्त-प्रवाह बन्द हो जाता है ।

सामान्य रीतिसे भोजनके लिये पुराना शालि और सांठी चावल, गोहूँ, मटर, अरहर, चने, मूँग, मोठ, मसूर, समा और कंगुनीके भातका उपयोग करना चाहिए । इनमें मूँग, मोठ, चने मसूर, अरहर और मटरका यूष बनवाकर सेवन करावें । (किसी किसी देशके लिये अरहरका यूष गरम माना जाता है) खटाईके लिये अनार और आंवले तथा नमकके स्थान पर सैधानमक थोड़े परिमाणमें देते रहे ।

यदि मलावरोध रहता है, तो खरगोशका मांसरस और बथुआका शाक हितकर है । यदि वायुका प्रकोप अधिक है, तो तीतरका मांसरस गूलरके क्वाथमें सिद्ध करके देना चाहिए; अथवा प्लक्ष (पाखर) के क्वाथमें मोरके मांसको पका कर मांसरस पिलानेसे वातप्रकोप शमन होता है; या बड़के अकुरोके क्वाथ में मुर्गेके मांसको पका, फिर मांसरस देनेसे सत्वर वातशमन हो जाता है; अथवा बेलछाल और कमलके क्वाथमें बटेर या तीतर के मांस को पकाकर मांसरस देनेसे वातनिवृत्ति हो जाती है ।

यदि रक्त बहुत निकल गया हो, तो जंगलके पशु-पक्षीका

रुधिर शहद मिला कर पिलावें, या बकरेका कच्चा यकृत पित्त सहित ही खिलाना चाहिए ।

रक्तपित्तके रोगीको भोजनके लिये पेया या यूष प्रकृतिके अनुसार देना हो, वह निम्न क्वाथमेंसे एकके साथ बनाना चाहिए ।

(१) कमलकेशर, प्रश्नपर्णी और प्रियंगुके क्वाथमें पेया ।

(२) सफेद चंदन, खस, लोध और सोंठके क्वाथमें पेया ।

(३) चिरायता, कुटकी, खस और नागरमोथाके क्वाथमें पेया ।

विशेषतः ऊर्ध्व रक्तपित्तमें ढवर होनेपर कुटकी मिलाना, न मिलाना या कम करना, यह प्रकृति को देखकर निर्णय करें । कुटकी मिलाने पर पेया अति कड़वी हो जाती है ।

(४) धायके फूल, नेत्रवाला, धमासा और बेलछालके क्वाथमें पेया बना कर देवें ।

(५) पृश्निपर्णीके क्वाथमें मसूरका यूष ।

(६) लघु पञ्चमूलके क्वाथमें मूंगका यूष ।

(७) खरैटीके क्वाथमें घृत मिला हुआ अरहरका यूष ।

(८) जंगलके पशुपक्षियोंके मांसरस, जो शीतवीर्य हैं; या इनमेंसे किसी एकके रसमें यवागू बना शीतल कर शहद-मिश्री मिलाकर देवें । वातप्रकोपके शमन और रक्तवृद्धिके लिये यह हितकर है ।

(९) उपर्युक्त खरगोश आदि पशु पक्षियोंका मांस रस, अनारदाने आदि मिला घृतसे छोंक देकर शीतल होनेपर शहद-मिश्री डालकर देना चाहिए ।

अपथ्य—चरक संहिताकार कहते हैं कि :—

निदानं रक्तपित्तस्य यत् किञ्चित् संप्रकाशितम् ।

जीवितारोग्यकामैस्तत्र सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥

जो रक्तपित्तके प्रारम्भमें रोग उत्पन्न होनेके हेतु रूप कहे हैं, उनका सेवन जीवन और आरोग्यकी इच्छा वाले रक्तपित्तके रोगियोंको नहीं करना चाहिए ।

पक्का भोजन, अति तीक्ष्ण, अति चरपरे, खट्टे, नमकीन, उष्ण, और रूक्ष भोजन, विरुद्ध भोजन, उड़द, दही, भैंसका दूध, तक्र, हींग, लहसुन, लाल मिर्च, सोठ, गुड़, कुलथी, बैंगन, तिल, सरसों, सरसोंका तैल, चार, तेज नमक, सेम, आलू, खट्टे फल, खट्टे पित्तप्रकोपक शाक, कुएँका जल, मल मूत्रादि वेगोका धारण, चपलता (जल्दी चलना आदि), दातुनसे दांत विसना, व्यायाम, हाथी-घोड़े आदि पर बैठना, मार्ग गमन, धूमपान, (सिगरेट, हुक्का, बीड़ी, चिलम आदि), सूर्यका ताप, अग्निसेवन, रात्रिका जागरण, हृदयमें आघात पहुँचे ऐसा कार्य, शीतल जलसे स्नान, ओसमें बैठना, जोरसे बोलना या गाना, स्वेदन क्रिया, रुधिर निकलवाना, क्रोध करना, ताम्बूल, (नागर बेलका पान), मैथुन, शराब इत्यादि अपथ्य है ।

जलमें बैठकर स्नान करना (५-१५ मिनट तक बैठना), यह प्रकृति भेदसे हितकर होता है, और कभी प्रकृति भेदसे शीतल जलसे स्नान हानिकर भी माना जाता है । जिनको अधिक निर्बलता न आई हो; रोगका वेग तीव्र हो और उबर न हो; उनको ठवमें या जलाशयमें बैठना हितकर है । मन्द उबर रहता है । और अधिक निर्बलता है; तो स्नान ही नहीं कराना चाहिए ।

भैषज्यरत्नावली ग्रन्थमें नलदाम्बु (खसके जल) को अपथ्य के साथ लिखा है । वहाँ पर दूसरा शब्द होगा या ग्रन्थ छापने में भूल हुई है, ऐसा अनुमान है । अथवा प्रकृतिभेदसे वह किसी को अनुकूल न रहता हो, तो उसका त्याग कर देना चाहिए ।

श्वसनसंस्थाव्याधि प्रकरण ।

Diseases of The Respiratory System

इस संस्थामें नासिका, स्वरयन्त्र, श्वासनलिकासह फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण, इन ४ यन्त्रोंका समावेश होता है। अतः इस संस्थाके रोगोंमें मुख्य ४ विभाग होते हैं। (१) घ्राणेन्द्रिय विकार, (२) स्वरयन्त्र विकार, (३) श्वास नलिका और फुफ्फुसों की व्याधियां और (४) फुफ्फुसावरण की पीड़ा। इन ४ विभागोंमेंसे घ्राणेन्द्रियके विविध विकारोंको ऊर्ध्वजत्रुगत रोगोंके साथ तृतीय खण्डमें दिया जायगा। शेष ३ अवयवोंके विकार इस खण्डमें दिये हैं।

उक्त ४ अवयवोंके अतिरिक्त इस संस्थाको उदरके स्नायु और महा-प्राचीरा पेशीकी सहायता मिलती है। एवं हृदय और मस्तिष्कके कितनेक रोगोंका श्वासोच्छ्वास पर प्रत्यक्ष परिणाम भी होता है। इन सबके रोगोंका विवेचन तृतीय खण्डमें यथास्थान किया जायगा।

सारे शरीरके लिये आवश्यक प्राणवायु (Oxygen) को बाहर के वायुमण्डलमेंसे खिंचना और अपायकारक ऑंगारिक वायु (Carbon Dioxide) को बाहर निकाल देना, ये दोनों कार्य इस संस्था द्वारा होते हैं। देहके इतर स्थानोंमें शुद्ध वायुकी प्राप्ति रक्त द्वारा होती है। फुफ्फुसोंमें प्राणवायुसे शुद्ध हुआ रक्त धमनी द्वारा समस्त अवयवोंको निरन्तर मिलता रहता है; और ऑंगारिक वायु मिलनेसे अशुद्ध हुआ रक्त शिराओं द्वारा पुनः हृदयमें होकर फुफ्फुसोंमें शुद्धयर्थ सतत आता रहता है।

इन फुफ्फुसोंके भीतर सामान्यतः नीरोगावस्थामें श्वास लेने और त्याग करनेमें ५:६ अनुपात रहता है। एवं श्वासोच्छ्वास की ध्वनिका ३:१ जितना अन्तर रहता है। रोगाक्रमण होने पर इस नियमका भङ्ग

होजाता है । नियम-भङ्ग होने पर रक्तकी शुद्धि यथोचित नहीं होती ; फिर रक्त और फुफ्फुसोंमें विविध व्याधिके लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

सामान्यतः स्वस्थावस्थामें स्वासोच्छ्वास सख्या प्रति मिनट शिशुकी ३५, ६ वर्ष तक ३०, १२ वर्ष तक २०, १६ वर्ष तक १८ और युवावस्थामें १६ लगभग हो जाती है । पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके दो श्वास अधिक चलते हैं ।

स्वस्थावस्थामें शारीरिक उत्ताप, श्वासोच्छ्वास क्रिया और नाड़ीके स्पन्दनोका सम्बन्ध रहता है । अनेक रोगोंमें तीनोंकी समान विकृति होती है; परन्तु कितनेक रोगोंमें सम्बन्ध विच्छेद भी हो जाता है । इसका वर्णन पहले प्रथम खण्डके पृष्ठ ६१-६२ में किया गया है ।

फुफ्फुस उरोगुहा (वक्षःप्रदेश) के भीतर रहे हैं । उरोगुहामें इतर भी अनेक यन्त्र और अवयव रहे हैं । अतः फुफ्फुस और श्वास-नलिकाके स्थान निर्णयार्थ उरोगुहाका वर्णन किया जाता है ।

उरोगुहा ।

देह काण्डके ऊर्ध्वांशमें पृष्ठदेशीय कशेरुकास्थि, पशु^१काएँ, पशु^२-काओके उपास्थि, उरफलकास्थि (Sternum), इन सबसे निर्मित प्रदेशको उरोगुहा कहते हैं । इसका तल देश (Base) महाप्राचीरा पेशी द्वारा आवद्ध है ।

इस वक्षः गह्वर में निम्न शारीरिक यंत्र (विधान) अवस्थान करते हैं । (१) श्वास नलिका, (२) श्वास नलिका शाखा, (३) फुफ्फुस, (४) हृदय, (५) अनेक बृहन्छिराएँ, (६) महाधमनी, (७) अक्षधरा-धमनीकी सब शाखाएँ (अन्तःस्तनिका धमनियाँ—Internal Mammary Arteries), महाशिराकी शाखाएँ—पुरोवशिका शिराओं (Azygoes Veins) की ३ शाखाएँ, जो अवरोही महा-शिरा—Pre cava और आरोहिणी महाशिरा—Post Cava को जोड़ती हैं वे, (८) श्वासनलिका शाखाकी शिराएँ (Bronchial

Veins), (६) फुफ्फुस और आमाशयस्थ वात नाड़ियाँ (Pneumo-gastric Nerves), (१०) अन्ननलिका, (११) रसकुल्या (Thoracic Duct), (१२) रसायनियाँ और (१३) लसीका ग्रन्थियाँ आदि ।

युवा मनुष्यकी उरःफलकास्थि प्रायः ६ से ८ इंच लम्बी होती है ; किन्तु दरजी, मोची आदि झुक-झुक कर कार्य करने वालोंके उरःफलका अग्रभाग (Xiphoid Process) और देहका निम्नांश भोतरकी ओर मुड़ जाता है । स्वस्थ वृद्धके ऊर्ध्वांशमें और निम्न प्रदेशमें दो खात प्रतीत होते हैं । ये खात स्थूल देह वालोंको अस्पष्ट होते हैं । पीछेकी ओर दूसरीसे सातवीं या तीसरी से आठवीं पशुका पर्यन्त अंसफलक (Scapula) विस्तृत हुआ है । उभय अंसफलकास्थि की आभ्यन्तरिक धाराके मध्यवर्ती स्थानको अंसफलकान्तराल प्रदेश (Interscapular space) कहते हैं ।

प्रधानतः उदर गुहाकी अवनतिके कारण और कुछ अंशमें पशुका-पकर्षणी पेशियों (Scalenus muscles) और पशुकान्तरिका-पेशियों (Intercostal muscles) की वृद्धि होनेसे पशुकास्थि उन्नत होती है । फिर इसी हेतुसे पुरुषोंके श्वास ग्रहणमें वृद्धः प्रदेशकी विवृद्धि होती है । स्त्रियोंके लिये यह क्रिया मुख्यतः पशुकाएँ ऊर्ध्व आकृष्ट होनेमें सहायक होती हैं । स्वाभाविक अवस्थामें निःश्वास त्याग करनेमें वृद्धकी दीवारोंकी स्थिति स्थापकताके हेतुसे वृद्ध अवनत होता है । इसमें किसी मांस पेशीकी क्रियाका प्रयाजन नहीं है ।

किन्तु फुफ्फुसोंका प्रसारण और आकुंचन तो महाप्राचीरा पेशीके संचालन और वृद्धकी दीवारोंकी उन्नति और अवनतिके साथ-साथ ही होता है । फुफ्फुसोंमें अपनी संचलन क्षमता नहीं है ।

वृद्धोपरि फुफ्फुस आदिका सीमा निर्णय—फुफ्फुसोंका शिखर अक्षकास्थि (Clavicle) के १॥-२ इंच ऊपर है । सामान्यतः दक्षिण फुफ्फुसका शिखर वाम ओरसे किञ्चित् ऊँचा रहता है ।

उभय कुम्भक पहली पशुकाके भीतर समतलमें सम्मिलित होते हैं; और चौथी पशुकाके उपास्थिके समतलमे पृथक् होते हैं ।

दक्षिण कुम्भक छठवी पशुकाके उपास्थिके समतलसे बाहर निकलता है । छठवीं और सातवीं पशुकाके मध्य स्थानको अतिक्रम कर कक्षाधरा रेखाके नीचे आठवीं पशुकाके समतल पर्यन्त विस्तृत हुआ है ।

दक्षिण कुम्भकके ऊर्ध्व और मध्यखण्ड तृतीय पशुकाके मध्यस्थान से पृथक् होते हैं । मध्यखण्ड और निम्नखण्ड छठवीं पशुकाके मध्यस्थलमें पृथक् होते हैं । एवं यह कुम्भक पीछे की ओर पृष्ठवंशके दशम कशेरुका (Vertebra) की ऊर्ध्व सीमापर्यन्त फैला हुआ है ।

वाम कुम्भक चौथी पशुकाके उपास्थिके समतलसे बाहर निकलता है, चौथी पशुकाके मध्यस्थानका अतिक्रमण करता है, आगे पाचवीं पशुकाके उपास्थिके समतलमे पुनः भीतरकी ओर प्रवेश करता है । अन्तमें छठवीं पशुकाकी उपास्थिके समतलमें बाहरकी ओर जाकर छठवीं और सातवीं पशुकाके मध्यस्थानका उलङ्घन कर आठवी पशुकाके मध्यस्थान पर्यन्त बद्धरेखा तक विस्तृत हुआ है ।

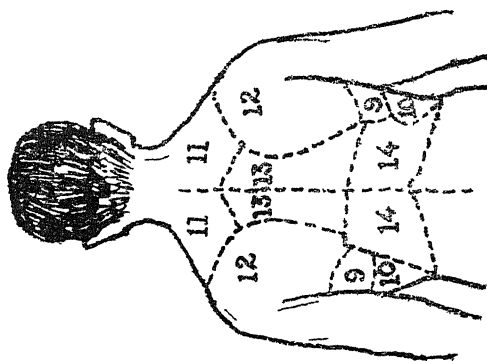
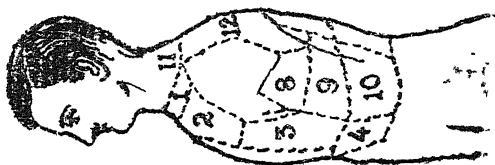
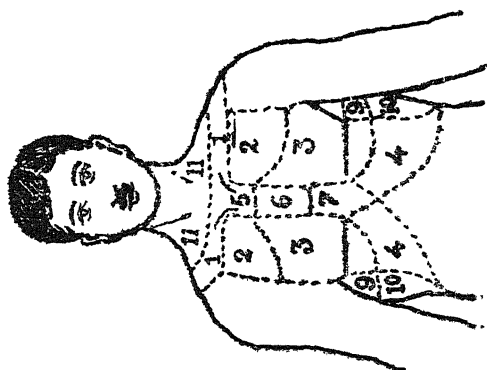
वाम कुम्भकके ऊर्ध्व और अधः खण्ड षष्ठ पशुकाके उपास्थिके समतलमे पृथक् होते हैं । यह कुम्भक पीठकी ओर पृष्ठ वंशके दशम कशेरुकाके निम्न सीमा तक पहुँचा है ।

श्वास नालिका (Trachea) पृष्ठवंशके चतुर्थ कशेरुकाके समतल स्थानसे दो भागमें विभक्त हो जाती है ।

पुरुषोके जुचुक अधिकांश स्थलोंमें चतुर्थ और पंचम पशुकाके मध्यमें तथा इनके उपास्थिके प्रायः ३ इञ्च बाहरकी ओर समतलमें अवस्थित हैं । जुचुकके समतलमें डोरीमे नाप करनेपर बहुधा वक्षःका दक्षिणार्ध प्रदेश वामार्ध की अपेक्षा १ इञ्च अधिक होता है ।

स्त्रियोंके वक्ष पुरुषोंकी अपेक्षा कम प्रशस्त होते हैं, और इनके उरःफलकास्थि भी अपेक्षाकृत क्षुद्र होते हैं । वक्षके ऊर्ध्वांशकी पशुकाएं अधिकतर संचालनशील हैं । एवं ऊर्ध्वांशका प्रसारण अधिक होता है ।

वज्रप्रदेशके विविध स्थान



वैद्यः प्रदेशस्य विधान-लक्षणदि दर्शक कोष्ठक ।

चित्र के अंक और प्रदेश	स्थान	अक्षकास्थि	ठोपन में स्वाभाविक ध्वनि	आश्व्यन्तरीय विधान	पीड़ाजनित लक्षण
१ दो अक्षका- स्थि (Clavi- oular) प्रदेश		अक्षकास्थि के निकट में ठोपन ध्वनि अति स्पष्ट (Tym- pic) । मध्य प्रदेश और बाह्य अस्थि के समीप मंद ध्वनि (Dullness) ।	फुफ्फुस का ऊर्ध्व भाग ।	राज यक्ष्मा रोग में पीडित बहुधा एक पार्श्व में धनध्वनि (Dulness) ।	स्थान पर धनध्वनि
२ दो अक्षकास्थि बाह्य प्रदेश (Infra- clavicular Region)		अक्षकास्थि से चौथी पशु का तक	फुफ्फुस के ऊर्ध्व खण्ड और वक्षो- स्थि के समीप बृहच्छ्वासनलिका ।	यक्ष्मा रोगमें इस स्थान पर ठोपन ध्वनि अनियमित जड़ होती है । ध्वनि बाह्यक यन्त्रसे सुनने पर श्वासनलिका के ऊपर विशेष विस्तृत ध्वनि, श्वासोद्वास क्रिया विकृति, मद घर्घर ध्वनि और रोगी के कण्ठस्वर से उच्चारित शब्दों की स्पष्ट प्रतिध्वनि (Pectoriloquy) विवर	

पर की वद्ध-दीवार में से आना, ये चिह्न प्रतीत होते हैं । प्रतिश्याय होने पर विविध आगन्तुक ध्वनि आती है ।

३ दो स्तनांत-
रिक प्रदेश
(Mammary Region)
चौथी से अति स्पष्ट ध्वनि ;
आठवीं पशु-
का के मध्य-
वर्ती ।
कुम्फुस के मध्य
खण्ड, ऊपर की
ओर वक्षोस्थि के
समीप, तथा स्वास-
नलिका, वामपार्श्व
के निम्न भाग में
कुम्फुसावृत हृदय ।

प्रतिश्याय रोगमें आगन्तुक ध्वनि यक्ष्मा रोगमें विविध लक्षण । हृदा-
वरणमें रससंचय (Hydroperi-
cardium) और हृत्पिण्ड वृद्धि
विकारमें वाम ओर ठेपन करने पर
जड़ध्वनि । हृदयके किसी भाग की वृद्धि
(Hypertrophy) होनेसे ठेपन
करने पर आवाज बढ़ जाती है ।
हृत्कपाट के रोग में हाँफने सदृश ध्वनि
(Bellows murmur)

४ दो स्तन बाह्य
प्रदेश (Inframammary
area)
आठवाँ से दक्षिण पार्श्व में
बारहवीं पशु-
का की निम्न
सीमा तक
जड़ध्वनि, वाम-
पार्श्वमें अनियमित
आवाज ।
कुम्फुसावरण प्रदाहकी परित्यावस्था

- Region)** भाविक प्रतिध्वनि कुछ आवृत्त होता है । में श्वासोच्छ्वास आवाज रहित ।
 कुफुसकोषों में वायु भरा रहने (Interlobular Emphysema) पर शुष्क केशमर्दन वत् द्रव ध्वनि (Crepitation) प्रतिश्याय रोग में श्वासोच्छ्वास के साथ श्वासनलिकाओं में से आगन्तुक ध्वनि ।
- ४ एक ऊर्ध्व उरः फलक पूर्णश मे रिक्त- बड़ी श्वासनलिका
 उरःफलका- का ऊर्ध्व ध्वनि
 स्थि (Superior Sternal)
- ६ एक मध्य उरः फलक पूर्णशमें रिक्त कुफुस की मध्य
 उरः फल का मध्य ध्वनि सीमा
 कास्थि(Middle Sternal)
- ७ एक अधः उरः फल ऊर्ध्व भागमें रिक्त ऊर्ध्व भागमें
 उरः फल कक्षा निम्न ध्वनि । मेद कुफुसोंकी सीमा,

- कास्थि (Inferior Sternal) अंश और अन्तिम (Inferior Sternal) उपस्थि । निम्न भागमें अधिकतर जड़ ध्वनि (Ensis-ternum) संचय, हृदयवृद्धि आदि रोगोंमें टेपन की आवाज जड़ हो जाती है ।
- ८ दो कक्ष पार्श्व के सम्पूर्ण रिक्तध्वनि प्रदेश चौथे से आठवें पशु का के मध्यमें यक्ष्मारोगमें टेपन ध्वनि जड़, ध्वनि बाहक यन्त्रसे सुननेपर घर-घर ध्वनि और रोगीके उच्चारित काना फूँसीके सदृश शब्दकी प्रतिध्वनि अति स्पष्ट । प्रतिश्याध होनेपर आगन्तुक ध्वनि । उरस्तोय रोगकी परिणतावस्थामें जड़ टेपन ध्वनि । दक्षिण भागमें यक्ष्मवृद्धि होनेपर जड़ ध्वनि । उरस्तोयकी परिणतावस्थामें सुननेपर वाक्योच्चारण में अजाध्वनिवत् कम्पित आवाज (Aegophony) । फुफ्फुसप्रदाहमें वाक् प्रतिध्वनि अस्पष्ट (Broncho-
- ९ दो पार्श्व पार्श्व के सम्पूर्ण रिक्तध्वनि । पार्श्व चौथे से वायु कोष विस्तार आठवें पशु रोगमें अस्वाभाविक रिक्तध्वनि ।

phony) और केशमर्दनवत् आगन्तुक द्रवध्वनि ।

फुफुसप्रदाहके प्रारम्भमे केशमर्दनवत् ध्वनि । उरस्तोथ रोगमें द्रव वृद्धि होने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनिका लोप; ठेपन करने पर जड़ध्वनि ।

क्षय कीटाणु ग्रस्त विस्तृत अशके ऊपर ठेपन करने पर रिक्त ध्वनि । राजयक्ष्मा मे गह्वरपर कौप्यक और आगन्तुक घर-घर ध्वनि, श्वासोच्छ्वास और मन्द उच्चारित वचनकी प्रति ध्वनि । प्रतिश्यायमे आगन्तुक ध्वनि । प्रतिश्यायमें उसके चिह्न । उरस्तोथमें अजाध्वनिवत् आवाज । फुफुस-प्रदाह में अस्पष्ट दूरस्थित वाक्य प्रतिध्वनि ।

फुफुसोंके पार्श्व खण्डोंकी सीमा । दक्षिणमें यक्षुत् तथा वाम ओर आमाशयप्लीहा ।

फुफुसका ऊर्ध्व खण्ड और बृह-च्छ्वास नलिका ।

जड़ध्वनि पार्श्व देश में आठवीं पशुका के नीचे

lateral)

११ दो अंश कण्ठ और श्वासास्थि के ऊर्ध्व सीमा के बीच प्राचीरक प्रदेश के ऊर्ध्व सीमा के बीच

Acromion)

१२ दो अशप्रदेश स्कन्ध और व्यवहित ठेपनमें (Scapular) नीचेकी मास-छातीकी प्रतिध्वनिके समान पेशीकी ध्वनिके समान सीमा । ध्वनि ।

१३ दो स्कंधान्तर-
राल प्रदेश
(Intercos-
tular)

उभय स्कंध
के भीतर की
धारा के
मध्य में ।
अंगुली रखकर या
छाती की ओर ?
हाथ पर दूसरा
हाथ रख तथा
मस्तिष्क को झुका
कर ठेपन करने
पर गिक्त ध्वनि ।

प्रतिश्यागमें स्पष्ट लक्षण । ऊपरके
भागमें श्वासोच्छ्वासध्वनि सुननेमें आती
है । कुफुसावरणमें रक्तसाव होने
पर ध्वनि लोप । कुछ प्रदाह और
साव होने पर निम्नभागमें अजाध्वनि
वत् आवाज । प्रबल कुफुसखण्ड
प्रदाहमें केशमर्दनवत् ध्वनि और
वाक् प्रतिध्वनि अस्पष्ट । श्वासनलिका
की ग्रन्थियोंकी पीड़ामें स्पष्ट लक्षण ।

कुफुसके पश्चात्
खण्डके मूल और
भीतरका अंश ।

१४ दो पीठकानिम्न
प्रदेश (Inferior
or dorsal)

स्कंधके निम्न
कोन और
धारा Serr-
ated. से
पीठकी ओर
१२वीं कशे-
रुका तक ।
ऊर्ध्वभागमें पशु
का के कोन पर
ठेपनमें गिक्तध्वनि
निम्न दक्षिणपार्श्व
में लड़ध्वनि और
वामपार्श्व में
सौषिरध्वनि ।

कुफुसखण्डप्रदाहके प्रारम्भमें श्वरण
यन्त्रसे सुनने पर केशमर्दन वत् द्रव-
ध्वनि और अस्पष्ट वाक् प्रतिध्वनि ।
उरस्तोय रोगमें अजाध्वनिवत् आवाज
दोनों व्याधियोंमें ठेपन करने पर
लड़ध्वनि ।

वक्षःपरीक्षा ।

रोगनिदानार्थं वक्षःपरीक्षाके निम्नानुसार ६ भेद होते हैं । एवं कतिपय भौतिक चिह्नों पर से फुफ्फुसोंकी व्याधियोंका विनिर्णय किया जाता है ।

१ दर्शन परीक्षा—Inspection ।

२ परिमाण परीक्षा—Mensuration ।

३ स्पर्श परीक्षा—Palpation ।

४ ठेपन परीक्षा—प्रतिघात ताडन-वादन—Percussion ।

५ श्रवण परीक्षा—Auscultation ।

(१) दर्शन परीक्षा ।

इस दर्शनपरीक्षा द्वारा वक्षःप्राचीरकी आकृति, अवयव और श्वासोच्छ्वास क्रियामें वक्षःसंचालनावस्थाका बोध होता है । इसका संक्षिप्त वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ १५६-१६० में किया है । तथापि विद्यार्थियोंके लिये यहाँ विशेष विस्तार करते हैं ।

स्वस्थावस्थामें वक्षको देखने पर उभय ओरकी आकृति, अवयव और श्वासोच्छ्वास क्रिया जनित गति, ये सब बहुधा समान प्रतीत होते हैं । उभय फुफ्फुस श्वास लेने पर समभावसे उत्थित होते हैं; और निःश्वास कालमें अवनत होते हैं । उभय पार्श्वोंकी निःश्वासगति श्वासगतिकी अपेक्षा प्रायः दीर्घकाल स्थायी होती है । एवं श्वास और निःश्वासकी मध्यवर्ती अवस्था (कुम्भक या विरामकाल) नितान्त स्वल्प होनेमें अनुभवमें नहीं आती ।

श्वासोच्छ्वासजनित वक्षका संचलन निम्नाशमे स्पष्ट प्रतीत होता है; परन्तु स्त्रियोंके वक्षके ऊर्ध्वाशमें संचलन अधिक होता है । स्वस्थ युवा व्यक्तिके श्वासोच्छ्वास १ मिनटमें १५ से २० तक नियमित रूपसे होते हैं, किन्तु किसी-किसी फुफ्फुस विकार (विशेषतः फुफ्फुसखण्डप्रदाह) में श्वास क्रिया १ मिनटमें लगभग ५० बार या इनसे भी अधिक समय

होती है । उदर्याकलाप्रदाह आदि उदरव्याधियोंमें भी श्वासोच्छ्वास क्रिया और अधिक तेज हो जाती है; तथा वक्षके ऊर्ध्वांशमें श्वासगति देखनेमें आती है ।

उरस्तोय (फुफ्फुसावरणप्रदाह) या वातपूरित फुफ्फुसावरण (Pneumothorax) विकारमें वक्षके एक पार्श्वकी गतिकी अपेक्षा अपर पार्श्वकी गति विभिन्न प्रतीत होती है; अर्थात् एक पार्श्वकी संचलनता स्पष्ट भासती है और अन्य पार्श्वकी गतिका अनुभव नहीं होता ।

किसी-किसी वातवाहिनीकी विकृतिमें वक्षकी गति मंद, कष्टपूर्वक या अति अनियमित हो जाती है; अथवा क्वचित् स्थगित हो जाती है; और केवल उदरीय श्वासोच्छ्वास होते रहते हैं ।

क्वचित् पीड़ाके हेतुसे वक्षः के आकार और अवयवोंमें परिवर्तन हो जाता है । कभी विकृत वक्षः भी आजन्म स्वस्थ दृष्टिगोचर होते हैं । अस्थिमार्दव, कालीखांसी, क्षय, नासिकाके पीछेकी ओर गांठ हो जाना आदि रोगोंमें छाती की आकृति विकृत हो जाती है ।

राज्यक्षमा, चिरकारी फुफ्फुसखण्डप्रदाह आदि व्याधियोंमें छाती की दीवारके आगे-पीछेके व्यासमें या पार्श्वस्थ व्यासमें न्यूनाधिकता होती है; अथवा वक्षःके स्थान विशेष की उन्नति या अवनति लक्षित होती है ।

इनके अतिरिक्त दर्शनपरीक्षा द्वारा श्वास-प्रश्वासोय कतिपय लक्षण भी विदित हो जाते हैं । स्वस्थ व्यक्तिकी विश्रामावस्थामें फुफ्फुसकी वायु परिवर्त्तनार्थ मंद गति और अगंभीर श्वास-प्रश्वास ही यथेष्ट होते हैं; किन्तु फुफ्फुसमें आंगारिक वायु (Carbon dioxide) के परिमाणकी अत्यधिक वृद्धि होनेपर श्वासोच्छ्वासमें द्रुतगति और गंभीरता (गहरापन) आजाती है । शारीरिक श्रम, ज्वर रोग, हृदयविकार, रक्तसंचालन विकृति और श्वास यंत्र की विविध वेदना आदि हेतुओंसे श्वासोच्छ्वास तेज और गंभीर हो जाता है । यदि रक्तमें आंगारिक वायुका परिमाण अत्यधिक हो जाय, तो श्वासकृच्छ्रता उपस्थित हो जाती है ।

श्वास ग्रहणमें कष्ट होनेपर दीर्घ श्वास मांसपेशियोंके अतिशय प्रयत्नसे

गृहीत होता है, किन्तु निःश्वास अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक त्याग होता है ।
श्वासग्रहण क्रियामें निम्न मांसपेशिया न्यूनाधिक अशमें सहायक हैं ।

श्वासग्रहण क्रियामें सहायक माँसपेशियाँ—

महाप्राचीरा पेशी—**Diaphragm** ।

उरःकर्णमूलिका पेशी—**Sterno Mastoid** ।

पशुकापकर्षणी पेशिया—**Scaleni** ।

पशुकाधारिणी पेशी—**Levatores Costarum** ।

पशुकान्तरिका अतस्थपेशिया—**Intercostals internal** ।

पश्चिमा रित्रा उत्तरापेशी—**Serratus-posterior Superior** ।

अग्रिमा रित्रा पेशी—**Serratus Anterior magnus** ।

पशुकान्तरिका चला पेशिया—**Subcostals** ।

उरच्छदा गुर्वी और लम्बी—**Pectoralis major & minor** ।

असोन्नमनी पेशी—**Levator Scapulae** ।

बस्तिचूडिका पेशी—**Pyramidalis** ।

पर्याणक पेशी—**Trapezius** ।

असापकर्षणी पेशिया—**Rhomboideus major & minor** ।

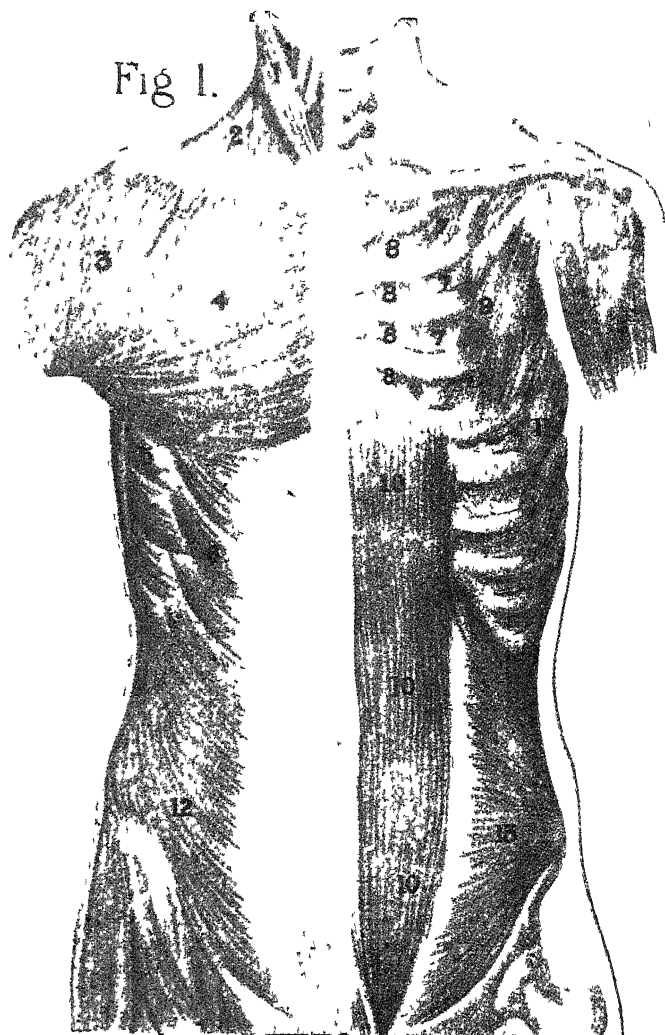
तथा पृष्ठवशकी प्रसारक सकल मांसपेशिया, नासागह्वर, मुखगह्वर और स्वरयत्र की प्रसारक मांसपेशिया तथा इतर श्वासक्रियामें सहायक मांसपेशिया (*Accessories*) आदि श्वासकार्यमें सहायता पहुँचाती है ।

श्वास मार्ग (स्वरयत्र, बड़ी श्वास नलिका या श्वास नलिका शाखा) के आकुचन होने पर अथवा फुफ्फुसोंके वायुकोषोंका अवरोध होनेपर श्वासकष्ट उपस्थित होता है । श्वासकृच्छ्र अत्यधिक होनेपर श्वास ग्रहण कालमें उरःफलकका अग्रभाग (Xiphoid process) और पशुकाओ की निम्न धाराएँ आभ्यन्तर दिशामें आकुष्ट होते रहते हैं ।

कितनीक मांसपेशियोंका परिचय पृष्ठ ६० से ६३ तक दो चित्रों सह दिया है । महाप्राचीराका वर्णन पृष्ठ ४५६ से ४६२ तक किया है इनके अतिरिक्त यहाँ भी दो चित्र देते हैं ।

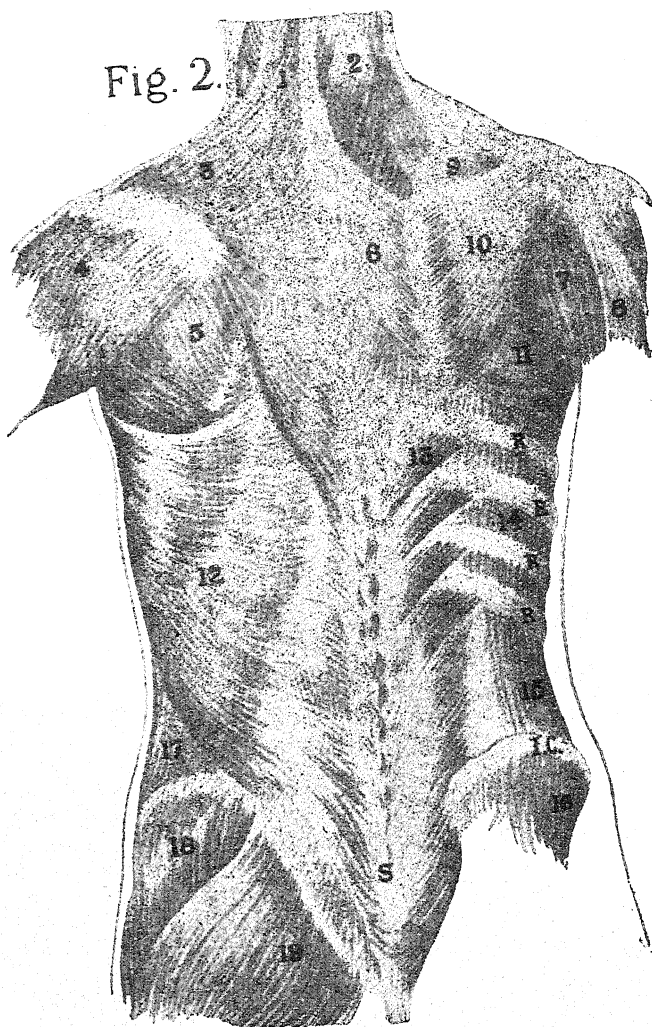
धड़ के आगे की ओर की मांसपेशियाँ

Fig 1.



घड़ के पिछली ओर की मांसपेशियाँ

Fig. 2.



घड़के आगे की ओर की मांसपेशियां ।

(Anterior aspect of the trunk)

- १ उरः कर्णमूलिका पेशी Sterno-Cleido-Mastoid.
- २ पर्याणक (कशेरुअस अक्षका पेशी) Trapezius.
- ३ अंसपिण्डिका पेशी (अंसाच्छादनी) Deltoid.
- ४ उरच्छदा गुर्वी Great Pectoral.
- ५ अग्रिमा रित्रा पेशी Serratus Magnus.
- ६ उदरच्छदा आदिमा Obliquus Externus.
- ७ पशु कान्तरिका बहिःस्थ पेशिया External Intercostal.
- ८ पशु कान्तरिका अन्तःस्थ पेशिया Internal Intercostal.
- ९ उरच्छदा लघ्वी Smaller Pectoral.
- १० उदरदण्डिका पेशी Rectus Abdominis.
- ११ अग्रिमा रित्रा पेशी Serratus Magnus.
- १२ उदरच्छदा आदिमा (बहिःस्था) Obliquus Externus.
- १३ उदरच्छदा मध्यमा Obliquus Internus.

घड़के पिछली ओर की मांसपेशियां ।

(Posterior aspect of the trunk)

- १ पर्याणक (कशेरुअस अक्षका पेशी) Trapezius.
- २ शिरोग्रीवाविवर्तनी पेशी Splenius Capitis.
- ३ पर्याणक (कशेरु अंस अक्षका पेशी) Trapezius.
- ४ अंस पिण्डिका पेशी Deltoid.
- ५ अंसपृष्ठिका अधरा पेशी Infraspinatus.
- ६ अंसापकर्षणी पेशियां (बड़ी और छोटी) Rhomboid Muscles.
(Major & Minor)
- ७ त्रिशिरस्का, लम्बे शिर वाली Triceps, Long head.
- ८ त्रिशिरस्का बाहर शिर वाली Triceps External head.

- ६ अंसपृष्ठिका पेशी उत्तरा *Supraspinatus*.
 १० असृष्ठिका पेशी अधरा *Infraspinatus*.
 ११ असाधरि का लघ्वी *Teres minor*.
 १२ कटिप्रगण्डिका पेशी *Latissimus Dorsi*.
 १३ पश्चिमा रिन्ना पश्चिमा निम्ना *Serratus Posticus Inferior*.
 १४ बहिःस्था पशु कान्तरिका पेशी *External Intercostal*.
 १५ अन्तरा तिरश्चिना *Internal Oblique*.
 १६ जघा की मास पेशी का मोटा चौड़ा कंचुक *Fascia Lata*.
 १७ बहिःस्था तिरश्चिना *External Oblique*.
 १८ नितम्बपिण्डिका मध्यमा पेशी *Gluteus Medius*.
 १९ नितम्बपिण्डिका गरिष्ठा पेशी *Gluteus Maximus*.

S.—त्रिकास्थि *Sacrum*.

I. C.—जघन चूड़ा *Iliac Crest*.

R.—पशु काए *Ribs*.

श्वासत्यागमें सहायक पेशिया—जिस तरह श्वासग्रहण अनेक मासपेशियों की सहायतासे होना है, उस तरह श्वासत्याग भी निम्न मासपेशियों की सहायता द्वारा होता रहता है ।

पश्चिमा रिन्ना अधरा पेशी—*Serratus Posterior Inferior*.

कटि चतुरस्त्रा पेशी—*Quadratus Lumborum*.

अन्तरा तिरश्चिना उदरच्छदा पेशी—*Obliquus Internus Abdominis*.

पशु कान्तरिका बहिःस्था पेशिया—*Intercostals External* ।

इन सब पेशियोंकी क्रिया द्वारा निःश्वासक्रिया होती रहती है । स्वर यंत्रमें मासार्श (Polypus) वायुकोष विस्तार (Emphysema) और तमकश्वास (Brouchial Asthma) आदि रोगोंमें श्वास त्यागमें कष्ट होता है । श्वास त्यागमें कष्ट होनेपर छाती भुक्तानेमें दुःख होता है ।

कचित् दर्शनरीक्षा द्वारा श्वास ग्रहण और त्याग, उभयक्रिया में कुच्छताका अनुभव होता है । इनके अतिरिक्त श्वास प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिमें वृद्धि-हासका भी बोध हो जाता है ।

निम्न कारणोंसे श्वासोच्छ्वासकी गतिमें वृद्धि हो जाती है ।

(१) विविध वातनाडियोंमें विकार, मानसिक पीड़ा और हिस्टीरिया आदि व्याधियाँ ।

(२) रक्तमें आंगारिक वायु संग्रहित होना, शारीरिक श्रम, ज्वर और हृदयकी विविध व्याधियाँ ।

(३) श्वास यन्त्रमें विकृति—कुफ्फुलखण्डप्रदाह, राज्यक्ष्मा, वायु कोष विस्तार, कुफ्फुलावरणमें रस आदिका संचय, उदर्याकला प्रदाह और विद्रधि आदि उदरस्थ व्याधियोंके हेतुसे महाप्राचीरा पेशीके संचलनमें प्रतिबंध ।

इन कारणों द्वारा श्वासप्रश्वासमें द्रुतत्वकी प्राप्ति होजाती है ; तथा मस्तिष्कमें रक्तलाव, अर्बुद आदि कारणोंसे और श्वासमार्गके ऊर्ध्वांशमें किसी भी कारणसे अवरोध होने पर श्वासोच्छ्वास क्रियामें अनियमितता आजाती है । ये सब दर्शन परीक्षा द्वारा विदित हो जाते हैं ।

(२) परिमाण परीक्षा ।

इस परीक्षा द्वारा वक्षः प्राचीर की सीमा, वक्षः के उभय पार्श्वके आयतनका भेद और श्वासद्वारा गृहीत वायुका परिमाण इत्यादि बातें विदित होती हैं । इसका संक्षिप्त वर्णन प्रथम खण्डके पृ० १५६-१६० में दर्शन परीक्षाके अन्तर्गत दिया है । विशेष विचार यहाँ करते हैं ।

स्वस्थ युवा पुरुषके उरःफलकास्थिसे पृष्ठवंश तक वक्षः का अनुलम्ब व्यास (Anteroposterior) अर्थात् सम्मुख-पश्चात् मोटाईका नाप प्रायः कण्ठ प्रदेशके पास ऊर्ध्वमें ६ इञ्च और निम्न भागमें ७ इञ्च होता है । स्त्रियोंकी छातीका व्यास अपेक्षाकृत कम होता है । चुचुक

समतलमें पुरुषकी छातीका अनुप्रस्थ व्यास (Transverse) अर्थात् आड़ी पक्तिमें नाप लगभग १० इञ्च होता है । चुचुक समतलमें स्वस्थ पुरुषके वक्षः की परिधि निःश्वासका पूर्ण त्याग होने पर लगभग ३३ इञ्च, सामान्यतः ३४-३४½ इञ्च और दीर्घ श्वास ग्रहण करने पर लगभग ३६ इञ्च होती है ।

जिस मनुष्यके दहिने हाथमें बल अधिक हो, दहिने हाथसे अधिक कार्य कर सके, उसके वक्षकी दहिनी ओर की आधी परिधि बायी ओर की अपेक्षा १ से १ इञ्च तक अधिक होती है । इस तरह जिसका बायां हाथ बलवान् हो, उसकी वामार्ध परिधि कुछ अधिक होती है ।

व्याधियोंके हेतुसे एक या उभय ओरके वक्षः के नापमें हास-वृद्धि होजाती है । वातपूरित फुफ्फुसावरण, रसभूत फुफ्फुसावरण, क्वचित् फुफ्फुसखण्ड प्रसाह, फुफ्फुसके भीतर अर्बुद (Mediastinal Tumour) और वायुकोष विस्तार रोगमें छातीकी एक या दोनों ओर के वक्षः में वृद्धि होजाती है ।

प्रबल वायुकोषविस्तार होने पर छाती गोल नलाकारके समान होजाती ; और समग्र व्यास विशेषतः सम्मुख-पश्चात् व्यास (मोटाई) बढ़ जाता है ।

उदर्या कलामें रस भरने या अर्बुद होने पर छातीके निम्न प्रदेश में वृद्धि होजाती है ।

क्वचित् जन्मसे या बाल्यावस्थासे छाती सदोष होजाती है । कितनेक निर्बल व्यक्तियोंकी छाती लम्बी, अगम्भीर और दबी हुई या खातयुक्त होती हैं । पञ्जरका मध्यस्थान प्रशस्त और सम्मुख-पश्चात् व्यास स्वाभाविक की अपेक्षा अति कम मोटा होता है । ऐसे मनुष्य राज्यक्षमाके वशवर्त्ती होते हैं ।

फुफ्फुसावरणमें उत्सृष्ट रसका शोषण होने और फुफ्फुसका सकोच होने पर छाती आकुंचित होजाती है ।

राजयक्ष्मा रोग और फुफ्फुसकी दृढ़ता होकर विशीर्णता (Pulmonary Cirrhosis) आदि रोगोंमें छातीका संकोच होजाता है ।

(३) स्पर्श परीक्षा ।

दर्शन परीक्षा द्वारा श्वासोच्छ्वास क्रियामें वक्षः की संचलनावस्था, शब्दोच्चारणमें वक्षः की प्राचीरमें कम्पनावस्था और परिवर्तन आदि जो श्रगवत होते हैं; वे सब इस स्पर्शपरीक्षा द्वारा विशेष निर्णित होते हैं । इनके अतिरिक्त मृदुता, कठोरता, उष्णता, शीतलता, शुष्कता, स्निग्धता और पीड़ा आदिका बोध होजाता है । इसका विवेचन प्रथम खण्डके पृष्ठ १३६ से १४७ तक किया है ।

(४) ठेपन परीक्षा ।

अंगुली या प्रतिघात-मुद्गर द्वारा (Instrumental) ठेपन परीक्षा करने पर उत्पन्न ध्वनिमें ध्वनिबलका प्रकर्ष या वृद्धि-ह्रास (Intensity), न्यूनाधिक दृढ़ता अर्थात् उच्चता या नीचता (Pitch), स्थानिक रिक्तता या जड़ता (Quality) और समयमें न्यूनाधिकता अर्थात् स्थायित्व (Duration) का बोध होता है । इस परसे आन्तरिक विधानोंमें वर्तमान वायुका परिमाण श्रवगत होजाता है ।

वक्षके उत्पन्न ध्वनिमें स्थानभेदसे विभिन्नता होती है । छातीमें आगेकी ओरकी ध्वनि पीछेकी ओर वाली ध्वनिकी अपेक्षा अधिक रिक्त (Clear) होती है । आगेकी ओरकी ध्वनि में भी स्थानभेदसे अन्तर हो जाता है ।

इस ठेपन (प्रतिघात) परीक्षाका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ ६७ से १०३ तक किया है । उस स्थान पर निम्नानुसार ध्वनि दर्शाई हैं ।

१—रिक्तध्वनि—Tympanic resonance.

२—घन ध्वनि—Dull resonance (dulness).

३—सौविरध्वनि—Tympanitic resonance ।

४—फुफ्फुस-सौविर मिश्रध्वनि—Vesiculo Tympanitic resonance.

फुफ्फुसकी स्वाभाविक ध्वनिके साथ सौविर ध्वनि वर्तमान होने पर मिश्रध्वनिकी उत्पत्ति होती है । यह ध्वनि स्वाभाविक ध्वनिकी अपेक्षा अधिक प्रकर्षसह और उच्च ग्राम विशिष्ट होती है । वायुकोषविस्तार (Pulmonary Emphysema) और फुफ्फुसावरणके प्रदाह सह थोड़ा रस सगृहीत होने पर उस स्थानके ऊर्ध्वभागमें इस मिश्रध्वनिका अनुभव होता है ।

५—पात्रभगवत् ध्वनि—Cracked pot resonance

६—स्कोडा ध्वनि—Skodaic resononce.

७—अस्थिभगज ध्वनि—Osteal resonance.

८—कृमिकोषज (रसाबुर्दज) ध्वनि—Hydatid resonance.

कृमिकोष पर यह ध्वनि आती है ।

९—कौप्यक ध्वनि—Amphoric resonance—अर्थात् खाली बोतलके मुँह परसे निकलने वाली फुत्कार ध्वनि । यह फुफ्फुस गहुरके ऊपर ठेपन करने पर उत्पन्न होती है ।

१०—शब्दनाद—Vocal resonance इसका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ८७ में किया है ।

११—नादलोप अर्थात् ध्वनि अभाव (Flatness) अस्थि और मासपेशियोंके ऊपर, फुफ्फुसावरण और वायुकोषोंमें तरल भरने पर एव फुफ्फुस घनीभूत होने तथा वक्षके भीतर विद्रधि होने पर ध्वनिका अभाव हो जाता है ।

दाहिने अक्षकास्थि पर ध्वनि वाम ओरकी अपेक्षा मन्द, रिक्त, अल्प-स्थायी और ऊँच रहती है । अक्षकास्थिके मध्य प्रदेशमें रिक्तध्वनि, बाहर की सीमा पर अपेक्षाकृत घन ध्वनि तथा ऊर्ध्वधारा पर्यन्त स्थानिक प्रति-घात ध्वनि स्पष्ट होती है ।

उरःफलकास्थिके ऊर्ध्वांशसे तृतीय पशुका पर्यन्त आवाज किञ्चित् सौषिर सदृश आती है । फिर निम्न भागमें हृदय और यकृत जहाँ आजाता है, वहाँ आवाज जड़ हो जाती है ।

दक्षिण ओरकी चतुर्थ पशुकाके नीचे बलपूर्वक प्रतिघात करने पर फुफ्फुसकी आवाज अपेक्षाकृत क्षीण; तथा षष्ठ पशुकाके नीचेके प्रदेशमें यकृतका आरम्भ होनेपर आवाज बिल्कुल घन आती है; किन्तु पूर्ण भोजन कर लेनेके पश्चात् यकृतका स्थान परिवर्तन हो जानेसे ठेपनकी जड़ आवाजका आरम्भ और नीचेसे होता है ।

वाम वक्षःमें हृदय रहनेसे चौथीसे छठवीं पशुका तक और उरःफलकास्थिके चुचुक तक आवाज क्षीण और अपेक्षाकृत कम रिक्त होती है । वायुकोष विस्तार व्याधिमें और श्वास ग्रहणके समयमें हृदयके ऊपर की घन ध्वनिकी सीमा कम हो जाती है ।

पीठकी ओर भी भिन्न-भिन्न स्थान पर आवाज विभिन्न-विभिन्न आती है । अंसफलकके ऊपर जो आवाज आती है, उससे निम्न स्थान और अंसफलकके मध्यवर्ती स्थानमें तेज और रिक्त होता है । दाहिनी ओर अंसफलकके नीचेसे दशवीं पशुकाकी निम्न सीमातक आवाज रिक्त आती है । फिर यकृतकी घन ध्वनिका प्रारम्भ हो जाता है । पीछे बायाँ ओर ठेपन करने पर यदि अन्त्रवायु द्वारा प्रसारित हो, तो सौषिर ध्वनि उत्पन्न होती है; अन्यथा प्लीहाके हेतुसे घन ध्वनि आती है ।

कक्ष प्रदेशमें आवाज नितान्त रिक्त होती है; किन्तु दाहिनी ओर छठवीं पशुकाकी निम्न सीमासे बिल्कुल जड़ हो जाती है । एवं बायाँ ओर नवमी तथा दशमी पशुकामें प्लीहा होनेसे वहाँ पर भी आवाज जड़ हो जाती है ।

रिक्त आवाजकी अपेक्षा सौषिर ध्वनिकी आवाजमें अधिक दृढ़ता (उच्चता) और इससे भी जड़ आवाजमें विशेष उच्चता होती है ।

विद्यार्थियों को प्रारम्भमें ठेपन परीक्षाका अभ्यास जलमें भिगोई हुई पांज रोटी और वायुपूरित फुटबॉल पर करना चाहिए । इसके लिये

प्रारम्भमें पांजरोटीके नीचे की ओरके भाग को जलमें कुछ समय तक भिगोकर ठेपन करनेसे आर्द्र स्थानमें ध्वनिका अभाव कम भीगे स्थानमें मंद ध्वनि और दृढ छालको निकाल उसपर ठेपन करनेसे सौषिर ध्वनि तथा दूसरी ओर फुफ्फुस-सौषिर मिश्र ध्वनि उत्पन्न होती हैं । इस तरह चर्मावृत रबरके फुटबॉल पर प्रतिघात करनेसे उच्च आमयुक्त सौषिर आवाज की उत्पत्ति होती है ।

(५) श्रवण परीक्षा ।

ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा फुफ्फुस, श्वासनलिका और हृदय आदि विधान की ध्वनिको सुनकर इन स्थानोंकी क्रिया, विकृति, व्याप्ति, शक्ति, स्थान-भ्रंशता आदि जानी जाती हैं । इसका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ८२ से ९७ तक किया गया है ।

नासिका, प्रसनिका, स्वरयन्त्र, वृद्धच्छ्वासनलिका और श्वास-प्रणालिकाओंमें अवरोध होने पर आवाजमें निम्नानुसार भेद उत्पन्न होता है ।

स्थान	व्याघात हेतु	आवाज
१ नासिका	क-कठिन या तरल श्लेष्मसचय । ख-नासपक्षका स्तम्भ (Alae nasi)	{ फसफस (Bellows Murmur)
२ प्रसनिकाका पश्चादंश	क-नासिकामें आवाज (Nasal snore) निद्रा और मूर्च्छा- वस्थाके आवाज सदृश विकृति । ख-मुखकी आवाज (Oral snore) ।	{ ध्वनि सह निः- श्वास (Stert- orous Res- piration)
३ स्वरयन्त्र	क-स्वरतन्त्रीकी शिथिलता । ख-स्वरयन्त्रद्वाराका स्तम्भ या आच्छेप ।	{ कर्कश शब्द- युक्त निःश्वास ।

४ बृहच्छ्वास- नलिका	क-धमनी विस्तार आदिसे दबाव ख-आसन्न मृत्युकाल	गंभीर गर्जनासदृश { कण्ठस्थ वड़वड़ (Death ra- ttle)
५ श्वासनलिका	क-कफ या द्रव प्रवेश ख-फुफ्फुस पीठसमीपके संकुचित वायुकोषोंमें वायु प्रवेश	सूख ध्वनि { केशमर्दन वत् ध्वनि

इन सबका विशेष विवेचन निम्नानुसार क्रमशः करते हैं ।

- १ अ—नासारन्ध्रका वातावरोध ।
- १ आ—नासापथमें वातावरोध ।
- २ ग्रसनिकामें वातावरोध ।
- ३ स्वरयन्त्रमें वातावरोध ।
- ४ बृहच्छ्वासनलिकामें वातावरोध ।
- ५ श्वास प्रणालिकाओंमें वातावरोध ।

(१-अ) नासारन्ध्र का वातावरोध ।

नासारन्ध्रका अवरोध (Stenosis) होने पर अति कष्ट होता है । किसी-किसी स्थलमें नासिकाके भीतर और सम्मुख कपाल (Frontal) प्रदेशमें केवल पूर्णता और भारीपनका बोध होता है । नाक भरी हुई-सी मालूम पड़ती है । किसी-किसी स्थलमें नासामार्ग पूर्णरूपसे रुद्ध रहता है; और नासिकासे श्वासोच्छ्वास असाध्य हो जाता है । वंशपरंपरागत उपदंश रोगीके बालकोंको ऐसा कष्ट होने पर स्तनपान करनेमें प्रतिबन्ध हो जाता है ।

इस अवरोधके लक्षण नासिका और नासागुहापश्चिम प्रदेश (Nasopharynx) की अवरोधक व्याधियाँ—नासाश्लैष्मिक कला का आशुकारी प्रदाह (Acute rhinitis), प्रतिश्याय और चिरकारी प्रदाह, रक्तसंग्रहसे भिन्न हास सह प्रदाह, मांसवृद्धि, अबुर्द, कांटे

(Papillas) नासिकाके पर्दाकी स्थानच्युति, बाह्य पदार्थ प्रवेश, नासा-पश्चिम प्रदेशमें ग्रन्थि (Adenoids) आदि होने पर प्रकाशित होते हैं ।

यदि कर्णान्तरा नलिका अर्थात् कानके पर्दासे प्रसनिका पर्यन्त जाने वाली नलिका (Eustachian tube) आक्रान्त हो, अथवा उसका प्रदाह हो, या उसमें अवरोध हो, तो बधिरता हो जाती है । साथ-साथ श्रवणशक्ति भी लोप हो जाता है । ऐसा होने पर सिद्धान्त किया जाता है कि, वातवहाकेन्द्र विकार प्रसित हुआ है । इस प्रकारमें सामान्यतः बधिरताके साथ कर्णमें गुँज (Tinnitus aurium) भी होने लगती है ।

(१-आ) नासापथमें वातावरोध ।

सामान्य प्रतिश्याय रोगमें नासिकाके भीतर उत्पन्न बुद्बुदेके समान आर्द्र ध्वनि सुननेमें आती है । इसके अतिरिक्त नासिकामें मासार्श (Polypus) या अर्बुद आदि जनित स्थानिक पीड़ा होनेपर भी एक प्रकार की शुष्क अवरोधव्यञ्जक ध्वनि सुनाई देती है । इन द्विविध ध्वनियों परसे रोगकी प्रकृतिका बोध हो जाता है । पहली आर्द्र ध्वनि सामान्य हैं; और द्वितीय प्रकार की ध्वनिमें शस्त्र चिकित्साकी सहायता लेनी पड़ती है ।

क्वचित् ज्वर आदि रोगोंमें एक प्रकार की शुष्क फसफस आवाज (Bellows Murmur) सुननेमें आती है । इस अवस्थामें किसी किसी रोगी को अत्यंत निर्बलता आती है, और कष्टपूर्वक श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है । अंगुलिसे नासापद्म को कुछ दबाने पर बलपूर्वक श्वासोच्छ्वास क्रिया होकर फसफस ध्वनि उत्पन्न होती है ।

प्रलापक ज्वर (Typhus Fever) की विषमावस्थामें बेहोशी और नासारन्ध्रका अवरोध हो जाता है । फिर कुछ आकुचित नासाद्वार और मुखसे श्वास प्रश्वास क्रिया होती है । ऐसे समय पर सजीखार, सोडा या

साबुनके जलसे नासामार्ग धोकर घी या तैल सुंधानेसे नासिकासे सरलता-पूर्वक श्लेष्मा निकल कर श्वासोच्छ्वास क्रियामें कष्ट निवृत्त हो जाता है । ऐसे रोगमें बार बार नाक सूख जाती है । अतः घी, तैल या वेसलाइन आवश्यकता अनुसार एक दिनमें पुनः पुनः २-४ बार लंगाना चाहिए । कभी नासारन्ध्र स्तम्भ या अवसादके हेतुसे शिथिल हो जाता है । फिर उसके ऊपर नासिकाका पर्दा (Septum) गिर जानेसे भी इस तरह की आवाज आने लगती है ।

कच्चित् बड़े हुए पक्षाघात (पार्श्वस्तम्भ—Hemiplegia) रोगमें ऐसा हो जाता है कि, अवसादग्रस्त ओरका नासापद्म श्वासोच्छ्वासके प्रवाहके साथ-साथ निश्चेष्ट संचालित होता रहता है ।

कभी पार्श्वंग पक्षाघात रोगमें सार्वाङ्गिक वात नाडियोंमें अतिशय अवसाद हो जानेसे उभय नासारन्ध्र बार बार श्वासोच्छ्वास क्रियाके साथ साथ उठते और गिरते रहते हैं, यह भी एक विषम लक्षण माना गया है । विशेषतः यह लक्षण मृत्युके पूर्वकालमें प्रकाशित होता है ।

सार्वाङ्गिक दुर्बलताके हेतुसे नासापद्म की मांसपेशियां क्षीण हो जाती हैं । साथ साथ नासिका आकुंचित हो जाती हैं; और उसका अग्रभाग सूक्ष्म हो जाता है । कारण, नासापद्मके ऊर्ध्वअंशमें जिन स्थलपर नासास्थि (Nasal bone) संयुक्त होती है; वहां पर नासापद्मका बलक्षय (Collapse) हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त अवसादग्रस्त नासापद्म वायुप्रवाहके बलसे संचालित होते हैं; और श्वासग्रहणकालमें नलिकाका पर्दा ऊपर खिंच जाता है, फिर निःश्वासके समय वह प्रक्षिप्त वायुके बलसे फैल जाता है । इन सब स्थलोंमें नासापद्मके विमुक्त अंश को अपेक्षा ऊर्ध्व (नासास्थिके साथ लगा हुआ) अंश अधिकतर संचालित होता रहता है । श्वासग्रहण कालमें वायु प्रवाहणके बलसे जब शिथिल पर्दा ऊपर खिंचता है; तब नासिकामें अवरोधजनित ध्वनि सर्वापेक्षा अधिक होती है ।

कचित् मधुरा और इतर विषम ज्वरोंमें यह अवरोध उतना बढ़

जाता है कि, नासिकासे श्वास ग्रहण करना भी असम्भव हो जाता है । ऐसे समयपर श्वासके प्रतिबन्धके उपशमार्थ दोनों नासारन्ध्रोंमें प्रायः अंगुलीके समान मोटी और एक अंगुल लम्बी रबरकी नली (Drainage tube) का प्रवेश करा दिया जाता है ।

विविध प्रकारकी मूर्च्छा—अचेतनावस्था (Coma) में पूर्वोक्त कारण होनेपर नासामार्गमेंसे अवरोधक ध्वनि उत्पन्न हो जाती है । वृक्क संन्यास (Uraemia) व्याधिमें क्वचित् मूर्च्छा होनेके पहले यह आवाज निकलने लगती है । परिणाममें इन स्थानोंमें सार्वाङ्गिक दौर्बल्य अत्यधिक आ जाता है । फिर क्षीणताके हेतुसे निद्रावस्थामें प्रायः अक्षिपल्लव पूर्णाशमे बन्द नहीं होते; और नासापक्षके ऊर्ध्वांशका अवसादजनित उत्क्षेप होता रहता है ।

नासापक्षका उत्क्षेप-पतन अत्यन्त अधिक होकर श्वासोच्छ्वासमें प्रतिबन्ध होना, यह एक अति घातक लक्षण माना जाता है । यह वात-वहा नाड़ियोंकी अत्यधिक क्षीणता होनेपर होता है । इस लक्षणके प्रकाशित होनेपर विशेषतः रोगीकी मृत्यु होजाती है । यदि इस दौर्बल्यावस्थामे विशेषतः ज्वरजनित दौर्बल्यावस्थामें पूर्वोक्त प्रकारसे नासारन्ध्रके संचालन के साथ निद्रितावस्थामें यदि चक्षु आधे खुले रहते हैं; तो वह विशेष विषम लक्षण माना जाता है । यदि अवनत अशमे अवसादजन्य रक्त-सग्रह (Hypostatic Congestion) हो जानेसे देहके पश्चात् अंशकी त्वचा गाढतर रंगकी या काले रंगकी होजाती है । ऐसी अवस्था होनेपर रोगीके जीवनकी आशा केवल ईश्वरकी कृपापर ही रखी जाती है ।

इस अवसाद जनित नासापक्ष संचालनके अतिरिक्त निम्न दो प्रकारके संचालन अनुभवमें आते हैं ।

- १—श्वास कृच्छ्रतामें समवेदक नासापक्ष संचालन देखनेमें आता है । इसमें नासापक्षकी विमुक्त धारा स्पष्ट संचलित होती रहती है ।

श्वास ग्रहण कालमें नासारन्ध्र प्रसारित होते रहते हैं । फिर स्त्रीणताके हेतुसे नासापद्मका ऊर्ध्वांश उठ नहीं सकता ।

२—व्यक्ति विशेषके स्वाभाविक अभ्यासके हेतुसे नासापद्मकी धारा बलपूर्वक संचलित होती रहती है । यह श्वास ग्रहण क्रियाके समकालीन नहीं होती । इसके साथ श्वास क्रियाका कोई सम्बन्ध नहीं है । केवल वातवाहिनियोंकी विशेष अवस्थाके हेतुसे खरगोश की नासिकाके समान अनियमित तेज गतिसे संचलित होते रहते हैं ।

नासापद्मके समवेदक संचलन और वातवहा विधानकी विलक्षणता-जन्य शशक संचलन, इन दोनों प्रकारोंमें श्वासोच्छ्वाससे किसी भी प्रकारकी आवाज नहीं होती । केवल पद्माघात जनित नासापद्म संचलनमें श्वासध्वनि उत्पन्न होती है ।

(२) ग्रसनिका में वायुका अवरोध ।

निद्रितावस्थामें गुरुत्वाकर्षण प्रभावसे ग्रसनिकामें जिह्वा और तालु के पीछेकी ओरका भाग अधिक गिर जानेसे श्वास-प्रश्वासमें कुछ अंशमें अवरोध होता है । इस हेतुसे एक प्रकारकी विशेष आवाज घर-घर सदृश उत्पन्न होती है । चाहे मुँह बन्द हो; और नासिकासे श्वास क्रिया होती हो, या श्वासक्रिया मुखसे चलती हो; उभय स्थलोंमें जिह्वाजन्य अवरोधसे आवाज उत्पन्न होती है । यह कर्कश ध्वनि प्रधानतः काकलक (Uvula) के कम्पनके हेतुसे उत्पन्न होती है । यदि यह ध्वनि नासिका से होती हो; तो ग्रसनिकाके पीछेकी दीवार पर काकलक-गलशुण्डिका कम्पित होती रहती है । एवं मुँहसे ध्वनि निकलती रहती हो; तो जिह्वा के पीछेके ऊर्ध्व प्रदेश (Dorsum) पर काकलकका कम्पन होता रहता है ।

मूर्च्छावस्था (Coma) में आवाजसह श्वासोच्छ्वास होनेमें भी यह घरघर ध्वनि सुननेमें आती है । क्लोरोफार्मजनित गम्भीर कृत्रिम

निद्रावस्थामें भी यही ध्वनि उत्पन्न हो जाती है; किन्तु अवरोध अत्यधिक हो जाने पर जिह्वाको बाहर खींचनेसे प्रतिबन्ध दूर हो जाता है ।

संन्यास रोग और इतर अचेतनावस्थामें आवाज सह विषम श्वास-प्रश्वास होने पर रोगीके मस्तिष्क को उठा, एक ओर शिर तथा कन्धके नीचे शिराना रख, दूसरी ओर ४५ अंश कोन होजाय, इस तरह मस्तिष्क को रख देनेसे जिह्वा ग्रसनिकागह्वरके पश्चात् दिशामें गिर नहीं सकती । इस हेतुसे अवरोध दूर हो जाता है, और नासिकासे आवाज निकलना कम हो जाता है ।

(३) स्वरयन्त्रके वायुप्रवाहमें अवरोध ।

स्वरकी उत्पत्ति, कण्ठको झुकाना, खासना और श्वासोच्छ्वास का आवागमन, इन ४ कार्योंमें स्वरयन्त्र सशयना पहुँचाता है । इन चारों क्रियाओंके निर्णयके लिये स्वरयन्त्रकी परीक्षा आवश्यक है । इस स्वर यन्त्र में से आवागमन करने वाली वायुमें प्रतिबन्ध होता है या नहीं ? या श्वास-प्रश्वास कालमें कण्ठ नलिकामेंसे तीव्र कठोर ध्वनि (Laryngeal stridor) उत्पन्न होती है या नहीं ? इस बातका विचार करना है ।

यदि यह विकृति—बैठी हुई आवाज सामान्य प्रतीत हो, एवं कण्ठ नलिकाके अवरोधजनित आवाज सतत वर्तमान हो, या केवल बार-बार क्षणस्थायीरूपसे उत्पन्न हो, तो उसका विशेष विचार करना चाहिए । यदि यह ध्वनि अधिक रूपमें कर्कश हो, तो वह स्वरयन्त्र और श्वास-नलिकाप्रदाहजन्य गलौष (Croup) रोगमें कुक्कुट ध्वनिवत् उच्च स्वभावयुक्त होती है । यदि स्वस्थ कठनलीमेंसे बलपूर्वक श्वास ग्रहण किया जाय, तो वायु प्रवाह द्वारा परस्पर सन्निहित स्वरतन्त्रीकी धारमें कम्पन होकर इस प्रकारकी आवाज उत्पन्न होती है । किसी-किसी स्थलमें कण्ठ नलिकामें विषम या घातक अवरोध उपस्थित होनेपर गलौष जनित कर्कश ध्वनि प्रतीत नहीं होती । कारण उस स्थलमें पीड़ाके हेतुसे स्वरतन्त्री शब्दोत्पा-

दक कम्पन उत्पन्न करनेमें असमर्थ होती है; स्वरतन्त्रीपर क्षत होकर नष्ट होनेसे या कृत्रिम त्वचा रूप आवरण द्वारा आवृत होनेसे गलौघकी उच्च ध्वनिके स्थानपर कण्ठनलीमेंसे एक प्रकारकी 'शी-शी' वत् या फूत्कार वत् अवरोधात्मक आवाज उत्पन्न होती है । रोग सामान्य हो, तो व्याघातजनित मृदु, निम्न ग्रामयुक्त ध्वनि सुननेमें आती है । मुँह खोल कर पूर्ण श्वास ग्रहण करनेपर यह आवाज स्पष्टतर प्रतीत होती है ।

यदि निःश्वास त्यागकी अपेक्षा श्वासग्रहण कालमें कण्ठनलीका अवरोध अधिक हो; और अवरोधात्मक ध्वनि भी उच्चतर हो, तो श्वास-ग्रहणमें अधिक कष्ट होता है । विशेषतः मुख्य दो कारणोंसे कण्ठनलीके मार्गमें अवरोध उत्पन्न होता है ।

१—स्थानिक प्रादाहिक शोथजन्य (गलौघ आदि या कर्कस्फोट आदि विद्रधि रोगोंसे) ।

२—स्वरयन्त्रकी मांसपेशियोंका आक्षेप । इससे सब स्वरतन्त्री सम्मिलित होकर श्वासावरोध उत्पन्न कर देती हैं ।

इनमेंसे गलौघ आदिके प्रादाहिक शोथकी उग्रताके हेतुसे अनेक स्थानोंमें आक्षेप उत्पन्न होकर अकस्मात् श्वासरोध हो जाता है ।

बालकोंके स्वरयन्त्रका आक्षेप (Laryngismus Stridulus) होने और कण्ठनलीमें बाह्य पदार्थ प्रवेश करनेपर स्वरयन्त्रद्वारके प्रदाह विहीन नीरोगी मांसपेशीका ही आक्षेप होता है ।

एवं एक कारणसे स्वरसाद (स्वरका घात) और श्वास रोगमें मृत्यु हो जाती है । कण्ठस्थ पश्चात्प्रदेशकी दो कृकाटक घाटिका पेशियों (Crico-Arytoenoides) की स्वाभाविक क्रिया द्वारा श्वासोच्छ्वासके लिए स्वरयन्त्रद्वार खुला रहता है, तो श्वास ग्रहण कष्टपूर्वक और आवाज सहित होता है; तथा श्वास त्याग सहज और निःशब्द होता है; एवं बोलनेमें कण्ठस्वर स्वाभाविक ही प्रतीत होता है । इस रोगमें अकस्मात् मृत्यु हो जाती है । इसलिये सत्वर इस व्याधिमें स्वरयन्त्रके भीतर शस्त्र चिकित्सासे कृत्रिमद्वार बनानेका प्रयत्न

(Tracheotomy) करना चाहिए । जब रोगी निद्रित हो; तब यह आवाज अति स्पष्ट होती है । इस हेतुसे रोगीकी मृत्यु बहुधा रात्रिको हो जाती है । इस तरह सम्मिलित स्वरतन्त्रीको खुला रखनेवाली मास-पेशियोंका पक्षाघात क्लोरोफार्मके श्वास द्वारा होनेपर भी श्वास रोध होकर मृत्यु हो जाती है ।

(४) बृहच्छ्वासनलिका में वातावरोध ।

बाहरसे दबाव आनेपर मुख्य श्वासनलिकामें वायुप्रवाहका प्रति-
बन्ध होता है । यह दबाव निम्न अवस्थाओं या कारणोंसे होता है ।

- १—महाधमनी विस्तारज ग्रन्थि-अर्बुद (Aneurysm) होनेसे श्वास नलिका जहाँ दो भागमें विभक्त होती है, वहाँ पर दबाव पड़ता है ।
- २—फुफ्फुसान्तराल प्रदेश (Mediastinum) में विद्रधि या अर्बुद होने पर जिस स्थान पर नलिकाके दो भाग होते हैं, उस स्थान पर या उसके समीपमें दबाव पड़ता है ।
- ३—ग्रैवेयग्रन्थि (Thyroid gland) की वृद्धि होने पर विशेषतः उरःफलकके ग्रैवेयक भाग (Manubrium Sternal) के पीछे की ओर उस ग्रन्थि पदार्थके अशकी वृद्धि द्वारा बृहत् श्वास-नलिकापर घातक दबावकी उत्पत्ति होती है ।
- ४—हृदय रोगमें कभी-कभी प्रसारित वाम अलिंदसे वाम श्वास-नलिका (Bronchi) विषम रूपसे संचापित होती है ।

बृहच्छ्वास नलिकाके संचापके हेतुसे श्वासोच्छ्वासीय ध्वनि उत्पन्न होती है । बड़ स्वर यंत्रके व्याघातजध्वनिसे सहज पृथक् हो जाती है । यह ध्वनि विशेष स्वभावयुक्त होती है । स्वरयंत्र की अवरोधज ध्वनिदृष्ट स्वरतन्त्रीसे उत्पन्न या गलौघ सदृश नहीं है, किन्तु यह श्वासनलिकाकी ध्वनि विशुद्ध, स्पष्ट, रुद्ध, निम्न ग्रामयुक्त, सिंह की गर्जनासदृश है, तथा श्वास और निःश्वास, दोनों समयमें सुननेमें आती है । रोग सामान्य होने पर अवरोधक ध्वनि श्वास और निःश्वासमें अल्प, अस्पष्ट और निम्न

ग्रामयुक्त सुननेमें आती है । कभी कभी आवाज निःश्वासकी अपेक्षा श्वास ग्रहण कालमें स्पष्टतर होती है । इन सब स्थानोंमें परिश्रम होने पर रोगीके दीर्घ श्वासोच्छ्वास चलने पर ध्वनि सुननेमें आती है । मुखसे श्वास प्रश्वास क्रिया करने पर यह आवाज स्पष्टतर हो जाती है ।

कभी कभी बृहच्छ्वास नलिकासे अवरोध जनित आवाजको सामान्य स्वरयन्त्रज अवरोधज आवाजसे पृथक् करना दुःसाध्य हो जाता है । किन्तु स्वरयन्त्र दर्शक यन्त्र (*Laeryngoscope*) द्वारा परीक्षा करने पर निर्णय हो जाता है, स्वरयन्त्र द्वार मुक्त होने पर भी यदि श्वास नलिका से व्याघातज ध्वनि निकलती है; तो स्थानका निश्चय हो ही जाता है । इनके अतिरिक्त हृदयके द्विपत्र कपाटके छिद्रमें प्रतिबंध (*Stenosis*) विकारमें हृदयका वामखण्ड अत्यन्त प्रसारित होनेपर उससे भी वायुमार्ग संचापित होता है । ऐसा होने पर श्वासनलिकाके द्विमार्गस्थानपर दबाव नहीं आता; परन्तु बांयी श्वासनलिका पर दबाव आता है । इससे जो अवरोधज ध्वनि उत्पन्न होती है; वह श्वास और निःश्वास, दोनों समय सुननेमें आती है । रोगी स्थिर होने पर यह आवाज स्थगित हो जाती है । यदि किसी कारणवश रोगी उत्तेजित हुआ, तो ध्वनि पुनः प्रकाशित होती है ।

बृहच्छ्वास नलिकामें तरल श्लेष्मा संगृहीत होनेपर अवरोधज ध्वनि उपस्थित होती है । प्रचुर तरल (श्लेष्मा) निःसरण युक्त कास रोगमें कभी-कभी श्वासनलिकामें सत्वर रक्त संग्रह होता है । यदि किसी कारणवश यथोचित कास नहीं आती; और संचित श्लेष्मा नहीं निकल जाता ; तो श्वासोच्छ्वास क्रियामें विषम व्याघात उपस्थित होता है । रोगीके समीप बैठने पर श्लेष्मा की घड़-घड़ आवाज स्पष्ट सुननेमें आती है । क्वचित् गलौघ रोगमें भी शस्त्रचिकित्सा द्वारा स्वरयन्त्रमें कृत्रिम द्वार बनाने (*Tracheotomy*) पर इस तरहकी कास उपस्थित होती है । फिर बृहच्छ्वास नलिकामें श्लेष्माका प्रचुर परिमाण संग्रहित होता है । इसी तरह आसन्न मृत्युकालमें भी श्लेष्मसंचित होकर एक प्रकार

की घड़-घड़ आवाज सुननेमें आती है । फिर अत्यन्त क्षीणता, रक्तसचालनमें व्याघात और मूर्च्छा होकर मृत्यु होजाती है ।

यह विषम लक्षण इन स्थलोंमें प्रकाशित होजाता है । जब हृदय अति क्षीण होता है, फुफ्फुस रक्तावेगग्रस्त होता है, धमनीकी रक्त सचालन-शक्तिका हास होता है और रोगीकी खांसनेकी शक्तिका लोप होजाता है । फिर यह घड़-घड़ आवाज उपस्थित होती है, और मृत्यु पर्यन्त क्रमशः बढ़ती ही जाती है । कोई-कोई स्थानमें विशेषतः सन्यास होने पर नाडी या श्वासोच्छ्वास संचलन क्षीण होनेके पहले भी यह लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

(५) श्वासप्रणालिकाओंमें वातावरोध ।

कास और तमक श्वासमें श्वासप्रणालिकाओंके भीतर बहुधा वायुके प्रवाहमें व्याघात होता है । प्रबल कास पीड़ित रोगीकी शय्याके समीप खड़े रहने पर श्वास और निःश्वासके साथ साथ शुष्क 'सु सु' ध्वनि सुननेमें आती है । कभी-कभी विशेष लक्ष्य देने पर साथ-साथ आर्द्र कट्-कट् ध्वनि (Crackling rale) श्वासग्रहणकालमें प्रतीत होती है ।

कास सह और कास रहित तमक श्वास होने पर निःश्वास कालमें विलक्षण 'सु सु' आवाज आती रहती है । आपेक्षिक दृष्टिसे श्वास-ग्रहण अल्पस्थायी और आवाज विहीन तथा निःश्वास दीर्घ स्थायी, कष्ट-कर और आवाज सहित होता है ।

सामान्य कास रोग होने पर श्वासनलिकाके अवरोध युक्त अवस्थामें श्वासग्रहण और निःश्वास त्याग, उभय क्रियामें समान रूपसे प्रतिबन्ध जनित ध्वनि उत्पन्न होती है । स्वरयन्त्र और असनिकाके अवरोधमें एव नासिकाके पक्षाघात जनित अवरोधमें श्वासग्रहण अपेक्षाकृत कष्टकर और आवाजसह होता है । इन सब प्रकारके कारणोंसे उत्पन्न श्वास मार्गके अवरोध प्रकारोंमें स्वरयन्त्रके भीतर प्रतिबन्ध होने पर श्वासग्रहणमें सर्वापेक्षा अधिकतर कष्ट होता है ।

श्रवणपरीक्षामें श्रुत विविध ध्वनिचिह्न ।

अ—वायुकोषीयनाद—Vesicular respiration ।

आ—नालीयनाद—Bronchial respiration ।

इ—वायु कोषीय-नालीयनाद—Broncho-vesicular respiration ।

ई—श्वासोच्छ्वास ताल-सामञ्जस्य—Rhythm ।

उ—आगन्तुक ध्वनि—Rales ।

ऊ—शब्दप्रतिध्वनि—Vocal resonance ।

(अ) वायुकोषीय नाद ।

फुफ्फुस विधानके ऊपर कान लगाकर या ध्वनि वाहक यन्त्र लगाकर सुनने पर कोमल, निम्न ग्रामयुक्त श्वास ग्रहण ध्वनि सुननेमें आती है । इसके पश्चात् अनतिविलम्बसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक काल तक अधिक अस्पष्ट निःश्वास ध्वनि कर्ण गोचर होती है । उसे वायु कोषीय नाद (Vesicular murmur) कहते हैं । यह अति सूक्ष्म श्वास-प्रणालिका और वायुकोषोंके प्रसारण-संकोचनके हेतुसे उत्पन्न होती है । यह ध्वनि फुफ्फुसोंके निम्न खण्डकी अपेक्षा ऊर्ध्व खण्डमें और पश्चाद् भागकी अपेक्षा सम्मुख प्रदेशमें स्पष्टतर सुनने में आती है । एवं दाहिने फुफ्फुसकी अपेक्षा बांये फुफ्फुस पर यह आवाज अधिक तीक्ष्ण होती है ।

इस नादमें स्वाभाविक (Normal), नादवृद्धि (शैशवीय नाद—(Puerile), हास, कर्कश (Harsh), कम्पित (Tremulous), विच्छिन्न (Jerkey or cog-wheel), अभाव (Feeble or absent) तथा निःश्वास ध्वनिमें विस्तार आदि भेद होते हैं । इन भेदों का वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ ८४-८५ में किया है ।

नाद हासके हेतु—इस नादका हास निम्न ४ कारणोंसे होता है ।

१.—अवरोध—मार्गावरोध होकर यथोचित वायु प्रवेश न होना; वृहच्छ्वास

नलिका या श्वास प्रणालिकाओंमें किसी बाह्य पदार्थका प्रवेश हो जाना; स्वर यन्त्रमें पीड़ा होना; श्वास नलिका की श्लैष्मिक कला अति स्थूल हो जाना या उस पर सूजन आ जाना; श्वास नलिका पर दबाव आना; श्वासनलिकामें रस या कफका संचय होना; अथवा श्वास नलीका आक्षेपजन्य संकोच हो जाना, इनमें से कोई भी एक या अधिक हेतु द्वारा प्रवेशपथमें अवरोध होनेसे नादमें परिमाण और बलका हास होता है ।

२—**श्वास प्रश्वास क्रियाकी क्षीणता**—सर्वाङ्गिक निर्बलता, पक्षाघात आदिसे वातवाहिनियोंकी निर्बलता, उरस्तोय या फुफ्फुसावरणको वातवाहिनियों द्वारा पशु कान्तरिका मासपेशियोंमें पीड़ा (Pleurodynia) जनित स्थानिक वेदना आदिसे क्षीणता हो जाने पर श्वासोच्छ्वास क्रिया क्षीण हो जाती है ।

३—**वायुकोषका योग्य प्रसारण न होना**—फुफ्फुसावरणमें रस स्राव, वक्षके भीतर अप्रकृत वृद्धि, वक्षमें विकृत रचना आदिसे वायुकोषों का योग्य प्रसारण न होने पर श्वासोच्छ्वासमें प्रतिबन्ध होता है ।

४—**विधानके बाहर प्रतिबन्ध**—वायुकोष और परीक्षकके कानके बीच में कोई तरल या कठिन पदार्थ अवस्थित होना । इसी हेतुसे मेद-ग्रस्त व्यक्तिमें क्षीण मर्मरध्वनि सुननेमें आती है ।

उपरोक्त कारण बढ जाने पर या बाह्य वस्तुसे श्वासनलिका रुद्ध हो जाने पर वायुकोषीयनाद बिल्कुल स्थगित होजाता है ।

स्वाभाविक वायुकोषीय नादकी वृद्धि होजाने पर उसे शैशवीय (Puerile) श्वासोच्छ्वास कहते हैं, अर्थात् यह आवाज बालकोंके श्वासप्रश्वासके अनुरूप होती है । वायुकी क्रिया में अधिकता होने पर वायु अधिक परिमाणमें या अधिक वेगपूर्वक प्रवेश करती है । इस हेतुसे शैशवीयनादकी उत्पत्ति होती है । यह उच्च और स्पष्ट आवाज श्वास और निःश्वास, दोनों समयमें उत्पन्न होती है । श्वासोच्छ्वास, दोनोंके स्थायीपन और उच्चतामें वृद्धि होती है; किन्तु श्वास और निःश्वास,

उभयकी दीर्घता रूप परस्पर सम्बन्धमें व्यक्तिक्रम नहीं होता । बड़े मनुष्य के लिये ऐसी आवाज व्याधि चिह्न रूप मानी है ; और बालकोंके लिये यह रोगचिह्न नहीं है ; स्वाभाविक स्वस्थावस्थाके लक्षण रूप है ।

फुफ्फुसके किसी रुग्ण स्थानके भीतर श्वासोच्छ्वास क्रियामें हास होने पर उस क्षतिके पूरणार्थ अरर स्वस्थ स्थानमें श्वासोच्छ्वास क्रिया बढ़ जाती है । उसे शैशवीय ध्वनि कहते हैं । उस क्रिया की प्रतीति रसस्त्राव होकर फुफ्फुस निरीक्षित होने या श्लेष्मा आदिके निःसरणके हेतुसे श्वास नलिका रुद्ध होजाने पर होती है ; अर्थात् ऐसे प्रसंग पर फुफ्फुसका इतर स्वस्थ अंश वेग पूर्वक कार्य करने लगता है ।

(आ) नालीयनाद ।

इनमें वंशीनाद, विवरनाद और कौप्यकनाद ; ये तीन भेद हैं । इसका सामान्य वर्णन प्रथम खण्ड पृष्ठ ८६ में किया है । शेष आवश्यक विवेचन यहाँ करते हैं ।

उरःफलकास्थिके ऊर्ध्व अंशमें भीतरकी ओर बृहच्छ्वासनलिका विभक्त होती है, उसे श्वासनलिका कहते हैं । स्वस्थ व्यक्तिके इस स्थान पर ध्वनि वाहक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर गंभीर फुत्कारवत् और कोमल, ये दो प्रकारकी ध्वनि सुनाई देती है । श्वास और निःश्वास, दोनों की ध्वनि पृथक्-पृथक् सुननेमें आती है ; अर्थात् उभय ध्वनिके बीच किञ्चित् विरामका अनुभव होता है । इनमें ग्रहीत श्वासकी ध्वनि अल्प स्थायी और निःश्वासकी ध्वनि दीर्घ स्थायी होती है । उभय ही उच्च ग्राम विशिष्ट होती हैं । इनमें भी निःश्वासोत्पन्न नादकी अपेक्षा श्वासोत्पन्न नाद तीव्रतर और अधिक उच्च ग्रामयुक्त होता है ।

इस नालीय नादमें उच्च ग्राम विशिष्ट वंशीनाद (Bronchial or Tubular), निम्न ग्राम विशिष्ट विवरनाद (Cavernous or Tracheal) तथा मध्यम ग्रामविशिष्ट (Medium-Pitched), ये ३ सामान्य अवस्थामें प्रतीत होते हैं । एवं राजयक्ष्मा की विवरावस्थामें

गू जनेके सदृश निम्नग्राम, मध्यमग्राम और उच्चग्राम विशिष्ट कौप्यकनाद (Amphoric) कर्णगोचर होता है ।

(अ) वशीनाद—(Bronchial or Tubular) यह उच्चग्रामविशिष्ट नालीयनाद फुफ्फुसोंके रुग्ण होनेपर सुननेमें आता है । फुफ्फुस खण्डप्रदाहकी द्वितीयावस्था, राजयक्ष्मामें निपीड़न और इतर कारणवश फुफ्फुसके घनीभूत अश आदि पर यह आवाज प्रतीत होती है ।

(आ) विवरनाद—(Cavernous) जो आवाज वशीनाद की अपेक्षा तीव्र, फुत्कारवत् निम्न ग्रामयुक्त और सीमाविशिष्ट सुननेमें आती है, उसे विवरनाद या बृहन्नालीय (Tracheal) श्वासोच्छ्वास कहते हैं । राजयक्ष्माकी तृतीयावस्थामें क्षयरीढ़ित अश कोमलीभूत शीर्ण होकर गह्वर हो जाने पर अथवा विद्रधि या श्वासनलिकाविस्तार हो जाने पर यह ध्वनि सुननेमें आती है । यह आवाज श्वासग्रहण और श्वासत्याग, दोनों समयमें अनुभवमें आती है ।

(इ) कौप्यकनाद—(Amphoric) खुली शीशीके मुखपर फूक मारने पर जैसी आवाज निकले; वैसी निम्न ग्रामयुक्त या धातव ध्वनिवत् बड़ी आवाज सुननेमें आवे, उसे कौप्यक नाद कहते हैं । यह नाद राजयक्ष्माकी तृतीयावस्थामें बड़े विवर होने पर एव फुफ्फुस विदारणके हेतुसे वायुपूरित फुफ्फुसावरण रोग (Pneumothorax) में सुननेमें आता है । यह आवाज श्वासोच्छ्वास क्रियामें श्वासग्रहण और त्याग, दोनों समयमें आती है ।

(इ) वायुकोष-प्रणालीय मिश्रनाद ।

फुफ्फुस विधान सामान्यतः घनीभूत होनेपर मिश्रध्वनि उत्पन्न होती है । उसे वायुकोष-प्रणालीय (Broncho Vesicular) नाद कहते हैं । यदि घनीभूत अशका परिमाण अति कम हो; तो श्वासध्वनि कुछ वंशीनाद सदृश उच्च ग्राम विशिष्ट होती है । इसमें निःश्वासध्वनि दीर्घ, उच्च और वशीवत् होती है । घनीभूत अश अपेक्षाकृत अधिक

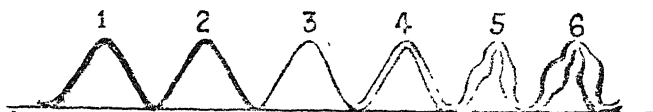
होनेपर श्वासध्वनि अपेक्षाकृत स्पष्ट वंशीध्वनिवत् और न्यून वायु कोषीय होती है; तथा निःश्वास ध्वनि इससे अधिक दीर्घ, वंशीनादवत् और उच्च ग्राम विशिष्ट होती है। फुफ्फुसखण्डप्रदाह और राजयक्ष्मा रोगमें इस मिश्रनादकी उत्पत्ति होती है।

वायुकोषीयनाद दर्शक कम्पित चित्र



- १ नादवृद्धि या शैशवावस्थामें नाद Puerile.
- २ स्वस्थ नाद (युवावस्थामें) Vesicular.
- ३ कम्पित Tremulous.
- ४ विच्छिन्न (झटित) Jerking or Cog-wheel.
- ५ तीक्ष्ण Sharp.
- ६ कर्कश Harsh.

नालीयनाद दर्शक कम्पित चित्र



- १ बृहन्नालीय Tracheal.
- २ नालीय Bronchial.
- ३ वायुकोषप्रणालीय Bronco-vesicular (उच्च ग्राम विशिष्ट)
- ४ वंशीनाद Tubular (उच्च ग्राम विशिष्ट).
- ५ विवर नाद Cavernous (निम्न ग्राम विशिष्ट).
- ६ कौप्यक नाद Amphoric (निम्न ग्राम विशिष्ट).

(ई) श्वासोच्छ्वास ताल ।

श्वासोच्छ्वासकी गति नियमपूर्वक होनेको ताल (Rhythm) कहते हैं । श्वासोच्छ्वासके भीतर स्थितिकाल या दीर्घतामें तारतम्य; जालीयनादमे श्वास और निःश्वास, उभयमें विराम; तथा विच्छिन्ननाद अर्थात् श्वासोच्छ्वास क्रिया किञ्चित् स्थगित होकर पुनः चलना (Jerking), इन बातोंका बोध इस सामञ्जस्यताके लक्ष्यसे मिलता है ।

स्वस्थावस्थामें बहुधा श्वास ग्रहणकी अपेक्षा निःश्वास दीर्घस्थायी होता है, किन्तु अनेक स्थानोंमें दोनों समकाल स्थायी होते हैं, और क्वचित् निःश्वास कालकी अपेक्षा श्वासकाल अधिक हो जाता है । क्षय-कीटाणु संचय होनेपर इस तरह विपरीत हो जाता है ।

विच्छिन्ननाद—(Jerking Murmur) क्वचित् श्वासोच्छ्वास गति अविरत न चलकर बीच-बीचमें रुक जाती है । फिर श्वासका लगकर तरङ्गके समान चलने लगती है; उसे विच्छिन्न या तरङ्गित नाद कहते हैं । यह किसी व्याधि विशेषका निर्णायक नहीं हैं । बहुधा फुफ्फुसके अग्रभाग (Apex) पर इस नादके सुननेसे राज-यक्ष्माकी प्रथमावस्थाका अनुमान होता है ।

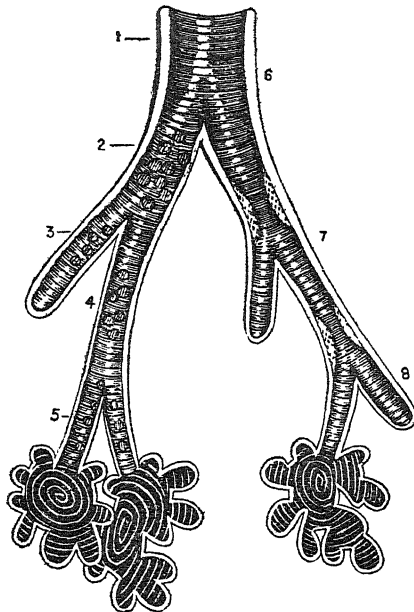
(उ) आगन्तुक ध्वनि ।

दो कलाओंका घर्षण होनेपर घर्षण आवाज (Friction rale) उत्पन्न होती है । एव श्वास मार्गमें श्लेष्मा या इतर तरल पदार्थ सङ्गृहीत होनेपर श्वासोच्छ्वास ध्वनिके साथ एक प्रकारकी विजातीय ध्वनि (Accompaniment Sound) अर्थात् आगन्तुक सहयोगी ध्वनि उत्पन्न होती है । इस अस्वाभाविक ध्वनिमें मुख्य-दो भेद हैं । शुष्क (Dry-Rhonchi) और आर्द्र (Moist-Crepitations) । फिर उसमें निम्नानुसार भेद होते हैं ।

शुष्क-१—उच्चग्रामयुक्त वेणुवादनवत् (Sibilant or High-pitched) ।

आगन्तुक ध्वनि (Rales) दर्शक कल्पित चित्र ।

इस चित्रमें दाहिनी ओर श्वासनलिका की सूक्ष्मताके हेतुसे उत्पन्न शुष्क आगन्तुक ध्वनि, तथा बांयी ओर श्वासनलिकामें तरल पदार्थ वर्तमान होनेसे उत्पन्न आर्द्र आगन्तुक ध्वनि दर्शानेका प्रयत्न किया है ।



१ आर्द्रध्वनि Moist-Crepitations.

२ से ४ बृहद् बिम्बस्फोटन वत् ध्वनि Mucous Crepitant or Bubbling large.

५ लघु बिम्बस्फोटन वत् ध्वनि Subcrepitant or Bubbling small.

६ शुष्क ध्वनि Dry-Rhonchi.

७ नासास्वर वत् या कपोत कृजनवत् ध्वनि Sonorous.

८ वेणुवादनवत्-शी शी सदृश ध्वनि Sibilant rale.

२—मध्यम ग्रामयुक्त ।

३—निम्न ग्रामयुक्त नासास्वरवत् (Sonorous or Low-pitched) ।

आर्द्र-१—ठेपन शब्द रहित मंद (Fine), मध्यम (Medium), बृहत् (Coarse) ।

२—ठेपन ध्वनि सह मध्यम और बृहत् ।

पुनःस्थान भेदसे इन नादोंके निम्नानुसार भेद हो जाते हैं ।

(१) श्वास नलिकामें उत्पन्न आगन्तुक ध्वनि (Bronchial Rale) इसमें शुष्क और आर्द्र दो प्रकार हैं ।

अ—शुष्क उत्क्रम्यन सह-१—नासास्वरवत्—Sonorous ।

२—वेणुवादनवत्—Sibilant ।

आ—आर्द्र बिम्बस्फोटनवत्-१—बृहद् बिम्ब स्फोटन श्लैष्मिक—(Mucous Crepitant) ।

२—क्षुद्र बिम्बस्फोटन—Subcrepitant) ।

(२) वायुकोषोंमें उत्पन्न आगन्तुक ध्वनि ।

अ—द्रवध्वनि केशमर्दनवत्—Crepitant ।

आ—कटकट् ध्वनि—Crackling ।

(३) विवरोद्भूत आगन्तुक ध्वनि ।

अ—गम्भीर द्रवध्वनि—Gurgling ।

आ—धातव ध्वनि—Metallic tinkling ।

(४) फुफ्फुसावरणकी दो कलाओंका घर्षण होनेपर घर्षणध्वनि (Pleural Friction) उत्पन्न होती है ।

(५) त्रिविध कटकट् ध्वनि शुष्क (Dry), मध्यम (Medium) और मंद (Small-) सुननेमें आती है ।

सीत्कारध्वनि—Post tussive suction)—राजयक्ष्मा रोगमें विवर बन जानेके पश्चात् उसमें कफ रहता है, वह कफ निकलजाने पर

वायु उसमें पुनः प्रवेश करती है, तब सीत्कार-ध्वनि (Post-tussive) की उत्पत्ति होती है । जिस तरह रबर की गेंद को दबाकर वायु निकाल देनेके पश्चात् फिरसे वायु प्रवेश करनेके समय जैसी आवाज आती है; वैसी आवाज भासती है ।

श्लेष्म आदि द्वारा श्वासनलीकी सलग्न दीवार, श्वास ग्रहणके समय वायु प्रवाहके वेगसे पृथक् होती है, इस हेतुसे श्वास ग्रहणकाल में जिस आगन्तुक आवाजकी उत्पत्ति होती है । उसके शुष्क और आर्द्र, ये दो भेद हो जाते हैं ।

शुष्क आगन्तुक ध्वनिमें भी दो उपभेद हैं । शुष्कनासाध्वनि अर्थात् कपोत ध्वनिवत् निम्न ग्रामयुक्त आवाज (Sonorous) और वेणु-वादन ध्वनि अर्थात् 'शी शी' सदृश उच्च ग्रामयुक्त आवाज (Sibilant) ये दोनों प्रकार की ध्वनि श्वास नलिकामे घन श्लेष्मा चिटक जाने पर और श्लैष्मिक कलामें शोथ आने पर उत्पन्न होती हैं ।

आर्द्र ध्वनिमें श्लैष्मिक (Mucous) ध्वनि, द्रवध्वनि (Crepitant) और गौण द्रवध्वनि (Subcrepitant), ये त्रिविध भेद हैं । श्लैष्मिक आवाज बृहद् गह्वर पर और द्रवध्वनि सूक्ष्म गह्वर पर आती है, तथा गौण द्रवध्वनि गृहीत श्वासके साथ सुननेमें आती है । इनके अतिरिक्त फुफ्फुस खण्ड प्रदाहकी प्रथमा और तृतीयावस्थामे तथा फुफ्फुस शोथ (Oedema) में यह आवाज उत्पन्न होती है । एवं किसी व्याधि या निर्बलताके हेतुसे दीर्घकाल तक सोता रहने से भी फुफ्फुसके पश्चात् और निम्न अंशमें गम्भीर और दीर्घ श्वासके समय यह आवाज सुनने में आती है ।

बृहद् विवर पर और फुफ्फुस विधानके घनीभूत अंश पर उच्च ग्राम विशिष्ट वादनवत् धातव ध्वनि (Metallic tinkling rale) सुनने में आती है । विशेषतः धातव ठेपन ध्वनि (Metallic Percussion) और कौप्यक श्वासोच्छ्वास इसके सहवर्त्ती होते हैं ।

प्रमुख अस्वाभाविक और आगन्तुक ध्वनि ।

अंक	ध्वनि	श्वसोच्छ्वास सम्बन्ध	हेतु और स्थान	जाति	सम्प्राप्ति
१	उत्कम्पन (Vibrating)	अ-शुष्क नासाध्वनि श्वसोच्छ्वास, (Sonorous) उभय कालमें विशेषतः निःश्वास काल में ।	आलेप, संपीडन या शुष्क कफ आदिसे श्वसनलिकाका संकोच होना । इसके साथ वक्षः की दीवारमें कम्पन (Premitus) भी होता है । श्वसनलिका संकोच, श्वसनलिका में कफ चिटक जाना ।	कपोतध्वनिवत् निम्न ग्राम विशिष्ट या अनुच्च कम्पन । खरीटे मारने (Snore) सदृश । 'शीथी' शब्दश ध्वनि या सर्पके श्वासग्रहण सदृश उच्च ग्राम विशिष्ट ।	कास रोग और तमक श्वासमें । श्वसनलिका विस्तार, कास, तमक श्वास और क्षय कीटाणुओंकी प्रारम्भावस्था में ।

२ बिम्ब स्पोटनवत् (Bubbling)

अ-बृहद् बिम्ब-उभय कालमें ।	श्वसनलिकासे विबरका	बड़े बुदबुदे फूटने	अधिक परिमाणमें
----------------------------	--------------------	--------------------	----------------

स्फोटनवत् (Bubbling large or Mucous)	सम्बन्ध होने पर, उसमें रक्त, पूय या रक्तस संचित होकर वायुकी गति होने पर ।	के समान ।	कफनिःसरण होने पर, कास रोगमें रक्तसग्रह (Conge- stion) होनेपर ।
आ-बुद बिम्ब- स्फोटनवत् (Bubbling small or submucous)	कफसलग्न श्वास प्रणालिकामें से वातप्रवाहण । श्वास प्रणा- लिकाके कास रोगमें फुफ्फुसके निम्न प्रदेशमें । यक्ष्मा रोगकी प्रथमावस्थामें फुफ्फुसके ऊर्ध्व- भागमें । न्युमोनियाकी उप- शमावस्था (Resolution) में विस्तृत स्थान पर ।	छोटे बुदबुदे के फूटने सदृश अस्- मान ध्वनि ।	श्वास प्रणालिकामें कास (Capillary- Bronchitis), राजयक्ष्माकी प्रथ- मावस्था और फुफ्फु- सखण्डप्रदाह की उपशमावस्था में ।
इ-गम्भीर बिम्बस्फोटन (Gurgling)	उभय कालमें । प्रवाहण ।	फूटे बर्तनमें से जल टपकने या बहुत बड़े बुदबुदे फूटनेके समान गम्भीर धर्-धर्- ध्वनि ।	राजयक्ष्मामें विवर उत्पन्न होने पर । श्वासनलिका विस्तार या बृहच्छ्वासनलिका और फुफ्फुसावरणीय कला संयोजक (Bro

ncho-Pleural)

स्थान पर नाड़ी-
व्रण होनेसे ।

३ कट्-कट् ध्वनि
Crackling

आ-सूक्ष्म कट्कट् विशेषतः श्वासकाल
ध्वनि (Small में और कुछ निःश्वास-
Crackling कालके प्रारम्भमें ।

यह वक्षःस्थलमें सर्वत्र
सुननेमें आती है । विशेषतः
श्वासप्रणालिकामें कफ या
तरल होने पर, कारण
अनिर्दिष्ट ।

शुष्क, लघु और
लगभग केशमर्दन
वत् ध्वनि ।

फुफ्फुसमें संचित
कीटाणुओंके चारों
ओर फैल जाने पर
या फुफ्फुसमें मृदुता
आने पर ।

आ-शुष्क कट्- केवल श्वास ग्रहण
कट् (Dry कालमें ।
Crackling)

फुफ्फुसके संयोजक तन्तुओं
के टूटने पर ।

अल्पस्थायी, शुष्क,
तीक्ष्ण और बड़ी
आवाज ।

राजयक्ष्माकी द्विती-
यावस्थामें और फुफ्फु-
स कोथ होने पर ।

इ-मध्यम कट्- केवल श्वास ग्रहण
कट् (Medi- कालमें ।
um Crao-
ckling)

अर्द्धकास्थिके ऊपर या नीचे ।
कारण अनिर्दिष्ट ।

यक्ष्मारोगमें दृढ़ अंश
के कोर्मलीभूत होने
का प्रारम्भ होने पर
तथा क्षय कीटाणुओं
के फैलने पर ।

वायुकोष या श्वास प्रणालि-
काओंमें द्रवोत्पन्न होने पर ।
प्रदाह युक्त वायुकोषों का
विस्तार होनेसे दीर्घश्वास लेने
और खाँसी आने पर आवाज
प्रखर होती है ।

केशमर्दनवत् सूक्ष्म,
तीक्ष्ण, शुष्क
अविराम ध्वनि ।
कुपफुल्लण्डप्रदाह
की प्रथमावस्थामें
जब कीटाणु अस्त
स्थानोंके चारों ओर
तथा कुपफुल्ल शोथ
(Oedema) में ।
कुपफुल्लण्ड प्रदाह
की उपशमावस्था
में और राजयक्ष्मा
की वृद्धि होने
पर ।

श्वास और निःश्वास,
उभय कालमें ।

दो हाथ विसने पर
उत्पन्न ध्वनि के
सदृश । प्रारम्भ
में सिग्घ फिर
शुष्क घर्षण ध्वनि ।
उरस्तोय की प्रथ-
मावस्था में तथा
हृदावरण कलाका
प्रदाह होने पर ।

सूक्ष्म श्वास प्रणालिकाओंमें
संचित तरल द्रव्यमें वायु
प्रवेश होने पर ।

अल्प, आर्द्र,
असमान स्थायित्व
युक्त केशमर्दनवत्
ध्वनि ।

हृदयावरण या कुपफुल्लण्ड
की कलाओंका परस्पर घर्षण
होने पर । सामान्यतः स्तन
प्रदेश, पार्श्व प्रदेश, अस्-
फलकके निम्न कोनेके समीप ।

इनके अतिरिक्त विविध ध्वनि सुननेमें आती हैं; और कतिपय चिह्न मिलते हैं । इनमें मुख्य चार प्रकार हैं । (१) मंदघातव ध्वनि, (२) कौप्यक प्रतिध्वनि, (३) घण्टानाद और (४) बस्तिध्वनि ।

(१) मन्द घातव ध्वनि—Metallic tinkling अर्थात् घातु या चीनी मिट्टीके पात्रमें रेतके कण डालने पर उत्पन्न टन्-टन् आवाज सदृश ध्वनि । यह श्वासोच्छ्वास (दोनों समयमें), कण्ठस्वर और कासमें सुना जाता है । यह गह्वरकी निर्णायक ध्वनि है । फुफ्फुस विवर और वातभृत फुफ्फुसावरणमें से आती हैं ।

(२) कौप्यक प्रतिध्वनि—Amphoric echo अर्थात् कण्ठस्वर, कास और श्वास प्रश्वासकी अत्यधिक गंभीर प्रतिध्वनिविशिष्ट आवाज । बड़ी बोतल पर मुँह रखकर फूँक मारने या खांसने पर वायुके उत्कम्पनके हेतुसे गुंजनके समान सुननेमें आती है । सामान्यतः यह राजयक्ष्माकी अन्तिमावस्था और वातभृत फुफ्फुसावरण विकारमें श्रुत होती है ।

(३) घण्टानाद—Bell sound—छाती पर एक रुपया रख उस पर दूसरे रुपयेसे बजाने और छातीकी पिछली ओर कान रख कर सुननेसे घण्टाध्वनि सदृश आवाज सुननेमें आती है । यह आवाज केवल वातभृत फुफ्फुसावरण विकारमें सुननेमें आती है ।

(४) बस्तिध्वनि—संदोलन—Splashing succussion or Hippocratic sound फुफ्फुसावरणमें तरल भर जाने और वायु रहने पर इस आवाजकी उत्पत्ति होती है । रोगीको हिलावे और पीठकी ओर कान लगाकर सुने; तो मसकमें जल चलनेके समान आवाज आती है । यह आवाज रसवातपूरित उरस्तोय (Hydrothorax) और पूयवातपूरित उरस्तोय (Pyopneumothorax) रोगमें उत्पन्न होती है । इसका वर्णन प्रथमखण्डके पृष्ठ ६० में किया है ।

(ऊ) शब्द प्रतिध्वनि ।

यह ध्वनि फुफ्फुसके ऊर्ध्वभागमें तीक्ष्ण और फुफ्फुसके निम्न प्रदेश-पर अस्पष्ट होती है । इसका वर्णन प्रथमखण्डके पृष्ठ ८७ में किया है । रोगी द्वारा अति मन्द स्वरसे उच्चारित वचन भी बृहच्छ्वास नलिकापर यन्त्र रखकर सुननेसे अति स्पष्ट सुन पड़ता है । यह तीव्र प्रतिध्वनि के अनुरूप हैं ।

तीव्र प्रतिध्वनि—Pectoriloquy—रोगी द्वारा कानाफूँसीके सदृश उच्चारित शब्द राजयक्ष्मामें फुफ्फुस विवरपर यन्त्र रखकर सुननेसे अति स्पष्ट सुनाई देता है, उसे तीव्र ध्वनि कहते हैं ।

मद प्रतिध्वनि—Bronchophony—नीरोगी मनुष्यके श्वास-नलिकाकी बड़ी शाखा (Bronchi) पर यन्त्र रख उच्चारित शब्दको सुननेसे आवाज अपेक्षाकृत अस्पष्ट, मन्द और दूरस्थित समान भासती है, उसे मन्द प्रतिध्वनि कहते हैं । फुफ्फुसावरणकी स्थूलता, फुफ्फुस-खण्डप्रदाह और राजयक्ष्मा व्याधिके भीतर फुफ्फुसके घनीभूत अंशपर यह आवाज कर्णगोचर होती है ।

छागनिदान—Aegophony-Aegobronchophony—अर्थात् बकरीके बोलनेके सदृश उच्च ग्रामविशिष्ट कम्पित आवाज विशेष परिवर्तित अवस्थामें श्रुत होती है । यह अनुमान है कि, इसकी उत्पत्ति फुफ्फुस खण्डप्रदाहके साथ फुफ्फुसावरणमें पतला तरल भरनेसे होती है ।

नादलोप—Feeble or Absent—कभी-कभी श्वासयन्त्रस्थ-नादका हास या लोप हो जाता है । यह आन्तरिक विधानमें रसस्त्वाव होनेपर या श्वासनलिकामें कोई अवरोध आकर कण्ठस्वर दब जाने-पर होता है ।

सहवर्ती भौतिक चिह्न ।

ठेपन	श्वसोच्छ्वास	शब्द प्रतिध्वनि	स्वरोत्कम्पन	आभ्यन्तरिक श्वसथा
रिक्त	वायुकोषीय मर्मर या इसका रूपान्तर	स्वाभाविक	स्वाभाविक	फुफ्फुस तन्तु बहुधा स्वरथ
बड़	अ-नालीय या कर्कश श्वसोच्छ्वास ।	दूरत्वमय मन्द ध्वनि	वर्धित	फुफ्फुस विधानमें घनीभूति
सौषिर	आ-श्वसोच्छ्वास लोप	लोप	ह्रास या लोप	फुफ्फुसावरणमें रक्तस्वाव
	उत्पत्ति अनुसार विवरनाद या क्षीण श्वासोच्छ्वास	अनिश्चित वाक् प्रति-ध्वनिका ह्रास	अनिश्चित, विशेषतः ह्रास	विवर होना, वायुकोषके अधिक प्रसारण युक्त वायु आवद्ध होना, या वायुके परिमाणकी वृद्धि होना ।
कौप्यक या धातव	कौप्यक या धातव	कौप्यक या धातव	ह्रास	स्थिति स्थापक दीवार वेष्टित विवर
पात्रभंगवत्	विवरनाद	विवर ध्वनि	अनिश्चित	श्वासनलिकासे विवरका सम्बन्ध ।

कास ।

कासकी उत्पत्ति विविध स्थानोंके विकारसे होती है । नासिका, स्वरयन्त्र, फुफ्फुस और श्वासयन्त्रसे सम्बन्ध बाले इतर आशयोंके विकार सेखाँसी उपस्थित होजाती है । विद्यार्थियोंके बोधकी शृद्धिके लिये इन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं ।

नासाभ्यन्तर विकारज कास—नासाभ्यन्तरीय क्लेद (कफ) प्रस-
निका या स्वरयन्त्रमे गमन करने पर कास उत्पन्न होजाती है । इस
हेतुसे नासामार्गकी अवरोधक व्याधि और प्रतिश्याय आदि पीड़ाएँ
कासकी उत्पत्ति कराती हैं, किन्तु यह नासिकाके आक्रान्त होने पर
किसी विशेष अवस्थाके निर्णायक लक्षण रूप नहीं है । यदि नासारन्ध
अति प्रसारित हो (जैसी नासिकाकी श्लैष्मिककलाके प्रदाह युक्त शीर्णता—
Atrophic Rhinitis—विकारमें होता है), तो उग्रता उत्पादक
पदार्थ सरलतापूर्वक प्रवेश करके कासको उत्पन्न करा देते हैं ।
विवर्धन जनित (Hypertrophic) और नासापश्चादंशके विकार-
जनित (Post Nasal) वेदनामें प्रतिफलित कास उत्पन्न होती है ।
ऐसे प्रसंगोपर नासिकाके भीतर परीक्षा विशेष रूपसे करनी चाहिए ।
इसकी परीक्षा नासावीक्षण यन्त्र (राइनोस्कोप—Rhinoscope)
से की जाती है ।

इस तरह कण्ठ प्रदेश (स्वरयन्त्र और श्वासनलिकाके ऊर्ध्व
प्रदेश) की परीक्षार्थ कण्ठाग्रवीक्षणयन्त्र (लेरिङ्गो स्कोप—Laryngo-
scope), प्रसनिकाकी पीछेकी दीवारके लिये कण्ठपृष्ठवीक्षणयन्त्र
(लेरिङ्गेन्डो स्कोप—Laryngendoscope) तथा स्वरतन्त्रीकी
परीक्षार्थ स्वरतन्त्रीवीक्षणयन्त्र (लेरिङ्गोस्ट्रोबोस्कोप—Laryngostro-
boscope) आदि-आदि यन्त्रोंको उपयोगमें लिया जाता है ।

स्वरयन्त्रविकारज कास ।

इस प्रकारकी कासके स्वभाव और प्रबलताके प्रति लक्ष्य रखने पर

सम्प्राप्तिकी विशेष अवस्था अवगत हो जाती है । स्वरयन्त्रविकृतिजनित इस कास रोगमें मुख्यतः निम्नानुसार ५ विभाग होते हैं ।

शुष्क कास—(Dry Cough) आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह रोगमें प्रकाशित होती है । इस कासका आवेग बहुधा अविराम होता है । वार्त्तालाप करने, तरल द्रव्य निगलने और दीर्घ श्वास ग्रहण करने पर यह कास बढ़ जाती है । यह शुष्क कास बालकोंको अकस्मात् कांसी पात्रके ध्वनिवत् या धातव शब्द युक्त सां सां शब्द विशिष्ट होती है । इसे डाक्टरीमें गलौघ-कास (Croup Cough) कहते हैं । यह कास आक्षेप सह स्वरयन्त्रप्रदाह (False Croup) और शोथ सह स्वरयन्त्र प्रदाह (Laryngitis with Oedema) में प्रतीत होती है ।

(२) **शुष्क कर्कश कास**—यह चिरकारी स्वरयन्त्रप्रदाह रोगमें उत्पन्न होती है ।

(३) **हुपध्वनियुक्त कास—(Whooping cough)** काली खांसीमें कास चलने पर श्वास ग्रहणकालमें 'हुपहुप' शब्द सुन पड़ता है । विशेषतः कुछ समय रह-रह कर पुनः पुनः स्वल्पस्थायी प्रबल कासके पश्चात् यह ध्वनि निकलती है । यह रोग आक्षेप और द्रुताक्षेप संयुक्त होता है । एवं कासके तीव्र वेगके पश्चात् अनेक बालकोंको वमन हो जाती है ।

(४) **अवरोधज कास**—यह कास स्वरयन्त्रकी आक्षेपसह श्लैष्मिक कला प्रदाह (Membranous laryngitis) और शोथज स्वरयन्त्र प्रदाह (Oedematous laryngitis) के हेतुसे दमन होने, या नली के अवरोध होने पर इस प्रकारकी कास उत्पन्न होती है ।

(५) **प्रतिफलित कास—(Reflex cough)** शारीर विधानमें किसी भी प्रकारका स्थानिक परिवर्त्तन न होने पर भी वातबाहिनियोंमें उत्तेजना होकर अनेक बार प्रतिफलित खांसी उत्पन्न होती है ।

इस कासके वेगभेदसे दो प्रकार होते हैं । अकस्मात् आवेग युक्त

(पेरोक्सिस्मल-Paroxysmal) और अविराम नियमित आवेगयुग्म (रिथमिकल-Rhythmical) ।

१. सहसा आवेगयुक्त कास—यह कास सहसा प्रबल वेगसे उपस्थित होती है । रोगी इस वेगका दमन किसी भी प्रकारसे नहीं कर सकता । यह कास स्वतः बन्द हो जाती है । फिर कुछ घण्टोंके पश्चात् पुनः प्रकाशित होती है । इससे कफ नहीं निकलता ।

२. अविराम नियमित आवेगयुक्त कास—इस कासका वेग प्रबल नहीं होता; किन्तु यह कास नियमित मर्यादामे न्यूनाधिक आवाज सह बार बार चलती रहती है । भोजनके समय और वार्त्तालाप करने पर खासी आती है । निद्रावस्थामें बिल्कुल शान्त रहती है । कण्ठवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर किसी भी प्रकारकी विकृति प्रतीत नहीं होती । कण्ठरोहिणी रोग (Diphtheria) के पश्चात् प्रजनन यन्त्रका विकार वर्त्तमान होने पर, यौवनावस्थामें पाण्डु अथवा इलीमक (Anaemia or chlorosis), ओजक्षय (Neurasthenia) या अपतन्त्रक (Hysteria) रोग होने पर इस प्रकार की खासी दृष्टि-गोचर होती है । इस प्रकारके कास रोगमें बहुधा ध्वनि ऊँची होती है ।

फुफ्फुसविकारज कास ।

जब तरल या कठिन पदार्थ, कफ या इतर द्रव्य श्वासपथमें आ जाता है; तब श्वासोच्छ्वास क्रियाका केन्द्र स्थान, जो सुषुम्णा शीर्ष (Medulla oblongata) में अवस्थित है, उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है । फिर प्राणदा नाड़ियों (Vagus nerves) की शाखाएँ उत्तेजित होने पर कासकी उत्पत्ति होती है । दीर्घ श्वास ग्रहण और स्वर-यन्त्रद्वारके रुद्ध होने पर भीतरमें वेग उत्पन्न होकर स्वरयन्त्रमेंसे बलपूर्वक सत्वर निःश्वास रूप वायु बाहर निकलती है । साथ-साथ श्वासमार्गमें रहा हुआ पदार्थ भी बहिष्कृत हो जाता है ।

यदि स्वरयन्त्र और श्वासनलिकामें उग्रता आती है, तो स्वरयन्त्रस्थ

उत्तरा नाड़ियों (Superior Laryngeal Nerves) में उत्तेजना आकर अति प्रबल खांसी चलने लगती है। श्वासनलिका जिस स्थानपर दो भागोंमें विभक्त हुई है; उस स्थानकी श्लैष्मिककलामें उग्रता या फुफुस विधानमें उग्रता आनेपर कास उपस्थित होती है।

इनके अतिरिक्त श्रुति नाड़ी अर्थात् कर्ण विवरस्थ प्राणदा नाड़ियोंकी शाखाएं (Auditory Nerves) जहाँ व्याप्त हैं, उस स्थानमें उत्तेजना होकर कास (Ear Cough) चलने लगती है। नासिकाके भीतर स्थान विशेषमें उत्तेजना होनेपर कास उत्पन्न होती है। ग्रसनिका, स्वरयन्त्र, श्वासनलिका और उसकी बड़ी शाखामें उग्रता वर्तमान होनेपर सहसा वेगपूर्वक दीर्घकास उपस्थित होती है। फुफुसके चेतना विधायक वातनाड़ियोंमें उत्तेजना होनेपर ठहर-ठहर कर आनेवाली अल्पस्थायी कास (Hacking Cough) उत्पन्न होती है।

कास प्रकार—कासमें अनेक प्रकार हैं। इनमें कतिपय प्रकारककी कास रोगविनिर्णयमें विशेषरूपसे सहायता करती है।

खांसी चलनेपर यदि इस तरह अनुमान हो कि, श्वासमार्गमें कुछ भी तरल पदार्थ नहीं हैं, तो वह शुष्क कास (Dry Cough) कहलाती है। एवं श्वासमार्गमें तरल पदार्थ वर्तमान होनेपर आर्द्र कास (Wet Cough) कहलाती है। श्वासमार्गमें तरल होनेका अनुभव खांसीकी आवाज परसे हो जाता है। जिस कासके साथ प्रचुर परिमाण में कफ निकले, वह शिथिल कफ कास कहलाती है।

कासमें अनैच्छिक और ऐच्छिक, दो विभाग हैं। प्रतिफलित क्रिया द्वारा अनैच्छिक कास उत्पादित होती है। बच्चोंको सामान्यतः अनैच्छिक कास होती है। ऐच्छिक कास इच्छाके अनुवर्त्ती होती है। ऐच्छिक कास समयपर कुछ अंशमें इच्छाके अधीन और कुछ अंशमें स्वतः उत्पन्न होती है।

शुष्क व्यवच्छिन्न कास—(Hacking Cough) यह कास सामान्यतः राजयक्ष्माकी प्रथमावस्थामें लक्षित होती है। यदि इस ठहर-

ठहर कर चलनेवाली कासके साथ-साथ ज्वर, शारीरिक वजनका ह्रास और शीर्षता हो, तो यह राजयक्ष्माके प्रारम्भकी सूचना करती है । इसे तोदक कास (Irritable Cough) भी कहते हैं ।

आशुकारी और चिरकारी उरस्तोयमे भी यह कास अनुभवमे आती है । यह कास रक्तोत्सर्गके परवर्ती भी होती है । कभी-कभी चिरकारी ग्रसनिका प्रदाह (Chronic Pharyngitis) और गल गुण्डिका (Uvula) की वृद्धि होने पर यह कास उपस्थित होती है । श्वासयन्त्र के विकारके अतिरिक्त इतर शारीरिक यन्त्रोमे उग्रता पहुँचने पर क्वचित् शुष्क कास प्रतीत होती है । यथा—आमाशयमें कुमि होने पर उग्रता आकर प्रतिफलित कासकी उत्पत्ति हो जाती है । उसे आमाशय विकारज कास (Stomach Cough) कहते हैं ।

अवरुद्ध कास—(Short and suppressed Cough) आशुकारी उरस्तोय रोगकी प्रथमावस्थामे अल्पस्थायी, शुष्क और सरुद्ध कास होती है, वह कृच्छ्रकास और अवरुद्ध कास कहलाती है । फुफुस-प्रदाह, पशु'कामध्य (Intercostal) वातशूल, पशु'काकी मास पेशीमे पीड़ा (Pleurodynia) और क्वचित् हृदावरण प्रदाह और उदर्याकला प्रदाह रोगमे इस प्रकारकी खाँसी चलने लगती है ।

प्रतिफलित कास—(Reflex Cough) यह कास प्राणदा नाडिबोके तन्तुसे सम्बन्ध वाली इन्द्रियो (आमाशय, हृदय, फुफुस, यकृत आदि) मे उत्तेजना होने पर प्रतिफलित क्रिया होकर उत्पन्न होती है । यह पुनः-पुनः सत्वर प्रबल वेगपूर्वक चलती है । काली खाँसीमे इस प्रकारकी कास लक्षित होती है । स्वरयन्त्र द्वार और श्वासनलिकाके प्रदाह मे आक्षेपवशतः यह प्रकाशित होती है ।

आवेगयुक्त आर्द्र कास—(Paroxysmal wet Cough) यह कास श्वासमार्गमे चिकना कफ अवस्थित होने पर उपस्थित होती है । श्वासनलिका प्रदाह (Bronchitis), श्वासनलिका विस्तार (Bronchiectasis), राजयक्ष्माकी द्वितीया और तृतीयावस्था, फुफुसावरण

विद्रधि (*Empyema*) का फुफ्फुसमें फूटना और यकृद्विद्रधि आदिमें यह कास प्रतीत होती है । कभी यह कास उरस्थानमें अर्बुद या श्वासनलिका पर ग्रन्थि बढ़नेसे भी उपस्थित होती है ।

धातव ध्वनिवत् कास—(*Brassy Cough*)—स्वरयन्त्र विकार ग्रस्त न होने पर धातुवादनवत् ऊँची आवाज सहित खोसी चलती है; और स्वरयन्त्र आक्रान्त होने पर फूटे हुए बरतनकी कर्कश आवाज युक्त कास प्रतीत होती है । स्वरयन्त्र प्रदाह रोगमें भग्न, शुष्क और कर्कश कास होती है; तथा स्वरयन्त्र प्रदाहमें विकृत कला वर्तमान होने पर या श्लैष्मिक कलाके नीचे अधिक रसोत्सृजन होने पर प्रारम्भमें कासकी ध्वनि नहीं निकलती, उसे अपूर्ण या व्यर्थ (*Abortive*) कास कहते हैं ।

इसके अतिरिक्त उग्र, आकस्मिक, धातुगात्रके स्वरसदृश, कष्टपूर्वक, दीर्घ श्वासोच्छ्वास संयुक्त कासको गलौघ कास (*Croup Cough*) कहते हैं । यह व्याधि आशुकारी या चिरकारी स्वरयन्त्र प्रदाह रोगमें होती है । कभी-कभी इसका प्रारम्भ अधिजिह्विका (*Epiglottitis*) के नीचेसे होता है; और स्वरयन्त्र तथा श्वासनलिकाको व्याप्त कर लेता है । फिर आगे श्वासनलिकाके विभाग स्थान पर्यन्त फैल जाता है ।

शुनःस्वनी—(*Barking Cough*) इस कासमें कुत्तेके भोंकने के सदृश आवाज निकलती है । वातवहा नाड़ियों की विकृतिसे होने वाली ऊँची आवाज वाली इस विशेष कासको अपतन्त्रक कास (*Hysterical Cough*) भी कहते हैं ।

तुरीवादनवत् कास—विद्रधि, अर्बुद आदि द्वारा श्वास नलिका पर दबाव आनेसे एक प्रकारकी तुरी (*Trumpet*) के आवाज सदृश ऊँची ध्वनियुक्त कास प्रतीत होती है ।

गम्भीर कास—राजयक्ष्मा रोगकी तृतीयावस्थामें एक प्रकारकी क्षीण, गंभीर आवाजवाली कास लक्षित होती है ।

अतिक्षीण कास—सुषुम्णा की वेदना और अभिघातज विकारके

हेतुसे श्वासोच्छ्वास कराने वाली मासपेशिया पक्षाघात ग्रसित होती है, तब अति क्षीण कास उपस्थित होती है । इस कासमें कफ नहीं निकलता ।

निशा कास—(Night Cough) यह कास कव्वा (Uvula) लटक जाने पर रात्रिको अधिक त्रास देती है । इस हेतुसे इसे निशाकास कहते हैं ।

कफ ।

स्वस्थावस्थामे श्वास यन्त्रकी श्लैष्मिक कलामे से स्वाभाविक रीतिसे एक प्रकारका तरल पदार्थ निकलता रहता है, जो कला को आर्द्र रखता है । उसे कफ (म्यूसिन—Mucin) कहते हैं । यह थोड़े ही समयमें गाढ़ा हो जाता है । यह द्रव गोंदके प्रवाही सदृश होता है । यदि धूल आदि पदार्थका श्वासनलिकामे प्रवेश हो जाय, तो वह श्वासनलिका की दीवारमे रहे हुए इस द्रवमे रुक जाता है । फिर वह कफके साथ बाहर निकल जाता है । कितनेक सूक्ष्म तरङ्गोत्पादक कोषाणु (सिलिया—Cilia) श्लैष्मिककलामे जो सर्वदा बाहरकी ओर स्पन्दित होते हैं, इनकी तरङ्गगतिके प्रभावसे धूल और अधिक परिमाणमें निःसृत कफ आदि बाहर निकलते रहते हैं ।

रक्तरूप कफ—कासमे जो पदार्थ निकलता है उसमें अनेक प्रकार हैं । क्वचित्कासमें केवल रक्त निकलता है । सामान्यरूपसे यक्ष्मारोगमें इसप्रकार की कास होती है । कोथजन्य या शल्यनिरोधजन्य अन्तर रक्त-साव (Hemorrhagic Infarct), फुफ्फुस सन्यास (Pulmonary Apoplexy), हृदयके द्विपत्र कपाटका अवरोध, श्वासनलिका विस्तार (Emphysema) आदि रोगोंमें कास आनेपर रक्त निकलता है । इनमेंसे फुफ्फुस सन्यासके अतिरिक्त रोगोंमे निर्गत रक्तका परिमाण बहुधा स्वल्प होता है । एव त्रिदोषज और कफरक्तज रक्तपित्त (Purpura and Scurvy) तथा पीतज्वर (Yellow Fever) में रक्तोत्कास हो सकती है । श्वासनलिकामें धमन्यबुंद (Aneurysm) के विदीर्ण

होनेपर रक्तस्राव होने लगता है । किसी यन्त्र की विकृति न होनेपर भी रक्तोत्कास हो सकती है ।

यदि श्वासपथके किसी स्थानमेंसे रक्त निकल रहा हो, तो इस बातका भी निर्णय करना चाहिए । फिर रक्तस्रावके स्थान, नासारन्ध्र, कर्ण, आमाशय, मुखाम्यन्तरस्थ, दांत, कण्ठ आदिका प्रभेद कर लेना चाहिए ।

रक्तमिश्रित कफ—रक्तमिश्रित कफ बिल्कुल पृथक् है । आशुकारी फुफुस प्रदाह (*Pneumonia*) में विशेष प्रकारका अर्ध स्वच्छ और अर्ध रक्तमिश्रित विलक्षण, चिकना कफ निकलता है । इस कफमें रक्त स्वल्प रहता है । फिर कुछ दिनोंके पश्चात् कफ निकलता है वह कम चिकना और अधिक रक्तमिश्रित होता है । श्वासनलिका प्रदाह (*Bronchitis*) जन्य कास रोग की प्रथमावस्थामें कफमें किञ्चित् रक्त प्रतीत होता है । फुफुसस्थ कर्करूप (*Carcinoma*) होने पर कफ तारयुक्त चिकना और रक्त मिश्रित निकलता है । फुफुसखण्ड प्रदाह (*न्युमोनिया*) रोगमें पूय हो जानेपर पीला या हरा कफ निकलता है ।

श्लेष्मा—रक्तरहित कफमें विशेषतः निम्न ३ प्रकार देखनेमें आते हैं । (१) केवल श्लेष्मा, (२) पूयमय कफ, और (३) श्लेष्मा पूय मिश्रित कफ (*Muco-purulent*) ।

केवल श्लेष्मा गोंदके प्रवाहीके सदृश चिकना और दृढ़ होता है । श्वासनलिकाप्रदाहजन्य कास तथा स्वरयन्त्र और श्वासनलिकाके प्रदाह (*लेरिंगो-ट्रैकाइटिस Laryngotracheitis*) जन्य कास रोग की प्रथमावस्थामें इस तरहका कफ निकलता है ।

फिर द्वितीयावस्थामें कफका परिमाण बढ़ जाता है, वह मलिन हो जाता है; और उसका चिकनापन कम हो जाता है । इस परसे इतर कास रोगसे इसका सरलतापूर्वक प्रभेद हो जाता है । इस द्वितीयावस्थामें कफके भीतर श्लेष्माके साथ पूय मिश्रित हो जाता है । इसमें पूयका परिमाण अधिक होने पर अस्वच्छ और चिकना होता है । इस कफको खिंचनेपर

सूत सदृश लम्बा नहीं होता । राजयक्ष्मा रोगमें श्लेष्मा और पूयमिश्रित कठिन, गोल और बताशेके सदृश आकारका कफ बन जाता है ।

कफ यदि केवल पूयमय हो, तो देखने पर मैले सफेद रङ्गका या हरा-सा या पीला-सा भासता है । श्लैष्मिक कफमें वायुके बुदबुदे होते हैं, किन्तु पूयमय कफमें वायु नहीं रहती । जिससे जलमें डालने पर डूब जाता है । फुफ्फुसविद्रुधिमें, फुफ्फुसावरणके पूयमय प्रदाह (Emphysema) में फुफ्फुसावरण विदीर्ण होने पर एवं यकृत, वृक्क, प्लीहा आदि स्थानोंमें सग्रहित पूय श्वासनलिका द्वारा निकलने पर कफमें केवल पूय ही होता है । जब कफ द्वारा अधिक परिमाणमें पूय निकलता है, तब अनुमान किया जाता है कि, पूर्वोक्त कारणोंमेंसे किसी कारण जन्य इसकी उत्पत्ति हुई है ।

इनके अतिरिक्त कफ द्वारा रक्त रस निकलता है ; अथवा इसके साथ श्लेष्मा या पूय विविधि परिमाणमें मिश्रित होता है । कफमें केवल रक्त रस निकलने पर वह भागयुक्त प्रतीत होता है । यह प्रकार फुफ्फुस के श्लेष्म (Oedema of The Lungs) और आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहजन्य कास रोगमें होता है ।

कभी कफ सौत्रिक तन्तु मय होता है । स्वरयन्त्र और श्वासनलिका की श्लैष्मिक कलाका आशुकारी प्रदाहयुक्त गलौघ (Croup) और कण्ठरोहिणी (Diphtheria) रोगमें अप्रकृत झिल्लीका निर्माण होता है । इस हेतुसे इन रोगोंमें कफके साथ सौत्रिक तन्तु निकलते रहते हैं ।

कभी-कभी श्वासनलिकाओंमें बधा हुआ कफ (Mucous Cast) निकलता है । कभी कभी सरसोसे मटर जितनी बड़ी और गोलाकार गोली निकलती हैं । ये गोलियाँ छोटे बड़े आकारकी प्रतीत होती हैं । सामान्य रूपसे ये राजयक्ष्मा रोगमें अधिक निकलती हैं । इनकी उत्पत्ति फुफ्फुसोंमें होती है । क्वचित् तालुग्रन्थिके कोषमें भी इतर प्रकार की गोलियाँ उत्पन्न होती हैं । ये भी कास आने पर निकलती रहती हैं । फुफ्फुसोंमें उत्पन्न गोलियोंसे इसका प्रमेद यह है कि, इन गोलियोंको

थोड़ा सा दबाने पर चूर्ण होजाता है ; और ये अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त होती हैं ; तथा इन गोलियोंको स्पर्श करने पर तैल युक्त चिकनी-सी भासती है ।

इनके अतिरिक्त स्वरयन्त्रके चिरकारी प्रदाह रोगमें कफके साथ तरुण अस्थिके टुकड़े निकलते रहते हैं । एवं कितनेक विकारोंमें अणु-वीक्षणयन्त्र द्वारा कफमें फुफ्फुसके स्थितिस्थापक सूत्र (Elastic Fibers), कुत्ता आदिके कृमि विष (Hydatid) से उत्पन्न पदार्थ आदि देखनेमें आते हैं ।

श्वासोच्छ्वास ।

श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी लक्षणोंको निम्न तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है । १—स्वाभाविक वैलक्षण्य । २—तालमें व्यतिक्रम । ३—प्रतिबन्ध जन्य श्वासकृच्छ्रता । परन्तु इन सब श्वासोच्छ्वासीय लक्षण प्रकाश होनेपर ही श्वासयन्त्रके सब विकारोंको स्थिर कर सकते हैं; ऐसा नहीं कह सकेंगे ।

रक्त संचालन यन्त्र और वातविधानके विकारके हेतुसे श्वासोच्छ्वास की संख्या और तालमें व्यतिक्रम हो जाता है । हृदयकी क्रिया जितनी द्रुतगामी हो, उतनी श्वासोच्छ्वास क्रिया द्रुत होती है । सामान्यतः एकवार श्वासोच्छ्वास क्रिया होनेमें चार-चार हृत्स्पंदन होता है । इनके तारतम्यके विशेष व्यतिक्रम होनेपर श्वासयन्त्र या हृत्पिण्ड की वेदनाका अनुमान होता है । परन्तु हिस्टीरिया रोगमें हृत्स्पंदन स्वाभाविक अवस्थामें रहनेपर भी श्वासोच्छ्वास संख्यामें वृद्धि हो जाती है ।

फुफ्फुसमें श्वास लेनेके साथ गृहीत वायुद्वारा देहके दूषित रक्तका संशोधन होता है । इन सब श्वासोच्छ्वासीय विधानकी व्याधियोंके लिये इस रक्त संशोधन क्रियामें व्याघात उत्पन्न होता है । इन सब स्थानोंमें यदि वायुके गमनागमनमें किसी भी प्रकार का अवरोध न हो, तो श्वासोच्छ्वास गति तेज हो जाती है । फुफ्फुसखण्डप्रदाह, राजयक्ष्मा,

रसभूत फुफ्फुसावरण (Hydrothorax) और फुफ्फुसशोथ, इन रोगोंमें शिराके दूषित रक्तको शुद्ध करनेमें प्रतिबन्ध होता है, परन्तु स्वरयन्त्र और बृहच्छ्वासनलिकामेंसे फुफ्फुसके भीतर वायु प्रवेश होनेमें अवरोध हो जाय, तो श्वासगति द्रुत नहीं होती; परन्तु सूक्ष्म श्वासप्रणालिकाओंके प्रदाहजन्य कास (Capillary Bronchitis) में श्वासोच्छ्वास गति अति तेज हो जाती है । तमक श्वास (Asthma) में स्वाभाविक की अपेक्षा श्वासोच्छ्वास द्रुत नहीं होते, एवं बृहच्छ्वासनलिकाके प्रदाह में सामान्यतः श्वासगतिमें तीव्रता देखनेमें नहीं आती ।

यदि किसी कारणसे फुफ्फुमप्रणालिका आदिके भीतर श्वासोच्छ्वास गतिमें प्रतिबन्ध होता है, तो उस व्याघातका पूर्तिके लिए श्वास क्रियामें द्रुतत्व हो जाता है । उदर्याकलाप्रदाहजन्य उदर प्रदेशमें वेदना और शिथिलता होना, उदरस्थविद्रधि, गर्भ, आत्मान, यकृद्वृद्धि, महाप्राचीरापेशीके संचलनमें अवरोध, वेदना अथवा पक्षाघात जनित उरःपञ्जरके संचलनमें व्याघात होना, इत्यादि हेतुओंसे भी श्वासोच्छ्वासकी गति बढ़ जाती है ।

यदि श्वासोच्छ्वास अत्यन्त तेज हो जाय; और ज्ञान वा चेतनामें कुछ भी विलक्षणता न हो, तो फुफ्फुसोंमें वायुका अभाव होकर अत्यन्त वेदना होती है; या श्वासकृच्छ्रता (Orthopnoea) उपस्थित होती है । इस अवस्थामें सोनेपर वेदना अत्यधिक हो जाती है, जिससे रोगी सो नहीं सकता ।

आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह, बृहच्छ्वासनलिका का अवरोध, स्वरयन्त्र या श्वासनलिकामें बाहरकी वस्तुका प्रवेश हो जाना, स्वरयन्त्रद्वार (Glottis) का आक्षेप इत्यादि विकार होने पर वायु प्रवेशमें भौतिक व्याघात होता है । जिससे श्वासप्रश्वास सख्या स्वाभाविककी अपेक्षा न्यून होजाती है ।

श्वासोच्छ्वासयन्त्रके विकारोंको छोड़कर इतर यन्त्रों की विकृतावस्था के हेतुसे भी श्वासोच्छ्वासके द्रुतत्वमें न्यूनता होजाती है । मस्तिष्ककी

व्याधिमें और अफीमजन्य मादकतामें भी यह लक्षण प्रतीत होता है । स्वर-यन्त्र द्वारके शोथ रोग में प्रधान लक्षण श्वासकी स्वल्पता है । मस्तिष्क के रोगमें श्वास स्वल्प स्थायी और द्रुतगामी होता है । हिस्टीरिया रोगमें क्वचित् श्वासगति बढ़ जाती है । तमकश्वास और फुफ्फुसकोष विस्फारण (Emphysema) रोगमें निःश्वास दीर्घस्थायी होता है ।

वृक्कसंन्यास (Uraemia) और हृदयकी मेदापक्रान्ति होने पर श्वासके ताल में विलक्षणता आजाती है । जिससे छिन्नश्वास (Cheyne-stokes Respiration) उपस्थित होता है । इस विकारके प्रारम्भ में श्वास अल्पस्थायी, फिर क्रमशः गम्भीर और अत्यंत असह्य कष्टदायक होता जाता है । अन्तमें श्वासक्रिया क्रमशः अल्पस्थायी और अगंभीर होकर श्वास स्थागित होजाता है । $\frac{1}{2}$ से १ मिनट तक स्थगितावस्था रहकर पुनः श्वास चालू होता है । श्वासप्रथम अति मृदु, फिर क्रमशः सबलतर होकर पुनः क्रमशः क्षीणतर होता है । परिशेषमें श्वास बन्द हो जाता है । यह अति विषम लक्षण है । किसी कारणसे सुषुम्णा शीर्षकमें रहे हुए श्वासोच्छ्वास केन्द्रकी धमनीमें रक्त संचालनका अवरोध होने पर इस छिन्न श्वासकी उत्पत्ति होती है ।

श्वासयन्त्रमें वेदना ।

श्वासयन्त्रस्थ कतिपय व्याधियोंमें फुफ्फुसके भीतर वेदना नहीं होती; और कतिपय व्याधियोंमें वेदना प्रतीत होती है । अतः वेदना विशेषका रोग परिचयार्थ वर्णन किया जाता है ।

सूक्ष्म श्वासप्रणालिकाप्रदाहज कास, तमक श्वास, वायुकोष विस्फारण, रसमय उरस्तोय (Hydrothorax), और फुफ्फुसशोथ (Oedema of the Lungs), इन रोगोंमें पीड़ा नहीं होती ।

आशुकारी तीव्र फुफ्फुसावरण प्रदाह (उरस्तोय) में वेदना होना, यह प्रधान लक्षण है । इस व्याधिमें वक्त्रके एक ओर श्वासग्रहण कालमें वेदना होती है । यह वेदना अति तीव्र लहुरीसे विंधनेके सदृश होती है ।

यदि आशुकारी कुप्फुसखण्डप्रदाहके साथ कुप्फुसावरणप्रदाह हो, तो वेदना बनी रहती है; किन्तु यह उपद्रव न हो, तो कुप्फुसखण्ड प्रदाहमें वक्षः स्थानके भीतर पीड़ाकी प्रतीति नहीं होती । एवं राजयक्ष्मा के साथ उरस्तोयका अस्तित्व न हो, तो कुप्फुसमें विशेष वेदना नहीं होती । इस तरह पशुकाओंके भीतर शूल (Intercostal Neuralgia) और पशुकाओंके भीतर मासपेशियोंमें पीड़ा (Pleurodynia), इन दोनोंमें भी वेदना विशेष लक्षण रूप है ।

तीव्र श्वासनलिकाप्रदाहकी प्रथमावस्थामें एक प्रकारकी मद वेदना होती है । वेदना मृदु भावसे पिसनेके सदृश होती है । यह पीड़ा वक्षके एक पार्श्वमें नहीं होती परन्तु इस पीड़ा द्वारा, उरःफलकास्थि (Sternum) आक्रान्त होती है । वक्षके भीतर कर्कस्फोट होने पर तीक्ष्ण और अचस्मात् सूचीविधनवत् वेदना होने लगती है । उरस्तोयकी वेदना के समान यह वक्षके एक पार्श्वमें बद्ध नहीं होती; इसमें उरस्तोयके समान श्वासोच्छ्वास क्रियाके साथ वेदनाका कोई सम्बन्ध नहीं होता । यदि प्रबल कास वर्तमान हो तो वक्षके निम्नप्रदेशमें एक प्रकारकी वेदनाका अनुभव होता है, तथा कास चलने पर वक्षःपञ्जर और महाप्राचीरापेशीके खिंचावके हेतुसे इस वेदना की उत्पत्ति होती है । वक्षःशूल (Angina pectoris) व्याधिमें वातवहा नाड़ियोंके शूलसदृश वेदना होती है । एव धमनीविस्तार (Aneurysm) द्वारा वक्षःप्राचीर पर दबाव आनेसे एक प्रकारकी मृदु, किन्तु बिधने के सदृश वेदना उपस्थित होती है ।

श्वासकृच्छ्रता ।

श्वासकृच्छ्रता (Dyspnea) ने अनेक समय स्वरयन्त्रके विकार के लक्षण अवस्थित होते हैं । यह विषम लक्षण है । इसकी उत्पत्तिके विविध कारण हैं । यथा—

- १—स्वरयन्त्रके विद्रधि या बाह्य पदार्थसे अवरोध ।
- २—स्वरयन्त्रप्रदाह या शोथजनित अवरोध ।

३—स्वर यन्त्रके आक्षेपजनित अवरोध ।

४—उपदंशजनित या क्षयकीटाणुजनित चर्म क्षय (लूपस एक्ज्यूडेन्स—*Lupus Exudens*) का क्षत शुष्क होने पर उत्पन्न क्षत चिह्न (*Cicatrix*) जन्य ।

५—स्वरयन्त्रका संकोच या विकास करने वाली (*Abductor or adductor*) मांसपेशीके पक्षाघातजन्य ।

यदि इन सब कारणोंका दो विभागोंमें ही समावेश करना हो, तो एकके वैधानिक कारण और दूसरेको आक्षेपजनित कारण कहेंगे ।

स्वरयन्त्रविकारज श्वासकुच्छ्रता क्रमशः उत्पन्न हो सकती है ; एवं दीर्घकालस्थायी रहती है ; अथवा पहलेसे प्रबल हो सकती है । जिन कारणोंसे स्वरयन्त्रका अवरोध हो, उन कारणों (रोगप्रक्रियाके स्वभाव) के ऊपर श्वासकुच्छ्रता की अवस्था और स्थायित्वका आधार रहता है ।

जिन चिरकारी रोगोंमें जीर्ण श्वासकुच्छ्रता होती है; उन सब स्थानों में कोई-कोई समय श्वासकुच्छ्रताका तीव्र आवेग उपस्थित होता रहता है; और घातक फलकी प्राप्ति होती है । जैसे उपदंशज या क्षय कीटाणुजन्य क्षतमें सहसा स्थानिक शोथ (*Oedema*) उपस्थित होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

स्वरयन्त्र विकारके अतिरिक्त भी निम्न हेतुओंसे श्वासकुच्छ्रता उत्पन्न हो जाती है ।

(१) हृदय और फुफुसोंकी वेदना ।

(२) बृहद्ध्वासनलिकाके ऊपर दबाव आना (इस प्रकारके श्वास कष्टमें श्वासक्रियाके समय स्वरयन्त्र पर दबाव नहीं आता । रोगी मस्तिष्क को सम्मुख दिशाकी ओर झुका देता है ।)

(३) स्वरयन्त्र पर दबाव—ग्रीवादेशस्थ कोषाणुओं और तन्तुओं के प्रदाह (*Cellulitis*) तथा लसीकाग्रन्थियोंकी वृद्धि या अर्बुद, गलगण्ड, ग्रसनिकाके पीछेके हिस्सेमें (*Retropharyngeal*)

विद्रधि, इन कारणोंसे स्वरयन्त्र पर दबाव आनेसे श्वासोच्छ्वास क्रियामें प्रतिबध होता है ।

(४) यदि कण्ठरोहिणी रोगमें श्वासोच्छ्वासमें कष्ट होता है, तो उसका मूल हेतु भी आन्तरिक अवरोध है, ऐसा अनुमान किया जाता है, किन्तु यह श्वासकृच्छ्रता विवर्धित लसीकाग्रथियोंसे श्वास-नलिकाशाखा (Bronchi) और स्वरयन्त्र पर दबाव आने पर ही हो सकती है ।

श्वास ग्रहणमें कष्ट—(Inspiratory Dyspnea) कभी-कभी श्वासग्रहणकालमें विलक्षण वेदनाका अनुभव होता है । कभी रोगीको श्वास लेनेमें सामान्य असुविधा होती है, तो कभी रोगीको इतना भयकर कष्ट होता है कि, रोगीकी स्थिति अति करुणाजनक प्रतीत होती है । जब स्वरयन्त्र में अत्यधिक अवरोध होता है, तब ऐसी विषमता उपस्थित होती है ।

विशेषरूपसे विचार करने पर विदित होता है कि, उभय (सामान्य या विशेष अवरोध) स्थलमें श्वासक्रियाके समय स्वरयन्त्र तो आक्रान्त हो जाता है । अवरोध अत्यधिक होने पर रोगी मस्तिष्कको पीछेकी ओर झुका देता है; ग्रीवा फैला देता है, और ग्रीवास्थ मांसपेशियोंको आकुचित करता है । उरःफलकास्थि (Sternum) का ऊर्ध्व प्रदेश और श्वास नलिका के उभय पार्श्वस्थ स्थान, ये सब श्वासोच्छ्वास क्रियाके साथ-साथ भीतर प्रवेश करते रहते हैं, और ऊपर उठते रहते हैं; तथा नासापथ अति प्रसारित और संकुचित होता रहता है ।

इनके अतिरिक्त फुफ्फुसोंमें यथेष्ट वायु प्रवेश न होनेसे श्वासग्रहण कालमें आमाशयके ऊपर का कौड़ी स्थान (हृदयाधरिक प्रदेश) दब जाता है, और वक्षके तल देशके सब पञ्जर भीतरकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं । रोगीका मुखमण्डल काला-सा या धूसर वर्ण सा निस्तेज हो जाता है, नीचेका ओष्ठ नीले वर्णका हो जाता है । यदि श्वासकृच्छ्रता अधिक काल तक रह जाय, या बढ़ जाय, तो नख का वर्ण भी नीलाभ

हो जाता है; तथा कपाल परसे शीतल प्रस्वेद आने लगता है । फिर परिशेषमें क्षीणता आकर श्वासोच्छ्वास क्रमशः मंदतर होने लगता है । अवरोध जितना बढ़ता है; उतनी ही हृदयकी क्रियामें द्रुतत्वकी वृद्धि होती है । फिर आंगारिक वायु (Carbon monoxide) से विषमय होने लगता है; जिससे पहले अचेतनावस्था (Stupor) की प्राप्ति होती है; पश्चात् श्वासरोध (Asphyxia) होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

श्वास त्यागमें कष्ट—(Expiratory dyspnea) श्वासग्रहण में कष्टके समान कभी कभी श्वासत्यागमें भी कष्ट होता है । यह स्वरयन्त्रके किसी प्रकारके अवरोध होनेसे ही होता है । स्वरयन्त्रमें रही हुई स्वरतन्त्री (Vocal cord) के नीचे संचालनशील अर्बुद होने पर अवरोध होता है । ऐसे स्थानमें श्वासग्रहण क्रिया समाप्त होनेके पश्चात् अवरोधके हेतुसे श्वासत्यागकी क्रिया सहसा बन्द हो जाती है । इस हेतुसे फुफ्फुसोंमें वायु भरने लगती है; और वायुकोष प्रसारण (Emphysema) हो जाता है ।

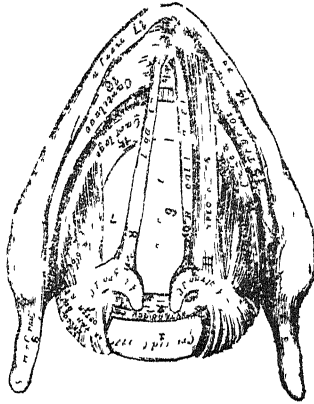
स्वरभेद ।

स्वरभेद-कण्ठ बैठ जाना-होर्सनेस-Hoarseness ।

रोग परिचय—गला बैठ जानेको स्वरभेद कहते हैं । इस स्वरभेदकी उत्पत्ति स्वरयन्त्रकी विकृति होनेपर होती है । अतः प्रारम्भमें स्वरयन्त्रकी रचना और कार्यका विवेचन करते हैं ।

स्वरयन्त्र—(Larynx) यह आवाजउत्पादक यन्त्र कण्ठके आगेके हिस्सेमें बह्च्छ्वासनलिकाके ऊपर रहा है । इसकी आकृति मुकुटके समान है । यह तरुणास्थियाँ, सूक्ष्म मांसपेशियाँ और अनेक स्नायु समूह मिलकर बना है । इसमें एक छिद्र नीचे और एक ऊपर है । ऊपरका छिद्र प्रसनिका (फेरिक्स-Pharynx) के साथ और नीचेका छिद्र श्वासनलिकाके साथ सम्बन्ध रखता है ।

स्वरयन्त्र और उसकी मांस पेशियाँ (आगेकी ओरसे)



- १ कृकाटक Cricoid cartilage.
- २ घाटान्तरिया पेशी Arytoenoides.
- ३ घाटिका तरुणास्थि Arytenoid C.
- ४ पश्चिम कृकाटघाटिका पेशी Cricoarytoenoides posterior.
- ५ घाटिका तरुणास्थि Arytaenoid C.
- ६ अवटुकका ऊर्ध्व शृंग Superior Cornu
- ७ कृकाटघाटिका पेशी (पार्श्वगा) Cricoarytoenoides lateralis.
- ८ वाम मुख्य स्वरतन्त्री Left Vocal ligament.
- ९ स्वरयन्त्रोदर Rima Glottidis
- १० दक्षिण मुख्य स्वरतन्त्री Right Vocal ligament.
- ११ अवटु घाटिका पेशी Thyreo arytoenoides.

१२-१५ कृकाटक तरुणास्थि Cricoid Cartilage.

१३-१६ अवटुक पत्र (तरुणास्थि) Thyreoid Cartilage.

१४-१७ अवटुक ऊर्ध्वधारा Upper margin.

इस स्वरयन्त्रमेंसे श्वासोच्छ्वासका आवागमन (Respiration) और आवाजका उच्चारण (Phonation), ये दो कार्य होते रहते हैं । यह कण्ठकी अगली ओर मध्यरेखा में और कण्ठिकास्थि (Hyoid bone) के मूलभागसे अवटुकके निम्न प्रवर्धन (Adam's Apple) तक त्वचाके नीचे विदित होता है । यह मांसपेशियोंसे आच्छादित है । इसका ऊर्ध्व सिरा कण्ठिकास्थिके साथ और निम्न सिरा श्वासनलिकासे संलग्न है ।

इसकी लम्बाई-चौड़ाई शैशवावस्थामें पुरुष और स्त्रियोंमें निम्नानुसार होती है ।

नाप	पुरुष	स्त्री
लम्बाई	४४ मिलीमीटर	३६ मिलीमीटर
अनुप्रस्थ व्यास	४३ ,,	४१ ,,
अनुलम्ब व्यास	३६ ,,	२६ ,,
परिधि	१३६ ,,	११२ ,,

युवावस्था तक पुरुषोंमें स्त्रियोंकी अपेक्षा कुछ अधिक वृद्धि होती है । १ मिलीमीटरका इत्त इञ्च होता है ।

इस यन्त्रमें ६ तरुणास्थियां (Cartilages) हैं । इनमें ३ बड़ी और ६ छोटी हैं । अवटुक (Thyreoid), कृकाटक (Cricoid), और अधिलिङ्गिका (Epiglottis), ये ३ बड़ी हैं । कौणिका (Arytaenoid), कर्णिका (Corniculate) और घाटिका (Cuneiform) नामकी २-२ अस्थियाँ छोटी हैं ।

(१) अवटुक—(Thyreoid Cartilage)—यह स्वरयन्त्र में सबसे बड़ी अस्थि है । इस अस्थिमें बड़ी और कुछ चौड़ी दो पॉख (Lamina) हैं, जो स्वरयन्त्रके सम्पुटकी रचना करनेमें मुख्य भाग

लेती हैं । ये दोनों पाँख लगभग चौकोन हैं । इनकी अगली धारा कण्ठकी मध्यरेखामें परस्पर एक कोन बनाकर जुड़ती है । इनके मध्योगसे एक उभारके सदृश प्रवर्द्धन होता है, जो बाहरसे जाननेमें आता है । उसे अवटुक प्रवर्द्धन (Adam's Apple or Laryngeal Prominence) कहते हैं । इस अस्थिमें दो ऊपर और दो नीचे मिलकर चार शृंग (Cornua) हैं । दोनों ऊर्ध्वशृंगों (Greater Cornua) को कण्ठकावटुक स्नायु (Hyothyreoid Ligaments) लगे हुए हैं । दोनों निम्न शृंग कृकाटकके साथ सलग्न होते हैं । इस अवटुककी दोनो पाँखोंके बाहर निम्नानुसार ३ बड़ी मासपेशियाँ तथा भीतरकी ओर ३ छोटी मासपेशियाँ लगी हुई हैं । इनमें नं० १ से ३ तक बड़ी और नं० ४ से ६ तक छोटी हैं ।

१—उरोवटुका—Sternothyroideus muscle.

२—अवटुकण्ठिका—Thyrohyoideus muscle.

३—कण्ठसंकोचनी अधरा—Inferior constrictor of pharynx ।

४—अवटुघाटिका—Thyroarytoenoides muscle.

५—अवटु गोजिहिका—Thyroepiglotticus muscle.

६—अनुतन्त्रिका—Vocalis muscle.

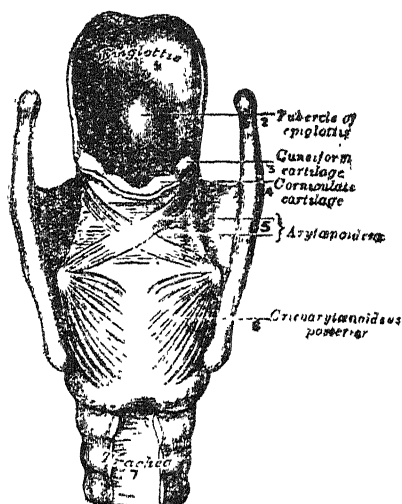
इन दोनों पाँखोंके मध्यप्रदेशमें स्नायुवधनियों सह अधिजिहिका तरुणास्थि तथा दो मुख्य स्वरतन्त्री तथा दो गौण स्वरतन्त्री अवस्थित हैं ।

(२) कृकाटक तरुणास्थि—(Cricoid cartilage) इस अस्थिकी आकृति मोहर (Seal) करनेकी अंगूठीके सदृश है । यह स्वरयन्त्रके नीचेके भागमें रही है । इसमें दो भाग हैं । आगेका अर्धभाग पतला और गोल है; तथा पीछेका अर्धभाग मोटा और चौड़ा है । आगेके अर्धभाग पर अवटुकास्थिकी निम्न धारा रही है; और उस भागके नीचे श्वासनलिकाकी ऊर्ध्व धारा है । ये दोनों परस्पर संयोजक कला द्वारा जुड़ी हुई हैं ।

पीछेका अर्धभाग लगभग १॥ इंच चौड़ा है । उसके पीछे मध्य रेखामें अन्ननलिकाका अगला भाग जुड़ा हुआ है । इस संधान प्रदेशकी चारों ओर कृकाटवाटिका पश्चिमा (*Crico.arytoenoides muscle*) लगी हुई है । इससे कुछ बाहर की ओर अवटुकास्थिके निम्न शृङ्गोंको जोड़नेके लिये दो स्थालक (*Articular facets*) हैं । इस पिछले भागकी ऊर्ध्व धारा पर घाटिका नामक तरुणास्थि रही है । निम्न किनारा एक पतली स्नायुसे श्वासनलिकाके शिखर पर संलग्न होता है ।

(३) अधिजिह्विका—(*Epiglottis*)—स्वरयन्त्रके ऊपर का द्वार जो कण्ठमें खुलता है, उस द्वारकी रक्षा यह अधिजिह्विका अस्थि करती है । जल या भोजन निगलनेके समय यह स्वरयन्त्रके द्वारको बन्द कर देती है ।

अधिजिह्विका (पिछली ओर से)



१ अधिजिह्विका—*Epiglottis*.

- २ अधिजिह्विका कूट—Tubercle of epiglottis
- ३ कर्णिका तरुणास्थि—Cuni form Cartilage.
- ४ कौणिका तरुणास्थि—Coniculate Cartilage
- ५ घाटान्तरिया पेशी—Arytoenoides transversus.
- ६ पश्चिम कृकाट घाटिका—Crico arytoenoides posterior.
- ७ बृहच्छ्वास नलिका—Trachea

(४) दो घाटिका तरुणास्थि—(Arytenoid Cartilages) ये दोनों तरुणास्थि लगभग त्रिकोण आकारकी हैं । ये कृकाटके पीछेके अर्धभागकी ऊपरकी धारा पर अवस्थित हैं । इन घाटिकास्थियोंके शिखर अकुशके समान नोक वाले ओर मुड़े हुए हैं । इन दोनों भागोंको समीप में लानेका काम घाटान्तरियापेशी (Arytoenoides transversus) करती हैं । यह नोक वाले मूल प्रदेशके पीछे चारो ओर लगी हैं । इसके पीछे एक दूसरी स्वस्तिक चिह्नके आकारकी स्वस्तिक घाटान्तरिक पेशी (Arytenoides Oblique) रही है । जो अपने मास सूत्रोंसे तन्त्री द्वारका सकोच विकास करती है ।

(५) दो दो कौणिका और कर्णिका तरुणास्थियाँ—Corniculate and Cuni form Cartilages—ये दोनों प्रकारकी दो दो छोटी अस्थियाँ हैं । इनमे कौणिकाकी आकृति शकु आकारके गाठयुक्त दण्ड (Conical nodules) के समान और कर्णिका पुष्पकी कली के सदृश है । ये तरुणास्थिया स्नायुसूत्रोंके पर्देके भीतर रही हैं , जो घाटिकाके शिखर को अधिजिह्विकाके साथ जोड़ती है । फिरग रोगकी अंतिमावस्थामे इन तरुणास्थियोंका कुछ भाग नष्ट हो जाता है ।

स्वरयन्त्रोदर—(Cavum Laryngis or cavity of the larynx) तरुणास्थि, छोटी मासपेशिया और पतली विविध स्नायुमय पट्टिया मिलकर यह स्थान बना है । इसके भीतर पतली श्लैष्मिक कला

लगा है । उसमेंसे पतले प्रवाही श्लेष्मका स्त्राव होता रहता है । इस स्वरयन्त्रोदरका ऊर्ध्व द्वार कण्ठमें खुलता है । इस द्वारका रक्षण अधिजिह्विका तरुणास्थि करती है ।

स्वरतन्त्रियाँ—(Vocal cords) स्वरयन्त्रके भीतर पोलेभाग में तीरके समान आगे पीछे फैली हुई कोमल और पतली ४ पट्टी (Bands) अवस्थित हैं । इनमें दो मुख्य और दो गौण हैं । जो ऊपरमें हैं, और स्वरयन्त्र की मध्यरेखासे कुछ दूर हैं, वे गौण तन्त्री हैं । इनके नीचे और मध्यरेखाके बिल्कुल समीप मुख्य तन्त्री अवस्थित हैं । ये सब स्नायुसूत्रमेंसे बनी है । इनमें मुख्य तन्त्रियोंमें स्थिति स्थापक गुण वाले पीले तन्तु (Yellow elastic tissue) होनेसे ये सरलतापूर्वक छोटी बड़ी होती रहती है । इन तन्त्रियोंके आगेके सिरे अबटुक तरुणास्थि के फंखोंके भीतर कोनेमें शिखरसे किञ्चित् नीचे लगे हैं । पिछले सिरे घाटिकातरुणास्थियोंके अंकुशके अग्रभाग वाले चूड़ाओंके पीछे लगे हैं ।

मांसपेशियाँ—इस स्वरतन्त्रीमें दोनों ओर ४-४ मिलकर ८ मांसपेशियाँ हैं । इनके अतिरिक्त तन्त्रियोंके नीचे श्वासमार्गके समीप रही हुई और उपर्युक्त ८ मांसपेशियोंको सहायता पहुँचानेवाली अन्य ६ मांसपेशियाँ हैं । इनमेंसे ६ स्वरतन्त्रीको छोटी-बड़ी बनाती है । शेष ११ तन्त्री द्वारके संकोच विकासमें सहायक होती है ।

पेशी समूहके कार्य—स्वरयन्त्र अबटुकण्ठिका (Thyrohyoides) मांसपेशी द्वारा ऊँचा उठता है; तथा उरोवटुका (Sternothyroideus) मांसपेशी द्वारा नीचे आता है । अधिजिह्विका द्वार अबटुगोजिह्विका (Thyro-epiglotticus) पेशी द्वारा उन्नत तथा गोजिह्विका घाटिका (Aryepiglotticus) पेशी द्वारा अवनत होता है । दोनों स्वरतन्त्रीके मध्यमें विस्तार कृकाटघाटिका पश्चिमा (Posterior crico-arytenoideus) द्वारा होता है; घाटिका तरुणास्थिके पीछे रहा हुआ प्रवर्धन (Vocal process) अर्थात् स्वस्तिक घाटिका-

न्तरीया पेशी द्वारा तन्त्री द्वारका सकोच-विकास होता रहता है । स्वरतन्त्री सब कृकाट घाटिका पार्श्विका पेशी (*Crico-arytoenoides lateral*) द्वारा समीप होती रहती है, इसके द्वारा तन्त्री प्रवर्धन भीतरकी ओर फिरता है । इनके अतिरिक्त दोनों स्वरतन्त्रीको निकट लानेका कार्य घाटिका पेशी अनुप्रस्थ-तिर्यक् (*Arytoenoides transversus*) करती है, एव इसकी क्रिया द्वारा घाटिका तरुणास्थिकी पीठके शिखर भी समीप होते हैं । स्वरतन्त्रीके खिचावका सरक्षण कृकाटक अवटुक पेशी (*Crico thyroideus*) द्वारा होता है । यह मांस पेशी कृकाटक तरुणास्थि को स्थिर रखकर अवटुक उपास्थिकी सम्मुख और ऊर्ध्व संचालित करती है, तथा अवटुघाटिका पेशी द्वारा भी इस क्रियाकी सिद्धि होती है । यही स्वरतन्त्री की शिथिलता और सकोचको कराती है ।

विविध व्यापारोके अनुरूप तन्त्री द्वारके आकार और नापमें अन्तर हो जाता है । इस स्वरयन्त्रमेंसे वायुका आवागमन होनेसे शारीरिक दो मुख्य क्रियाओंकी सिद्धि होती है । श्वासोच्छ्वास और शब्दोच्चारण । जब शान्तिपूर्वक श्वसन क्रिया चलती है; तब तन्त्री द्वार त्रिकोणाकार होता है । इस त्रिकोण का शिखर कण्ठकी अगली ओर तथा निम्न भाग पीछेकी ओर होता है । उच्च स्वरसे गानेपर दोनो मुख्य तन्त्री बिल्कुल समीप आ जाती हैं । एव इस तन्त्रीद्वारकी आकृति सीधी पंक्तिके सदृश बन जाती है । इसके विपरीत दीर्घ श्वास ग्रहण करनेपर तन्त्री-द्वार विकसित होकर लगभग गोल हो जाता है ।

यद्यपि स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोके तन्त्रीद्वारकी लम्बाई अधिक है; तथापि स्त्रियोंकी स्वर तन्त्रियोंका सकोच विकास विशेषांशमें हो सकता है । इस हेतुसे स्त्रियाँ उच्च स्वरसे गा सकती हैं ।

इस तन्त्रीद्वारकी कोमल त्वचामें प्रदाह, कफ लग जाना, व्रण हो जाना आदि विकृति होनेपर स्वरभंग हो जाता है । क्षय और उप-क्षय रोगमें प्रदाह होकर व्रण हो जाता है ।

स्वर यन्त्रकी नाड़ियाँ—स्वरयन्त्र पर नाड़ी-मण्डल (Principle Motor Nerves) के तन्तुओंका अंकुश है। एवं इसमें प्राणदा नाड़ियों (Vagus Nerves) की दो स्वरयन्त्रारोहिणी (Recurrent Nerves) शाखा और दो उत्तर स्वरिणी (Superior Laryngeal Nerves) शाखा मिलकर चार शाखाएं और इडा पिंगला (Sympathetic Nerve Fibres) की सूक्ष्म शाखाएं फैली हुई हैं।

उत्तर स्वरिणीकी बाह्य शाखा द्वारा कृकाटक-अवटुक पेशी और आभ्यन्तरिक शाखा द्वारा अधिजिह्वा पेशियां संचालित होती हैं। एवं इसमेंसे ही स्वर यन्त्रकी श्लैष्मिक कलाको संवेदक वात नाड़िया (Sensory branches) की प्राप्ति होती है। दाहिनी ओर स्वर-यन्त्रारोहिणी नाड़ियोंके तन्तु, अक्षधरा धमनी (Subclavian Artery) के पीछेकी ओर परिवेष्टन कर, तथा बांयी ओर तोरणी महाधमनी (Arch of Aorta) को चारों ओरसे घेरकर ऊर्ध्व भाग में बृहच्छ्वासनलिका और अन्ननलिकाके बीचमेंसे स्वरयन्त्रके पीछेकी ओर गमन करते हैं। एव कृकाटक-अवटुक पेशीको छोड़, इतर सब पेशियोंको परिपोषित करती है।

सामान्यस्थितिमें स्वरयन्त्र ग्रीवादेशके कशेरुकास्थिकी ऊर्ध्व धारासे छठवीं कशेरुकास्थिकी निम्न धारा पर्यन्त रहा है। श्वासोच्छ्वास, स्वरोच्चारण और वस्तु निगलनेके समय स्वर यन्त्र ऊंचा नीचा होता रहता है। स्वर यन्त्र पर ठेपन करने पर सौषिर ध्वनि उत्पन्न होती है। मुँह खुला रखने पर आवाज उच्चतर ग्रामविशिष्ट हो जाती है; और मुँह बन्द रखने पर गम्भीर आवाज होती है। स्वर यन्त्र और बृहच्छ्वासनलिका पर ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर श्वासोच्छ्वासकी उच्च-वेणु ध्वनि सुननेमें आती है। इस ध्वनिको स्वरयन्त्र-टेटुवाजनित नाद (Laryngo tracheal respiration) संज्ञा दी है।

स्वरभेद निदान—बहुत जोर से बोलना, विष आदि पदार्थों

का सेवन, ऊँची आवाजसे पढ़ना, कण्ठ आदि प्रदेश पर चोट लगना, या अन्य कारणोंसे जब स्वरयन्त्रसे सम्बन्ध वाले वात आदि दोष प्रकुपित होते हैं, तब स्वरयन्त्रके छिद्रोंमें प्रवेश कर आवाजको बैठा देते हैं ।

स्वरभेद प्रकार—इस स्वरभेद में दोषभेदसे वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, क्षयज और मेदज, ऐसे ६ भेद हैं ।

(१) वातज स्वरभेद लक्षण—कठोर, बैठी हुई आवाज, तालु और कण्ठ में चुभनेके समान वेदना, नेत्र, मुख, मल और मूत्रमें श्यामता तथा मलमूत्रावरोध रहना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

(२) पित्तज स्वरभेद लक्षण—बोलनेमें वेदना होना, कण्ठ और तालुमें दाह तथा मुँह, नेत्र, मल, मूत्र, सब पीले हो जाना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

(३) कफज स्वरभेद लक्षण—रोगी मंद स्वरसे धीरे-धीरे बोलता है । कंठ में कफ खुरखुर करता है, तथा रात्रिको थोड़ा और दिनको अधिक बोल सकता है ।

(४) सन्निपातज स्वरभेद लक्षण—इस प्रकारमें वात, पित्त, कफ, तीनोंके मिश्रित लक्षण होते हैं । यदि रोगीके शब्द समझ में न आवे और रोगका बल अति बढ़ गया हो, तो रोग असाध्य माना जाता है ।

(५) क्षयज स्वरभेद लक्षण—नाक और मुँहसे धुँआ सा निकलता है, ऐसा रोगीको भास होता है । बोलने के समय शब्द नष्ट हो जाते हैं । जब इस क्षय जनित रोगमें ओजका क्षय हो जाता है; देहकी कान्ति नष्ट हो जाती है, और मुँहसे उच्चारण नहीं होता है, तब रोग असाध्य हो जाता है । यदि विकार क्षयके प्रारम्भकालमें हुआ हो, तो साध्य हो सकता है ।

(६) मेदज स्वरभेद लक्षण—मेदज स्वरभेदमें स्वरबह स्रोतों

में मेद भर जाता है । जिससे रोगी अस्पष्ट बोलता है; और देर से बोलता है । बहुधा यह दूसरोंकी समझमें नहीं आता । कण्ठ, ओष्ठ और तालु मेदसे भरे रहते हैं । इस स्वरभेदमें तृषा अधिक लगती है । परन्तु कफजमें तृषा नहीं लगती, यह श्लेष्मज और मेदजमें अन्तर है ।

इनके अतिरिक्त भगवान् आत्रेयने रक्तसंचय, कास और पीनससे स्वरभंग होनेका कहा है ।

रक्तज स्वरभेद—जब स्वरयन्त्रमें रक्तविवंध होता है; तब तत्काल स्वरभेद हो जाता है । इस विकारसे बोलनेमें कष्ट होता है ।

कास जन्य स्वरभेद—जब शुष्क कास तीव्र वेगसे चलती है; तब कण्ठ प्रदेश शुष्क होकर मृत-सा हो जाता है । फिर रोगीसे भलीभाँति बोला नहीं जाता ।

पीनसजन्य स्वरभेद—कभी पीनस रोग होने पर स्वरभेद हो जाता है । उसमें कफ वातज लक्षण प्रतीत होते हैं ।

असाध्य लक्षण—क्षयसे क्षीण शरीर वाले, वयोवृद्ध और अति दुर्बल मनुष्यका स्वरभेद, बहुत समयका पुराना, जन्मसे होने वाला, मेदस्वीका और सम्पूर्ण उपद्रवों युक्त स्वरभेद, ये सब साध्य नहीं होते । अष्टाङ्ग हृदयकारने गलगण्ड, स्वरभेद और श्वास रोगको १ वर्ष हो जाने पर असाध्य माना है ।

डॉक्टरी स्वरभेद विवेचन ।

स्वरयन्त्रकी व्याधियोंमें जो लक्षण उत्पन्न होते हैं; वे सब स्वरयन्त्रकी मुख्य विकृति जन्य है, ऐसा नहीं कह सकेंगे । विविध सार्वाङ्गिक वेदना या इतर स्थानिक पीड़ावशतः स्वरयन्त्र परम्परा विकार ग्रस्त होता है । इसलिये स्वरयन्त्रके लक्षण प्रकाशित होनेपर स्वरयन्त्र और इतर शारीरिक विधानकी परीक्षाकर सच्चे कारणका अनुसंधान करना चाहिये ।

कण्ठ स्वर—अनेक कारणोंसे कण्ठ स्वरमें विविध विकृति हो जाती है। कोमल तालु का पक्षाघात या कोमल तालुमें छिद्र हो जानेके पश्चात् नासारन्ध्रमें अवरोध होनेपर आवाज उन्मुक्त (Open) होती है। नासाबुंद या प्रतिश्याय आदि हेतुओंसे नासारन्ध्रमें वायुप्रवाह निरुद्ध होनेपर आवाज आवद्ध अनुनासिक उत्पन्न होती है। अधिक व्याख्यान आदिसे आवाज बैठ जाती हैं। इनके अतिरिक्त क्षीण कण्ठस्वर, अधिक अक्षर सहवर्त्ती स्वर, स्वर लोप (Aphonia), ग्रसनिकामे से उत्पन्न तीक्ष्ण स्वर, अस्वाभाविक मोटी आवाज आदि भेद होजाते हैं।

स्वर यन्त्रकी पीड़ाके निर्णयार्थ कण्ठ स्वर आदि सब बातोंपर लक्ष्य देना चाहिये। स्वर यन्त्रका प्रदाह चाहे उतना सामान्य हो, फिर भी कण्ठ स्वरमें विकृति हो ही जाती है। चाहे स्वर भंग हो, या अशुद्ध अपूर्ण उच्चारण हो। आशुकारी प्रदाह होनेपर स्वरलोप होजाता है। रोगीके बोलनेपर ऐसा भास होता है कि कानके पास फिमफिस आवाज हो रही है। इसे स्वरलोप (Aphonia) कहते हैं। स्वरोच्चारणमें कष्ट होनेपर तथा उसके साथ कण्ठ स्वरके स्वभावमें परिवर्त्तन होजाने पर उसे कण्ठस्वरकृच्छता (Dysphonia) कहते हैं।

चिरकारी स्वरयन्त्रप्रदाह होनेपर स्वरलोप या स्वरकृच्छता उपस्थित होती है। एव स्वर यन्त्रमें क्षण, स्थूलता, अप्राकृत वृद्धि आदि विकारोंमें यदि स्वर तन्त्री आक्रान्त होती है, तो कण्ठ स्वर फट जाता है, और फिमफिस उच्चारण होने लगता है, अथवा स्वरलोप हो जाता है। इनके अतिरिक्त स्वरयन्त्र द्वाराका शोथ और स्वरोत्पादक मांस पेशीका पक्षाघात होनेपर स्वरलोप होजाता है।

कृकाटक अवटु मांस पेशीका पक्षाघात होनेपर श्वासोच्छ्वासमें स्वर तन्त्री बाहरकी ओर संचालित नहीं होती। श्वासोच्छ्वासके समयमें पक्षाघात ग्रस्त स्वरतन्त्री मध्य रेखाके समीप रहती है।

उभय स्वरतन्त्रियोंका पक्षाघात होनेपर दोनोंके बीचमें सामान्य कथन मात्रका अन्तर रहता है। इस हेतुसे श्वास ग्रहणमें कष्ट होता

है । एवं कृकाटकघाटिकापार्श्विका पेशी और अन्तरस्थ घाटान्तरिया पेशी, सबके आक्षेप और संकोचके हेतुसे इस तरह श्वासकृच्छ्रता उपस्थित हो जाती है ।

अन्तरस्थ घाटान्तरिया पेशीका पक्षाघात होने पर दोनों घाटिका तरुणास्थि परस्पर जुड़ जाती हैं । इनके प्रवर्द्धन (कृकाटक घाटिका पार्श्विका पेशी) परस्पर नजदीक आजाते हैं; किन्तु उनके पीठ प्रदेश (Base) इस तरह समीप नहीं आते; तथा स्वरोच्चारणमें स्वर यन्त्रद्वारेके पश्चात् तृतीयांशमें एक त्रिकोण स्थान बन जाता है ।

अबटु घाटिकाके पक्षाघातमें स्वरोच्चारण होने पर स्वरतन्त्री कुछ खिंचती है । तन्त्री बाहरकी ओर धनुषके आकारकी बन जाती है । एवं इसकी वियुक्त धारा टेढ़ी हो जाती है । यदि इसके साथ अन्तरस्थ घाटान्तरिया पेशी भी पक्षाघातग्रस्त होती है; तो तन्त्रीमें स्थान अलग रह जाता है; और सम्मुख कृकाटक घाटिका पार्श्विका पेशी बाहरकी ओर धनुषके सदृश बन जाती है ।

पार्श्विका और अन्तरस्थ घाटान्तरिया पेशी समूह का पक्षाघात होने पर स्वरोत्पादनके समय स्वरयन्त्र द्वारा मुक्त रहता है; और वह बृहत् त्रिभुजाकार बन जाता है । केवल पार्श्विका कृकाटकघाटिका पेशीका पक्षाघात हो, तो स्वरयन्त्र शिखराकार-सोगठी (Lozenge) के सदृश बन जाता है ।

यदि दोनों ओर स्वरयन्त्रारोहिणी नाड़ियोंके तन्तुका घात हो जाय, तो स्वरोत्पादनमें और श्वासोच्छ्वासमें स्वर तन्त्रीकी अर्ध मुक्त अवस्था हो जानेसे वह अचल रहती है । मृत्युके पश्चात् स्वरतन्त्रीकी यही अवस्था प्रतीत होती है । एक ओरकी स्वरयन्त्रारोहिणी नाड़ीका पक्षाघात होने पर स्वस्थ दिशाकी तन्त्री श्वासोच्छ्वासमें बाहरकी ओर स्वाभाविक रूपसे संचालित होती रहती है । एवं स्वरोत्पादनमें यह घाटिका तरुणास्थिका अतिक्रमण करके अवसन्न तन्त्री के पास आ जाती है ।

कृकाटक अबटुक पेशीका पक्षाघात होने पर स्वरोत्पादनमें स्वस्थ

तन्त्री की अपेक्षा अवसन्न तन्त्री गम्भीर भाव से स्थिर होती है । उत्तर-स्वैरिणी नाड़ियों का पक्षाघात होने पर पक्षाघात वाली दिशामे अधि-जिह्वा अचल हो जाती है । एव इसकी श्लैष्मिक कलाकी स्पर्शानुभूति लुप्त हो जाती है । इस हेतुसे प्रतिफलित क्रिया के अभाववशतः कुछभी भोजनके निगलनेके समय वह श्वासनलिकामे प्रविष्ट होजाता है, और विषम यन्त्रणा उत्पन्न करा देता है । इनके अतिरिक्त जिन जिन स्थानोमें स्वरयन्त्र या कण्ठस्वरमे कोई भी विकार होनेकी संभावना न हो; उन उन स्थानोमे भी अतिशय दुर्बलता आजानेसे फुफ्फुसोंमेसे वायुको बाहर निकालनेमें असमर्थता आजाती है, फिर स्वर लोप भी होजाता है ।

वेदना—स्वर यन्त्रकी वेदना अतिशय तीव्र शूलके सदृश अथवा भारीपन, खुजली और जलनके समान होती है । दबाने, बोलने और निगलनेके समय वेदनाकी वृद्धि होती है । कोई कोई बार वेदना इतनी प्रबल हो जाती है कि, बोलना और निगलना आदि क्रिया बिल्कुल नहीं होती । आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाहमे वेदना काटनेके समान होती है; किन्तु प्रदाह अपेक्षा कृत मृदु होने पर तथा शुष्क प्रतिश्याय और त्वचारोग-लुपास (Lupas) मे स्वर यन्त्रके ऊपर सामान्य वेदना प्रतीत होती है । कर्क्स्फोट, राजयक्ष्मा, क्वचित् उपद्रव रोगमे और स्वरयन्त्रमे बाह्य पदार्थ का प्रवेश होने पर वेदना अति प्रबल और तीव्र होती है । ध्वसकारक क्षत वर्तमान होने पर वेदना अत्यधिक और तीक्ष्ण होती है । यह लक्षण तरुणास्थिके आवरणमें प्रदाह (Perichondritis) का निर्णायक है ।

अस्वाभाविक अनुभूति—(Paresthesia) स्वरयन्त्रके विकार में अनेक बार रोगी विशेष प्रकारकी व्यथाका अनुभव करता है । जलन, खुजली और गुलगुलीका अनुभव होता है, अथवा किसी बाह्य पदार्थके भीतर रहने या शीतल वायु लगनेका भास होता है, दबाव, भासता है । एव स्वरयन्त्र भर गया या कण्ठमें कुछ फस गया है, ऐसी प्रतीति होती है । रोगी बारबार प्रवाही वस्तुके घूँट (Draught) को

निगलता रहता है । इस अवस्थाको डाक्टरीमें ग्लोबस हिस्टेरिकस (Globus Hystericus) कहते हैं । इस अवस्थामें स्वरयन्त्रके किसी भी स्थानमें परिवर्तनकी प्रतीति नहीं होती । यह हिस्टीरियाके इतर लक्षणोंके साथ होता है । एवं किसी प्रकारकी उत्तेजना होनेसे यह अवस्था दूर होती है, या बढ़ जाती है । हिस्टीरिया और चित्तोद्वेग (Hypochondriasis) विकारमें अस्वाभाविक अनुभव होता है । पाण्डु और हलीमकमें वातवाहिनियोंकी विकृतिके हेतुसे भी यह लक्षण उपस्थित हो जाता है ।

आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह की प्रथमावस्था और चिरकारी स्वरयन्त्र-प्रदाहकी कोई भी अवस्थामें सामान्यतः स्थानिक शुष्कता भासती है । सब प्रकारके स्वरयन्त्रप्रदाह और गलौष व्याधि (Croup) होने पर, तथा स्वरयन्त्र द्वारमें शोथ रोग और उपदंशजनित अन्तर्भरण होने पर रोगीको स्वरयन्त्र पूर्ण भरा हुआ या इस पर दबाव आने का भ्रम होता है; अथवा बाह्य पदार्थ कुछ भीतर है, ऐसी भावना हो जाती है ।

चेतनाधिक्य और चेतनाहास—(Hyperesthesia and Anesthesia)—स्वर यन्त्रमें चेतना वृद्धि होनेपर निरन्तर खांसनेकी हृच्छा होती है । सामान्यतः स्थानिक उग्रता होनेपर कासोत्पत्ति हो जाती है । इस कास क्रियाके अतिरिक्त कासका आवेग होना वह अतिशय दुःखदायी होता है । यह वेदनाप्रद अनुभव स्वरयन्त्रके आशुकारी प्रदाह और राजक्षमाकी प्रथमावस्थामें होता है । कतिपय स्त्रियोंको मासिक धर्म आनेपर और सगर्भावस्थामें चेतनाधिक्य या चेतना हासकी प्रतीति होती है । चेतनाधिक्य हो जानेपर प्रोब (Probe) नामक शलाका द्वारा संस्पर्श करनेपर तत्काल निर्णय हो जाता है । चेतनाहास होनेपर भोजन का अंग स्वरयन्त्रमें प्रविष्ट हो जाता है । श्लैष्मिक कलाको प्रोबसे संस्पर्श करनेपर अनुभव नहीं होता । हिस्टीरिया, कण्ठरोहिणीजन्य पक्षाघात, स्वरयन्त्रकी उत्तर स्वरिणी नामक वातनाड़ियों का पक्षाघात, स्वर-यन्त्रद्वार का पक्षाघात, मस्तिष्ककी कोमलीभूति, अथवा मस्तिष्क

से रक्तसाव (Cerebral Softening or Haemorrhage), या किसी इतर कारणवशतः बेहोशी (Coma) आने पर स्वरयन्त्र की चेतना का हास हो जाता है ।

श्वासकुच्छ्रता और कास—स्वर यन्त्र की विकृति होनेपर श्वास-कुच्छ्रता अथवा कास उपस्थित होती हैं । श्वासग्रहण और श्वास त्याग में कष्ट होता है । एवं किसी-किसी विकृतिसे कास उपस्थित होती है । इन सबका विवेचन श्वसनेन्द्रिय सस्था प्रकरणके प्रारम्भमें किया गया है ।

गिलनकष्ट—(Dysphagia) स्वर यन्त्र का नाश होने पर या उसकी पेशियाके समीप या सयोग स्थान पर आशुकारी प्रदाह होने पर निगलनेमें अति कष्ट होता है । स्वरयन्त्रमें क्षयकीटाणु या घातक क्षत वर्त्तमान होने पर या तरुणास्थिके आवरणका प्रदाह होने पर गिलनकष्ट इतना अधिक होता है कि, रोगी मर्यादित दूध आदि प्रवाही भोजनको भी ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है ।

भोजनका विमार्ग गमन—(Miss swallowing)—किसी कारण वश भोजन या जलके निगलनेके समय उसमें से कुछ अश स्वर-यन्त्रमें प्रवेश कर जाता है, तब भोजन ऊँछूँ चला गया, ऐसा कहते हैं । निगलनेके समय अन्य मनस्क होने, या हसते हंसते निगलने पर या अति जल्दी करने पर स्वस्थावस्थामें भी ऐसा होता है । चेतना हास या वातवाहिनियोंमें वेदना होने पर यह लक्षण प्रकाशित होता है ।

रक्तसाव—प्रबल कास या अति बलपूर्वक अस्वाभाविक बूम मारने पर स्वर यन्त्रमेंसे रक्तसाव होने लगता है । स्वर यन्त्रमें क्षत होनेसे अपेक्षा कृत अधिक रक्तसाव होता है । विविध प्रकारके रक्तपित्तविकार, प्लापक ज्वर, शीतला और पाण्डुरोग (रक्तमें श्वेताणु वृद्धि) में सामान्य रक्तसाव होता है ।

विनियोगमें विकृति—(Co-ordination) इस विकारमें अनेक प्रकार प्रतीत होते हैं । किसी विरोधीके मतका खण्डन करनेके हेतुसे बोलने

पर अधिजिह्विकाका आक्षेप उपस्थित होता है । फिर सामान्य वार्तालापभी अति कष्टसे होती है; अथवा रोगी बोलनेमें बिल्कुल असमर्थ होजाता है । कभी कभी श्वासग्रहण क्रिया पूर्ण करनेके लिये स्वरयन्त्रद्वारा खुला नहीं रहता; बन्द हो जाता है । परिणाम में श्वासग्रहण करनेके समय श्वासावरोध उपस्थित होता है । एवं सां सां ध्वनि युक्त श्वास (Stridor) प्रतीत होता है ।

सामान्यतः स्वरयन्त्रकी वेदनामें उपसर्गरूपसे स्वरयन्त्र द्वारका आक्षेप प्रकाशित होजाता है । इसे परिवर्त्तनशील स्वरयन्त्र विकार (Crises Laryngeal) कहते हैं । शकुन्तगति रोग (लोको मोटर एटेक्सिया—Locomotor Ataxia) होने पर भी इसी तरह आवेग-संयुक्त आक्षेप दृष्टिगोचर होता है ।

स्वरयन्त्र परीक्षा—डाकटरीमें कण्ठ और बड़ी श्वासनलिकाकी परीक्षाके लिये कण्ठवीक्षण यन्त्र (Laryngoscope) का उपयोग करते हैं । इस प्रयोगमें मुड़ा हुआ दर्पण फ्रीता द्वारा कपाल पर बाँधना पड़ता है; तथा दूसरा एक छोटा-सा दर्पण एक लम्बी पतली लाठीसे संलग्न किया जाता है । ये दोनों मिलकर कण्ठवीक्षण यन्त्र बनता है । इन दो दर्पणोंकी सहायतासे कण्ठके भीतरके अवयवोंका दर्शन होता है । कण्ठपरीक्षा करनेके लिये रोगीको एक कुर्सी पर बैठावें । फिर एक ओर, किञ्चित् पिछली ओर बत्ती रखें । फिर रोगीको कण्ठ कुछ पीछेकी ओर मोड़नेको कहें ; और मुख किञ्चित् ऊँचेकी ओर रखावें । पश्चात् कपाल पर वह दर्पण बाँध रोगीके सम्मुख दूसरी कुर्सी पर बैठकर रोगीको मुँह खोलनेको कहें । बादमें दर्पणका प्रकाश तालुमें कौएसे समीपके प्रदेशमें डालें । एवं जिह्वाको कपड़ेसे खीचकर रखें । फिर छोटे दर्पणको उष्ण जलमें गरम कर पोंछ अपने गाल पर दर्पणके पीछेकी ओर को लगाकर देख लें कि, अधिक गरम तो नहीं है । पश्चात् उसे कलम या लाठी पकड़नेके समान दाहिने हाथमें धारण कर बराबर तालु पर्यन्त प्रवेश करावें । गलशुण्डिकाको दर्पण

के मिछले हिस्से द्वारा ऊँचा उठावे । उस समय कपालस्थित दर्पण द्वारा दूसरे छोटे दर्पणमें प्रकाश प्रतिफलित होता है । फिर इस दूसरे दर्पण का प्रकाश स्वरयन्त्र पर प्रतिफलित होता है । बादमें रोगीको दीर्घ श्वास लेनेकी सूचना करे, या 'आःआः' ऐसा लम्बा उच्चारण करावे । जिससे कण्ठके भीतरके अगोंका प्रतिबिम्ब क्षुद्र दर्पणमें प्रतीत होता है ।

कण्ठ स्वस्थ होनेपर श्लैष्मिक कला किञ्चित् रक्त वर्ण और स्वर तन्त्री श्वेत वर्णकी होती है । पीड़ितावस्थामें विशेष लाल बन जाती है । इसके अतिरिक्त अर्बुद, स्फीति, क्षत आदि दर्पणमें देखनेमें आते हैं । सक्षेपमें जो जो विकार हुए हैं, वे सब दर्पणमें प्रतीत हो जाते हैं ।

स्वरभेद प्रकार—डॉक्टरोंमें स्वर यन्त्र विकारके अन्तर्गत निम्नरोग आ जाते हैं, इन सबमें स्वरभेद हो जाता है ।

- १—आशुकारी स्वर यन्त्र प्रदाह—एक्युट लेरिञ्जाइटिस ।
- २—चिरकारी स्वर यन्त्र प्रदाह—क्रोनिक लेरिञ्जाइटिस ।
- ३—स्वर यन्त्र विद्रधि—अलसर ऑफ धी लेरिक्स ।
- ४—स्वर यन्त्र द्वार शोथ—इडिमा ऑफ धी ग्लोटिस ।
- ५—स्वर यन्त्रका आक्षेप सह सकोच—लेरिञ्जिस्मस स्ट्रिड्यूलस ।
- ६—आक्षेप युक्त स्वर यन्त्र प्रदाह—फॉलम क्रुप ।
- ७—आशुकारी झिल्ली मय स्वरयन्त्र प्रदाह (गलौघ)—क्रुप ।
- ८—स्वरयन्त्रका वध—लेरिञ्जियल पैरैलिसिस ।

(१) आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह ।

आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह—एक्युट लेरिञ्जाइटिस—Acute Laryngitis ।

रोग परिचय—यह रोग मन्दज्वर, स्वरभग या स्वर लोप, कण्ठ नलिकामें उग्रताका भास, शुष्क कास, वस्तु निगलनेमें कष्ट और क्वचित् श्वासोच्छ्वास क्रियामें कष्ट आदि लक्षणों सह स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कलामें आशुकारी प्रदाहयुक्त होता है ।

निदान—मृत्यु या नैसर्गिक अवस्थामें परिवर्तन, शीत लग जाना, पैरों पर ठण्डी और आर्द्रता लग जाना, गरम चाय आदिका सेवन, एमोनिया (चूना-नौसादर मिश्रण) आदि उग्र पदार्थोंकी तीक्ष्ण वायु, धुआँ या धूल आदिका स्वरयन्त्रमें प्रवेश होजाना, दीर्घकाल तक व्याख्यान देना या गीत गाना, बालकका जोर-जोरसे अति रोना, कांटा, पिन आदिका स्वरयन्त्रमें प्रवेश, ज्वर, समीपकी इन्द्रियका प्रदाह फैल जाना आदि कारणों से इस विकार की उत्पत्ति होती है ।

लक्षण—कण्ठमें चुभना, भोजन आदि निगलनेमें कष्ट होना, आवाज़ बैठ जाना, शुष्क कास, वातज कासके लक्षण, श्वासोच्छ्वास दीर्घ और सूँसूँ आवाज सह होना, रोग बढ़ जाने पर रक्तमिश्रित श्लेष्म निकलना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । रोग बढ़ने पर स्वरभङ्ग और स्वरलोप हो जाता है ।

इस रोगकी प्रथमावस्थामें श्लैष्मिक कला रक्तावेग ग्रस्त और शुष्क हो जाती है । फिर श्लैष्मिक कलामें अधिक परिमाणमें श्लेष्मस्त्राव होता है । पश्चात् उस स्थान पर शोथकी उत्पत्ति होती है । रोग बढ़ने पर सूक्ष्म रक्त प्रणालियों सब टूटकर रक्तस्त्राव होने लगता है । अन्तमें श्लैष्मिक कलामें क्षत हो जाता है ।

यह रोग अभिघातज होने पर पूर्वोक्त स्थानिक लक्षणों के साथ कम्प और ज्वर उपस्थित होते हैं । मुखमण्डल लाल, किसीका तेजस्वी, किसीका मलिन, नाड़ी क्षीण और अनियमित, अत्यन्त बेचैनी आदि लक्षण भी होते हैं । फिर श्वासकृच्छ्रतावशतः मृत्यु हो जाती है । विशेषतः स्वरतन्त्रीके आक्षेपवशतः या मांस-पेशियोंका पक्षाघात होने पर श्वासावरोध होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

बालकोंमें यह रोग विलक्षण ज्वर सह प्रारम्भ होता है । जिह्वा श्वेत वर्णके लेप युक्त, नाड़ी वेगवती और कठिन, त्वचा उष्ण और शुष्क, मुखमण्डल लाल, श्वासोच्छ्वासमें कष्ट, स्वरभङ्ग, कर्कश या शब्द रहित कास या बैठी हुई आवाज वाली कास और अत्यन्त बेचैनी आदि

लक्षण प्रकाशित होते हैं। एव रात्रिको बार-बार श्वासावरोध हो जाता है ।

स्वरयन्त्रवीक्षण नामक यन्त्र द्वारा देखने पर विदित होता है कि, कण्ठ नलीकी सब श्लैष्मिक कला, विशेषतः अधिजिह्विका और घाटिका मूलके भीतर रही हुई घाटिकाधिजिह्विका कला (Aryepiglottic Fold) शोथमय और लाल लाल प्रतीत होती है । इस हेतुसे इसके नीचेका हिस्सा नहीं दीखता ।

साध्यासाध्यता—यह रोग विशेषतः ४ से ७ दिन तक रहता है । क्वचित् पूर्ण आरोग्य होनेमें २-३ सप्ताह लग जाता है । यह रोग प्रायः असाध्य नहीं होता ; किन्तु अधिजिह्विकाके ऊपर शोथ (Oedema) होने या स्वरयन्त्रमें पूयोत्पत्ति होजाने पर रोग असाध्य बन जाता है । यह असाध्यता युवा मनुष्योंमें बालको की अपेक्षा अधिकतर होती है ।

रोग विनिर्णय—स्थानिक वेदना सह ज्वर वर्तमान होने पर, उसे स्वरयन्त्रके आक्षेप युक्त विकार से स्वर बैठ जाना, फिर स्वर लोप होना, इस लक्षण परसे गलौघ रोगसे भी अलग किया जाता है ।

(२) चिरकारी स्वरयन्त्र प्रदाह ।

चिरकारी स्वरयन्त्रप्रदाह—क्रोनिक लैरिञ्जाइटिस—लैरिञ्जाइटिस सिका—Chronic Laryngitis—Laryngitis Sicca ।

इस चिरकारी व्याधिमें अनेक प्रकार हैं । सामान्य (Chronic Catarrhal Laryngitis), क्षयकीटाणु जन्य (Laryngeal Tuberculosis) और उपदश जन्य (Laryngeal Syphilis) ।

निदान—आशुकारी प्रदाह, अधिक मद्यपान, तमाखू-का अधिक सेवन, संधिवात तथा अधिक व्याख्यान देना या सगीत आदि कारणों से इस चिरकारी प्रदाहकी उत्पत्ति होती है । इनके अतिरिक्त शीत लग जाना, उपग्रताउत्पादक बाष्पसह श्वासग्रहण आदि हेतुसे भी इस रोग की संप्राप्ति हो जाती है ।

लक्षण—स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कला स्थूल और स्फीत हो जाती है । कण्ठमें जुबना, कभी श्लैष्मिक कलामें क्षत हो जाना, कण्ठमें वेदना; आवाज बैठ जाना और फिर स्वरलोप (वाग्वध) हो जाना, आदि लक्षण होते हैं । कभी-कभी शुष्क कास निरन्तर चलती रहती है । इस काससे कफ बहुत कम निकलता है । क्षत हो जानेपर कफ दुर्गन्धयुक्त पूयमय निकलता है । यह क्षत युक्त रोग राजयक्ष्मा और उपदंशके साथमें उत्पन्न होता है । रोग बढ़नेपर भोजन निगलनेमें कष्ट होता है । किसी-किसीको निगलनेके समय अति व्यथा होती है ।

स्वरयन्त्रवीक्षणसे देखनेपर स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कला रक्तावेगग्रस्त और स्फीत, स्थान-स्थानपर शिराएं प्रसारित तथा स्वरतन्त्रीमें रक्ताधिक्य आदिकी प्रतीति होती है ।

यदि अधिक व्याख्यान जनित विकार हुआ हो, तो ग्रसनिकाके एक प्रकारके क्षत क्लर्जिमेन्स सोर थ्रोट (Clergymans sore throat) युक्त स्वरयन्त्र प्रदाहमें कितनीक मिश्रित ग्रन्थियों (Racemose glands) की वृद्धि और लाली प्रतीत होती है । इसमें स्थायी कण्ठस्वरकी विकृति, कास, श्वासकृच्छ्रता और स्वरयन्त्रमें वेदना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

क्षयज स्वरयन्त्रप्रदाह—(Laryngial Tuberculosis) यह विकार राजयक्ष्माके उपद्रव रूप होता है । इस विकारसे त्रण हो जाते हैं; और चिरकारी स्वरयन्त्र प्रदाहके लक्षण तो होते ही हैं; साथ-साथ श्वासकृच्छ्रता, कण्ठमें धुर-धुर आवाज, भोजन निगलनेमें प्रतिबन्ध, श्वासनलिकाके ऊपर रही हुई लसीका ग्रन्थियोंका वातबहानाड़ियोंपर दबाव पड़नेसे वाग्वध आदि उपद्रव भी हो जाते हैं । इसका वर्णन क्षय रोगमें किया जायगा ।

उपदंशज स्वरयन्त्रप्रदाह—(Laryngial Syphilis) उपदंशकी तृतीयावस्थामें स्वरयन्त्रप्रदाह और त्रण होकर तरुणास्थिका नाश हो जाता है । फिर स्वरयन्त्रकी आकृति विकृत हो जाती है ।

इस रोगका बोध उपदश रोगके इतर लक्षण या पूर्ववृत्तरसे हो जाता है।

(३) स्वरयन्त्र विद्रधि ।

स्वरयन्त्र विद्रधि—अलसर अन्ड न्यू ग्रोथ ऑफ धी लैरिक्स—
Ulcer and new growth of the Larynx ।

स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कला या गम्भीरतर विधानमे विद्रधि, दृढता या अस्वाभाविक वर्धन होकर स्वरयन्त्रके चिरकारी प्रदाहके लक्षण प्रकाशित होते हैं। उपदश और इतर रोगोंके हेतुसे यह हो जाता है। इस रोगमे सामान्य विद्रधि, क्षय कीटाणु, उपदशके कीटाणु और कर्कस्फोट जन्य विद्रधि आदि प्रकार प्रतीत होते हैं। इस तरह नववर्धन, रसार्शु बुद् (Papilloma), स्नायुबुद् (Fibroma), रसार्शु बुद् (Cystic Tumour), मांसार्शु बुद् (Sarcoma), कर्कस्फोट (Carcinoma) आदि कारणोंसे हो जाता है। यह नववर्धन स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कलामे और निम्न विधानमे अथवा तरुणास्थि पर या संयोजक तन्तुओंके आच्छादन पर होता है। इनके अतिरिक्त प्रदाह जनित स्थूलता होनेपर या क्षत स्थान पर व्रण सरक्षक कला उत्पन्न होने पर स्फीति और कठोरता भासमान होती है।

लक्षण—इन सब विकारोंमें चिरकारी स्वरयन्त्र प्रदाहके लक्षण, उग्रता, व्रण, रक्तस्राव, स्वरमें विकृति, लोभ या कष्ट, असनिकानिरोध, श्वास कृच्छ्रता, कास, व्याकुलता, कभी-कभी स्वरयन्त्रकी स्थानच्युति आदि उपस्थित होते हैं। स्वरयन्त्रदर्शक यन्त्र द्वारा देखने पर भौतिक चिह्न विद्रधि, क्षत, प्रवर्धन आदि प्रतीत होते हैं।

इस रोगके लक्षण सतत बने रहनेसे इतर रोगोंसे सहज भेद हो जाता है। स्वर यन्त्रके आक्षेपमें ये लक्षण सतत नहीं रहते।

साध्यासाध्यता—यह रोग उपदशजनित होनेपर चिकित्सा करनेसे साध्य हो जाता है; किन्तु स्वरयन्त्रके विधानमें किसी प्रकारके अर्शु बुद्, अवरोध या आक्षेपसे उत्पन्न रोग असाध्य बन जाता है।

(४) स्वरयन्त्र द्वार शोथ ।

स्वरयन्त्र द्वार शोथ—इडिमेटोस लैरिन्जाइटिस—इडिमा ऑफ़ धी ग्लोटिस—Oedematous Laryngitis—Oedema of the Glottis ।

रोग परिचय—श्वासकृच्छ्रता और स्वरभेद आदि लक्षण युक्त स्वरयन्त्रके विकारको स्वरयन्त्र द्वारका शोथ कहते हैं ।

इस रोगमें संयोजक तन्तुओंके भीतर रक्त रस और पूयसाव होता है; और स्वरयन्त्र द्वारके समीप श्लैष्मिक कलामें आशुकारी प्रदाह उत्पन्न होता है । यह रोग बहुधा बालकोंको नहीं होता ।

अधिजिह्विका और घाटिकाके मूलसे सम्बन्ध वाली श्लैष्मिक कलाकी पर्त (Aryepiglottic fold) जिह्वा-अधिजिह्विका संधानक स्नायु (Glosso-epiglottidean Ligament), अधिजिह्विकाके मूल और अन्तर्घाटिका प्रदेशके शिथिल संयोजक तन्तुओंमें रसोत्सृजन होता है । रक्त-रसका साव इतना अधिक होता है कि, इस हेतुसे कभी श्वासा-वरोध होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

निदान—यह विकार आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह से उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त कण्ठनलिका और उपजिह्विका (Tonsil) या इसके समीपके स्थान पर स्फोटक, मुखमण्डल पर विस्फर्प, शोणित ज्वर (Scarlatina) शीतला, वृक्कप्रदाह आदि रोगोंके हेतुसे तथा तेजाब, उग्र क्षार आदि पदार्थोंके सेवनसे इस शोथकी उत्पत्ति होजाती है ।

लक्षण—आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह के लक्षण उपस्थित होते हैं । श्वास ग्रहण में कष्ट, कास, अन्न निगलनेमें कष्ट (Dysphagia) स्वरभेद; और गात्रनीलिमा आदि लक्षण होते हैं । क्रमशः श्वास ग्रहण में कष्टकी वृद्धि होती जाती है । रोगीको ऐसा भास होता है कि, कण्ठ-नलिकामें कुछ बाह्यपदार्थ घुस गया है । अन्तमें श्वासावरोधकी उत्पत्ति होती है । स्वरयन्त्रद्वारके स्फीत होजानेसे निगलनेमें कष्ट पहुँचता है ।

पहले कण्ठस्वर रुद्ध, अस्पाष्ट और दबा हुआ निकलता है । धीरे धीरे उच्चारण में क्षीणता आती जाती है, और अन्तमें बिल्कुल लोप हो जाता है ।

कास पहले शुष्क होती है । फिर जितना रसोत्सृजन बढ़ता जाता है । उतनी कास रुकी हुई और आवाज सह अथवा आवाज रहित होती है । प्रारम्भमें कफ नहीं निकलता । कण्ठको साफ करनेका प्रयत्न अच्छी तरह करने पर एव कासके पश्चात् कुछ भागमय श्लेष्म निकलता है । फिर धीरे धीरे श्वासावरोधकी वृद्धि होती जाती है । एव श्वासग्रहण करने पर 'शी-शी' सदृश ध्वनि सुननेमें आती है । रोगी शय्या में बैठा रहता है, और मुँह खोलकर श्वासग्रहणके लिये प्रयत्न करता है ।

नेत्र गोलकके अतिरिक्त समस्त देहमें अति तीव्र आक्षेप आता है । मुखमण्डल नीला-सा भासता है । ये सब लक्षण कितनेक समय रह कर किञ्चित् शान्ति होती है । पुनः पुनः ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं । फिर जब तुरन्त शमन न हुए तब किसी पर्यायमें श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाती है ।

कण्ठमें धीरे-धीरे अगुलीको प्रवेश कराने पर अधिजिह्विका प्रदेश अति स्थूल मालूम पड़ता है । अधिजिह्विकाकी पर्त अत्यन्त फूली हुई भासती है ।

स्वरयन्त्रवीक्षण यन्त्रसे देखने पर श्लैष्मिक कला अति लाल रंग की, तथा अधिजिह्विका अर्ध स्वच्छ, गोलाकार सूजनयुक्त, दृढ़ और खिची हुई प्रतीत होती है । स्वरतन्त्रीमें बहुधा लसीका या रसका स्राव देखनेमें नही आता ।

रोग विनिर्णय—रोगका इतिहास और कण्ठवीक्षणयन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर रोगका स्पष्ट निर्णय हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग बहुधा असाध्य है । यदि तत्काल योग्य चिकित्साका आश्रय लिया जाय, तो किसी किसीको लाभ हो जाता है । स्थानिक चिकित्सा द्वारा श्वासावरोधका उपशमन होनेपर अत्यन्त

क्षीणता या रक्तविकारके हेतुसे अथवा फुफ्फुसप्रदाह आदि फुफ्फुस यन्त्रस्थ उपसर्गके हेतुसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है । यह रोग कुछ घण्टोंसे लेकर कुछ दिनों तक रहता है ।

(५) स्वरयन्त्रका साक्षेप संकोच ।

स्वरयन्त्रसाक्षेप संकोच—लेरिञ्जिस्मस स्ट्रिड्यूलस—लेरिञ्जा-इटिज स्ट्रिड्यूलोसा—Laryngismus stridulus—Laryngitis stridulosa ।

रोग परिचय—यह रोग अकस्मात् वातवहा नाड़ियोंमें विकृति होने पर श्वासकृच्छ्रता और श्वासावरोधके आरम्भ सह बालकोको होता है । इस विकारमें स्वरयन्त्र द्वारका आक्षेप सह आकुंचन और स्वरयन्त्र की वातनाड़ियोंकी विकृति होती है । विशेषतः एक वर्षकी आयु वाले बालक इस रोगसे आक्रमित होते हैं । इस तरह ३ से ५ वर्षकी आयु वाले बालक पर भी यह रोग कभी-कभी हमला कर देता है ।

निदान—सामान्यतः अंतिम या दूरवर्त्ती प्रदेशके (Peripheric) रोगोके उपद्रव, वातवहा मण्डलकी नाड़ियों की उग्रता, या कभी-कभी स्वरयन्त्रारोहिणी नाड़ियोंमें किसी स्थान पर दबाव आने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है । सामान्यतः दांत निकलनेके समय मसूढ़ोंमें उग्रता अथवा आमाशय वा अन्त्रकी उग्रताके हेतुसे प्रतिफलित रूप कण्ठ-नलिकाकी पेशियोंमें आक्षेप उपस्थित होता है । कितनेकोंको ग्रैवेय ग्रन्थि, उपजिह्विका या इतर ग्रन्थियोंकी वृद्धि और रक्ताधिक्यके हेतुसे यह रोग हो जाता है । कभी-कभी मस्तिष्कमें तरल संग्रह या अस्थि-मार्दव ग्रस्त शिशु इस रोगके वशवर्त्ती होते हैं । भयसे होने वाली प्रतिफलित क्रिया (Reflex) एवं फिरंग रोगके हेतुसे भी कभी यह रोग हो जाता है ।

लक्षण—यह रोग अकस्मात् रात्रिको प्रकाशित होता है । अकस्मात् निद्राभङ्गके पश्चात् रोगीको श्वासकृच्छ्रता होने लगती है ।

कास नहीं होती किंवा किञ्चित् होती है । ज्वर नहीं होता । यदि श्वास कष्ट कुछ समय तक रह जाय, तो मुखमण्डल मलिन नील वर्णका हो जाता है । हाथ-पैर की अंगुलियाँ आकुचित (Tetany) और नीली हो जाती है । साथ-साथ आक्षेप भी होने लगते हैं ।

किसीके हाथका अंगूठा हथेली की ओर झुक जाता है । किसी की मुखमण्डल की पेशियाँ विशेष रूपसे दृढ़ हो जाती है, और किसी की विशेष रूपसे संचालित होती हैं । एवं किसीको अतिशय क्षीणता आकर श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाती है ।

आक्षेप होने पर श्वासोच्छ्वासमें व्याघात पहुँचता है । एव श्वास ग्रहण कालमें मुर्गे की आवाजके सदृश एक विशेष प्रकार की ध्वनि सुननेमें आती है । यह रोग जल्दी ठीक होजाता है । किसी किसीको रोग बार-बार होजाता है, और एक मास तक स्थिर रह जाता है ।

रोगका आवेग होने पर मस्तक पीछे की ओर खिंचता है । दोनों नासापुट प्रसारित होते हैं । कण्ठ और मस्तिष्क की सब शिराए फूल जाती हैं । एव श्वासोच्छ्वास कराने वाली सब पेशियाँ आक्षेपग्रस्त हो जाती हैं ।

श्वासोच्छ्वासमें आवाज आती है । श्वासकृच्छ्रा होती है । रोगी श्वास ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाता है । छाती की दीवार भीतर की ओर हो जाती है । किसी किसी रोगीको आक्षेप युक्त कृत्रिम झिल्लीमय स्वरयन्त्रप्रदाह (कृप) रोगके समान शब्द युक्त कास उपस्थित होती है, तथा श्वासग्रहणमें अति प्रतिबन्ध होता है । यह अवस्था कितनीक सेकण्डो तक रहती है । उस समय भय लगता है कि, रोगीकी तुरन्त मृत्यु हो जायगी ; किन्तु अविलम्ब रोगी एक प्रकार की विशेष उच्च आवाज सह लम्बा श्वास ग्रहण करता है । फिर आक्षेप और वेदना सब निवृत्त हो जाते हैं । पुनः यह रोग उसी रात्रिको या दूसरी रात्रिको न्यूनाधिक बलके साथ उपस्थित होता है । किसी-किसी समय तेज आक्षेप भी प्रकाशित हो जाता है ।

यद्यपि इस रोग और आक्षेप युक्त कृत्रिम भिल्लीमय स्वरयन्त्र प्रदाह (क्रुप) के लक्षणोंके भीतर अनेकाशमें समानता है ; तथापि यह रोग सहसा उपस्थित होता है ; और तुरन्त निवृत्त होता है । ऐसा क्रुपमें नहीं होता । एवं क्रुप रोगके समान इस रोगमें कण्ठके भीतर अस्वाभाविक श्लैष्मिक कला भी नहीं बनती ।

आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाह रोगमें लक्षण क्रमशः प्रकाशित होते हैं ; तथा उसमें ज्वर रहता है । इस रोगका प्रकाशन अकस्मात् होता है ; और इसमें ज्वर नहीं रहता, ये इन दोनोंमें अन्तर है ।

साध्यासाध्यता—इस रोगका परिणाम सर्वदा शुभ ही देखा गया है । रोगीकी अवस्था छोटी हो, शारीरिक रचना निर्बल हो, तथा श्वासयन्त्रकी इतर कोई व्याधि हो, तो क्वचित् ही परिणाम विरुद्ध आ सकता है ।

(६) साक्षेप स्वरयन्त्रप्रदाह ।

साक्षेप स्वरयन्त्रप्रदाह—स्पैस्मोडिक लैरिन्जाइटिस—फॉल्स क्रुप—
Spasmodic Laryngitis—False Croup ।

रोग परिचय—स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिक कलामें प्रदाह तथा स्वरयन्त्र के द्वारकाः आक्षेप सह यह रोग है ।

निदान—यह रोग बालकोंको दौत आनेके समय विशेषतः २ से ४ वर्षकी आयुवालोंको होता है । बालिका की अपेक्षा बालकोंको अधिक होता है । यह रोग कभी कभी वंशपरम्परागत भी प्रतीत होता है । उप-जिह्विकाकी वृद्धि या नैसर्गिक अवस्थामें अकस्मात् परिवर्तन होने पर यह रोग प्रकाशित होता है ।

सामान्य प्रतिश्याय, मन्दज्वर और कण्ठस्वर बैठ जाने पर रोगी सो जाता है ; फिर कुछ घण्टोंके बाद अकस्मात् निद्राभंग होने पर आक्षेप सह श्वासकुच्छता उपस्थित होती है । श्वासोच्छ्वासमें आवाज आती रहती है ।

लक्षण—इस रोगमें कास, कण्ठ स्वरकी कर्कशता और श्वासावरोध, ये लक्षण प्रकाशित होते हैं । एक दो घण्टेके पश्चात् कास और श्वासोच्छ्वास विकृति कम होजाती है । दूसरे दिन प्रातःकाल रोगी स्वस्थ प्रतीत होता है । केवल किञ्चित् कास प्रतीत होती है । यह रोग सुसाध्य है ।

(७) आशुकारी भिल्लीमय स्वरयन्त्रप्रदाह ।

आशुकारी भिल्लीमय स्वरयन्त्रप्रदाह—गलौघ—एक्युट मेम्ब्रेनस लेरिञ्जाइटिस—ट्रु कूप—मेम्ब्रेनस कूप—डिपथेरिक लेरिञ्जाइटिस—
Acute Membranous Laryngitis—Troupe Croup—
Membranous Croup—Diphtheric Laryngitis ।

रोग परिचय—स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिककलाका आशुकारी प्रदाह और अप्रकृत भिल्ली (False Membrane) युक्त यह रोग है । प्रारम्भमें सामान्य प्रतिश्याय, फिर कास, श्वासकृच्छ्रता और दीर्घ कष्ट कर श्वास आदि लक्षण भासते हैं । इस रोगमें स्वरयन्त्रके साथ बृहच्छ्वास नलिका की श्लैष्मिककलामें भी प्रदाह हो जाता है । इस रोगमें स्वरयन्त्र और बृहच्छ्वासनलिकाकी श्लैष्मिक कला प्रदाहयुक्त, रक्ताधिक्ययुक्त और लाल हो जाती है । इस रोगकी उत्पत्ति शीत लगने पर होती है । कितनेके कुटुम्ब इस रोगके अधिक वशवर्त्ती होते हैं । यह रोग बालिकाओं की अपेक्षा बालकोंको अधिक होता है । विशेषतः पुष्ट और बलवान् बालक इस रोगके अधिक वशवर्त्ती होते हैं । शीतकालमें वायु आर्द्र होनेपर यह रोग प्रकाशित हो जाता है ।

सम्प्राप्ति—इस रोगमें स्वरयन्त्रकी श्लैष्मिककलामें अतिशय रक्तसंग्रह, स्फीति, शोथ, और लाली उपस्थित होती है । फिर तुरन्त श्लैष्मिक कलाके साथ नूतन धूसर रंगकी अस्वच्छ कृत्रिम कला निर्माण होती है । प्रथमावस्थामें यह रक्तावेगग्रस्त और शुष्क होती है । फिर उसमेंसे रस निःसरण होना है । अन्तमें कृत्रिम भिल्लीकी उत्पत्ति होती है । भिन्न-

भिन्न स्थानोंमें यह कृत्रिम कला न्यूनाधिक अंशमें मोटी होती है । यह निकल जाने पर निम्नस्थ सच्ची श्लैष्मिककलाकी स्वाभाविक अवस्था दृष्टि-गोचर होती है । श्लैष्मिककलामें रुधिरवाहिनियोंमेंसे एक प्रकारका रक्तस्रस निर्गत होता है; वह गाढ़ा और दृढ़ हो जाने पर कृत्रिम कला का स्तर बन जाता है । यह कृत्रिम कला सत्वर निकल जाती है ।

अणुवीक्षण यन्त्रसे देखने पर यह कृत्रिम कला सूक्ष्म सौत्रिक तन्तु (Fibril) का बना हुआ जाल प्रतीत होता है । यह अधिजिह्विकाके नीचेसे प्रारम्भ होकर स्वरयन्त्र और बृहच्छ्वासनलिकामें फैल जाता है । इसका विस्तार श्वासनलिकाके विभाग स्थान पर्यन्त हो जाता है ।

लक्षण—इस रोगका प्रारम्भ दो प्रकारसे होता है । आक्षेप सह और आक्षेप रहित । आक्षेप सह होने पर प्रारम्भ अकस्मात् होता है । आक्षेप रहित रोगका प्रारम्भ स्वरयन्त्रके आशुकारी प्रदाहमेंसे क्रमशः होता है ।

रोगप्रारम्भ होने पर कण्ठनलिकामें उष्णता भासती है । स्वर भग्न और कर्कश, शुष्क कास और ज्वर, ये लक्षण प्रकाशित होते हैं । स्वर-भङ्ग क्रमशः बढ़ता जाता है । कासमें धातुवादन आवाजके साथ कुक्कुट ध्वनिके समान आवाज आती रहती है । क्षण क्षणमें शिशु दीर्घ कर्कश आवाज सह श्वास ग्रहण करता है । रोगी व्याकुल हो जाता है । श्वास ग्रहणमें अति श्रम और कष्ट होते हैं ; बालक शय्या पर नहीं सो सकता । अति क्षीण हो जाता है; एवं क्षणोंके लिये निस्तेज और प्रयत्नरहित हो जाता है । फिर थोड़े ही समयमें पुनः अति श्वासकृच्छ्रता हो जाती है ; और बच्चा व्याकुल बन जाता है ।

भिल्ली वर्तमान होने पर स्वरयन्त्र द्वार संकुचित होता है ; जिससे निःश्वास कष्टपूर्वक आवाजसह आता है । सामान्यतः निगलनेमें कष्ट नहीं होता । श्वासकष्ट इतना बढ़ जाता है कि, प्रत्येक क्षणमें श्वास-रोधसे मृत्यु तुल्य कष्ट होता है । बालक छुटपटाता है । मुख मण्डल और होठ नीले, बार-बार नासापद्म प्रसारित और आकुंचित, मुख खुला, त्वचा

पर अति प्रस्वेद, कष्टपूर्वक श्वासोच्छ्वास आदि आसन्न मृत्युके लक्षण प्रकाशित होते हैं। रोगी भोजन नहीं करता। अत्यन्त व्याकुलता होती है। ज्वर बढ़ता है। विपासा अति लगती है। जिह्वा मलसे आवृत हो जाती है। फिर विकार पक जाने पर स्वरयन्त्रका आक्षेप शिथिल होता है। जब श्वासोच्छ्वास अपेक्षाकृत सरल होता है; तब रोगीकी क्षीणता और कुछ अंशमें अचेतनाके हेतुसे थोड़े समयके लिये निद्रा आजाती है। पुनः अतिशय कष्टका प्रारम्भ होता है। इस तरह हो होकर कास और वमन आदि द्वारा कृत्रिम भिक्षी कुछ निकल जाती है; और उसके अनुरूप लक्षण आदि न्यून बल वाले हो जाते हैं।

घातक अवस्थाके लक्षण—जिन स्थानोंमें रोग घातक हो जाता है, उन स्थानोंमें श्वासावरोधके लक्षण पुनः-पुनः उपस्थित होते हैं; और कफ नहीं निकलता। कण्ठस्वर और कास शब्दविहीन, श्वासोच्छ्वास अति तेज और ऊपर-ऊपरसे चलना, मुखमण्डल पर अधिक नीलता और निस्तेजता, चक्षु नेत्रोद्गीर्ण और बहुधा बन्द, नाड़ी तेज और क्षीण, त्वचा गोंदके सदृश प्रस्वेद पूर्ण, हाथ-पैर शीतल, अचेतना और अतिशय व्याकुलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस प्रकारमें श्वासावरोधजन्य बेहोशी आकर मृत्यु हो जाती है।

रोगकाल—इस रोगकी अवधि सामान्यतः ३ दिनकी है। कभी दो दिनमें परिणाम आ जाता है। कभी ७ दिन भी लग जाते हैं।

रोगविनिर्णय—स्वरयन्त्रप्रदाह, उपजिह्विकाप्रदाह, स्वरयन्त्रका आक्षेपसह संकोच, कास और कण्ठरोहिणी, इन सब रोगोंमें इस रोगके लक्षण मिलते हैं। अतः सावधानतापूर्वक रोगनिर्णय करना चाहिए।

इस क्रुप रोगमें स्वर अक्रान्त हो जाता है। स्वर भंग और क्षीण हो जाता है। रोगकी अन्तिमावस्थामें पूर्ण लोभ हो जाता है। यह अवस्था कितनेके दिनों (या सप्ताह) तक रह जाती है; परन्तु श्वास-कृच्छ्रता नहीं रहती। श्वासमें प्रतिबन्ध और कास चाहे उतने प्रबल

होनेपर भी स्वरविकृति न हो, तो कृप नहीं कहा जायगा । कृप रोगमें स्वरभंग सतत बना रहना, यह प्रधान लक्षण है । यदि इसके साथ श्वासकृच्छ्रता और कृत्रिम भिल्ली दृष्टिगोचर हो, तो रोगविनिर्णयमें भ्रम नहीं रह सकता ।

स्वरयन्त्र द्वारके शीथमें पहले ज्वर नहीं रहता । एवं क्षण-क्षणमें विराम होनेवाला श्वासकष्ट नहीं होता । इन हेतुओंसे वह पृथक् हो जाता है । कण्ठरोहिणीमें विविध प्रकारके प्रबल दैहिक लक्षण, प्रस-निकामें भिल्ली और अतिशय संक्रामता, ये तीनों लक्षण इस रोगसे विपरीत होनेसे सरलता पूर्वक प्रभेद हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह अति घातक व्याधि है । शिशुकी आशु कम और निर्बल हो, तो रोग असाध्य हो जाता है ।

श्वासोच्छ्वास शब्द सह हो; कास या वमनद्वारा भिल्ली निकल जाती हो; ज्वर शनैः-शनैः मन्द हो जाता हो; तथा कण्ठस्वरमें सुधार होता जाता है, तो भावी फल शुभ माना जाता है ।

श्वासकष्ट, शब्दरहित श्वासोच्छ्वास, चिकना प्रस्वेद, कण्ठस्वर लोप, अचेतना, मुखमण्डल रक्तावेग युक्त, हाथ-पैर शीतल तथा नाड़ी क्षीण और अनियमित आदि लक्षण असाध्यता का बोध कराते हैं ।

स्वरयन्त्रके सब आशुकारी रोगोंमें प्रभेद लक्षण ।

**आशुकारी सामान्य
स्वरयन्त्रप्रदाह**

**आक्षेपयुक्त आशुकारी स्वर-
यन्त्रप्रदाह**

१-क्रमशः उत्पत्ति, श्वासकृच्छ्रता सामान्य, कुछ काल पश्चात् ।

क्रमशः उत्पत्ति, तत्काल प्रबल श्वासकृच्छ्रता ।

२-सब अवस्थामें सम्प्राप्ति, न्यूनाधिक ज्वर सह । स्वरभंग रहता है ।

बाल्यावस्थामें सम्प्राप्ति, न्यूनाधिक ज्वर सह । स्वरभंग रहता है ।

३-शुष्क उग्रतादर्शक कास, ग्रस-
निका लाल ।

शुष्क आवेगयुक्त कास । ग्रस-
निका नीली ।

४-क्रमशः रोगवृद्धि और साध्य ।

क्रमशः रोग वृद्धि, परन्तु परि-
णाम अनिश्चित ।

५-कण्ठवीक्षणयन्त्रसे देखनेपर
स्वरयन्त्र लाल और स्फीत ।

स्वरयन्त्र लाल और अपेक्षा कृत
अधिक स्फीत ।

**आक्षेपयुक्त आशुकारी
स्वरयन्त्रप्रदाह ।**

साक्षेप स्वरयन्त्रसंकोच ।

१-सामान्य स्वरभंग और कास,
सहसा रात्रिको अति श्वासकृच्छ्र-
ता, श्वासग्रहण कालमें कुक्कुट-
ध्वनिवत् आवाज (Crow-
ing) सह जाग जाना ।

स्वरयन्त्रप्रदाह नहीं होता । सह-
सा उत्पत्ति, रोग अति प्रबल, सार्वा-
ङ्गिक तेज आक्षेप ।

२-बालक पर आक्रमण ।

बालक और हिस्टीरिया ग्रस्त
युवती पर आक्रमण ।

३-स्वल्पस्थायी प्रबल ज्वर ।

ज्वर नहीं रहता ।

४-दिनमें सामान्य कास ।

कास नहीं रहती ।

५-विकार मिनटोसे एक घण्टे तक
स्थायी । फिर पुनः प्रकाश या
दूसरी रात्रिमें आक्रमण ।

विशेषतः अस्थिमार्दव और
हिस्टीरिया रोगी आक्रान्त होते हैं ।
अत्यधिक दो मिनटमें रोग अक-
स्मात् स्थगित हो जाता है, और
पुनः प्रकाशित होता है ।

६-कण्ठवीक्षण यन्त्रसे देखने पर
वेवल लाली प्रतीत होती है ।

कुछ भी विलक्षणता नहीं
भासती ।

स्वरयन्त्र शोध ।

१-स्वरयन्त्रमें पहले प्रादाहिक पीड़ा होती है । श्वासकृच्छ्रताकी सत्वर वृद्धि और अति प्रबलता ।

२-सब अवस्थामें प्राप्ति ।

३-लक्षण कारण पर निर्भर ।

४-कास और स्वरभंग नहीं होते ।

५-क्रमशः पीड़ा वृद्धि, फिर रोगीकी मृत्यु या श्वासकृच्छ्रताका हास ।

६-अधिजिह्विका और गोजिह्विका-घाटिका, दोनों स्फीत मोमवत् और मलिन ।

बाह्यपदार्थ प्रवेश ।

१-भूल या प्रमादवश किसी पदार्थ का प्रवेश या आहार-समयमें प्रवेश । प्रविष्ट द्रव्य भेदसे श्वास कृच्छ्रतामें तारतम्यता ।

२-सब आयुमें रोग संप्राप्ति ।

३-ज्वर नहीं रहता ।

आशुकारी फिल्लीमय स्वर-यन्त्रप्रदाह ।

संक्रामक (Epidemic) रूप से प्रकाशित होना, स्वरभंग और कृत्रिम फिल्लीमय कफोत्पत्ति, मृदु ज्वर फिर क्रमशः अविराम श्वास-कृच्छ्रता ।

बाह्यावस्थामें प्राप्ति ।

मृदु ज्वर और अवसाद ।

शुष्क विलक्षण कास, फिर अब-रुद्ध कास, एवं अतिशय स्वरभंग । अविराम रोग वृद्धि, पक्षाघात, प्रबल आवेग, फिर मृत्यु या क्रमशः रोग शमन ।

रक्तवर्ण, स्फीत और कृत्रिम फिल्लीयुक्त ।

काली खाँसी ।

जनपद व्यापक रूपमें प्रकाशित होती है । कासके अति आवेगमें श्वासकृच्छ्रता । दो कासवेगोंके बीचके समयमें श्वासकृच्छ्रता नहीं रहती ।

बालक इस रोगके वशवर्ती ।

श्वासनलिकाप्रदाहके हेतुसे सामान्य ज्वर ।

- ४-उग्रता उत्पन्न क निष्काशक कास । अत्यंत आवेग युक्त कास ।
 ५-कभी स्वरभंग हो जाता है । स्वरभंग नहीं होता ।
 ६-बाह्यपदार्थ न निकले तब तक कासके वेग और वायु कोष-
 कास रहना । किसीको बाह्य विस्तारके हेतुसे विविध स्थानोंमें
 पदार्थ रहने पर भी अभ्यास हो रक्तसाव, अत्यन्त क्षीणता आ जाने
 जानेसे उग्रता उत्पन्न नहीं होती, पर मृत्यु या क्रमशः आरोग्य ।
 और कास स्थगित हो जाती है ।
 ७-परीक्षा करने पर बाह्य पदार्थ स्वरयन्त्रप्रदाह न होनेपर कुछ
 प्रतीत होता है । भी विलक्षणता नहीं भासती ।

स्वरयन्त्रवध ।

स्वरयन्त्रवध (घात) लेरिजियल पैरेलिसिज़-Laryngeal Paralysis ।

यह रोग मस्तिष्ककी वातवाहिनियोंका घात होने पर होता है । यदि इस रोगमें वाणी और कास, दोनोंका अभाव हो, तो व्याधि तीव्र और उभय अगवधयुक्त माना जाता है । वाणी अविकृत हो, केवल कास नाश हो जाय, तो एकागवध (Unilateral Paralysis) कहा जाता है । वाग्वध (Loss of Voice) हो, और कास अविकृत रह जाय, तो स्वरतन्त्रीमें रहे हुए स्थितिस्थापक पीतवर्णके स्नायुसूत्र (Yellow elastic tissue), जो स्वरतन्त्रीके संकोच विकासके करनेवाले हैं, उनका वध (Paralysis of Adductor tissue) माना जाता है । इस रोगका विशेष विवेचन तृतीय भागके भीतर वात रोगमें यथास्थान किया जायगा ।

स्वरभेद चिकित्सोपयोगी सूचना ।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, स्वरभेद-रोगीको पहले स्नेहन, फिर वमन, विरेचन और बह्तिर्कर्म विधिपूर्वक करावें । अन्नपीड़न नष्ट, मुखशोषन (कुल्ले करना), धूमपान, और नाना

प्रकारके कवलधारण आदि क्रिया द्वारा चिकित्सा करें । इनके अतिरिक्त श्वासकासमें कही हुई चिकित्सा-विधि भी इस रोगमें हितकारक है ।

अवपीड़न नस्यके सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं कि:—

गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे ।

मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम् ॥

कण्ठ रोग, सन्निपात, निद्रावृद्धि, विषम ज्वर, मानसिक विकृति और कृमिरोगमें अवपीड़न नस्य हितकारक है । विधि और फलके लिये चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड पृष्ठ २५४ में देखें ।

वातज स्वरभेदमें लवण सहित तैलका, पित्तजमें शहद सह घृतका और कफजमें नार और चरपरे पदार्थोंके साथ शहदका कवल धारण करावें ।

वातजमें भोजन—घी गुड़, मिश्रित भात देवें; तथा ऊपर निवाया जल पिलावें; अथवा वातज स्वरभेदमें भोजन करके घृतपान कराना लाभदायक है ।

पित्तज स्वरभेदमें दूध और मधुर ओषधियोंका विरेचन देवें; और मधुर ओषधियों (काकोली, मुलहठी आदि) के चूर्णको घृत और शहदके साथ देवें । पित्तज स्वरभेदमें घी मिलाकर अनुपान रूपसे दूध पिलाना चाहिए । पित्तजमें दूध सह भोजन और घृतपान करावें ।

कफज और मेदजमें सोंठ, मिर्च, पीपल और पीपलामूलका चूर्ण मिला हुआ गोमूत्र पिलावें । जोरसे गाने या बोलनेसे स्वर-भंग हुआ है, तो मधुर द्रव्यसे औटाया हुआ दूध मिश्री और शहद मिलाकर पिलावें ।

क्षयज और त्रिदोषज स्वरभेदको प्रत्याख्याय-असाध्य कहकर चिकित्सा करनी चाहिये । पीनस जनित, क्षयज और उपदंशज

स्वरभेदमें मूलरोगोको दूर करनेके लिये चिकित्सा करनी चाहिए ।

मेदज स्वरभेदमे चरपरे, कड़वे, और कसैले रसयुक्त ओषधियों द्वारा स्वरभेदको जीतना चाहिये । मेदज स्वरभेदपर कफज स्वरभेदमें कही हुई ओषधियां भी दी जाती हैं ।

जौके साथ आंवला और पीपल मिला, यवागू बना घी और तैल मिलाकर पिलावें; फिर ऊपर सोंठ और पीपल खिलावें; अथवा तीक्ष्ण वमन करानेसे स्वरभेदके कफ और मेद आदि उत्पादक दोष नष्ट हो जाते हैं ।

स्वरभेद होनेपर शीत और तेज वायुसे बचनेके लिये गले पर ऊनी वस्त्र लपेटकर रखना चाहिए । तीव्रप्रकोपमें आग्रह-पूर्वक तेज वायु से बचना चाहिए । गरम जलमें पिसी हुई राई मिला उसमें पैर डुबोनेसे वातज और कफज प्रकोपमे लाभ हो जाता है । खानेके लिये नरम पदार्थ देवे, गरम और उत्तेजक पदार्थ नहीं देना चाहिए ।

क्षयज स्वरभेदके लिये कहा है कि—

कासे श्वासे च हिकायां क्षये प्रोक्तानि यानि तु ।

घृतानि तानि योज्यानि भिषग्भि स्वरसंक्षये ॥

कास, श्वास, हिका और क्षयरोगमें जो सिद्ध घृत कहे हैं; उन सबको क्षयज और इतर स्वरभेदों में प्रयुक्त करना चाहिए ।

आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह होने पर विलम्ब किये बिना विश्रान्ति सेवन करनी चाहिये । विश्राम करने के स्थान में उत्ताप समभाव रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । जलकी बाष्प द्वारा मकान को आर्द्रउष्ण रखना चाहिये ।

यदि कब्ज हो और जिह्वा पर मल लगा हो, तो उदरशुद्धि के लिये पंचसकार या पंचसम चूर्ण अथवा मेगनेशिया सल्फास देना चाहिये । कण्ठ पर सतत पुलिटस बाँधनी चाहिये, या आर्द्र

सेक करना चाहिये । कभी-कभी राई या सरसोंकी पुलिटस या प्लास्टरसे उपकार हो जाता है । राई मिश्रित उष्ण जलमें पैर डुबोना और प्रस्वेद लानेवाली ओषधि देना विशेष हितकारक है । कपूर, जवाखार, बनफसा, अंकोल, देवदारु, द्रोणपुष्पी, रुद्रवन्ती, सोरा, निवायी चाय आदिका सेवन हितावह है । खदिरादि वटी या कण्ठसुधारक वटीको मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे भी अच्छी सहायता मिल जाती है ।

आवश्यकता पर ज्वर और पीड़ा शमनार्थ बच्छनाग प्रधान ओषधि (कब्ज हो तो ज्वरकेसरी वटी, और कब्ज न हो तो आनन्द मैरव रस) का सेवन करावें; या तीव्र पीड़ाके निवारणार्थ अति कम मात्रामें (३ रत्ती तक) अफीम मिश्रित जातिफलान्द्रि वटी (२० ६५१) का सेवन कराया जाता है । परन्तु कब्ज हो, तब तक अफीम नहीं देनी चाहिए ।

यदि प्रतिश्याय और गाढ़ा श्लेष्म भी हो, तो प्रतिश्यायहर-कषाय (२० ७२५), वासादि काथ (२० ७१६), या कफकर्तन रस (२० ५१७) का सेवन कराना चाहिये; या लोहवान भस्म (वैज्ञानिक विचारणा पृष्ठ २७) का सेवन कराना चाहिए । रोगीको बोलनेका बिल्कुल निषेध कर देना चाहिए । उग्रता-साधक पेय और आहारका त्याग कराना चाहिए । अधिक बोलने या गाने से उत्पन्न आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाहमें जलमिश्रित सोरे के तेजाब (Acid Nitric dil) के २ से ५ बूँद घण्टे-घण्टे या दो-दो घण्टे पर १-१ औंस जलमें मिलाकर पिलानेसे आश्चर्य-कारक लाभ पहुँच जाता है ।

चिरकारी स्वरयन्त्रप्रदाहमें बोलनेका निषेध करना चाहिए । शुष्क वातावरणमें निवास करें । एवं पचन संस्थाके विकारको सत्वर दूर करें । यदि गलशुण्डिका (कौआ) बढ़ गया है, तो उसका उपचार संकोचक (ग्राहि) ओषधि द्वारा करना चाहिए ।

मिश्री और फिटकरी का चूर्ण $\frac{1}{2}$ रत्ती, लगानेसे विकृति दूर हो जाती है। कर्पूरादि बटी (२० ६३३) मुँहमें रखनेसे अनेकोंको लाभ पहुँच गया है। अनेकोंको तालु उठानेसे लाभ हो जाता है। फिटकरीको शहदमें मिलाकर कौए पर लगानेसे भी कौआ ठीक हो जाता है।

स्वरयन्त्रशोथ होने पर अवरोधको तत्काल दूर करना चाहिए; देर नहीं करनी चाहिए। स्वरयन्त्रके ऊपर बाहर एक ओर जलौका प्रयोग करनेसे शोथ अनेकांशमें दूर हो जाता है। किञ्चित् रसोत्सृजन हो जाय, तो सम्हालपूर्वक थोड़ेसे अशको काट (Scarfication) देना चाहिए। अधिक रसोत्सृजन होने पर उत्तेजक ओषध प्रयोग करना चाहिए। उदरमें न दे सके, तो बस्ति द्वारा देना चाहिए। यदि पूय हो गया हो, तो वंगभस्म और शृङ्गभस्मके मिश्रणका सेवन कराना चाहिये, और उत्तेजक ओषधि रूपसे रससिंदूर, कस्तूरी या बच्छनाग प्रधान ओषधि देनी चाहिए; या तालसिन्दूर आधी-आधी रत्ती दिनमें ४ समय शहद पीपलके साथ देना चाहिये। मण्डूर मस्म, पुनर्नवादि काथ, सारिवासव या पुनर्नवामण्डूरका सेवन करानेसे शोथका निवारण हो जाता है।

यदि ओषधिसे लाभ न हो, श्वासकृच्छ्रता अत्यधिक होने लगी हो, तो अस्त्रचिकित्सा द्वारा कृत्रिम छिद्र (ट्रेक्योटोमी—Tracheotomy) कराना चाहिए।

साक्षेप स्वरयन्त्रसकोच होने पर उष्ण जलसे भरे हुए टबमें रोगीको बैठावें। जल कण्ठपर्यन्त रहना चाहिए। फिर अवयवोंका भली भाँति घर्षण करे। मस्तक पर शीतल जलमें भिगोया हुआ कपड़ा रक्खें। इस कपड़ेको बार-बार बदल डालें। स्वरयन्त्र पर बार-बार उष्ण सेक करें। यदि आमाशयमें भारी-पन हो, तो वामक ओषधि देकर वान्ति करा दें। बालकको

शुद्ध वायु वाले स्थानमें रखना चाहिए । महा वातविध्वंसन, लक्ष्मीनारायण रस, वातकुलांतक रस आदि ओषधि देकर आक्षेप को सत्वर दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए । भांगका धुआं देनेसे एवं प्याजको काट ताजा टुकड़ा सुंधानेसे आक्षेप शमनमें तत्काल लाभ पहुँचता है ।

आवश्यकता पर कण्ठके पीछेकी ओर एवं दोनों शाखाओं पर राईका प्लास्टर लगावें । मस्तिष्क और मुँह पर शीतल जल छिड़कें । एवं छाती और नितम्ब पर भी शीतल जलसे कपड़ा भिगोकर रखें । शीतल वायु डालें । ये सब उपचार करनेसे आक्षेपका निवारण हो जाता है ।

यदि श्वासावरोध अधिक हो, तो अन्तमें अस्त्रचिकित्सा द्वारा कृत्रिम छिद्र कराना चाहिए ।

स्वरयन्त्रमें अबुद-त्रण-विद्रधि आदि होने पर शस्त्रचिकित्सा का आश्रय लेना चाहिये ।

क्षयजन्य स्वरयन्त्रका क्षत होने पर क्षयनाशक चिकित्सा करनी चाहिये । एवं नीलेथोथेका जल उस भाग पर लगाना हितावह है ।

उपदंशज स्वरयन्त्र क्षत होने पर सोहागेका फूला लगानेसे और मल्लप्रधान औषध-अष्टमूर्ति रसायन, व्याधिहरण रस या उपदंश सूर्यका सेवन करानेसे लाभ हो जाता है । क्षतमें पीड़ा होने पर कण्ठ पर बाहरसे पुलिटस बाँधे; या गरम जलसे सेक करते रहें । एवं उपद्रव अनुसार योग्य उपचार करें ।

आशुकारी भिल्लीमय स्वरयन्त्रप्रदाह होने पर कृत्रिम भिल्लीको निकालने और स्वरयन्त्र द्वारके आक्षेपके शमनार्थ चिकित्सा करनी चाहिये । एवं रोगीके बलका संरक्षण करनेके लिये योग्य लक्ष्य देना चाहिये ।

कृत्रिम भिल्लीके निवारणार्थ वमनकारक औषध बच अति

उपयोगी है। बलसंरक्षणार्थ द्राक्षासव, कस्तूरी, या रससिंदूर अति कम मात्रामें दिनमें २ या ३ बार देना चाहिये ।

प्रारम्भमें ज्वर और स्वरकी कर्कशता अधिक होते हैं; अतः बच्छनाग मिश्रित ओषधि ज्वरकेसरीका सेवन कराना अति हितकर माना जाता है। डाक्टरीमें भी बच्छनागका उपयोग अधिक रूपसे किया जाता है ।

बालकको कब्ज न होने पर बालकल्याण रस या पिप्पल्यादि चूर्ण देते रहना चाहिये। पिप्पल्यादि चूर्ण सामान्य होने पर भी अच्छा लाभ पहुँचाता है ।

फिल्लीको तुरन्त निकालनेके लिये ताजे चूनेकी बाष्पका श्वासके साथ प्रयोग करना चाहिये। कण्ठके ऊपर कपड़े की तह (Compress) बना गरम या शीतल जलमें भिगो कण्ठ पर रखना चाहिये। रोगीको जिस उपचारसे लाभ पहुँचे, उसका प्रयोग करना चाहिये ।

श्वासोच्छ्वासमें गरम जल, चूना या कार्बोलिक एसिड आदि की बाष्पका प्रवेश होनेसे बहुधा सत्वर लाभ पहुँचता है। ग्रीवा देश पर प्लास्टर लगानेसे भी रोग शमनमें सहायता मिल जाती है।

यदि १२ घण्टे तक उपचार करने पर भी लाभ न हो, तो शस्त्र चिकित्सा द्वारा कृत्रिम छिद्र करा लेना चाहिये ।

सूचना—स्थानिक चिकित्साके लिये कण्ठमें दाहक और उग्रता-साधक ओषध प्रयोगका बिल्कुल निषेध है ।

वातज स्वरभेद चिकित्सा

(१) तिल्लीके ताजे तैलमें सैधानमक मिलाकर मुँहमें गण्डूष (कुल्ले) धारण करनेसे कण्ठ, तालु, जिह्वा और दंतमूलमें से संचित कफ निकल जाता है, तथा वातज स्वरभेद दूर होजाता है।

(२) घी और गुड़ मिश्रित कर बनाये हुए भातका भोजन

कराने; तथा फिर निवाया जल पिलानेसे वातज स्वरभंग दूर हो जाता है ।

(३) भोजन करा ऊपरसे सिद्ध घृत पिलाने अथवा सफेद मिर्च ११ नग निगलवा कर ऊपर ४ तोले गोघृत पिलानेसे वातज स्वरभेद निवृत्त होता है ।

(४) कासमर्दन घृत—५४ सेर कसौंदीके रसमें भारंगीका कल्क २० तोले और १ सेर गोघृत मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध करें । इस घृतमें से २-२ तोले पिलानेसे वातज स्वर भेद शमन हो जाता है ।

(५) ब्राह्मी, गोरखमुण्डी, बच, सोंठ, और पीपलका चूर्ण ४ से ६ माशे तक शहद मिलाकर दिनमें २ समय प्रातः-सायं ७ दिन तक खिलानेसे स्वरभंग दूर होकर स्वर सुन्दर बन जाता है ।

(६) भृंगराज घृत—मांगरेका स्वरस, गिलोयका रस, अड्डसे का रस, दशमूल काथ और कसौंदी का रस, प्रत्येक ३। सेर, छोटी पीपलका कल्क १ सेर तथा गोघृत ४ सेर लेवें : सबको मिला यथाविधि घृत को सिद्ध करें । इसमें से १ से २ तोले तक शक्ति अनुसार घृतपान करानेसे सब प्रकारके स्वरभंग और कास रोग दूर हो जाते हैं ।

पित्तज स्वरभेदचिकित्सा ।

(१) मुलहठीका चूर्ण बी-शहदके साथ चाटने, या मुलहठी का सत्व (रब्बेसूस) मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे स्वर खुल जाता है ।

(२) शहद और मिश्री मिलाकर चाटनेसे पित्तज स्वरभेद शमन होता है ।

(३) स्वरभेद जोरसे बोलनेके हेतुसे हो, तो शतावर या खरैटीका चूर्ण ६-६ माशे समान मिश्रीके साथ खिलाकर ऊपरसे मिश्री मिला दूध पिलावे ।

(४) शतावर और धान की खीलका चूर्ण शहदके साथ मिला कर सेवन करानेसे अधिक बोलनेके हेतुसे उत्पन्न विकृति नष्ट हो जाती है ।

कफज स्वरभेदचिकित्सा ।

(१) पीपल, पीपलामूल, कालीमिर्च और सोठ को मिला चूर्ण कर २-२ माशे को गोमूत्रमें मिलाकर दिनमें २ समय पिलानेसे अथवा इस चूर्ण को शहद और तैल मिलाकर चटाने से कफज स्वरभेद दूर हो जाता है ।

(२) भोजनके पश्चात् सोठ, मिर्च, पीपल, या इतर लौग आदि चरपरे पदार्थ खिलानेसे मुखमें से कफ दोष दूर होकर स्वरभेद नष्ट हो जाता है ।

(३) सोठ और हरड़का थोड़ा-थोड़ा चूर्ण बार-बार मुँहमें रखकर रस चूसने ।

(४) बड़े बेरके कोमल पत्तोंको जलके साथ पीस थोड़ा सेंधा नमक मिलाकर २ तोले की पूरी बना घीमें भूनकर खानेसे स्वरभंग दूर हो जाता है ।

(५) बेरकी जड़को मुखमें रखकर रस चूसनेसे स्वरभेद दूर होता है ।

त्रिदोषज स्वरभेदचिकित्सा ।

(१) अजवायन, हल्दी, आंवले, जवाखार और चित्रकमूल को समभाग मिला कर चूर्ण करे । इसमेंसे १ से ३ माशे तक चूर्ण दिनमें २-३ समय घी और शहद मिलाकर चटानेसे त्रिदो-

षज स्वरभंग दूर होता है । चूर्णके साथ पहले घी मिला लेवें । फिर शहद मिलाकर सेवन करावें ।

(२) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च, पीपल) और जवाखार, इन ७ ओषधियों को सम-भाग मिलाकर चूर्ण करें । फिर ४-४ माशे चूर्ण दिन में दो समय सेवन करानेसे सन्निपातज स्वरभंग दूर होता है ।

सूचना—जवाखार या इतर कोई चारको मुँहमें ऐसेही डाल देनेसे जिह्वा फट जाती है । इसलिये घी मिला कर लेना चाहिये ।

(३) काली अगर, देवदारु और हल्दीका काथ कर दिनमें ३-४ समय पिलानेसे सन्निपातज स्वरभंग दूर होता है ।

(४) अन्नरु भस्म १-१ रत्ती शहदके साथ चटाकर ऊपर दशमूलारिष्ट पिलानेसे त्रिदोषज स्वरभंगका निवारण होजाता है ।

क्षयज स्वरभेद चिकित्सा ।

(१) रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ कर्पूराद्य चूर्ण (पृ० ६८६) दिनमें २-३ समय शहदके साथ देनेसे क्षयजनित स्वरभंग दूर होता है ।

(२) सितोपलादि चूर्ण ३-३ माशे दिनमें २ से ३ समय घी और शहदके साथ सेवन करानेसे स्वरभेद, कास, क्षय, श्वास, पार्श्वशूल, और कफप्रकोपजन्य व्याधियाँ नष्ट होजाती हैं ।

(३) अन्नक भस्म आधी रत्ती तथा सुवर्ण भस्म और कस्तूरी चौथाई-चौथाई रत्ती मिला सितोपलादि चूर्णके साथ सेवन करानेसे स्वरभंगका शमन हो जाता है ।

(४) लक्ष्मीविलास रस (२० ४५७), कुलिञ्जनाद्यवलेहके साथ सेवन करानेसे क्षय-कीटाणु नष्ट होकर स्वरभंग दूर हो जाता है ।

(५) मधुकादि तैल—मुलहठी, मुनक्का, पीपल, बायविडंग,

मैनफल और हंसपदी (कीड़ामारी) का मूल, इन सबको मिला कर कल्क करे । फिर चार गुने तिलके तैलमें मिला यथाविधि सिद्ध कर नस्य करानेसे कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें रहा हुआ दोष दूर होकर क्षयज स्वरभंग दूर होता है ।

(६) बलादि घृत—खरैटोमूल, शालपर्णी, विदारीकन्द और मुलहठी, इन ४ ओषधियोंको समभाग मिलाकर कल्क करें । फिर ४ गुना गोघृत और १६ गुनेजलके साथ कल्कको मिला, यथाविधि सिद्ध कर नस्य देनेसे क्षयज और पित्तज स्वरभेद नष्ट होते हैं ।

समस्त स्वरभेद नाशक प्रयोग ।

(१) कुलिजनाथ गुटिका—कुलीञ्जन, छोटी इलायची, मुलहठी और सफेद मिर्च, इनको नागरबेलके पानके रसमें १२ घण्टे खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियों बनाले । फिर १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहे । १ दिनमें लगभग १० गोली तक चूसनेसे सब प्रकारके स्वरभेद दूर होते हैं ।

(२) कुलिजनाथ चूर्ण—कुलीञ्जन, अकलकरा, बच, ब्रह्मी मीठा कूठ, और सफेद मिर्च, इन सबको मिला चूर्ण कर १ से २ माशे दिनमें ३ समय ६६ माशे शहद मिलाकर चटानेसे स्वरभेद शमन हो जाता है । कृत्रिम भिल्लीसे उत्पन्न स्वरभेदमें भी यह चूर्ण उपकारक है ।

(३) चव्यादि चूर्ण—चव्य, अम्लवेत, सोठ, कालीमिर्च, पीपल, ढांसरिया (अभावमें कोकम या खट्टे बेर), तालीस-पत्र, जीरा, वंशजोचन, चित्रकमूल, दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने और तेजपात, इन १३ ओषधियोंको समभाग मिलाकर चूर्ण करे । फिर २ से ३ माशे चूर्ण समभाग गुड़ मिलाकर दिनमें

३-४ बार सेवन करानेसे स्वरभंग अरुचि, पीनस और कफजनित रोगकी निवृत्ति होती है ।

(४) मृगनाभ्यादि अवलेह—कस्तूरी,छोटी इलायची,लौंग और वंशलोचनको मिला शहद और घीके साथ मिलाकर चटाने से उग्र वाक्स्तम्भ और आक्षेपज स्वरभंग आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं । यह अवलेह सेवन करानेके साथ तत्काल अपना प्रभाव दर्शाता है ।

(५) गोरक्ष वटी—रससिंदूर, ताम्रभस्म और लोह भस्म, तीनोंको समभाग मिला, छोटी कटेलीके फलोंके रसमें २१ दिन तक खरल कर आधी-आधी रत्तीकी गोलियाँ बनावें । इनमेंसे १-१ गोली दिनमें २ से ४ समय मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे निःसंदेह सब प्रकारके स्वरभेद निवृत्त हो जाते हैं ।

(६) त्र्यम्बकाभ्र—अभ्रक भस्म ४ तोले लेकर कटेली, खरैटी, गोखरू, घीकुंवार, पीपलामूल, भाँगरा, अडूसाके पत्ते, बेरके पत्ते, आँवले, हल्दी, गिलोय, इन ११ औषधियोंके ४-४ तोले स्वरस (६-६ घण्टे खरल हो उतने स्वरस) या काथसे भावना देकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनावें । इनमें से १ से २ गोली दिनमें २ समय रोगानुसार अनुपान व्याघ्री घृत अथवा कुलिञ्जनादि अवलेहके साथ सेवन कराने से सब प्रकारके स्वर-भंग, बातज, पित्तज, कफज, जोरसे व्याख्यान देनेसे उत्पन्न त्रिदोषज और वातवहा नाड़ियों की विकृतिजनित स्वरभंग दूर हो जाते हैं । इनके अतिरिक्त खराब जलवायुसे उत्पन्न ज्वर आदि विकार, कास, श्वास, उरोग्रह, यकृद्विकार, हिक्का, तृषा, कामला, अर्श, ग्रहणी, विविध प्रकारके ज्वर, शोथ, क्षय और अबुद् आदि रोग निवृत्त होते हैं । यह औषध अद्भुत गुणदर्शक, रसा-

यनोमें श्रेष्ठ, अत्यन्त वीर्यवर्धक, अग्निप्रदीपक और सब प्रकार के रोगोकोहरण करने वाला है ।

(७) सारस्वत घृत—ब्राह्मीका रस या काथ ४ सेर, गोघृत १ सेर, हल्दी, मालतीके फूल, कूठ, निसोत और हरड़ २-२ तोले तथा पीपल, बायविडंग, सैधानमक, शक्कर और बब १-१ तोला मिलाकर कलक करे । फिर सबको मिला मन्दाग्नि पर यथाविधि घृत सिद्ध करें । इसमें से १ से २ तोले तक पान कराने से वाणी शुद्ध होती है । एक सप्ताहमें किन्नर समान कण्ठ हो जाता है । एक पक्ष सेवन कराने पर चन्द्रके समान कान्ति हो जाती है । १ मास सेवन कराने पर स्मरण शक्ति अति बढ़ जाती है । इनके अतिरिक्त सब प्रकारके कुष्ठ, अर्श, पाँच प्रकारके गुल्म, प्रमेह, पाँच प्रकारकी कास आदि रोगो की निवृत्ति हो जाती है । यह घृत बन्ध्याको पुत्र देता है, एवं यह अल्प वीर्य वालेको भी अति हितावह है । इस घृतके सेवनसे बल, वर्ण और जठराग्निकी वृद्धि होती है ।

(८) ब्राह्मचाद्यवलेह—ब्राह्मी, बब, हरड़, अडूसेके पत्ते और पीपल, सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करे । फिर शहदमें मिलाकर अवलेहके सदृश बना लेवे । इस अवलेहमें से ४-६ माशे प्रातः सायं चटाते रहनेसे एक सप्ताहमें स्वरभेद आराम हो जाता है ।

(९) कुलिञ्जनाद्यवलेह—नया कुलिञ्जन १ सेर लेकर १० सेर जलमें काथ करें । चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें । फिर कायफल, पुष्करमूल, भारंगी, पञ्चकोल, त्रिकटु, त्रिफला, बायविडंग, धनियॉ, जीरा, काला जीरा, करंजके फल की सेकी हुई गिरी, काकड़ासिगी, अडूसाके पत्ते, इन २१ ओषधियोंका चूर्ण ८-८ तोले और मिश्री १२४ तोले मिलाकर यथाविधि अवलेह सिद्ध करें । इस अवलेहमें से ६ माशे से १ तोला

तक सेवन करानेसे पञ्च कास, भयंकर वेदनासह हिक्का, महा-घोर स्वरभंग, कंठरोग, मुखरोग, मन्दाग्नि और प्रतिश्याय आदि नष्ट होते हैं। इन सब रोगोंमें स्वरभंगके लिये यह प्रयोग विशेष कार्य करता है।

(१०) सोनागेरु को ताजे धनियेके रसमें पीस कण्ठपर लेप करनेसे स्वरभंग दूर हो जाता है।

(११) आम की मंजरी या बबूलके सूखे फूलको मुँहमें रखकर रस निगलनेसे स्वरभंग दूर होता है।

(१२) व्याघ्री घृत—छोटी कटेली पञ्चाङ्ग ४ सेर लेकर ८ गुने जलमें चतुर्थांश काथ करें। फिर छान कर खरैटी (पीले फूल वाली), गोखरु, सोंठ, कालीमिर्च और पीपल, सबको कटेलीके काथमें पीस ४० तोले कल्क बनावें। पश्चात् काथ, कल्क और २ सेर गोघृत मिलाकर यथाविधि पाक करें। इसमेंसे ६-६ माशे घृत दिनमें दो बार खिलानेसे स्वरभंग और पांचो प्रकारकी खांसीका शमन होता है।

(१३) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—तेजोवत्यादि गुटिका (२० ६४१), कण्ठसुधारक वटी (२० ६४२), एलादि मन्थ (२० ८१५), च्यवनप्राशाबलेह (२० ७६७), कल्याण घृत (२० ८३२) जसद भस्म (२० १५४), कर्पूराद्य चूर्ण (२० ६८६), और कट्फलादि काथ (२० ७१३) आदि हितावह हैं। इनमेंसे अधिक अनुकूल हो, उसका उपयोग करना चाहिये।

(१४) जसद भस्म गिलोयके सत्व और शहदके साथ दिनमें ३ समय देनेसे उपजिह्विका वृद्धि, कण्ठशोथ, लसीका-ग्रन्थियोंका बढ़ना, ये सब दूर हो जाते हैं।

(१५) मेदज स्वर भेद पर रसतन्त्रसारमें लिखे हुए प्रयोग

बृहद्योगराज गूगल (२० ४६६), शिलासिद्धूरवटी (२० ५४७), चंद्रप्रभावटी (२० ६४२ मेदोहर अर्कके साथ), और त्रिफलारिष्ट (२० ७५५) हितावह हैं । इनमें से अधिक अनुकूल हो उसे प्रयोगमें लानी चाहिये ।

(१६) विषप्रकोपजन्य हो, तो सुवर्ण भस्म, प्रवालपिष्टी और गिलोयसत्त्व मिलाकर दूधके साथ सेवन कराना चाहिये ।

(१७) उपदंशजनित होनेपर रसतन्त्रसारमें कही हुई ओषधियां—उपदंश सूर्य (२० ५४६), अष्टमूर्ति रसायन (२० ३०५), मल्लाद्विवटी (२० ५५५), रक्तशोधकारिष्ट (२० ७२३), इनमें से कोई भी एक ओषधिका सेवन करानेसे उपदंशज विष नष्ट होकर स्वरभंग दूर होता है ।

(१८) निर्बलताके हेतुसे स्वरभंग होने पर अभ्रकभस्म (च्यवनप्राशावलेहके साथ), लोह भस्म और ताम्रभस्म (शहद या निवाये दूधके साथ), या सारस्वतारिष्ट (२० ७५८) का सेवन कराना चाहिये ।

(१९) कंठनलीके तीक्ष्ण शोथशमनार्थ कड़वी तुरई को चिलममें रख तमाखूकी तरह धुआं पीकर लार टपकानेसे लाभ हो जाता है ।

(२०) हरड़ और पीपलको गुड़में या चूने को शहदमें मिला कर बाहर कण्ठ पर मोटा मोटा लेप करें, फिर कपड़े से बाँध देने से शोथ शमन हो जाता है ।

(२१) पोस्तके डोडे या कुलथीको जलमें मिलाकर उबालें । ऊपर चालनी ढकें, फिर चालनीके ऊपर फलालेन रक्खें । बाष्पसे गरम होनेपर उससे कण्ठपर सेक करें, और दूसरा फलालेन चालनीपर रक्खें, जिससे सेक चालू रह सके । ऐसे १ घण्टे तक सेक करनेसे शोथ और प्रदाहजन्य वेदनाका निवारण होजाता है ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

आशुकारी स्वरयन्त्रप्रदाहपर

(१) बच्छनागका अर्क (टिञ्चर एकोनाइट) १ से २ बूँद तक
आध-आध घण्टेपर ५-६ बार देते रहनेसे तीव्र ज्वर सह वेदना
शमन हो जाती है । आवश्यकतापर वेदनाके निवारणार्थ अफीमका
अर्क (टिञ्चर ओपियाई) १ से ५ बूँद तक साथ-साथ देते रहें ।

(२) कुआरे सदृश स्प्रे यन्त्र द्वारा निम्न मिश्रण स्वरयन्त्रपर छिड़कनेसे
विशेष लाभ पहुँचता है ।

कोकैन हाइड्रो क्लो० Cocain Hydrochlo	५ ग्रेन
पोटास क्लोरास Pot.Chloras	७५ ग्रेन
एक्वा लौरोसिरेसस Aqua Laurocerasus	७५ बूँद
एसेन्स मेन्थ पिप० Essenc Menth Pip	३ बूँद
जल Aqua	ad ६ औंस तक

(३) अधिक व्याख्यानसे उत्पन्न स्वरभेदपर एसिड नाइट्रिक डिल्युट
२ से ५ बूँद तक १-२ घण्टेके अन्तरपर ३-४ बार देनेसे रोगका
शमन हो जाता है ।

(४) चिरकारी रोग होनेपर तार्पिन तैल या कार्बोलिक एसिडको
श्वासके साथ भीतर पहुँचाना चाहिये ।

(५) स्वरयन्त्रका साक्षेप संकोच होनेपर क्लोरोफार्म या इथरका श्वासके
साथ प्रवेश करा आक्षेप दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए ।

(६) गलौघ रोगमें ज्वर रहनेपर रक्तावेग और प्रदाहके दमनके लिये
बच्छनागका अर्क चौथाई-चौथाई बूँद १५-१५ मिनटपर देते रहना,
यह अति लाभदायक है । साथ-साथ कार्बोलिक एसिडकी बाष्पकी
नस्य भी देनी चाहिये ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—स्वेदन, वस्त्रिक्रिया, शास्त्रीय धूमपान, विरेचन, कवलधारण, नस्य, मस्तकका शिरावेध, जौ, लाल शालि चावल, हंस, जंगली मुर्गे और मोरके मांसका रस, मुनक्काकी पुरानी शराब (थोड़े परिमाणमें), गोखरू, मुनक्का, किसमिस, जीवन्ती, अंगूर, खजूर, हरड़, विजौरा, लहशुन, सैधानमक, मकोय, अदरक, कोमल मूली, नागरबेलका पान, कालीमिर्च, घी, दूध, मिश्री, शहद, गेहूँ, मूँग और धानका लावा आदि पथ्य है ।

अपथ्य—कच्चे कैथ, मोलसिरीके फल, भसीडा, जामुन, तेंदुकेके फल, हरडके अतिरिक्त कसैले पदार्थ, वमन, अधिक निद्रा, व्याख्यान देना और भोजन कर लेनेपर तुरन्त शीतल जल पान करना आदि स्वरभेद रोगीके लिये हानिकर है । तेज-वायु, भोजनमें कठोर पदार्थ, अति गरम पदार्थ, ज्यादा मिर्च, सिगरेट आदिका व्यसन तथा शराब आदि उत्तेजक पदार्थोंका अतिसेवन, ये सब हानि पहुँचाते हैं ।

कासरोग ।

कास-खांसी-कफ-Cough ।

रोग परिचय—‘कसति शिरः कण्ठाद्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः’, अर्थात् जब वायु फुफ्फुस आदिमेंसे निकल शिर और कण्ठ के मार्गमें ऊर्ध्वगति करता रहता है; तब वह कास रोग कहलाता है । कास रोग विशेषतया स्वरयन्त्र, श्वासनलिका और फुफ्फुस में विकृति होने या श्वासोद्भास क्रियामें प्रतिबन्ध आनेपर उपस्थित होता है । नैसर्गिक नियमानुसार फुफ्फुस आदिमें जब कुछ प्रतिबन्ध आजाता है; तब उसे दूर करनेके लिये खांसी चलने लगती है ।

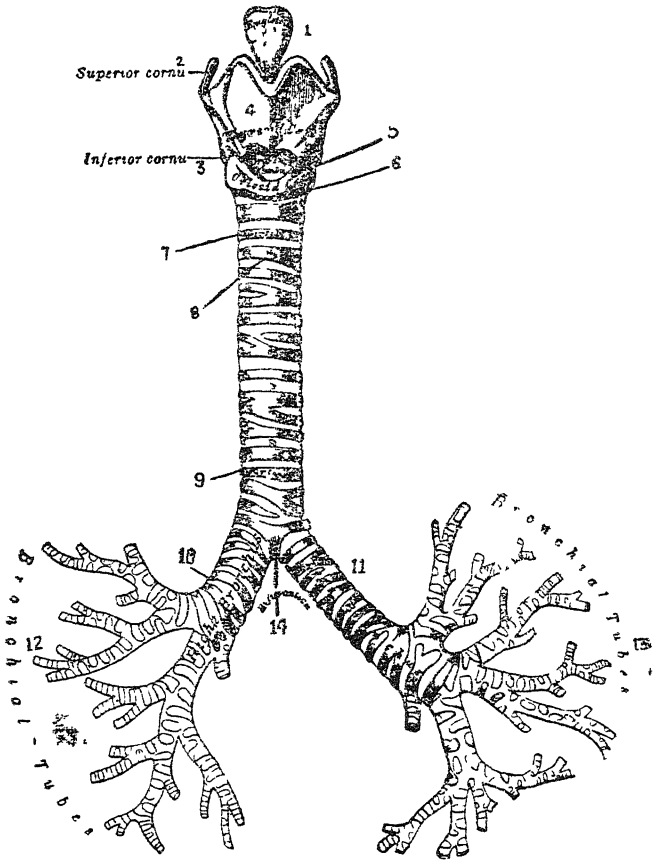
इस कास रोगके निदान आदि जाननेके लिये फुफ्फुस, श्वासनलिका और स्वरयन्त्रकी रचना और कार्य जाननेकी आवश्यकता है। इनमेंसे फुफ्फुसका वर्णन चि० त० प्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ ४३८में श्वसनक वृत्तके साथ किया है। स्वरयन्त्रका वर्णन स्वरभंग रोगमें पृष्ठ ७१५ से ७५१ तक दिया है। शेष श्वासनलिका का विवेचन अत्र करते हैं।

बृहच्छ्वासनलिका—(टेकिया और विन्ड पाइप—Trachea or wind pipe) यह लगभग ४॥ इंच लम्बी और १ इंच चौड़ी है। यह नलिका एक पर एक रहे हुए १६ से २० गोलाकार तरुणास्थियोसे बनी है। इस नलीमें से श्वासोच्छ्वास का आवागमन होता रहता है। यह नली गलेकी आगेकी ओर तथा अबटुकके ऊपर उठे हुए हिस्से (आदमस एपल—Adam's apple) से सहज नीचेकी ओरसे प्रारम्भ होकर नीचे उतरती है। पहले छातीमें जाती है। फिर दोनों फुफ्फुसोंके मूल भागके पास दो मुख्य शाखाओंमें विभक्त हो जाती है।

कण्ठमें इस नलीके आगेकी ओर ग्रैवेयक ग्रन्थि और दो ग्रैवेयक शिराएँ हैं; तथा पीछेकी ओर अन्ननलिका, उसे ढकनेवाली ग्रीवा प्रच्छदा प्रावरणी (Prevertebral fascia) और धमनियाँ रही हैं।

कण्ठकी आगेकी ओर रहे हुए कण्ठकूप पर अँगुली लगानेसे इस श्वासनलिकाका २-३ अँगुल जितना भाग जाना जाता है। इस नलिका की २ शाखायें पाँचवीं पृष्ठकशेरुकाके पास हो जाती हैं। फिर ये शाखा दोनों फुफ्फुसोंके भीतर प्रवेश कर जाती हैं। इन शाखाओंको डाक्टरीमें ब्रोंकाई (Bronchi) कहते हैं। इन शाखाओंकी भी आगे छोटी-छोटी अनेक उपशाखा-प्रशाखायें हो जाती हैं। फिर अति सूक्ष्म होकर वायुकोषोंमें प्रवेश कर जाती हैं। यह श्वासनलिका जो दोनों फुफ्फुसोंमें अनेक शाखा प्रशाखा बन कर गई है, उसके भीतरके सब भाग सूक्ष्म श्लेष्मत्तावी कलासे आच्छादित हैं; और उसमेंसे अवलम्बक नामक श्लेष्मका स्राव होता रहता है।

स्वरयन्त्र और श्वासनलिकाके तरुणास्थि ।



१ अधिजिह्विका Epiglottis ।

२ ऊर्ध्वशृंग Superior Cornu ।

३ अधःशृंग Inferior Cornu ।

- ४ अवटु तरुणास्थि Thyreoid Cartilage ।
- ५ अवटुकृकाटिका कला Cric. Thyr. Membrane ।
- ६ कृकाटक तरुणास्थि Cricoid Cartilage ।
- ७ और १ श्वासनलिकाके तरुणास्थि Cartilages of Trachea ।
- ८ वृहच्छ्वासनलिका Trachea ।
- १० दक्षिण श्वासनलिका Right Bronchus ।
- ११ वाम श्वासनलिका Left Bronchus ।
- १२/१३ श्वास प्रणालिकाएं Bronchial Tubes ।
- १४ श्वासनलिका विभाग Bifurcation ।

दक्षिण श्वासनलिका शाखा बांवी की अपेक्षा अधिक मोटी और छोटी है; इसकी लम्बाई लगभग १ इञ्च है । वाम शाखा पतली और लम्बी है । इसकी लम्बाई लगभग २ इञ्च है ।

कासनिदान—श्वास लेनेके समय मुँह या नाक द्वारा धुँआ या धूलि आदिका स्वरयन्त्र और श्वासनलिकामें प्रवेश हो जाना, अति व्यायाम करनेपर स्वरयन्त्रमें उष्णता बढ़कर शुष्कता आजाना, रुक्ष अन्न सेवन करनेसे कण्ठस्थ तरल श्लेष्मकी न्यूनता हो जाना, भोजन करते समय शीघ्रतासे भोजनको निगलनेपर क्वचित् भोजनके अंशका विमार्गगामी होजाना, अर्थात् स्वरयन्त्रमें चला जाना, एवं लुधा, तृषा, या मल, मूत्र और छींक आदिके वेगका अवरोध होनेपर वायु प्रकुपित होना इत्यादि कारणोंसे कास रोगकी उत्पत्ति होती है ।

कण्ठमें अन्ननलिका और श्वासनलिका, दोनों समीप रही हैं । इस अन्ननलिकाके ऊपरके चौड़े हिस्सेको असनिका कहते हैं । इस असनिकामें ७ छिद्र (द्वार) होनेसे इसे सप्तपथ और सप्तस्त्रिधु प्रदेश भी कहते हैं ।

प्रकृतिने इस असनिकाकी दीवारकी मांसपेशियां परतन्त्र जातिकी (Voluntary) बनाई हैं जिससे ये मांसपेशियां प्रास निगलनेके

समय ग्रसनिकाको चौड़ा करके ऊपर लाती है। फिर ये ग्रसनिकाकी मांसपेशियां ग्रास (भोजन) के चारों ओर संकुचित होती है, और ग्रसनिका नीचे आ जाती है; जिससे भोजन नीचे अन्ननलिकामे चला जाता है। इस क्रियाकालमें स्वरयन्त्रका द्वार और नासिकाके पीछे रहा हुआ द्वार, दोनों क्रमशः अधिजिह्विका और कोमल तालुसे बन्द हो जाते हैं; किन्तु जल्दी जल्दी भोजन करनेवालोंके द्वार कभी-कभी शीघ्रतासे बन्द नहीं हो सकते, जिससे अन्न या जल कभी स्वरयन्त्रमें और कभी नासिक में चला जाता है। इनमेंसे स्वरयन्त्रमें प्रवेश हो जानेपर खांसी और नासिकामे प्रवेश हो जानेपर छींके आने लगती है। यदि स्वरयन्त्र या श्वासनलिकामे गया हुआ अन्न या इतर पदार्थ खांसनेपर भी जल्दी नहीं निकल जाता, तो स्वरयन्त्र आदि अवयवोंमें विकार होकर कास रोगकी उत्पत्ति हो जाती है।

अनेक बच्चोंको इस ग्रसनिकाकी ग्रन्थियोंपर शोथ आ जाता है, इस हेतुसे कितनेक बालक बधिर होजाते हैं। इस शोथके हेतुसे नासिका द्वारा श्वास अच्छी तरह नहीं लिया जाता, फिर बालकोंको मुँहसे श्वास लेना पड़ता है। अधिक काल तक यह स्थिति रह जाय; तो मुँहसे धूलि या जन्तुका प्रवेश होकर कास और प्रतिश्याय हो जाते हैं। ऐसे बालकोंके नाक और मुँहके ऊपरका हिस्सा तथा ऊपरका होठ, तीनोंकी आकृतिमें परिवर्तन हो जाता है। इनके अतिरिक्त छातीको श्वास खींचनेमें भी अधिक श्रम करना पड़ता है। परिणाममें छाती विकृत हो जाती है।

जब कुपित प्राणवायु उदानवायुके अनुगत हो जाता है; तब फूटे हुए कांसीपात्रकी सी आवाज निकलती रहती है। यह विकृति श्वासनलिका या स्वरयन्त्रमें रहे हुए श्लेष्मकलाका ह्रास होकर, उस स्थानमें शुष्कता आजानेपर होती है। फिर रोगी धो-धों, या खो-खो, करता रहता है।

यदि धुआँ, धूलि, भोजन, जल या इतर पदार्थ स्वरयन्त्र

और श्वासमार्गमें चला जाय, तो तत्काल खाँसी उत्पन्न हो जाती है, उसे धांस कहते हैं, वह बहुधा सत्वर शमन हो जाती है; परन्तु जो श्वासयन्त्रको विकृत करने वाले कारणोंसे उत्पन्न होती है; वह योग्य चिकित्सा करने पर भी कई दिनोंके बाद दूर होती है। पहले वायु कुपित होती है; फिर वह कफ और पित्तको प्रकुपित करती है। इस तरह धातुओंमें विकृति अधिक हो जाने से सत्वर दूर नहीं होती।

पूर्वरूप—कास रोग उत्पन्न होनेके पूर्व गला कौटोंसे युक्त हो जाता है। जैसे जौ आदि धान्यके अग्रभागमें सूक्ष्म नोक होती है, तद्वत् ही गलेमें शुष्क मांसल कौटे हो जाते हैं। इन कौटोंकी उत्पत्ति श्लैष्मिक कलामें ऊष्माद्वारा विकृति होनेपर होती है। कण्ठमें खुजली चलना, भोजन निगलनेमें व्यथा होना, भोजनका कण्ठमें रुकना, अग्निमान्द्य, भोजनमें अरुचि, कण्ठ और तालुमें लेपसा भासना तथा आवाज भारी हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

कास प्रकार—कास रोगमें वातादि भेदोंसे ५ प्रकार होते हैं। वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षतज और क्षयज। इनमें उत्तरोत्तर अधिक बलवान् माने गये हैं; अर्थात् वातजसे पित्तज, पित्तजसे कफज आदि। ये सब खाँसी विशेष बलवान् बनने पर शरीर का क्षय कराती है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट प्रभृति सभी आचार्योंने कास रोग के ५ प्रकार कहे हैं। किन्तु हारीताचार्यने चिकित्साकी सरलतार्थ वातपित्तज, कफपित्तज और सन्निपातज, ये तीन भेद अधिक कहे हैं।

(१) वातिक कास निदान—रुखे, शीतल और कसैले पदार्थ का अति सेवन, अतिक्रम भोजन, अधिक स्त्री सहवास, छींक

आदि वेगोका धारण और अधिक परिश्रम करना इत्यादि कारणोंसे वात प्रकुपित होकर शुष्क कासकी उत्पत्ति कराती है ।

(२) पैत्तिक कास निदान—चरपरे, अति गरम, विदाही, खट्टे और नमक आदि स्त्रारका अधिक सेवन, अग्नि और सूर्यके ताप का सेवन और अति क्रोध करना, इन कारणोंसे पैत्तिक कास की उत्पत्ति होती है ।

(३) कफज कास निदान—भारी (देरसे पाक होने वाले पक्के भोजन), दही आदि अभिष्यदी, मधुररस, स्निग्ध-घृत-तैल आदि का दुरुपयोग, दिनमें निद्रा लेना और मेहनत न करना, आदि कारणोंसे कफ धातु प्रकुपित होकर कफज कासकी उत्पत्ति कराती है ।

(४) क्षतज कास निदान—अति स्त्रीसहवास, अति बोझ उठाना, अधिक प्रवास, साहस, अधिक परिश्रम, अधिक बलवान से या घोड़े-हाथी आदिसे युद्ध करना और अति बड़ी आवाज से गाना आदि कारणोंसे (बहुधा रुक्ष मनुष्योंको) क्षतज कास हो जाती है ।

इनमें से किसी भी हेतुसे जब फुफ्फुस पर अधिक दबाव पड़ता है, तब अन्तर्त्वचा (प्रणालिका या कोषकी त्वचा) फट जाती है, और वहाँ पर क्षत हो जाता है । फिर वायु प्रकुपित होकर क्षतज कासको उत्पन्न कर देती है ।

(५) क्षय कास निदान—विषम भोजन, अपथ्य भोजन, विरुद्ध भोजन, अति मैथुन, छोंक, लुधा-तृषा, मल-मूत्र आदि वेगोंका धारण और अति उपवासके साथ अति चिन्ता या शोक करना, इन कारणोंसे जठराग्नि मन्द हो जाती है । फिर तीनों दोष प्रकुपित होकर देहका क्षय कराने वाली दारुण कास अथवा राजयक्ष्माके लक्षणभूत कासको उत्पन्न करा देते हैं ।

विषमाशन, विरुद्धाशन आदिका वर्णन चिकित्सा तत्त्वप्रदीपके पृष्ठ

७६३ और चिकित्सा सहायक प्रकरणके पृष्ठ ३२० से ३३२ तक, वातादि प्रकृतिके लिये पथ्यापथ्य और हिताहितीय विचारणामें देखें । इन विष-माशन आदि कारणोंसे अग्नि दूषित हो जाती है, तब भोजनमें से यथोचित रस नहीं बनता । फिर रसकी न्यूनतासे रक्त, मांस आदिमें कमी होती है । इस तरह शनैःशनैः सब धातुओंका क्षय होकर इस क्षयकास की उत्पत्ति होती है ।

क्षत कास और क्षय कास, दोनोंका सम्बन्ध क्रमशः उरःक्षत और राजयक्ष्मासे है । माधव निदानमें 'विषमा सात्त्व्यं' यह निदान दर्शक श्लोक चरकसंहिता परसे लिया गया है । चरकसंहिताके टीकाकार चक्रदत्तने भी राजयक्ष्माके कारणोंसे ही इस क्षयकासकी उत्पत्ति मानी है; किन्तु माधव निदानके टीकाकारोंने इस बातको स्वीकार नहीं किया । मधुकोष टीकामें 'क्षयजमिति शुक्रादि धातुक्षयजम्, न तु राजयक्ष्मजम्'; एवं आतङ्कदर्पण टीकामें भी 'क्षयजमिति रक्तादि क्षयजम्' लिखा है । इस तरह दोनों टीकाकारोंने विशार्थियोंको भ्रममें डाला है ।

इसका विशेष स्पष्टीकरण श्री० वाग्भट्टाचार्यजीके निम्न वचनसे हो जाता है ।

आयुप्रधानाः कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः ।

कुर्वन्ति यक्ष्मापतनैः कासं धीवेत् कफं ततः ॥

राजयक्ष्मा रोगसे पीड़ित व्यक्तिके वातादि धातुओं राजयक्ष्माके हेतु-भूत कारणोंसे कुपित होकर कासकी उत्पत्ति करते हैं ।

यही तात्पर्य अष्टाङ्ग संग्रहकी शशिलेखा टीका और अष्टाङ्ग हृदय की सर्वाङ्गसुन्दरामें स्पष्ट रूपसे लिखा है ।

(१) वातज कास लक्षण—हृदय, तलाट, दोनों पार्श्व, उदर, फुफ्फुस और शिरमें शूलके समान दर्द होना, वातप्रकोपसे उर, कण्ठ और मुखका सूखना, रोंगटे खड़े हो जाना, चक्र आना, बल, स्वर और ओजका क्षय, मुखकी कान्ति नष्ट हो जाना, तन्द्रा

आना, बार-बार वेगपूर्वक कास चलना, कफका शुष्क हो जाना, आवाज बैठ जाना, स्निग्ध, खट्टे, नमकीन और गरम पदार्थ खानेसे वेगका शमन होना, तथा भोजनका परिपाक होनेपर वायु का ऊर्ध्व गमन होकर खाँसीका वेग उत्पन्न होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

इस कासमें कफ सूख जाता है, जिससे खाँसनेमें बड़ा कष्ट होता है । इस कासको सामान्य जन सूखी खाँसी कहते हैं । इस खाँसीमें कफ बहुधा नहीं आता । १०-१५ मिनट तक खाँसी वेगसे आती रहती है, फिर थोड़ा-सा भाग निकलता है । अनेक रोगियोंको सोने पर खाँसी जोरसे आने लगती है, और बैठने पर कम हो जाती है । कभी-कभी एक फुफ्फुसमें दोष होता है, तब उस पार्श्वसे सोने पर खाँसी उत्पन्न होती है । किसी-किसी को कफ निकलता है; और कफ निकलने पर खाँसी शमन हो जाती है । किसी-किसी को लुधा-तृषा लगने पर एवं चलने फिरने पर खाँसी चलने लगती है ।

(२) पित्तजकास लक्षण—छातीमें जलन, छातीमें से धुआँ-सा निकलना, मद-मंद ज्वर रहना, मुँहका सूखना, मुँहका कड़वा होना, बार-बार तृषासे पीड़ित होना, आवाज बदल जाना, चरपरे रसयुक्त पीले रंग की वमन होना, नेत्र, नाखून, चेहरा, और शरीरका पाण्डुवर्ण होना, मोह (मूर्च्छा आ जाना), अरुचि, चक्कर आना, बार-बार वेग उत्पन्न होना, खाँसने पर प्रकाश-सा दीखना या तारे चमकते हो ऐसा भासना और गलेमें जलन होना, ये सब लक्षण पित्तजकासमें होते हैं । इस रोगमें क्वचित् पित्त और रक्त की वमन होती है ।

इस रोगका मुख्य लक्षण पित्तमिश्रित तरल कफकी प्रतीति है । साधारण लोग इसे गरमीकी खाँसी कहते हैं ।

(३) श्लेष्मज कास लक्षण—मुँह सदा कफसे लिपा हुआ

रहना, मुँहका स्वाद मीठा रहना, शरीरमें पीड़ा, शिरदर्द, सारा शरीर कफसे भरा हो ऐसा भासना, भोजनमें ग्लानि, अग्निमान्द्य, शरीरमें भारीपन, दूषित कफकी सम्पूर्ण शरीरमें वृद्धि हो जानेसे उवाक आते रहना, कभी वमन हो जाना, रोमांचित होना, पीनस या जुखाम होना, तथा श्वास-प्रश्वास क्रियासे कण्ठमें खुजली चलना, तथा खांसनेके साथ सफेद, कुछ पीला, गाढ़ा और चिकना कफ निकलना, छातीमें कफवृद्धिसे कुछ दर्द होना, खांसते समय छाती कफसे भरी हो ऐसा जान पड़ना, निद्रा अधिक आना, देह में जड़ता और चक्कर आना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

सामान्य लोग इस कफज कास को तर खांसी कहते हैं। यह खांसी बहुधा निद्रामेंसे जागने पर अधिक चलती है; और २-४ बार कफ निकल जाने पर वेग मन्द हो जाता है।

(४) वातपित्तप्रकोपज कास लक्षण—बार-बार सूखी खांसी चलना, खुजली, पसलियोंमें शूल, निद्रानाश, आलस्य, अरुचि, मज्ञावरोध और कण्ठ शोष आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(५) पित्तकफज कास लक्षण—कण्ठमें से धुँआ निकलना, रक्तमिश्रित कफ गिरना, नेत्रमें लाली और जलन होना, व्याकुलता और हाथ पैर टूटना आदि लक्षण होते हैं।

त्रिदोषज कास लक्षण—खुजली, दाह, श्वास, उवाक, कभी वमन, अग्निमान्द्य, शोष, अरुचि, शिरदर्द, मुँहमें बार-बार चिकना थूक आते रहना, सूजन, बेहोशी और बेचैनी आदि लक्षण होते हैं।

(६) क्षतज कासके लक्षण—इस प्रकारमें पहले विना कफके ही सूखी खांसी चलती है; फिर कुछ दिनोंके पश्चात् रक्तमिश्रित कफ गिरने लगता है; तथा कण्ठमें दर्द, छातीमें क्षत होनेसे काटनेके समान पीड़ा होना, पार्श्व भागमें खुई चुभानेके समान असह्य दर्द, तीव्र शूलके हेतुसे स्पर्श करनेपर भी वेदना होना,

संधियोंमें दर्द, मंद ज्वर, श्वास, तृषा बढ़ जाना, कास, स्वरभेद तथा कण्ठमेंसे पारावत (कबूतर) के सदृश आवाज निकलना आदि लक्षण होते हैं। रोग वृद्धि होनेपर कम्प होना, बल, वीर्य, वर्ण, रुचि और जठराग्निका ह्रास होना, पीठ और कमर जकड़ जाना तथा मूत्रमें रक्त जाना, इत्यादि लक्षणभी उपस्थित होते हैं।

(८) क्षयज कास लक्षण—भगवान् धन्वन्तरि लिखते हैं कि, इस रोगमें फुफ्फुस आदि अङ्गोंमें शून्य चलना, ज्वर, दाह, मोह (बेहोशी), देहको धारण करने वाली प्राणशक्तिका क्षय, देह सूखकर, दुर्बल होना, बार-बार थूंकते रहना, शरीरमें मांस बिल्कुल कम होजानेसे देह हाड़-पिच्छर-सा होजाना, और दुर्गन्ध युक्त पूय (रास) मिश्रित कफ निकलना इत्यादि लक्षण दिन-प्रति-दिन बढ़ते जाते हैं। जब उपरोक्त सब लक्षणोंकी उत्पत्ति हो जाती है; तब रोग दुश्चिकित्स्य होजाता है।

भगवान् आत्रेय ने लिखा है कि, इस रोगमें पूयमिश्रित दुर्गन्ध युक्त, पीने, हरे, कुछ लाल वर्णवाला बताशेके सदृश कफ निकलना, खांसने पर पार्श्व भाग स्थानभ्रष्ट हो जाने और हृदय गिर जानेके समान भासना, अकस्मात् गरमी और शीतकी इच्छा होते रहना, कभी शीत लगने पर उष्णताकी इच्छा न होना, कभी गरमी होती हो, फिर भी शीत की इच्छा न होना, भोजन पूर्ण करने पर भी दिन-प्रति-दिन बलका क्षय होता रहना इत्यादि लक्षण होते हैं, तथा बिना हेतु मुँह स्निग्ध और प्रसन्न रहना, दाँत और नेत्र अच्छे प्रतीत होना, हाथ-पैरोंके तल मुलायम हो जाना, ईर्ष्या और घृणा करनेका स्वभाव हो जाना, ज्वर बना रहना, फुफ्फुस आदि अंगोंमें वेदना होना, पीनस, अरुचि, पतले फटे हुए दस्त और स्वरभेद आदि लक्षण भी हो जाते हैं। फिर रोग अति बढ़ जाने पर पीनस, श्वास आदि क्षयकारक लक्षणों की उत्पत्ति हो जाती है।

साध्यासाध्यता—यह रोग क्षीण देह वालोंके लिये घातक और बलवान मनुष्योंके लिये याप्य या कष्टसाध्य हो जाता है । क्षयज और क्षतज नया रोग हो, दृढ़तापूर्वक पथ्य पालन किया जाय, तथा सदैव, श्रेष्ठ ओषधि, आज्ञापालक परिचारक और सात्त्विक रोगी, ये सब युक्त हों, तो कदाचिन् साध्य हो सकता है ।

इस कास रोगमें वातज, पित्तज और कफज, ये तीनों प्रकार जो एक दोषज है, वे पथ्य पालन करने पर साध्य हो जाते हैं । जो द्विदोषज है; और वृद्धावस्थामें सब धातुओंका क्षय होकर कास रोग हुआ है; वे दोनों कास रोग याप्य माने गये हैं ।

जिस रोगीको (बहुधा क्षयज कासमें) पूयमिश्रित कुछ मैला, हरा-पीला रंगका कफ निकलता हो, श्वास, स्वरभंग आदि उपद्रव हो, वह नहीं बच सकेगा ।

यह कास सामान्य प्रतीत होनेपर भी महा घातक है । इस हेतुसे कहावत बनी है, कि 'लड़ाईका मूल हांसी और रोगका मूल खांसी' शास्त्रकारोंने भी इसे अनेक रोगोंको उत्पन्न करने वाला माना है । इस हेतुसे श्री० वागभट्टाचार्यने लिखा है किः—

कासाच्छ्वास-क्षय-च्छर्दि-स्वरसादादयो गदाः ।

भवन्त्युपेक्षया यस्मात्तस्मात् त्वरया जयेत् ॥

इस कास रोगकी उपेक्षा करनेपर श्वास, क्षय, वमन, स्वरभेद और पीनस आदि रोगोंकी उत्पत्ति होती जाती है, अतः इसकी सत्त्वर चिकित्सा करनी चाहिए ।

उपरोक्त हेतुओंके अतिरिक्त प्रतिश्याय होने और गलशुण्डिकाकी वृद्धि होनेपर कास प्रकाशित होती है, इस तरह अनेक रोगोंमें उपद्रव रूपसे प्रतीत होती है । इन सबका वर्णन मूलरोगोंके साथ किया जायगा ।

(६) प्रतिश्यायज कास—जुखाम विगड़नेसे इस खांसीकी उत्पत्ति होती है। इसे सामान्य लोग सर्दीकी खांसी कहते हैं। इस रोगमें छातीमें भारीपन, फुफ्फुसोंमें खुजली, दाह, शुष्क कास, रात्रिको सोनेके पश्चात् अधिक खांसी चलना, क्वचित् मन्द ज्वर तथा प्रतिश्यायके इतर लक्षण भी होते हैं। जुखामके हेतुसे मुँहमें बार-बार कफ आता रहता है। यदि इसकी उपेक्षा की जाय, तो यह घोर रूप धारण कर दीर्घकाल तक संतापित करती रहती है।

(१०) निशाकास—(Night Cough) यह खांसी गल-शुण्डिका (कब्जा) के शिथिल होनेपर या उसपर शोथ होनेपर होती है। यह बहुधा रात्रिको सोनेके समय अति त्रास देती है। किसी-किसीको दिनमें भी बार-बार सूखी खांसी आती रहती है; और कण्ठमें सुरसुगहट करती है। इससे कण्ठावरोध और चमन होते हैं। इस रोगको दूर करनेके लिये गलशुण्डिकाको उठाया जाता है। गलशुण्डिकाके दोषको दूर किये बिना इस कासकी निवृत्ति नहीं होती।

इस निशाकासको सुश्रुत संहिता और वाग्भट्ट आदि आचार्योंने मुख रोगके अंतर्गत तालुरोगमें लिखा है; तथा 'कण्ठशुण्डी' और 'गल-शुण्डिका' सज्ञा दी है। इसकी उत्पत्ति दूषित कफ और रक्तसे मानी है। यदि वातपित्त अनुबन्ध होनेसे तोड़ने समान पीडा और दाह सह हो, तो तुण्डीकरी कहलाता है, और केवल रक्तसे व्याधि उत्पन्न हुई हो तथा ज्वर और पीडा सह मृदु शोथ हो, तो उसे 'अध्रुष' कहते हैं। इसका विशेष वर्णन चि० त० प्र० तृतीय खण्डमें मुखरोगके भीतर किया जायगा।

कास संप्राप्ति—हारीत संहितामें लिखा है कि, कण्ठमें रहने वाली उदानवायुमें विकृति हो जाती है, तथा फुफ्फुस आदिमें रही हुई प्राणवायुका कफके साथ संयोग होता है। फिर छातीमें जमा हुआ कफ खांसनेसे कण्ठमें आजाता है। इससे खांसी

चलने लगती है। कफ धातु जब तक प्रकुपित न हो; तब तक इस कास रोगकी सम्प्राप्ति नहीं होती। इस हेतुसे हारीत आचार्य कहते हैं कि:—

न वातेन विना श्वास कासो न श्लेष्मणा विना ।

न रक्तेन विना पित्तं न पित्तरहितः क्षयः ॥

अर्थात् विना वात प्रकोपके श्वासरोग नहीं होता, विना कफ विकारके कास नहीं होती; विना रक्तविकृति पित्त (रक्तपित्त) नहीं होता; और विना पित्त प्रकोप क्षय नहीं होता ।

यूनानी ग्रन्थकार लिखते हैं कि, फेफड़ोंके मुँह या मांसमें सादे गरम दुष्ट रस अथवा सादे शीतल रसकी उत्पत्ति होजानेसे खांसी चलने लगती है; अथवा कोई गरम या पतली चीज शिरकी ओरसे उतरकर फुफ्फुसोंमें खुजली और जलन उत्पन्न कराती है । या मस्तिष्कमें से मवाद उतर कर गाढ़ा और चिकना होकर फुफ्फुसोंमें रुक जाता है; फिर खांसी हो जाती है । अलावा फेफड़ोंमें धुँआ या धूल भर जाना, पित्तमिश्रित रक्त आजाना, शुष्कता, सूजन, फुन्सियाँ या घाव हो जाना इत्यादिमें से कोईभी विकार होजाने पर खांसी उत्पन्न हो जाती है ।

वास्तविक दृष्टिसे विचार करने पर जाना जाता है, कि, जब श्वास मार्ग में हानिकर पदार्थ धूल, अन्न आदि आजाता है, तब उसे नैसर्गिक शक्ति बलात्कारसे बाहर निकालनेके लिये प्रयत्न करती है । इस तरह कफभी आजाय तो उसे भी बाहर निकालनेके लिये नीचेसे दबाव उत्पन्न किया जाता है । विज्ञान की दृष्टिसे जब हानिकर पदार्थ श्वास पथमें प्रवेश कर जाता है, तब श्वास पथमें रहे हुए वातवहा नाड़ियोंके तन्तु उत्तेजित होते हैं । फिर वहाँसे उत्पन्न हुई प्रेरणाके बलसे सुषुम्णामें स्थित

श्वसन केन्द्रमें आवश्यक उत्तेजना उत्पन्न होकर, वह विजातीय या हानिकर पदार्थको बाहर निकाल देती है ।

खांसीके प्रारम्भमें एक दीर्घ श्वास लेकर फिर वायुको बाहर निकाला जाता है, किन्तु यह सरलता पूर्वक बाहर नहीं निकल सकता । कारण, स्वरयन्त्रका मुँह बन्द रहने या मार्गमें कफ आजानेसे प्रतिबन्ध होता है । इस हेतुसे उदरमें रही हुई मांस पेशियां आदि फुफ्फुस पर नीचेसे दबाव डालती है, और भीतर की निरुद्ध वायुको बाहर फेंक देनेके लिये सतत प्रयत्न करती रहती है । जिससे अन्तमें स्वरयन्त्र खुल जाता है, और थोड़ा कफ बलपूर्वक निःश्वासके साथ बाहर निकल जाता है ।

इस श्वासनलिकाकी मांसपेशियोंको प्राणदानाड़ियों (Vagus nerves) के तन्तु संकुचित करते हैं । इसके विरुद्ध इड़ा पिगलाके तन्तु (Sympathetic nerves) इन मांस पेशियोंको शिथिल बनाकर कफका परिमाण कम कराते हैं । इस तरह कफको बाहर निकालनेके लिये इन नाड़ियोंको विशेष श्रम करना पड़ता है । अधिक परिश्रमके हेतुसे जब इन नाड़ियों में शिथिलता आजाती है, तब बार-बार तमक श्वास (Asthma) सह कासका आक्रमण होता रहता है ।

कास रोगका डाक्टरी विवेचन ।

डाक्टरीमे कासको रोग नहीं माना, इतर रोगोंका लक्षण कहा है । डाक्टरी मतके अनुसार कासके मुख्य २ भेद हैं । प्रतिबन्धविरोधी और रोगदर्शक । भीतरके कफ, धूलि आदिको बाहर फेकनेके लिये जो कास उत्पन्न होती है, वह प्रतिबन्ध विरोधी है, और जो किसी रोग विशेषका बोध कराती है, उसे रोगदर्शक कहा है । रोगदर्शक प्रकारमे आर्द्र, शुष्क आदि अनेक विभाग पहले पृष्ठ ७३३ से ७३६ तक दर्शाये हैं । आयुर्वेदिक कास रोगसे सम्बन्धवाले रोग डाक्टरीमें निम्नानुसार हैं ।

१—श्वास नलिकाप्रदाह ।

अ—आशुकारी बृहच्छ्वासनलिकाप्रदाह ।

आ—आशुकारी कैशिक श्वसननलिकाप्रदाह ।

इ—चिरकारी श्वसननलिकाप्रदाह ।

२—कृत्रिम कलानिर्माणकारी श्वसननलिकाप्रदाह ।

३—कूकर कास (काली खांसी) ।

४—श्वासनलिकाप्रसारण ।

इन सबका विवेचन क्रमशः करते हैं ।

१—श्वासनलिकाप्रदाह ।

श्वासनलिकाप्रदाह—ब्रोंकाईटिज—Bronchitis ।

रोग परिचय—श्वासनलिकाकी श्लैष्मिक कलामें प्रदाह या रक्ताधिक्य सह व्याधिको श्वसननलिकाप्रदाह कहते हैं । इस रोगमें आशुकारी और चिरकारी, ऐसे दो भेद हैं । आशुकारीमें भी बृहद् और मध्यम श्वसननलिकाका प्रदाह तथा कैशिक श्वसननलिकाका प्रदाह, ये दो भेद हो जाते हैं । आयुर्वेदकी दृष्टिसे आशुकारीका पित्तज कासमें और चिरकारीका कफज कासमें अन्तर्भाव होता है ।

आशुकारी श्वसननलिकाप्रदाह—इस प्रकारमें बड़ी श्वसनलिका आक्रान्त होती है । उरःफलकास्थिके पीछेकी ओर वेदना, कास और ज्वर आदि लक्षण होते हैं । प्रारम्भमें श्वेत भागयुक्त थोड़ा कफ निकलता है । फिर अपेक्षाकृत अधिक श्लेष्मयुक्त कफ या श्लेष्म और पूयमिश्रित कफ निकलता है । ठेपन परीक्षा करने पर सौषिर ध्वनि (Tympanitic resonance) और ध्वनिवाहक यन्त्रसे परीक्षा करने पर नालीय नादके साथ निम्न ग्राम या उच्च ग्रामयुक्त शुष्क आगन्तुक ध्वनि प्रकाशित होती है ।

यदि प्रदाह बड़ी श्वसननलिकाके बदले सूक्ष्म श्वसननलिकामें हो, तो छातीमें वेदना कम होती है; ज्वर और श्वासकृच्छ्रता होते हैं ।

ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर उच्च ग्रामयुक्त शुष्क आगन्तुक ध्वनिके साथ सूक्ष्म द्रव ध्वनि (बाल रगड़नेके समान आवाज) भी सुननेमें आती है ।

चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाह—इस विकारमे बार-बार कास और श्वासकष्ट उपस्थित होते हैं । अत्यधिक परिमाणमें भाग, पूय और श्लेष्म-मिश्रित कफ निकलता है ।

श्वासनलिकाप्रदाह निदान—इस प्रदाहकी प्राप्तिमे पूर्ववर्त्ती और उद्दीपक, दो प्रकारके निम्नानुसार हेतु हैं ।

(१) पूर्ववर्त्ती कारण—

अ—बाल्यावस्था, विशेषतः दात आनेके समय ।

आ—वृद्धावस्था ।

इ—अपभोजन और शारीरिक अस्वस्थता ।

ई—श्वासनलिकाप्रदाह कुछ कालके पहले होजानेसे स्थानिक विकृति का लेश रह जाना ।

(२) उद्दीपक कारण—

अ—श्वासनलिका की रक्तवाहिनियोंमें रक्तसंचालन मंद होनेसे फुफ्फुसमे रक्ताधिक्य ।

आ—महाधमनीकी बड़ी शाखासे रक्त संचालनमे प्रतिबन्ध होनेसे फुफ्फुसमे रक्ताधिक्य ।

इ—वायुकोषोंमें उग्रता उत्पादक पदार्थ की साक्षात् क्रिया ।

ई—अवस्मात् शीत लग जाना ।

उ—वातरक्त, सधिवात, मोतीभरा शीतला, रोमान्तिका, आदि पिटिकायुक्त ज्वर ।

ऊ—वायुमण्डलमे नैसर्गिक परिवर्त्तन ।

(अ) आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाह ।

आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाह—एक्युट ब्रोंकाइटिस—Acute Bronchitis ।

रोगपरिचय—बृहच्छ्वासनलिका की प्रसेकयुक्त प्रादाहिक व्याधि को आशुकारी श्वसनलिकाप्रदाह कहते हैं ।

सम्प्राप्ति—श्वसनलिका की श्लैष्मिक कलामें रक्ताधिक्य होनेपर लाल बन जाती है; शोथ आता है; और रसस्रावका हास होता है । फिर श्लैष्मिक कलाका स्राव बढ़ जाता है । उपश्लैष्मिक कला (Epithelium) के कोषों की वृद्धि होती है, ये कोष सब ऊपर उठ जाते हैं; और अत्यधिक नूतन कोषोंका निर्माण हो जाता है । ऐसे समय पर कफ पीला बन जाता है; तथा रक्ताधिक्यके हेतुसे श्लैष्मिक कला और कैशिकाएं टूटकर रोगकी प्रथमावस्थामें ही कफ रक्तमिश्रित हो जाता है ।

मसूरिका आदि पिटिकायुक्त ज्वरों (Eruptive Fevers) के पश्चात् श्वसनलिकाप्रदाह या कण्ठमालके रोगीको श्वसनलिकाप्रदाह होनेसे श्वसनलिका की सब ग्रन्थियां रक्ताधिक्यग्रस्त, स्फीत, और स्रावित रससे पूर्ण हो जाती हैं; तथा अन्तमें इन ग्रन्थियों की पिच्छिल अपक्रान्ति हो जाती है ।

लक्षण—प्रतिश्याय, उरःफलकास्थि (Sternum) के पीछे वेदना, सूक्ष्म ज्वर, प्रारम्भमें १ दिन कष्टपूर्वक शुष्क कास, फिर आर्द्र कास, आर्द्र कास होने पर गाढ़ा, चिकना, सफेद कफ पड़ना तथा ३ दिन बाद कफ पतला हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । यदि पूय उत्पन्न हो जाता है, तो कफ पीला हो जाता है ।

आर्द्रता या शीत लगने अथवा जलसे भीगने पर देहमें भारीपन आ जाना, छाती पर दबाव या खिंचने समान भासना, अथवा उरःफलकास्थिके नीचे भोजनका कुछ अंश रुक जानेके समान भासना, आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । नासा गह्वर और तालुमें शुष्कता, श्वास द्वारा गृहीत वायुमें शुष्कता भासना, हाथ-पैरोंके तलोंमें जलन, बृहच्छ्वासनलिकामें कुछ वेदना और शूलका अनुभव होना, छातीमें स्थान-स्थान पर वेदना होना, ज्वर रहना, नाड़ी तीव्रगति युक्त किन्तु क्षीण, प्रारम्भमें कष्टदायक शुष्क कास, खाँसनेके समय छातीके भीतर पीड़ित स्थान पर

वेदनावृद्धि और व्याकुलता होना, पीड़ाके हेतुसे वेदना वाले स्थानको हाथसे दबाकर खोंसना, बारबार खोंसनेसे स्वरयन्त्र और ग्रसनिकामें पीड़ा हो जाना तथा कासके वेगसे अनेक बार स्वरभंग हो जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

रोगीकी वक्षःपरीक्षा करने पर वक्षःके पश्चात् प्रदेशमें दोनो कधो के बीचमें श्वासनलिकाके भीतर श्वासोच्छ्वास ध्वनि बढ़ी हुई भासती है । एवं वायुका आवागमन रुद्ध, स्फीत और प्रदाहयुक्त श्लैष्मिक कलाको स्पर्श करके होता है, इस हेतुसे आवाज अपेक्षाकृत कर्कश हो जाती है । यह कर्कश ध्वनि छातीकी दीवार पर सर्वत्र सुननेमें आती है । जो निःश्वास बाहर निकलता है, उसकी आवाज बढ़ी हो जाती है । इस अवस्थामें कोई प्रकारका परिवर्तन नहीं भासता । ठेपन, स्पर्श और दर्शनपरीक्षा द्वारा छातीके भीतर इतर कोई अवस्था नहीं जानी जाती । फलतः आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहके प्रारम्भमें सामान्य प्रसेकके लक्षण अर्थात् शीत लगना, क्षण-क्षणमें सार्वाङ्गिक दाह या उष्णता, व्याकुलता, शूलसदृश वेदना, थकान, कोष्ठवद्धता, लुधानाश और जिह्वा-मल युक्त हो जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

बालकोंके दात आनेके समय इस रोगकी उत्पत्ति हो जाय, तो द्रुत आक्षेप उत्पन्न हो जाता है । फिर ज्वर आता है, तब वेगवती नाडी, प्यास, मस्तिष्कमें भारीपन, आदि ज्वरके लक्षण प्रकाशित होते हैं । पेशाबमें फोस्फेट जाता है । रोग बढ़ने पर श्वासोच्छ्वासमें तेजी आ जाती है; एव छातीमें खिचावट और वेदना होती है ।

प्रथमावस्थाके पश्चात् श्लैष्मिक कलाकी शुष्कताके स्थान पर श्वासनलिकाओंकी दीवारोंके भीतर यथेष्ट परिमाणमें श्लेष्मा तथा उप-श्लैष्मिक कलाके कोष बहुत पृथक् निकले हुए प्रतीत होते हैं । इस द्वितीयावस्थाके प्रारम्भमें थोड़े परिमाणमें भागयुक्त चिकने, श्लेष्ममय नमकीन कफ निकलता है । फिर रोग बढ़ने पर कफ गाढ़ा, धूसर वर्णका या हल्दीके सदृश पीला और कभी-कभी रक्तके चिह्न युक्त हो जाता

है । कभी-कभी कफ ऐसा गाढ़ा हो जाता है कि बताशेके समान गोल बंधा हुआ बन जाता है । इस अवस्थामें वक्षःपरीक्षा करने पर सूक्ष्म, आर्द्र आगन्तुक ध्वनि सुन पड़ती है । पश्चात् ये सब ध्वनि आर्द्र बृहद् बिम्बस्फोटनवत् हो जाती है ।

इस रोगमें जो भौक्तिक चिह्न प्रतीत होते हैं; इनको भी जानना चाहिये । वक्षः पर ठेपन परीक्षा करने पर कोई साक्षात् फल प्रतीत नहीं होता । स्वस्थावस्थामें ठेपनध्वनिमें कोई विलक्षणता नहीं होती । यह कितनेक अंशमें सत्य है । फुफ्फुसकोषविस्तार होने पर ठेपन ध्वनि में वृद्धि होती है । इसके अतिरिक्त श्वासनली श्लेष्म द्वारा अवरुद्ध होने पर फुफ्फुसका कोई अंश वायुरहित हो, तो फुफ्फुसोंमें स्थानिक संकोच या अवसाद होता है । फिर वहाँ पर घन (Dull) ध्वनि उत्पन्न होती है ।

अनेक स्थलोंमें स्पर्श परीक्षा करने पर कम्पन प्रतीत होता है । कास की प्रथमावस्थामें ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर कोई विशेष चिह्न नहीं जाना जाता; परन्तु कुछ कालके पश्चात् श्वासोच्छ्वास ध्वनिका रुग्णत्व हो जाता है, फिर वह ध्वनि विविध आगन्तुक आवाज द्वारा आच्छादित हो जाती है । उस समय शुष्क या आर्द्र ध्वनि सुनाई देती है । श्वास-नलिकाके भीतर आवरणकलाकी स्फोटिके हेतुसे नली संकुचित हो जाती है । इसी हेतुसे शुष्क ध्वनिकी उत्पत्ति होती है । यदि नलीमें श्लेष्मा है, तो उसमेंसे वायुका आवागमन होनेसे आर्द्रध्वनि उत्पन्न होती है । शुष्क ध्वनि बृहच्छ्वासनलिकामें होने पर उसे कूजन ध्वनि (Rhonchus) और सूक्ष्म प्रणालिकाओंमें होने पर उसे वेणुवादनवत् 'शी-शी' ध्वनि (Sibilus) कहते हैं । यह ध्वनि फुफ्फुसके वैधानिक विकार और संभवतः फुफ्फुसकी दृढ़ता दर्शानेके लिये उपस्थित होती है । विशेषतः आर्द्र आवाजको आर्द्र ध्वनि (क्रिपिटस—Crepitus) कहते हैं । बड़ी या छोटी नलिकामें स्थिति अनुसार यह ध्वनि दो प्रकारकी हो जाती है । बड़ी और छोटी । नलीमें रसस्त्राव होने पर आवाज परसे

इसका बोध हो जाता है । इसी हेतुमे उत्सृष्ट श्लेष्ममे वायुके बुदबुदे फूटते हैं । स्मरण रखना चाहिये कि, कभी-कभी वक्षःप्रदेशके किसी-किसी स्थान पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि क्षण भरके लिये सुननेमे नहीं आती । श्वासनलिका, श्लेष्मद्वारा अवरोद्ध होने पर ऐसा होता है । इसी हेतुसे कभी-कभी फुफ्फुसके किसी-किसी अंशका सञ्कोच या पतन उपस्थित होता है । फिर दूसरे अंशमे क्रियाधिक्य हो जाता है । परिणाममे कास के अतिरिक्त वेगसे फुफ्फुसकोष विस्फारणग्रस्त हो जाते हैं ।

इस रोगके प्रारम्भकालमे रोग निर्णय सत्वर नहीं होता । कारण, पसलीरोग (डब्बा) और वातश्लेष्मिक ज्वरमे भी लगभग समान लक्षण होते हैं, किन्तु पसलीरोगमे जुखाम नहीं होता, तथा वातश्लेष्मिक ज्वरके प्रारम्भमे कूजन ध्वनि नहीं सुनी जाती, नाकमेसे श्लेष्म नहीं पडता, और ज्वर तीव्र रहता है । इन लक्षणभेदसे रोग निश्चय हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यदि उपसर्ग रूपसे इतर विकार न हो, तो यह रोग घातक नहीं बनता, किन्तु अत्यन्त छोटा बच्चा, वृद्ध या दुर्बल व्यक्ति को यह रोग होने पर अधिकांश स्थलोमे असाध्य हो जाता है । अनेक बार आक्षेप उपस्थित होकर रोगीको मार डालता है ।

(आ) कैशिक श्वासप्रणालिकाप्रदाह ।

कैशिक श्वासप्रणालिकाप्रदाह—केपिलरी ब्रोंकाइटिज़—
Capillary Bronchitis ।

रोग परिचय—श्वासनलिकाकी सूक्ष्मतम प्रशाखाओंकी श्लेष्मिक कलाके आशुकारी प्रदाहयुक्त यह व्याधि है । इसमें ज्वर, श्वासोच्छ्वासमे व्याघात और तेजी तथा रुधिराभिसरणमे मन्दता आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

अनेक स्थलोमें तो वृद्धच्छ्वासनलिकामे प्रसेक (Catarrh) प्रक्रियाका विस्तार होनेपर सूक्ष्मतम प्रणालिकाएँ आक्रान्त होती हैं; परन्तु

कभी-कभी प्रारम्भसे ही पृथक् या बृहच्छ्वासनलिकाके साथ रोग-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है ।

निदान—इस रोगका आक्रमण शीत लगने या अत्रस्नात् नैसर्गिक उष्णताका परिवर्तन होनेपर विशेषतः शिशु, छोटे बालकों और कभी वृद्धों पर होता है । शीतके अतिरिक्त रोमान्तिका और काली खासीमें यह रोग उपद्रव रूपसे उपस्थित होता है ।

सम्प्राप्ति—सूक्ष्मतम श्वासनलिकाओं (Bronchioles) की श्लैष्मिककला रक्ताधिक्यग्रस्त लाल-लाल और स्फीत हो जाती है । फिर चिकना श्लेष्म निकलने लगता है । अधिकांश स्थलोंमें फुफ्फुसोंके वायु-कोष सब आक्रान्त होकर प्रसेक्युक्त प्रदाह (Catarrhal Pneumonia) की उत्पत्ति करा देते हैं । जिन स्थानोंमें वायुकोषसमूह प्रदाह-ग्रस्त न हो, उन स्थलोंमें तो श्वासग्रहणकालमें वायु उत्पन्न श्लेष्मामें होकर वायुकोषोंमें प्रवेश करती है; परन्तु श्लेष्मद्वारा क्षुद्रतरनलियां सब अवरुद्ध हो जानेपर निःश्वासके समय वायुकोषोंमेंसे वायु बाहर नहीं निकल सकती । इसी हेतुसे अनेक कोष प्रसारित होकर सीमाबद्ध या व्यापक वायुकोषविस्फारणकी उत्पत्ति करा देते हैं । यदि निःसृत श्लेष्मासे कोई नली पूर्णांशमें अवरुद्ध हो जाय, तो वायु जिन कोषमें गृहीत हुआ है; उन कोषोंमें शोषित होकर वे अपूर्ण प्रसारित (Atelectasis) या पूर्णांशमें संकुचित (Collapse) हो जाते हैं । यदि प्रदाह फुफ्फुसोंके सूक्ष्मतम छिद्र (Alveoli) तक विस्तृत हो जाता है; तो डब्बा रोग (Broncho-Pneumonia) हो जाता है ।

लक्षण—रोगारम्भमें बार-बार शीत लगकर ज्वर आ जाता है । शारीरिक उत्ताप १०४ डिग्री तक बढ़ जाता है । त्वचा उष्ण और मुखमण्डल लाल हो जाता है । मस्तिष्क, ग्रीवा और शरीरका ऊर्ध्वभाग, प्रस्वेदयुक्त हो जाता है । नाड़ीमें सत्वर तेजी आ जाती है । प्रारम्भसे ही रोगीके भाव और अवस्था इस तरह प्रतीत होते हैं कि, यह रोग

साधारण श्वासनलिकाप्रदाहकी अपेक्षा विषमतर है । मुखमण्डलका भाव चिन्तामय भासता है ।

बालक रोगी हो, तो श्वासग्रहणसमयमे नासायुद्ध प्रसारित, श्वासोच्छ्वाससंख्यामे वृद्धि और श्वासकृच्छ्रता उपस्थित होते हैं । श्वासोच्छ्वास एक मिनटमें ६० या ८० तक बढ़ जाता है । साथ-साथ नाड़ीस्पन्दन समान रूपसे तेज नहीं होते । न्यूनाधिक अविराम श्वास-कृच्छ्रता होती है । आवेग (Paroxysm) कालमें श्वासकृच्छ्रता इतनी अधिक होती है कि, रोगी छटपटाने लगता है, और बिछौने पर बैठा हो जाता है । श्वास त्यागमें श्वासकृच्छ्रता होती है । रोगी सरलतापूर्वक श्वास ग्रहण कर सकता है; या उसे श्वासग्रहणमें सामान्य कष्ट होता है, निःश्वास क्रिया सतत कष्टकर और दीर्घ होती है, तथा बालकोंको निःश्वासके पश्चात् जो विरामकाल लक्षित होता है, वह श्वास ग्रहणके पश्चात् प्रतीत होता है ।

सामान्यतः श्वासनलिकाप्रदाहकी अपेक्षा इस रोगमें कास अधिकतर प्रबल और वेग पूर्वक होती है, कफ चिकना होता है, और उसे निकालनेमें कष्ट होता है । रोग जितना बढ़ता है; उतना ही श्वास ग्रहण मे असामर्थ्य (Orthopnoea) होता है । एव फुफ्फुसोंमें श्वास द्वारा आई हुई वायुसे स्वस्थावस्थामे जिस तरह रुधिर सशोधित होता है, उस तरह इस विकारके हेतुसे नहीं हो सकता । इसी हेतुसे देह नीलासा (Cyanosis) हो जाता है; ओष्ठ और नख भी नीले हो जाते हैं । यदि रोगी चिकने कफको बाहर निकालनेमे असमर्थ हो जाय, तो नीलापनकी सत्वर वृद्धि होनी है । इस अवस्थामें श्वासोच्छ्वास तेज होता है; परन्तु ऊपर-ऊपर चलता है, और वह भी कष्टपूर्वक चलता है । बालकोंके लिये सामान्यतः तीव्र आक्षेप उपस्थित होता है । फिर मूर्च्छा (Coma) होकर मृत्यु हो जाती है । वयोवृद्धोंको आक्षेप नहीं आता, तथापि अचेतना होकर प्राणत्याग हो जाता है । वक्षः परीक्षा करने पर रोगकी प्रथमावस्थामे कर्कश या वायुकोषीय और

प्रणालीय मिश्रित ध्वनि (Broncho-vesicular) सुननेमें आती है । फिर सत्वर ध्वनिका हास होता है । साथ-साथ आगन्तुक क्षुद्र द्रव ध्वनि उत्पन्न हो जाती है । ठेपन करने पर फुफ्फुसका जो भाग संकुचित हो गया हो, उस पर घन ध्वनि और इतर स्थानमें सामान्य प्रतिघात ध्वनि प्रकाशित होती है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग शिशु और वृद्धोंके लिये कष्टसाध्य है । यदि रोगी सबल है; और तुरन्त योग्य चिकित्साका प्रारम्भ हो जाता है; तो रोग साध्य होनेकी आशा रखी जाती है ।

(इ) चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाह ।

चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाह—क्रॉनिक ब्रोंकाइटिज़—Chronic Bronchitis ।

निदान—यह रोग आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहकी जीर्णविस्था से और कभी प्रारम्भसे ही चिरकारी उत्पन्न होता है । वृद्धावस्थामें यह रोग प्रत्येक शीतकालमें उपस्थित होता है । युवावस्थामें यह रोग कदाचित् ही होता है । एवं यह रोग वातरक्त, उपदंश, चिरकारी वृक्कप्रदाह और हृदयके वाम कपाटविकार (Mitral Affections) आदि रोगोंके साथ भी उपस्थित हो जाता है ।

लक्षण—इसका प्राथमिक लक्षण आशुकारी प्रदाहके समान होता है; किन्तु रोगकी प्रबलता अपेक्षा कृत न्यून होती है । समय समय पर अधिक परिमाणमें कफ स्राव होता है । कफ गाढ़ा और बताशेके सदृश बँधा हुआ होता है । अति दुःखदायी कास प्रारम्भ होती है । निर्गत कफका परिमाण न्यूनाधिक होता है । कभी-कभी कफ निकालनेके लिये अधिक परिश्रम पहुँचता है । फिर भी कफ नहीं निकल सकता । कभी अत्यधिक परिमाण में सतत कफ निकलना रहता है ।

इस रोगका बार-बार आक्रमण होने पर वायुकोषविस्तार और श्वास कुच्छ्रता उपस्थित होते हैं । दीर्घकाल तक रोग रह जाने पर हृदय प्रभा-

वित हो जाता है । निलयखण्ड की वृद्धि होती है । एव अपक्रान्ति, प्रसारण और हृदयकपाटका अपूर्ण बन्द होना आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं ।

कफकी अवस्थाके अनुसार इस रोगके निम्नानुसार ४ विभाग हो जाते हैं ।

१—सामान्य कफकास—Mucous Catarrh.

२—शुष्क कास—Dry Catarrh.

३—अति कफस्रावयुक्त कास—Bronchorrhea.

४—पूतिकास—Fetid Bronchitis.

(१) सामान्य कफ कास—समय समय पर विशेषतः शीतकालमें उपस्थित होती है । कफ अधिक नहीं निकलता; परन्तु जो निकलता है; वह पीला-सा निकलता है ।

(२) शुष्क कास—इसमें उर फलकास्थिके पीछे दाह और वेदना होते हैं । कफ छोटी-छोटी गांठके समान निकलता है । यह कास वायुकोष विस्तार, वातरक्त, सन्धिवात और तमक श्वासके सहवर्त्ती होती है ।

(३) अति कफस्राव—इस प्रकारमें श्वासनलिका प्रसारित होती है । यह रोग सामान्यतः सब लव्यक्ति पर आक्रमण करता है । शनैः शनैः कासवृद्धि, अधिक मात्रामें कफस्राव और किसीके लिये कफ पतला तो किसीके लिये गाढ़ा होता है ।

(४) पूतिकास—इस प्रकारमें निःश्वास और कफमें अति दुर्गन्ध आती है । श्वासनलिकामें से निकला हुआ रस विगलित होने पर श्वासनलिकाकी श्लैष्मिक कलाका कोथ तथा क्वचित् फुफ्फुस विधानका भी कोथ होने लगता है ।

उपद्रव रहित चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाह रोगमें ठेपन करने पर आवाज स्वस्थ वद्धःके समान होती है । यदि श्वासनलिका प्रसारित होती है, तो स्थान स्थान पर ठेपन ध्वनि सौषिर या कौप्यक निकलती है । मृत देहकी परीक्षा करने पर सामान्य प्रदाहके चिह्न भासते हैं ।

श्वासनलिकामें चिकने श्लेष्म या तरल श्लेष्म मिश्रित पूथ भर जाता है । फुफ्फुसमें स्थान-स्थान पर संकोच (Collapse) प्रतीत होता है । इसका तात्पर्य यह है कि, प्रत्येक श्वासके साथ बृहद्वायुनलिकामें से श्लेष्मा बलपूर्वक क्षुद्र नलिकाओंमें प्रवेश करता है । एवं निःश्वासके साथ श्लेष्मा पुनः स्थानान्तरित होता है । इस कारणसे अवरोध स्थान के पूर्व भागके वायुकोषोंमें से सब वायु निकल जाती है; और पुनः श्वास ग्रहणके साथ फिर अन्तर्गत होती है । इस तरह क्रमशः अवरोध स्थानके बाहरकी ओर वायु निर्गत हो जाती है, एवं अन्तर्भागमें संकोच हो जाता है । मृत्युके पश्चात् श्वासनली प्रसारित प्रतीत होती है । इस रोगमें से कुछ कालके पश्चात् विविध विकारोंकी सम्प्राप्ति हो जाती है । सम्प्राप्ति भेदसे लक्षणोंमें भेद पड़ जाता है । अतः उसे यहां कोष्ठक रूपसे दर्शाते हैं ।

रोग सम्प्राप्ति

लक्षण

- (१) श्वासनलिकाका शनैः-शनैः बीच-बीचमें खांसीके आवेग आकर प्रसारण (Bronchiectasis) । श्वासनलिकामें संचित अति दुर्गन्ध-युक्त कफका स्राव ।
- (२) क्रम चालू रहने पर वायुकोष श्वास विकार । विस्तार ।
- (३) पहले हृदयकी दक्षिण ओरकी क्षीण नाड़ी, सर्वाङ्ग शोथ । वृद्धि होकर प्रसारण (Dilate) और क्षीणता । फिर सर्वाङ्ग शोथ ।

सम्प्राप्ताध्यता—यह रोग याप्य है । हृदयरोग, राजयक्ष्मा, श्वास, वायुकोषविस्तार या वृक्प्रदाह सहवर्त्ती न हो, तो जीवनमें आशंका नहीं है । इतर रोग सहवर्त्ती होनेपर आयु हृदयरोगकी प्रगति और उत्पादक हेतु पर अवलम्बित है ।

(२) कृत्रिमकला निर्माणकारी श्वासनलिकाप्रदाह ।

कृत्रिमकला निर्माणकारी श्वासनलिकाप्रदाह—कृपस ब्रोंका-इटिज़—Croupous Bronchitis ।

रोग परिचय—यह रोग बृहद् और मध्यम श्वासनलिकाकी श्लैष्मिक कलाके प्रदाह रूपा है, परन्तु प्रदाहके समय श्लैष्मिक कलाके साथ घनिष्ठ रूपसे चिटी हुई भिल्लीवत् नूतन स्तर निर्माण होता है । एवं रसोत्सृजन भी होता है ।

लक्षण—इस रोगके लक्षण सब आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहके समान होते हैं । केवल कफमें कृत्रिमकलाके निर्गमनको जाननेसे ही इस रोग का निर्णय होता है । अनेक क्षण तक प्रबल कास आकर कफ निकलता है, उसमें कृत्रिम कलाके टुकड़े, रक्त, पूय और श्लेष्मा मिश्रित होते हैं । अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर सौत्रिक तन्तुओंसे कला निर्मित होनेका जाना जाता है । यह रोग आशुकारी और चिरकारी रूपसे भी प्रकाशित होता है ।

साध्यासाध्यता—राज्यक्षमा, फुफ्फुसखण्डप्रदाह, वायुकोषविस्तार आदि रोग सहवर्त्ती न होने पर इसे असाध्य नहीं माना जायगा ।

(३) कुक्कुर कास ।

कुक्कुर कास—कालीखाँसी—हुपिंग कफ-पर्थ्यूसिस—Whooping Cough—Pertussis ।

रोग परिचय—यह व्याधि श्वासमार्गकी श्लैष्मिक कलाके प्रदाह के साथ उसकी वातनाडियों—संभवतः प्राणदा नाडियों (Vagus nerves) के सिरेमें सवेदनाधिस्यके हेतुमें प्रसेक, विशेषतः आक्षेप युक्त कास तथा श्वासग्रहणकालमें गम्भीर और बड़ी कुक्कुर (कुत्ते) की ध्वनिवत् 'हुप' आवाज निकलती है । कभी-कभी यह रोग जनपदव्यापी सक्रामक बन जाता है ।

यह रोग तीव्र संक्रामक (Infectious) है । रोगकी प्रथमावस्था में इसकी सांसर्गिकता अन्य अवस्थाओंकी अपेक्षा अत्यधिक होती है । यह कास रोग प्रायः दो माससे दस वर्षकी आयु वाले बालकों को होता है । इनमें ५ वर्षसे छोटी आयुवाले बच्चोंके लिये यह रोग अनेक बार घातकरूप धारण कर लेता है । श्वच्छेद करने पर सामान्य श्वास-प्रणालिकाके प्रदाहके अतिरिक्त और कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता । इस रोगमें इतने प्रबल वेग पूर्वक खांसी चलती है कि, रोगीको आधसे पौन मिनट तक श्वास लेनेका समय नहीं मिलता; और जब श्वास लेता है, तब 'हुप' सदृश ध्वनि निकलती है ।

इससे बच्चोंको कफ रहित पीले रंगकी वमन होती है । अनेक बच्चोंको भोजन करनेके बाद वेग उत्पन्न होता रहता है; और खाया हुआ अन्न निकल जाता है; जिससे बच्चे दिन-प्रति-दिन दुर्बल होते जाते हैं । इस रोगसे बच्चोंको पीड़ा विशेष होती है । वेगके समय नेत्र लाल होजाते हैं; और ऐसी प्रतीति होती है, मानों वे अपने स्थानसे पृथक् हो जायँगे । नेत्रकी पलकें कुछ भारी, सूजी हुई-सी भासती हैं । इस रोगके कीटाणु थूँक और नाकसे निकलने वाले श्लेष्ममें प्रतीत होते हैं । इस रोगसे पीड़ित बालकसे इतर स्वस्थ बालकोंको तीन-चार सप्ताह तक दूर रखना चाहिये ।

इस रोगमें कफका क्षय हो जाता है । वेग उत्पन्न होने पर कुछ तरल श्लेष्ममिश्रित पीले पैत्तिक पदार्थकी वमन होती है । कभी-कभी इसके संतापसे ही बच्चोंके मल-मूत्र निकल जाते हैं । यदि इस रोगमें दुर्लक्ष्य करके अपथ्य सेवन किया जाय, तो रोग थोड़े ही समयमें अन्य उपद्रवोंसे युक्त होकर बलवान् बन जाता है ।

निदान—यह रोग विशेषतः गरमीके दिनोंमें होता है । यदि शीत-कालमें होता है, तो अधिक काल तक रहता है । यह व्याधि ग्रामोंकी अपेक्षा नगरोंमें अधिक फैलती है । इस रोगकी एक विशेषता यह है कि, एक बार हो जानेके पश्चात् दूसरी बार कदापि नहीं होता । आजीवन

छुटकारा मिल जाता है । इस रोगका चयकाल ७ से १४ दिन है । इस रोगका विष श्लेष्ममें रहता है ।

इस रोगसे पीड़ितोंके कफमें जो कीटाणु प्रतीत होते हैं, उनको बेसिली पट्रूसिज, बेसिली टूसिज कॉन्वुलसिव, बेसिली बोर्डेट जेगौ एण्ड अफनसिज्ज बेसिली (*Bacilli Pertussis*, *B. tussis convulsivae*, *B. Bordet gengou*, and *Afanassiew's bacilli*) आदि नाम दिये हैं । रोग होने पर प्रथम सप्ताहमें ये कीटाणु अति प्रबल रहते हैं । फिर शनैः शनैः कीटाणुओंका बल घटना जाता है । यह रोग रोगीका झूठा भोजन करने पर या क्वचित् श्वासोच्छ्वास द्वारा भी दूसरे बच्चेको लग जाता है ।

सम्प्राप्ति—इस रोगके कीटाणु या विषके प्रभावसे वातवहा नाड़ियों और मस्तिष्कमें विकृति हो जाती है । फिर बार-बार वेग उत्पन्न होता रहता है । इसके अतिरिक्त श्वसन संस्था अर्थात् स्थूल श्वासवाहिनी और सूक्ष्म श्वासवाहिनियाँ (शाखा-प्रशाखाये) सब पर कीटाणुजन्यप्रदाह हो जाता है । जिससे बार बार शुष्क कास और 'हुप-हुप' ध्वनि उत्पन्न होती रहती है । इस रोगमें रक्तके श्वेताणुओं की संख्या १५ से ३० हजार तक बढ़ जाती है, किन्तु लसीकाणुओंका हास हो जाता है । इस रोगकी निम्नानुसार ३ अवस्थाएँ होती हैं ।

१—आक्रमणावस्था (इनवेशन स्टेज—*Invasion stage*) ।

२—आवेगावस्था (पेरॉक्सिस्मल स्टेज—*Paroxysmal stage*) ।

३—अनचयावस्था (डिकलाइन स्टेज—*Decline stage*) ।

आक्रमणावस्था—बहुधा यह शनैः शनैः बढ़ जाती है । क्वचित् यह व्याधि अकस्मात् डगर (१००—१०१ डिग्री), तीव्र प्रतिश्याय और कास सह आक्रमण करती है । फिर सूखी खासी उठती रहती है । इस रोगके प्रारम्भकालमें रोग विनिर्णय नहीं हो सकता । तीव्र प्रतिश्यायके सब लक्षण प्रतीत होते हैं । यदि समीपमें किसी इतर बच्चे को खासी हो, तो

इस रोग की उत्पत्तिका अनुमान हो सकता है। यह अवस्था १ से २ सप्ताह तक रहती है। शनैः शनैः खांसी दृढ़ होती जाती है। फिर हुप-हुप ध्वनि की उत्पत्ति कराकर अगना स्वरूप प्रकाशित कर देती है।

आवेगावस्था—जैसे हुप-हुप सदृश ध्वनि सह शुष्क कास चलने लगती है, तबसे आवेगावस्था कहलाती है। आवेग होने पर २-३ मिनट तक १०-१२ बार झटके एक पीछे एक आते हैं। प्रत्येक झटकेमें लगभग १५ से ४५ सेकण्ड लग जाते हैं। इस वेग-कालमें बच्चेकी केवल निःश्वासक्रिया ही होती रहती है। बालक श्वासग्रहण नहीं कर सकता। वेगबल कम होनेपर बड़े जोरसे हुप ऐसी आवाजके साथ बलपूर्वक दीर्घश्वास लेता है। बच्चा खांसते-खांसते अति व्याकुल हो जाता है। मुखमण्डल रक्तवर्णका बन जाता है; नेत्र अभ्रपूर्ण हो जाते हैं। कभी-कभी देह शीतल प्रस्वेदसे भीगी जाती है। क्वचित् नासिकामेंसे रक्तस्राव होने लगता है। कभी जिह्वाके नीचे क्षत हो जाता है। खांसीका वेग शमन हो जानेपर उरच्छदा पेशियों (Pectoralis muscles) में अतिवेदना होती है। कभी-कभी कासके प्रबल वेगसे कर्णपट्ट (Tympanic membrane) विच्छिन्न हो जाता है।

बालक जो कुछ खाता है, वह वमन होकर निकल जाता है। इस तरह ४-६ या अधिक बार वेग आनेपर थोड़ा-सा, चिकना, गाढ़ा स्वेच्छ श्लेष्मा निकलता है। पश्चात् कफ निकलने या वमन होनेपर शान्ति मिलती है। रोग बढ़नेपर वेगकाल बढ़ जाता है; और झटकेभी जल्दी-जल्दी आने लगने हैं। कभी-कभी वेग एक दिनमें ६०-८० तक आजाते हैं। जितना वेग बढ़ता है, उतना ही रोगबल अधिक माना जाता है। यह आवेगावस्था ३ से ६ सप्ताह तक रहती है। इस वेगकी उत्पत्ति दीर्घ श्वास लेना, जल पीना, हँसना, जोरसे बोलना, दौड़ना आदि हेतुओंसे भी हो जाती है। इस वेगकी उत्पत्ति होनेके पहले रोगीको प्रायः वेगोत्पत्तिका बोध (या बेचैन) हो जाता है।

यदि वह सोया हो, तो तुरन्त उठकर बैठ जाता है; और अधिक कष्टसे बचनेके लिये किसीका सहारा ले लेता है । लकड़ी आदि जो कुछ समीप हो, उसे पकड़ लेता है । खड़ा हो तो तुरन्त माताके पास दौड़ जाता है । खासते-खासते बच्चेका मुख नीला सा हो जाता है, ग्रीवाकी शिराएँ फूल जाती हैं; श्वासारोध हो जानेसे पसीना आ जाता है, और शिथिल हो जाता है । इस तरह बार-बार वमन होती रहनेसे देह क्षीण हो जाती है ।

अपचयावस्था—वेगबल कम होने और आवेग सख्या न्यून होनेपर अपचयावस्थाकी प्राप्ति मानी जाती है । इस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर वमन बन्द हो जाती है, भोजन पचन होकर रसरक्त आदि बनने लगते हैं; और बालक शनैः शनैः पुष्ट होने लगता है । इस रोगसे मुक्त होनेमें सामान्य रीतिसे १॥ २ मास लग जाते हैं । परन्तु कभी कभी बच्चे महीनों तक दुःख भोगते रहते हैं । एव रोग मुक्तिके पश्चात् भी नीरुजावस्थाकी प्राप्ति होनेमें दीर्घ काल लग जाता है । इस अपचयावस्थामे रोगोपशमन (Convalescence) के समय कफके क्षय होनेकी भीति रहती है ।

विविध अवस्थाकाल—इस रोगका चयकाल ६ से १२ दिन, प्रथमावस्था १ से २ सप्ताह, द्वितीयावस्था लगभग ३ से ६ सप्ताह और अन्तिमावस्था प्रायः ३ से ४ सप्ताह या इससे अधिक काल तक रहती है ।

रोग विनिर्णय—इस रोगका प्रथमावस्थामें प्रतिश्यायसे प्रभेद नहीं हो सकता । जब खासनेमें कुत्ता भोकने-सा क्रम और रोग निदर्शक हुप हुप ध्वनि प्रकाशित होती है, तब रोग निर्णयमें सन्देह नहीं रहता ।

उपद्रव—यदि विष प्रकोप अधिक हो जानेसे रोग विशेष सबल हो जाय, तो आक्रमणावस्थामे नाना प्रकारके उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है । फिर उपद्रवोंके उपस्थित होने पर रोग घातक बन जाता है । श्वास-नलिका और फुफुसोंका प्रदाह, राजयक्ष्मा, वायुकोषोंका विस्तार, क्वचित्

नेत्र और जिह्वा की विकृति, मस्तिष्कस्थ रक्तवाहिनियां फट जानेसे मुख या नासिकासे रक्तस्राव होना, क्वचित् रक्तस्रावसे आक्षेप (Convulsions) होकर पक्षव्य हो जाना; क्वचित् नेत्र की श्लैष्मिक कलामें रक्त भर जाना; और त्वचामें खूनके धब्बे पड़ जाना, कभी फुफ्फुसोंमें स्थितिस्थापकता और विस्तारक्षमता नष्ट हो जानेसे किसी भागका संकोच हो जाना आदि उग्रव प्रकाशित होते हैं । कभी-कभी घातक श्वासा-वरोध (Fatal asphyxia) होकर मृत्यु हो जाती है ।

साध्यासाध्यता—अनेक स्थलोंमें इस रोगका भावी फल शुभ होता है; किन्तु श्वासनलिकाप्रदाह या इन्फ्ल्युएन्ज़ाके पश्चात् इसकी उत्पत्ति हो, या इस रोगमें फुफ्फुस की ओर रोग की गति होनेसे आक्षेप की अतिवृद्धि हो जाय; आक्षेपके हेतुके स्वरयन्त्र द्वाराका संकोच हो जाय; मस्तिष्क विकारके लक्षण उपस्थित हो जाय; या इतर घातक उपद्रव प्रकाशित हो जाय; तो रोग असाध्य बन जाता है । रोगीकी आयु जितनी अधिक हो, उतना ही फल शुभ माना जाता है । आयु ६ माससे कम होने पर भावी फल अशुभ माना जाता है ।

(४) श्वासनलिकाप्रसारण ।

श्वासनलिकाप्रसारण—ब्रोंकिएक्टेसिज़—Bronchiectasis ।

निदान—श्वासनलिकाप्रदाह, वायुकोषविस्तार, विधानान्तर्गत फुफ्फुसप्रदाह (Interstitial Pneumonia) आदि विविध चिरकारी फुफ्फुस व्याधियोंके हेतुसे श्वासनलिका प्रसारित हो जाती है । इसके निम्नानुसार तीन प्रकार हैं ।

(१) नलाकार प्रसार—समस्त प्रणालिकाओंका प्रसारण होता है । यह प्रकार विशेषतः चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाह या कैशिक श्वासनलिका प्रदाहके पश्चात् प्रकाशित होता है ।

(२) श्वासनलिकाके अन्त भागका गोलाकार प्रसारण—इस प्रसारणके मध्यवर्ती फुफ्फुस विधान वायुहीन, संकुचित और दृढ़ हो

जाता है । फुफ्फुसखण्डप्रदाह और सकोच आदि कारणोंसे इस प्रकारकी उत्पत्ति होती है ।

(३) बृहदाकार असम प्रसार—यह एक या अनेक नलिकाओंके साथ संयुक्त होता है । राजयक्ष्मा, फुफ्फुसखण्डप्रदाह या इतर कारणोंसे उत्पन्न गह्वरमें इसकी उत्पत्ति होती है ।

निदान—इसके मुख्य दो हेतु हैं । (१) श्वासनलिकाका चिरकारी प्रदाह और (२) श्वास नलिकाके आधारभूत फुफ्फुस भागमें ब्रणरोमण त्वचाकी उत्पत्ति होनेपर सङ्कोच होना, फिर इसी हेतुसे श्वास-नलिकाका खिंचाव । इस श्वासनलिकाके खिंचाव होनेपर चिरकारी कासमें श्रमाधिक्य होनेपर श्वासनलिका क्षीण होती है । फिर भीतर या बाहरके दबावके हेतुमें खिंचा हुआ भाग प्रसारित हो जाता है ।

लक्षण—प्रसारित श्वासनलिकाओंमें श्लेष्माका संचय होता है । संग्रह होनेपर कफमें दुर्गन्ध आती है; और कीटाणु उत्पन्न होकर ब्रणोत्पत्ति करा देते हैं । ब्रण हो जाने पर कफमें किञ्चित् रक्तभी आता है । बीच-बीचमें प्रबल कास उद्बस्थित होती है । अधिक परिमाणमें पूय और श्लेष्मा मिश्रित कफ या कभी-कभी दुर्गन्ध युक्त कफ अति कष्टपूर्वक रह रहकर निम्नलता है । विवरमें से कफ निकल जानेपर रोगी को शान्ति मिलती है । सामान्यतः रात्रिको और प्रातःकालमें उठनेपर कास आती है । इसके अतिरिक्त मदज्वर, निद्रानाश, कृशता आदि लक्षण होते हैं । इसमें श्वासकी स्वल्पता होती है । खासीके पश्चात् विवरमें से निकलने वाली आगन्तुक ध्वनि, तीव्र वाक् प्रतिध्वनि (Pec-
toriloquy), अस्पष्ट वाक् प्रतिध्वनि (Bronchophony) आदि भौतिक चिह्न उपस्थित होते हैं ।

कास चिकित्सोपयोगी सूचना ।

वातिककास रोगीकी देह रूक्ष है, तो पहले वातघ्न ओषधियोंसे सिद्ध घृत आदिका पान करावें; स्नेह बस्ति देवें; तथा

पेया, दूध, माँस रस आदिका भोजन करावें । वातिक विकार पर अबलेह, युक्तिपूर्वक धूपान, तैलकी मालिश, स्वेदन और स्निग्ध सेक आदि उपचार लाभदायक है ।

यदि वायु मलदोषसे बद्ध है, तो वस्ति क्रिया द्वारा चिकित्सा करें । वातिक कासमें यदि पित्तका अनुबन्ध है, तो पेया आदि से चिकित्सा करें । यदि वातिक कासमें कफका अनुबन्ध है, तो घी, दूध और स्नेहयुक्त विरेचन, स्नेह वस्ति और निरुह वस्ति द्वारा चिकित्सा करें ।

वातात्मक कासमें घी, तैल, ईखके रस, गुड़के बने पदार्थ, दही, कौंजी, खट्टे फल, प्रसन्ना (शराब), मधुर, खट्टे और नमकीन पदार्थोंका सेवन, ये सब हितकारक हैं ।

यदि खाँसीके तीव्र वेगके हेतुसे नासिकामें से श्लेष्मस्राव होता हो, स्वर बैठ गया हो, बारबार छींकें आती हों, तो स्नेहिक धूपान कराना हितकारक है ।

पित्तप्रकोपजन्य कासमें कफ वृद्धि हो, तो घृत पिलाकर वमन कराना चाहिये । पैत्तिक कासमें कफ पतला हो, तो मधुर रस मिश्रित निसोतसे विरेचन कराना हितकारक है । कफ गाढ़ा है, तो कुटकीके साथ निसोत मिलाकर विरेचन देवें । फिर दोष दूर होने पर शीतल, मधुर, स्निग्ध पेय आदिका सेवन करावें; किन्तु कफ गाढ़ा होने पर शीतल, रुक्ष और कड़वे रस युक्त पेया पिलानी चाहिये ।

पैत्तिक कासमें मिश्री-मिश्रित लेह हितकारक है । कफ सह पैत्तिक कास में नागरमोथा और कालीमिर्च युक्त लेह और वात सह पैत्तिक कासमें घृत मिला हुआ लेह देना चाहिए ।

सूचना—पित्तप्रकोपजन्य कासमें गरम चिकित्सा कदापि नहीं करनी चाहिये ।

कफ कास की चिकित्साके लिये भगवान् धन्वन्तरिजी

लिखते हैं कि, रोगीको वमन, विरेचन (जुलाब), शिरोविरेचन धूम, उष्ण कबलधारण, उष्ण अबलेह और चरपरे पदार्थोंका सेवन कराना चाहिये ।

वमन करानेके लिये रोगीको ऊकड़ू बैठाकर नमक मिला हुआ निवाया जल पेट भर कर पिलावें । जिससे सरलता पूर्वक वमन होकर दोष निकल जाय । कुछ जल भीतर रह जाता है, वह शोषित हो जाने पर २-३ घण्टे बाद एक जुलाब लगकर कफ और मल सहित निकल जाता है ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि:—

कासिने छर्दनं दद्यात् स्वरभंगे च बुद्धिमान् ।

वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥

अर्थात् कासरोग और स्वरभङ्ग रोगमें वमन करानी चाहिये; तथा तमकश्वासमे वातश्लेष्महर ओषधियोंका विरेचन देना चाहिये ।

यदि कफ पतले और कच्चे हैं, तो रोगीको वमन न करावे; उपवास कराना चाहिये । उपवाससे कुछ कफ दग्ध होकर नष्ट हो जाता है, और शेष पक जाता है ।

फुफ्फुसोंमें चिटके हुए कफको अलग करनेके लिये सरसोंके तैलको निवाया कर थोड़ा सैधानमक मिला धीरे-धीरे मालिश कराना चाहिये ।

कफ कासमे रोगी बलवान् है, तो पहले वमन करावें । फिर जौ आदि अन्न, चरपरा, रुक्ष और गरम भोजन देवें, तथा कफघ्न चिकित्सा करें ।

श्लैष्मिक कास रोगमें देवदारु, चित्रक आदि ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत, त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर पिलावे । इस तरह स्नेहपानसे स्निग्ध करके युक्तिपूर्वक शिरोविरेचन और

वस्ति आदिसे शोधन करें। यदि रोगी बलवान् है, तो तीक्ष्ण विरेचन देवें। फिर पेया आदिका सेवन करावें। यदि कफ गाढ़ा है और अधिक है, तो शमन धूमका पान करावें।

यदि श्लैष्मिक कासमें पित्तानुबन्धयुक्त तमक श्वास हो, तो उसके शमनार्थ आवश्यकतानुसार पित्तकास शामक क्रिया करनी चाहिये।

द्रिदोषज कास—यदि वातात्मक कासमें कफका अनुबन्ध हो तो कफकास नाशक चिकित्सा; तथा वातात्मक या कफात्मक कासमें पित्तकी प्रधानता हो जाय तो पित्तनाशक क्रिया करनी चाहिये।

वातश्लेष्मात्मक शुष्क कास हो, तो स्निग्ध क्रिया और आर्द्रकास (पतले कफयुक्त कास) हो, तो रुक्ष क्रिया और अन्न-पान की योजना करनी चाहिये। कफ प्रधान कासमें पित्तका अनुबन्ध है, तो भोजनमें कड़वी ओषधियां मिला लेनी चाहिये।

उरःक्षतज कास—इस कासको महा घातक समझकर तुरन्त बल्य (बलवर्धक), वृंहणीय (पौष्टिक) और जीवनीय (आयु-वर्धक) गणकी ओषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। बल्य, वृंहणीय और जीवनीय गणका वर्णन वैज्ञानिक विचारणामें कि...।

पित्तका अनुबन्ध हो, तो पैत्तिक कासशामक दूध, घृत आदि मधुर ओषधियां एवं इतर मधुर और कासनाशक ओषधियोंकी योजना करें।

यदि उरःक्षतमें वातपित्तात्मक प्रकोप हो और गात्रभेद हो, तो घीकी मालिश; तथा केवल वातप्रकोपसे पीड़ित हो, तो लाक्षादि या इतर सिद्ध तैलकी मालिश करनी चाहिये।

यदि क्षतज कासका रोगी क्षीण हो, निद्रा कम आती हो, किन्तु अग्नि प्रदीप्त हो, तो गरम किये दूधके साथ घी, शहद,

मिश्री और बकरेकी चर्बी मिलाकर सेवन कराना चाहिए । क्षतज कासमें यवागू आदि पेय जो दिया जाय, वह सब शीतल करके देना चाहिए । यदि क्षतज कासके रोगीको अति तृषा लगती हो, तो अनुकूल ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए । ईख, कमल, कुमोदिनी, चन्दन, दर्भ, कास, कुशादि ओषधियां काथार्थ उपयोगमें ली जाती हैं ।

हृदय और पार्श्वमें पीड़ा होनेपर जीवनीय गणकी ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलाना हितकारक है; या वातशामक, पित्त और रक्तकी अविरोधी चिकित्सा करनी चाहिए ।

सूचना—क्षतज कासमें और क्षयज कासमें राजयक्ष्मामें कहे हुए उपचार करने चाहिए । और अतिसार (पतलेदस्त) हो, तो ग्राही ओषधि देनी चाहिए ।

क्षयज कासमें सम्पूर्ण लक्षण प्रतीत हो और शरीर अस्थि-पञ्जर सदृश हो तो उसे छोड़ देना चाहिये । यदि रोग नया है और देहमें बल है, तो रोगशामक चिकित्सा करनी चाहिए । यदि नाड़ियोंमेंसे दोषशोधनकी आवश्यकता है, तो शोधन करनेके लिये सिद्ध घृत पिलाना चाहिए ।

क्षयजन्य कासमें पहले बृंहण ओषधि दें और अग्नि प्रदीप्त करें । यदि उदरमें अधिक मल संगृहीत हो गया है; और दोष अति बढ़ा हुआ है, तो प्रारम्भिक अवस्थामें सम्हालपूर्वक स्नेह मिश्रित मृदु विरेचन देना चाहिये ।

त्रिदोषज कास होने पर दोषत्रयका विचार कर तीनों दोषोंमें जो प्रधान हो, उसे दूर करनेके लिये जिस तरह हित हो, उस तरह चिकित्सा करनी चाहिये ।

खांसीमें कफ होने पर भीतर सुखाने की ओषधि नहीं देनी चाहिये । यदि गरम ओषधि और गरम भोजनसे भीतर संचित

हुए कफको सुखा दिया जाय, तो खांसते समय अधिक कष्ट होता है ।

प्रतिश्यायज कास में कफ धातुको स्वस्थ करने की ओर लक्ष्य देना चाहिये । जब तक जुखाम रहता है; तब तक खांसी दूर नहीं होती । इसप्रकार की खांसीमें केवल खांसी नाश करने वाली ओषधिसे लाभ नहीं हो सकता । यदि अधिक गरम ओषधि दी जायगी, तो कफ सूख कर भीतर जम जायगा ।

जब कण्ठमें कफकी घरर-घररर आवाज आती है, किन्तु भीतरसे कफ सत्वर नहीं छूटता, कठिनतासे कष्टपूर्वक कफ निकलता है, ऐसे समय कफको सरलतासे बाहर निकालने वाली ओषधि दी जाती है । कफकुठार रस, बचमिश्रित ओषधि, छोटी कटेलीका काथ, मुलहठी, अड्डसा, या मिश्री मिला अलसीका काथ आदि प्रयोग हितावह हैं । अड्डसाके पत्ते, मुलहठी, बहेड़ा और भारंगीका काथ देनेसे कफ सरलतासे निकलने लगता है ।

जीर्ण शुष्क कास रोगमें तैल पिलाना हो, तो अलसीका तैल इतर तैलों की अपेक्षा विशेष हितकर है । तैल पिलाने पर दूध न देवें । ऊपर अलसीका काथ या इतर मिश्री मिला निवाया जल पिलावें ।

कफ कास, जीर्ण क्षत कास, क्षयकास, श्वासनलिका विकृति जन्य श्लेष्मपित्तात्मक कास, इन रोगोंमें शीतल वायु और आर्द्रतासे बचना चाहिये । तेज वायु न हो, ऐसे स्वच्छ प्रकाश वाले स्थानमें रहना चाहिये ।

कफप्रकोप होनेपर वस्त्र गरम पहनना चाहिये । रात्रिको कम्बल आदि ओढ़ लेवें, परन्तु तंग वस्त्र पहनकर न सोवें ।

कफ वृद्धि होनेपर शीतल जलसे स्नान न करें । एवं खुली वायुमें भी स्नान न करें । निवाये जलसे बन्द मकानमें स्नान

करें। स्तनपान करने वाले बालकोको खांसीकी ओषधि देनेके समय उसकी माताको भी उचित ओषधि देनी चाहिये ।

आर्द्रकासमें चूंसनेकी ओषधि नहीं देनी चाहिये ।

जीर्ण कासके रोगियोको शुष्क जलवायु वाले स्थानमें रखना चाहिये । पहाड़ोपर रहना हितकारक है ।

कफ संचय अधिक हो जाने पर शीतल और आर्द्रवायुसे बचनेके अतिरिक्त सिगरेट, बर्फ, आइसक्रिम, सोडावाटर, लेमोनेडवाटर आदिसे भी दूर रहना चाहिये ।

यह रोग कफ धातुप्रकोपज है । अतः कफ धातुके दोषको दूर करना, कफको बाहर निकालना, कफमलकी उत्पत्तिको रोकना, कफका शोषण कराना, और कफका रूपान्तर कराना, आदि क्रियाओंमें से कौनसी क्रिया कितने अंशमें कब करनी चाहिये । इन सब बातोंका तथा कफ विकारमें हितावह ओषधियोंके गुणका विवेचन वैज्ञानिक विचारणामें पृष्ठ ५४से ६१ तक किया गया है ।

आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाह की प्रथमावस्थामें ही रोगी विश्रान्ति ले, तो सत्वर लाभ पहुँच जाता है । आराम करनेके समय मस्तक ऊँचा रहे, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये । मकानका उत्ताप समान रखना चाहिये और वायुको आर्द्र रखना चाहिये । वायुको आर्द्र रखनेके लिये एक ईंटको खूब गरम करें । फिर रोगीके निवास स्थानके एक कोनेमें जलसे भरे हुए पात्रमें उस ईंटको डाल दे । जिससे वातावरण आर्द्र और उष्ण बन जाता है । यह प्रयोग आध-आध घण्टे पर करते रहना चाहिये ।

श्वासनलिकाप्रदाहके निवारणार्थ आवश्यकता पर बाष्पकी नस्य (Inhalation) का प्रयोग करना चाहिये । इसका वर्णन प्रथम खण्डके पृष्ठ २५५ में किया है । रोगारम्भमें एरंड तैल या इतर ओषधि देकर उदर शोधन कर लेना चाहिये ।

यदि उरःफलकास्थिके नीचे दबाव अधिक होता हो, तो

छाती पर पतली, चौड़ी पुल्टिसका प्रयोग बार-बार करना चाहिये यदि पुल्टिस अति मोटी बाँधी जायगी, तो भार अधिक बढ़कर वेदनामें वृद्धि हो जाती है। एवं पुल्टिसके ऊपर रेशमी वस्त्र (ऑइल्ड सिल्क) बाँध देनेमें पुल्टिसकी उष्णताका संरक्षण होता है। इस हेतुसे ३-४ घण्टे तक पुल्टिस बदलनेकी आवश्यकता नहीं रहती। कभी-कभी इस रोगमें बालकको छाती और पीठ सम्पूर्ण पुल्टिस द्वारा ढक देनी पड़ती है। उसे जाकट पुल्टिस (Jacket poultice) कहते हैं। इस पुल्टिसको बार-बार बदलनेमें बालकोंको अत्यन्त कष्ट होता है। इस हेतुसे फला-नेलकी ४ पर्तकर उसे गरम जलमें डुबो निचोड़ कर बाँध दें। फिर उसके ऊपर रेशमी वस्त्र बाँध दें; तथा शीत न लग जाय, यह सम्हालते रहें।

अथवा तार्विन तैलकी मालिश करके प्रत्युग्रता उत्पन्न करावें। फिर रुई या फजालेनसे समस्त छातीको ढक दें। प्रस्वेद आ जाने पर जाकट या फजालेनको बदल डालना चाहिये। इस हेतु से कपड़ा दूना या इससे भी अधिक रखना चाहिये।

प्रत्युग्रताके निमित्त राईका प्लास्टर लगाया जाता है। बालकों को प्लास्टर लगानेमें खूब सावधानता रखनी चाहिये। कारण बालकोंकी त्वचा कोमल और पतली होती है। १ तोला राईको १६ तोले गरम जलमें भिजा उसमें फजालेन डुबोकर छाती पर बाँधना चाहिये।

इस रोगमें आवश्यकता पर वमन कराने वाली और प्रस्वेद लाने वाली ओषधि देनेसे रोग सत्वर शमन हो जाता है। साथ-साथ पैरोंके तलोंको राईके निवाये जलसे धोना चाहिये।

इस रोगकी रसोत्सृजन अवस्था (द्वितीयावस्था) में कफ चिकना होजाता है; और अति कष्टपूर्वक निकलता है। ऐसे समय पर ३ उद्देश्य रखकर चिकित्सा करनी चाहिये।

१—सरलतापूर्वक कफ निर्गमन कराना,

२—अत्यधिक निःसरणका दमन;

३—कासातिशयका ह्रास ।

इन हेतुओंसे कफनिःसारक, उत्तेजक (Stimulants Expectorants) ओषधियाँ देनी चाहिये । इसका विवेचन वैज्ञानिक विचारणाके पृष्ठ ५८-५९ में किया है । कपूर, खोरा-सानी अजवायन, लोहबान, तापिन तैल, तमाखू आदि ओषधियाँ हितावह है ।

रस निःसरणावस्थामें बंगक्षार, अपामार्ग क्षार, अर्कक्षार, जवाखार आदि क्षार प्रधान ओषधियाँ हितावह है । क्षार प्रधान ओषधिसे स्त्रावित रस पतला होता है । एवं श्लैष्मिक कला तथा उपश्लैष्मिक कलाके सब कोष उत्तेजित होनेसे उप-कार होता है । वक्षःस्थान पर लहशुन या प्याजके रसकी मालिश या पुल्टिस बांधनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । आवश्यकता पर दूधमें लहशुन डाल गरम कर फिर छानकर पिलानेसे कफ निःसरणमें सहायता मिल जाती है ।

कदाच अत्यन्त श्वासकृच्छ्रता, मुखमण्डल पर नीलापन, कासकी क्षीणता, योग्य कफस्राव न होना तथा नाड़ीमें अति निर्बलता और उत्तेजना आ जाना आदि लक्षण प्रकाशित हो, तो तत्काल ६ से १२ जलौका लगवाकर, या वेट कपिंग द्वारा रक्त मोक्षण कराना चाहिये । जलौका विधि और कपिंगग्लास-विधि प्रथम खण्डके पृष्ठ २७४ से २७८ तक दी है ।

यदि श्वासनलिकामें कफ अति संप्रहित हो गया हो, रोगी कफको बाहर निकालनेमें असमर्थ हो, तो वमनकारक ओषधि देनी चाहिये । आध तोला राई १ ग्लास निवाये जलमें मिलाकर देवें, या १-१॥ माशा तेजावघटित जसदपुष्प (Sulphate of Zinc) देवें, या बचका सेवन करा कर वमन करावें ।

सगर्भावस्थामें शुष्क कास उपस्थित होनेपर कामदूधा रस, प्रवालपिष्टी, सितोपलादि चूर्ण आदि शामक ओषधियोंका सेवन कराना चाहिये । यदि हृदय क्षीण हो गया हो, तो लक्ष्मीविलास रस, अन्नक भस्म, समीरपन्नग, ६४ प्रहरी पीपल, द्राक्षासव आदि मेंसे हृदयपौष्टिक ओषधिका सेवन कम मात्रामें कराना चाहिये ।

इस रोगमें बालकको दूधके साथ कुछ बूँद तेज शराब (ब्रांडी) की देनेसे अच्छा लाभ पहुँचता है ।

सूचना—जब श्वासनलिकामें पतला कफ विशेष रूपसे हो; तब नौसादर आदि चार प्रधान ओषधि नहीं देनी चाहिये; अन्वथ उपकारके स्थान पर अपकार हो जायगा । तरल श्लेष्माकी और वृद्धि हो जायगी; इस हेतुसे चिकित्सा करनेके पहले ही श्लेष्मा कच्चा है या पका, इस बातका निर्णय कर लेना चाहिये ।

बालकोंको इस रोगमेंसे डब्बा रोगकी प्राप्ति न हो जाय, इस बातका खूब लक्ष्य रखना चाहिये ।

रोग शमन हो जाने पर अग्निप्रदीपक और बल्य ओषधि देनी चाहिये ।

आशुकारी कैशिक श्वासनलिका प्रदाह होनेपर आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये । प्रारम्भ से ही पौष्टिक और उत्तेजक औषध देना चाहिये । रोगीको शीतल वायु न लग जाय, यह सम्हालना चाहिये । छातीपर तार्पिन तैलकी मालिश करानी चाहिये । ज्वर अधिक होनेपर ज्वरघ्न ओषधि देनी चाहिये । यदि श्वासावरोध अधिक होता हो, तो वमन कारक ओषधि देनी चाहिये । ऐसे समय पर डब्बानाशक गुटिका (२० ६६४), और बालजीवन वटी (२० ६६४), दोनों अच्छा लाभ पहुँचाती हैं ।

आशुकारी फ्लूमीय श्वासनलिकाप्रदाह होनेपर आशुकारी श्वासनलिकाप्रदाहवत् चिकित्सा की जाती है । विशेषतः वामक

ओषधि-बच, जसद पुष्प, मैनफल आदि योग्य मात्रामें दी जाती है । या बच प्रधान ओषधिका सेवन कराना चाहिये । चूनेके जल की बाष्प इस रोगमें अति हितावह मानी गई है ।

काली खांसी—डाक्टरों मतानुसार काली खांसीका प्रारम्भ होने पर किसी तरह क्रमका निवारण नहीं होता । बालक को स्थानान्तरित कराना हितकारक है । देह पर शीतल वायु नहीं लगनी चाहिये । प्रथमावस्थामें आहार लघु देना चाहिये । कब्ज न रह जाय, इस बात पर लक्ष्य देते रहना चाहिये । यदि शीत अधिक हो, तो मक्कानके वातावरणको वाष्प द्वारा आर्द्र और उष्ण रखना चाहिये । नीलगिरी तैल सुंधाना हितावह है । कचित् इस रोगमें भयंकर शिरदर्द हो जाता है । ऐसे समय पर भांग, बालघोरकासघ्न चूर्ण, हरतालगोदंती भस्म या लहशुनके रसका सेवन करानेसे शिरदर्दका निवारण हो जाता है, और विष जल जानेसे कासवेगका भी ह्रास हो जाता है बालघोरकासघ्न चूर्ण इस काली खांसी पर अच्छा लाभ पहुँचाता है । प्रकृति भेद या उपद्रव भेदस काली खांसी पर शामक कामदूधारस जैसी ओषधि देनी चाहिये, तथा विषके शमनार्थ विषशामक और कुछ अंशमें उत्तेजक ओषधि बालघोरकासघ्न चूर्ण या हरताल गोदंती भस्म अथवा अन्य भी प्रयोजित करनी चाहिये ।

चिरकारी श्वासनलिकाप्रदाहका रोगी दुर्बल और कृश हो, तो बलकारक ओषधि देनी चाहिये । श्वसनेन्द्रिय को शीत न लग जाय, इस हेतुसे कपूरस बख पहनाना चाहिये । शुद्ध वायु और मृदु व्यायाम इस रोगमें विशेष उपकारक है । यदि शुष्क कास हो, तो रसस्त्राव की वृद्धि करनी चाहिये । इस हेतुसे जल की बाष्पके श्वासका प्रबन्ध करना चाहिये ।

पक्व कफका निःसरण अत्यधिक होनेपर तार्पिन तैल अति उत्तम ओषधि है । ५-१० बूंद शक्करके साथ मिलाकर खिला

देवें । रोग जीर्ण होने पर शृंगभस्म, अभ्रकभस्म, लोहयुक्त चंद्रामृत रस, सोमल प्रधान ओषधि (समीरपत्रग आदि) हितावह होती हैं । एवं नौसादर, जवाखार, वंगद्वार और इतर चार प्रधान ओषधि भी प्रयोजित होती है ।

इस रोगमें अग्निको प्रदीप्त करनी चाहिये । एवं उदरको शुद्ध रखना चाहिये । वेदना होती हो, तो छाती पर तार्पित तैल या नीलगिरी तैलकी मालिश करानी चाहिये । कफ निकलनेमें कष्ट होता हो, तो कफकर्त्तनरस, कफकुठाररस और चार प्रधान ओषधि अति हितकारक मानी गई हैं । कफकुठाररसके सेवनसे कफ सरलतासे बाहर आ जाता है, और ज्वरका भी शमन हो जाता है । अति उग्रताजनक कास हो, तो अफीम और अफीमद्वार युक्त ओषधिका सेवन कराना चाहिये ।

यदि मूत्रमें लालास्राव होता हो, तो चंदनका तैल ५-५ बूंद दिनमें ३ बार देनेसे मूत्रविकार और कफप्रकोप, दोनोंका निवारण हो जाता है ।

श्वासनलिका प्रसारण में दुर्गन्ध दूर करने और कफ को कम करनेके लिये कफ निःसारक वाष्पका प्रयोग हितकारक माना गया है । एवं शृंगभस्म, शुभ्राभस्म, कासकण्डनावल्लेह, मरिचादि बटी, कफकुठार रस आदि ओषधियां लाभदायक हैं । कफ की दुर्गन्ध कम होने पर मरिचादिवटी, खदिरादिवटी, लवंगादिवटी आदि प्रयोजित हो सकती हैं ।

वातज कास चिकित्सा ।

(१) बृहत् पञ्चमूलका क्वाथ कर १-१ माशा पीपलके चूर्णका प्रक्षेप मिला दिनमें २ समय पिलाने और मांसरस सह भातका भोजन करानेसे वातज कास थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो जाती है ।

(२) शृंग्यादि लेह—काकड़ासिगी, कचूर, छोटी पीपल, भारंगी, नागरमोथा और जवासा, इन ६ ओषधियों को समभाग मिला कूटकर कपड़छान चूर्ण करे । फिर इसमेंसे ३-३ माशे चूर्ण ३ माशे गुड़ (पुराना) मिला, फिर तिल्लीका तैल मिलाकर चाट लेवें । दिनमें २ समय चटाते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें वातिक कास दूर हो जाती है ।

(३) भाङ्गर्यादि लेह—भारंगी, मुनक्का (बीज निकाली हुई), कचूर, काकड़ासिगी, पीपल और सोठ, इन ६ ओषधियोंका चूर्णकर ऊपर लिखी विधिसे चाटण बना लेवें । इस चाटणके सेवनसे वातज सूखी खांसी निःसन्देह नष्ट हो जाती है ।

(४) विश्वादि लेह—सोंठ, धमासा, काकड़ासिगी, बीज निकाली हुई मुनक्का, कचूर और मिश्री, इन ६ ओषधियोंको समभाग मिला लेवें । फिर ६-६ माशे तैल मिलाकर दिनमें ३ समय चाटनेसे दारुण वातज कास (पित्त अनुबन्ध सह) निवृत्त हो जाती है ।

(५) २ तोले मिश्रीको २० तोले जलमें मिलाकर उबालें । उसमें काली मिर्चका चूर्ण २ माशे मिला लेवें । फिर निवाया-निवाया पिलानेसे वातात्मक कास शमन हो जाती है ।

(६) जीर्णकासान्तक वटी—लोहवानके फूल १ तोला, कपूर ६ माशे और अफीम ३ माशा मिला शहदमें खरल कर ११ रत्तीकी गोलियां बना लेवे । इनमेंसे १-१ गोली दिनमें २ या ३ समय देनेसे पूयमय पुरानी खांसी दूर होती है ।

(७) कासान्तक वटी—लोहवानके फूल ४ तोले, नौसादर २ तोले, कपूर १ तोला और अफीम ६ माशेको मिला, शहदके साथ खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियां बनावें । इनमेंसे १ से २ गोली

दिनमें ३ समय देनेसे नयी और पुरानी खांसी दूर होती है । कफ सरलतासे बाहर आ जाता है; तथा ज्वर और पूयविकार निवृत्त होते हैं ।

(८) ६ माशे गुड़ और ६ माशे कड़वा तैल मिलाकर सुबह शाम चाटनेसे वातिक कास शमन होती है ।

(९) बहेड़ेपर घी चुपड़ ऊपर कपड़मिट्टी करें (गोबर मिट्टी लगा दें) ; फिर पुट पाक कृति अनुसार राखमें दवा ऊपर अग्नि रखकर पका लें । फिर इस बहेड़ेका १-१ टुकड़ा मुँहमें रखकर रस चूसने रहनेसे सूखी खांसी आराम होजाती है । इस क्रियासे बहेड़ा न पकाया जाय, तो कच्चेके उपयोगसे भी लाभ पहुँच जाता है ।

कण्ठप्रदाह, कर्णशोथ, फुन्सियाँ और गलशुण्डिका आदि की विकृतिसे कास चलती हो, तब बहेड़ा अति हितकर औषधि है ।

(१०) बहेड़ा, मुलहठी और अनारके झिलकाको ४-४ माशे मिलाकर १६ तोले जलमें उबालें; चतुर्थांश जल शेष रहने पर छान ६ माशे मिश्री मिलाकर सुबह शाम पिलाते रहनेसे सूखी खांसी मिट जाती है ।

(११) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें लिखी हुई औषधियाँ—चन्द्रामृत रस (२० ६६३ शहद या दूधके साथ), वासाबलेह (२० ७६६), दशमूलाद्यधृत (द्वितीयविधि २० ८२७), कर्पूरादि वटी (२० ६३३) कासमर्दन वटी (२० ६४६), लवंगादि वटी (२० ६३४), हरीतक्यादि गुटिका (२० ६६८), रौप्य भस्म (२० ११५—मल्लई-मिश्रीके साथ), शुष्ककासहर क्वाथ (२० ७२५), नाग भस्म (२० १५८), वंग भस्म (२० १४०), और लऊक सपिस्तां (२० ८१४), वासादि चूर्ण (२० ७०२), इनमें से अनुकूल औषधिका सेवन कराना चाहिये ।

कर्पूरादिवटी, कासमर्दनवटी, लवगादिवटी, हरीतक्यादिगुटिका इनमेंसे किसी एककी १-१ गोली दिनमें १०-१५ गोली तक मुहमें रख कर रस चूसें। ये सब सरल सामान्य ओषधियां होने पर भी शुष्क कास और नूतन कास पर अति लाभदायक हैं।

खासते-खासते रक्तवाहिनियोंमें से कोई फटकर रक्त भी आता रहता हो; पार्श्वशूल या दाह होता रहता हो; तो प्रवालपिष्टीको वासावलेहके साथ सेवन कराना चाहिये।

जीर्णकासमें एव नाजुक प्रकृतिवालोंको रौप्यभस्म का सेवन लाभदायक है। चन्द्रामृतरस सब प्रकारके कास रोगमें हितकारक है। दशमूलाद्य वृत नाडियोंमें सर्वत्र आई हुई शुष्कताको दूर करता है।

नाग भस्म मक्खन-मिश्रीके साथ, या अभ्रक भस्म पीपलके चूर्ण और शहदके साथ देनेसे फुफ्फुसोंकी निर्बलतासह शुष्क कासका निवारण होता है। रौप्यभस्म (मलाई मिश्री या मक्खन-मिश्रीके साथ) अथवा अभ्रक प्रधान लक्ष्मी विलास रस का सेवन करानेसे शुक्रक्षयज शुष्क कासका शमन हो जाता है।

लज्जक सपिस्ता १-१ तोला दिनमें २ बार सेवन करानेसे शुष्क कफ आर्द्र बन जाता है। फिर सरलतापूर्वक बाहर आ जाता है; श्वास-नलिका और फुफ्फुसोंका दाह शमन होता है, और वेदना दूर होती है। वासादिचूर्ण दिनमें ३ बार ३-३ रत्ती शहदके साथ देनेसे शुष्क कास की निवृत्ति होती है। इस तरह शुष्क कासहर क्वाथ का सेवन भी शुष्ककास पर अति लाभदायक है।

(१२) अमृतार्णव रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, सोहागेका फूल, रास्ना, बायबिडंग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, देवदारु, सोंठ, कालीभिर्च, पीपल, गिलोय, पद्माख, शुद्ध बच्छनाग, इन १६ ओषधियोंको समभाग मिलाकर खरल करें। इसमें से १-१ रत्ती चूर्ण प्रातः सायं शहदके साथ सेवन करानेसे मन्द-

ज्वर, अरुचि, शिरदर्द और अग्निमान्द्य आदि विकारों सह वातिक कास रोग थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जाता है ।

(१३) धातुज्वराकुश रस—लोहभस्म, अभ्रक भस्म, ताम्र-भस्म, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध बच्छनाग, सोंठ, काली-मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, और कूठ, इन १३ ओषधियोंको समभाग लेवें । पहले पारद-गन्धककी कज्जली करके भस्म मिलावें । फिर काष्ठादि ओषधियोंका कपड़ छान चूर्ण मिला भाँगरा, निगुण्डी और अदरकके रसके साथ ३-३ दिन तक खरल कर आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बनावें । यह रसायन यथोचित अनुपानके साथ देनेसे अजीर्ण, वातज कास, जिसमें कफ सूख गया हो वह, तथा सब प्रकारके धातुगत ज्वर नष्ट होते हैं; तथा रुचि और जठराग्निकी वृद्धि होती है ।

(१४) कंटकार्यादि घृत—कंटकारी और तार्जी गिलोय, दोनोंका स्वरस १२८-१२८ तोले और गोघृत ६४ तोले मिला यथाविधि घृत सिद्ध करें । इसमें से १-१ तोला घृत सेवन कराकर पेया पिलानेसे वातिक कास शमन होती है; और अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(१५) जुद्रामृतप्राश्य—कटेली पंचांग और गिलोय ५-५ सेर लेकर भिन्न-भिन्न २० सेर जलमें मिलाकर चतुर्थांश काथ करें । फिर दोनों काथोंको छान मिलाकर पुनः पकावें, लगभग २॥ सेर जल शेष रहने पर ३॥ सेर मिश्री मिलाकर शर्बत लायक चासनी करें । पश्चात् पुष्करमूल, तेजपात, लौंग, नागरमोथा, भारंगी, जावित्री, छोटी कटेलीके फूल, जायफल, आकके फूल की कली, सोंठ और धनियाँ, ये ११ ओषधियाँ ३-३ तोले छोटी इलायचीके दाने ४ तोले, दालचीनी और काकड़ासिंगी ५-५ तोले, सफेद मिर्च ६ तोले तथा पीपल १० तोले मिला कपड़

छान चूर्ण कर ३० तोले गोघृतमें अधभुना कर लें । फिर चाशनी में भूना हुआ चूर्ण और शिलाजीत ८ तोले डालकर अवलेह सिद्ध करें । तैयार होने पर संगजराहत और वंशलोचन १०-१० तोलेका चूर्ण डालें । शीतल होने पर ४० तोले शहद मिला लेवें । मात्रा ६ माशेसे १। तोले तक दिनमें २ समय देवें । वातज कासमें धारोष्ण दूध या घृतके साथ । साधारण कासमें निवाजे जलसे । कफयुक्त कासमें पीपलका चूर्ण और शहदके साथ, और जीर्णकासमें बकरीका दूध अनुपान रूपसे देवें ।

इस अवलेहके सेवनसे अति पुरानी खाँसी दूर हो जाती है । काली खाँसीमें भी यह ओषधि अमृत सदृश उपकारक है । इस अवलेहका २ मास तक पथ्यपूर्वक नियमित रीतिसे सेवन करानेसे जीर्ण कास, फुफ्फुसोकी निर्बलता, श्वासका फूलना, श्वास, मंदाग्नि और पाण्डु रोग आदि विकार दूर होते हैं ।

यदि मुँह और नाकसे रक्त आता हो, रक्तमिश्रित दुर्गन्धयुक्त कफ निकलता हो, तो इस अवलेहके साथ मुक्तापिष्टी १ रत्ती अथवा प्रवालपिष्टी २ रत्ती मिलाकर सेवन करानेसे शीघ्र व्रण भर जाता है, और बलकी वृद्धि होने लगती है । हृदयकी निर्बलतामें सुवर्णका वर्क मिला दे । तीव्र श्वासप्रकोपमें ताम्र भस्म ३ रत्ती मिलाकर सेवन करावें ।

(१६) द्राक्षादि गुटिका—खानेकी तमाखू २० तोले, काली-मिर्च २० तोले तथा बीज निकाली हुई मुनक्का ४० तोले लें । पहले तमाखू और कालीमिर्चको मिला, फिर मुनक्काके साथ कूट एक रस बना आध-आध रत्तीकी गोलियाँ बना लेवे । इनमेंसे १-१ गोली जलके साथ दिनमें ३ बार देते रहनेसे कफ बहुत जल्दी पक जाता है, और फिर सरलतासे निकलकर खाँसी शमन हो जाती है ।

सूचना—मात्रा अधिक होनेपर उबाक आने लगती है । ऐसी अवस्था होनेपर १ से २ तोले घी पिलाना चाहिये ।

(१७) मधुयष्ट्यादि गुटिका—मुलहठी, लौंग, सफेद मिर्च, बहेड़ा, छोटी इलायचीके दाने, सोंफ, शुद्ध कत्था, ये ७ ओषधियाँ ५-५ तोले, रबसूस (मुलहठीका सत्व) २० तोले और पीपरमेंटका फूल १ तोला लेवें । पीपरमेंटके फूलको छोड़ शेष सबको मिलाकर खरल कर लेवें । फिर पीपरमेंट मिला जल में ३ घण्टे खरलकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे शुष्क कासकी निवृत्ति होती है । दिनमें १०-१५ गोली तक चूसते रहें ।

पित्तज कासचिकित्सा ।

(१) पिण्ड खजूर, मुनक्का, पीपल, मिश्री और धानकी खील को मिला घी और शहदके साथ चाटनेसे पित्तजन्य कास शमन होती है ।

(२) खरैटी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, वासाके पत्ते और मुनक्का, इन ५ ओषधियोंका काथ बनाकर ६-६ माशे शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तज कासकी निवृत्ति होती है ।

(३) छोटी कटेली, बड़ी कटेली, मुनक्का, अड़ुसाके पत्ते, कर्पूर, नेत्र-वाला, सोंठ और पीपल, इन ८ ओषधियोंका काथ कर शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तज कास दूर होती है ।

(४) मुनक्का, आंवला, पिण्डखजूर, छोटी पीपर और काली मिर्चको मिला चटनीकी तरह पीस, घी और शहद मिला कर चटानेसे कफानुबन्धसह पित्तज कास नष्ट होती हैं ।

(५) तृण पञ्चमूल, पीपल और मुनक्का, इन ७ ओषधियों को दूध १६ तोले और जल ६४ तोलेके साथ मिला औटाकर दुग्धावशेष काथ करें । फिर छान शहद-मिश्री ६-६

माशे (या अधिक) मिलाकर पिलादे । इस तरह दिनमें २ समय पिजाते रहने से पित्तज कास, शिरःशूल और मूत्रावरोध दूर होते हैं ।

(६) मुनक्का और मिश्री ६-६ माशे मुलहठीका सत्व (रबसूस), वंशलोचन, तुरंजबीन और छोटी इलायचीके दाचे २२ माशे लेकर सबको मिजा लेवें । फिर चटनीके समान पीस ६-६ माशे शहद मिलाकर चटानेसे पित्तज कासकी निवृत्ति होती है ।

(७) लिहसोदे और मुलहठी १-१ तोला तथा हरड़, बहेड़ा, आंबला, तीनों ४-४ माशे लेकर २४ तोले जलमें मिलाकर काथ करे । चतुर्थांश शेष रहनेपर मलकर छान लेवे । फिर ६६ माशे शहद-मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तज खांसी दूर होती है ।

(८) अंजीर और मुलहठी १-१ तोलेको दूध ८ तोले और जल ३२ तोलेमें मिलाकर दुग्धावशेष काथ करें । फिर शहद मिश्री मिलाकर पिलानेसे पित्तजन्यकास और दाहका शमन होता है ।

(९) ईसबगोल ६-६ माशेको जलमें भिगो लुआब बना मिश्री मिलाकर देवें ।

(१०) अडूसेके पत्तोंका पुटपाक रीतिसे १-१ तोला स्वरस निकाल ६-६ माशे शहद मिलाकर सेवन करानेसे पित्तश्लेष्म प्रधान कास और रक्तपित्तकी निवृत्ति होती है ।

(११) श्वासकृच्छ्रान्तक बटी—एलवा २० तोलेको बारीक पीस फिर ४ तोले गुड़ मिला कूटकर १-१ रत्तीकी गोलियां बना लेवें । आवश्यकता पर १-२ तोले गुड़ अधिक मिला लेवे । परन्तु गुड़की मात्रा ज्यादा हो जानेपर गोली अच्छी नहीं बनती । इन गोलियोंको चांदीके बर्कपर डालते जायें, जिससे सुन्दर बन जाती है । इनमेंसे २-२ गोली

दिनमें २ बार सुबह शाम १ घूँट जलके साथ निगलवा दें। फिर ऊपर २ से ४ तोले तक निवाया गोवृत पिलानेसे श्वास लेने या छोड़नेमें कष्ट होता हो, वह दूर हो जाता है। कफकास और श्वासरोगमें यह औषधि अच्छी उपकार दर्शाती हैं।

सूचना—धी पीनेके पश्चात् आध घण्टे तक जल या चाय नहीं पिलाना चाहिए।

(१२) कफ सरलतासे बाहर न निकलता हो, तो आधसेर जलमें १ तोला शक्कर डालकर गरम करें। छटांक भर रहनेपर उतारकर निवाया-निवाया पिलानेसे तुरन्त कफ सरलता पूर्वक पृथक् होने लगता है; और व्याकुलता शमन हो जाती है।

(१३) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें लिखी हुई औषधियाँ—प्रवालपिष्टी (२० २०६—अनारके रस और मिश्रीके साथ) सितोपलादि चूर्ण (२० ६७४—अनार शर्बतके साथ), बृहत् सितोपलादि चूर्ण (२० ६७४), कासमर्दन वटी (२० ६४६), सुवर्ण भस्म (२० २३६—द्राक्षारिष्टके साथ), चन्द्रामृत रस (२० ४६३), वासादि काथ (२० ७१६), मौक्तिक पिष्टी (२० २०२—सितोपलादि चूर्ण, गिलोय सत्व और शहदके साथ)।

दाह अधिक हो, रक्त जाता हो; और कासका वेग तीव्र हो, तो वेग शमनार्थ मौक्तिकपिष्टी, प्रवालपिष्टी, सितोपलादि चूर्ण या बृहत् सितोपलादि चूर्ण को प्रयोगमें लिया जाता है। मौक्तिक पिष्टी या प्रवाल पिष्टीको सितोपलादि या बृहत् सितोपलादि चूर्णके साथ मिला करके भी दी जाती है। कासमर्दनवटी मुँहमें रखकर रस चूसते रहनेसे वेग शान्त हो जाता है। भित्तके साथ कफका अनुब्रंश हो, या मुँहसे रक्त निकलता हो, तो वासादि काथ हितकारक है। चन्द्रामृत रस सब दोषोंकी विकृति पर दिया जाता है। सूखी पुरानी खासीके साथ हाथ पैरोंमें जलन हो तो सुवर्णभस्म और प्रवाल पिष्टी, गिलोयसत्व और शहद अथवा दाड़िमा-

बलेहके साथ दी जाती है । यदि खासी अनेक महीनोंसे त्रास देती हो, तो सुवर्णमसम द्राक्षारिष्टके साथ देनी चाहिए ।

(१४) वातपित्तात्मक कास पर सूतशेखर रस १ रत्ती और प्रवालपिष्टी २ रत्ती अदरखके रस और शहदके साथ देवें ।

कफज कासचिकित्सा ।

(१) अदरखका रस शहद मिलाकर चाटनेसे श्वास, कास । जुखाम और दूषित कफकी निवृत्ति होती है ।

(२) दशमूलका काथ बना १-१ माशा पीपल प्रक्षेप रूपसे मिलाकर पिलानेसे पार्श्वशूल, ड्वर, श्वास, कास आदि कफ-प्रधान रोगोंका नाश होता है ।

(३) पुष्करमूल, कायफल, भारंगी, सोठ और छोटी पीपल को समभाग मिलाकर काथ करें । फिर शहद डालकर पिलानेसे कफवृद्धिसे उत्पन्न कास, श्वास और हृदयवेदना आदि विकार नष्ट होते हैं ।

(४) हरड़, सोठ और नागरमोथाको समभाग मिला गुड़ के साथ जंगली बेरके सदृश गोलियों बनाकर दिनमें ३-४ बार सेवन करानेसे श्वास और कास नष्ट होते हैं । यदि गुड़की चासनी बना लेवें, तो गोलियाँ दृढ़ बनती हैं, फिर मुँहमें रख कर रस चूसते रहे, तो सत्वर लाभ होता है ।

(५) कटेलीके फल और पीपलको मिला चूर्ण कर १-१ माशा दिनमें २ बार शहदके साथ देते रहनेसे कफज कासकी निवृत्ति होती है । इस चूर्णसे दूषित कफ सरलतासे बाहर निकल जाता है ।

(६) कटेली पञ्चाङ्गका काथ कर पीपलका चूर्ण और शहद डालकर पिलानेसे कफ सरलतासे बाहर निकल जाता है ।

(७) पीपल या मुलहठीके काथमें शहद मिलाकर पिलानेसे

कफ और काली खाँसी दूर होती है । पीपलसे कफकी शुद्धि होती है; और मुलहठीसे श्वासवाहिनियोंका दाह दूर होता है । जिसकी आवश्यकता हो, उसे उपयोगमें लेना चाहिये ।

(८) भारंगी, पीपल, सोंठ और काकड़ासिगीका चूर्ण कर ४-४ माशे दिनमें २ बार शहदके साथ चटानेसे श्वास और कास नष्ट होते हैं ।

(९) आककी जड़को सम्पुटमें बन्दकर भस्म करें । इसमें से १-१ रत्ती मलाई या शहदके साथ या नागरबेलके पानमें दिनमें ३-४ बार देनेसे कफकास दूर होती है ।

(१०) मुलहठी और कालीमिर्चको समभाग मिला तवे पर भून लें । फिर पीस समान मिश्रीकी चासनीमें मिलाकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लें । १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहें । इस तरह एक दिनमें १०-१५ गोली चूसें । इन गोलियोंके सेवनसे कफज कास चली जाती है ।

(११) कुचिलेको १६ गुने घीमें भूनें; भली-भाँति भुन जानेपर उतार कर पीस लें । इसमें से १-१ रत्ती नागरबेलके पानमें या शहदके साथ देनेसे कफकास निवृत्त होती है ।

(१२) समशर्कर चूर्ण—लौंग, जायफल, पीपल १-१ तोला, काली मिर्च ६ तोले, सोंठ १६ तोले और मिश्री २५ तोले लें । सबको कूटकर कपड़छान चूर्ण करें । इसमें से ४ माशेसे ६ माशे चूर्ण दिनमें २ समय जल या शहदके साथ देनेसे कास, ज्वर, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, श्वास, अग्निमान्द्य और ग्रहणी विकार, ये सब शीघ्र दूर होते हैं । खाँसीके साथ मंद ज्वर रहना, दिनमें ३-४ पतले-पतले दस्त लगना और पाचनक्रिया-विकृति आदि होनेपर इस चूर्णका उपयोग लाभदायक है ।

(१३) पिप्पल्यादि क्वाथ—पीपल, कायफल, सोंठ,

काकड़ासिंगी, भारंगी, कालीमिर्च, कालाजीरा, छोटी कटेली, निर्गुण्डीके बीज, अजवायन, चित्रकमूल और अहूसाके पत्ते, इन १२ ओषधियोंको समभाग मिलाकर जौकुट चूर्ण करे । इसमेंसे २-२ तोलेका काथ कर पीपलका चूर्ण और शहद मिला कर पिलाने से कफ कास नष्ट होती है ।

(१४) अपामार्गका क्षार या वंगक्षार (सुवर्णवंग बनानेके साथ बना हुआ क्षार) २-२ रत्ती ३ माशे घी (या ६ माशे शहद) में मिलाकर चाट लेनेसे कफ जल्दी दूर हो जाता है । कोई-कोई पानमें रखकर रस चूसते हैं ।

(१५) सोहागेका फूल २-२ रत्ती नागरबेलके पानमें रखकर सुबह-शाम खिलानेसे दूषित कफ ही सत्वर शुद्धि हो जाती है ।

(१६) पञ्चलवण, यवक्षार और सज्जीक्षार, इन ७ ओषधियोंको एक-एक छटोंक लेकर मिला लेवें । फिर सेहुण्डके ताजे डंडेमें भर कर मुँह बन्द करें, और ऊपर कपड़ मिट्टी कर सुखा ले । पश्चात् गजपुट अग्नि दें । स्वाङ्ग शीतल होनेपर निकाल कर पीस लेवे । इसमेंसे २ से ४ रत्ती शहद या निवाये जलके साथ देनेसे दूषित कफ सरलतासे बाहर आ जाता है ।

(१७) यदि कफवृद्धि और कोष्ठवृद्धता हो, तो अमलतास का गुदा ६ माशे समान मिश्रीके साथ मिलाकर निवाये जलके साथ सुबह सेवन करानेसे कफ, आम, विष और संचित मल निकल जाते हैं ।

(१८) बहेड़ा, सोठ, पीपल और पीपलामूलको कूटकर ४-४ माशे चूर्ण शहदके साथ देते रहनेसे कफज कास निवृत्त होती है ।

(१९) अहिफेनादि चूर्ण—अफीम, छोटी हरड़, बहेड़ा, सफेद मिर्च, आकके फूलकी कली, इन पाँच ओषधियोंको सम-

भाग लेवें । अफीमको छोड़ शेष ओषधियोंका कपड़छान चूर्ण करें । फिर अफीमको जलमें मिलावें । इस जलके साथ खरलकर चूर्णको सुखा लेवें । पश्चात् मिट्टीके तवेपर जलाकर काली राख बना लेवें । इसमेंसे १-१ रत्ती चूर्ण शहदके साथ दिनमें दो समय देनेसे सब प्रकारकी खांसी दूर होती है ।

(२०) हरिद्रादिचूर्ण—हल्दी १ तोला, सज्जीखार (सोड़ा बाई कार्व) ३ माशे और पीपरमेण्टका फूल १ माशा लेवें । पहले हल्दी और सज्जीखारको किञ्चित् जलके साथ खरल करें । फिर पीपरमेण्टका फूल मिलावें । इसमेंसे २-२ रत्ती चूर्ण दिनमें २-३ बार नागरबेलके रानमें खिलानेसे कफ कासकी सत्वर निवृत्ति होती है ।

(२१) अर्कादि वटी—आकके फूलोंकी कलियां और काली मिर्च समभाग तथा दोनोंके समान कत्था मिला जलमें खरलकर आध-आध रत्तीकी गोलियां बना लेवें । इनमेंसे सुबह शाम १ से २ गोलीं तक देने रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें कास रोग निवृत्त हो जाता है ।

कफकुञ्जर रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक १-१ तोला, थूहर और आकका दूध ४-४ तोले तथा पाँचों नमक मिलाकर ४ तोले लें । सबको मिला खरल करके सुखालें । फिर ८ तोले आकके दूधमें मिलाकर बड़े शंखमें भर दें । पश्चात् पीपल, गजपीपल और नेत्रवालाके कपड़छान चूर्णको आकके दूधमें मिलाकर शंखके मुँह और पार्श्वस्थानको बन्द कर दें; और हृद् कपड़मिट्टी कर सुखा लेवें । तत्पश्चात् ३ घण्टेकी अग्नि दें । स्वांग शीतल होनेपर ओषधिको शंखमें से निकाल कर पीस लेवें । इस रसायनमेंसे आध-आध रत्ती तथा चौथाई रत्ती कपूरको नागरबेलके पानमें डालकर खिलानेसे सब प्रकारकी

खांसी, श्वास, कास, हृद्‌रोग और सब प्रकारके कफप्रकोप-जन्य रोग नष्ट हो जाते हैं ।

(२३) रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—कनकासव (२० ७५३), शृंगभस्म (२० २३६), मल्लसिद्धूर प्रथमविधि (२० २८४), मल्लभस्म (२० २३५), कफकुठार रस (२० ४६३), महावातराज रस (२० ५६६), आनन्दमैरव रस (२० ४०१), मरिचादि वटी (२० ६३३), अतिविषादि वटी (२० ६३४), लवङ्गादि वटी (२० ६३४), अग्नि रस (२० ४६५), वासावलेह (२० ७६६), अष्टाङ्गावलेह (२० ८००), आर्द्रकावलेह (२० ८१४), चन्द्रामृत रस (२० ४६३), संजीवनी वटी (२० ६२७), हरीतक्यादि गुटिका (२० ६६८), कफकर्तन रस (२० ५६७), कासकण्डनोवलेह (२० ७६६), शृङ्गादि चूर्ण (२० ६६७), और वासादि चूर्ण (२० ७०२), ये सब हितकारक हैं ।

इन ओषधियोंमें कनकासव श्वास नलिका प्रदाहशामक, उष्ण कफस्त्राव कराने वाला, शोथहर, मादक और वेदनाशामक है । यह तमक श्वास और कासकी उत्तम ओषधि है ।

शृङ्गभस्म दूषित कफको बाहर निकालने, कीटाणुओंको नष्ट करने और फुफ्फुसोंकी शुद्धि करनेमें हितकर है । शक्करके साथ देनेसे कफको सत्वर बाहर निकालती है, और शहदके साथ सेवन करानेसे कीटाणुओं की उत्पत्तिको रोककर फुफ्फुसोंकी शुद्धि और मंद ज्वरकी निवृत्ति करती है । अनेक बार अधिक कफस्त्राव करानेके लिये शृङ्गभस्म अट्ठसेके रसके साथ दी जाती है । श्वासवाहिनियोंमें शोथ आजानेसे कफ संचित रहता हो, ऐसी कासमें शृङ्गभस्मके साथ थोड़े प्रमाणमें रससिद्धूर मिला कर शहदके साथ देना चाहिये, और ऊपर में अट्ठसा, मुलहठी, बहेड़ा और मिश्रीका काथ पिलाना चाहिये, या वासावलेहके साथ सेवन कराना चाहिये ।

यदि श्वास रोगमें कफवृद्धि हो, और वृक्स्थानमें विकृति न हो, मूत्र-शुद्धि नियमित होती हो, तो मल्लमस्म या मल्लसिंदूर दिया जाता है । उपदंश रोग जिनको पहले हो गया हो उनको यदि कफकास है, तो सोमलमिश्रित ओषधिका सेवन अधिक लाभप्रद होता है ।

जब छातीमें कफ बहुत जमा हो गया हो, बार-बार खांसी आकर कष्टपूर्वक थोड़ा-थोड़ा कफ गिरता रहता हो, मंद-मंद ज्वर रहता हो, तब सरलतापूर्वक सत्वर कफ निकालनेके लिये कफकुठार रस दिया जाता है ।

सामान्य जुखाम, ज्वर और कफ कासमें कफकर्तन रस, आनन्द-भैरव रस या संजीवनी वटी लाभदायक है । इनमें कफकर्तन नयी और पुरानी खांसी, एवं आर्द्र और शुष्क कास, सब पर लाभ पहुँचाता है ।

कफ का शनैः शनैः शोधन करानेके लिये निर्बल प्रकृति वालोंको मरिचादि वटी या लवंगादि वटी मुँहमें रखकर रस चूमनेको दी जाती है । यदि कफ पीला हो गया हो, तो मरिचादि वटी विशेष हितकर मानी जाती है । रोग अति जीर्ण हो गया हो, तो कासकण्डनोवलेह देने से कीटाणु, फुफ्फुसादिके व्रण और कफ दोष, सबकी निवृत्ति होकर रोग शमन हो जाता है ।

कफके साथ रक्त आता हो, तो अग्नि रसका सेवन कराया जाता है । यदि कफ अधिक हो और पित्तका प्रकोप भी हो, तो वासावलेह देना चाहिये । अग्निरस और वासावलेह दोनोंको मिलाकर भी दे सकते हैं ।

निर्बल प्रकृतिवालोंकी नयी और पुरानी खांसीमें चन्द्रामृत रस का सेवन हितकारक है । यदि कफ ज्यादा हो, तो साथ-साथ कासकण्डनोवलेह भी देते रहें ।

कण्ठमें रुका हुआ कफ सरलतासे बाहर नहीं निकल सकता; तब कफको बाहर निकालनेके लिये अष्टाङ्गावलेह दिया जाता है ।

यदि अग्निमान्द्यसे आमवृद्धि, कफकास और श्वास हुए हों, तो आर्द्रकावलैह का सेवन करानेसे सत्वर लाभ पहुँच जाता है ।

जब पतला कफ बार-बार उत्पन्न होना रहता है, और कफके जलाश का शोषण कराने की या श्वासवाहिनियोंको सबल बनाने और प्रति-श्यायको दूर करानेकी आवश्यकता है, तब महावातराज रस दिया जाता है । इस रसायनमें आधी अफीम होनेसे इसका उपयोग खूब सम्भालपूर्वक किया जाता है । मधुमेह, सग्रहणी, अतिसार, प्रवाहिका आदि रोग पीड़ितोंको कफज कासमे यह दिया जाता है ।

शृग्यादि चूर्ण, वासादि चूर्ण, हरीतक्यादि वटी और अति-विषादि वटी ये सामान्य औषधियां होनेपर भी अति हितकर हैं । जब सौम्य औषधि देनी हो, तब ये औषधियाँ प्रयोगमे ली जाती है ।

धूम्रपान—(१) मनःशिलादि या जात्यादि धूम्रपान करा ऊपर दूध (गुड़ या शक्कर मिला हुआ) पिलानेसे सत्वर कफकी निवृत्ति होकर स्वरयन्त्र, श्वासवाहिनी और फुफ्फुस दोषसे मुक्त होजाते हैं ।

(२) आककी छाल और मैनसिल २-२ रत्ती तथा सोठ, कालीमिर्च और पीपल, तीनों मिलाकर २ रत्ती ले । सबको मिला चिलम में रख धूम्रपान करावें । ऊपर जल या दूध पिलाने, अथवा नागरवेलका पान खिलानेसे सत्वर कफ निकलकर कासकी निवृत्ति होती है ।

वमन करानेके लिये—(१) नीलकण्ठ रस निवाये जलके साथ देवे, या चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड पृष्ठ २१२ में ५ प्रयोग लिखे हैं, उनमेंसे अनुकूल औषधिका उपयोग करे । कुछ प्रयोग पहले चिकित्सोपयोगी सूचनाके साथ भी लिखे हैं ।

सूचना—वमन करानेमे अधिकारी, विधि, औषधि और फलका विशेष वर्णन प्रथमखण्डके पृष्ठ २०६ में है, उसको अच्छी तरह समझकर प्रयोग करना चाहिए ।

(२) मैनफल २ तोलेका काथ कर पीपल और सैधानमक मिलाकर पिलानेसे कफकी निवृत्ति हो जाती है; या मैनफल ६ माशे तथा पीपल और सैधानमक २-२ माशे मिला निवाये जलके साथ देनेसे वमन होकर कफ निकल जाता है । वमन करानेमें यह अति निर्दोष और सौम्य ओषधि है ।

कफकी उत्पत्ति कम कराने के लिये—अभ्रकभस्म और लोह-भस्म (पीपलका चूर्ण और शहदके साथ) अथवा त्र्यूषणाद्य लोह का सेवन करानेसे कफ और मेद, दोनोंकी उत्पत्ति मर्यादित बन जाती है ।

तमाखूके व्दसनीकी खाँसी पर (१) गोमूत्रक्षार चूर्ण (२० ६८६) या श्वासरोगान्तक वटी दूसरी विधि (२० ४६८) का सेवन कराना चाहिये ।

(२) ऊपर लिखे हुए धूम्रपान करावें ।

(३) धतूरेकी जड़को चिलममें रखकर धूम्रपान करानेसे संचित कफ निकल जाता है ।

(४) पीपल या छोटी हरड़को चिलममें रखकर घुँआ पिलानेसे कफका निवारण होता है ।

शुक्रक्षयजन्य कास पर—रससिंदूर आधी रत्ती, वंगभस्म १ रत्ती और शृङ्गभस्म २ रत्ती, तीनोंको मिलाकर शहदके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे शुक्रक्षय, हृदयकी निर्बलता और कफप्रकोप दूर हो जाते हैं ।

वातकफात्मक कास चिकित्सा ।

कटफलादि क्वाथ—(१) कायफल, रोहितं तृण, भारंगी, नागरमोथा, धनिया, बच, हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ासिंगी और देवदारु, इन ११ ओषधियोंका काथ कर १ रत्ती भूनी हर्गी

और ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे कंठविकार, श्वास, हिक्का और ज्वर सह वातकफात्मक खाँसी दूर होती है ।

(२) कालानमक, हरड़, आँवला, पीपल, जवाखार और सोंठको मिलाकर चूर्ण करे । इसमें से ३-३ माशे चूर्ण दिनमें २ या ३ बार घी के साथ सेवन करानेसे वातकफात्मक कासकी निवृत्ति होती है ।

(३) तालीसादि मोदक—तालीसपत्र १ तोला, काजी मिर्च २ तोले, सोठ ३ तोले, छोटी पीपल ४ तोले, दालचीनी और छोटी इलायचीके दाने ६-६ माशे और मिश्री ३२ तोले लेवें । मिश्रीकी चाशनी बना उसमें शेष ओषधियोंका चूर्ण मिलाकर ४-४ माशेके मोदक बना लेवें । (यदि मोदक न बनाना हो, तो चूर्ण रहने देवें ; चूर्णकी अपेक्षा मोदक सत्वर लाभ पहुँचाता है ।) इसमेंसे १ से २ मोदक दिनमें २ समय देनेसे श्वास, कास, अरुचि, वमन, प्लीहावृद्धि, हृदय और पार्श्वमें शूल, पाण्डु, ज्वर, अतिसार और मूढवात (मूत्रावरोध या उदरमें वायु भरा रहना), इन सब विकारोंको दूर करता है । वातश्लेष्मज कास पर यह अच्छा लाभ पहुँचाता है । पित्तका अनुबन्ध होने पर ५ तोले वंशलोचन भी मिला लेना चाहिये ।

(४) दशमूल २-२ तोलेका काथ कर ६ माशे घी मिलाकर दिनमें २ समय पिलानेसे वातकफात्मक कास शमन होजाती है ।

(५) वातिक कासमें लिखा हुआ लुद्रामृतप्राश्य, रसतन्त्र-सार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें लिखी हुई ओषधियाँ—लवगादि वटी अतिविषादि वटी (१० ६३४), चन्द्रामृत रस (१० ४६३), श्वासकुठार रस (१० ४६६), कफकर्त्तन रस (१० ५६७), चिन्तामणि चूर्ण (१० ७०१) और समीरपन्नग रस (१० २६७), ये सब हितकर है ।

इनमें समीरपन्नग अति उग्र है । उसका उपयोग सम्हालपूर्वक करना चाहिए । कफ अत्यधिक हो, तो समीरपन्नगको प्रयोगमें लावें । कफाधिक कासमें अनुपान अदरकका रस और वाताधिक कासमें धी-शहद, अथवा इतर अनुपान दें । शेष ओषधियाँ सौम्य हैं ।

पित्तकफात्मक कासचिकित्सा ।

(१) अडूसेके पत्तोंमें से पुटपाक रीतिसे निकाले हुए १ तोले स्वरसमें ६ माशे शहद मिलाकर पिलानेसे रक्तपित्त और पित्तकफात्मक कास दूर होते हैं । उरःक्षतमें भी यह अति हितावह है ।

(२) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखा हुआ लवंगादि तालसिन्दूर (२० २८८) का सेवन करानेसे पित्तप्रकोप और कफसह कास, दोनोंकी निवृत्ति होती है ।

(३) मरिचादि वटी (२० ६३३) चूसते रहनेसे दूषित कफ सरलतासे बाहर आजाता है; और थोड़े ही दिनोंमें प्रकृति स्वस्थ हो जाती है ।

(४) शृंगभस्म २ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, अभ्रकभस्म १ रत्ती और सितोपलादि चूर्ण २ माशे, चारोंको मिलाकर शहदके साथ देनेसे पित्तकफात्मक कासकी निवृत्ति होती है ।

(५) कफकुठार रस (२० ४६३) का सेवन करानेसे दूषित कफ और ज्वरसह कास रोग थोड़े ही दिनोंमें निवृत्त हो जाते हैं ।

(६) अलसीका काथ मिश्री मिलाकर पिलानेसे कफ सरलतापूर्वक बाहर आजाता है ।

(७) सितोपलादि अबलेह (२० ७६६) अडूसेके स्वरसके साथ देनेसे कफ सत्वर बाहर निकल जाता है । यदि शुष्क कास हो, तो अबलेहका सेवन बकरीके दूधके साथ कराना चाहिये ।

(८) चन्द्रामृत रस (२० ४६३) पित्तकफात्मक कास पर

अति हितकर है। शक्ति संरक्षणार्थ अभ्रकभस्म १-१ रत्ती च्यवनप्राशावलेह १-१ तोलाके साथ दिनमें २ समय देते रहे।

(६) कफकासमें लिखे हुए अहिफेनादि चूर्ण, कफकुञ्जर रस, जीर्णकासान्तक वटी, कासान्तकवटी, ये सब उपकारक है।

(१०) कनकासव दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे कफ सरलतासे निकलता है, वेदना कम होजाती है और शक्ति कायम रहती है।

क्षतज कास चिकित्सा ।

(१) वासा स्वरस २ तोलेमें ६ माशे शहद मिलाकर देवें। ऊपर बकरीका ताजा दूध पिलावें।

(२) पीपल की लाख ६ माशेको शहदमें मिलाकर दिनमें २ बार चटानेसे रक्त गिरना और कफप्रकोप, दोनों दूर होते हैं।

(३) आंवलेका चूर्ण १ तोला १६ तोले दूधमें डाल कर फिर घी मिला कर सेवन करानेसे रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(४) कासकी जड़, ईख, कमलकी नाल, पद्माख, कमलकी केशर और रक्तचंदन को मिलाकर २ तोले लें। फिर दूध १६ तोले और जल ६४ तोलेके साथ मिलाकर दुग्धावशेष काथ करें। पश्चान् छान शीतल होने पर शहद मिलाकर पिलानेसे रक्तस्राव निवृत्त हो जाता है।

(५) पीपल ६ माशे को कुचल १६ तोले दूध और ६४ तोले जलमें मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ करें। फिर पीपल खिला फिर इस दूधमें १ तोला घृत मिलाकर पिलानेसे रक्तस्राव और कफवृद्धि, दोनों दूर होते हैं।

(६) पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपल, मुलहठी, मुनका, लाख, काकड़ासिगी और शतावर १-१ तोला, वंशलोचन २ तोले और मिश्री ३२ तोले लेकर कपड़छान चूर्ण करें। इसमेंसे ३ से ६ माशे

चूर्ण दिनमें २ बार सुबह-शाम ३ माशे घी और ६ माशे शहद मिलाकर सेवन करानेसे क्षतज कास निवृत्त होती है ।

(७) पीपल पद्माख, लाख, कटेलीके पक्के फल, इनका चूर्ण कर २-२ माशे घी और शहद मिलाकर दिनमें २ समय चटाते रहनेसे कफ सरलतासे बाहर आ जाता है; तथा रक्तस्राव भी बन्द हो जाता है । यदि कफ अत्यधिक हो गया हो, पीला, दुर्गन्धयुक्त हो, तो इस ओषधि को प्रयोगमें लाना चाहिये ।

(८) खसखस (पोस्तकके बीज) ६ तोले और ईसबगोल २ तोले को मिला ६४ तोले जलमें अर्धावशेष क्वाथ करें । फिर छान, २ तोले बबूलका गोंद, ४ तोले खसखस और १ सेर मिश्री मिलाकर पाक करें । चाटने लायक हो जाय, तब उतार लें । इस अवलेहमेंसे १-१ तोला दिनमें २ बार चटानेसे रक्तस्राव, प्रतिश्याय और कफ गिरना बन्द हो जाते हैं ।

(९) मूर्वा, रसोंत, चित्रकमूल, छेटी पीपल, हल्दी, पाठा, और मजीठ, सबको समभाग मिला कूट कर कपड़छान चूर्ण करें । फिर ४-४ माशे चूर्ण शहदके साथ दिनमें २ समय चटाते रहनेसे क्षतज कास शमन हो जाती है ।

(१०) प्रवालपिष्टी २ रत्ती और सितोपलादि चूर्ण ३ माशे को ३ माशे घृतके साथ मिलावें । फिर ६ माशे शहद मिलाकर चटानेसे रक्तस्राव और कफोत्पत्ति, दोनों रुक जाते हैं ।

(११) लऊक सपिस्तां (२० ८१४) १ से २ तोले तक दिनमें २ समय चटानेसे कफ सरलतासे बाहर निकलता है, और रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(१२) शृंगभस्म २-२ रत्ती तथा संगजराहत भस्म दूसरी विधि (२० २४३) ४-४ रत्ती मिलाकर दिनमें २ समय प्रातः सायं मक्खन मिश्रीके साथ तथा मध्याह्नको शहदके साथ देते रहनेसे कफ-प्रकोप और रक्तस्राव दूर होते हैं ।

(१३) शक्ति क्षीण होगई हो, तो द्राक्षासव या महा-द्राक्षासव दिनमें २ समय पिलाते रहना चाहिए ।

(१४) वासावलेह प्रथम विधि (२० ७६६) १-१ तोलाके साथ प्रवाल पिष्टी २ रत्ती या मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती मिलाकर दिनमें २ समय देते रहनेसे कफ सरलतासे बाहर आ जाता है ; रक्तस्राव बन्द हो जाता है; और दुष्ट कफकी उत्पत्तिका दमन हो जाता है ।

(१५) एलादिवटी (२० ६४२) १-१ माशा दिनमें ३ समय बकरीके ताजे दूधके साथ देते रहनेसे उरःक्षत, ज्वर, कास, शोष, रक्त गिरना आदि विकार निवृत्त होते हैं ।

(१६) कनकासव दिनमें २ बार पिलानेसे कफ सरलतासे बाहर आता रहता है । पीड़ा कम होती है, और शक्ति कायम रहती है ।

(१७) पीप हो गया हो तो मनःशिलादि धूम्रपान (२० ५६१) या कफकासमें लिखे हुए इतर धूम्रपानका सेवन करानेसे दूषित कफ सत्वर बाहर आ जाता है, कीटाणु नष्ट होजाते हैं; और त्रण शुद्ध होकर सूख जाता है ।

(१८) तरुणानन्द रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक २-२ तोले मिलाकर कज्जली करें । फिर बेल छाल, अरनी छाल, अरलूकी छाल, गम्भारीकी छाल, पादलकी छाल, खरैटीकी जड़की छाल, नागरमोथा, पुनर्नवाकी जड़, आंवला, बड़ी कटेली, अडूसेके पत्ते, विदारीकन्द और शतावरी, इन सबके स्वरस ५-५ तोले या काथके साथ अनुक्रमसे मर्दन करें । फिर अडूसेके १० तोले स्वरसके साथ खरलकर सुखा दें । पश्चात् अभ्रकभस्म कज्जलीसे दुगुनी और आधा कपूर मिलावें । जावित्री, जायफल, जटामांसी, तालीसपत्र, छोटी इलायचीके दाने और लौंग, इन ६ ओष-

धियोंको १-१ माशा लेकर बारीक चूर्ण कर मिला दें। फिर विदारीकन्दके स्वरसकी १ भावना देकर २-२ रत्तीकी गोलियां बना लें।

इसमेंसे १-१ गोलीका दिनमें २ बार नारियलके जल या दूधके साथ सेवन करानेसे राजयक्ष्मा, धातुक्षय, उत्कट उरःक्षत, पाँचों प्रकारकी खांसी, स्वरभंग, अरुचि, कामला, पाण्डु, प्लीहा-वृद्धि, हलीमक, जीर्ण ज्वर, तृषा, गुल्म, आमप्रधान ग्रहणी, अतिसार, शोथ, कुष्ठ, भगंदर आदि रोग दूर होते हैं। यह ओषधि रसायनों में उत्तम, धातुवर्धक, नेत्रके लिये हितकर, पौष्टिक, कामोत्तेजक, बुद्धिवर्धक और बलक्षयनाशक है। २ मास सेवन करनेसे इन सब रोगोंको दूरकर शुकको बढ़ाती है, और ज्वरको दूर करती है। इस रसायनके साथ नारियलका जल रोगशामक अनुपान है; और दूध वीर्यवर्धक अनुपान है।

इस रोगकी विशेष चिकित्सा राजयक्ष्माके अन्तर्गत उरःक्षत विकार में लिखी जायगी।

क्षयकास चिकित्सा ।

(१) सुवर्ण माक्षिक भस्म २ रत्ती और अभ्रकभस्म १ रत्ती मिला कर वासावलेहके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे कास, कफप्रकोप, पार्श्व और हृदयमें वेदना तथा दाहकी निवृत्ति होती है। ज्वर न हो, तो इस ओषधिका उपयोग करें।

(२) शृङ्गभस्म २ रत्ती और अभ्रकभस्म १ रत्तीको मिला कर शहदके साथ दिनमें २ बार दें; ऊपर अड़सा, मुलहठी, बहेड़ा और मिश्रीका काथ करके पिलावें।

(३) सितोपलादि अवलेह १-१ माशे शहद मिलाये हुए १-१ तोले अड़सेके स्वरसके साथ दिनमें २ बार दें; फिर ऊपर बकरीका दूध पिलाते रहें।

(४) हेमगर्भ पोटली रस दूसरी विधि (१० ३५७) २-२ रत्ती कालीमिर्च और शहदके साथ देवें । यदि यकृतमें से पित्त पूरा न निकलता हो, तो प्रथमविधि वाला रसायन पीपल और शहदके साथ देवें ।

(५) हृदय और मनको उत्तेजना देनेके लिए द्राक्षासव या महा द्राक्षासव २॥ से ५ तोले दिनमें २ बार फिलाते रहे ।

(६) दूषित कफ अधिक बढ़ गया हो, ज्वर रहता हो और सत्वर कफ बाहर निकालना हो, तो कफकुठार रस (१० ४६३) १-१ रत्ती नागरबेलके पानके साथ सुबह १ समय देवें । फिर ३ दिन बाद शृगभस्म और अभ्रकभस्म मिलाकर दिनमें २ बार सेवन करावें ।

(७) अडूसा, गिलोय, भारंगी, नागरमोथा और छोटी कटेलीके काथके साथ चन्द्रामृत रस (१० ४६३) का सेवन करानेसे संचित कफ जल्दी निकल कर फुफ्फुस और श्वास-नलिकाएँ निर्दोष बन जाते हैं ।

(८) कफ अधिक हो तथा ज्वर और दाह भी रहते हो, तो लवंगादि तालसिंदूर (१० ४६३) बकरीके दूधके साथ दिन में २ समय देवें ।

शक्तिका सरक्षण करनेके लिये—अभ्रक भस्म और रससिंदूर को च्यवनप्राशावलेहके साथ दें, अथवा सुवर्णयुक्त लक्ष्मी-विलास रस (१० ४५७) और प्रवालपिष्टी (१० २०६) को मिला सितोपलादि चूर्णके साथ देवें ।

मालिशके लिये—लाक्षादि तैल (१० ८४२) की छाती पर मालिश करावें । यदि दाह भीतर रहता हो, तो चन्दनबला लाक्षादि तैल (१० ८३५) की मालिश करावे ।

सूचना — जब ज्वर न हो या कम हो, तब मालिश करानी चाहिये ।

उवर बढ़ जाने पर मालिश नहीं करानी चाहिये, अन्यथा स्वेदावरोध होकर विषवृद्धि हो जाती है ।

शृंगाराभ्र—अभ्रक भस्म ८ तोले, कपूर, जावित्री, नेत्रवाला, गजपीपल, तेजपात, लौंग, जटामांसी, तालीस पत्र, दालचीनी, नागकेसर, कूठ और धायके फूल, ये १२ ओषधियाँ ३-३ माशे, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, ये सब १॥-१॥ माशे, छोटी इलायचीके दाने, जायफल, शुद्ध गन्धक, ये सब ६-६ माशे तथा पारद ३ माशे लेवें । पहले पारद गन्धककी कज्जली करें । फिर अभ्रक भस्म मिलावें । तत्पश्चात् काष्ठादि ओषधियोंका कपड़छान चूर्ण मिला जलके साथ खरलकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनावें ।

इनमेंसे १ से २ गोली दिनमें २ समय अदरख और नागर बेलके पानके साथ देनेसे अग्निमान्द्य जनित रोग, उवर, उदर-पीड़ा, राजयक्ष्मा, धातुक्षय, कास, श्वास, शोथ, नेत्रविकार, प्रमेह, मेदवृद्धि, वमन, शूल, अम्लपित्त, अति तृषा, घोर गुल्म रोग, पाण्डु, रक्तपित्त, विषविकार, पीनस, सहावृद्धि, आम-वातजनित रोग, कफ और वातजनित रोग तथा सब प्रकारके पित्त रोग दूर होते हैं । यह रसायन बलदायक, धातुपौष्टिक और युवावस्थाकी प्राप्ति कराने वाली है । यह अति कामोत्तेजक होनेसे कामी मनुष्य सौ स्त्रियोंसे समागम करने पर भी तृप्त नहीं होता । इस रसायनके सेवन करने वाला बलीपलितादि रहित और काममूर्ति बनकर दीर्घायु भोगता है ।

सूचना—इस रसायनका सेवन करने पर कुछ दिनों तक शाक और खटार्कका त्याग करना चाहिये ।

नाग रस—लौंग, जायफल, जावित्री, नाग भस्म, कालीमिर्च, पीपलामूल, ये ६ ओषधियाँ १-१ तोला तथा कस्तूरी और

केशर ३-३ माशे लें । सबको मिला अदरखके रसमें १२ घण्टे खरलकर १-१ रत्तीकी गोलियों बनावे । इसमेंमें १ से २ गोली तक अदरखके रसके साथ देनेसे कफ, क्षय, श्वास, कास और शूलका नाश होता है । अनुपानभेदसे प्रयोग करने पर यह रसायन सब प्रकारके रोगोंका नाश करता है ।

विशेष उपचार आगे क्षय रोगमें लिखे जायेंगे ।

गलशुण्डिकाविकृतिजन्य कासचिकित्सा ।

(१) केवल माजूफल अथवा माजूफल, फिटकरी और सैधानमकके चूर्णको अंगुष्ठ पर लगाकर गलशुण्डिकाको उठानेसे वह सुटढ़ हो जाती है, और भागयुक्त कफ निकल जाता है ।

(२) सेहुण्डके दूधका १ बूँद सन्हालपूर्वक कच्चे पर लगाने से कच्चा टढ़ हो जाता है ।

(३) ताजी मकोय और ताजे धनियेके स्वरसके गण्डूषो (कुल्लो) का मुँहमें धारण करनेसे गलशुण्डिकाका दाह, शिथिलता और लाली दूर होकर वह सुटढ़ हो जाती है ।

(४) २ तोले अमलतासके गूदेके काथमें ६ माशे तुरंज-बीन मिलाकर पिलानेसे पित्तप्रकोप दूर होता है, और कच्चा स्वस्थ हो जाता है ।

(५) कपूरदि वटी या कासमर्दन वटी १-१ गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहे । दिनमें १०-१५ गोली तक ।

(६) प्रवालपिष्टिका सेवन करानेसे पित्त शमन होकर वेदना दूर हो जाती है ।

(७) बालकके तालुए (मस्तिष्क) पर सिरकेमे पीसे हुए माजूफलका लेप करनेसे कच्चा उठ जाता है ।

(८) जली हुई मुलतानी मिट्टीको सिरकेमें मिलाकर बालक के तालुए पर लगा देनेसे कच्चा उठ जाता है ।

(६) डाक्टरीमें लोहका अर्क (टिञ्चर फेरी—Tinct Ferri) अथवा ग्लिसरीन विथ टैनिन एसिड (Glycerine with Tannic Acid) को रुईके फोहेसे लगानेसे कब्जा उठ जाता है ।

प्रतिश्यायजन्य कासचिकित्सा ।

(१) प्रतिश्यायहर कषाय (२० ७२५) पिलानेसे जुखाम, मन्द ज्वर, मलावरोध और कास दूर होते हैं ।

(२) दूधमें कालीमिर्चका चूर्ण १ माशा और मिश्री मिला उबाल कर निवाया रहने पर पिलानेसे, अथवा चायमें काली मिर्च और दालचीनी मिलाकर पिलानेसे जुखाम और खाँसी, दोनों मिट जाते हैं ।

(३) सोंठ और कालीमिर्चके चूर्णके साथ शहद अथवा घी और गुड़ मिलाकर खिलानेसे जुखाम और खाँसी दूर हो जाते हैं ।

(४) सोंठ या लौंगको जलमें पीस गरम कर कपाल और कनपटी पर लेप करनेसे जुखाम और खाँसी शान्त हो जाते हैं ।

(५) आनन्दभैरव रस (२० ४०१) अथवा नागगुटिका (२० ६३७) देनेसे जुखाम और कास, दोनों दूर होते हैं ।

(६) लवंगादि वटी (२० ६३४), व्योषादि वटी (२० ६३७), जातिफलादि चूर्ण (२० ६८४), या तालीसादि चूर्ण (२० ६८२—भाँगमिश्रित) देनेसे कास, प्रतिश्याय और बार-बार दस्त लगना, ये सब विकार शान्त हो जाते हैं ।

(७) पित्तप्रकोपजन्य रोग हो, तो सितोपलादि चूर्ण (२० ६७४) अथवा लवंगादि चूर्ण (२० ६८५) का सेवन करानेसे शिरदर्द, दाह, जुखाम और खाँसी, सब दूर होते हैं ।

विशेष उपचार प्रतिश्याय रोगके साथ लिखे जायँगे ।

बालकोंके कास रोगकी चिकित्सा ।

(१) काकड़ासिगी, पीपल, अतीस और नागरमोथाको मिला चूर्ण कर १-१ रत्ती माताके दूध या शहदके साथ दिनमें ३ बार देनेसे ताप, खाँसी, जुखाम, दस्त, वमन, ये सब दोष दूर होजाते हैं ।

(२) छाती पर तार्पिनके तैल या निवाये सरसोके तैलको मालिश करनेसे छातीमें जमा हुआ कफ सरलतासे निकल जाता है । यदि कफका जोर अधिक हो, तो फुफ्फुस पर थोड़ा सेक करे (परन्तु हृदय पर सेक नहीं करना चाहिये) ।

(३) बालको की गुदा पर सरसोका तैल दिनमें ३-४ बार लगानेसे सूखी खाँसी दब जाती है ।

(४) काकड़ासिगी १ रत्ती बड़ी मुनक्कामे भरकर खिला देनेसे बच्चों की खाँसी निवृत्त हो जाती है ।

(५) बच १ रत्ती माताके दूधमें घिसकर पिलानेसे स्तनपान करने वाले छोटे बच्चों की कफकास दूर हो जाती है ।

(६) रसतन्त्रसार वसिष्ठप्रयोग संग्रहमें लिखे हुए शृंग्यादि चूर्ण (२० ६६७), बालघोरकासघ्न चूर्ण (२० ६६८), माणिक्य-रसादि बटी (२० ५८७) बालसंजीवन रस, (२० ५८२), बालार्क गुटिका (२० ५८३), ये सब अति हितकर हैं ।

इनमें शृंग्यादि चूर्ण और बालघोरकासघ्न चूर्ण सामान्य ओषधि होते हुए भी अति लाभदायक हैं । हम बार बार इन दोनों को प्रयोगमें लाते रहते हैं । दोनोंका उपयोग अति निर्भयतापूर्वक हो सकता है । अतिसार, मदज्वर और जुखाम साथमें होने पर बालसंजीवन रस लाभदायक है । मदज्वर, श्वास, जुखाम और खासी पर बालार्क गुटिका सत्वर लाभ पहुँचाती है । श्वास, हृदयावरोध और खासी हो, या पसली

रोगके लक्षण प्रतीत होते हों, तो माणिक्य रसादि वटी को प्रयोगमें लाना चाहिये ।

काली खांसी की चिकित्सा ।

(१) छोटी कटेलीका क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलानेसे तीव्रता नष्ट हो जाती है ।

(२) कस्तूरी ३ रत्ती को शहद या दूधके साथ देनेसे खांसी का वेग कम हो जाता है ।

(३) पियावांसा की छालका क्वाथ दिनमें ३-४ समय देते रहनेसे खांसी दब जाती है ।

(४) थूहरके लाल फल को गरम कर स्वरस निकाल शहदके साथ चटानेसे खांसी नष्ट हो जाती है ।

(५) वातज कासमें लिखा हुआ कंटकारि घृत या लुद्रामृत-प्राश्यका सेवन करानेसे काली खांसी निवृत्त हो जाती है ।

(६) सौंफ, मुलहठीका सत्व, मुनक्का और तवे पर भूनी हुई बड़ी इलायचीके दाने, सबको भिला चूर्ण कर २-२ रत्ती दिन में ४ समय शहदके साथ देनेसे काली खांसी शमन होती है ।

(७) आकके फूलों की कली, लौंग, काली मिर्च और सफेद कत्था, सबको समभाग भिला दिनमें ४-६ गोली चूसानेसे बड़े लड़कों की काली खांसी दूर होती है ।

(८) गंधाबिरोजाका सत्व और सज्जीखार (सोडा वाई कार्ब) आध आध रत्ती मिलाकर दिनमें ३ समय जलके साथ देनेसे तीव्रताका ह्रास होता है ।

(९) लोहवानका फूल चौथाई चौथाई रत्ती अथवा भांगको शहदके साथ दिनमें ४ बार देनेसे खांसीका वेग दमन हो जाता है ।

(१०) रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखी हुई प्रवाल

पिष्टी (२० २०६) अकेली अथवा शृंगभस्म (२० २३६) के साथ मिलाकर दें। कामदूधारस (२० ४७४), हरताल गोदंती भस्म (२० २४८), शुभ्राभस्म (२० २५१), बालघोरकासघ्न चूर्ण (२० ६६८) इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करानेसे काली-खासीका निवारण हो जाता है ।

बालघोरकासघ्न सस्ता और उत्तम ओषधि है । इसे हम बार-बार उपभोगमें लेते रहते हैं । प्रकृति भेदमें कभी दूसरी ओषधिकी योजना करनी पड़ती है । ऐसे ही हरताल-गोदंतीभस्म भी हितावह है । काम-दूधा रस बड़े हुए वेगको सत्वर दबाता है । शुभ्राभस्म विषको जलानेमें अच्छा काम देती है ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

तीव्रकास (Acute Bronchitis) पर

(१) वाइनम एन्टीमोनियल-Vinum Antimonial	२ ड्राम
पोटास एसियास-Pot. Acetas	४ ड्राम
स्फिरिट इथर नाइट्रोसी-Spt. Aether Nit.	३ ड्राम
सिरप टोलू-Syrup Tolu	४ ड्राम
जल-Aqua	ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर इस मिश्रणमें से तीक्ष्ण प्रकोपमें दो दो घंटे पर आध-आध औंस देते रहे ।

(२) दाहसह तीव्रकास पर—

शर्बत टोलू Syrup Tolu	२ ड्राम
„ कोडिना Syrup Codeina	१ ड्राम
„ सिल्ला Syrup Scilla	१ ड्राम
„ कोसिलिना Syrup Coccilina	१ ड्राम
„ वसाका Syrup Vasaka	१ ड्राम
ग्लिसरीन Glycerine	२ ड्राम

एक्सट्रैक्ट ग्लिसराइन्हा लिक्वीड Ext. Glycyrrhiza

Liq. १ ड्राम

वाइनम इपिकाक Vinum Ipecac

१ ड्राम

टिञ्चर सेनिगा Tinct. Senega

१ ड्राम

एक्का क्लोरोफार्म Aqua Chloroform

ad ३ औंस तक

इन सबको मिलाकर दिनमें ३ समय १-१ औंस पिलानेसे तीव्र कफ-कास, श्वासनलिकाप्रदाह, श्वास, क्षयकास आदिमें कफ सरलतासे बाहर निकल कासरोग दूर हो जाता है ।

(३) अति तीक्ष्णता शमन होने पर—

लाइकर एमोनिया एसिटस Liq Ammon Acetas ६ ड्राम

सिरिट एमोनिया एरोमेटिक Spt Ammon Aromet ३ ड्राम

शर्बत संतरा Syrup Auranti

१ औंस

जल Aqua

ad ६ औंस तक

इन सबको मिला दिनमें ३ समय १-१ औंस देते रहें ।

(४) कच्चा बढ़ जाने पर दिनमें दो बार नमक मिले निवाये जलसे कुल्ले करावें; और गलेमें रुईके फोड़ेसे ग्लिसरीन विथ एसिड टेनिक या ग्लिसरीन विथ बोरिक एसिड लगावें ।

ग्लिसरीन विथ एसिड टेनिक बनाने की विधि—

एसिड टेनिक

Acid Tannic

१ औंस

ग्लिसरीन

Glycerine

ad

५ औंस तक

पहले १ औंस ग्लिसरीनको गरम कर एसिड टेनिक मिला खरल करें । फिर और गरम ग्लिसरीन ५ औंस तक डालते जायें और चलाते रहें ।

(५) कफावरोधसे श्वासोच्छ्वासमें बाधा होनेपर—

लाइकर मोर्फिया हाइड्रोक्लोराइड Liq Morphine Hydro-

Chloride

१ ड्राम

क्लोरोफार्म Chloro form

आधा ड्राम

टिञ्चर केनाबिस इन्डिका Tinct Cannabis Indica १ ड्राम
 पल्विस् ट्रेगेकेन्था क० Pulv Tragacantha Co. १ ड्राम
 स्पिरिट इथर Spt Aetheris ३ ड्राम
 एसिड हाइड्रोस्यानिक डिल्युट Acid Hydrocyanic Dil
 १२ बूँद

जल Aqua ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर १-१ औंस दिनमें ३ बार देते रहे ।

सूचना—जब ओषधि देना हो, तब बोटलको खूब हिलाकर फिर ओषधि निकाले ।

(६) चिरकारी प्रकोपमें कफको बाहर निकालनेके लिये—

मिक्सचर एक्सपेक्टोरन्ट—Mist. Expectorant ।

वाइनम इपिकाक Vinum Ipecac ६ बूँद
 टिञ्चर सिल्ला Tinct Scilla ६ बूँद
 एमोनिया कार्ब Ammon. Carb १ ग्रेन
 सिरप टोलू Syrup Tolu १० बूँद
 ,, वसाका Syrup Vasaka १० बूँद
 एक्सट्रेक्ट ग्लिसराइभा लिक्वीड Ext. Glycyrrhiza Liq.
 १० बूँद

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloro form ad १ औंस तक
 सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह दिनमें ३ बार देते रहनेसे कफ सरलतासे बाहर निकलता रहता है; और वेदना शमन होती है ।

(७) श्वासनलिकाकी शिथिलतामें सु घानेके लिये—

आइडोफार्म Idoform २० ग्रेन
 नीलगिरी तैल Oil Eucalyptus ४ ड्राम
 स्पिरिट रेक्टीफाइड Spt. Rectificate १ औंस
 इन सबको मिला लेवे । इसमेसे थोड़े बूँद स्पज पर डालकर

सुंघावे । इससे कीटाणु नाश होते हैं; और दूषित कफ सरलतापूर्वक बाहर आता है ।

(८) क्षयज कास पर—

मत्स्यतैलादि मिश्रण—Mist. oleum Morrhuol ।

मच्छीका तैल Codliver Oil ६ ड्राम

टिञ्चर लवेण्ड्युला Tinct. Lavendulae १ ड्राम

पल्विस ट्रेग्रेकेन्था को० Pulv. Tragacantha Co. ३ ड्राम

सोडा हाइपोफोस्फाइट Soda Hypophosphite १५ ग्रेन

केल्सियम Calcium १५ ग्रेन

एक्वा सिनामोम Aqua Cinnamom ad ३ औंस तक

इन सबको यथा विधि मिलाएँ । फिर खूब चलाकर १-१ औंस दिनमें ३ समय भोजनके पश्चात् तुरन्त पिलाते रहनेसे क्षय कास दूर होती है और बल बढ़ता है ।

(९) पूयमय जीर्णकास और क्षयज कासके लिये—

पिल्युला क्रियोसोट एट आयडोफॉर्म—Pilula Creosote et Idoform ।

क्रियोसोट Creosote १ ड्राम

आइडोफॉर्म Idoform १ ड्राम

क्विनाइन Quinine १ ड्राम

एक्स ट्रेक्ट जेन्शन Ext Gention गोली बननेके लायक ।

इन सबको मिलाकर ६० गोलियां बना लेवें । इनमेंसे १-१ गोली दिनमें ३ समय देते रहनेसे क्षयकास, ज्वर, अरुचि, मन्दाग्नि आदि दूर होते हैं ।

(१०) पूयमय कासमें सुंघाने के लिये—

क्रियोसोट Creosote २० बूंद

स्फिरिट मेन्थोल Spt Menthol २० बूंद

„ क्लोरोफॉर्म Spt Chloroform २० बूंद

इन सबको मिलावे । फिर देगची (kettle) में १० छटाक जल डाल चूल्हे पर चढ़ावे । जल अच्छी तरह उबलने पर ओषधिका मिश्रण डाल फिर खर की नली द्वारा सु घाते रहे । १ मिनटमें ७-८ बार सु घावे । इस तरह १० मिनट तक प्रातः साय बाध्य देते रहें । सु घानेके समय देगची को अग्नि पर ही रहने दें । एव चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ २५५ में ज्ञय रोगके लिये लिखी हुई बाध्य भी हितकर है ।

(११) कोडिना सल्फास Codeina Sulph ३ ग्रेन

लाइकर एट्रोपिन सल्फास Liq Atropine Sulph १२ बू द

सिरप टोलू Syrup Tolu १३ औंस

इन्फ्युजम रोझ एसिडी Inf Rosae Acidi ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । फिर ४४ घण्टे पर आध-आध औंस समान जल मिलाकर कफ प्रकोप अधिक हो तब तक पिलाते रहे ।

इन्फ्युजम रोझ एसिडी बनानेकी विधि—

गुलाब की सूखी पत्ती २॥ भाग

सल्फ्युरिक एसिड डिल्युट १॥ भाग

उबलता हुआ गरम जल १०० भाग तक

उबलते हुए जलमें गुलाबके पत्ते डालकर ढक्के । १५ मिनट बाद छानकर गंधकका तिजाब मिला लेवे ।

(१२) काली खाँसी पर—

फेनाभोन Phenozone २ ग्रेन

वाइनम इपिकाक Vinum Ipecac १ ड्राम

सिरप टोलू Syrup Tolu ३ ड्राम

ग्लिसरीन Glycerine २ ड्राम

एक्वा क्लोरोफॉर्म Aqua Chloroform २ औंस तक

इन सबको मिलालेवे । फिर २ से ४ वर्ष की आयु वाले को १-१ ड्राम ६-६ घण्टे पर जल मिलाकर पिलाते रहे ।

(१३) फेनाभोन Phenozone १ ड्राम

लाइकर मोर्फिन हाइड्रो० Liq. Morphine Hyd. ३ ड्राम
सिरप टोलू Syrup Tolu ad २ औंस तक
तीनों ओषधियोंको मिला ३ से ५ वर्ष तककी आयु वालेको १०-१
ड्राम और १॥ से ३ वर्षकी आयुवालेको आध-आध ड्राम १-६ घण्टे पर
पिलाते रहें ।

(१३) मालिशके लिये—

तैल अम्बर Oil Amber	४ ड्राम
तैल जैतुन Oil Olive	४ ड्राम
तैल लोंग Oil Caryophylli	१ औंस

तीनोंको मिला सुबह-शाम रीढ़के नीचे लगावें ।

इनके अतिरिक्त डाक्टरीमें पर्तुसिन होपीनल (Pertussin Whopinal) और गार्सोलिन सिरप (Garsolyno Syrup) आदि पेटेन्ट ओषधियोंको प्रयोगमें लाते हैं । एवं भांगके अर्क और लहशुनके शर्वतका भी उपयोग करते हैं । लहशुनका शर्वत अच्छा लाभ पहुँचाता है, ऐसा विद्वान् डाक्टरोंने स्वीकार किया है । लहशुनका विशेष वर्णन क्षय रोग चिकित्सामें आगे किया जायगा ।

पथ्यापथ्य ।

कासरोगमें पथ्य—स्वेदन, विरेचन, वमन, कफ अति बढ़ने पर विधिपूर्वक शास्त्रीय धूम्रपान, परिमित भोजन, शालि और सांठी चावल, गेहूँ, श्यामाक (स्यामों), जौ, कोदों, कौंचके बीज, उड़द का यूस, मूँगका यूस, कुलथीका यूस, गाँवोंमें रहने वाले बकरे, मुरगे आदि पशु-पक्षी, मछली आदि जलजीव तथा हिरन आदि अनूपदेश और मरुदेशके पशु-पक्षियोंका मांस, शराब, पुराना घी बकरीका दूध, बकरीका घी, बथुआ, मकोय, बैंगन, कोमल मूली, कटेली, कसौंदीकी पत्ती, कच्चा केला, सुहिंजनेकी फत्ती, गूलर, परबल, खजूर, अनार, जीवन्ती, चोपत्तियाँ, मुनक्का, कन्दूरी,

बिजौरा, पुष्करमूल, अड्डसाके पत्ते, छोटी इलायची, गोमूत्र, लहशुन, जीरा, हरड़, सोठ, कालीमिर्च, पीपल, गरम किया हुआ जल, शहद, धानकी खील, दिनमें सोना और हल्के अन्न, ये सब पथ्य हैं ।

अधिक कफप्रकोप हो, तो रात्रिको चावल न देवें और मलावरोध रहता हो, तो चावल बिल्कुल न देवे ।

अति निर्बल रोगियो को सावूदाना, आरारुट या बाली देवें । पीनेके लिये रोगीको गरम करके शीतल किया हुआ जल देना विशेष लाभदायक है ।

वातज कासमें पथ्य—बथुआ, मकोय, कोमल मूली, चौलाई, तैल आदि स्नेह, दूध, ईखका रस, पुराने गुड़के बने पदार्थ, दही कांजी, खट्टे फल, प्रसन्ना नामक शराब, मीठे, खट्टे और नमकीन पदार्थ, ग्राम्य पशु-पक्षी, अनूप देशके पशु-पक्षी और जलचर जीवोंका मांस, शालि चावल, जौ, गेहूँ, उड़द और कौंचके बीजोंके यूषके साथ सांठी चावलोकें भात, कैथकी चटनी, ये सब हितकर पदार्थ हैं ।

अलसीका यूष और अलसीका तैल पिलानेसे शुष्क वातिक कासमें सत्वर लाभ पहुँचाता है । शुष्क कासमें रात्रिको सोनेके समय मलाई-मिश्री और सुबह मक्खन-मिश्री खाना हितकारक है ।

पित्तज कासमें पथ्य—मलावरोध हो और कफ पतला हो, तो शक्करके साथ निसोतका विरेचन । यदि कफ गाढ़ा हो, तो कड़वे पदार्थोंके रसके साथ निसोतका चूर्ण देवे ।

मधुर रस, जांगल देशके जीवोंका मांसरस, श्यामाक, जौ, कोदी, मूँग आदिका यूष और कड़वे शाक तथा सुनक्का, खजूर पीपल, मिश्री, कालीमिर्च आदि पित्तज कासमें पथ्य माने गये हैं ।

कफज कासमें पथ्य—वमन, जौ आदि अन्न, कुलथी और मूली का यूष, चरपरे, रुन्ध और गरम पदार्थ, पीपल, सोठ, कालीमिर्च

अदरक, कटेली, बहेड़ा, अड्डसा, हल्का भोजन, अति कफ वृद्धि हो तो शास्त्रीय धूम्रपान तथा गरम किया हुआ जल, ये सब हितावह है ।

क्षतकासमें पथ्य—बल्य (बलवर्धक), जीवनीय (आयु-वर्धक), वृंहण (पौष्टिक), हल्का भोजन, पित्तज कासशामक मधुर ओषधियां, शीतल यवागू, पीपल, मुनका, वंशलोचन, अड्डसा, मिश्री-दूध, घी, शहद तथा उरःक्षत और राजयक्ष्मा रोग में कहे हुए पदार्थ सब हितकर हैं ।

क्षय कासमें पथ्य—राजयक्ष्मा रोगमें कहे अनुसार पथ्या-पथ्यका पालन कराना चाहिये ।

प्रतिश्यायज कासमें पथ्य—प्रतिश्यायमें कहे अनुसार पथ्यका पालन करना चाहिये ।

गलशुण्डिका (कन्वे) की विकृतिजन्य कासमें वात, पित्त या कफ प्रकोपके अनुसार पथ्यका पालन कराना चाहिये । अजीर्ण रहता हो, तो अजीर्णकारक भोजनसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये । जल्दी पचन हो और मलावरोध न करे, ऐसा सात्विक, लघु पौष्टिक भोजन करना चाहिये ।

कास रोगमें अपथ्य—वस्तिक्रिया, नस्य, खून निकलवाना, कसरत, स्त्रीसहवास, दंतौन करना (दन्त मन्जन लगानेमें आपत्ति नहीं,) मैदेके पदार्थ, कोष्ठवद्धता करनेवाले भोजन, विदाही और रुक्ष पदार्थ, मल, मूत्र, छींक, डकार, कास, वमन, आदि वेगोंका धारण, सूर्यके तापमें बैठना या घूमना, अग्नि सेवन, दुष्ट वायु, धूलि और धुंआका सेवन, घोड़े पर सवारी, पैदल चलना, मछली, आलू, अरबी आदि कन्दशाक, सरसों, राई, लालमिर्च, तेज खटाई, इमली, बाजरा, चना, लौकी पोईका पान, दूषित जलका सेवन, दुष्ट या विरुद्ध अन्नपान, भारी या शीतल भोजन, शीतल जलसे स्नान, फल, घी या तैल खाकर जल पीना,

रात्रिका जागरण, रात्रिको खुले स्थानमें (ओस गिरती हो वहाँ पर) सोना और बैठना तथा जोरसे गाना, ये सब कास रोगीके लिये हानिकर है ।

कितनेक रोगियोंके लिये हींग, प्याज और लहशुन अनिष्ट-कारक होते हैं । (कितनोकोको प्याज और लहशुन अति हित-कारक होते हैं) । अधिक बार स्नान करना, वर्षाके जलमें स्नान, तेज वायु में स्नान अथवा शीतके समय स्नान करना, ये सब हानिकारक है ।

कण्ठरोहिणी और काली खांसीमें लहशुनको उत्तम ओषधि मानी गई है । एवं क्षय-कासमें भी लहशुन अच्छा लाभ पहुँचाता है । लहशुनका विशेष वर्णन आगे क्षयरोगमें करेंगे ।

श्वास रोग ।

श्वास-दमा डिस्पनिया-Dyspnoea ।

जिन कारणोंसे हिक्का रोग उत्पन्न होता है, उन कारणोंसे ही श्वास रोग हो जाता है ।

जिन कारणोंसे वात दोष प्रकुपित होकर उरोगुहाके तलमें प्रवेश कर महाप्राचीरापेशी और श्वासनलिकाके सम्बन्ध को बिगाड़ कर हिक्का रोगकी उत्पत्ति कराता है, उन्हीं हेतुओंसे प्रकुपित हुआ वात दोष कफसे मिल इतर मांसपेशियोंके कार्यमें विकृति कर श्वास रोगकी उत्पत्ति कराता है । दोष की गति किस ओर होगी, इस बातका आधार अनुकूलता-प्रतिकूलता पर रहता है ।

अपने शरीरके मध्य भागमें उरोगुहा है । जिसमें २ फुफ्फुस, श्वास नलिका, अन्ननलिका, हृदय, इनसे सम्बन्ध रखने वाली धमनिया और शिराएँ रही हैं । इनमें रहे हुए दो फुफ्फुस, श्वासनलिका तथा श्वास-नलिकाके ऊपर रहा हुआ स्वरयन्त्र, इन सबको मिलाकर श्वासयन्त्र

कहा है । इस श्वासयन्त्र द्वारा श्वासोच्छ्वास क्रिया जीवनके अन्त तक निरन्तर होती रहती है ।

जब वायु श्वासरूपसे भीतर आती है; तब उरोगुहाका विस्तार होने से फुफ्फुसकोष फूलते हैं; और निःश्वास रूपासे वायु बाहर निकलती है; तब निःश्वासकालमें उरोगुहाका संकोच होने पर फुफ्फुसोंके वायु-कोषोंको संकुचित होना पड़ता है । फुफ्फुसोंका विस्तृत वर्णन चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२८ से ४४० तक किया है; और श्वास-नलिकाका वर्णन कास रोगके साथ लिखा है ।

जब इस श्वासयन्त्रके व्यापारमें विकृति होती है; या हृदय, अन्न-मार्ग अथवा आमाशय आदिमें विकृति होती है; तब परम्परागत श्वासोच्छ्वास रूप व्यापारमें भी व्यत्यय हो जाता है । फिर श्वास-कास आदि रोगोंकी उत्पत्ति होती है । श्वासयन्त्रमें दूसरा अवयव जो श्वासनलिका है; जो अति सूक्ष्म शाखाओं द्वारा फुफ्फुसोंके प्रत्येक वायुकोषोंमें प्रवेश करती है । इन सब शाखा-प्रशाखाओंके भीतर श्लेष्मच्छावी कलाका आच्छादन लगा हुआ है । उसमेंसे अवलम्बक कफ निरन्तर खसता रहता है । इस मार्गसे गृहीत वायु वायुकोषोंमें प्रवेश करती है; और बाहर निकलती है; परन्तु कफविकृति होने पर जब इन कोषोंमें सूक्ष्म श्वासवाहिनियों और मुख्य श्वासनलिकामें श्लेष्मा चारों ओर चिटक जाता है; तब वायुके आवागमनमें प्रतिबन्ध होता है । फिर इसकी थोड़े ही समयमें सम्यक् चिकित्सा न होने पर फुफ्फुस आदि सब अवयव शनैः शनैः अधिकाधिक शिथिल होते जाते हैं । परिणाममें श्वास रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

दोनों फुफ्फुसों पर रही हुई फुफ्फुसधराकलाकोषमें तीव्र आघात होकर या और किसी हेतुसे वायु भर जाय; तब श्वासका वेग बहुत बढ़ जाता है ।

जब हृदयस्थ प्राणवायु प्रकुपित होती है; तब मर्यादासे बहुत ज्यादा रक्तको फुफ्फुसोंमें पेंकती रहती है । जिससे फुफ्फुसकोष और श्वास-

वाहिनियोंके स्रोतोमें रक्त विशेषाशमे भर जाता है । फिर स्रोतोमें रहा हुआ कफ रक्तमें मिल जानेसे रक्त गाढ़ा बन जाता है । पश्चात् प्रकुपित प्राणवायु श्वासवाहिनियोंमें प्रवेश कर पतले अशका शोषण कर रक्तको जमा देती है । जिससे थोड़े ही समयमें मार्ग निरुद्ध हो जाता है । फिर श्वास रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

जब किसी भी कारणसे हृदयके सम्बन्धमें व्यत्यय होता है; तब धातुओंकी साम्यावस्था भंग होती है । इनमें भी जब कफ-वातादि विकृति श्वासयन्त्रमें अधिक होती है, तब श्वास, कास आदि रोगोका आविर्भाव होजाता है ।

इस हृदयकी चेष्टा प्राणदा और इडापिंगला नाड़ियों पर अवलम्बित है । प्राणदा नाड़ियोंके तन्तु हृदयकी गतिको मन्द करते हैं; और इडा-पिंगलाके तन्तु गतिको तेज करते हैं । इन नाड़ियोंका सम्बन्ध आमाशय-और श्वासनलिकासे भी रहा है । जब अजीर्ण आदि हेतुसे आमाशय विकृति होती है, तब प्राणदा नाड़ियोंके तन्तुओंमें उत्तेजना होती है । फिर हृदय और फुफुसादि आशयोंमें वातविकृति होकर हृदयकी धड़कन बढ़ना, श्वास चढ़ना, खाँसी आना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । बहुधा तमक श्वासका दौरा इस आमाशय विकृतिसे हो जाता है ।

इन प्राणदा नाड़ियोंके तन्तु श्वासनलिकाकी मासपेशियोंको संकुचित करते हैं; और कफको बाहर निकालनेका कार्य करते हैं । एव इससे विरुद्ध इडापिंगलाके तन्तु इन पेशियोंको शिथिल-विस्तृत बनाकर कफका परिमाण न्यून करते हैं । तमक श्वासके रोगीमें इन प्राणदा नाड़ियोमें विकृति प्रत्यक्ष होती है ।

इनके अतिरिक्त कासवृद्धि, आमातिसार, वमन, पाण्डु, ज्वर, मर्मस्थानमें चोट लगना, आमाशयविकृति, विष सेवन, प्रतिश्याय, क्षतक्षय, रक्तपित्त, उदावर्त्त, विसूचिका, अलसक, पाण्डु रोग, अति स्त्रीसेवन और धूम्रपान, इन कारणोंसे भी श्वास रोग हो जाता है । जब

प्राणवायु विकृत होकर कफसे मिलकर ऊर्ध्वगामी होती है, तब श्वास रोगकी उत्पत्ति होती है ।

श्वास निदान—जो पहले हिक्का रोगकी उत्पत्तिमें हेतु कहे हैं; उन्हीं हेतुओंसे श्वास रोगकी उत्पत्ति होती है ।

श्वास भेद—शास्त्राचार्योंने चिकित्साकी सुविधाके लिये श्वास रोगमें महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमक श्वास और जुद्ध श्वास, ये ५ भेद किये हैं । इनमेंसे तमक श्वासमें जब पित्तप्रकोप प्रतीत होता है; तब उसे 'प्रतमक' संज्ञा दी है ।

पूर्वरूप—श्वासरोग होनेके पहले कण्ठ और उरस्थानमें भारी पन, हृदयमें पीड़ा, शूल, आफरा, मलाबरोध, मुँहका स्वाद बिगड़ना, कनपटियोंमें तोड़नेके समान व्यथा होना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

सम्प्राप्ति—जब श्वासवाहिनी और अन्नजलवाहिनियोंके स्रोतसोंमें दूषित कफ भरजानेसे वायुके आवागमन करनेका मार्ग निरुद्ध हो जाता है, तब आमाशयमेंसे प्राणवायु प्रकुपित होकर सर्वत्र (उरस्थान में) फैल जाती है; और श्वासरोगकी सम्प्राप्ति करा देती है ।

इस देहका तन्त्रयन्त्रधर वायु है । यह वायु अनेक रूपमें विभाजित होकर शरीरका नियन्त्रण करती है । इन विभागोंमें मुख्य प्राणवायु है । वह उरस्थान (हृदय, फुफ्फुस और आमाशय आदि) में रहती है; और प्राणवाहिनी नाड़ियों द्वारा आवागमन करती रहती है । इन प्राणवाहिनियोंमें निम्न कारणोंसे विकृति हो जाती है ।

क्षयात् सन्धारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च ।

प्राणवाहिनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥

धातुक्षय, मल-मूत्र, क्षुधा-तृषादिके वेगका सधारण, रूक्ष पदार्थोंका सेवन, अति व्यायाम, अति क्षुधा लगना (उपवास करना) और इतर दारुण कार्योंके करनेसे प्राणवाहिनियां दूषित हो जाती है ।

जब प्राण और अन्नको वहन करने वाली नालियाँ दूषित हो जाती है, तब श्वास रोगकी सम्प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् आत्रेय चरकसंहिताके विमानस्थान के निम्न श्लोकमें दर्शाते हैं ।

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया ।

कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी ॥

अ० ५, ३४

प्राणवाहिनियां विकृत होने पर श्वास रोग, उदक वाहिनियों दूषित होने पर तृषाविकार और अन्नवाहिनियां दुष्ट होने पर आमप्रकोपको उत्पन्न कराती है ।

प्राणवाहिनियोंकी विकृति होने के पश्चात् प्राणवायु प्रकुपित होती है, तब वह श्वास रोगकी सम्प्राप्ति करा देती है । यह स्थिति क्षुद्रश्वासमें प्रतीत होती है ।

इसके अतिरिक्त मार्गमें प्रतिबन्ध होने पर भी प्राणवायु कुपित होती है । यह प्रतिबन्ध कफ, पित्त, शोथ, या इतर पदार्थ प्राणवाहिनीमें आजाने और नलिकाके मुखका संकोच हो जाने पर होता है । महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास और तमकश्वास, इन चारोंमें प्राणवाहिनियोंकी विकृतिके अतिरिक्त मार्गमें कफका प्रतिबन्ध भी हो जाता है । तमक श्वासमें मार्ग संकुचित हो जाता है, और छिन्न श्वासमें पित्तप्रकोज्जन्य त्रास भी होता रहता है ।

(१) महाश्वास लक्षण—जिसका श्वास आवाजसहित ऊपर उठता है, वह अति दुःखी हो जाता है । उसकी श्वासोच्छ्वास क्रियाकी आवाज बद्ध, मदीन्मत्त साँडके समान बड़ी

होती है । उतना दुःख होता है कि, ज्ञान विज्ञान सब नष्टप्रायः हो जाता है; नेत्रमें लाली और चंचलता, कचिन् फटे हुए, स्तब्ध नेत्र और मुख, मलमूत्रका अवरोध, बोलनेमें असमर्थता, अति बेचैनी, श्वासोच्छ्वासकी आवाज दूरसे सुननेमें आना, पसलियों में शूल, कण्ठ सूखना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं । इस श्वास को मारक कहा है । तुरन्त योग्य चिकित्सा न हो सके, तो थोड़े ही समयमें रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, बेहोशी, पार्श्वशूल, कण्ठ सूखना, श्वासकी बड़ी आवाज आना, लाल नेत्र और श्वास लेनेमें शरीर शिथिल हो जाना इत्यादि लक्षण महाश्वासमें प्रतीत होते हैं ।

वैद्यविनोदकारने लिखा है कि,—

‘विभ्रान्तनेत्रो विकृताननः स्यात् श्वासात्प्रवृद्धान्मरणम्प्रयाति।’

यदि प्रवृद्ध महाश्वाससे पीड़ित रोगीके नेत्र भ्रमिष्ठ-से और मुखाकृति विकृत हो जाय, तो वह मृत्युको पाता है ।

(२) ऊर्ध्व श्वासकी सम्प्राप्ति और लक्षण—इस रोगमें प्राण-वायु बार-बार ऊपर-ऊपर उठती रहती है; जिससे अतित्वरा पूर्वक रेचक (निःश्वास) निकलता रहता है । परन्तु फुफ्फुस कोषोंमें पुनः प्राण वायु प्रवेश नहीं कर सकती; अर्थात् सम्यक् पूरक (श्वास आना) क्रिया नहीं हो सकती । कारण, कुपित हुई वायु ने श्लेष्म धातुमें विकृति करा श्वासवहा नाडियोंके मुख और मार्गमें कफको भर दी है । इस रोगमें दृष्टि ऊपरकी ओर ही रहती है । रोगी भ्रमिष्ठ होकर चारों ओर देखता रहता है । बेहोशी, अति वेदना, मुँह सूखना, अत्यंत बेचैनी, श्वास लेनेमें अति कष्ट होना (बहुधा श्वास नहीं लिया जाता) इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

महाश्वासमें श्वासोच्छ्वास क्रियाकी आवाज बहुत बड़ी होती है; श्वास ग्रहण और त्याग, दोनों क्रियाओंमें भयंकर कष्ट होता है; किन्तु ऊर्ध्वश्वासमें श्वासोच्छ्वासक्रिया ऊपर-ऊपर चलती रहती है, कफसे मार्ग रुद्ध हो जानेसे वायुकोषोंके भीतर वायुकी गति नहीं होती; दृष्टि ऊपरकी ओर ही रहती है, तथा श्वासग्रहणमें अति कष्ट होता है ।

किसी विद्वान् चिकित्सककी मान्यतानुसार इस रोगमें बहुधा फुफ्फुसधराकलाकोषमें वायुका प्रवेश हो जाता है । जिससे रोगी श्वास नहीं ले सकता, फिर उरस्थानकी वातनाडियोंमें उत्तेजना बढ़नेसे हृदयकी धड़कन बहुत बढ़ जाती है, हृदयवरोध होने लगता है, नाडियाँ खिचने लगती हैं, और सारा शरीर श्याम हो जाता है । यदि इस रोगका प्रतीकार सत्त्वर न किया जाय, तो रोगी मूर्च्छित और दुःखी होकर थोड़े ही समयमें प्राणोंसे मुक्त हो जाता है । विशेष विचार डाक्टरी विवेचनमें आगे किया जायगा ।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि, जिस श्वासरोगमें मर्म स्थान खिचने लगे, बार-बार बेहोशी होकर श्वास लिया जाय, दृष्टि ऊँची रहे और श्वासका शब्द मन्द हो जाय, उसे ऊर्ध्व-श्वास कहते हैं ।

वैद्यविनोदकार लिखते हैं, कि जब ऊर्ध्वश्वास रोग कुपित होकर नीचे आनेवाले (फुफ्फुसोंमें आने वाले) श्वासका निरोध करता है, तब वह जीवको मार ही डालता है ।

३—छिन्नश्वास—इस रोगमें पित्तका अनुबन्ध रहता है । रोगी अत्यन्त कष्टपूर्वक रह रह कर श्वास लेता है, हृदय, बस्ति और मस्तिष्कमें तीव्र वेदना होती है । इनमें भी विशेषतः बस्तिमें तो जलाने और काटनेके समान पीड़ा होती है । मलावरोध, आफरा, प्रस्वेद, मूर्च्छा, बस्ति (मूत्राशय) में भयंकर दाह होना और

भूत्रावरोध हो जाना, नेत्र फटे-से या चंचल और जलसे पूर्ण, दृष्टि नीचे रहना, अत्यन्त क्षीणता, मुँह सूखना, चित्तमें उद्वेग (अस्थिर चित्त), चिह्नाना, मुँह निस्तेज हो जाना, बहुधा एक नेत्रका रंग लाल (क्वचित् दोनों लाल), सदा हाँफते रहना, हाथ पैरों की संधि टूटना, भयंकर वेदना इत्यादि लक्षण होते हैं। यदि इस रोगका तुरन्त उपचार न किया जाय, तो रोगी मरणके शरण हो जाता है।

वैद्यविनोदमें लिखा है कि क्षिन्नश्वासमें रोगीका मुँह सूखता है, ठहर ठहर कर श्वास लेता है, विलाप करता है, मन अस्थिर हो जाता है, और चक्षु फटे-से रहते हैं, ये सब लक्षण जब हो जाते हैं, तब वह तुरन्त प्राणोंका त्याग कर देता है।

४—तमक श्वास—(अस्थ्या—Asthma) जब वायु अपने रास्ते को छोड़ प्रतिलोम होकर भलते मार्गसे नाड़ियोंमें प्रवेश करती है। तब कण्ठ और मस्तिष्क जकड़ जाते हैं; श्लेष्म बढ़नेसे पीनस (जुखाम) उत्पन्न होता है; फुफ्फुस और पसलियोंमें कफ भर जाता है; कंठमें घर घर आवाज सह तीव्र वेग से श्वासका चलना, हृदयावरोध होना, अंधकारमें गड़ हुआ हूँ ऐसा रोगीको भासना, बार-बार तृषा लगना, निश्चेष्ट हो जाना, अत्यन्त वेगपूर्वक खांसी उठना, खांसीके वेगसे बार-बार मूर्छित हो जाना, कंठसे बाहर कफ कठिनतासे निकलना, कफ निकलजाने पर कुछ समय तक शान्ति मिलना, श्वास-नलिका खिंचते रहनेसे कण्ठमें वेदना होना और इससे बोलनेमें कष्ट होना, लेटने पर श्वासकासकी वृद्धि होनेसे निद्रा न मिलना, बलिक्र सोने पर पसलियोंमें घोर पीड़ा होना और बैठने पर दर्द कुछ शमन होना, नेत्र ऊँचे और सूजन आई हो ऐसे दीखना, उष्णपदार्थ सेवनकी इच्छा, कपाल पर पसीना आना, अत्यंत पीड़ा होना, मुँह सूखना, अरुचि, क्वचित् कफकी वमन हो जाना

और श्वासप्रकोपसे सारा शरीर डोलना इत्यादि लक्षण होते हैं । यह तमक श्वास बादल और वर्षा होने, शीतकालमें ठण्डी लगने, पूर्व दिशा की वायु चलने और कफकारक भोजन करने पर बढ़ जाता है । यह रोग नया हो, तब तक साध्य होता है, और जीर्ण होने पर याग्य हो जाता है ।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि तृषा, प्रस्वेद, वमन, कण्ठमें घररर घररर आवाज सह जो श्वास चलै, विशेष करके बढ़लके दिनोंमें हो जाय, उसे तमक श्वास कहते हैं ।

जिस तमक श्वासमें श्वास की आवाज बड़ी हो, कास, कफ की अधिकता, बलकी न्यूनता, अरुचि और सोनेमें अधिक पीड़ा आदि लक्षण हो, वह तमक श्वास दुःखदायी होता है ।

वैद्य विनोदमें इस तमक श्वासके लक्षण लिखे हैं किः—

आसीन उष्णैर्लभते च सौख्यं,
सुप्तस्य पार्श्वे परिगृह्य वायुः ।
आध्मापये तं तमकं वदन्ति,
मेघाम्बु शीतैः सह याति वृद्धिम् ॥

जिस रोगमें बैठे रहने और गरम पदार्थोंके सेवनसे रोगी सुख पाता है, लेटनेसे उसके पसवाड़े खिचते हैं, और वायु उदर को फुला देता है; तथा जलवृष्टि होने, बढ़ल आने और शीतल पदार्थोंसे बढ़ जाता है, उसे तमक श्वास कहते हैं ।

प्रतमक श्वास लक्षण—यदि इस तमक श्वासमें पित्तानुबन्धसे ज्वर और मूर्च्छा लक्षणर्भा हो, और शीतल आहार-विहार से शान्त हो जाता हो, अथवा जो तमकश्वास उदावर्त, श्वास में धूल, रज या धुआं जाने, अजीर्ण होने, विशेषतः विदग्धाजीर्ण होने, परिश्रम करने, मलमूत्र आदि वेगको रोकने, मानसिक चिन्ता, रात्रिके समय, अंधकारमें या गरम आहार

विहार आदि कारणोंसे बढ़ता हो; और शीतल (उष्ण न हो ऐसे) अन्नपानसे शान्त होता हो, वह प्रतमक श्वास कहलाता है ।

बहु रोग जीर्ण होनेपर श्वासनलिकाएँ शिथिल और चौड़ी होजाती हैं । यकृत और आमाशय आदि इन्द्रियाँ अपना कार्य नियमित नहीं कर सकतीं । देहमेंसे जहरको बाहर फेंकनेका कार्य भी पूर्ण रीतिसे नहीं होता । जिससे रक्तमें जहरकी वृद्धि होती रहती है; शरीर दिन प्रति दिन निर्बल और निस्तेज होता जाता है; तथा बार-बार चक्कर आता रहता है ।

तमक श्वासमें वातकफप्रकोपकी प्रधानता होनेसे उष्ण पदार्थ का सेवन हितावह होता है; किन्तु इस प्रतमक श्वासमें पित्त का अनुबन्ध होनेसे उष्ण पदार्थ लाभ नहीं पहुँचाता; बल्कि हानि पहुँचाता है । अधिक शीतल या अधिक उष्ण न हो, ऐसे आहार और ओषध अनुकूल रहते हैं ।

५-क्षुद्रश्वास—Breathlessness—रुद्ध अन्नपान, व्यायाम, परिश्रम, इतर रोग, तमाखुके व्यसन, धातुक्षीणता और ऐसे-ऐसे सामान्य कारणोंसे उदरमें वातप्रकोप होता है । फिर वायुकी ऊर्ध्व गति होनेपर इस क्षुद्र श्वासकी उत्पत्ति हो जाती है । इस रोगमें श्वासोच्छ्वासका वेग बढ़ जाता है । फिर भी यह रोग अधिक दुःख नहीं देता । खाने-पीने और अन्नपानकी गति होनेमें (रस-रक्तादि बननेमें) विघ्न नहीं करता । इस रोगमें सामान्य लक्षण होते हैं । अतः बलवान् रोगीका यह रोग साध्य होता है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि, कुछ बलका काम करने पर श्वास चलने लग जाय; और शान्ति मिलने पर शमन हो जाय, उसे क्षुद्र श्वास कहते हैं ।

महाश्वास और ऊर्ध्वश्वासमें भयंकर वातप्रकोप होता है । छिन्नश्वासमें पित्तके संसर्ग सहित वाताधिक प्रकोप होता

है । एवं तमक श्वास कफाधिक, प्रतमक पित्तके संसर्गसह कफाधिक और जुद्ध श्वास वाताधिक होते हैं ।

साध्यासाध्यता—श्री० आचार्य माधवकर मगवान् आत्रेयके वचन अनुसार लिखते हैं कि:—

स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः,
जुद्ध साध्यो मत्तस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिद्ध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥

बलवान् रोगियोंके महाश्वासआदि सब श्वास रोग जब तक अव्यक्त लक्षण युक्त हो, अर्थात् पूर्ण उपद्रवो सह न हो, तब तक शमन हो सकते हैं । जुद्ध श्वासको साध्य, तमकको कष्टसाध्य, शेष तीनको असाध्य, और तमक भी दुर्बल मनुष्यको हुआ हो, तो असाध्य माना जाता है ।

श्वास रोग का डाक्टरी विवेचन ।

डाक्टरीमें श्वासरोग (Dyspnoea) को फुफ्फुस रोगोंके लक्षण रूप माना है । श्वासयन्त्रमें विकृति हो जाने पर या कुछ प्रतिबन्ध आ जाने पर जब निःश्वास या उच्छ्वास क्रिया बलात्कारसे होती है, तब वह श्वास रोग कहलाता है । रक्तमें जब आगारिक वायु (Carbon dioxide gas) अत्यधिक हो जाती है; तब प्राणदा नाडी (Vagus nerves) की फुफ्फुसगत शाखा आक्षेप ग्रस्त हो जाती है; और श्वास केन्द्रमें उत्तेजना आ जाती है । जो श्वास केन्द्र (Respiratory Centre) सुषुम्णाशीर्षमें अवस्थित है, वही श्वासोच्छ्वास क्रियाका मुख्य आधार रूप है । इसके उत्तेजित होने पर दूषित वायुको बहर निकाल देनेके लिये निःश्वासक्रियामें वेग बढ़ जाता है, फिर श्वासरोगकी सम्प्राप्ति होजाती है ।

जब हृत्कोष विस्तृत या कुश हो जाता है, तब रुधिराभिमरण

क्रिया सम्यक् प्रकारसे नहीं होती; तब आवश्यक शुद्ध रक्त शरीरको नहीं मिलता । फिर इस हृदय पर अकुश रखने वाला हृत्केन्द्र उत्तेजित हो जाता है । परिणाममें हृदय सत्वर काम करने लग जाता है; परन्तु जब पीड़ित हृदयसे अशुद्ध रक्त खींचा नहीं जाता, तब दूषित वायु रक्तमें बढ़ती जाती है । फिर इस वायुका परिमाण अत्यधिक हो जाने पर श्वास-केन्द्र उत्तेजित होकर श्वासकृच्छ्रता (Cardiac Asthma) की उत्पत्ति करा देता है ।

हृत्केन्द्र और श्वासकेन्द्र, इन दोनों केन्द्रस्थानोंका परस्पर सम्बन्ध है । फिर भी प्राग्भमें हृदयगति और श्वासोच्छ्वासके अनुपातमें अन्तर नहीं पड़ता; किन्तु धीरे-धीरे अन्तर पड़ जाता है, और दोनोंके बीचका अनुपात न्यूनधिक हो जाता है ।

पाण्डु रोग होने पर रक्तमें प्राणवायुको शोषण करनेकी शक्ति न्यून हो जाती है । इस हेतुसे भी रक्तमें दूषित वायु शेष रह जाती है । जब इस तरह मलिन वायुका संग्रह अत्यधिक हो जाता है; तब श्वास रोगका दौरा हो जाता है ।

आयुर्वेदके महाश्वास, ऊर्ध्व श्वास और तमक श्वास आदिके वेग का हेतु बहुधा श्वासकेन्द्रकी विकृति या, पाण्डु रोगजन्य रक्त विकृति है । जब किसी भी हेतुसे रक्तमें आंगारिक वायु बढ़ जाती है; तब श्वास का वेग उत्पन्न होता है ।

वृक्कविकारमें बहुधा चिरकारी वृक्कप्रदाह (Chronic Interstitial Nephritis) जन्य विकृतिसे शोथ, हृद्वैमल्य और कफ कास सह श्वास (Renal Asthma) हो जाता है । अनुमान है कि, यह आयुर्वेदका छिन्न श्वास है ।

श्वासकेन्द्र दूषित होजानेके पश्चात् शनैः शनैः अधिक निर्बल हो जाता है । फिर क्वचित् श्वासकेन्द्रमें प्रतिफलित क्रिया (Reflex action) ही कम या बन्द हो जाती है । पश्चात् रक्तमें अशुद्ध वायु बढ़ने पर भी केन्द्रमें उत्तेजना नहीं होती । जिससे स्वाभाविक श्वास-

क्रिया कुछ काल बन्द हो जाती है । उसे डॉक्टरीमें चेन स्टोक्स रेस्पिरेशन (Cheyne stokes respiration) कहते हैं । आयुर्वेदमें इसे छिन्न श्वास रोगके अन्तर्गत मान लिया है; ऐसा अनुमान है ।

डॉक्टरीमें तमक श्वास (Asthma) रोगका वर्णन निम्नानुसार मिलता है । इस श्वास रोगका यकायक मध्य रात्रिमें श्वासावरोध होकर दौरा होता है, और अनियत समय पर दूर होता है । बहुधा यह शीत और आर्द्र जलवायु वाले स्थानोंमें होता है ।

स्वरयन्त्रद्वाराका आक्षेप होनेपर श्वासकृच्छ्रता उपस्थित होती है; उसे डाक्टरीमें कोप्स एजमा (Kopp's Asthma) कहते हैं । इसका विचार स्वरयन्त्रके आक्षेप पृष्ठ ७६६ में किया गया है । इस रोगकी श्वासकृच्छ्रताके लक्षण महाश्वासके लक्षणोंके साथ मिलते हैं ।

आयुर्वेदीय श्वासरोगसे सम्बन्ध वाली व्याधिया डॉक्टरीमें निम्नानुसार कही हैं ।

१-तमकश्वास—Bronchial Asthma ।

२-फुफ्फुस सन्यास—Pulmonary Apoplexy ।

इनके अतिरिक्त फुफ्फुसोंमें रक्ताधिक्य—(Congestion of the Lungs) और वायुकोषविस्तार (Emphysema), इन दोनों रोगों का विवेचन श्वासरोगके अन्तमें पृथक् किया जायगा । उस विकारसे भी श्वासरोगकी उत्पत्ति हो जाती है ।

तमक श्वास ।

तमक श्वास-ब्रोंकियल एजमा—Bronchial Asthma ।

रोग परिचय—श्वास नलिकाकी मासपेशियोंके सूत्रोंमें साक्षेप आकुञ्चन सह वातवाहिनियोंकी पीडाको तमकश्वास कहते हैं । इस विकारके भीतर कभी-कभी या समय समय पर हॉफ या निःश्वासमे कष्ट उपस्थित होता है ।

विचार करने पर यह व्याधि फुफ्फुस या श्वासनलिकाकी नहीं है ।

इन सब विधानोंमें जो वातनाडीसमूह वितरित होता है, उस वातनाडीसमूहकी यह पीड़ा है। फुफ्फुस और आमाशयसे सम्बन्धवाली (Pneumogastric) वातनाडियोंकी फुफ्फुसीय संचालक शाखा द्रुताक्षेपग्रस्त होती है। इस हेतुसे श्वासनलिकाका आक्षेप सह आकुञ्चन, श्वास स्वल्गता, और श्वासनलिकाप्रदाह जनित कास आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

अधिकांश स्थलोंमें यह रोग वंशपरंपरागत उत्पन्न होता है। केवल माता पिता या पूर्व पुरुषोंको तमकश्वास होने पर ही सन्तानोंको तमकश्वास हो जाय, ऐसा नहीं। माता पिताको वातवाहिनियोंकी इतर कोई व्याधि होने परभी वह रूपान्तरित होकर तमकश्वास रूपसे उपस्थित हो जाती हैं। उन्माद, मृगी, हिस्टीरिया और मदात्यय आदि वातनाडियोंके विकार तमकश्वास रूपसे परिवर्तित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि, एक ही परिवारमें किसीको शिरःशूल (Migraine), किसीको अपस्मार और किसीको तमकश्वास होजाता है।

तमकश्वास निदान—धूल, कोयले, तृण, रुई, रंग, विविध ओषधियाँ आदिके परमाणु, कीटाणु, गन्धक आदिका धुँआ या ओषधि की गन्ध आदिका नासिकामें प्रवेश होना, यह इस रोगके उद्दीपक कारण माने जाते हैं। नासिकाकी श्लैष्मिक कला, आमाशय, यकृत, अन्न और गर्भाशय आदिकी उग्रता उत्पन्न होने पर तमकश्वास प्रकाशित हो जाता है। ऋतु परिवर्तन होने तथा उपदंश, सीसा, पारद और तेज शराब के विषका असर पहुँचने पर तमकश्वास उपस्थित हो जाता है। कुटुम्बके स्वभाव सम्बन्धी इतिहास जानकर इसकी उत्पत्तिका निर्णय हो सकता है।

मध्यम श्वासनलिका की दीवार निर्माण करनेमें जो स्नायु सहायक हैं; और जो सूक्ष्म प्रणालिकाओं तक व्याप्त हैं; इनसे सम्बन्ध वाली पेशियों का आक्षेप सह संकोच होने पर तमकश्वास उत्पन्न होता है। यद्यपि इन सब पैथिक स्नायुओंके आक्षेपसे तमकश्वासके लक्षण उत्पादित होते हैं; तथापि कितनेक स्थलोंमें इस प्रकारके विशुद्ध आक्षेपसंयुक्त तमक-

श्वासके सहवर्त्ती और उत्पादक कारण मिलकर रोगकी प्रबलता तथा स्थिरतामें वृद्धि कराते हैं । कलतः तमकश्वास रोगके दो प्रकार हो जाते हैं । सामान्य साक्षेप तमकश्वास और श्वासनलिकाप्रसेक सह तमकश्वास ।

काली खाँसी, रोमान्तिका या पसली (डब्बा) आदि रोगके हेतुसे यदि श्वासयन्त्रमें हानि पहुँच गई हो, तो यह रोग छोटे बच्चोंको भी हो जाता है । विशेषतः यह प्रौढावस्थामे होता है ; और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है ।

इसका दौरा शीत और वर्षा ऋतुमें होता है । क्वचित् भयङ्कर गर्मी के दिनोंमें भी हो जाता है । एक समय रोग हो जानेके बाद तेज वायु, धूलि या धु एका सेवन, धूपमें घूमना, स्थान परिवर्त्तन, आहार-बिहारमे अनियमितता, अजीर्णमें भोजन, भय लगजाना और कोष्ठवद्धता आदि कारणोंसे इस रोगका दौरा हो जाता है । सब प्रकारसे सम्हालने पर भी आकाशमे बदल छाने पर दौरा हो जाता है । अतः रोगीको आजीवन सावधान रहना पड़ता है ।

पूर्वरूप—इस अवस्थाका प्रारम्भ बहुधा अकस्मात् मध्य रात्रिको होता है । यह व्याधि रोगीकी निद्रा भग करके प्रकाशित होती है । कितनेक स्थानोंमें रोगके विविध पूर्वलक्षण प्रकाशित होते हैं । किसी को रोगारम्भ होनेके पहले आफरा और अपचन (या अतिसार) उपस्थित होते हैं । किसीको अतिशय व्याकुलता, आलस्य, शिरदर्द, अवसाद और तन्द्रा आदि भासते हैं । किसीको अस्वाभाविक मानसिक स्फूर्ति होती है । किसी-किसीको अति परिमाणमें पेशाब होता है । इस पेशाब का रंग बदल जाता है, और आपेक्षिक गुरुत्व कम हो जाता है । किसीको छाती पर भारीपन मालूम पड़ता है । किसीको सामान्य कास, श्वास मार्ग के ऊर्ध्व प्रदेशमें उग्रता और वक्षप्रदेश पर दबाव आदि पूर्वरूप होते हैं । किसीको ठोढ़ी (Chin) के नीचे अतिशय कण्डू उपस्थित होती है ।

वेगके आगमनसे पाव-आध घण्टे पहले रोगी स्वस्थ-सा प्रतीत होता

है । फिर अकस्मात् श्वासावरोध होता है; कण्ठ रुकता है; और सोता हुआ रोगी बेचैन होकर बैठ जाता है । पश्चात् आलस्य, तन्द्रा, शिरदर्द, जुखाम होना, छींके और जम्भाई आना आदि कष्ट होता है । निःश्वास अधिक लम्बा होने लगता है; तथा श्वासवाहिनियोंकी प्रशाखाएँ संकुचित होजानेसे श्वास लेनेमें प्रतिबन्ध होता है ।

सामान्यतः श्वासकृच्छ्रताका प्राबल्य सत्वर बढ़ जाता है । शय्या पर सोता हुआ रोगी उठकर बैठ जाता है । दोनों हाथ सम्मुख दिशामें स्थिर रखता है । स्कंधोंको ऊँचा रखता है । शिरको पिछली और झुका देता है; और चारों ओर तकिया आदिका आधार लेकर बैठा रहता है । रोगके तीव्र प्रकोपकालमें श्वासोच्छ्वासके साथ हॉफका भी आरम्भ हो जाता है । श्वासोच्छ्वासमें रोगीको अति कष्ट पहुँचता है । स्वल्पस्थायी श्वास बलपूर्वक ग्रहण करता है । फिर अपेक्षाकृत दीर्घ स्थायी निःश्वास 'सां-सां' ध्वानिसह त्याग करता है ।

रोगी सामान्यतः उठने-बैठने एवं कभी-कभी एक वाक्योच्चारणमें भी अक्षम हो जाता है । रक्तसंचालनकी विलक्षणताके हेतुसे हाथ-पैरों में शीतलता और मुखमण्डल पर प्रस्वेद आ जाता है ।

मुखमण्डल उद्वेगपूर्ण, मलिन, काला-सा, रक्तावेगग्रस्त और कभी भयभीत-सा भासता है । श्वासोच्छ्वासके अभावमें कण्ठस्वरका प्रायः लोप होता है; प्रत्येक श्वासोच्छ्वास कराने वाली मांसपेशियोंकी क्रियामें वृद्धि होती जाती है । नासापुट प्रसारित, नाड़ी क्षुद्र और क्षीण तथा देह शीतल प्रस्वेदपूर्ण हो जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । रोगीकी छाती फूली हुई और स्थिर-सी भासती है । महाप्राचीरापेशी किञ्चित् चलती रहती है ।

रोगारम्भमें कास नहीं होती । फिर श्लेष्मात्मक चिरकारी कास हो जाती है । रोग जीर्ण होने पर सर्वदा सूक्ष्म रूपमें श्वास रोग बना रहता है । ग्रीवाकी शिराएँ फूली रहती है; और कुपफुसोंके भीतर कुछ अंशमें कफ भी संचित रहता है ।

ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा छाती की परीक्षा करने पर श्वासोच्छ्वासीय नादके बन्ने उच्चग्राम विशिष्ट आगन्तुक ध्वनि, सा सा, वशीनाद और कूजन ध्वनि (Rhonchus) विशेष सुननेमें आते हैं । ठेपनपरीक्षा करने पर प्रतिध्वनि की वृद्धि (Hyper resonance) प्रकाशित होती है ।

रोगीके थूँकमें कर्शमनके कीटाणु (Curschmann's spirals) और सूक्ष्म स्फटिक (शाकोलिडन क्रिस्टल्स Charcot-leyden Crystals) दृष्टिगोचर होते हैं । यदि कफसाव होने लगे, तो इस रोगका वेग सत्वर शान्त हो जाता है, अन्यथा कष्ट अधिक होता है । इस तमक श्वासका दौरा कितनीक मिनटोंसे कितनेक सप्ताह तक रह जाता है । अनेक स्थानोंमें २ से ६ घण्टे तक रोगी कष्ट भोग कर गाढ निद्रा लेने लग जाता है । फिर जागने पर पूर्ण स्वस्थ प्रतीत होता है । किसी किसी को एक दो दिन तक सा सा ध्वनिसह कुछ कष्टपूर्वक श्वासोच्छ्वास चलता रहता है ।

कभी कभी दौरा न्यूनाधिक काल तक विश्रान्ति लेकर ४-५ रात्रिमें फिरसे प्रकाशित हो जाता है । फिर रोग तिरोहित हो जाता है । पश्चात् कितनेक मास या कितनेक वर्षों तक रोगका पुनराक्रमण नहीं होता । इस स्वस्थावस्थामें छातीकी परीक्षा करने पर रोगका कोई भी चिह्न प्रतीत नहीं होता । यदि आक्रमण दीर्घकाल पर्यन्त पुनः पुनः होता रहता हो, तो श्वसन सस्था आक्रान्त और पीड़ाग्रस्त प्रतीत होती है । ऐसे रोगियोंके लिये वायुकोषविस्तार और जीर्ण श्वासनलिकाप्रसेक उपस्थित होते हैं । सामान्य श्रम लेने पर श्वास कृच्छ्रता होती है । एव आयुवृद्धि के साथ साथ हृदयके दक्षिण खण्ड भी आक्रान्त हो जाते हैं । फिर अन्त में त्रिपत्रकपाट की अक्षमता (Tricuspid Insufficiency), रक्त-संचालनमें व्याघात और शोथ उपस्थित होकर रोग घातक बन जाता है ।

इस स्वतन्त्र तमकश्वासके अतिरिक्त हिस्टीरियाजन्य श्वास, हृद्रोगज श्वास (Cardiac Asthma) और चिरकारी वृक्कप्रदाहज श्वास

रोग (Renal Asthma), अर्थात् उपद्रवात्मक श्वास उपस्थित होते हैं; किन्तु इनमें उपरिनिर्दिष्ट लक्षण नहीं मिलते ।

रोगविनिर्णय—हांफ परसे इस रोगका निर्णय सहज हो जाता है । सामान्यतः लक्षण अति प्रबल होने पर भी रोग मारक नहीं बनता ।

सूचना—इस रोगसे पीड़ितोंके आमाशय बहुधा सदोष और निर्बल बन जाते हैं । थोड़ेसे अपथ्य और अपचनसे रोगका आक्रमण हो जाता है । अतः रोगीको आजीवन पथ्य पालन करना चाहिये ।

२—फुफ्फुससंन्यास ।

फुफ्फुससंन्यास—पल्मनरी अ‍ॅपोप्लेक्सी—Pulmonary Apoplexy ।

अनुमान है कि, आयुर्वेदका सच्चा ऊर्ध्वश्वास रोग यही होना चाहिए । इस रोगको डॉक्टरोंमें संयत रक्तजनित अवरोध (हिमर्हेजिक इन्फर्क्शन-Haemorrhagic Infarction) और एम्बोलिक न्युमोनिया (Embolic Pneumonia) भी कहते हैं । यह रोग परिभ्रामक शल्य (Embolus) द्वारा उत्पन्न होता है । इस शल्यमें सामान्य (Simple) और संक्रामक (Infective), दो प्रकार हैं ।

इस रोगसे विशेषतः दक्षिण फुफ्फुस आक्रान्त होता है । शिराओंके मार्गके किसी अंशमें या हृदयके दक्षिण अलिन्दखण्डमें रक्त संयत होकर रुधिराभिसरण क्रिया द्वारा गति करता हुआ किसी लुद्रतर रक्त-वाहिनीमें फँसजाता है ।

निदान—सामान्य शल्य किसी अन्तिम रक्तप्रणालीमें निरुद्ध हो जानेपर वहाँ रक्त संचय होने लगता है । उस रक्तसे जिस अंशको पोषण मिलता था, वह बन्द हो जाता है । फिर शल्य उस निरुद्ध स्थानपर त्रिभुजक्रीलक आकृति (Infarction) का बन जाता है । यह त्रिभुजाकृति शल्य सब हृदयखण्डोंकी वेदनासे उपस्थित होता है;

इसके अतिरिक्त शिराओंमें कहीं विकृति होकर स्थानिक शल्य (थ्रोबोसिस) हो जानेसे भी उत्पन्न हो सकता है ।

इस त्रिभुज शल्यका तलदेश फुफ्फुसकी परिधिकी ओर रहता है । फुफ्फुसका निर्दिष्ट सीमाविशिष्ट आक्रान्त अश अत्यन्त रक्त वर्णका बन जाता है । उसको यदि दबाया जाय, तो उसमेंसे रक्त निकलता है । रोग अपेक्षाकृत अधिक दीर्घकालीन बननेपर मेदापक्रान्ति (Fatty Degeneration) होकर अधिकांशमें दानेदार (Granular) प्रतीत होता है, और तन्तु (Tissue) विशेष दृढ़ हो जाते हैं । सब सनिहित अश शोथयुक्त रक्तवृद्धिसे पीड़ित हो जाता है । फिर अन्तमे आक्रान्त अश विशीर्ण और सकुचित (Cirrhotic) होकर विलुप्त हो जाता है; और रोगी स्वस्थ हो जाता है ।

यदि त्रिभुज शल्य फुफ्फुसके बाह्य अशके समीप होनेपर सम्बन्ध वाला फुफ्फुसावरण आक्रान्त हो जाता है, तो वह भी दूषित हो जाता है ।

यदि उत्पन्न शल्य सक्रामक है, तो सामान्य शल्यके सदृश त्रिभुज आकृतिको धारण नहीं करता । परन्तु यह पूयोत्पादक प्रदाह और स्फोटककी उत्पत्ति कराता है, और कभी-कभी फुफ्फुस-कोथ (Gangrene) का उत्पादन करा देता है ।

लक्षण—यदि यह त्रिभुजाकृति शल्य क्षुद्र है, तो कोई भी प्रकार का बाह्य लक्षण प्रकाशित नहीं हो सकता । यदि फुफ्फुसाभिगमिनी शिराकी बड़ी शाखा अवरुद्ध होती है, तो श्वासोच्छ्वासमें प्रबल कष्ट होकर कुछ मिनटोंमे ही रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

बृहदाकार त्रिभुजाकृति शल्य द्वारा अकस्मात् श्वासावरोध होने लगता है । त्रासदायक कास उपस्थित होती है, और कफमे रक्त निकलता है । अत्यन्त व्याकुलता, नेत्रमें चञ्चलता, पार्श्वपीडा, नाडीक्षीणता आदि लक्षण होते हैं । फुफ्फुसपर अगुलियोसे ठेपन करनेपर घनध्वनि

(Dull resonance); ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुननेपर वंशीध्वनि (Tubular), दीर्घ निःश्वास, अस्पष्ट वाक्प्रतिध्वनि (Bronchophony) आदि तथा फुफ्फुस घनता (Consolidation) के चिह्न सब प्रतीत होते हैं ।

संक्रामक (Infective) प्रकारमें रोगीको बार-बार कम्प होता है; ज्वर (१०१-१०२ डिग्री तक) आजाता है; और फुफ्फुसावरण प्रभावित होजाने पर स्थानिक तीव्र वेदना आदि बाह्य लक्षण उपस्थित होते हैं ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको डाक्टरीमें असाध्य माना गया है ।

श्वास चिकित्सोपयोगी सूचना ।

हिक्का और श्वास रोग, दोनोंमें कारणकी समानता होनेसे दोनोंमें चिकित्सा भी एक-सी होती है । रोगी बलवान् या दुर्बल, कफाधिक है या वाताधिक; इन बातोंको सोचकर चिकित्सा करनी चाहिये । श्वास रोग और हिक्का रोग, दोनोंमें समान सावधानता रखी जाती है । इस हेतुसे चिकित्सोपयोगी महत्त्व की सूचना पहले हिक्का रोगमें पृष्ठ ४६३ से ४६८ तक लिखी गई है ।

तमक श्वासमें विरेचन देना हितकारक है ।

प्रतमक श्वासमें पित्तका अनुबन्ध रहनेसे दाह, बेचैनी आदि होती है, ऐसे रोगियोंको वातश्लेष्महर गरम ओषधि नहीं देनी चाहिये । यदि रोगीके कण्ठमें कफ बोलता है; कफ निकलने के समय वेदना होती है; छाती कफसे भारी मालूम पड़ती है, तो कफ पतला कर निकालनेकी स्निग्ध उष्ण ओषधि देनी चाहिये । ऐसे मौके पर कफको सुखाने वाली गरम ओषधि नहीं देनी चाहिये; अन्यथा रोगीके कण्ठमें वृद्धि हो जाती है ।

भगवान् धन्वन्तरिजी श्वास चिकित्सार्थ बलवान् और दुर्बल, ऐसा विभाग कर कहते हैं कि:—

बलीयसी कफग्रस्ते वमने सविरेचनम् ।

दुर्बले चैव रूक्षे च तर्पणं हितमुच्यते ॥

बड़े हुए कफ वाले बलवान् रोगीको वमन और विरेचन कराना चाहिये; किन्तु दुर्बल और रूक्ष रोगीको वमन और विरेचन नहीं देना चाहिये । दुर्बल और रूक्ष रोगीको तर्पण कराना और पौष्टिक पदार्थ देना हितकर है, अर्थात् जंगलके पशु, आकाशमें उड़ने वाले पक्षी या अनूप देशके (जलके किनारे रहने वाले) जीवोंका मांस रस घृतसे सिद्ध करके देना चाहिये ।

जीर्ण या चिरकारी प्रकोपमें नाड़ियोंका शोधन कर चिकित्सा करनी चाहिये । कफ प्रधान तीक्ष्ण प्रकोपको सत्वर दवानेके लिये धूम्रपान कराना चाहिये । श्री बाग्भट्टाचार्य तो श्वास आदि रोग की उत्पत्ति होनेपर उत्पन्न विकारको नष्ट करनेके लिये सर्वदा धूम्रपान करानेका निम्न श्लोकसे कहते हैं ।

जत्रूर्ध्वं कफवातोत्थविकाराणामजन्मने ।

उच्छेदाय च जातानां पिवेद्धूमं सदाऽऽत्मवान् ॥

सात्विक पथ्य और हितकर आहार-विहार करने वाले बुद्धिमानोंको चाहिये कि, कण्ठके ऊपर श्लेष्मवातके प्रकोपजन्य व्याधियोंके उत्पन्न न होने और उत्पन्न विकारोंको नष्ट करनेके लिये शास्त्रीय मर्यादानुसार सदा धूम्रका सेवन करना चाहिये ।

शीतप्रदेश, शीत काल, कफ प्रकृति और पथ्य आहार-विहारके सेवन करने वाले युवा और वृद्ध पुरुषोंको कदाचित् धूम्रपानकी आवश्यकता हो, तो वे नित्य नियमित समय पर मर्यादामें सेवन करें, तो बाधा नहीं है । यदि बिना धूम्रपान चल सके, तो विशेष हितकर माना जायगा । बिना प्रयोजन धूम्रपानका उपयोग नहीं करना चाहिये । रक्तपित्त विकारवाले और बालक आदि अनधिकारियोंको तो इससे आग्रह पूर्वक

वचना चाहिये । धूम्रपानमें भी वाताधिक श्वास वालोंको स्नेहिक, मृदु धूम्रपान, वातकफाधिक वालोंको शमन, मध्य धूम्र और कफाधिक श्वासमें वैरेचनिक, तीक्ष्ण धूम्रपान करना चाहिये । इस धूम्रपानके विधि, अधिकारी आदिका वर्णन चिकित्सा तत्त्व-प्रदीप प्रथम खण्ड-पृष्ठ २५५ में लिखा है ।

उर्ध्वश्वास और छिन्नश्वासके तीव्र वेगमें सत्वर कण्ठस्थ कफको दूर करना चाहिये । फिर हृदय क्रियाको नियमित बनाने और कफ प्रकोपको शमन करनेके लिये उपचार करना चाहिये । तीव्र वेगके समय कफस्रावकी आवश्यकता हो, वहाँ अहिफेनादि-ओषधियां या धूम्रपान आदि द्वारा सुखानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

यदि श्वास रोगकी प्राप्ति वृक्क विकार, हृदयरोग, पाण्डु-और शोथके उपद्रव रूपसे हुई हो, तो उन रोगोंकी चिकित्सा में कही हुई ओषधियां देनेसे श्वासकी निवृत्ति हो जाती है ।

कास रोगमें जो प्रयोग दिये हैं, वे सब इस श्वास रोगपर भी हितकारी हैं । श्वास, कास और हिक्का, ये तीनों रोगोंके प्रयोग परस्पर एक दूसरेके लिये उपयोगमें लिये जाते हैं ।

तमक श्वासमें रोगीकी व्याकुलताका निवारण, रोगके आक्रमणका दमन, फिर पुनराक्रमणका निवारण, इन तीनों उद्देश्योंसे चिकित्सा की जाती है ।

यदि श्वासनलिकाप्रदाह न हो, तो अफीम प्रधान ओषधि देनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । आमाशय भरा होने पर वमन कराने वाली ओषधि देनेसे एवं किसी-किसीको विरेचन देनेसे लाभ पहुँच जाता है ।

यदि अपचन न हो, तो आमाशय खाली होनेपर श्वास-कुठार रस देकर ऊपर निवायी काफी पिलानेसे आक्रमणका वेग शिथिल हो जाता है ।

सोमके चूर्ण १ माशाको उबलते हुए ५-१० तोले जलमें डाल १ मिनट उबालें। फिर उतारकर ढक देवे। १० मिनट बाद छान थोड़ी मिश्री मिलाकर पिला देनेसे रोगका वेग शिथिल हो जाता है।

चिलममें तमाखूके साथ धतूराके बीज डालकर धूम्रपान करानेसे कफ निकल जाता है, और वेगका सत्वर दमन हो जाता है।

बालकोको और बड़े मनुष्योको दौरा न हो; तब सोमल प्रधान ओषधि अति हितकारक है, किन्तु पित्तप्रकोप श्वासनलि प्रदाह या वृक्कप्रदाह न हो, तो ही सोमलका उपयोग करना चाहिये।

वायुकोष प्रसारण सह तमकश्वास जीर्ण हो जानेपर दूर नहीं होता। चिकित्सा और पथ्य, दोनोकी सहायता हो, तो रोगको रोका जा सकता है।

श्वास रोगीका हृदय निर्बल हो, तो हृदय पौष्टिक ओषधि भी साथमें देते रहना चाहिये। यदि हृदयकी निर्बलता कायम रहेगी; तो पुनः पुनः दौरा होता रहेगा; और श्वासरोग दब नहीं सकेगा, बल्कि अधिक त्रासदायक होता जायगा।

श्वास-कासके बलवान् रोगीके लिये हठ योगकी धोती क्रिया और कुंजज (गजकरणी) अत्यन्त लाभदायक है।

श्वासरोगीको भोजन करनेके १ घण्टे बाद जल पीना चाहिये। तुरन्त जल पीनेसे कफ वृद्धि होती है।

अतिसार और ज्वर आदि रोगोंमें उपद्रव रूपसे श्वास उत्पन्न हुआ हो, तो मूल रोगको दूर करनेके लिये प्रथम चिकित्सा करे। बहुधा प्रधान रोगके शमनसे श्वास दूर हो जाता है। क्वचित् इस श्वासका वेग अति तीव्र है, तो पहले श्वासवेगको कम करनेके पश्चात् प्रधानकी चिकित्सा करे।

तीव्र वेगके समय धून्नयन, वाष्प, नस्य या तत्काल उरः-स्थान और रक्ताभिसरण क्रिया पर असर पहुँचाने वाली कर्षण ओषधिका उपयोग करना चाहिये । सामान्य प्रकोपमें हो सके तब तक कर्षण-कफ सुखाने वाले प्रयोगोंको उपयोगमें नहीं लेना चाहिये ।

श्वास रोग शमन हो जाने परभी कुछ काल तक शमन और वृंहण चिकित्सा करते रहना चाहिये । जिससे जीवनीय शक्ति सबल हो जाय ।

सब प्रकारके श्वास रोगके तीव्र प्रकोपमें वेगशमनार्थ समान चिकित्सा की जाती है । महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास या तमकश्वासके दोरेकी चिकित्सामें भेद नहीं है । वेगशमन होने पर दोषभेद, उपद्रवभेद, आयुभेद, वनभेद, कारणभेद और स्थितिभेदसे चिकित्सामें भेद हो जाता है ।

सब प्रकारके श्वास रोगमें प्रातः वातश्लेष्मको दूर करनेकी चिकित्सा की जाती है । इनमें यदि वेग तीव्र न हो, तो फुफ्फुस और हृदय पर सैधानमक मिलाये हुए तैलकी मालिश करा स्वेदन करावें । जिससे श्वासप्रणालियोंमें दृढ चिटका हुआ कफ छूट जाता है; स्रोतें सब मृदु हो जाते हैं; और प्राणवायुकी गति अनुलोम हो जाती है । तत्पश्चात् वलवान् रोगीको वमन क्रिया करानेके लिये चावलमें घी या मछली, शूकर आदिका मांसरस मिलाकर भोजन करावें, या दही भात देवें । कफ उत्क्लेशित होने पर वातके अविरोधी पीपल, सैध्व और शहद मिला हुआ मैनफलका निवाया क्वाथ पिलाकर वमन करावें; या आककी जड़ १॥ माशा निवाये जलसे देकर वमन करावें; अथवा बचका चूर्ण निवाये जलसे देवें ।

इस तरह क्रिया करने पर कफ दूर होकर वायु अनुलोम होती है । श्वासरोग और हिक्कारोग, दोनोंमें वमन करानेके लिये

पहले पुराना (कफवातघ्न और वातको अनुलोमन करने वाली ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ) घृत पिलाना विशेष हितावह है, अथवा हरड़, बिड़नमक और हींग आदि ओषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलाना चाहिये ।

यदि श्वासके साथ नव ज्वरभी हो, तो बिना स्नेहन कराये रुच स्वेद देना चाहिये । आमकी अधिकता हो, तो लङ्घनभी कराना चाहिये; और वातप्रकोप हो, तो भोजनमें मांसरस या वातहर यूष आदि देना चाहिये ।

यदि उदावर्त्त या आध्मान रूप उपद्रव है, तो बिजौरा, अम्ल-बेंत आदि खट्टे फलोंके रस, पीलू, बिड़नमक और हींग मिला हुआ भोजन देना चाहिये ।

भगवान् आत्रेय इस श्वास रोगकी चिकित्साके लिये संक्षेपमें कहते हैं कि:—

यत् किञ्चित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।

भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्कनाम् ॥

श्वास और हिक्का रोगियोंके लिये जो कुछ कफ वातघ्न, उष्ण और वातका अनुलोमन कराने वाले औषध, पान या भोजन हों, वे सब हितकारक हैं ।

अवस्था भेदसे चिकित्सा करनेमें वात प्रधान श्वासमें वातकृत और कफकर औषध; तथा श्लेष्म प्रधान श्वासमें कफघ्न और वातकर औषधका लगातार प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि उपयोग करना पड़े, तो इन दोनोंमें बहुधा वातनाशक और कफकरको (दूसरेकी अपेक्षासे) अच्छा माना है । कारण कफकर, बृंहण औषधि आदिसे दैववशात् कुछ अपाय हो जाय, तो भी बहुत थोड़ा होता है, जिसे सरलतापूर्वक दूर कर सकते हैं ।

यदि शमन चिकित्सा करने पर रोगीको कदाचित् हानि हुई तो भी अधिक नहीं होगी; किन्तु कर्षण चिकित्सा (वातवर्धक ओषध या अन्नपान) से दुर्भाग्य वशतः हानि हो जाय, तो इतनी अधिक होगी, जो सम्बल नहीं सकेगी । इस हेतुसे सर्वत्र कर्षण चिकित्सा बिना विचार किये नहीं करनी चाहिये । यदि भली भाँति विदित हो जाय कि, यह रोगी कर्षणीय है, तो ही उसकी कर्षण (कफघ्न और वातवर्धक) चिकित्सा करें । चिकित्सकको चाहिये कि वे संदिग्धवस्थामें शमनचिकित्सा या वृंहण चिकित्सा करें । वमन विरेचन आदिसे रोगी शुद्ध हो या शुद्ध न हो; दोनोंके लिये शमन और वृंहण चिकित्सामें भीति नहीं है ।

श्वास रोगीको स्नेहवस्ति नहीं देनी चाहिए, ऐसा किसी आचार्यका मत है; यह सुश्रुतसंहिताकारने लिखा है ।

श्वास रोगीके लिये तीव्रवायु, शीतलवायु और ओसमें सोना बैठना हानिकर माना है । स्वच्छ प्रकाशवाले सम शीतोष्ण मकान में रहना चाहिये ।

श्वास रोगीको सर्वदा रात्रिके समय सात्विक, लघु और सूक्ष्म आहार ही करना चाहिये; तथा अपचन होने पर लङ्घन करना चाहिये ।

सन्निपात आदि अनेक रोग प्राणघातक हैं; किन्तु इन सबमें श्वास और हिका अति प्रबल हैं, ऐसा भगवान् आत्रेयने निम्न श्लोकसे कहा है ।

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।

यथा श्वासश्च हिका च प्राणानाशु निवृत्तन्ततः ॥

इस तरह भगवान् धन्वन्तरि भी इस श्वास रोगको निम्न श्लोकमें दुर्निवार कहते हैं ।

यथाग्निरिद्धः खलु काष्ठसंघैर्वज्रं यथा वा सुरराजमुक्कम् ।
रोगास्तथैते खलु दुर्निवारःश्वासश्च कासश्च विलम्बिका च॥

जैसे लकड़ीके समूहमें प्रविष्ट हुआ अग्नि और इन्द्रका छोड़ा हुआ वज्र, दोनों दुर्निवार होते हैं; वैसे ही श्वास, कास और विलम्बिका रोगभी निश्चयपूर्वक कठिनतासे निवारण होने योग्य हैं ।

तीव्रवेगरोधक चिकित्सा ।

(१) तीव्र दौरेके समय आगेकी ओर झुक कर बैठनेसे पीड़ा कुछ कम होती है । फिर भी रोगीको जिस तरह सुभीता मालूम हो, उस तरह बैठाने । पश्चात् रोगीके कण्ठ और छाती पर सैधानमक मिला हुआ गोघृत मलें । फिर एक वर्त्तनमें जलको गरम करें, ऊपर चालनी ढक दें, उसमेंसे जो बाष्प निकले, उससे फलालेनके टुकड़ेको गरम कर रोगीकी छाती पर सेक करें । फलालेनके दो टुकड़े रखनेसे दूसरा टुकड़ा गरम होना रहेगा । एक टुकड़ा शीतल होने पर तुरन्त दूसरेको उठाते, और पहले टुकड़ेको गरम होनेके लिये बाष्प पर धर देवे । इस तरह १०-२० मिनट तक सेक करनेसे रोगीको शान्ति मालूम पड़ती है ।

(२) रोगी सह सके उतना गरम जल किसी पात्रमें भर कर उसमें रोगीके दोनों पैर रखानेसे दौराका वेग घटने लगता है ।

(३) यदि अपचनके हेतुसे दौरा हुआ हो, तो तुरन्त वमन करा देना चाहिये । रात्रिके समय और साधन न मिले तो थोड़ी पीसी हुई राई मिलाकर निवाया जल पिलानेसे वमन होजाती है ।

(४) यदि मलावरोध हो, तो मृदु विरेचन देना चाहिए ।

(५) सामान्य मलावरोध और प्रतिश्याय हो, तो विना बीजकी मुनक्का २ तोले लेकर आध पाव जल और आध पाव

दूधमें मिलाकर औटावें । दूध शेष रहने पर मुनक्काको मलकर दूध छान लेवें । फिर १ माशा कालीमिर्चका चूर्ण और १ तोला मिश्री मिलाकर निवाया दूध पिला देवें । यदि चाय या कॉफी मिलाकर पिलाया जाय, तो सत्वर लाभ होता है ।

(६) कण्ठमें कफ अधिक हो, तो लाल फिटकरीका फूला ४ रत्ती और ३ माशे मिश्री मिलाकर खिला देवें । जल न पिलावें ।

(७) कलमी सोराको १६ गुने जलमें डाल, उसमें प्लाटिंग पेपरको डुबोकर सुखा देवें । इस तरह तैयार किये हुए कागजको बीड़ी की तरह लपेट कर धूम्रपान करानेसे वेग दब जाता है । प्लाटिंग पेपरके स्थान पर कपड़ेको सोरेके जलमें भिगोकर सुखा लिया जाय, तो भी धूम्रपानके लिये चल सकता है ।

(८) वेग उठनेके पहले यदि धतूरेके सूखे पत्तेके चूर्णका धूम्रपान कराया जाय, तो वेग नहीं उठ सकता ।

(९) छोटी कटेली २ तो० और सोंठ ६ माशे मिला काथ कर ६ माशे मिश्री और १ माशे पीपलका चूर्ण मिलाकर पिला देनेसे कफ सरलतासे निकल कर दौरा शान्त हो जाता है ।

(१०) अड्डसेके पत्तोंका स्वरस पुटपाक कृतिसे निकाला हुआ २ तोले ; शहद ६ माशे और सैधानमक ४ रत्ती (या बिड़नमक) मिलाकर पिला देनेसे तुरन्त कफ निकल कर वेग निवृत्त हो जाता है ।

(११) सोंठ और मिश्री ४-४ माशे मिलाकर खिलानेसे अपचन और कफ प्रकोप दूर होकर वेग शान्त हो जाता है ।

(१२) सोंठ और भारङ्गमूलका चूर्ण और शहद मिलाकर चटानेसे श्वास निवृत्त हो जाता है ।

(१३) सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, पीपलामूल, चारों मिलकर २ माशे, ४ माशे बहेड़ेका चूर्ण और ६ माशे शहद मिलाकर चटानेसे श्वासका वेग दब जाता है ।

(१४) अपामार्गक्षार या यवक्षार २ माशे लेकर ६ माशे घृतमें मिलाकर चटानेसे कफ सरलतासे बाहर निकल कर श्वास रोग दूर हो जाता है ।

(१५) धतूराके फलकी राख १ माशा ६ माशे शहदमें मिलाकर चटानेसे वेग बलका ह्रास हो जाता है ।

(१६) आकके पत्तोका रस १ से २ तोला पिला देनेसे वमन होकर कफ निकल जाता है; और रोग शमन हो जाता है ।

(१७) आकके फूलकी कली और कालीमिर्च मिला चूर्ण कर १-१ माशा शहदके साथ देनेसे दौरा बैठ जाता है ।

(१८) मयूरपुच्छकी भस्म ६ रत्ती और पीपलका चूर्ण ६ रत्ती मिला ६ माशे शहदके साथ चटानेसे प्रबल श्वास वेग और प्रबल हिक्काकी निवृत्ति होजाती है ।

(१९) कफ यदि सूख गया हो, तो १ तोला मुलहठीको २० तोले जलमें उवाल छान, घी और मिश्री तथा १ माशा सैधा-नमक मिलाकर पिला देनेसे कफ गल जाता है, और सरलतासे बाहर आ जाता है ।

(२०) छोटी कटेलीके फलका चूर्ण १ माशा और ४ रत्ती भूनी हींगको ६ माशे शहद मिलाकर चटानेसे कफ सत्वर निकल जाता है । और प्रवृद्ध श्वास रोग भी शमन हो जाता है ।

(२१) सोमका चूर्ण १ माशा लेकर ५-१० तोले जलमें उवाले । १-२ उफाण आनेपर उतार कर ढक देवें १५-२० मिनट बाद छानकर शहद मिलाकर पिला देनेसे वेग तत्काल दब जाता है ।

(२२) शृंगयादि चूर्ण—काकड़ासिगी, सोठ, पीपल, नागर मोथा, पुष्कर मूल, कचूर, और कालीमिर्च, समभाग मिलाकर चूर्ण करें । इस चूर्णमेंसे ४ माशेको समभाग मिश्री मिलाकर सेवन

करावें; फिर ऊपर गिलोय, अड़सा और बृहत्पंचमूल (४ तोले) का काथ पिलानेसे तीव्र वेगका शमन हो जाता है ।

(२३) अति घबराहट होनेपर आध सेर जलमें १ तोला शक्कर मिलाकर गरम करें । एक छटाँक रहने पर उतार लें । निवाया रहने पर पिला देनेसे आध घण्टेमें कफ निकल जाता है; व्याकुलता और श्वासकृच्छ्रता दूर होती है; तथा रोगीको निद्रा आ जाती है । यह जल एक ही समय पिलाना चाहिये ।

(२४) हिंगुल बटी—सिंगरफ १० तोले और पीपलका चूर्ण ४० तोले मिलाकर खरल करें । फिर शहद मिलाकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इसमेंसे १-१ गोली २-२ घण्टे पर दो बार देनेसे श्वासकृच्छ्रता दूर हो जाती है ।

(२५) पीत श्वासकुठार—मैनसिल और कालीमिर्च सम-भाग मिलावें । फिर अदरकके रसके साथ १२ घण्टे खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १-१ गोली २-२ घण्टे पर दो बार देनेसे श्वासकृच्छ्रता नष्ट हो जाती है ।

(२६) मनःशिलादि धूम्रपान—मनःशिल, देवदारु, जटामांसी, हल्दी, तेजपात, लाख और लाल एरंडकी जड़, इन सबको पीस कागज या पत्ते पर लगा, ऊपर घी चुपड़ बीड़ीकी तरह बना कर धुआ पीनेसे कफसे रुके हुए मार्ग खुल जाते हैं; और श्वास का वेग मन्द हो जाता है । अथवा जौके आटेको घीमें मिलाकर धूम्रपान करानेसे भी लाभ हो जाता है ।

(२७) धतूरेके पत्ते, फल और शाखाकी छालको कूट सुखा तमाखूकी तरह चिलममें ढाल या बीड़ी बनाकर पीनेसे सत्वर कफ निकल कर श्वासवेग शमन हो जाता है । कफाधिक श्वास रोगमें यह प्रयोग अति उपकारक है ।

(२८) देवदारु, खरैटी और जटामांसीको समभाग मिला

बारीक कपड़छान चूर्ण करें । फिर जलके साथ खरल कर सिगरेट के आकारकी बत्तियाँ बना लेवें । परन्तु बीचमें थोड़ा छेद रखे । इस बत्तीका धूम्रपान करानेसे तत्काल श्वासप्रकोप शमन हो जाता है ।

(२६) रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रहमें आये हुए प्रयोग मनःशिलादिधूम्रपान (२० ८६१), रसकपूर भस्म (२० २५६), मल्लसिंदूर नं० २ (२० २८४), समीरपन्नग रस (२० २६७ अदरखके रस और शहदेके साथ), दशमूल काथ (२० ७०६ जवाखार और सैधानमरु मिलाकर), दशमूलाद्य घृत दूसरी विधि (२० पृ० ८२७), चिन्तामणिचूर्ण (२० ७०१), श्वासकुठार रस (२० ४६६ अदरखका रस और घृतके साथ), ये सब लाभदायक है । तीव्रवेगके समय तत्काल योजना करनी चाहिये । धूम्रपान मुख्य है । रसकपूर भस्म भी वेगका शीघ्र निवारण करती है ।

समीरपन्नग, मल्लसिंदूर या श्वासकुठार का सेवन करानेसे सामान्य वेग शमन हो जाता है । इनमें श्वासकुठार सौम्य ओषधि है । यदि नाजुक प्रकृति वालों को अधिक सौम्य ओषधि देनी हो, तो चिन्तामणि चूर्ण, दशमूल काथ या दशमूलाद्यघृत देना चाहिये । दशमूलाद्य घृतका सेवन भोजनके साथ दीर्घ काल तक किया जाय, तो फिर श्वासका दौरा नहीं होता ।

तीव्र प्रकोपके शमनके पश्चात् चिकित्सा ।

(१) रास्नादि क्वाथ—रास्ना, दशमूल, सोठ, कचूर, पीपल, पुष्करमूल, काकड़ासिगी, भूमिआंवला, भारंगी, गिलोय नागरमोथा और चित्रकमूल की छाल, इन २१ ओषधियों को समभाग मिला ६ तोलेका काथ कर तीन हिस्सा कर दिनमें ३ समय पिलाते रहनेसे श्वास, हृदयग्रह, पार्श्वशूल, हिक्का और कास रोगका शमन हो जाता है ।

(२) देवदारुादि क्वाथ—देवदारु, बच, छोटी कटेली, सोंठ, कायफल और पुष्कर मूल, इन ६ ओषधियों को समभाग मिला २-२ तोलेका काथ कर दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे श्वास और कास दूर होते हैं ।

(३) एक बालिस्त लम्बा थूहरका ताजा डंडा लाकर उसमें एक ओरसे खड़ा कर एक छटाँक लाल फिटकरी भर मुँह बन्द कर कपड़मिट्टी करें । फिर गजपुटमें जला फिटकरीका फूला मिली भस्म निकाल लें । इसमेंसे २-२ रत्ती पानमें लेते रहनेसे २१ दिन में नया प्रतमक श्वास दूर होता है ।

(४) अमृतादि क्वाथ—गिलोय, सोंठ, भारंगी, छोटी कटेली और तुलसीके पान, इन ५ ओषधियों को समभाग मिला कर काथ करें । फिर छान, १ माशा छोटी पीपलका चूर्ण मिला कर दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे श्वास और कास नष्ट होते हैं । यह काथ सामान्यतः तीव्र वेग को भी तुरन्त दवा देता है ।

(५) हरिद्रादि लेह—हल्दी, काली मिर्च, मुनक्का, रास्ना, पीपल और कचूर को मिलाकर चूर्ण करें । फिर १ तोला चूर्ण, १ तोला पुराना गुड़ और १ तोला तैल मिलाकर चटानेसे प्राणहर श्वास भी दूर हो जाता है ।

(६) सिंहादि क्वाथ—बड़ी कटेली, हल्दी, अडूसाके पत्ते, गिलोय, सोंठ, छोटी इलायचीके दाने, भारंगी, नागरमोथा पीपल और कालीमिर्च इन १० ओषधियोंका काथ कर दिनमें २ समय पिलाते रहनेसे श्वास रोग नष्ट हो जाता है ।

(७) पुराना गुड़ २ से ४ तोले और सरसोंका ताजा तैल लगभग २ तोले मिलाकर रोज सुबह २१ दिन तक खानेसे फुफ्फुसोंमें रहा हुआ जीर्ण कफ दूर होकर श्वास रोग निर्मूल हो जाता है ।

(८) दशमूलका काथ कर १ माशा पुष्करमूलका चूर्ण मिला कर पिलानेसे कास, पार्श्वशूल, हृदय शूल और श्वास रोग दूर हो जाते हैं ।

(९) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें लिखे हुए प्रयोग—समीरपन्नगरस, अभ्रक भस्म और लोह भस्म मिश्रण, कफ कुठार रस (२० ४६३), गोमूत्रक्षार चूर्ण (२० ६८६), श्वास-रोगान्तकवटी (२० ४६८) प्रथमविधि, वासादिकाथ (२० ७१६), शृंग्यादि चूर्ण (२० ६६७) और कनकासव (२० ७५३), ये सब हितावह ओषधियां हैं ।

तमाखूके व्यसनी और जिनकी देहमें कफसंग्रह अधिक हो गया हो, मलावरोध और अग्निमान्द्य हो, उनके लिये गोमूत्रक्षार चूर्ण अति हितकर है । समीर पन्नग, श्वासरोगान्तक वटी और कफ कुठार उग्र हैं । ये तीनों ओषधियाँ ज्वर होने पर भी दी जाती हैं । कफकुठार रसमें कफको बाहर निकालने की शक्ति अधिक है । समीरपन्नग और श्वासरोगान्तक वटी जीर्ण कफ प्रधान श्वासरोग और नये रोगमें लाभ पहुँचाती हैं । ये दोनों शनैः शनैः फुफ्फुसोंको सबल बनाते हैं । यदि तमाखूके हेतुसे रोग हुआ हो; तो श्वासरोगान्तक वटी न० २ हितकारक है ।

जब छातीमें कफके हेतुसे पीड़ा होती हो, तो वासादि क्वाथ सरलता पूर्वक कफको बाहर निकालनेमें हितकारक है । कनकासव वेदनाके समय शान्ति प्रदान करता है, और कफको बाहर निकालनेमें सहायता करता है । शृंग्यादिचूर्ण अति सौम्य ओषधि है । बालक और नाजुक प्रकृति वालोंके लिये हितकर है ।

मल्लभस्म (दूसरी विधि २० पृ० २३५), मल्लसिदूर न० १ मल्लादि वटी, ये सब उग्र ओषधियाँ हैं । सम्हाल पूर्वक उपयोग करना चाहिए । इनमें मल्लादि वटी अधिक उग्र नहीं है । अतएव कफको

सुखाना और पक्वको बाहर निकालना, दोनों कार्य करती है । अनुगान बहेड़ेका चूर्ण और शहद देवें ।

श्वासकुठार रस, लवंगादि तालसिंदूर और शृंग भस्म में कफकी उत्पत्ति कम कराना, ज्वर शमन करना और जन्तुओंको नष्ट कर फुफ्फुसोंको शुद्ध करना, ये गुण अधिक हैं । श्वास कुठार रस आमाशय, फुफ्फुस और फुफ्फुसधरा कलाको सबल बनाता है । लवंगादि तालसिंदूर रक्त, हृदय और कण्ठके दोषको दूर करनेके साथ कफोत्पत्तिको भी रोकता है ।

(१०) **हामरेश्वराभ्र**—मयूर पुच्छके चन्दलोंकी भस्म और अभ्रकभस्म ४-४ तोले लेवें । फिर ब्रह्मदण्डी, धतूराके पान, गिलोय, अड्डसा, कसौंदी, बकायनकी छाल, चव्य, पीपला-मूल, चित्रकमूलकी छाल, इन औषधियोंके ४-४ तोले (या १६-१६ तोले) स्वरस या काथके साथ क्रमशः खरलकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें । इनमेंसे १ से २ गोली दिनमें २ समय शहद या अनुकूल अनुपानके साथ देनेसे गम्भीर हिकका, श्वास, कास, उदर रोग, जीर्ण प्रमेह रोग, पाण्डु, यकृद्विकार, प्लीहा-वृद्धि, गलरोग, शोथ, मोह, नेत्ररोग, मुखरोग, राजयक्ष्मा, पीनस, कृत्रिम विषका दुष्ट असर, निर्बलता, गलगण्ड, गण्ड-माला, वमन, भ्रम, दाह, विषम ज्वर और मूत्रकृच्छ्र आदि सब रोग दूर होते हैं ।

यह रसायन वातज, पित्तज, कफज और द्वन्द्वज आदि सब रोगोंका नाश करता है । अनुपान रूपसे वातकफाधिकतामें दश-मूल काथ, कफाधिकतामें वासादि काथ और वातात्मकमें रास्तादि काथ या देवदारवादि काथ पिलाते रहें, अथवा इतर अनुकूल अनुपान देते रहनेसे श्वास रोग सत्वर दब जाता है ।

(११) फुफ्फुसमें पीप हो गया हो; और कफमें दुर्गन्धि

आती हो, तो समीरपन्नग, शृंगभस्म और सोहागेके फूलेको वासास्वरसके साथ अथवा सुवर्ण भस्म, शृङ्गभस्म, अभ्रकभस्म, इन तीनोंको मिलाकर वासावलेहके साथ देना चाहिये ।

(१२) श्वासकासचिन्तामणि—रससिन्दूर, सुवर्णमादिक भस्म और सुवर्ण भस्म, तीनों २-२ तोले, मौक्तिक भस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक और अभ्रकभस्म ४-४ तोले तथा लोहभस्म ८ तोले लें। सबको मिला छोटी कटेलीका रस, बकरीका दूध, मुलहठीका रस, नागरबेलके पानका रस, इन चारोंकी क्रमशः ७७ भावना देकर २-२ रत्तीकी गोलियाँ बनावे । इनमेंसे १-१ गोली शहद-पीपलके साथ देनेसे सब प्रकारके श्वास और कास निवृत्त होते हैं ।

नये और पुराने श्वास रोग, जिसमें पूय होजानेसे कफ पीला दुर्गन्ध युक्त हो गया हो ऐसी खांसी, फुफ्फुसकोषोंकी शिथिलता, दाह, रक्तकी न्यूनता, पाण्डु, हृदयकी निर्बलता, अग्निमान्द्य और राजयक्ष्मा आदि सब रोगोंमें यह रसायन अपना प्रभाव सत्वर दर्शाती है । कुछ दिनों तक शान्तिसे सेवन करनेपर श्वासरोगको मूलसे नष्ट कर देता है ।

सूचना—कफस्त्राव अधिक हो तब अड़सा; श्वासवाहनियोंका दाह शमन कर मधुर रस उत्पन्न कराना हो तब मुलहठी, तथा कण्ठ-प्रदाह और श्वासनलिकाकी शिथिलताको दूर करना हो तब बहेडेका चूर्ण अनुपान रूपसे मिला लेनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । दूषित कफ के शोधनार्थ सोहागेका फूला और शृङ्गभस्म मिला लेवे । यदि मूत्र द्वारा विषको बाहर निकालनेकी आवश्यकता हो, तो इस रसायन के सेवन कालमें प्रातःकाल इस रसायन सेवनके १ घण्टे पहले शिला-जीत २ से ४ रत्ती १०-२० तोले बकरीके धारोष्ण दूध या जलके साथ सेवन कराते रहना चाहिये ।

(१३) **श्वासदमन गुटिका**—धतूरेके पक्के फल, आकके पीले पत्ते, तमाखूके सूखे पत्ते, अड़साके पत्ते, मक्काकी सूखी डोंडी (अनाज निकालनेके बाद रही हुई), अपामार्ग पंचांग, केलेके पत्ते, ये ७ ओषधियाँ १-१ सेर; नौसादर, कलमी सोरा और सैधानमक, तीनों ८-८ तोले; तथा मुलहठी १० तोले लेवें । इन सबको मिला एक हाँडीमें भर मुखमुद्रा कर १ मन गोबरीकी अग्नि देवें । स्वांग शीतल होनेपर हाँडीमेंसे भस्मको निकाल उसमें ४ गुना जल मिलावें । फिर साफ जलको नितार लें । यदि नीचे चार रहा हो, तो और जल मिलाकर साफ जलको नितार लेवें । फिर इस जलको उबाल कर चार बना लेवें । पश्चात् यह चार ४ तोले; काकड़ासिंगी १२ तोले, लोहवान सत्व १ तोला, सकमोनियाँ (*Scammonia Resina*) ६ तोले और बीज निकाली हुई मुनक्का ६ तोलेको मिलाकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बनावें । इनमेंसे १-१ गोली मलाईके साथ दिनमें २ समय देवें । इस तरह ४० दिन तक सेवन करानेसे फुफ्फुसोंमें रूखा हुआ कफ दोष निकल जाता है; श्वासनलिकाकी विकृति दूर होती है; पचनक्रिया बलवान् बनती है; तथा नये और पुराने सब प्रकारके श्वास रोग नष्ट हो जाते हैं । एक सप्ताह सेवन करने पर लाभ मालूम होने लगता है । ४० दिनमें रोगी बिल्कुल स्वस्थ हो जाता है ।

(१४) बहेड़ा, २० तोले, काकड़ासिंगी ५ तोले, शुद्ध नौसादर १ तोला, सोनागेरु ६ माशे, सबको मिलाकर कपड़छान चूर्ण करें । इसमें से ३-३ माशे चूर्णको प्रातःसायं शहद या पुराने गुड़के साथ मिलाकर देते रहनेसे श्वास रोग कुछ दिनोंमें निर्मूल हो जाता है ।

(१५) शुद्ध कुचिला, छोटीपोपल और कालीमिर्च, तीनोंको समभाग मिला नागरबेलके पानके रसमें १२ घण्टे खरलकर

१-१ रत्तीकी गोलियाँ बनावे । गोली प्रातःकाल निगलवा कर २ तोले गोघृत निवाया करके पिलावे । रात्रिको १ से २ गोली दूध के साथ सेवन करावें । इस ओषधिके सेवनसे नूतन और जीर्ण तमक श्वास और मन्द ज्वर दूर होते हैं । पचनशक्ति सबल होती है, तथा शरीरमें स्फूर्ति आ जाती है । ज्वर रहता हो, तो घी नहीं पिलाना चाहिये ।

(१६) प्रतमक श्वास पर अभ्रकभस्म, शृङ्गभस्म, प्रवाल-पिष्टी और सतगिलोयका मिश्रण कर शहदके साथ देवें, ऊपर बकरीका धारोष्ण दूध पिलावे । कफ अधिक हो जाय, तब वासा-स्वरस भी देवे । अथवा सुवर्णभस्म (२० २३६), लक्ष्मीविलास रस सुवर्ण प्रधान (२० ४५७) या अभ्रकभस्म और लोहभस्म (शहद-पीपल और बहेड़ेके चूर्णके साथ), इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करावें, तथा शिलाजीत आध घण्टे पहले दिनमें २ समय देते रहे । तथा मौक्तिक पिष्टी बृहत्सितोपलादि चूर्ण और शहदके साथ दिनमें दो समय देते रहे ।

अम्रक, शृङ्ग और प्रवाल, तीनों मिलाकर लेनेसे वातवहानाडियोकी शिथिलता, कोथ, कीटाणु या पूयोत्पत्ति और दाह, सब एक साथ शमन होते हैं । राजयक्ष्माका भय हो, या शुष्क कास और अधिक निर्बलता हो, उदासीनता, प्रतिश्याय सह जीर्ण रोग हो, तब लक्ष्मी-विलास सुवर्णप्रधान लाभदायक है । पाण्डुसह श्वास हो तब अभ्रक और लोह मिलाकर दिया जाता है । अतरमे अधिक दाह, मास्तिष्कमे निर्बलता, चक्र आना आदि लक्षण हों, तो मौक्तिकपिष्टी दी जाती है । निर्बलता अधिक है और हृदयकी कमजोरी हो, तो सुवर्ण भस्म द्राक्षारिष्ट के साथ दी जाती है ।

(१७) उपदंश रोगीके श्वासपर—सारिवादि सारकरके साथ अभ्रक भस्म देवे । अथवा मल्लसिंदूर नं० २ (२० २८४), अष्टमूत्ति रसायन (२० ३०५) या मल्लसिंदूर वटी (२० ५०४),

इनमेंसे किसी एकको प्रयोगमें लावें । अभ्रकभस्म सौम्य है । शेष सबमें सोमल आता है; अतः उग्र है । फिरभी अष्टमूर्त्ति रसायन अधिक उग्र नहीं है ।

(१८) क्षुद्रश्वास पर—धातु क्षीणता वालोंको वंगभस्म और अभ्रक भस्म मिश्रण, पूर्ण चन्द्रोदयरस (२० २७४), लक्ष्मी-विलासरस (२० ४५७), वसंतकुसुमाकर रस (२० ५१८) द्राक्षारिष्टके साथ) या बृहद् वंगेश्वर रस (२० ५२५), इनमेंसे एक या अन्य धातुपौष्टिक ओषधियां, जो अनुकूल हों, उनका सेवन कराना चाहिये ।

(१९) तमाखूके व्यासनीके श्वास पर—श्वासान्तक वटी (२० ६३७), गोमूत्र चार चूर्ण (२० ६८८), अभ्रकभस्म और मौक्तिकपिष्टी या दशामूलाद्य घृतमेंसे एकको प्रयोगमें लाना चाहिये ।

(२०) मेदवृद्धिसे क्षुद्र श्वास होने पर—शिलासिद्धरवटी (२० ५४७), लोह भस्म और शिलाजीत, बृहद् योगराज गुग्गुल (२० ४६६), या चन्द्रप्रभावटी (२० ६४२) शहदके साथ), इनमेंसे अनुकूल प्रयोगका सेवन करानेसे शक्तिवृद्धि होकर श्वास दूर हो जाता है ।

(२१) पार्श्वशूल पर—महा वातराज रस (२० ५६६), महा वातविध्वंसन रस (२० ४६१) और शूलवज्रिणी वटी (२० ५०६), इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करावें । महा वातराजमें अफीमकी मात्रा अत्यधिक होनेसे, यह कब्ज वालोंको नहीं देना चाहिये ।

(२२) मलशुद्धिके लिये—आरोग्यवर्द्धिनी (२० ५०३), गोमूत्रचार चूर्ण (२० ६८६), पंचसम चूर्ण (२० ६८१), पंच-सकार चूर्ण (२० ६८२), इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करानेसे कोष्ठशुद्धि होकर श्वासप्रकोपका निवारण हो जाता है ।

(२३) श्वासकृच्छ्रान्तक वटी २-२ गोली जलके साथ देने से उदरशुद्धि होती है, हॉफ दूर होती है, पचनक्रिया सबल बनती है, और रोगका निवारण होता है । गोली निगलनेके ५ मिनटके पश्चात् २ से ४ तोले निवाया घी पीनेसे कफका भी जल्दी निवारण होता है । श्वासकृच्छ्रान्तकवटी बनानेकी विधि कासरोग के भीतर पृष्ठ ८४४ में लिखी है ।

(२४) तीव्र प्रकोप शमन हो जानेपर पीत श्वासकुठार, हिगुलवटी और शृंगभस्म, तीनोंको मिलाकर शहद और घी या केवल शहदके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे श्वास रोगी को अच्छा लाभ पहुँच जाता है ।

(२५) विषको मूत्र द्वारा निकालनेके लिये—शिलाजीत दिनमें १ या २ बार इतर ओषधिके सेवनके साथ देते रहे ।

(२६) भाङ्गी गुड़—भारंगीका जौ कूट चूर्ण ५ सेर, दशमूल मिलित ५ सेर तथा बड़ी अच्छी जातिकी हरड़ सावुत ५ सेरको ४ गुने (६० सेर) जलमें मिला चतुर्थांश काथ करें । फिर उतारकर छान लेवें, और हरड़ोको भी निकाल लेवें; पश्चात् काथमें ५ सेर गुड़ और हरड़ डाल मन्द-मन्द अग्नि देकर अवलेह जैसी चासनी करे । सिद्ध होनेपर नीचे उतार लेवे । निवाया रहनेपर सोठ, मिर्च, पीपल, दालचीनी, तेजपात और लोटी इलायचीके दाने, प्रत्येक ४-४ तोले तथा जवाखार २ गेन्वावे; तथा शीतल होनेपर २४ तोले शहद मिला लेवें ।

इसमें से १ हरड़ खाकर ऊपर २ तोले अवलेह सेवन करें । इस ओषधिके सेवनसे दारुण श्वास, नये और पुराने सब प्रकार के श्वास और सब प्रकारकी, कास, ये सब दूर होते हैं । स्वर, वर्ण और जठराग्नि प्रदीप्त होती है । शोष, हिक्का, कफवृद्धि,

विष, ज्वर, पीनस इत्यादि विकार शमन हो जाते हैं । अपचन और कब्जसे पीड़ित रोगियोंके लिये यह अति हितकर औषध है ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) एड्रिनलीन सैल्यूशन—Adrenalin Solution का इन्जेक्शन देनेसे तत्काल वेग शान्त हो जाता है; किन्तु बार-बार प्रयोग में लाते रहनेसे शनैः शनैः प्रभाव न्यून होता जाता है ।

अथवा लाइकर एड्रिनलीन हाइड्रो क्लोराइड १० बूँद थोड़े जलमें मिलाकर पिला देनेसे वेग शान्त हो जाता है ।

(२) मॉर्फिन हाइपोडर्मिक (Morphine Hypodermic) अक्रेलेका या एट्रोपिन (Atropine) मिलाकर इन्जेक्शन देनेसे दौरा शमन हो जाता है ।

मोर्फिन अफीमका सत्व है, अफीमसे आठ गुना उग्र है । अधिक तेज दौरा हो, तभी अक्रेलेका इन्जेक्शन दिया जाता है । मॉर्फियाकी उग्रता या दोषसे बचनेके लिये एट्रोपिन मिलाया जाता है । एवं एट्रोपिनसे श्वासनलिकासंकोच दूर होनेमें सहायता भी मिल जाती है । मॉर्फिया खिलानेसे भी दौरा दब जाता है ।

(३) एफिड्रीन हाइड्रोक्लोराइड (Ephedrine Hydrochloride) का इन्जेक्शन देने या आध-आध ग्रेन खिलानेसे वेग शमन हो जाता है ।

(४) श्वास मिश्रण (Mist. Asthma) ।

टिञ्चर बेल्लाडोना—Tinct. Belladonna ३० बूँद ।

टिञ्चर लोबेलिया इथरिस—Tinct. Lobelia Aetheris ३० बूँद ।

लाइकर मोर्फिया—Liq. Morphine ३० बूँद

पोटास आयोडाइड—Pot. Iodide १५ ग्रेन

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform ad ३ औंस तक

इन सबको मिला लेवें। इसमें से तीव्र वेगकालमें २-३ घण्टेपर ३ बार १-१ औंस पिलावें।

(५) मिश्रण लोबेलिया (Mit Lobelia)

टिञ्चर लोबेलिया Tinct. Lobelia Aether ३ ड्राम

पोटास आयोडाइड Pot. Iodide २ ड्राम

„ ब्रोमाइड Pot. Bromide ३ ड्राम

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform ad ८ औंस तक

इन सबको मिला लेवे। तीव्र वेगके समय १-१ औंस दो दो घण्टे पर देते रहे। वेग कम होनेपर ओषधि देरसे देवे, और मात्रा भी आधी कर देवें।

(६) पोटास आयोडिड Pot. Iodide २ ड्राम

लाइकर आर्सेनिक Liq. Arsenic १॥ ड्राम

टिञ्चर कार्डामम क० Tinct. Cardamom Co. ४ ड्राम

जल Aqua ad ३ औंस तक

इन सबको मिला लेवे। फिर मिलाकर भोजनके बाद १-१ ड्राम २-२ औंस जलके साथ दिनमें २ बार देते रहे।

(७) इथिल आयाडिडम (Aethyl Iodidum) के ५-५ ग्रेनके कैपसुलको कपड़ेमे लपेट नाकके पास रख कर तोड़े। जिससे श्वास लेनेके साथ ओषध फुफ्फुसोंमे प्रवेशकर जाती है, और तुरन्त श्वास-प्रकोपको दबा देती है।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—विरेचन, स्वेदन, कफनाशार्थ धूम्रपान, वमन, स्नेहन, स्वेदन, भोजनके पहले दिनमे शयन, पुराने सांठी और लाल शालि चावल, कुलथी, गेहूँ, जौ, खरगोश, मोर, तीतर, लावा, मुर्गा, तोता और मरुभूमिके मृगपक्षी आदिका मांस, समुद्र तटपर रहना, पुराना घी, पीपल, या मूँगका चूष, यवागू,

सुरा (शराब), हींग, शहद, मुनक्का, अंगूर, किसमिस, आंवला, बेल, फुफ्फुस और हृदयपर तैलकी मालिश, गरम करके शीतल किया हुआ जल, गेहूँका दलिया, गेहूँके पतले फुलके, मूँगकी दाल, बकरीका दूध, गोदुग्ध, कटेली, करंज, हरड़, जम्भीरी नीबू, जीवन्ती, कच्ची मूली, पोई, परवल, बैंगन, तोरई, बथुआ, चौलाई, पालक, लूणी, लहसुन, कन्दुरी (बिम्बी) बिजौरा, खजूर, केला, सन्तरा, अनार, नयी बादाम, कच्चा बेल, आंवले, छोटी इलायची, गोमूत्र, पुष्करमूल, सोंठ, कालीभिर्च और पीपल, ये सब पथ्य हैं ।

वर्षा होनेपर वातावरणमें जलके परमाणु मिश्रित हो जाते हैं । जो श्वास मार्गसे फुफ्फुसमें जाकर हानि पहुँचाता है । अतः श्वास रोगीको चाहिए कि, वर्षाके जलयुक्त वातावरणमें बाहर बैठने, सोने या फिरनेका त्याग करें । रात्रिको ओसमें सोनेसे फुफ्फुसोंमें कफकी वृद्धि हो जाती है ।

कुलथीका यूष—छोटी कटेली, बेलगिरी, काकड़ासिंगी, जवासा, गोखरू, गिलोय और चित्रकमूल, सबको मिलाकर ४ तोले लेकर २५६ तोले जलमें अर्धावशेष काथ करें । फिर छान इसमें ८ तोले कुलथी मिलाकर यूषको सिद्ध करें । पश्चात् पीपल डाल घीसे छोंक दें, और आवश्यक सोंठ और सैधा नमक (या बिड़नमक) मिलाकर पिलावें । यह यूष श्वास, कास, पीनस, अर्श, गुल्म, अश्मरी, तूनी और प्रतूनी आदि वात प्रकोप सबको दूर करता है ।

कुलथी उष्णवीर्य, विपाकमें खट्टी और शुक्र को हानि पहुँचाती है । ज्वर हो, तो यह यूष नहीं दिया जाता परन्तु कुलथीको श्वास रोगमें हितावह माना है । आचार्योंने लिखा है किः—

कुलत्था ग्राहिणः कास-हिका-श्वासाशसां हिताः ।

कुलथी ग्राही है। कास, हिक्का, श्वास और अर्श रोगमें हितकर है।

मूंगका यूप—रास्ना, खरैटी, लघुपञ्चमूल, गिलोय और चित्रकमूल, इन ६ वस्तुओंके काथमें ऊपर लिखी विधि अनुसार मूंग को सिद्ध करे। फिर पिप्पली घृतभर्जित करके पिलावे। यह यूप वातप्रकोप और पित्त प्रकोप को शमन करता है।

यवागू प्रथम प्रकार—हींग, काजानमक, जीरा, विड़नमक, पुष्करमूल, चित्रकमूल और काकडासिगी, इन ७ ओषधियों को ४ तोले लेकर २५६ तोले जलमें मिला अर्धावशेष या चतुर्थांश काथ कर छानलें। फिर उसमें लाल चावल छठवा हिस्सा मिला कांजी बनाकर श्वास और हिक्का रोगी को सेवन करावे।

यूप यवागू आदि की विधि और गुणका विशेष वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ २३३ से ५३७ तक किया है।

यवागू द्वितीय प्रकार—शमूल, कचूर, रास्ना, पोपतामूल, पुष्करमूल, काकडासिगी, भूमि आंवले, भारंगी, गिलोय, सोठ और नेत्रवाला, इन २० ओषधियोंके अर्धावशेष काथमें यवागू बनाकर देवे, या काथ ही पिलावें, तो कास, हृदय पार्श्वशूल, हिक्का, श्वास इत्यादि प्रकोप शमन होते हैं।

यवागू तृतीय प्रकार—पुष्करमूल, कचूर, सोठ, मिर्च, पीपल, विजौरा और अम्लवेत, इन ७ ओषधियोंका काथ कर उसमें लाल चावकोठी यवागू बनाकर घी, विड़नमक और हींग मिलाकर सेवन करावे।

हिक्का और श्वासके तीव्र प्रकोपमें तृषा लगने पर दशमूल या देवदारु मिलाकर उबाला हुआ जल या शराब पिलाना चाहिये। भूलकर शीतल ताजा जल नहीं पिलाना चाहिये।

सूजीको घृतमें भून लपसी बना मुलहठी, वंशलोचन, सोठ

और पीपल मिला पित्तानुबन्ध सह श्वासमें भोजन रूपसे देवें; किन्तु यदि श्वासमें वातका प्राधान्य हो, तो सेह और शशेका मांस, शल्लक (साहिड़) का रक्त, पीपल और घीके साथ देना चाहिये । यदि श्वास वातपित्तानुबन्ध युक्त है, तो शालि चावलोंका भात, त्रिकटु, घी और दूध मिलाकर देना चाहिये । इस दूधको सुवर्चला (हुलहुल) का रस मिलाकर सिद्ध कर लेना चाहिये । एवं श्वासमें कफपित्तानुबन्ध है, तो शालि चावलोंका भात, पीपल और शिरीषके फूलोंका रस या सात्विका रस मिलाकर देवें ।

वक्षःस्थल, दोनों पैरों और दोनों हाथोंकी मध्यमा अंगुलियों के मूल और कण्ठ कूपमें तपायी हुई लोहशलाकासे दाग देनेसे श्वास रोगमें लाभ पहुँच जाता है ।

रात्रिको हो सके तब तक चावल न खायँ । कारण, चावल कब्ज करता है । रात्रिको पथ्य भोजन, हल्का और थोड़ा करना चाहिये ।

श्वास, कास, हिका रोग और हृद्रोगमें हरड़, बिड़नमक और हींगसे सिद्ध किया हुआ पुराना घी हितावह है; अथवा काला नमक, हरड़, और बेलगिरीसे सिद्ध किया हुआ नया घृत उपयोगमें लेना चाहिये; या पाँचों नमक मिले हुए घृतका सेवन करना, यह श्वास और कास रोगीके लिये अति हितकारक है ।

वायुकोषप्रसारण ।

वायुकोषप्रसारण—एम्फिसिमा—Emphysema ।

रोग परिचय—जब फुफुसोंके वायुकोष चौड़े हो जाते हैं; और इनकी दीवारें पतली होकर जर्जरित हो जाती हैं; तब वायुकोष विस्तार या प्रसारण कहलाता है ।

वायुकोष समूह (Lobules) के भीतर रहे हुए संयोजक तन्तुओं (Areolar Tissue) में या फुफुसावरणके निम्न भाग (Subpleural) के तन्तुओंमें वायु संचित होनेसे वे प्रसारित हो जाते हैं । फिर वह वायुकोषप्रसारण कहलाता है ।

चित्र न० १४— फुफ्फुसों के वायुकोष

१—स्वरयन्त्र Larynx.

२—अधिजिह्विका Epiglottis.

३—अवटुकका ऊर्ध्व शृङ्ग Superior Cornu of Thyreoid Cartilage.

४—अवटुक तरुणास्थि Thyreoid Cartilage ।

५—कृकाटक तरुणास्थि Cricoid Cartilage-

६—बृहच्छ्वास नलिका Trachea.

७—वायुकोष

८—दो श्वास नलिकाओंका संयोगस्थान ।

९—महाधमनी Aorta.

१०—फुफ्फुसीया धमनी Pulmonary artery.

११—फुफ्फुसीया शिरा Pulmonary Vein.

१२—ऊर्ध्व फुफ्फुस पिरिड Upper Lobe.

१३—मध्य फुफ्फुस पिरिड Middle Lobe.

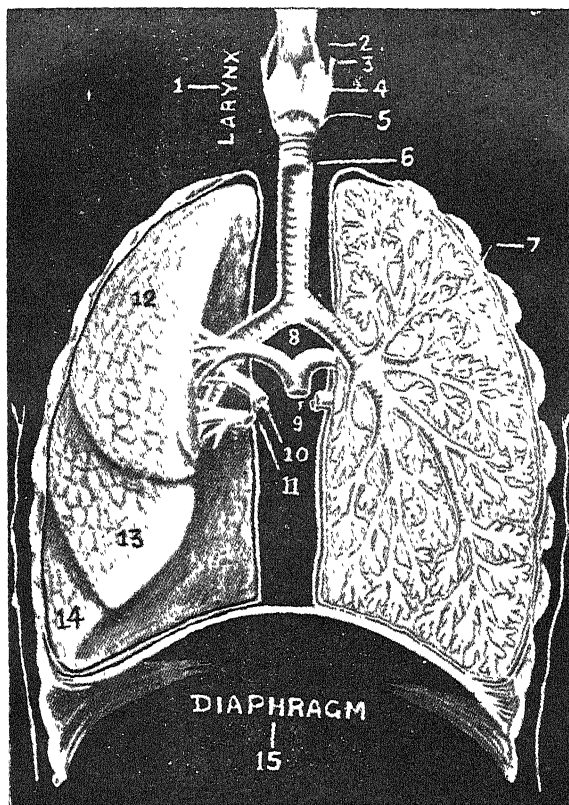
१४—अधः फुफ्फुस पिरिड Lower Lobe.

१५—महा प्राचीरा पेशी Diaphragm.

रोगोत्पादक कारण समभावसे अवस्थित होने पर कितनेक निर्बल व्यक्ति इतर रोगोंकी अपेक्षा इस रोगके अधिक वशवर्ती होते हैं । यह रोग वशावली क्रमसे आगत हो, चाहे स्वसम्पादित हो; जब फुफ्फुसीय विधानके पोषणका अभाव या क्षीणता होती है; तभी इस रोगकी सम्प्राप्ति होती है ।

फुफ्फुसोंके वायुकोष (Air Cells) अर्ध गोलाकार होते हैं, और सब पर स्थितिस्थापक स्नायुसूत्र लगे हुए हैं । इनके भीतर अन्तर्गोल बाजूमें पतली कला लगी है । इनमेसे स्नायुसूत्रके आधारसे वायुकोष बार-बार फैलते हैं; और सिकुड़ते रहते हैं । जब इन स्नायु

श्वासनलिका सह फुफ्फुसोंके वायुकोष



सूत्रोंकी संकोचन शक्ति क्षीण हो जाती है; तब सूक्ष्म रक्तवाहिनियां नष्ट हो जाती हैं; और उसके अनुरूप प्राणवायु शोषणक्रियाका क्षेत्र संकुचित हो जाता है । फिर छातीका प्रसारण, श्वासोच्छ्वास क्रियामें श्रम पहुँचना, हृदयके दक्षिण प्रदेशकी वृद्धि, रक्तमें दूषित वायु रह जाना और इन हेतुओंसे शरीरकी सब इन्द्रियोंका कार्य थोड़े-बहुत अंशमें सक्षम हो जाना आदि हानि होती है ।

एक वायुकोषसंघ (Lobule) में रहे हुए वायुकोष ।



इस रोगमें उभय फुफ्फुस आक्रान्त होते हैं; परन्तु दोनों समभावसे आक्रान्त नहीं होते । रोगीकी मृत्यु होनेपर शवच्छेद करनेसे विदित होता है कि, फुफ्फुसका आकार बढ़ गया है, वह फिर संकुचित नहीं होता । फुफ्फुसकी परीक्षा करनेपर प्रतीत होता है कि, सर्वत्र, विशेषतः अग्रभाग (Apex) में सम्मुख धारा, पीठ और मूल आदि जलपूरित स्फोटों (Bulla) से आक्रान्त हैं । इन जलपूरित प्यालियोंसे सर्वत्र प्रवर्द्धन प्रतीत होता है । ये मुर्गेके अण्डके समान बड़े आकारके हो जाते हैं । वाम फुफ्फुसका जो पतला लम्बा प्रदेश है, वह स्वस्थ-वस्थामें हृदयके ऊपर रहता है; वह उतना बढ़ जाता है कि, उससे

समग्र हृदय प्रदेश ढक जाता है। जिससे हृदयपर मृदु ठेपन करनेपर सुननेमें आनेवाली मृदुध्वनिका लोप हो जाता है। ये सब स्फोट स्वाभाविकी अपेक्षा मन्द वर्ण वाले होते हैं। एव इसके भीतर रही हुई वायु सब सन्निहित विधानमें प्रविष्ट हो जाती है।

फुफ्फुसके ऊपर अंगुलीसे दबाकर सुननेपर स्वाभाविक मर्मरध्वनि (द्रवध्वनि) का ह्रास होता है। वायुकोष प्रसारण (Vesicular Emphysema) होनेपर फुफ्फुस विधान कोमलतर भासता है। जिस तरह रेशमी वस्त्रकी थैली दबानेपर स्पर्श बोध हो, ऐसी फुफ्फुस विधानकी कोमलता भासती है। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करनेपर वायुकोषकी विलक्षण वृद्धि प्रतीत होती है। उसका घेरा (Sept) पतला हो जाता है, और टूट जाता है। सब वायुकोषोंके भीतर जो उपश्लैष्मिक कोष आवृत्त होते हैं, उनका प्रायः पारवर्त्तन नहीं होता। डाक्टरीमें इस प्रकारको पलमनरि एम्फिसिमा (Pulmonary Emphysema) भी कहते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि, इस व्यापक वायुकोषप्रसारणके समान कभी-कभी स्थानिक वायुकोषप्रसारण भी हो जाता है। इस प्रकारके वायुकोषप्रसारणमें ३ विभाग होते हैं। (१) क्षति पूरक, (२) संकोच जनित, (३) वायुकोष वृद्धि सह।

(१) क्षतिपूरक—कम्पेन्सेटरी (Compensatory) यह न्युमोनिया, राजयक्ष्मा आदि रोगोंमें फुफ्फुस घन होनेपर उस भागको सहायता पहुंचानेके लिये दूसरी ओरके फुफ्फुस प्रदेशमें आशुकारी वा चिरकारी वायुकोष प्रसारण होता है।

(२) संकोच जनित—एट्रोफिक (Atrophic)—फुफ्फुसके किसी एक भागका संकोच होनेपर अन्य प्रदेशके वायुकोषोंका प्रसारण होजाता है।

(३) वायुकोष वृद्धिसह—हाइपरट्रोफिक—(Hypertrophic)

इस विभागमें पहले वायुकोषोंकी वृद्धि होती है। फिर इनका प्रसारण होता है।

इन तीन विभागोंमें तृतीय विभाग ही मुख्य है। इस प्रकारके प्रारम्भमें कोषवृद्धि होनेसे उनकी संकोचविकास शक्ति और कैशिकाएँ नष्ट होते हैं। इस हेतुसे प्राणवायुका शोषण करनेकी शक्ति उतने ही अंशमें कम हो जाती है। फिर विविध रोगपरम्पराकी प्राप्ति हो जाती है।

निदान—जब श्वासको बलपूर्वक आकर्षण करना पड़ता है, तब वायुकोषोंके भीतर रहे हुए वायुका अन्तर्भोराधिक्य (दबाव—Increased intralveolar pressure) शक्तिसे अधिक हो जाता है; तब इस रोगकी उत्पत्ति होती है। जब श्वास प्रणालिकाओंमें अवरोध, कण्ठावरोध या नासावरोध आदि कारणोंसे श्वासोच्छ्वास क्रिया कष्टपूर्वक होती हो; भीतर आई हुई वायु पूर्णशरीरमें बाहर नहीं निकल सकती; और उतनेमें ही नयी वायुको खेंचनी पड़ती है; तब वायु संग्रह वायुकोषोंमें बढ़ता जाता है। फिर वायुकोष विस्तृत होने लगते हैं। इनमें भी फुफ्फुसोंके सीमान्त प्रदेशमें आधार न होनेसे उस स्थानके वायुकोषोंपर अधिक आघात पहुँचता है।

सर्वदा मुँहसे धूँकनी द्वारा फूँक मारने वाले सुनार, श्वासको रोककर बाजा बजाने वाले, गवैये, प्राणायाम करने वाले, श्वास रोकने वाले मजदूर, दौड़ने वाले सिपाही, तथा जीर्ण कफ कास, जीर्ण कालीखांसी, कण्ठरोहिणी, फुफ्फुसखण्डप्रदाह आदिके रोगियोंको वायुकोषोंमें वायुका दबाव जितना बढ़ता है, उतने ही अंशमें वायु कोषोंका विस्तार हो जाता है।

कण्ठरोहिणी आदि संक्रामक रोगोंके हेतुसे इस विकारकी प्राप्ति होनेपर संक्रामक रोग हो जाता है। इनके अतिरिक्त आघात आदिसे वक्षःकी दीवारका भेद होकर क्षत होनेपर नैसर्गिक बाह्य वायुके साथ फुफ्फुसका संयोग होता है। इस हेतुसे भी इस रोगकी प्राप्ति हो जाती है।

अनेक मनुष्योंमें जन्मसे ही वायुकोष निर्बल होते हैं । जिनसे थोड़ा-सा आघात होनेपर तुरन्त वायुकोषका प्रसारण हो जाता है । वृद्धावस्थामे बहुधा सारी देहकी शक्ति कम हो जाती है । जिनसे स्वाभाविक ही वायुकोषोका प्रसारण हो जाता है ।

लक्षण—इस रोगग्रस्त व्यक्तिकी छाती विशेष आकारकी बन जाती है । रोगी बालक होनेपर आकृति कपोतवन्धके समान और प्रौढ़ व्यक्ति होनेपर पीपेके समान बन जाती है । रोगी आगेकी ओर झुककर चलता है । उरःफलकास्थि और सब पशुकाये ऊँची होती हैं, और पशुका बीचमेसे प्रसारित और मुड़ी हुई बन जाती है । वन्धके सम्मुख पश्चात् व्यासकी अति वृद्धि होती है । यह वृद्धि इतनी अधिक होती है, कि दोनों पार्श्वोंके व्यासकी अपेक्षा यह अधिकतर होता है । उरःफलकास्थिका खात गम्भीर तथा अक्षकास्थि (हमली-Clavicle) की विलक्षण वृद्धि होती है । वक्ष प्रदेश उन्नत हो जानेसे ग्रीवा देश क्षुद्र भासता है । मेरुदण्ड मुड़ जाता है । पीठ गोल बन जाती है । परिणाममे छाती गोलाकार बन जाती है; तथा फुफ्फुस सीमान्त प्रदेशमें बाहर निकल जाता है ।

गम्भीर दीर्घ श्वास लेनेपर वक्षः सामान्य प्रसारित होता है । किसी-किसीके उदरप्रदेशका ऊर्ध्वाश श्वास ग्रहणसे प्रसारित नहीं होता, विपरीत सकुचित होता है । एव किसी-किसीको श्वास ग्रहण होनेपर सब पशुकाओंके सम तलमें उदरप्रदेशपर एक अनुप्रस्थ (आड़ा) खड्डा उत्पन्न होता है । ग्रीवाकी सब शिराएँ फूली हुई देखनेमें आती हैं । वे भी धमनीके समान सान्दनशील भासती हैं । मुखमण्डल मलिन, शिराएँ रक्तसंग्रहके हेतुसे नीलाभ, नासारन्ध्र प्रसारित और कण्ठस्वर क्षीण होता है ।

कफ कास (किसीको खासी कन, किसी को ज्यादा) होती है; श्वासका वेग बढ़ता है (शनैः शनैः तमक श्वासके समान होजाता है); तथा श्वासोच्छ्वास क्रिया सम्यक् न होनेसे रक्तमें दूषित वायु रह जाती

है । इस हेतुसे शिराओंका वर्ण अधिक नीला हो जाता है । देहको पोषण कम मिलनेसे शारीरिक कृशता होती जाती है । हृदयके दक्षिण अलिन्द-निलय पर दबाव बढ़ जानेसे दक्षिण हृदयका प्रसारण हो जाता है । फिर शनैः शनैः समस्त हृदय प्रसारित हो जाता है । पश्चात् हृदयके कपाटभी विकृत हो जाते हैं । रक्त संचालन क्रिया योग्य नहीं होती । सामान्य हृदयवृद्धि होनेपर भी हृदय कुफ़फ़ुसके नीचे रहनेसे केवल दर्शन परीक्षासे निर्णय नहीं होता । इस हृदयविकृतिके हेतुसे सर्वाङ्ग शोथकी उत्पत्ति होती है । अन्त्र और आमाशयमें भी विकृति हो जाती है । क्वचित् ज्वरभी आने लगता है ।

तमक श्वास और वायुकोषविस्तार हो जाता है । यदि वायुकोष-विस्तार इतर हेतुसे हुआ हो, तो इसमें भी तमक श्वास हो जाता है । परस्पर दोनों एक दूसरेको उत्पन्न करनेवाले और सहायक हैं ।

इस रोगकी परिणतावस्था प्राप्त होनेके पहले कोई विशेष लक्षण प्रकाशित नहीं होते । रोगभीड़ित बालक भी सीढ़ीपर चढ़ने मात्रसे हाँफने लगता है ; समान आयुवालोंके साथ दौड़ने या खेलनेमें कष्ट मानता है ; और निस्तेज-सा प्रतीत होता है ।

वक्षःकी स्पर्शपरीक्षा करने पर कण्ठस्वरोत्क्रम्यन (Vocal Fremitus) क्षीणतर होता है । किन्तु इसका पूर्णांशमें लोप नहीं होता । हृदयके अग्रभाग पर ठेपनध्वनि अनुभूत नहीं होती । उरःफल-कास्थिके निम्न प्रदेशमें एक धक्का लगनेके समान अनुभव होता है ; तथा कौड़ीप्रदेशमें नाड़ीस्पन्दनकी स्पष्ट प्रतीति होती है । पीड़ा अति बढ़नेपर वक्षःगह्वर प्रसारित होता है । एवं ठेपन करनेपर विदित होता है कि, यकृतस्थान भ्रष्ट हो गया है ; और हृदयकी स्वाभाविक आवाजका लोप हो गया है ।

रोगपरीक्षाके लिये रोगीको आगेकी ओर झुका कर बैठाना चाहिये । ध्वनि बाह्यक यन्त्रसे श्रवण करने पर श्वास लेनेकी क्रिया सत्वर और कम परिमाणमें, तथा श्वास बाहर निकालनेकी क्रिया दीर्घ स्थायी होती

है । अधिक कफ हो तो कूजन ध्वनि (Rhonchus) स्पष्ट सुननेमें आती है ।

यदि फुफ्फुस खण्डके आन्तरिक विधान (Interlobular) के संयोजक तन्तुओंका प्रसरण (Interstitial Emphysema) हो जाता है, तो क्षुद्र-क्षुद्र पृथक्-पृथक् गोलाकार कोषोंमें वायु (Gas) सगृहीत होती है । इसमें पशुका बाहर मुड़ती हैं, अथवा स्वरयन्त्रका कृत्रिम फिल्लीमय प्रदाह (Croup) या कण्ठरोहिणीसे स्वरयन्त्रका अवरोध होकर वे भीतरकी ओर मुड़ती हैं । वायु वायुकोषोंको छिन्न कर संयोजक तन्तुमें प्रवेश करती है । यह वायु क्रमशः फुफ्फुस मूल, ग्रीवादेश या फुफ्फुसावरणके निम्नभाग, इन सबमें प्रविष्ट होती है ।

रोगविनिर्णय—श्वासकृच्छ्रता, उरःफलकास्थिके पश्चात् कष्टजनक दबाव, कास तथा अस्वच्छ पीला कफ निकलना आदि लक्षण इस रोगका सत्त्व निर्णय करा देते हैं । एव छातीकी विशेष आकृति, फुफ्फुस नीचेकी ओर बढ़ जाना, फुफ्फुसोंमें वायु अधिक होने पर ठेपनमें नगाड़े सदृश आवाज आना, पहले जीर्णकास, फिर तमक श्वास हो जाना आदि परसे रोग सहज विदित हो जाता है ।

उपद्रव—वायुकोषविस्तार होने पर तमक श्वास हो जाता है । इसके अतिरिक्त न्युमोनिया, इन्फ्ल्यूएन्जा और राजयक्ष्मा आदि रोग हो जानेकी भीति भी रहती है ।

साध्यासाध्यता—रोगपीडित व्यक्ति कार्य करनेमें बिल्कुल शक्ति वहीन बन जाता है । यह रोग सहसा जीवनका नाश नहीं करता; एवं घातक नहीं बनता, तथापि रोग जीर्ण होने पर श्वासनलिकाप्रदाह (कास) या तमक श्वास होने पर मरणके भयका हेतु हो जाता है ।

वायुकोषप्रसारण चिकित्सा ।

यह रोग बहुधा जीर्ण कासरोगके सहवर्त्ती होता है । अतः जीर्णकास

रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये । यदि तमक श्वासके साथ इसका अधिक सम्बन्ध है; तो तमक श्वासकी चिकित्सा हितावह मानी गई है ।

रोगीको छाती पर ऊनी वस्त्र पहिनना चाहिये । सर्वदा उदरशुद्धि का लक्ष्य रखना चाहिये । एवं पौष्टिक भोजन लेना चाहिये; तथा रोग की अधिकताको दबानेके लिये उपचार करना चाहिये ।

समीरपन्नगका सेवन दीर्घकाल तक अति कम मात्रामें करने पर उत्कार होता है । डाक्टरीमें सोमलमिश्रित चिरुटका धूम्रगान कराते हैं । यदि पचनक्रिया अच्छी हो तो अभ्रक या लोह प्रधान ओषधि शहद-पीपलके साथ हितावह होती है ।

वायुकोषविस्तारजनित श्वास रोग जीर्ण होजाने पर दूर नहीं होता । चिकित्सा और पथ्य, दोनोंकी सहायता हो, तो रोगको दबाया जा सकता है ।

श्वास रोगीका हृदय निर्बल हो, तो हृदय पौष्टिक ओषधिभी साथ में देते रहना चाहिये । यदि हृदयकी निर्बलता कायम रहेगी, तो पुनः पुनः दौरा होता रहेगा; और श्वास रोग दब नहीं सकेगा; बल्कि अधिक चासदायक होता जायगा ।

रसतन्त्रसारमें लिखी हुई ओषधियोंमेंसे अभ्रकभस्म और लोह-भस्म मिश्रण (पीपल शहदके साथ), समीरपन्नग (२० २६७), शृङ्गभस्म (२० २३६), श्वासरोगान्तक वटी (प्रथम विधि २० ४६८), मल्लादि वटी (प्रथम विधि २० ४६६), श्वासकुठार रस (२० ४६६), कफकुठार रस (२० ४६३), लवंगादि तालसिन्दूर (२० ४६५), लक्ष्मीविलास रस (२० ३७४), चंद्रामृत रस (२० ४६३), पूर्णचन्द्रोदय रस (२० २७४), मल्लसिन्दूर (२० २८४), कनकासव (२० ७५३) ब्राह्मी वटी (२० ३८१) और लवंगादि वटी (२० ६३४) आदि उपकारक हैं ।

यदि कफ को बाहर निकालना है, तब कनकासव और कफ कुठार हितावह हैं । शक्तिवृद्धि अर्थ समीरपन्नग, श्वासरोगान्तक वटी,

मल्लादिवटी, और लवगादि तालसिदूर हितावह है, किन्तु जिनको पित्त प्रकोप या वृक्क स्थानमे विकृति हो, उनको मल्लप्रधान ओषधि नहीं दी जाती । उनको लक्ष्मीविलास या अभ्रक और लोह मिश्रणका सेवन कराना चाहिये । कफ संशोधन और दूषित कफको रोकनेके लिये शृंग-भस्म उत्तम है ।

तमक-श्वासका दौरा हो, तब श्वासकुठार रस देना चाहिये । एवं इतर समयमे पूर्णचन्द्रोदय, समीरपन्नग या मल्लसिदूर देना चाहिये । पित्त प्रकोप भी हो, तो प्रवालपिष्टी को अभ्रक और लोहके साथ मिलाकर देनी चाहिये । जीर्ण विकारमे चन्द्रामृत रस या लक्ष्मी-विलास रस का शान्तिपूर्वक दीर्घकाल तक सेवन कराना चाहिये । सामान्य उग्र ओषधि भी जिनसे सहन न होती हो, उनको बाह्यीवटी या लवंगादिवटी का सेवन कराना चाहिये । ये दोनों सौम्य हैं ।

विशेष ओषधि कास श्वासरोगमे लिखे अनुसार करे । पथ्यापथ्य भी कास और श्वासके अनुरूप पालन करे ।

फुफुसमें रक्ताधिक्य ।

फुफुसमें रक्ताधिक्य—कॉन्जेशन ऑफ़ धी लङ्ग्स—Congestion of the Lungs

रोग परिचय—फुफुसके सब वायुकोषोंकी श्लैष्मिककलासे सम्बन्ध वाली कैशिकाओंकी वृद्धि अथवा उनमे अनुचित रक्तकी वृद्धि होनेको फुफुसमे रक्ताधिक्य कहते हैं । इस रोगके दो प्रकार हैं । उग्र (Active) अनुग्र या अवश (Passive) । इनमेसे प्रथम प्रकार होने पर रक्तवाहिनियोंके रक्तसंचालन मे वृद्धि हो जाती है, और द्वितीय प्रकारमे कैशिकाओंमेंसे रक्त प्रवाह निर्गत होनेमे व्याघात पहुँचता है ।

निदान—हृदयकी क्रियाधिक्य, श्रमाधिक्य, अधिक सुरापान, मानसिक उत्तेजना, अति शीतल या उष्ण वायुका श्वास ग्रहण आदि कारणोंसे यह रोग उपस्थित होता है ।

इनमेंसे हृदयकी क्रियाधिक्य और श्वास द्वारा अति उष्ण वायु या उग्रता उत्पादक पदार्थ गृहीत होने पर फुफ्फुसोंमें उग्र रक्ताधिक्यकी उत्पत्ति होती है । इनके अतिरिक्त फुफ्फुसकी व्याधियोंसे रक्तसंचालन में स्थानिक विलक्षणता होकर रक्ताधिक्य हो जाता है ।

रक्त प्रत्यावर्तनका अवरोध या प्रतिबन्ध, हृदयका प्रसारण, हृत्कषाट की विकृति विषमज्वर जन्य रक्तका अधोभागमें संग्रह और वृद्धप्रदाह आदि कारणोंसे अवश रक्ताधिक्य होता है ।

सब स्थानोंमें फुफ्फुसका जो अंश आक्रान्त नहीं होता, उस अंशकी कैशिकाएँ सब प्रसारित हो जाती हैं । न्यूमोनिया, श्वासनलिकाप्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह और क्षयकीटाणु प्रदाह आदि फुफ्फुस रोगोंमें इस प्रकारका रक्ताधिक्य उपस्थित होता है ।

अवश रक्ताधिक्य में दो विभाग हैं । १ भौतिक (Mechanical) और अधः संगृहीत (Hypostatic) ।

भौतिक अवश रक्ताधिक्य—इस विकारमें हृदयपिण्डके भीतर जिस स्थान पर रक्तके प्रत्यागमनमें व्याघात होता है, उस स्थान पर रक्ताधिक्य उत्पादित होता है । हृदयकी वाम भागकी विविध वेदनाओंमें प्रायः यह विकार प्रतीत होता है । कभी कभी अर्बुद उपस्थित होने पर उसके दबावसे फुफ्फुसमें रक्ताधिक्य हो जाता है; किन्तु जब तक हृदयकी वेदनासे रक्त संचालनकी विलक्षणतासे उत्पन्न क्षतिकी पूर्ति हो जाती है, तब तक फुफ्फुससे भौतिक रक्ताधिक्यके कोईभी लक्षण प्रकाशित नहीं होते; किन्तु हृदय क्रिया क्षीण होने पर रक्तसंग्रहके सब लक्षण स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं । एवं श्वासकृच्छ्रता, कास और कफनिःसरण आदि उपस्थित होते हैं ।

अधः संगृहीत अवश रक्ताधिक्य—विविध ज्वरमें और अन्य रोगोंमें जीवनीय शक्तिकी क्षीणता होनेपर फुफ्फुसोंके तलदेशमें प्रबल रक्ताधिक्य हो जाता है । यह अवस्था निम्नकारणोंसे उत्पन्न होजाती है । रोगी दीर्घ काल तक चित लेटे रहनेसे गुरुत्वाकर्षण (Gravi-

tation) के नियमानुसार भिन्नस्थानमें रक्त संगृहीत हो जाता है; किन्तु यह हृदयकी क्षीणता होनेपर ही होता है। स्वस्थ व्यक्तिको बाधा नहीं पहुँचती। इस हेतुसे विदित होता है कि गुरुत्वाकर्षणका नियम इस रोगमें कारण रूप नहीं बनता।

संप्राप्ति—फुफ्फुसमें रक्ताधिक्य होनेपर उसका वर्ण लोहित-कृष्ण हो जाता है। इसकी रक्तप्रणालियाँ सब अत्यधिक परिमाणमें प्रसारित हो जाती हैं। एव फुफ्फुसविधान स्फीत और कठिन होता है। इसको काटने पर अधिक परिमाणमें रक्तस्राव होता है। श्वासनलिकाओंके भीतर रक्तमिश्रित भागयुक्त तरल पदार्थ प्रवेश करता है। एव कोषों की दीवार इतनी अधिक प्रसारित हो जाती हैं कि, घर्नभूत फुफ्फुस प्लीहाविधानके सदृश दृढ़ प्रतीत होता है।

जब हृदयका वाम प्रदेश विकृत हो जाता है, तब वह फुफ्फुसोंमें से शुद्ध रक्तको खींचकर शरीरमें यथोचित नहीं पहुँचा सकता। जिससे फुफ्फुसोंमें रक्तसंचय बढ़ जाता है। क्वचित् इसी रक्तसंचयके हेतुसे रक्तवाहनियाँ फूटती हैं, और फूटनेपर ऊर्ध्व रक्तस्राव (ऊर्ध्व रक्तपित्त Haemoptysis) हो जाता है।

वायुके स्थानोंमें रक्त भर जानेसे प्राण वायुको शोषण करनेकी क्रिया कम होती है। इस हेतुसे श्वास रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। इस रक्ताधिक्यसे जो श्वास रोग होता है, उसमें अधिक छीवन या क्वचित् रक्तसह छीवन भी होता है।

लक्षण—रक्ताधिक्य उग्र होने पर विविध वेदना और लक्षणोंकी सत्वर वृद्धि होती है। श्वासकृच्छ्रता, लाल मुखमण्डल, लाल लाल नेत्र, बलवती और पूर्ण नाड़ी, कूदती हुई महामातृका धमनी (Carotid Artery) शुष्क स्वल्पस्थायी कास और कासमें भागयुक्त कुछ रक्तमिश्रित कफ निकलना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

अवश प्रकारमें लक्षण शनैःशनैः प्रकाशित होते हैं। श्वास-

ऊँछता, सर्वाङ्गमें नीलता, अविराम शुष्क कास, कफमें किञ्चित् रक्त जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

ठेपन करने पर प्रतिध्वनिका ह्रास एवं श्वासोच्छ्वासमें नालीय नादका ह्रास होता है; तथा मन्द द्रवध्वनि साथमें उपस्थित होती है ।

सामान्यतः उग्र रक्ताधिक्यका उपशमन ३ से ५ दिन के भीतर हो जाता है । फुफुसका यह प्रकृतिभाव रक्तस्राव या क्वचित् फुफुसप्रदाह उपस्थित होकर होता है । क्वचित् रोग अति प्रबल होने पर रोगीकी अकस्मात् मृत्यु हो जाती है । अवश रक्तवेग रोगकी क्रमशः वृद्धि होती है; और कारण भेद अनुसार स्थायित्वके समयमें भी भेद हो जाता है ।

रोगविनिर्णय—इस रोगका फुफुसखण्डप्रदाहकी प्रथमावस्थासे प्रभेद करना कठिन हो जाता है । द्रुतगामी नाड़ी और शारीरिक उत्ताप वृद्धि होने पर न्युमोनिया पृथक् हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—फुफुसके उग्र रक्ताधिक्य विकारमें रोगी कुछ घण्टोंके भीतर प्राणमुक्त हो जाता है । यदि सत्वर चिकित्सा प्रारम्भ हो जाय, तो रोग साध्य हो जाता है । अनुग्र रक्ताधिक्यका परिणाम रोगोत्पादक कारण पर निर्भर करता है ।

रक्ताधिक्यचिकित्सा ।

जिस कारणसे रक्ताधिक्य विकार उत्पन्न हुआ है; वह अवस्था सहवर्ती होने पर ही तुरन्त इसकी चिकित्सा करनी चाहिए । उग्र प्रकारमें रोगीको पूर्ण विश्राम देना चाहिये । यदि हृदयविकृतिसे इस रोगकी उत्पत्ति हुई है, तो हृदोग निवारणार्थ चिकित्सा करनी चाहिए ।

छाती पर प्लास्टर या राई की पुलिट्स, कपिङ्गग्लास या रक्तमोक्षण कराना चाहिए । इसके अतिरिक्त दोनों शाखाओंमें उत्ताप प्रयोग (सेक) तथा लावणिक विरेचन, अथवा ज्वरकेसरी, इच्छामेदी या आरोग्य-चर्विनी देवें । लघु पथ्य भोजन कराना चाहिए । ज्वर अधिक होने पर प्रस्वेद लाने वाली लावणिक ओषधि लाभ पहुँचाती है ।

अनुग्र रक्ताधिक्यके रोगीके सरक्षणार्थ पौष्टिक पथ्य, और शराब लेने वालोको शराब देवे । वस्तूरी, सुदर्शन चूर्ण, आरोग्यवर्धिनी, प्रभाकर वटी, त्रिनेत्र रस आदि उपकारक हैं । इनमे से ज्वर होनेपर आरोग्यवर्धिनी या सुदर्शन चूर्ण देना चाहिए । हृदयको सबल बनानेके लिये प्रभाकर वटी और त्रिनेत्र रस अति उपकारक है ।

आवश्यकता हो, तो कगिंग्लास छाती पर लगाना चाहिये । एव प्रयोजन अनुसार कुटकी प्रधान विरेचन देना चाहिए ।

पथ्यापथ्य—हृदय रोगके अनुसार पालन करना चाहिए ।

फुफ्फुस संकोच ।

फुफ्फुससंकोच-पल्मनरि कोलेप्स-Pulmonary Collapse ।

रोगविनिर्णय—फुफ्फुस विधानके कितनेक अशमें वायुका अभाव और वायुकोषोंके अवरोधजनित फुफ्फुसकी आशुकारी और चिरकारी वेदना को फुफ्फुससंकोच कहते हैं ।

संकोचग्रस्त फुफ्फुसका रंग बैजनी या काला-सा हो जाता है । फुफ्फुस को बाहर निकाल जलमें डाल दें, तो धीरे धीरे डूब जाता है । काटने पर केशमर्दनवत् आवाज नहीं आती । एव वायुके बुदबुदे भी नहीं निकलते । कटे हुए भाग को देखने पर प्लीहाके समान भासता है । अणुवीक्षण यन्त्रसे देखने पर सब वायुकोष अवरुद्ध और कैशिकाएं सब रक्ताधिक्य ग्रस्त भासती हैं ।

फुफ्फुससंकोच होनेमें निम्न हेतु हैं ।

१—फुफ्फुसावरणमें रस सगृहीत होना अथवा वायु सगृहीत होकर दबाव (Pressure) आना । कभी छातीपर बाहरसे चोट लगने पर फुफ्फुसावरण फटकरके वायु भर जाती है, और फिर दबाव पड़ता है । एव अर्बुद, धमनीप्रसारण आदि हेतुओंसे भी फुफ्फुस निपीड़ित होता है ।

२—श्वासनलिकाप्रदाह, काली खासी, तथा पसलीरोग आदि और फुफ्फुसीय व्याधियोंमें श्लेष्म द्वारा श्वासप्रणालिकाओंका अवरोध होने

पर फुफ्फुसमें बाहर की वायु नहीं जा सकती । वायुकोषोंमें रही हुई वायु का शोषण हो जाने पर स्थान स्थान पर संकोच हो जाता है ।

(३) छातीके बाहर की वातवाहिनियोंका घात (Paralysed) होने पर श्वासक्रिया निरुद्ध हो जाती है । फिर वायुकोषोंका आकुंचन-प्रसारण बन्द हो जाता है ; पश्चात् वे अग्ने स्थितिस्थापक गुणके हेतुसे संकुचित हो जाते हैं । परिणाममें फुफ्फुस घन हो जाता है ।

इन कारणोंसे फुफ्फुसनिमीलन हो जाता है । इनके अतिरिक्त बालक का जन्म होने पर श्वासग्रहण करने की शक्ति उसके अंगमें न होने पर भी फुफ्फुस निमिलित हो जाता है । इस प्रकारमें तो मृत्यु हो ही जाती है ।

लक्षण—संकोचावस्थाके अनुसार न्यूनाधिक परिमाणमें कास और श्वासकृच्छ्रता उपस्थित होते हैं । यदि विस्तृत स्थान रोगाक्रान्त है, तो अस्थिरता, अति क्षीणता और मुखमण्डलकी मलिनता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । विस्तृत संकोच होनेपर शेष रहे हुए फुफ्फुस को अधिक काम करना पड़ता है । जिससे श्वास, तेज नाड़ी, गात्रनोलिमा आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । रोग मर्यादित स्थानमें है, तो मूल रोगके लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

आक्रान्त स्थान पर ठेपन करने पर जड़ ध्वनि उत्पन्न होती है । निःश्वास क्षीण और दीर्घस्थायी होता है । कण्ठस्वर की प्रतिध्वनिका हास प्रतीत होता है । कोई आगन्तुक ध्वनि श्रुतिगोचर नहीं होती । कभी कभी निःश्वास दीर्घस्थायी नहीं होता । समीपके अंशमें श्वासोच्छ्वासीय ध्वनि कर्कश होती है ; श्वासनलिका प्रदाहके लक्षणयुक्त हो जाती है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग अधिक भागमें होनेपर कष्टसाध्य या असाध्य होता है । कभी-कभी रोगी कितनेक अंशोंमें रोगमुक्त हो जाता है । यदि रोग पूर्णांशमें दूर नहीं हुआ, तो फुफ्फुसप्रसारण हो जाता है । अथवा आन्तरिक विकृतिके अनुसार रक्तविकारजन्य स्ट्रुमास (Strumous), राजयक्ष्मा, या फुफ्फुसखण्डप्रदाह व्याधि उत्पन्न हो जाती है ।

चिकित्सा—वक्षः पर नीलगिरी तैल, लौगका तैल, दालचीनीका तैल या कोई अन्य उत्तेजक मर्दन प्रत्युग्रता साधन रूपसे करना चाहिए । यदि श्लेष्मा सग्रहीत है, और रोगी दुर्बल नहीं है, तो बच, राई, मैमफल या अन्य वमनकारक ओषधि देनी चाहिए । बच स्वल्प मात्रामे देनेसे कफ निःसारक कार्य करके अच्छा उपकार दर्शाती है ।

यदि विस्तृत स्थानमे सकोच हो गया हो, तो तेज शराब और मृतसजीवनी सुरा आदि उत्तेजक ओषधि देनी चाहिए । एव भोजन भी पौष्टिक तथा उत्तेजक देना चाहिए । रोगका कुछ अंशमें उपशमन होनेपर फुफ्फुसप्रसारणार्थ दीर्घश्वासोद्धासक्रिया, सूर्य-नमस्कार, घूमना आदि क्रिया करनेसे सत्वर लाभ पहुँचता है ।

फुफ्फुस शोथ ।

फुफ्फुसशोथ—इडिमा आफ् घी लङ्गज़—Oedema of the Lungs ।

रोग विवेचन—फुफ्फुसीय विधान, वायुकोष और श्वासप्रणा-दिकाके स्थानोमे रक्तसत्त्वजनयुक्त व्याधिको फुफ्फुसशोथ कहते हैं ।

इस रोगमें फुफ्फुसविधान स्फीत होता है । शवच्छेद करनेपर चक्षुगहरके भीतर आक्रान्त फुफ्फुसविधान संकुचित नहीं होता, उसकी स्थितिस्थापकता नष्ट हो जाती है । दबानेपर खड्डा-सा पड़ता है । यदि फुफ्फुसमे रक्ताधिक्य होनेके पश्चात् शोथ प्रकाशित हो, तो फुफ्फुसका वर्ण रक्त हो जाता है ; एव सार्वज्जिक शोथ लक्षण रूपसे प्रकाशित होता है, तो फुफ्फुस मैले रंगका हो जाता है । शोथग्रस्त अंश काटने-पर कभी भागयुक्त रक्तमिश्रित रस और कभी केवल रस निर्गत होता है ।

निदान—रक्तविकार, चिरकारी वृक्कप्रदाह, पाण्डुरोग, सक्रामक-ज्वर, श्रमाधिक्य, अत्यधिक सुरापान, अत्यधिक मानसिक उन्नेजना, शीतल या उष्ण वायुका श्वासग्रहण, हृदयपीडा, तथा जो अबश

रक्ताधिक्यके हेतु हैं; उन सब कारणोंसे इस रोगकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

लक्षण—वक्षः प्रदेशपर अतिशय भारीपनका भास होना, अति तेज श्वासोच्छ्वास, हृदयकी क्रियामें तेजी और अनियमितता, मस्तिष्कमें भारीपन, शिरदर्द, द्रुतनाड़ी, अविराम क्षणस्थायी कास, कठिन भागदार रक्तमिश्रित श्लैष्मिक कफ और मुँहमें बार-बार कफ आना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । मुख मण्डल और चक्षु लोहित हो जाते हैं । इनके अतिरिक्त मूल रोगके लक्षण भी सश्वर्त्ती होते ही हैं ।

यदि वायुकोषोंमें अत्यधिक परिमाणमें रसोत्सृजन हो; तो फुफ्फुसमें वायुके आवागमन होनेमें प्रतिबन्ध होता है । जिससे रक्त संशोधनका अभाव होनेसे थोड़े ही समयमें गात्रनीलिमा (Cyanosis) हो जाती है । गात्र शीतल, क्षीण नाड़ी, श्वासोच्छ्वास ऊपर-ऊपर तेजीसे चलना, अवरुद्ध कास, बेचैनी और निद्रा नाश होकर फिर अचेतनावस्था (Coma) की प्राप्ति हो जाती है ।

ठेपन करने पर ध्वनि बिल्कुल विपरीत हो जाती है । स्वाभाविक प्रतिध्वनि और सौषिरध्वनि मिश्रित (Vesiculo-tympanitic resonance) सुननेमें आती है । ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर आगन्तुक बुद्बुद्ध्वनि और मंद द्रवध्वनि श्रुत होती है ।

रोगविनिर्णय—इस रोगका फुफ्फुसखण्डप्रदाहकी प्रथमावस्थाके साथ भ्रम हो सकता है; किन्तु उभय रोगोंके क्रमकी ओर लक्ष्य देने पर रोग निश्चय हो जाता है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग बहुधा घातक बन जाता है ।

चिकित्सा—रोग आशुकारी और प्रबल होने पर तत्काल रक्त-मोक्षण कराना चाहिये । या वक्षःके ऊपर प्लास्टर लगाना चाहिये । जब तक हृदयक्रियाका हास न हो, तब तक वच्छिनाग प्रधान ओषधि— (मलावरोध हो तो ज्वरकेसरी बटी, कञ्ज न हो तो सूतराज रस)

देनी चाहिये । विरेचन या मूत्रविरेचन देनेसे पैरोंको राई मिश्रित उष्ण जलमें रखनेसे रक्ताधिक्य और शोथ कम हो जाता है ।

सर्पगन्धादि गुटिका (२० ६६६) देनेसे सत्वर रक्तदबाव कम हो जाता है ; अथवा लहसुन २ तोले की चटनी बनाकर खिला देनेसे रक्त दबावका शमन हो जाता है ।

चिरकारी रोग होने पर पुनर्नवामण्डूर और चन्द्रप्रभा बटी आदि हितकारक हैं । वृक्कप्रदाहजनित रोग होने पर वृक्कप्रदाह चिकित्सा एवं सुरापान जनित रोग होने पर मदात्यय चिकित्सा करनी चाहिये । श्रमा-धिक्य जनित रोग होने पर शीतवीर्य हृदयपौष्टिक ओषधि देने चाहिये । अनेकोंको ताप्यादि लोहसे लाभ हुआ है ।

पथ्यापथ्य—मूल रोगके अनुसार पालन करना चाहिये ।

फुफ्फुसविधानान्तर्गत चिरकारी प्रदाह ।

फुफ्फुसविधानान्तर्गत चिरकारी प्रदाह—क्रोनिक इन्टरस्टिशियल न्युमोनिया-सिरोसिस आफ् धी लङ्ग—Chronic Interstitial Pneumonia—Cirrhosis of the Lung ।

रोगपरिचय—फुफ्फुसके तन्तुओंकी दृढ़ता और फुफ्फुस विधा-कारी तन्तु (Stromas) की वृद्धि सयुक्त चिरकारी फुफ्फुसप्रदाहको चिरकारी फुफ्फुस विधानान्तर्गत प्रदाह कहते हैं ।

इस विकारमें सौत्रिक तन्तु निर्माण होनेसे श्वास आदि विविध विकार उत्पन्न हो जाते हैं । यह व्याधि वशानुगत आती है; एव आकस्मिक कारणोंसे भी उत्पन्न हो जाती है ।

निदान—आशुकारी और चिरकारी फुफ्फुसप्रदाह अथवा फुफ्फुस-वरण प्रदाहमेंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है । चिरकारी श्वासप्रणालिकाप्रदाह, चिरकारी फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, चिरकारी फुफ्फुसावरणप्रदाह, श्वास नलिका सकोच और उपदश रोगके अनुगामी रूपसे यह विकार उपस्थित होता है ।

यह रोग फुफुसकी उम्रताके हेतुसे सामान्यतः शराबी मनुष्योंको हो जाता है । एवं धूल आदिका फुफुसमें प्रवेश होने पर तज्जनित उम्रता से भी हो जाता है ।

सम्प्राप्ति—फुफुसविधानमें सौत्रिकधातु (Fibro-nucleated) का प्रसार होनेसे वायुकोष, सूक्ष्म प्रणालिकाएँ और भीतरकी वातवाहिनियां नष्ट हो जाते हैं ।

अन्तर्भारवृद्धिसे श्वासनलिकामें विबर (Cavities) होकर श्वासनलिकाका प्रसारण होता है । यह सौत्रिक धातु आकुंचनकारी होनेसे फुफुस, श्वासनलिकाएँ तथा उनमें रही हुई रक्तवाहिनियाँ सब दब कर नष्ट हो जाते हैं । फिर फुफुस स्वयं भी आकुंचित होता है; और उसमें रही हुई वायु निकल जाती है । इस फुफुसकी निष्क्रियताके हेतु से दूसरी ओरके फुफुसका प्रसारण होता है । विकृत फुफुसकी प्रसरणशीलता नष्ट होनेसे उस पर रहा हुआ बद्धःपञ्जरका भागभी दबकर चपटा हो जाता है ।

शवच्छेद करके फुफुसके आक्रान्त अंशकी परीक्षा करने पर सौत्रिक पदार्थ प्रतीत होते हैं । इस हेतुसे फुफुस कठिन और दृढ़ भासता है । यह विकार वायुकोषोंकी दीवारसे प्रारम्भ होकर फिर फुफुस खण्डके भीतर संयोजक तन्तुओंमें फैल जाता है ।

फुफुसके स्वाभाविक वर्णकणों (Pigments) की वृद्धि होती है । इस हेतुसे दृढ़ अंश लाल-भूरा-सा हो जाता है । परीक्षा करने पर विदित होता है कि सौत्रिक धातुप्रसार सम्पूर्ण फुफुस पर हो गया है । फिर भी वायुकोषोंके भीतर कोषाणु (Cells) और जीव केन्द्र (Nuclei) प्रतीत होते हैं । श्वासनलिका प्रसारित होती है, उसमें प्रादाहिक क्रिया उत्पन्न हो गई है । फुफुसकी दृढ़ताके हेतुसे फुफुसके तन्तु नष्ट हो गये हैं । एवं फुफुसोंमें गह्वर हो गये हैं ।

लक्षण—यह रोग विशेषतः एक पार्श्वीय होता है । एक ही फुफुसको दोनोंका कार्य करना पड़ता है । इस हेतुसे इस रोगमें श्वास

और कास, ये दो मुख्य लक्षण अनेक वर्षों पर्यन्त रह जाते हैं । फिर दक्षिण हृदयविकार होनेपर उसके लक्षण भी सहवर्त्ता हो जाते हैं ।

यह रोग दीर्घकालस्थायी है । रोगी क्रमशः शीर्ण होता जाता है । वक्षःप्रदेशमें खिंचाव और बेचैनी प्रतीत होते हैं । एव कभी-कभी वेदना भी होती है । सामान्य श्रम करने पर श्वास भर जाता है; तथा दुर्गन्धविशिष्ट कफसयुक्त कास उपस्थित होती है । चिरकारी प्रदाहके विविध लक्षण उपस्थित होते हैं । फुफ्फुसकी यह स्थिति होनेपर श्वास-नलिका प्रसारित होती है । फिर यद्माजनित गह्वरके विविध भौतिक चिह्न प्रतीत होते हैं

बाह्य चिह्न—कभी-कभी प्रथमावस्थामें वक्षःकी दीवार ऊपर उठ जाती है; किन्तु सामान्यतः आक्रान्त पार्श्वकी दीवार, विशेषतः कण्ठ का निम्न प्रदेश आकुंचित होकर बैठ जाता है । ठेपन करने पर जड़ ध्वनि प्रकाशित होती है, एव निःश्वास दीर्घकालस्थायी होता है, ध्वनि वाहक यन्त्रसे सुनने पर वशीध्वनि या विवरनाद और आगन्तुक द्रव ध्वनि सुननेमें आते हैं । एव कभी-कभी घड़-घड़ आवाज़ आती है, और चिरकारी श्वास-कास, दूसरी ओर वायुकोषप्रसारण, क्रमशः रोगीके मुखमण्डल पर निस्तेजताकी वृद्धि, क्रमशः नेत्र कोटरसे बाहर निकला हुआ भासना, शिरा सब पूर्ण, नख हाथोंके दलकी ओर मुड़ जाना, सौत्रिक तन्तुके खिंचावसे हृदयकी स्थानभ्रष्टता (Dragging of the Heart) आदि चिह्न निदान सहायक होते हैं ।

साध्यासाध्यता—रोगीके स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति और रोग विस्तार के ऊपर भावी फल निर्भर करता है । सामान्यतः हृदयकी क्षीणताके हेतु से और कभी-कभी इसके साथ-साथ श्वासावरोधके हेतुसे या किसी फुफ्फुसीय उपद्रवके हेतुसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

चिकित्सा—इस रोगमें बहुधा किसी भी चिकित्सासे विशेष लाभ नहीं पहुँचता । जलवायुका परिवर्त्तन करना चाहिये; पौष्टिक आहार आदि का सेवन करना चाहिये । शराबका व्यसन हो तो उसे हो सके उतना कम

करना चाहिये । एवं कास, राजयक्ष्मा आदि उपद्रवोंकी यथाविधि चिकित्सा करनी चाहिये ।

उरस्तोय ।

उरस्तोय—फुफ्फुसावरणप्रदाह—प्लुरिसी—प्लुराइटिस—Pleurisy—Pleuritis ।

रोग परिचय—फुफ्फुसावरणकी श्लैष्मिक कला या रसकलाके प्रदाहको फुफ्फुसावरणप्रदाह कहते हैं । यह रोग शैशवावस्था और वृद्धावस्थामें अति कम होता है; युवावस्थामें अधिक आक्रमण करता है । यह रोग विशेषतः वाम पार्श्वपर आक्रमण करता है; एवं आशुकारी होता है । चिरकारी तो बहुत कम होता है । प्राचीन आचार्यों ने इस रोगका अन्तर्भाव पार्श्वशूलमें किया है । भैषज्यरत्नावलीकारने इसे उरस्तोय नाम दिया है । उन्होंने लिखा है कि:—

उरस्येकतरे पार्श्वे पार्श्वयोर्वाप्यपां चयः ।

उरस्योपगदोनाम प्रायशः प्राणनाशनः ॥

उरःस्थानके एक पार्श्व या दोनों पार्श्वोंमें जल (तरल-द्रव) का संचय होना, उस गौण व्याधिको उरस्तोय कहते हैं । यह रोग बहुधा प्राणोंका नाश करता है ।

इस रोगमें फुफ्फुसावरणमें प्रदाह होनेसे दोनों कला परस्पर चिटक जाती हैं । फिर इसमें हानिकर तरल भरने लगता है । इस फुफ्फुसावरणका वर्णन चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृ० ४४०में किया है । इस आवरणका ऊपरका हिस्सा फुफ्फुस और वक्षः स्थानमें मिला हुआ है । जिससे चित्रमें नहीं दीखता । नीचेका हिस्सा हृदयकपाटके चित्र पृ० ११ (प्रथमखण्ड) में स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है ।

उरस्तोय प्रकार—इस उरस्तोय रोगके भीतर क्रमशः तीन प्रकारों का वर्णन किया है । (१) आशुकारी फुफ्फुसावरणप्रदाह, (२) चिरकारी फुफ्फुसावरणप्रदाह और (३) रक्तपूयभृतफुफ्फुसावरण-

प्रदाह । इनके अतिरिक्त रसभृतफुफुसावरण (Hydrothorax) और वायुभृतफुफुसावरण (Pneumothorax) को आगे पृथक् लिखेंगे ।

निदान—इसकी स्वतन्त्र उत्पत्ति क्वचित् ही होती है । इस रोग की उत्पत्ति विशेषतः उपद्रव रूपसे क्षयके कीटाणुओं द्वारा होती है । एव इतर सक्रामक कीटाणु और शीतल वायु लग जाना, तथा वृक्क-प्रदाह (Bright Disease) आदि कारणोंसे भी हो जाती है । एव वक्षःपञ्जरके अस्थिका भंग, वक्षकी दीवारोंमें गम्भीर क्षत या आघात होनेपर इसकी उत्पत्ति स्वतन्त्र रूपसे होती है ।

सामान्य रीतिसे शीत लग जाना, सील वाले दुर्गन्धयुक्त मकानमें रहना, गोले वस्त्र पहनना, अत्यन्त स्त्रीसमागम, अत्यन्त मद्यपान, सड़े हुए फल या दुर्गन्धयुक्त भोजनका सेवन, इन कारणोंसे इतर रोगों के पश्चात् निर्बल शरीर वालोको यह सरलतासे होजाता है ।

यह रोग उपद्रवात्मक अधिक होता है; इनमें ७५ प्रति शतका सम्बन्ध क्षय रोगसे होता है । जिन रोगियोको फुफुसावरणप्रदाह एक बार हो जाता है, उनमेंसे अधिकांशको १-२ वर्षके भीतर राज-यक्ष्मा हो जाता है । कदाच राजयक्ष्माकी उत्पत्तिके लिये कीटाणु या विषकी जड़ रह जाती होगी, और रोगी मूल रोग या फुफुसावरण-प्रदाहसे मुक्त हो जाने पर पथ्य पालनमें प्रमाद करता है । जिससे राजयक्ष्माकी उत्पत्ति हो जाती है । इनके अतिरिक्त इस उन्मत्त भूत रोगकी प्रतीति निम्न व्याधियोंमें होती है ।

१—फुफुसप्रदाह—न्यूमोनिया और ब्राको न्यूमोनिया ।

२—ग्रामवात प्रभृति सक्रामक ज्वर और रक्तमें विषवृद्धि (Septicaemia) होने पर रक्त द्वारा विष या कीटाणुओंका फुफुसावरणमें प्रवेश हो जाय तो ।

३—हृदयावरणप्रदाह, उदर्याकलाप्रदाह, दन्तवेष्टप्रदाह आदिसे लसीका-वाहिनियों द्वारा विष फुफुसावरणमें पहुँचजाय तो ।

४—यकृदाल्युदर, चिरकारी वृक्कप्रदाह, कर्कसफोट आदि रोगोंकी अन्तिम अवस्थामें यह उपस्थित हो जाता है । क्वचित् वृक्कविकारके हेतुसे सर्वाङ्ग शोथ आने पर इस थैलीमें जल भर जाता है । उसे हाइड्रो थोरेक्स (Hydrothorax) कहते हैं । यह विकार उभय पार्श्व-गत होनेसे इसे अलग रोग माना है ।

५—समीपस्थ इन्द्रियों की विद्रधि पुफ्फुसावरणमें फूट जाय तो ।

६—उरःस्थ धमनीविस्तार, पुफ्फुसार्बुद और उरःस्थ लसीकाग्रन्थियों की वृद्धिके पश्चात् भेदन होने पर ।

आशुकारी फुफ्फुसावरणप्रदाह ।

आशुकारी फुफ्फुसावरणप्रदाह—एक्युट प्ल्युरिसी—Acute Pleurisy ।

आशुकारी प्रकारकी ३ अवस्थाएँ हैं । (१) प्रदाहावस्था, (२) उत्सृजनावस्था और (३) संशोषणावस्था । प्रथमावस्था के एकसे दो दिन पहले वक्षःप्रदेशमें वेदना होने लगती है । बेचैनी और अस्वस्थताका भास होता है । ऐसे समय पर अकस्मात् शीत लग जाने पर श्वासनलिकाप्रदाह, उरस्तोय आदि व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं ।

प्रथमावस्थामें फुफ्फुसावरण शुष्क रहता है; किन्तु कभी उसमें सौत्रिक तन्तुओंका निर्माण हो जाता है । इस हेतुसे इस अवस्थाके शुष्क और सौत्रिक तन्तुयुक्त, ऐसे दो विभाग होते हैं; द्वितीयावस्थामें रस संचित होने लगता है । कभी रक्त और पूय भी हो जाता है । अतः इस द्वितीयावस्थाके रस सह, रक्त सह और पूय सह, ऐसे ३ उपविभाग होजाते हैं ।

सानान्य लक्षण—भैषज्य रत्नावलीकार लिखते हैं; किः—

कृच्छ्रोच्छ्वासः कफस्रावो नीलावौष्ठी तथा मुखम् ।

शोथः पादेऽधरा जुद्रा विषमा वेगवाहिनी ॥

**मूत्राल्पत्वं भवेच्चापि स ना न शयनक्षमः ।
स्वास्थ्यं किञ्चित् समासीनो लभतेऽस्मिन् महागदे ॥**

श्वासोच्छ्वासक्रियामें कष्ट होना, कफ छाव, ओष्ठ और मुख नीले हो जाना, पैरोंपर शोथ, निर्बल और विषम वेगवाली नाड़ी, मूत्रावरोध, लेटनेमें अधिक पीड़ा, बैठे रहनेपर पीड़ा कुछ कम हो जाना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

प्राथमिक अवस्थाके लक्षण—इस अवस्थाको शुष्कावस्था भी कहते हैं । इस प्राथमिक अवस्थामें प्रारम्भके दो एक दिन तक बच्चः प्रदेशमें वेदना (पार्श्व शूल) का अनुभव होता है । उस समय अस्मात् शीत लग जनेपर कास और उरस्तोय आदि विकारोकी उत्पत्ति हो जाती है । फिर शीत लगना, कम होना, तब पार्श्व पीड़ा (रोगाक्रान्त स्थानपर सुई चुभोनेके समान तीव्र वेदना (Sharp Stabbing) बनी रहना, श्वासग्रहणके साथ वेदनावृद्धि, स्तन ग्रन्थिके नीचे वेदना होना, खासने, थोड़े चलने और करवट बदलनेपर तीव्र वेदना होना, ज्वर (१०२ डिग्री तक बढ़ जाना), ज्वरजन्य इतर शिरःशूल, बेचैनी, मलावरोध और तेज नाड़ी आदि तथा शुष्कास इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं । कफ बहुत कम निकलता है; श्वासोच्छ्वास क्रिया जल्दी-जल्दी होने लगती है; वायुका आकर्षण कम होता है । रोगी कष्टपूर्वक श्वास ग्रहण करता-करता बार बार थक जाता है; और श्वास लेनेको बन्द करता रहता है ।

जिस पार्श्वमें पीड़ा होती है, उस पार्श्वमें शोथ कम हो, तो उस पार्श्वको दबाकर लेटनेसे पीड़ा कम प्रतीत होती है; परन्तु शोथ अधिक हो, तो उस पार्श्वके बलसे रोगी नहीं लेट सकता । लेटनेपर शोथके हेतुसे वेदना असह्य भासती है ।

महाप्राचीरा पेशीसे सम्बन्धवाले फुफ्फुसावरणमें विकृति हुई हो, तो उरःफलकके नीचेके सिरे (Ensiform Cartilage) पर

वेदना, श्वासोच्छ्वासमें कष्ट और हिका उपस्थित होनेसे रोगीको अति दुःख पहुँचना, वमन होना और कण्ठनलीके मूलमें प्रबल वेदना होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । इस अवस्थामें फुफ्फुसावरणके भीतर विशेष परिवर्तन लक्षित होता है । रक्ताधिक्य (Hyperaemia) होता है; तथा उपश्लैष्मिककला कोषों (Epithelias) की वृद्धि होकर उनमेंसे रक्तस भरने लगता है । इस फुफ्फुसावरणके उभय प्रदेशमें जो पर्दा हो जाता है, वह प्रथमावस्थामें सहज दूर हो सकता है । परन्तु जब सौत्रिक तन्तु (Fibrous) बन जाता है; और फुफ्फुसको वक्षकी दीवारके साथ संलग्न कर देता है, तब फुफ्फुसावरणकी कोमलता और उज्ज्वलता सत्वर नष्ट होकर वह रुद्ध और मलिन बन जाता है ।

यदि तरलमें से सौत्रिक तन्तु बनकर दोनो कलाओंकी संलग्नता हो जाती है, तो वह आजीवन वैसी ही रह जाती है । रोग चले जाने पर इसमें किसीभी प्रकारका कष्ट नहीं होता । ध्वनियन्त्र और ठेपनसे परीक्षा करने पर आवाज मन्द आती है । इस सौत्रिक तन्तुमय शुष्क प्रकारमें कला बहुत मोटी हो जाती है । ऐसा होनेपर उस प्रकारको आच्छादनमय उरस्तोय (Plastic Pleurisy) कहते हैं ।

प्रादाहिक क्रियाका सत्वर दमन न हुआ, तो रस निःसृत होकर पूयमें परिणत होता है । फुफ्फुसावरण गह्वर पूयपूर्ण होजाता है । शारीरिक कारण वशतः यह अवस्था प्रकाशित होती है । इस अवस्था को बलवान्की अपेक्षा कण्ठमाल पीडित दुर्बल व्यक्ति अधिकतर प्राप्त होते हैं ।

इस निःसरणावस्थासे पहले फुफ्फुसावरणके प्रदाहयुक्त प्रदेशमें घर्षण ध्वनि (Friction rale) होती है । यह ध्वनि इस व्याधिका प्रधान भौतिक चिह्न है । इस अवस्थामें वक्षःसंचालनके समय कष्ट होता है; श्वासोच्छ्वास मन्दतर होता है; तथा फुफ्फुसावरणकी वेदना के हेतुसे रोगी धीरे-धीरे सावधानता पूर्वक श्वास ग्रहण करता है ।

आगे प्रदाहका पूयमें परिवर्तन न होने पर क्रमशः प्रकृतिभाव

(Resolution) को प्राप्त होता है, अथवा प्रादाहिक स्थानकी दोनो कलाएँ सयोजित (Adhesion) हो जाती हैं । या फुफुसावरणमें रक्तससञ्चय (Hydrothorax), या पूयमय फुफुसावरण विकार (Pyothorax) उत्पन्न हो जाता है ।

द्वितीया रसोत्सृजनावस्था लक्षण—कुछ दिनोंमें प्रथमावस्था दूर होकर द्वितीयावस्थाकी प्राप्ति हो जाती है । इस अवस्थामें सब लक्षणों का विशेषांशमें ह्रास हो जाता है । वेदना मन्द हो जाती है, ज्वर शमन हो जाता है, तथा खासनेमें जो प्रबल त्रास होता था, वह नहीं होता । इस अवस्थामें रक्तसग्रह और फुफुसपर दबाव या सङ्कोचके अनुसार श्वासोच्छ्वास क्रियामें द्रुतत्व होने लगता है । जिस स्थानपर रससञ्चय होता है, वह ऊँचा उठ जाता है ।

फुफुसावरणकी थैलीमें तरल भर जाने पर दोनो कलाओंके परस्पर घर्षणजनित पीड़ा शमन हो जाती है । कारण, द्रव भर जानेपर कलाएँ दूर दूर हो जाती हैं । मूत्रोत्पत्ति बहुत कम हो जाती है, जिससे मूत्र गाढ़ा बन जाता है । फिर तरल लीन होने पर मूत्रोत्पत्ति बढ़ जाती है । फिर रोगी आक्रान्त पार्श्वकी ओर तथा चित्त सो सकता है, किन्तु रसका परिमाण बढ़ने पर श्वासोच्छ्वासमें कष्ट होता है, जिससे सुखपूर्वक नहीं सो सकता ।

जब द्रव अत्यधिक संचित हो जाता है, तब द्रवके भारसे फुफुस दब जाता है । फिर वह सकुचित होकर निष्क्रिय हो जाता है, जिससे दूसरे फुफुसको अधिक श्रम लेना पड़ता है । इस हेतुसे श्वास रोगकी उत्पत्ति हो जाती है । यदि इस स्थितिमें रोगी विकारी करवटसे लेटता है, तो ऊपर रहे हुए नीरोगी फुफुसके वायुकोषोंको फैलनेकी सुविधा मिल जाती है और श्वास लेनेमें कष्ट भी नहीं होता ।

फुफुसावरणकी थैलीमें जो रस सङ्गृहीत होता है । उसका वर्ण यदि हरा-पीला है, तो उसमें सौत्रिक तन्तुका अंश विद्यमान रहता है; तीव्र आशुकारी उरस्तोयमें प्रदाहके हेतुसे इसकी उत्पत्ति हो जाती है ।

फुफुसावरणमें पूयोत्पत्ति होने पर उसे पूयमृत फुफुसावरण (एम्पायेमा-Empyema) कहते हैं। उसमें २ प्रकार हैं। मुख्य और गौण। फुफुसावरणमें प्रदाह होकर पूयकी उत्पत्ति हो; उसे मुख्य; और फुफुसके पूयपूर्ण विद्रधि (Abscess) फूटने पर पूय फुफुसावरणमें प्रवेश कर जाता है, उसे गौण कहते हैं।

इस अवस्थामें रक्तसंचयके परिमाण भेदसे भौतिक चिह्नमें विभिन्नता लक्षित होती है। स्वल्प रस संगृहीत होने पर फुफुस पर दबाव कम होता है; और उसका संकोच भी कम होता है; तथा श्वास-प्रणालिकाओंमें कुछ भी विलक्षणता नहीं होती।

रस संचय अधिक होने पर फुफुसविधान और श्वासप्रणालिका आदि सब पीड़ित होते हैं। फुफुसमेंसे वायु निकल जाती है; फुफुस कशेरुकाकी ओर हट जाता है। हृदय और यकृत (प्लीहा) स्थान भ्रष्ट होते हैं। ठेपन करने पर प्रतिघात ध्वनि घन (Dull resonance) निकलती है। यह ध्वनि वक्त्रकी आगेकी ओरकी अपेक्षा पीछेकी ओर अधिक ऊँचाई तक प्रकाशित होती है।

रोगी बैठने या खड़े होने पर रस गुरुत्वाकर्षणके नियमानुसार वक्त्रके निम्नप्रदेशमें स्थिर रहता है; तथा रोगीके लेटने पर रससंचयका स्थान बदल जाता है, इस हेतुसे आवाजका स्थान परिवर्तित हो जाता है।

यदि रोगी दुर्लक्ष्य करें और फुफुसावरणकी उभय कलाओंका संलग्न होने पर संगृहीत रसको आबद्ध करके न रखें; तो वक्त्रकी दीवार के सम्मुख प्रदेशमें रस संचय होने लगता है। फिर रस अत्यधिक परिमाणमें निकलने पर पशुकाओंके मध्यस्थान भी ऊँचे उठ जाते हैं। आक्रान्त पार्श्व प्रसारित होता है; और सार्श्व परीक्षा करने पर द्रव युक्त तरंग (Fluctuation) का अनुभव होता है।

फुफुसका जो भाग पूर्णरूपसे दब गया हो, उस स्थानकी परीक्षा रोगीके श्वासोच्छ्वास, वाक्योच्चारण और कासके समय ध्वनि वाहकयन्त्र से की जाय, तो कुछ भी आवाज सुननेमें नहीं आती।

रसके स्वल्प सचय होने पर श्रवणध्वनि मन्द हो जाती है । श्वासोच्छ्वास ध्वनि अस्पष्ट, वाक्योच्चारण की प्रतिध्वनि कुछ स्पष्ट, और क्वचित् भेदध्वनि सदृश सहयोगी आवाज सह सुनाई देती है ।

द्रव अधिक होजाने पर पहले ध्वनिवाहकयन्त्रसे सुनने पर आवाज मन्द हो जाती है । फिर आवाजका अवरोध होने पर स्पर्श और ध्वनियन्त्रसे भी ध्वनिका बोध नहीं हो सकता । फिर द्रव अत्यधिक बढ़ जाने पर पुनः आवाज वशीनाद समान निकलने लगता है । इसका वर्णन चि० त० प्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५-८६ में किया गया है ।

द्रव सचयके समतलमे ऊर्ध्व भाग पर ठेपन करने पर प्रतिघात शब्द बढ़ जाता है ; या सौषिर (Tympanitic) निकलता है । बच्चेके सम्मुख प्रदेशके ऊर्ध्व भागमें भी यही सौषिर ध्वनि अधिक सुनने में आती है । किसी-किसी स्थल पर फूटे हुए बर्तन सदृश आवाज (Cracked-Pot resonance) और किसी-किसी स्थान पर वित्रर ध्वनिके सदृश (Amphoric resonance) आवाज निकलती है ।

जहाँ तक घन ध्वनि सुनी जाती है, उस स्थानका अतिक्रम कर ऊर्ध्व स्थान पर ध्वनियन्त्र द्वारा सुननेसे कभी-कभी घर्षणध्वनि सुननेमें आती है; तथा पश्चात् प्रदेशमें कशेरुकाके समीपमें जहाँ दबा हुआ कुम्फुस स्थित है, वहाँ पर सुनने पर वशीध्वनिके सदृश आवाज और अपेक्षाकृत अस्पष्ट दूरस्थित वाक्प्रतिध्वनि (Bronchophony) का बोध होता है ।

तृतीया सशोषणावस्थाका लक्षण—जब रस शोषण होने लगता है ; तब रस स्थानमेंसे कण्ठ स्वर सुननेमें आता है ; स्पर्श परीक्षासे स्वरोत्कम्पनका अनुभव होता है । एव श्वासोच्छ्वासीय नाद पुनः द्रुत-गामी हो जाता है । यह श्वासोच्छ्वासीय ध्वनि कुछ काल तक मन्द और अनिश्चित-सी रहती है । यह आवाज वायुकोष और प्रणालिकाओं की मिश्रित सी होती है । क्रमशः जितना रस शोषित हो जाय, उतनी ही

ध्वनि स्पष्ट होती जाती है । फिर रस बिल्कुल शोषण हो जाने पर फुफ्फुसावरण की दोनों शुष्क कलाओंकी रगड़से पुनः घर्षण ध्वनि उत्पन्न होती है । अंगुलीसे ठेपन करने पर घनध्वनिके स्थान पर स्पष्ट रिक्त-ध्वनिकी उत्पत्ति हो जाती है । फिर अन्तमें अप्रकृत झिल्ली निर्मित होकर फुफ्फुसावरण की उभय कलाओंको संयोजित कर देती है । पशुकाओंके मध्य स्थानका आकार स्वाभाविक होजाता है, या स्थायी रूपसे संकुचित हो जाता है । केवल कुछ समय तक कशेरुकाके समीप वंशी सदृश आवाज शेष रहजाती है ।

इस परिस्थितिमें रोगी आक्रान्त पार्श्व की ओर सो सकता है । (प्रथमावस्थामें नहीं सो सकता ; स्वस्थ पार्श्वकी ओर सोता रहता है ।) रस शोषित हो जाने पर ज्वर, कास और वेदनाका उपशम हो जाता है । जैसे जैसे निःसृत रस शोषित होता जाता है ; वैसेवैसे क्रमशः श्वासोच्छ्वास क्रिया स्वाभाविक होती जाती है ; और वक्षःपरीक्षा करने पर स्वस्थावस्थाके सब भौतिक चिह्न धीरे-धीरे प्रकाशित होते जाते हैं ।

रोग विनिर्णय—केवल फुफ्फुस वेदना परसे इस रोगका निर्णय नहीं हो सकता । कारण पशुकाके मध्यमें वात वेदना (*Pleurodynia*) उत्पन्न होनेपर ऐसी ही पीड़ा होती है । परन्तु उस वातज व्याधि में अविराम वेदना बनी रहती है; दीर्घ श्वास लेनेपर वेदनावृद्धि नहीं होती; और उसमें ज्वर और घर्षण ध्वनिकी प्रतीति नहीं होती ; किन्तु इसके विपरीत उरस्तोय रोगमें फुफ्फुसावरणकी दोनों कलाओंका घर्षण होकर घर्षण ध्वनि अवश्य होती है । एवं खाँसी चलने पर तीव्र पार्श्व वेदना, ज्वर और शुष्क कास उपस्थित होते हैं । ये इस रोगके निर्णायक चिह्न हैं । एवं तरल बढ़ने पर निकटस्थ अवयव स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं; पार्श्व भाग उभरा हुआ दिखने देता है; तथा ठेपन करने पर मन्दध्वनि उत्पन्न होती है; इत्यादि चिह्नों परसे रोगका निर्णय निःसंदेह होजाता है ।

उरस्तोय और फुफ्फुसप्रदाहमें प्रभेद ।

उरस्तोय—Pleurisy ।

फुफ्फुसप्रदाह—Pneumonia ।

१—तीव्र वेदना, घर्षण ध्वनि, शुष्क कास और फुफ्फुसकी दीवारोंकी विलक्षण गति ।

मृदु वेदना, केशमर्दनवत् (Crepitant) ध्वनि, कफ कास ।

२—द्वितीयावस्थामें यशुका समीप स्थानके बाहर निकल आती है । आक्रान्त स्थानकी शिथिलता, वृद्धि और विविध यन्त्रोंकी स्थान च्युति ।

द्वितीया घनावस्था (Hepti zation) में उरस्तोयका एक भी लक्षण नहीं मिलता ।

३—विशेषतः अपक्रान्त स्थान पर ठेपन करने पर घनध्वनि, ध्वनि-वाहक यन्त्रसे सुनने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि क्षीण या लोप ।

ठेपनसे जड़ ध्वनि, ध्वनिवाहक से वशीनाद (Tubular), वाक्योच्चारणकी प्रतिध्वनि तीव्र और स्वरोत्क्रमणमें वृद्धि ।

४—द्वितीयावस्थामें रोगी आक्रान्त पार्श्वसे शयन कर सकता है ।

सोनेमें कोई विशेष नहीं है । क्वचित् रोगी स्वस्थपार्श्वकी ओर शयन करता है ।

५—फेन सदृश कफ । कभी आगन्तुक ध्वनि (Rales) सुननेमें आती है ।

रक्त मिश्रित चिकना दुर्गन्ध युक्त कफ । श्वासप्रणालिकाओका प्रदाह हो जानेसे सर्वत्र आगन्तुक ध्वनि सुनाई देती है ।

६—मन्द ज्वर ।

प्रबल ज्वर ।

७—अनियमित शारीरिक उत्ताप । उत्तापकी कोई विशेष अवस्था नहीं होती । कभी-कभी उत्ताप बढ़ता है ।

शारीरिक उत्तापकी अवस्था विशेष रूपसे जानी जाती है । रोगा-क्रमण होनेपर सत्वर उत्ताप बढ़ जाता है । प्रातः अल्प विराम और

शामको २-३ डिग्री (कभी १०५ डिग्री) तक बढ़ जाता है । ज्वरकी अकस्मात् अति वृद्धि और हास प्रतीत होते हैं ।

८-रोगशमन शनैःशनैः क्रमशः रोग शमन आकस्मिक उपशम होता है । (Crisis) द्वारा होता है ।

सम्प्राप्ति—फुफ्फुसावरणकी कलाके किसी एक भागमें विष या कीटाणुओंसे विकृति होनेपर प्रदाह होकर सम्पूर्ण कला पर शोथ आ जाता है । कलासे सम्बन्ध वाली कैशिकाएँ फूल जाती हैं; फिर स्राव होकर तरल द्रव निकलने लगता है । इस द्रवमें लसीकास्राव, रक्त और पूय स्वल्प या अत्यधिक तथा पतला और गाढ़ा, ऐसे कुछ भेद होते हैं । यदि इस तरलमें जमाने वाले तत्त्वकी प्रधानता हो, तो वह जमकर सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं । फिर दोनों कलाओंको चिटका देते हैं । क्वचित् ये कलाएँ फिर पृथक् हो जाती हैं । बहुधा यह संलग्नता (Adhesions) कायम रह जाती है । ये कलाएँ जुड़ जाने पर फुफ्फुसावरणकी आकृति विकृत-सी हो जाती है । इस द्रवके सूख जानेसे (या किञ्चित् द्रव रह जाने पर भी) इस फुफ्फुसावरण प्रदाहको शुष्क (Dry) कहते हैं ।

यदि यह तरल न जमने वाला, पतला और अत्यधिक परिमाणमें उत्पन्न होता रहता है, तो वह इस फुफ्फुसावरण रूख थैलामें संचित होने लगता है । इस अवस्था को उत्सृजनावस्था (Pleurisy with Effusion) कहते हैं । यदि इस रोग की उत्पत्ति राजयक्ष्माके कीटाणु (Bacilli Tuberculosis) जन्य या कर्फस्फोटके कीटाणुजन्य है, तो तरलमें रक्तमिश्रित होता है ; जो भविष्यमें पूय बन जाता है । एवं न्यूमोनियाके कीटाणु न्यूमोकोकस (Pneumococcus) जन्य रोगकी उत्पत्ति हुई हो, तो भी विशेषतः तरलमें पूय की उत्पत्ति हो जाती है ।

रोग की निवृत्ति होने पर फुफ्फुसावरणमें बहुधा संलग्न कलाको छोड़कर शेष भागमें प्रकृति भाव (Resolution) आजाता है; किन्तु

कभी-कभी किसी-किसीके लिए तरलद्रव पूयात्मक होने पर फुफुसावरण विद्रधि (एम्पायेमा-Empyema) हो जाता है ।

इस सचित्त द्रवका २-३ सप्ताहमें शोषण हो जाता है, यदि शोषण न हो सका, तो ज्वर बना रहता है, और इस द्रवमें पीपकी उत्पत्ति हो जाती है । पूयकी उत्पत्ति होनेका हेतु विशेषतः पूयोत्पादक कीटाणु हैं, जो रक्त या राजयक्ष्माके फुफुसकोटर अथवा समीपकी किसी इन्द्रिय की विद्रधिमेंसे आजाते हैं । पूय की उत्पत्ति होने पर रोग घातक बनजाता है ।

यदि फुफुसावरणमें तरल अधिक रहता है, तो मूत्रकी उत्पत्ति कम परिमाणमें होती है । फिर जब तरल कुछ कम जम कर शुष्क हो जाता है और कुछ रक्तमें लीन हो जाता है, तब पुनः मूत्रोत्पत्ति बढ़ जाती है ।

द्रवकी जब अति वृद्धि हो जाती है, तथा फुफुस और निक्टमे रही हुई इतर इन्द्रियों पर दबावका असर होता है, तब अनेक यन्त्र स्थानान्तरित हो जाते हैं । द्रवके भारसे फुफुसका सकोच हो जाता है; वायुकोष नष्ट हो जाते हैं, रक्तशोधन क्रियामें प्रतिबन्ध होता है; बड़ी रक्तवाहिनिया दूसरी और हटादी जाती है; वक्षःज्वर ऊपर उठ आता है, यकृतप्लीहा नीचे होजाते हैं, पशुकाका मध्यप्रदेश फूल जाता है, और महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) की स्थिति भी दयाजनक बन जाती है ।

साध्यासाध्यता—कदाच रोग बढ़नेके पहले चिकित्सा सत्वर करनेसे रोग निवृत्त हो जाता है, तो भी कुछ समयके पश्चात् राजयक्ष्माका आक्रमण हो जाता है । अतः इस रोग को घातक ही माना गया है ।

यदि इस रोगकी चिकित्सा सम्यक् प्रकारसे न की जाय, तो देह गल गल कर रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

(२) चिरकारी उरस्तोय ।

चिरकारी उरस्तोय—क्रोनिक प्लूरिसी—Chronic Pleurisy ।

यह विकार आशुकाशी व्याधिके जीर्ण होने पर एवं कभी-कभी प्राथमिक रूपमेंभी प्रतीत होता है ।

निदान—यह व्याधि सामान्य रूपसे प्रारम्भ होती है। इसका लक्षण आशुकारीकी अपेक्षा कम तीव्र होता है। जिन कारणोंसे आशुकारी उरस्तोय होता है; उन कारणोंसे ही इस चिरकारी व्याधिका जन्म होता है। यदि आशुकारी उरस्तोयमें जब फुफ्फुसावरणके भीतर निःसृत रस शोषित नहीं होता; अथवा फुफ्फुसावरणके गहर (थैली) में रस क्रमशः संचित होने लगता है, तब इस रोगकी स्थापना होती है।

लक्षण—इस विकारसे ग्रस्त रोगी अधिक देर तक या ऊँचे स्वरसे वार्त्तालाप नहीं कर सकता। परन्तु इस विकारमें श्वासकृच्छ्रता या अधिक कास नहीं होती। सामान्य रूपसे रोगीके स्वास्थ्यमें विशेष व्यतिक्रम नहीं होता; और अति कृशता नहीं आती; परन्तु किसी-किसी रोगीको तो यक्ष्मा रोगके अनुसार अतिशय क्षीणता, कृशता, नाड़ीमें तेजी, अति प्रस्वेद, जीर्ण प्रलेपक ज्वर (Hectic Fever) आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस रोगमें भौतिक चिह्न विशेषतः सब आशुकारी उरस्तोयमें लिखे अनुसार अनुभवमें आते हैं; फिर भी यहाँ मुख्य चिह्नोंका सामान्य उल्लेख करते हैं।

आक्रान्त फुफ्फुस अंशपर ठेपन करनेपर मंद प्रतिघात (Flatness), श्वासोच्छ्वास ध्वनि और शब्दध्वनिका लोप, सञ्चित रसके ऊर्ध्व प्रदेशमें प्रणालीय नाद (Bronchial respiration) अथवा वायुकोष और प्रणालियोंका मिश्रित नाद (Vesiculo-Cavernous), पशुकाएँ समीपके स्थानमें फैली हुई या उन्नत, आक्रान्त प्रदेशके नीचे फुफ्फुसकी गति हीनता, फुफ्फुसके स्वस्थ अंश पर ध्वनिवाहकयन्त्रसे सुनने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि तीव्र, कभी-कभी कर्कश, और ठेपन ध्वनि शुद्ध सौषिर (Clear tympanitic) होती है। हृदय और यकृत स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं; तथा पृष्ठवंश एक ओर मुड़ जाता है।

फुफ्फुसावरणकी थैलीमें दीर्घ काल तक रस संचय होता रहता है; और क्रमशः क्षीणता आकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है; अथवा रस

शोषित होने पर या रसका यन्त्र द्वारा आकर्षण कर लेनेपर रोगी स्वस्थ हो जाता है । फिरभी प्रभावित फुफ्फुस मूल स्वस्थावस्थाको प्राप्त नहीं होता । फुफ्फुस इस तरह सलग्न हो जाता है कि, श्वासोच्छ्वास क्रिया ही यथोचित नहीं कर सकता । रुग्ण प्रदेशमें रही हुई छातीकी दीवार बैठ जाती है । उस पर ठेपन करनेसे दूसरे फुफ्फुसकी अपेक्षा ध्वनि घन निकलती है, और ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुननेपर श्वासोच्छ्वास ध्वनि क्षीणतर सुननेमें आती है । रोगाक्रान्त व्यक्तिका स्कंध प्रदेश अति दीर्घ काल तक भ्रूण हुआ रहता है । हृदय स्वाभाविक स्थानमें पुनः स्थित हो जाता है ।

(३) रक्तपूयभृत उरस्तोय ।

रक्तपूयभृत उरस्तोय-एम्पायेमा-पूरुलेंट प्लूरिसी-*Empyema-Purulent Pleurisy* ।

यह विकार सामान्य उरस्तोय (प्लूरिसी) की अपेक्षा कम होता है । यह व्याधि विशेषतः बालकोको होती है । युवावस्थाने कम होती है ।

निदान—यह रोग श्वासप्रणालिकाप्रदाह या बालकोके डब्बारोग (*Broncho-pneumonia*), घातक रोमान्तिका (*Measles*), शोणितज्वर (*Scarlet Fever*) या इतर सक्रामक व्याधियोंके सह-वर्ती रूपसे उत्पन्न होता है । इस तरह सूतिकावस्थामें और यक्ष्मापीडित को भी हो जाता है; तथा वक्षःस्थलकी अस्थिपीड़ाके हेतुसे उत्पन्न विद्रधि, फुफ्फुस विद्रधि, यकृद्विद्रधि, कृमिज रसाबुद (*Cyst*) का फूटना, वक्षके भीतर कर्कसफोट (*Cancer*) और पूयमय रक्तरोग (*Pyaemia*), इन रोगोंमें रक्तवाहिनी टूटकर रक्त और पूयका फुफ्फुसावरणमें प्रवेश होने पर पूयभृत उरस्तोयकी उत्पत्ति हो जाती है । यदि केवल रक्त ही भर जाय, तो उस रोगको हिमोथोरेक्स (*Haemothorax*) कहते हैं ।

कभी-कभी शारीरिक अवस्था अतिशय क्षीण होनेसे उरस्तोय रोगमें

भरा हुआ रस पूयभावमें परिवर्तित हो जाता है । इस तरह परंपरा पूय का निर्माण होता है । प्रारम्भसे कभी पूयकी प्राप्ति नहीं होती ।

यदि इस रोगमें रक्तस्राव होता रहे, तो यह हेमोरेजिक प्लूरिसी (Hemorrhagic pleurisy), आक्रमणकारी पतले पूय मिश्रित रस होने पर पतले पूयमय उरस्तोय (इकोरस प्लूरिसी-Ichorous pleurisy), और फुफुसावरणमें पूयविशेष स्थिर और सबल हो, तो केवल पूयमय उरस्तोय (पूरुलेन्ट प्लूरिसी-Purulent pleurisy) रोग कहाता है ।

सम्प्राप्ति—किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका मत है कि, यह विकार अनेक प्रकारके कीटाणुओं (Micro-organisms) से उत्पन्न होता है । किसी एक प्रकारके कीटाणु द्वारा ही सम्पादित होता है, ऐसा नहीं । कभी-कभी रस और पूयोत्पादक सामान्य सरलाकृति उद्भिद् कीटाणु (Bacilli) फुफुस या वक्षकी दीवारमें से फुफुसावरणमें प्रवेश कर इस रोगकी सम्प्राप्ति करा देते हैं । किसी-किसीको यह रोग फुफुस-खण्डप्रदाह (Lobar pneumonia) रोगके साथ इस रोगके कीटाणु द्वारा सहवर्त्ती उत्पन्न होता है । इस तरह क्षयकीटाणु तथा पूयमय रक्त रोग आदिसे भी उत्पन्न होजाता है । कभी-कभी पूयोत्पादक कीटाणुओंका रक्तमें प्रवेश होने पर इतर स्थानमें अनुकूल क्षेत्र न मिलनेसे प्रदाहयुक्त फुफुसावरणके संगृहीत रसमें प्रवेश कर परिवर्द्धित होने लगते हैं । जिससे सब रस पूयमें परिणत हो जाता है ।

लक्षण—फुफुसावरणमें रस संचित होकर रूपान्तरित हो जाय, या इतर व्याधियोंका पूय प्रवेश होनेसे इस रोगकी प्राप्ति हो जाय, दोनोंमें लक्षण या भौतिक चिह्न समान ही होते हैं । कोई विशेष भेद नहीं रहता । किसी-किसीको वक्षकी दीवार पर शोथ आ जाता है । अतिशय कृशता, नाड़ीमें तेजी, शरीरके उत्तापमें वृद्धि (१०३-१०४ डिग्री तक), शीतपूर्वक प्रलेपक ज्वर, प्रस्वेद की अधिकता और रक्तमें श्वेत जीवाणुओं की वृद्धि आदि लक्षणों परसे इस रोगका अनुमान हो जाता है ।

इस विकारमे ज्वरके बढ़ने-घटनेका समय अनियमित रहता है । शुष्क कास बढ़ जाती है । शिरःशूल होता है । जिह्वा शुष्क सी रहती है । पूयकी उत्पत्तिके कुछ दिनोंके पश्चात् वह भिल्लीको तोड़कर फुफ्फुसमे या बाहर निकलता है ; और रोगको कष्टसाध्य बना देता है ।

डॉ० वेक्सलीका कथन है कि, ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर मुँहसे उच्चारण किये हुए वचन की प्रतिध्वनि सदोष रूपसे सरलता-पूर्वक और सम्पूर्ण सुननेमें आवे, तो रक्तसंचय होना चाहिए । यदि स्वर कष्टपूर्वक सुना जाय, तो सौत्रिक तन्तु या पूयमय द्रवका अनुमान होता है । उचित निर्णय न होनेसे सन्देह रहजाने पर त्रीहिमुख यन्त्र (ट्रोकर विथ केन्युला) डालकर परीक्षा कर लेनी चाहिए । यदि एक स्थानसे भी निर्णय न हो, तो दूसरे स्थान पर भी डालकर देख लेना चाहिए ।

यह रोग किस हेतुसे या किस रोगसे उत्पन्न हुआ है, इसका निर्णय तो तरल परीक्षा परसे भी नहीं होता । बहुधा यह रोग राजयक्ष्माके कीटाणुओंसे होता है । अतः इस तरलका इन्जेक्शन गिनीपिग (Guinea pig) नामक छोटे सूअर की उदर्याकलामे करने पर वह २-३ सप्ताहमें मर जाय, तब उसको चीर कर देखने पर उदर्याकलामें क्षयज प्रदाह प्रतीत हो, तो इस रोगका राजयक्ष्मासे सम्बन्धका निश्चय हो जाता है ।

यदि इस रोगकी संप्राप्ति हो जाने पर फुफ्फुसावरणकी थैलीमेंसे यथोचित चिकित्सा द्वारा उत्पन्न पूयको बाहर न निकाला जाय, तो निम्नानुसार तीन प्रकार की आपत्तियाँ खड़ी होजाती हैं ।

(१) फुफ्फुसावरणका कुछ अंश नष्ट हो जाता है, फिर पूय फुफ्फुसावरण विवरमेसे श्वासमार्गकी ओर गति करता है ; और बार-बार वेगपूर्वक खाँसी चलकर श्लेष्मके साथ न्यूनाधिक परिमाणमें बाहर निकलता रहता है । यदि पूयमे दुर्गन्ध आती हो, तो निश्चय हो जाता है कि, क्षतग्रस्त फुफ्फुसके सम्बन्ध वाले भागके छिद्रमेसे फुफ्फुसावरण की थैलीमें वायुका प्रवेश हो गया है ; अर्थात् पायोन्युमोथोरेक्स

(Pyo-Pneumothorax) उत्पन्न हो गया है । इस प्रकारमें खाँसी द्वारा कफके साथ पूय निकलकर अनेक रोगियोंको आरोग्यकी प्राप्ति हुई है ।

(२) कोई-कोई समय वक्षःपञ्जरके सम्बन्ध वाला फुफ्फुसावरण का अंश नष्ट हो जाता है । फिर पूय वक्षःप्रदेश की मांसपेशियोंमें होकर आगे गति करता है ; और बाहर की ओर विद्रुधिके सदृश ऊँचा उठ जाता है ।

चतुर्थ पशुकाके बीच वक्षकी दीवार इतर स्थानकी अपेक्षा पतली है । इस हेतुसे प्रायः इस स्थानकी त्वचाके नीचे स्कोट उत्पन्न होता है । यदि यह पूयमय विद्रुधि फट जाय, तो नाडीत्रण (Fistula) ३-४ इञ्च लम्बा फुफ्फुसावरणके छिद्रसे सम्बन्ध वाला बन जाता है । फिर अनेक वर्षों तक पूय निकलता ही रहता है । और कितनेक स्थानोंमें पञ्जरास्थि क्षत (Caries) से ग्रसित हो जाता है ; तथा फुफ्फुसावरण की दीवारके अविराम संकोच रहनेसे पृष्ठवंश विकृत आकारका बन जाता है । इस प्रकारमें पञ्जरास्थि पर आक्रमण हो या न हो, रोगी वर्षोंतक कष्ट भोग-भोगकर मृत्युको प्राप्त होता है ।

(३) इस पूयभृत उरस्तोयकी प्राप्ति तरुणावस्था में होनेपर उत्सृष्ट रस और पूयका शोषण हो जाता है । सामान्य उरस्तोय रोगमें इसका शोषण हो जाना अति हितकर है । परन्तु रोमान्तिका, शोणित ज्वर आदि संक्रामक ज्वर सहवर्ती पूयोत्पादक कीटाणु (स्ट्रेप्टो कोकस—Streptococcus Pyogenes) जन्य, या गुच्छ बनकर रहनेवाले न्यूमोनियाके कीटाणु स्टेफिलोकोकस—Staphylococcus अथवा क्षयकीटाणुजनित पूयभृत उरस्तोयमें कदापि परिणाम मङ्गलदायक नहीं आ सकता ।

उरस्तोय चिकित्सोपयोगी सूचना ।

रोग प्रारम्भका बोध होने पर रोगी को आरामसे लेटावें । शीतल वायुसे रोगीका रक्षण करें । भोजन प्रवाही, लघु और सात्व्य दें । यदि

ज्वर है, तो अन्न न दे, दूध, साबूदाना, मुसम्बीका रस, अनन्नासका रस, मीठा अगूर आदि देवे ।

आचार्योंने लिखा है कि:—

भेषजं श्लेष्महरणं मूत्रस्थापि प्रवर्त्तनम् ।
 उरस्तोये गदे योज्यं विविच्य भिषजा सदा ॥
 पिपासानिग्रहः कार्यः शीताम्भोऽनिल सेवनम् ।
 यत्नतः परिहर्त्तव्यमभिष्यन्द्यखिलं तथा ॥
 पादावशिष्टं यत्तोयं तत् तृषायां पिबेन्मनाक् ।
 पयसा वा शृतोष्णेन शान्तिं कुर्यात् सदातृषः ॥

इस रोगमे कफको गीलाकर निकालने और मूत्रकी प्रवृत्ति कराने वाली श्लेष्मिणी देनी चाहिये । प्पसका हो सके, उतना निग्रह करे । शीतल जल और शीतल वायु, दोनोका यत्नपूर्वक त्याग करे । दही आदि अभिष्यन्दी पदार्थोंको छोड़ देवे । उबाल कर चतुर्थांश शेष रहा हुआ जल थोड़ा-थोड़ा पीकर तृषाका शमन करे, अथवा तृषा लगने पर गरम करके शीतल किया हुआ दूध पिलाकर तृषाको दूर करे ।

तीव्र उरस्तोय की प्रथमावस्थामें रोगी बलवान् और रक्ताधिक्य असित हो, नाड़ी सबल, अत्यन्त वेदना और व्याकुलता हो, तथा फुफ्फुस पर दबाव आता हो, तो “कर्पिंग ग्लास द्वारा” (प्रथम खण्ड पृष्ठ २७८ में लिखे अनुसार) या जलोंका लगवाकर (पृ० २७५ में लिखे अनुसार) रक्तमोक्षण कराना हितकर है ।

यदि रोगी रक्तमोक्षणके योग्य न हो, तो अलसीकी गरम पुल्टिस बाधनी चाहिये; अथवा ब्लिस्टर प्रयोग करना चाहिये । रोगी निर्बल हो, तो रोगका ब्लिस्टरसे दमन हो जाता है ।

पुल्टिसके लिये प्रथम खण्डके पृष्ठ २०२ के अंतिम पेरैग्राफ और पृष्ठ २०३ में लिखी सूचना देख लेवें । ब्लिस्टरविधि पृष्ठ २८७ में लिखी है ।

पार्श्व पर तीव्र वेदनाशमनार्थ लेप लगावें या उष्ण जलसे सेक करें । एवं सेवन करानेके लिये अहिफेन प्रधान ओषधि को प्रयोगमें लावें महावातराज रस (२० ५६६) बहुत अच्छा लाम पहुँचाता है । निद्रोदयरस (२० ४८८) भी दिया जाता है ।

सूचना—अफीम युक्त ओषधि देनेके पहले बद्धकोष्ठ हो, तो उदर-शुद्धि करा लेनी चाहिये । पंचसम या पंचसकार चूर्ण या इतर नमक मिश्रित विरेचन विशेष हितकर है; या बस्ति देकर उदर शुद्धि करें ।

रोगके प्रारम्भकालमें रक्तदबाव को शिथिल करने वाली ओषधि देनी चाहिये । यह कार्य बच्छनाग प्रधान ओषधिसे अच्छा होता है । अतः सूतराज रस (२० ३३३), ज्वर केसरी वटी (२० ३३५), त्रिभुवन-कीर्तिरस (२० ३४६) आदि ओषधियोंमें से योजना करनी चाहिये ।

द्वितीयावस्थामें तरल थोड़ा है, तो रूपान्तर करा जल्दी लीन कराने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि तरल अत्यधिक होनेसे या रक्तपूय मिल जानेसे कार्य सत्वर सिद्ध न हो सके, तो यन्त्र द्वारा तरल को बाहर निकाल लेना चाहिये । इस विषयमें आचार्य लिखते हैं कि:—

नैवं व्याधिः शमं यायान्निखिलैर्यदि कर्मभिः ।

कुर्याच्छस्त्रक्रियां तर्हि लघुहस्तो भिषग्वरः ॥

समुद्रवस्वोर्मध्ये वा महीग्रहयोरथ ।

पशुकास्थनोर्गृहदृशोः शस्त्रनाम त्रिकूर्चकम् ॥

प्रवेश्यावहितो रक्षन् यकृत्स्नीहानमेव च ।

निःशेषं निर्हरेदम्बु व्याधिरेवं प्रशाम्यति ॥

यदि यह व्याधि ओषधि आदि चिकित्सासे शान्त न हुई, तो जिस चिकित्सकका हाथ हल्का है; वह त्रिकूर्चक शस्त्रको यकृत्स्नीहाकी रक्षा करते हुई फुफ्फुसावरणमें प्रवेश करावें; और संचित सब जलको बाहर निकाल लेवें, ऐसा करनेसे व्याधि शमन हो जाती है ।

सुश्रुत संहितामें लिखा है कि बालक, वृद्ध, सुकुमार, भीरु, स्त्री, राजा और राजपुत्रके रक्त या जलके स्नाव करानेके लिये त्रिकूर्चक यन्त्र का उपयोग करना चाहिये ।

वर्त्तमानमें प्राचीन शस्त्रोकी निर्माणविधि और उपयोग विधि, दोनोंका बोध केवल शब्दों द्वारा दिया जाता है । व्यावहारिक शिक्षण देनेकी प्रथा लुप्त-सी हो गई है, या ऐसे कहो कि आयुर्वेदके मुख्य अंग का प्रमादवश या पराधीनताके हेतुसे त्याग हो गया है । डाक्टरोंमें इसका विशेष प्रचार है । उसकी विधि आगे दी जायगी ।

सौत्रिक तन्तु प्रधान रक्तरस (Sero-Fibrinous) उत्सृजन होनेपर, उत्सृष्ट पदार्थका परिमाण और उसकी क्रिया द्वारा कितनी हानि होती है; इस बातका विचार कर चिकित्सा करनी चाहिये । सचित रस कुछ और तब होने पर वक्षकी दीवारके निम्न प्रदेशमें ठेपन करने पर घन प्रतिघात ध्वनि ३-४ अंगुल ऊर्ध्व तक होती है । ऐसी परिस्थितिमें बार-बार क्षुद्र ब्लिस्टरका प्रयोग करते रहना चाहिये ।

डॉक्टरोंमें बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्थामें रक्त शोषणार्थ टिञ्चर आयोडीनका लेप करते हैं, या पारद मिश्रित ओषधिका मर्दन कराते हैं । इस तरह आयोडिड मिश्रित मलहम भी मर्दन कराया जाता है ।

द्वितीयावस्थामें कोष्ठशुद्धिका पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये । उग्र विरेचन नहीं देना चाहिये । मूत्रल ओषधि अच्छा उपकार दर्शाती है । मूत्रल ओषधि रूपसे जगली प्याज (Scilla) १ से ३ रत्ती दिनमें २ बार दे सकते हैं । यह मूत्रल, कफघ्न, वामक, उष्ण और हृदय पौष्टिक है । १ माशा तक देनेपर वमन कराती है । इसके अतिरिक्त शिलाजीत, पुनर्नवा, जवाखार, छोटी इलायची और गोखरू आदि हितकर ओषधियाँ हैं । डाक्टरोंमें मूत्रल ओषधि रूपसे पोटास आयोडाइड के साथमें सीला और डिजीटेलिस देते हैं । एव केफाइन साइट्रसके साथ सोडियम बेन्झोएटेटको भी उपभोगमें लेते हैं । इस विकारमें

कुफ़फ़ुस पर शनैः शनैः घर्षण और मर्दन (Massage) हितकर माना जाता है ।

रस कुछ पौण्ड तक संगृहीत हो जानेपर वक्षगह्वर भर जाता है; और फुफ़फ़ुस को दबा देता है; समीपके सब अवयव च्युत हो जाते हैं; श्वासोच्छ्वास क्रियामें कष्ट होता है; तथा चर्ममें नीलिमा, पेशाब थोड़ा और गाढ़ा, नाड़ी क्षुद्र और अनियमित, ध्वनिबाहक यन्त्रसे सुननेपर श्वासोच्छ्वास ध्वनिका अभाव और थोड़ेसे श्रमसे हृदयमें धड़कन होना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । यदि ऐसी अवस्थामें औषध द्वारा संगृहीत रसके शोषणका चिह्न न दीखे, तो समयको वृथा नष्ट नहीं करना चाहिए । एस्पिरेटर यन्त्रसे कुफ़फ़ुसकी दीवारमें छिद्र करके रसको सावधानता पूर्वक थोड़ा या ४ पौण्ड बाहर निकाल लेना चाहिए ।

आजकल तरलको आकर्षित करलेनेके लिये अनेक प्रकारके एस्पिरेटर यन्त्र बने हैं । उनमेंसे पोटेन्स एस्पिरेटर (Potains Aspirater) का उपयोग अधिक हो रहा है ।

तरल निकालनेके लिये रोगीको शान्तिसे आरामकुर्सीपर अर्ध-शयित अवस्थामें बैठाकर बगलके मध्य बिन्दुसे सीधी पंक्तिमें सातवीं पशु'कान्तर प्रदेशमें ऊपरकी पशु'काके नीचेके किनारेके पाससे यन्त्रकी आरको प्रवेश कराया जाता है । पहले उस स्थानको किसी इन्जेक्शन द्वारा मूर्च्छित कर लेते हैं; ताकि यन्त्रकी आरके प्रवेशसे पीड़ा न हो ।

पशु'काएँ—(Ribs) छातीकी दोनों ओर धनुष्यके समान मुड़े हुए स्थितिस्थापक अस्थि लगे हैं; उनको पशु'काएँ (पसली) कहते हैं । छातीमें दोनों ओर १२-१२ पसलियां रहती हैं । (क्वचित् १३-१३ भी होती हैं) । सब पसलियोंके पीछेके सिरे पृष्ठ वंश (रीढ़) के कशेरुकाके साथ जुड़े हुये हैं । आगेके सिरेका संधान कुछ पृथक् होता है ।

दोनों ओर ७ पशु'काएँ क्रमशः लम्बी और मोटी होकर अगले

सिरेसे उपपशुकाँ (Costal cartilages) के साथ मिलती है । ये ७ पशुकाँ मुख्य (True ribs) मानी जाती हैं । शेष ५ क्रमशः पतली और छोटी होती जाती हैं । वे उरःफलकके साथ संलग्न नहीं है । उनको गौण (False ribs) कहते हैं । उनमें ८-९ और १०वीं पशुकाँके आगेके सिरे अपनी उरपशुकाँ द्वारा अपनी ऊपर रही हुई पशुकाँकी उपपशुकाँके साथ मिले हुए होते हैं; और अन्तिम दो (११वीं १२वीं) पसलियोंके सिरे बिल्कुल छूटे होनेसे उनको विमुक्ताम पशुकाँ (Floating ribs) कहते हैं ।

इन सबमें पहली पसली सबसे छोटी है । इसकी आकृति घास काटनेके हँसियाके समान होती है । इसका सिरा छोटा है । इसमें कोन नहीं है । दूसरी पशुकाँ पहलीके जैसी ही है, किन्तु अधिक लम्बी है । दशवीं पशुकाँ छोटी और बड़िस (Hook) के सदृश है । इसका कौन काण्ड भागके भीतर रहा है । ११वीं पसली वैसी ही है, किन्तु इसमें अर्बुद (उठा हुआ गोल भाग—Tubercle) और ग्रीवा नहीं है । १२ वीं पसलीमें कोन नहीं है । इन पशुकाँओंके सिरे जिन स्थानोंपर उपपशुकाँओंसे मिलते हैं, वहाँ पर उनके संयोग स्थान फूल कर कठिन प्रतीत होते हैं ।

स्त्रियोंकी ऊपरकी पशुकाँ सरलतापूर्वक चल सकती हैं, जिससे छातीका ऊपरका हिस्सा सरलतासे फूलता है, और हर्ष, शोक आदि मानस वृत्तिओंका असर स्त्रियोंकी छातीपर तत्काल हो जाता है ।

उपपशुकाँ—(Costal cartilages) उपयुक्त पशुकाँओं के साथ दोनों ओर १२-१२ उपपशुकाँ लगी है । अतः इनकी संख्याभी २४ है । ये सब तरुणास्थि (कोमल हड्डी) में से बनी हैं । प्राचीन आचार्योंने इन सबकी गिनती स्वतन्त्र हड्डियोंमें की है ।

इन उपपशुकाँओंमेंसे १से ७ तक उरःफलकके दोनों ओर लगी हैं । इनमें पहली उपपशुकाँकी सन्धि निश्चल है ।

ऊपर कही हुई पशुकाओंके बगलके मध्यबिन्दुसे नीचे सीधी पंक्ति में छठवां या सातवां पशुकान्तर प्रदेशमेंसे तरल निकल आता है ।

एस्पिरेटर यन्त्रमें एक बोतल है; तथा वायु खींच लेनेके लिये एक पिचकारी और फुफुसावरणमें प्रवेश करानेके लिये एक व्रीहिमुख यन्त्र-नली वाली आर (टोकर केन्युला) लगी है । पहले आरकी ओरके पेचको बन्द कर पिचकारी द्वारा बोतलकी वायुको आकर्षित कर लें । फिर उस ओरके पेचको भी बन्द कर दें । पश्चात् निर्दिष्ट स्थान पर नलीसह आरको प्रवेश करावें । लगभग १-१ इंच आर भीतर जानेपर फुफुसावरणकी ऊपरकी कलाके नीचे पहुँच जाती है । फिर आरको खींच लें, केवल नली (केन्युला) को रहने दें । और उस तरफके पेचको खोल दें, जिससे बोतलके रिक्त स्थानको भरनेके लिए तरल आकर्षित होकर आने लगेगा । बोतलका रिक्तस्थान भर जानेपर उस ओरके पेचको बन्द कर दूसरी ओरके पेचको खोल फिर पिचकारी द्वारा वायुको खींच लेवें । पश्चात् आरकी ओर लगे हुए पेचको खोल दें, जिससे पुनः तरल भरने लगेगा । इस तरह जब बोतल पूरी भर जाय, तब दोनों ओरके पेच बन्द कर डाटसे बोतलको हटाकर खाली कर लेवें । पुनः उसी तरह लगाकर वायु खींचकर तरलका आकर्षण करावें । जब रोगीको कुछ तकलीफ मालूम पड़े, खांसी चलने लगे और श्वास उठ जाय, तब इस क्रियाको बन्द कर देना चाहिए ।

सूचना—यह निश्चय हो जाय कि रोगीको १ मास तक ज्वर नहीं रहा है; और संगृहीत रसका परिमाण किसी भी रीतिसे न्यून नहीं होता, तो यन्त्र द्वारा रस निकालना चाहिए । अथवा संगृहीत रसको न निकालनेमें रोगीकी मृत्यु हो जानेका सन्देह है, तो रसको निकाल लेना चाहिए ।

यन्त्र द्वारा रस निकालनेपर कभी-कभी अवशिष्ट रसको पूयभावकी प्राप्ति हो जाती है । एवं क्वचित् रस निकालनेपर तुरन्त रोगीकी मृत्यु हो जाती है । अतः इस कार्यको विचारपूर्वक करना चाहिए ।

यन्त्र सम्यक् रीतिसे कार्य कर सकता है या नहीं ? यह पहले देख लेना चाहिए, तथा यन्त्रको कीटाणुरहित (Sterilized) विशुद्ध कर लेना चाहिए ।

रस शोषण क्रिया शान्तिपूर्वक करनी चाहिए । सब तरल एक साथ नहीं निकाल लेना चाहिए । कुछ न कुछ शेष रहने देना चाहिए । अधिक तरल होनेपर भी ४ पौण्डसे अधिक रस एक साथ नहीं निकालना चाहिए । एक दिन या अधिक दिनके पश्चात् फिरसे रस शोषण करना चाहिए । यह तरल १-७ या अधिकबार भी निकालना पड़ता है । कदाच रक्त और पूय संचित हुआ हो, तो उस स्थानपर टेढ़ा छेद कर पसलीका टुकड़ा लगभग १॥ इंच काटकर भीतरके सावको बाहर निकलनेका मार्ग कर देना चाहिए ।

इस रोगकी निवृत्ति हो जाने पर भी २-३ वर्ष तक पथ्यका आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये । इनमें भी स्त्रीसहवासका तो विचार भी नहीं करना चाहिये । कारण, क्षयकीटाणु कुछ-न-कुछ अशमं रह ही जाते हैं । वे पुनः अस्थ्य आहार-विहारसे वृद्धिगत होकर रोगीको मार डालते हैं ।

चिरकारी उरस्तोय रोगमें आशुकारी रोगके समान ही चिकित्सा की जाती है । लघु पौष्टिक आहार देना चाहिये । राजयक्ष्मा रोगोक्त क्षय कीटाणुनाशक श्लेष्मि रोग दूर होने पर भी देते रहना चाहिये । मास-पेशियोंके बलकी वृद्धिके लिये प्रातःसाय थोड़े-थोड़े दीर्घ श्वासोच्छ्वास (कुम्भक रहित) करते रहना उपकारक है ।

उरस्तोय चिकित्सा ।

तरलका रूपान्तर करानेके लिये—(१) शिलाजीत ४-४ रत्ती पुनर्नवादि चूर्ण प्रथम विधि (२० ६८७) ४-४ माशेके कषायके साथ दिनमें २ बार देवे ।

(२) जवाखार ४ रत्ती ३ माशे घृतमें मिलाकर चटावे; ऊपर

पुनर्नवाका स्वरस २ से ४ तोले पिलावें । इस तरह प्रातःसायं दिनमें दो समय देते रहें ।

(३) आरोग्यवर्द्धिनी (२० ५०३) देते रहनेसे मलमूत्रोत्सर्ग नियमित होकर प्रकृति सुधर जाती है ।

(४) यदि जलकी उत्पत्ति न हुई हो, तो श्वासकुठार रस (२० ४६६) दिनमें दो बार शहदके साथ देवें ।

(५) जल मामूली हो, मन्द ज्वर रहता हो, तो रससिंदूर, आरोग्यवर्द्धिनी, शृंग भस्म और लघुमालिनी वसंतको मिलाकर दिनमें दो बार देते रहें ।

(६) शृंग भस्म २-२ रत्ती ३-३ माशे मिश्रीके साथ दिनमें दो समय देते रहनेसे कफका संशोधन होकर रोग शमन हो जाता है,

(७) शृंगभस्म और शृंगाराम्र (कास चिकित्सा पृ० ८६१ में लिखा हुआ), दोनोंको शहदके साथ मिलाकर देते रहनेसे थोड़े ही दिनोंमें नया उरस्तोय निवृत्त हो जाता है ।

(८) कासका त्रास अति हो तो माणिक्य रस (२० ३६१) १-१ रत्ती दिनमें दो बार शहद या मक्खनमिश्रीके साथ देते रहें, या चन्द्रामृत रस (२० ४६३-वकरीके दूधके साथ) देवें; तथा कासमर्दन वटी (२० ३६६), कर्पूरादि वटी (२० ६३३), या मरिचादि वटी (२० ६३३), इन तीनोंमेंसे एककी एक-एक गोली मुँहमें रखकर रस चूसते रहें । दिनमें १०-१५ गोली तक चूसें ।

(९) कल्याण सुन्दरो रस (२० ४६२) १-१ रत्ती दिनमें दो बार पुनर्नवादि काथ या निवाये जलके साथ देते रहनेसे थोड़ा जल भरा हो तो लीन हो जाता है ।

(१०) पञ्चसूत (२० ३०६) १-१ रत्ती दिनमें दो बार मुलहठी, बहेड़ा, वासा, भारङ्गी और मिश्रीके काथके साथ देते रहनेसे तरलका रूग्न्तर, ज्वर शमन, शोथ नाश आदि कार्योंको सत्वर करके थोड़े ही दिनोंमें रोगको निवृत्त कर देता है ।

(११) ताप बढ़ने पर कस्तूरीमैत्र रस (२० ३३४) जयमङ्गल रस (२० ३५४), या त्रिभुवनकीर्त्ति रस (२० ३४६) दिनमें दो बार देते रहे ।

(१२) पार्श्व शूल पर चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड पृष्ठ ४५६ न्युमोनिया चिकित्सामें लिखे हुए उपाय लाभदायक हैं ।

(१३) दोषघ्न लेप लगानेसे पार्श्वशूलका निवारण होता है ; अथवा अलसी की पुल्टिम रोटीके समान बड़ी बनाकर बांधे ; और १-१ घण्टे पर बदलते रहे । इसका विचार चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम-खण्ड पृष्ठ २०२ में किया है ।

(१४) वालुकाको गरम कर सेक करने या खर की थैलीमें गरम जल भर कर सेक करनेसे पसलीमें चलने वाले शूलकी निवृत्ति होजाती है ।

(१५) पार्श्वशूलनाशक लेप (२० ८७०) लगावे , अथवा बारहसिगेके सींगको गोमूत्र या काजीमें घिस हींग मिला निवाया कर लेप करने, या हींग और अफीम मिला निवाया कर लेप करनेसे सत्वर शूल शमन हो जाता है ।

(१६) केशर और अफीमको जलमें पीस निवाया कर लेप करने, या केशरको पुराना घी, सरसोंका तैल और शहदके साथ मिला निवाया कर लेप करनेसे वेदना शमन हो जाती है

(१७) डॉक्टरमें एन्टीफ्लोजिस्टीन या एन्टीफ्लेमिन की पट्टी लगानेका रिवाज है । इसका विचार चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ ४५४ में किया है ।

तैल बेदना शमनार्थ—महावातराज रस (२० ५६६), ज्वरकेसरी (२० ३३५), त्रिभुवन कीर्त्ति रस (२० ३४६) अथवा महा सुदर्शन चूर्ण (२० ६७२) का फाण्ट (विलायती नमक-Mag. sulph. डालकर), इनमें से अनुकूल ओषधिका सेवन कराना चाहिये ।

डाक्टर की चिकित्सा ।

तीव्र उरस्तोय की प्रारम्भावस्था में—

- (१) हाईड्रार्जिरी सबक्लोराइड Calomal ४ ग्रेन
दूधकी शक्कर Saccharum Lactis २ ग्रेन
दोनोंको मिलाकर जलके साथ देवें । फिर ६ घण्टेके पश्चात् मेगने-
शिया सल्फास (Mag. sulph.) विरेचनार्थ देवें ।

(२) प्रथमावस्थामें—

- पल्बिस इन्डिकाक को० Pulv. Ipecac Co. ५ ग्रेन
पोटास साइट्रेट Pot. Citrate २ ग्रेन
लाइकर एमोनिया एसिटेट Liq. Ammon. Acetate २ ड्राम
एका केम्फर Aqua Camphore ad १ औंस तक
इन सबको मिलाकर पिला देवें । यह मिश्रण पुनः पुनः वेदना शमन
न हो, तब तक ३-४ घण्टे पर देते रहना चाहिए ।

(३) कास प्रबल हो, तो—ट्रोकिस्कस मॉर्फिन एट इपिकाक
(Trochiscus Morphine et Ipecacuanhae) की टिकिया
देवें ; और ज्वर शमनार्थ फेनासिटिन, एन्टीफेब्रिन या किनाइन आदि
शोषधियाँ दें ।

(४) आक्रान्त फुफ्फुस पर स्टिकिंग प्लास्टर (Sticking pla-
ster) लगाना चाहिये ।

सूचना—जब तक ज्वर शमन न हुआ हो और उत्सृष्ट रस कम
परिमाणमें हो, तब तक ऊपर कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये ।

(५) टिञ्चर वेराट्री विरिडिस (Tinct. Veratri Viridis) ५
बूंद जलमें मिलाकर देवें । फिर ३-३ घण्टे पर १-१ बूंद बढ़ाकर
देते रहें । जब तक नाड़ीसंहति (Tension) अच्छी तरह
घट न जाय, तब तक देते रहें ।

द्वितीयावस्थामे—

(६) पोटास आयोडाइड Pot Iodide	३ ग्रेन
पोटास बाई कार्ब Pot. Bicarb	१५ ग्रेन
सिरिट एमोनिया एरोमेटिक Spt. Ammon. Aromet.	२० बू द
टिञ्चर डिजिटेलिस Tinct. Digitalis	८ बू द
टिञ्चर सिल्ला Tinct. Scilla	११ बू द
एक्वा केम्फर Aqua Camphore	ad १ औंस तक
इन सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह ४-४ घण्टे पर दिनमें तीन बार देवे ।	

(७) चिरकारी रोगमें लगानेके लिये—

आयोडीन Iodin	१ ड्राम
पोटास आयोडाइड Pot Iodide	३० ग्रेन
ग्लिसरीन Glycerine	२ ड्राम
सिरिट रेक्टिफाइड Spt. Rectified	ad १ औंस तक
इन सबको मिलाकर रात्रि को लेप करे ।	

सूचना—लगानेके लिये आध इञ्च चौड़े १-१० इञ्च लम्बे फ्ला-
लिनके टुकड़े (कतरन Strips) एकके ऊपर एक दबाकर लगाते रहे ।
जिससे 'xxx' एकस अक्षरोंके सदृश आकृति हो जायगी । ऐसे टुकड़े परस्पर
दबाते हुए पंक्तिबद्ध लगा देवे । जब तक त्वचा कोमल न बन जाय,
तब तक लगाते रहे ।

(८) डाइयूरेटिन (Diuretin or Theobromine et
Sodu Salicylas) १० से २० ग्रेन तक दिनमें ३ बार जलके साथ
देते रहनेसे मूत्रस्राव अधिक होने लगता है, जिससे तरल कम होजाता है ।

पूयभृत उरस्तोय चिकित्सोपयोगी सूचना ।

इस रोग की चिकित्सा करनेके पहले अनेक बातों को सोच समझ
लेना चाहिये । यदि रोगी बालक है और कुपकुसावरणकी थैलीमें पूय

स्वल्प परिमाणमें हैं, रोगीकी सार्वजनिक अवस्था खराब नहीं है, तो पूय का शोषण करालेने पर रोग की निवृत्ति हो जाती है ; किन्तु पहले पिचकारी (Hypodermic Syringe) द्वारा पूयको बाहर निकाल परीक्षा करके देखलेना चाहिये कि, यह रोग न्युमोनियाके कीटाणुजन्य तो नहीं है; और इसमें पूयोत्पादक कीटाणुओं (Pyogenic organism) का पूर्ण अभाव है या नहीं ? यदि यह निर्णय हो जाय, तो ही पूयकाशोषण करा लेना चाहिये ।

यदि इस रोगका सम्बन्ध श्वासपथके साथ हो गया है; कास चलकर कफमें पूय आता रहता है; पूय दुर्गन्धविहीन है, तो अस्त्रचिकित्साके अवलम्बनके पहले यह स्वतः शोषित होकर बाहर निकल जाता है या नहीं ? इस बातके निर्णयार्थ कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करनी चाहिये; परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ता हुआ देखनेमें आवे, या निर्गत पूय दुर्गन्ध युक्त हो, तो बिना विलम्ब किये अस्त्रचिकित्साका आश्रय लेना चाहिये ।

बालकके लिये एक या अधिक बार एस्परेटर यन्त्र द्वारा पूयभी निकाल लिया जाता है । कभी-कभी इस तरह एक बार ही पूयको निकाल लेनेसे रोगका निवारण हो जाता है ।

यदि रोगीकी आयु बहुत-कम हो, तो पहले ही एस्परेटर यन्त्रको उपयोगमें लेना चाहिये । कदाच पूय धीरे-धीरे पुनः संगृहीत होजाय और पतला रक्तस पूयके साथ मिश्रित होजाय, तो पुनः यन्त्र द्वारा रस-पूय मिश्रणको आवर्षित कर लेना चाहिये । यदि रस और पूयका संग्रह सत्वर हो जाता है, और घन है, पतला नहीं है, तो एस्परेटरके २-३ बार प्रयोग करनेके पश्चात् इतर साधन न होने से अस्त्रचिकित्सा द्वारा पशुकाको काट देनेसे सम्पूर्ण पूय बाहर निकल आता है । पूयके निकालनेके लिये नाली (Drainage) की यथोचित व्यवस्था कर लेनी चाहिये; किन्तु यह अस्त्रचिकित्सा अनुभवी चिकित्सकके हाथसे ही करानी चाहिये ।

खानेके लिये जो ओषधि दी जाय, या इतर उन्चार किये जायँ, ये सब उरस्तोयके समान करना चाहिये ।

रसभृत फुफ्फुसावरण ।

रसभृत फुफ्फुसावरण—हाईड्रोथोरेक्स—Hydrothorax ।

फुफ्फुसावरणमें उरस्तोयके अतिरिक्त रसभृत फुफ्फुसावरण, वायु भृत फुफ्फुसावरण, इन दो रोगोकी सम्प्राप्तिभी कभी-कभी हो जाती है ।

निदान—रसभृत फुफ्फुसावरण विकार फुफ्फुसावरणके आशुकारी प्रदाहके हेतुसे उत्पन्न नहीं होता । इस अप्रबल शोथकी उत्पत्ति यकृद्-विकार, हृद् विकार और पाण्डु रोगके हेतुसे जब रक्तवाहिनियों रससे खूब भर जाती हैं, तब इनकी दीवारोंमेंसे रक्तजलका अवश स्राव (Passive exudation) होकर दोनो ओर रहे हुए फुफ्फुसावरणों में संचय होने लगता है । इस रोगकी उत्पत्ति विशेषतः उदररोग या सर्वाङ्ग शोथ और महाप्राचीरा पेशीकी शिथिलतासे श्वासविकृतिके साथ-साथ होती है ।

लक्षण—इस रोगमें श्वासका आकर्षण (Inspiration) अति कम होता है । अग्निमान्द्य, निद्रावृद्धि, आलस्य, हृदयकी स्थानच्युति, मलावरोध और जिस मूल रोगसे इस विकारकी उत्पत्ति हुई हो, उसके लक्षण देखनेमें आते हैं । आक्रान्त स्थान पर अगुलीसे ठेपन करने से घन ध्वनि निकलती है । श्वासोच्छ्वास क्रियामें रोगाक्रान्त फुफ्फुसभाग स्थिर और गतिहीन प्रतीत होना है । ध्वनिवाहक यन्त्रने परीक्षा करने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि सुननेमें नहीं आती ।

इस रोग और उरस्तोयके लक्षणोंमें निम्नानुसार अन्तर रहता है ।

रसभृत फुफ्फुसावरण ।

उरस्तोय ।

१-उभयपार्श्वमें सौत्रिक तन्तु रहित एक पार्श्वमें तरल संचय, तरल संचय । अनेक बार सौत्रिक तन्तु भी हो जाते हैं ।

- २-पार्श्व पीड़ा नहीं होती । पार्श्व पीड़ा होती है ।
 ३-आशुकारी दाह-शोथ नहीं होता; आशुकारी दाह-शोथ होता है;
 जिससे वर्षणध्वनि भी नहीं और फुफ्फुसावरण की दोनों
 होती । कलाओंकी रगड़से वर्षण ध्वनिकी
 उत्पत्ति होती है ।
 ४-शुष्क कास नहीं होती । चासदायक शुष्क कास ।

रसभृत फुफ्फुसावरण चिकित्सा ।

इस रोगकी चिकित्सा शोथ रोगके सदृश की जाती है । विरेचन और मूत्रल ओषधि हितकर मानी जाती है । यदि जलका शोषण ओषधि द्वारा न हो, तो एस्किरेटर यन्त्र द्वारा आकर्षण किया जाता है ।

यदि जलोदरके साथ इस रोगकी उत्पत्ति हुई हो, तो जलोदरारि रस ऊंटनीके दूधके साथ देनेसे जल समान पतले-पतले दस्त होकर जलोदर सह यह रोग शमन हो जाता है ।

इस रोगकी विशेष चिकित्सा जलोदर और शोथ रोगमें देखें । पथ्यायथ्य शोथ रोगके समान पालन करना चाहिये ।

वायुभृत फुफ्फुसावरण ।

वायुभृत फुफ्फुसावरण—न्यूमोथोरेक्स—Pneumothorax ।

रोग परिचय—फुफ्फुसावरणको वास्तविक दृष्टिसे देखने पर वह बाह्य वायुसे रहित रहता है । जब इसमें छिद्र हो जाता है, तब इस थैलीमें वायु प्रवेश कर जाती है; और वायुभृत फुफ्फुसावरण विकारकी प्राप्ति होजाती है । बहुधा वायुके प्रवेशके साथ रक्त, रस या पूयका भी प्रवेश हो जाता है ।

यदि वायुके साथ रसका प्रवेश हो जाय, तो हाइड्रो न्यूमोथोरेक्स (Hydro-Pneumothorax) और वायुके साथ पूयका प्रवेश हो जाय, तो पायोन्यूमोथोरेक्स (Pyo-Pneumothorax) कहलाता है ।

निदान—बाहरके आघातसे फुफुसावरणका फट जाना, क्षयज फुफुस व्रणका शनैः शनैः आगे बढ़कर फुफुसावरणमें छिद्र कर देना, फुफुस, श्वासनलिका या अन्ननलिकामें छिद्र हो जाना, या फुफुसावरणकी विद्रधिका किसी श्वासप्रणालिकामें फूटना आदि कारणोंसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है। क्वचित् आमाशयमेंसे दूषित वायु (Gas) उत्पन्न होकर फुफुसावरणमें प्रवेश कर जाती है।

अनेक कारणोंमें क्षयकीटाणजन्य रोगोत्पत्ति होना, यह प्रधान कारण है। इससे कम स्थानों पर पूयभृत उरस्तोयसे इस रोगकी उत्पत्ति होती है। कभी-कभी क्षय रोगमें तो बिल्कुल प्रथमावस्थामें ही यह रोग लक्षणरूपसे उत्पन्न हो जाता है।

बहुधा यह रोग एक पार्श्वमें होता है। इनमें दक्षिण फुफुसावरण की अपेक्षा वाम फुफुसावरण विशेषरूपसे प्रभावित हो जाता है। इस रोगकी उत्पत्ति अकस्मात् होती है। कास या वमनकी आवेगावस्थामें या किसी प्रत्यक्ष कारणके विना फुफुसावरणके भीतर वायु प्रवेश कर जाती है।

लक्षण—बाहरकी वायु प्रवेश करने पर अकस्मात् तीव्र वेदना, अत्यन्त श्वासकृच्छ्रता, श्वासावरोधका संशय और नाड़ीकी तेज गति आदि लक्षण होते हैं। कभी रोगी भयसे ही मृत्यु तुल्य हो जाता है; किन्तु इस अवस्थामें अकस्मात् मृत्यु नहीं होती।

फुफुसावरणमें कभी-कभी वायु धीरे-धीरे प्रवेश करती है। ऐसा होने पर वेदना, श्वासकृच्छ्रता आदि लक्षण अपेक्षा कृत मंद होते हैं।

भौतिक चिह्न—वायुके प्रवेश होने पर वह स्थान प्रसारित हो जाता है, और फूल जाता है। ठेगन करने पर प्रतिघात ध्वनि धातुपात्रके आवाजके सदृश तीव्र (Hyper resonance) होती है। यदि वक्ष का प्रसार अत्यधिक हो गया हो; और संचित वायुका दबावभी अत्यधिक हो, तो प्रतिघात ध्वनि अपेक्षा कृत जड़ (Dulness) होती है, और ध्वनिकी गूँजमें वृद्धि हो जाती है। बहुधा महाप्राचीरा पेशी नीचे झुक

जाती है; हृदय स्थानभ्रष्ट हो जाता है। यदि वायुसंयत हो, स्थानका प्रसारण न हुआ हो, तो महाप्राचीरा पेशी और हृदयको हानि नहीं पहुँचती।

यदि यह विकार वाम फुफ्फुसावरणमें होता है, तो हृदय स्थान-भ्रष्ट हो जाता है। फिर वायु फैल जानेसे फुफ्फुसावरण हृदय पर सरक जाता है। जिससे अँगुलिठेपनमें हृदयस्थानमें से घनध्वनिके बदले रिक्त-ध्वनि उत्पन्न होती है; तथा उरोगुहाकी मध्य दीवार (Mediastinum) दक्षिण दिशामें सरक जाती है।

यदि यह व्याधि दक्षिण फुफ्फुसावरणमें हुई हो, तो उरोगुहाकी मध्य दीवार कुछ वाम दिशामें चली जाती है। इस हेतुसे ठेपन करने पर हृदयके स्वाभाविक प्रदेशके ऊपर रिक्त ध्वनि (Tympanic resonance) होती है। इस परसे हृदयके स्थान भ्रष्ट होनेका बोध हो जाता है।

ठेपन कालमें रोगीके मुँहको बन्द रखाने पर ध्वनिकी गूँज बढ़ जाती है; और रोगीका मुँह खुला रखाने पर गूँज कम हो जाती है। यदि फुफ्फुसावरणसे फुफ्फुस और श्वास प्रणालिकायें पृथक् हो जायँ, तो ठेपन करने पर फूटे हुए पात्रके सदृश (Cracked pot resonance) आवाज निकलती है।

कशेरुकापर फुफ्फुस स्थापित होनेसे स्पर्श करनेपर स्पन्दाभाव, ध्वनिवाहकयन्त्रसे सुननेपर श्वासोच्छ्वासध्वनि क्षीण या लोप हो जाना, (फुफ्फुसमूलपर तो आवाज स्वाभाविक प्रणालीय नाद सदृश होती है), फुफ्फुसका पूर्णांशमें बलक्षय न हुआ हो, तो निःश्वासमें या श्वासोच्छ्वासमें दोनों समय कौप्यक नाद (Amphoric) और पीडित स्थानपर रुपया रखकर दूसरे रुपयेसे बजाने और उस समय ध्वनि-वाहकयन्त्रसे सुननेपर रुपयेके बजानेकी विपरीत दिशामें घण्टा नाद (Bell-sound) के सदृश आवाज आना आदि बाह्य चिह्न होते हैं। यह घण्टानाद रूप परीक्षा (Coin test) रोग निर्णायक विशेष

चिह्न माने जाते हैं । इस परीक्षा द्वारा आक्रमित फुफ्फुसावरणकी सीमाका भी निर्णय हो जाता है ।

क्वचित् वायुके साथ कीटाणुओंका प्रवेश हो जाता है । फिर भीतर दाह शोथ होकर लसीका स्त्राव होने लगता है, और रसका सचय होनेपर व्याधि सरस वायुभृत फुफ्फुसावरण (Hydro-Pneumothorax) कहलाता है । फिर उरस्तोयकी द्वितीयावस्थाके लक्षण भी प्रतीत होते हैं ।

सामान्य उरस्तोय और रससहवायुभृत फुफ्फुसावरणमें प्रभेद यह है कि, इस रोगमें यह उत्सृष्ट रस अपेक्षाकृत सचजनशील होता है । इस हेतुसे रोगीके चलने बैठने आदि क्रियाभेदसे तरलका स्थान भेद हो जाता है । सामान्यतः इस विकार की प्राप्ति होने पर नीचे तरल और ऊपर वायु रहती है । जिससे वायुभृत फुफ्फुसावरणके उपरोक्त लक्षण प्रतीत होते हैं, और रोगीको हिलाने पर वस्तिमे जलके चलनेके सदृश आवाज (Splashing-succussion) सुननेमें आती है । यह इस रोगका विशेष चिह्न है । इसके अतिरिक्त निम्नभागमें सार्द्र उरस्तोयके लक्षण भी प्रतीत होते हैं ।

इस रोगमें ध्वनिवाहक यन्त्रद्वारा सुननेपर समस्त फुफ्फुसपर एक प्रकारकी ध्वनि-वातुमात्रके सदृश आवाज (Metallic tinkling) अनुभवमें आती है । हृदयपर ठेगन करनेपर प्रतिघात ध्वनिके साथ गुंजरूप प्रतिध्वनि (Re-echoing) वर्तमान रहती है । इन सब स्थानों पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि काण्यक नाद (Amphoric) के सदृश भासती है ।

कण्ठमेंसे उच्चारित शब्द गुंजरूप हो जाता है । सामान्य रीतिसे इस वाक्योच्चारित शब्द (Vocal Fremitus) का बोध ध्वनि यन्त्रसे नहीं हो सकता ।

जब कीटाणु या विजातीय द्रव्य प्रवेश हो जानेसे इसमें पूयकी उत्पत्ति हो जाती है, तब इस पूयभृत फुफ्फुसावरण (Pyo-

Pneumothorax) व्याधिमें ऊपर वायुके और नीचे पूययुक्त उरस्तोयके लक्षण—पहले सूचीवेध सदृश पीड़ा, शीत लगकर ज्वर आजाना आदि होते हैं ।

वायुभृत फुफ्फुसावरण चिकित्सा ।

इस रोगके उत्पन्न होने पर शराब, द्राक्षादिष्ट या कस्तूरी प्रधान ओषधि देनी चाहिये; या लक्ष्मीविलास रस (२० ३७४), संचेतनी वटी (२० ३७३), कल्याण सुन्दरो रस (२० ४६२) या समीरपन्नग रस (२० २६७ को द्राक्षादिष्ट या नागरबेलके पानके रसके साथ देवें) ।

यदि तीव्र वेदना सहन न होती हो, तो महावातराज रस (२० ५६६) देना विशेष लाभदायक रहता है । कभी कभी रक्तमोक्षण करानेसे वेदना शमन हो जाती है । यद्यपि रक्तमोक्षण कराना भी अच्छा नहीं माना गया; तथापि हृदय और शिरासमूहकी अवस्था और नीलताकी अति वृद्धि होनेपर सम्हालपूर्वक १० से २० औंस तक रक्तमोक्षण करावें ।

यह कार्य जोंक या कर्पिंगग्लास द्वारा सरलतापूर्वक हो सकता है । इसका विवेचन पहले प्रथमखण्ड पृष्ठ १७५ से २७७ तक किया गया है ।

कितनेक विद्वानोंका मत है कि, हृदय स्थानसे विशेष रूपसे भ्रष्ट हो गया हो, देह पर नीलता (Cyanosis) प्रतीत होती हो, और फुफ्फुसावरणमें वायुका दबाव अत्यधिक हो, तो एस्किरेटर यन्त्र द्वारा कुछ वायु को आकर्षित कर लेनी चाहिये; परन्तु इस विचारका इतर विद्वानोंने अनुमोदन नहीं किया ।

यदि क्षय या विद्रधिसे इस उपद्रवभृत रोगकी उत्पत्ति हुई हो, तो उसके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये ।

तीव्र वेदनाके कुछ समयके पश्चात् रक्तरस या पूय संयुक्त रस फुफ्फुसावरणमें संचित होने लगता है । सामान्य रीतिसे सब रस अन्त में पूय बन जाता है । पूय कभी-कभी अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होजाता है ।

ऐसा होनेपर द्वितीयावस्थाका उरस्तोय या पूयभूत उरस्तोय मानकर सत्वर चिकित्सा करनी चाहिये ।

बाह्य उपचार—(१) एक कपड़ेमें थोड़ीसी रुई रख नीबू जैसी पोटली बनावे । ऊपर कपड़ेके सिरेको (लगभग २ इञ्च) पकड़नेके लिये रहने देवे । फिर उस रुई वाले भागको अति गरम घीमें डुबोकर पीड़ित स्थान पर १०-१५ मिनट तक चोमा देते रहे, अर्थात् बार बार पोटलीका स्पर्श कराकर उठाते रहे । इस तरह सेक कर फिर वहाँ पर उस पोटलीको बाँध देनेसे बाह्य आघातजन्य या इतर हेतुसे प्रविष्ट वायु निकल जाती है ।

(२) हींग और अफीमको जलमे घिस निवायाकर लेप करे । फिर आवश्यकतानुसार थोड़ा सेक करे ।

(७) पीड़ित स्थानपर एरड तैल लगाकर थोड़ा सेक करे । फिर गुड़ और अजवायनको मिलाकर निवाया बाँध देनेसे आघातजन्य विकार और शूल, दोनों शमन हो जाते हैं ।

राजयक्ष्मा ।

राजयक्ष्मा—क्षय-शोष—सिल-हुम्मादिक—तपेदिक—थाईसिज—पल्मनरी ट्यूबरकुलोसीस—टी०बी०—पल्मनरी कन्जम्प्शन—Phthisis-Pulmonary Tuberculosis-T.B.-Pulmonary Consumption ।

इस रोगको शास्त्रकारोंने रोगराट् (रोगका राजा) कहा है । इस व्याधिका वर्णन विस्तारसह किया है । डॉक्टरोंमें तो इस व्याधिका विवेचन स्वतन्त्र बड़े ग्रन्थ रूपसे मिलता है ।

यह फुफ्फुसोंकी व्याधि है । इस व्याधिमें फुफ्फुस रचनामें रहे हुए धातु जीवाणु (Stomas) और वायुकोषोमे रही हुई सब ग्रन्थिया पीड़ित होती हैं । इस रोगमे पहले आक्रान्त स्थानोंकी दृढ़ता होती है । फिर धनीभूत जीवाणु कोमल (हलवे सदृश) बनकर नष्ट होते जाते हैं ।

भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।

दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः ॥

इस राजयक्ष्माकी उत्पत्ति होनेपर स्वरभंग, उरःक्षत, रक्त निष्ठीवन, अतिसार, ज्वर आदि अनेक उपद्रवात्मक व्याधियां खड़ी हो जाती हैं । एवं इस रोगकी उत्पत्तिके पहले भी अनेक रोग—ज्वर, कास, प्रतिश्याय आदि प्रतीत होते हैं ।

इस रोगकी उत्पत्ति गुप्त रूपसे होती है । इसी हेतुसे आचार्यने 'बहुरोगपुरोगमः' यह वचन कहा है । बाहरसे ज्वर, कास आदि रोगोंके स्पष्ट लक्षण प्रतीत होते हैं । भीतर यह रोग बढ़ता जाता है । जब यह रोग दृढ़ बन जाता है, तब पता चलता है कि राजयक्ष्मा हुआ । बहुधा प्रारम्भिक अवस्थामें इसका ज्ञान नहीं हो सकता । इस हेतुसे इस रोगको आचार्यने दुर्विज्ञेय अर्थात् कठिनतासे जानने योग्य कहा है । अबोध रोगी दिनोत्तक या मास तक सामान्य जीर्ण ज्वर या कास मानकर दुर्लक्ष्य करते हैं । फिर फुफ्फुसोंमें क्षयके कीटाणुओंकी आवादी बढ़ जानेपर रोग दुर्निवार दुःखसे निवारण होने योग्य बन जाता है । यह रोग रस-रक्त आदि सब धातुओंका शोषण कर लेता है, इसलिये शोष; सब इन्द्रियोंकी क्रिया शक्तिका क्षय कराता है, अतः क्षय; तथा रोग बढ़ जानेपर यह अति प्रबल दुःखदायी बन जाता है । इसलिये 'महाबल' कहलाता है ।

यह रोग पहले राजा चन्द्रको हुआ था इसलिये, एवं सब रोगोंसे अधिक कष्टतम राजा सदृश बलवान् होनेसे राजयक्ष्मा कहलाता है । राजा चन्द्रको राजयक्ष्मा होनेका कारण कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) के निम्न वचनमें दर्शाया है ।

प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद्दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे ददात् । तासां रोहिणीमेवोपैत । तं यक्ष्म आर्च्छत् तद्

राजयक्ष्मस्य जन्म । यत् पापीयान् अभवत् । तत्पाप
यक्ष्मस्य । यज्जायाभ्यो विन्दत् तज्जायेन्यस्य । य एवं
एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दति ॥

तै० सं० २।३।५।२ ॥

प्रजापतिकी ३३ पुत्रिया थीं । इन सबका विवाह राजा चन्द्रके साथ किया गया । इनमेंसे रोहिणीसे राजाजी ने विशेष समागम किया । जिससे उसे यक्ष्मारोगकी प्राप्ति हुई । यही राजयक्ष्माकी प्रथमोत्पत्ति मानी जाती है । जो शास्त्रविधानको तोड़कर अत्यन्त स्त्री समागम द्वारा अपने वीर्यको अत्यधिक परिमाणमें नष्ट करनेका पाप करता है, उसे यह यक्ष्मा हो जाता है । जो मनुष्य इस रोगकी उत्पत्तिको जानता है, वह यक्ष्माके चक्रमें नहीं गिरता ।

जिस तरह यजुर्वेदमें यक्ष्माका हेतु दर्शाया है, उस तरह ऋग्वेद और अथर्व संहितामें भी वर्णन मिलता है । अथर्ववेदके सप्तम काण्डमें कहा है कि:—

यः कीककसाः प्रसृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदिश्रितः ॥

इस मन्त्रका अर्थ श्रीसायणाचार्यजी ने किया है कि, जो राजयक्ष्मा नामक रोग कीककसा (हड्डियों) में व्याप जाता है; जो रोग तलीद्यम् (भीतरमें रहे हुए मांस आदि) में प्रवेश कर उसे आकर्षित कर लेता है अर्थात् उनको सुखा देता है, जो कोई दुःसाध्य राजयक्ष्मा सज्ञा वाला रोग ककुदि (ग्रीवा आदि मुख्य अंगों) में आश्रय पाकर उसे शुष्क बना देता है, और जो रोग सारे शरीरगत सब धातुओंका शोषण कर लेता है, वह किसे होता है ? उत्तरमें कहते हैं कि, जो मनुष्य सर्वदा स्त्री सभोग करता रहता है, उसे इस क्षय रोगकी सम्प्राप्ति होती है ।

इन बचनों परसे अवगत होता है कि, अति प्राचीन कालमें भी ऋषि लोगोको इस राजयक्ष्माके निदान-चिकित्सा आदिका पूर्ण बोध था ।

पाश्चात्य प्रदेश वासियोंका ज्ञान—राजयक्ष्माके पाश्चात्य प्रदेश के इतिहासकी ओर दृष्टि डालने पर विदित होता है कि, पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार इस रोगका बोध यूरोप वासियोंको ईसाके ४०० वर्ष पहले मिला है। उस समयमें इस रोगका विशेषज्ञ हिपोक्रेटिस था। इसने इस रोगकी चिकित्साके लिये बहुतसी सदोष बातें लिखी हैं। फिर ई० १३० से २०० तक प्रो० गेलनने विशेष शोध की है। उन्होंने इसे संसर्गज रोग (Epidemic) माना था। उनकी मान्यता अनुसार फुफ्फुसोंमें व्रण होनेपर राजयक्ष्माकी उत्पत्ति होती है। एवं यह रोग संसर्ग द्वारा दूसरोको भी हो जाता है। गेलनके बाद १६ वीं शताब्दी तक यूरोपका वैज्ञानिक वायुमण्डल अन्धकारपूर्ण रहा है। फिर डाक्टर सिल्विसका युग आया। वह १६१४ से १६७२ ई० तक है। इन्होंने क्षय रोगके विवेचनमें आयुर्वेद सिद्धान्तके अनुरूप कास, और दैहिक हास होना आदि लिखा है। इन्होंने सबके पहले यक्ष्मा ग्रन्थिको ट्युबरकुल (Tubercle) संज्ञा दी है।

फिर इस रोगकी उत्पत्ति और लक्षणोंके लिये १८६८ तक कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। १८६८ ई०में फ्रान्स निवासी डाक्टर विलैमिन ने यक्ष्माग्रन्थिको क्षुद्र पशुओंमें लगायी। जिससे वे सब पशु यक्ष्मा रोगीके सभी लक्षणोंसे आक्रान्त हो गये। इस परसे इन्होंने सिद्ध किया कि, राजयक्ष्मा रोग संक्रामक है। फिर १८८२ ई० जर्मनीके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रॉबर्ट कौकने यक्ष्मा कीटाणु (Bacilli Tuberculosis) का पता लगाया; और बर्लिन शहरमें मिली हुई डॉक्टरोंकी कान्फ्रेंस में सिद्ध किया। फिर इन्होंने १८८६में यक्ष्माकीटाणु विष (T. B. Toxin) की शोध की; तथा इन कीटाणुओंके मानुषिक और पाश-विक, इन दो प्रकारोंको १९०१में सिद्ध कर दिखाया।

इस रोगकी चिकित्सा कैसे करनी चाहिये? इस बातको यूरोप गत शताब्दीके पहले नहीं जानता था। वहाँके डॉक्टर भलती

चिकित्सा कर अनेकोटो जुलाब देकर और अनेकोंको रक्त निकालकर यमराजके गृहके अतिथि बनाते थे ।

रोग सञ्चारका क्रम—अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ है कि, यक्ष्मा पीडित रोगीके श्लेष्ममें असंख्य कीटाणु होते हैं । रोगीके श्लेष्मको सम्हाल पूर्वक बन्द वर्त्तनमे न रखे, तो उस पर मक्खियाँ बैठती हैं । फिर वे कीटाणुओंको ले जाती है, और इतर खान पान आदिमे मिला देती है । एव दीवार, फर्श आदि पर गिरे हुए श्लेष्मके सूख जाने पर कीटाणु उड़कर अन्न-जलमे मिल जाते हैं । एव श्वासोच्छ्वास द्वारा कुपकुपमे प्रवेशकर जाते हैं । अज्ञानी मूढ मनुष्योंके मकानमे किसीको राजयक्ष्मा रोग हो जाय, तो उस मकानमें कीटाणु वर्षों तक जीवित रह जाते हैं । फिर वे निर्बल मनुष्योपर आक्रमण करते रहते हैं ।

आयुर्वेदिक निदान—श्री माधवाचार्यजी लिखने हैं कि, यह यक्ष्मा रोग अधोवायु, मल या मूत्र आदिके वेगोका रोध, अधिक स्त्रीसेवन, बलात्कारसे गर्भपात करना, बलवानोसे कुश्ती-लड़ना, चोट लगना, साहस, अधिक परिश्रम, विषम भोजन, असमय पर बार बार भोजन, क्षययुक्त पशुओंके मांसका भोजन, अपथ्य भोजन, मानसिक चिन्ता, अधिक व्रत, उपवास, महा पाप, जीर्ण ज्वरमें अपथ्य सेवन, ईर्ष्या, शोक, अथवा मधुमेह, वृक्क-प्रदाह, मोतीभ्रम, कूकर खांसी या इतर किसी रोगसे धातुओंका क्षय होने पर उत्पन्न हो जाता है ।

भगवान् पुनर्वसुने इस यक्ष्मा रोगके उत्पादक कारण-साहस, संधारण, क्षय और विषमाशन, ये ४ कहकर इनकी सुन्दर सार-गर्भित व्याख्याकी है । व्याख्या लम्बी है, किन्तु अति भावपूर्ण होनेसे उसका तात्पर्यार्थ यहाँ देते हैं । यदि पाठक इन कारणोंका मनोयोग पूर्वक मनन करेगे, तो प्राचीन महर्षियोंकी अलौकिक बुद्धिका सहज अनुमान कर सकेंगे । महर्षि कथित ४ कारणोंसे ही शारीरिक रोग निरोधक शक्ति और जीवनीय शक्तिका क्षय होता

है । इस तरह क्षमता शक्तिका हास होने पर पाश्चात्य विद्वानोंके कहे हुए क्षयकीटाणुओंकी उत्पत्ति, निवास और वृद्धिके लिये उपयुक्त क्षेत्र तैयार होता है । यदि इन कारणों का अभाव हो, तो क्षयकीटाणुओंकी उत्पत्ति या वृद्धि कदापि नहीं हो सकेगी ।

युद्धाध्ययन-भाराध्व-लंघन-प्लवनादिभिः ।

पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथापरैः ॥

(१) साहस—दुर्बल होने पर बलवान्के साथ मल्ल युद्ध करना, अत्यन्त बड़े मनुष्यको खेंचना, अति जोरसे बोलना या अत्यन्त बोलना, बहुत ज्यादा बोझ उठाना, शक्तिसे अत्यधिक तैरना, जल्दी जल्दी दौड़ना, चोट खाना, कला खाना, कूदना, उछलना, मार्गका अतिगमन, अति वेगपूर्वक मार्ग गमन, पत्थर आदिको जोरसे फेंकना, किसीको बल पूर्वक मारना आदि आदि अति साहसके कार्य, या जिसमें अत्यन्त परिश्रम होता हो, ऐसे कार्य करने पर अकस्मात् वायु प्रकुपित होती है । फिर कुफुसोंमें उरःक्षतकी प्राप्ति होती है । वहाँ रही हुई वायु कफकोभी कुपित कराती है । एवं दूषित कफको उरःस्थानमें अति उत्पन्न कर और धातुओंका शोषण कर ऊपर, नीचे और तिर्यक् स्थानोंमें गमन करती रहती है । इस वायुका जो अंश शरीरकी संधियोंमें प्रवेश करता है । वह जम्भाई, अंगमर्द (अंग कूटना) और ज्वरकी उत्पत्ति कराता है । आमाशयमें प्रवेश कर अरुचि और मल भेदन आदि रोग उत्पन्न कराती है । इसके हृदयमें प्रवेश करने पर हृदय शूल आदि विकृति हो जाती है । कण्ठस्थानमें प्राप्त होने पर स्वरभंगजन्य पीड़ा होती है । प्राणवाहिनियोंमें जाने पर श्वास और प्रतिश्यायकी उत्पत्ति होती है । जब वायु मस्तिष्कमें स्थिति करती है; तब शिरदर्द होने लगता है ।

फिर उरःस्थानकक्षय, वायुकी विषम गति और कण्ठका

विध्वंस हो जानेसे कास सतत बनी रहती है। खांसने पर उष्णतमसे रक्त मिला हुआ कफ निकलता रहता है। रुधिर आनेके पश्चात् कफमे दुर्गन्धभी आने लगती है। इस तरह ये सब विकार (लक्षण) साहस के हेतुसे उत्पन्न हो जाते हैं।

यह रोग महाकष्टकर होनेसे आचार्यने निदानमे विवेचन करनेके पश्चात् पुनः चिकित्सित स्थानमेंभी इन लक्षणोंका वर्णन निम्न श्लोको से किया है।

स शिरःस्थ शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः ।

कण्ठोर्ध्वसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥

पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वचोर्भेदं गुदे स्थितः ।

जम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरस्थश्चोरसो रुजम् ॥

क्षणाच्चोरसो रक्तं कासमानः कफानुगम् ।

जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति ॥

पुनः आचार्यने दूसरी बार जो उपदेश किया है, वह इस रोगसे अधिक सम्हालनेके लिये है। इन विकारोंके हेतुसे रक्त आदि धातुओंका शोषण होता जाता है, और मनुष्य धीरे धीरे सुखता जाता है। अतः मतिमान् मनुष्योंको चाहिये कि, अपने बलके अनुसार कार्य करें। बलके आधारसे देहका संधारण होता है, और देह ही मनुष्योंको सुख सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये मुख्य आधार रूप है। इसलिये उपदेश रूपसे कहते हैं किः—

साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षन् जीवितमात्मनः ।

जीवन् हि पुरुषस्त्रिष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥

जीवन रक्षाकी इच्छावाले मनुष्योंको चाहिये कि, साहस-कर्मका त्याग करें। कारण, पुरुष जीवन रहने पर ही इष्ट कर्मोंके फलोंको पा सकता है।

(२) **संधारण**—जब मनुष्य राजा, मालिक, गुरु, द्यूतसभा, संतसमाज, स्त्री समाज या इतर किसीके समीप होनेके हेतुसे लज्जावश अपान वायुके वेगको रोक देता है; अथवा दूसरोंकी शर्मके मारे, घृणा, भय, किसी काममें लगे रहने, गाड़ी आदिमें प्रवास करने या इतर किसी कारणवश सुविधा न मिलनेसे मल-मूत्रके वेगका धारण करता है, तब वायु प्रकुपित होती है। फिर शूलकी उत्पत्ति कराती है; अवयवोंका भेदन करती है; मलको सुखा देती है; पसलियोंमें अति पीड़ा उत्पन्न करती है; कंधे, कण्ठ, उरःस्थान शिर आदि स्थानोंमें हानि पहुँचाती है; तथा कास, श्वास, ज्वर, स्वरभेद और जुखाम आदिकी उत्पत्ति कराती है। पश्चात् इन विकारोंसे धातुओंका शोषण कर शनैः शनैः देहको सुखा देती है; और राजयक्ष्माकी प्राप्ति-करा देती है। इस संधारणवेगजनित विकारोंका वर्णन पुनः चिकित्सित-स्थानमें निम्न वचनसे किया है।

हीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम् ।
 वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः ॥
 तथा वेगप्रतीघातात्कफपित्ते रोसमयन् ।
 ऊर्ध्वं तिर्यग्धः कुर्याद्विकारान्कुपितोऽनिलः ॥
 प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ।
 पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम् ॥
 अङ्गमर्दं मुहुञ्छर्दिर्वर्चोभेदं त्रिलक्षणम् ।
 रूपाण्यैकादशैतानि यक्ष्मा वै रुच्यते महान् ॥

अर्थात् अधोवायु, मल-मूत्रादिके वेगका लज्जा, घृणा या भयके हेतुसे निरोध करनेसे वायु प्रकुपित होकर फिर कफपित्तको प्रकुपित कर ११ लक्षणयुक्त राजयक्ष्माकी सम्प्राप्ति करा देती है।

इससे संरक्षण करनेके लिये उपदेश रूपसे भगवान् आत्रेय कहते हैं कि:—

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।

तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥

सब बातोंको छोड़कर शरीरका पालन करना चाहिए । इस शरीरका अभाव—नाश होजाने पर जीवके सब भावोंका नाश होजाता है । अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंसे वह वंचित हो जाता है ,

(३) क्षय—जब मनुष्य अतिशय शोक, चिन्ता युक्त बनता है , या ईर्ष्या, उत्क्रांता, भय, क्रोध आदि मानसिक वृत्तियोंकी उत्पत्ति हो जाती है , देह कृश हो जाने पर भी शुष्क अन्नपान सेवन करता है , निर्बल होने पर भी उपवास या अति कम भोजन करता रहता है, तब उसके हृदयमें स्थित देहपोषक सत्व—ओजका क्षय हो जाता है । फिर शोष रोगकी सम्प्राप्ति होजाती है ।

जब मनुष्य अति हर्षमें आकर अत्यन्त स्त्री संभोग करता रहता है, तब अति मात्र प्रसंगके हेतुमे शुक्रका क्षय हो जाता है फिर भी मानसिक तृप्ति न होनेसे स्त्रीसमागममें अधिकसे अधिक प्रवृत्ति करता है ऐसे प्रसंगोंमें वीर्यपात भी नहीं होता । प्रकुपित वायु देहकी धमनियोंमें प्रवेश कर जाती है, और शुक्राशयस्थ रक्तवाहिनीमेंसे रक्तस्राव कराती है । जिससे शुक्रक्षयके पश्चात् शुक्रमार्गसे रक्तप्रवृत्ति होती है । फिर संधियोंमें शिथिलता और देहमें रूक्षता आजाती है, शरीर अधिकसे अधिक दुर्बल बनता जाता है । वायु प्रकुपित होकर वशिक (शून्य-सी) हो जाती है । फिर देह रूप नगरी में चारों ओर फैलकर सब धातुओंका शोषण कर लेती है । जिससे मांस और रक्तका क्षय,

श्लेष्म और पित्तका प्रकोप, षसलियोंमें विकृति, कण्ठका ध्वंस, अति दूषित कफसे मस्तिष्क भर जाना, सांधों-सांधोंमें पीड़ा, अङ्गमर्द, अरुचि, भोजनका विपाक न होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । एवं पित्त श्लेष्मके उत्कलेशित होजानेसे वायु प्रतिलोम गति कर ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद, प्रतिश्याय आदि की उत्पत्ति कराती है । पुनः इन विकारोंसे पीड़ित होनेसे दिन-प्रति-दिन धातुओंका अधिकाधिक शोषण होता जाता है; और शनैः शनैः देह सूखती जाती है ।

इस बातको अधिक स्पष्टरूपसे समझानेके लिये आचार्य पुनः कहते हैं कि, जब हर्ष, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक, देहको अतिकृश करना, अति व्यवाय (स्त्री संभोग) और उपवास आदिसे शुक्र और ओजका क्षय हो जाता है; तब वायु क्रोधित बन कर पित्तको प्रकुपित करा देती है । फिर प्राणोंका नाश करने वाला यक्ष्मारोग एकादश लक्षण युक्त उत्पन्न हो जाता है । प्रतिश्याय, ज्वर, कास, अङ्गमर्द, शिरदर्द, श्वास, मलभेदन, अरुचि, पार्श्वशूल, स्वरक्षय और कंधोंमें वेदना, ये ११ लक्षण शुक्र और ओजके क्षयसे उत्पन्न होते हैं । इस हेतुसे बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि, देहकी रक्षा करनेके लिये शुक्रका संरक्षण करें । इस सम्बन्धमें भगवान् आत्रेय कहते हैं कि:—

आहारस्य परं धामः शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।

क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥

आहारसे उत्पन्न रस-रक्त आदि धातुओंमें शुक्र सबके परम-धाम रूप है । इसलिये इसका आप्रदपूर्वक संरक्षण करना चाहिये । इस शुक्र धातुका क्षय हो जानेसे नाना प्रकारके रोग सताते हैं, और मरण भी हो जाता है ।

(४) विषमाशन—‘विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीत-

कालयोः' अर्थात् अधिक या थोड़ा खाना, भोजनके समयके पहले खाना, भोजनका समय टलजाने पर खाना, ये सब विषमाशन कहलाता है । जब मनुष्य आहार सेवन करनेमें प्रकृति (आहार, ओषधि द्रव्यका गुरु-लघु आदि गुण), कारण (भोजन पर किये हुए संस्कार), संयोग (घी, शहद आदिका मिश्रण), राशि (मात्रा), देश, काल, उपयोग संस्था (यह मेरे लिये उपयोगी है या नहीं, इस तरहके उपयोग-नियम), उपशय (प्रकृति, रोग और अभ्यासके अनुकूल) आदिसे विरुद्ध वर्त्ताव करता है, तब उसके वात, पित्त और कफ वैषम्य भाव को प्राप्त होते हैं । फिर ये वातादि दोष प्रकुपित होकर नाड़ियोंके मार्ग को रोक देते हैं । इनका निवारण किये बिना मनुष्य यदि आहारका सेवन करता रहता है, तो उसके मल-मूत्रकी अधिक वृद्धि होने लगती है, आहारसे रस-रक्त आदि धातुओं की पुष्टि नहीं होती । फिर मल संचित होने लगता है, और बहुधा सूखता जाता है, पश्चात् इसमेंसे सेन्द्रिय विषकी उत्पत्ति होती जाती है; और इतर धातुएँ दूषित होती जाती हैं ।

इस तरह स्वच्छन्दी मनुष्यके विषमाशनसे संचित दोष विविध विकारोंसे युक्त होकर शरीरका अति शोषण कर लेते हैं । परिणाममें राजयक्ष्मा की प्राप्ति हो जाती है । पश्चात् शनैः शनैः मनुष्य सूखता जाता है । इस विवेचनका अधिक सरष्टीकरण करनेके लिये आचार्य चिकित्सित स्थानमें पुनः लिखते हैं किः—

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः ।

जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः ॥

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः ।

रुध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥

जब मनुष्य विविध प्रकारके अन्नपान को मौजमें आवे, उस

तरह खाते रहते हैं; पथ्यापथ्य या सात्म्य-असात्म्यका विचार नहीं करता; तब वात आदि धातुएँ प्रकुपित होकर घोर विषम रोगों की उत्पत्ति करा देती हैं । प्रकुपित हुए दोष रुधिरवाहिनियों के मार्गका रोध कर देते हैं; और धातुओं को पुष्ट नहीं करते । फिर यक्ष्मा रोगके लक्षण—प्रतिश्याय, मुँहमें बार-बार कफ आना, कास, छर्दि, अरुचि, उब्र, कंठोंमें वेदना, कफमें रुधिर आना, पार्श्वशूल, शिरःशूल और स्वरभेद, ये ११ प्रतीत होते हैं । इसलिये मतिमान् पुरुषोंको चाहिये कि, प्रकृति आदिके अनुकूल आहारका सेवन करते रहें । आचार्य उपदेश करते किः—

हिताशी स्यान् मिताशी स्यात् कालमोजी जितेन्द्रियः ।

पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात् ॥

विषमाशनसे उत्पन्न विविध विकार और अनेकविध कष्टों को देखकर बुद्धिमानों को चाहिये कि, हिताशी (हितकर भोजन करने वाले), मिताशी (मर्यादा में भोजन करने वाले), काल भोजी (ऋतुके अनुकूल भोजन करने वाले) और जितेन्द्रिय बनें । खूब चटपटे भोजन करना, नाक तक ठूस कर खाना, असमय पर खाना, मनको संतुष्ट करने या जिह्वाके स्वादके लिये खाना, अपवित्र, गंदे और दूषित अन्नका सेवन करना, तथा शरीर को हानि पहुँचाने वाले पदार्थोंका भक्षण करना, इन सबसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये ।

उक्त चार कारणोंसे राजयक्ष्मा रोगकी उत्पत्ति होती है । इनमें साहसजन्य क्षयमें स्वरभेद, पार्श्वपीडा और जम्भाई; वेग संधारणजन्य क्षयमें अंगमर्द, बार-बार वमन और मलभेद; धातु-क्षयज यक्ष्मामें श्वास, शूल और संताप; तथा विषमाशनसे उत्पन्न शोषमें रुधिर की वमन, ये लक्षण परस्पर भेद वाले हैं ।

साहसज क्षयमें प्रतिश्याय नहीं होती । धातुक्षयसे उत्पन्न विकार में प्रतिश्याय का सद्भाव होता है ।

इन कारणचतुष्टयके अतिरिक्त अंजन निदान कारणे रक्त-पित्तसे राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति कही है । एवं महर्षि आत्रेयने चिकित्सित स्थानमें पूज्योके शापको तथा हारीत ऋषिने पूर्व कृत पाप को भी क्षय रोगका कारण माना है । जिस मनुष्यने पहलेके जन्मोंमें देवमूर्तियों को तोड़ा है, गर्भमें रहे हुए जीवोंको दुःख दिया है, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, स्त्री, असावधान और सोये हुए मनुष्य की हत्या की है, या देवो (मूर्तिओ) का जलाना, बाग आदिका नाश करना, डाका डालना, देवताओका धन खाजाना, गर्भ गिराना, किसी को विष खिला देना, अथवा इतर महापाप किया है, उसे विपरीत कर्मके फल की प्राप्तिके निमित्त मन और सूक्ष्म धातुओमें विकृति होकर महादारुण राज-यक्ष्मा रोग की सम्प्राप्ति हो जाती है ।

इनके अतिरिक्त स्वामीकी स्त्री और गुरुपत्नीसे संभोग, सुर्वणकी चोरी और महापापियोंको पापकार्यमें प्रेरणा करना, ये भी राजयक्ष्माके उत्पादक कारण माने गये हैं । महापापके परिणाम रूपसे उत्पन्न होने वाले रोगोंमेंसे कुछ नाम निम्नानुसार दर्शाये हैं ।

कुष्ठं च राजयक्ष्मा च प्रमेहो ग्रहणी तथा ।

मूत्रकृच्छ्रं श्मरी कास अतिसार-भगन्दरौ ॥

दुष्टं व्रणं गण्डमाला पक्षाघातोऽक्षिनाशनं ।

इत्येवामादयो रोगा महापापोद्भवाः स्मृताः ॥

कुष्ठ, क्षय, प्रमेह, ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, कास, अतिसार भगंदर, नासूर, गण्डमाला, पक्षाघात और अंधता आदि रोग महापाप करने वालों को प्राप्त होते हैं ।

इस यक्ष्मा रोगकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम, इन दो प्रकारसे होती है । यदि कफ प्रधान दोषोंसे रस आदि मार्गका रोध होकर रस, रक्त, मांस आदि, क्रमसे हो, तो अनुलोम क्षय; और अति मैथुन आदिसे वीर्यका अधिक पात होकर शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेद आदि क्रमसे शोष हो, तो प्रतिलोम क्षय कहलाता है । दोनों प्रकारोंमें सम्पूर्ण धातुओंका क्षय होकर मनुष्य शुष्क अस्थिपञ्जरवत् बन जाता है ।

यह रोग विशेषतः क्षीण वीर्य वालोंको और निर्बल पचन-शक्ति वालोंको होता है । इसलिये श्री० वाग्भट्टाचार्य कहते हैं कि:—

अग्नि मूलं बलं पुंसां रेतो मूलं च जीवितम् ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शुक्रं वह्निं च रक्षयेत् ॥

मनुष्योंके बलका आधार अग्नि (पचन शक्ति) है; और जीवनका आधार शुक्र है । अतः मतिमान् मनुष्योंको चाहिये कि, सब प्रकारसे वीर्य और अग्नि का संरक्षण करें ।

राजयक्ष्माका पूर्वरूप—श्री माधवाचार्यजी लिखते हैं कि, क्षय रोगकी उत्पत्तिके पहले श्वासके वेगकी वृद्धि, अंग टूटना, मुँहसे बारबार कफ निकलना, तालु सूखना, वमन, अग्निमान्द्य, मानसिक अस्वस्थता, नशा-सा बना रहना, पीनस (जुकाम), कास, निद्रावृद्धि, शोथ, मुखमण्डल, नाखून और नेत्र सफेद निस्तेज बन जाने, स्निग्ध-पौष्टिक भोजन, मद्य, मांस और मैथुनके सेवनकी इच्छा बढ़ना, स्वप्नमें कौआ, तोता, शल्लकी (सेई), मोर, गीध, बन्दर, गिरगट, आदि पशुपक्षियों पर सवारी करना, जल रहित सूखी नदियाँ, सूखे वृक्ष, दावानल, जंगल या पर्वत पर अग्नि लगना, बाल, हड्डी या राखके ढेरों पर चढ़ना, आकाशसे पहाड़ और तारा टूटना, व्याघ्र आदि पशुओंका हमला, बीभत्स

और मर्यादाके विरुद्ध नाना प्रकारके दृश्योंका दर्शन आदि लक्षण इसरोगकी सूक्ष्मावस्थामें प्रतीत होते हैं ।

चरकसाहितकार कहते हैं कि, प्रतिश्याय, बार-बार छीक-आना, श्लेष्मकी वृद्धि, मुँहका मीठापन, भोजनके समय पर भोजनकी इच्छा न होना, थकावट, पात्र, जल, अन्न, दाल, पिसे हुए पदार्थ, चटनी आदि निर्दोष और थोड़े दोष वालेमें अति दोषका देखना अर्थात् निष्प्रयोजन, भोजनके वर्तनोंको अपवित्र समझना और भोजनके पदार्थोंमें मक्खियाँ, तृण, केश आदि गिर जानेका भ्रम होना, भोजन कर लेने पर उवाक आना और कभी-कभी वमन होकर भोजन निकल जाना, मुँह और हाथ-पैरोंका सूखना, हाथोंको बार-बार देखते रहना, नेत्र सफेद और निस्तेज हो जाना, मेरे बाहु कैसे हैं यह जानने की इच्छा होना, स्त्री सम्भोग की इच्छा बनी रहना, अति घृणा करना, देहमें खराब वास और खराब रूपकी भ्रान्ति होना, स्वप्नमें बार-बार नदी, तालाव आदि जलाशयोंको जलरहित देखना, ग्राम, नगर, नगरी आदि मनुष्य की आबादी वाले स्थानोंको जनशून्य देखना, गिरगट, मोर, बन्दर, तोता, साँप, कौआ उल्लू, गीध आदि पक्षियोंका स्पर्श और उनपर सवारी करना, बाल, हड्डियाँ, राख, तुष (धान्यके छिलके), कोयले या निर्धूम अग्नि आदिके समूह पर चढ़ना, इत्यादि पूर्वरूप भासते हैं ।

इनके अतिरिक्त पुनः चिकित्सा स्थानमें कुछ लक्षण दर्शाये हैं कि, भोजन अच्छा करने पर भी बलका क्षय होते रहना, स्त्री, मद्य और मांस सेवनकी अति इच्छा होना, मस्तिष्कको बल आदिसे ढकने की इच्छा, नख और केशकी अति वृद्धि, स्वप्नमें तारा, नक्षत्र आदिका पतन, पहाड़ोंका गिरना और वनमें आग लग जाना आदि दर्शन बार-बार होते रहना, इत्यादि लक्षण इस बहुरूप वाले राजयक्ष्माके पूर्वकालमें उपस्थित होते हैं ।

पूर्वरूपके लक्षण शास्त्रकार इसलिए समझाते हैं कि, चतुर लोग इन लक्षणोंका अनुभव होने पर सावधान होजायँ । तत्काल सम्यक् प्रकारसे चिकित्सा करानेका प्रवन्ध करें ; और भविष्यमें आने वाली महान् विपत्तिसे बच जायँ ।

राजयक्ष्मा के लक्षण—श्री० साधवाचार्यजी लिखते हैं कि, कन्धे और पसलियोंमें पीड़ा, हाथ-पैरके तलवोंमें दाह और ज्वर बना रहना, ये ३ लक्षण मुख्य होते हैं ।

श्री० भोज आचार्यने कास, ज्वर और रक्तपित्त, ये ३ लक्षण कहे हैं ।

सुश्रुसंहिताकारने भोजनकी इच्छा न होना, ज्वर, श्वास, कास, रक्तष्ठीवन, स्वरभेद, ये ६ लक्षण कहे हैं ।

यह रोग तीनों दोषोंके प्रकोपसे होता है ; इस हेतुसे तीनोंके मिश्रित लक्षण दर्शाये हैं । जब रोग बढ़ जाता है ; तब निम्न ११ लक्षण प्रतीत होते हैं ।

३—वातके स्वरभङ्ग, शूल और अंश (कन्धों) तथा पसलियोंका संकोच, ये ३ लक्षण ।

४—पित्तप्रकोपसे ज्वर, दाह, अतिसार और रक्त जाना (उरः-क्षत होकर थूकमें रक्त आना, क्वचित् अन्त्रमें क्षत होकर रक्तातिसार होना), ये ४ लक्षण ।

४—कफ प्रकोपसे शिरका भारीपन, अरुचि, कास और कण्ठमेंसे कफकी खरखर आवाज निकलना, ये ४ लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

चरकसंहिताकारने इस रोगके लक्षण—शिरका भारीपन, कास, श्वास, स्वरभेद, श्लेष्म की वमन, रक्त ण्ठीवन, पार्श्वपीड़ा, कन्धोंका टूटना, ज्वर, अतिसार और अरुचि, ये ११ कहे हैं । तथा श्री० वाग्भट्टाचार्य ने निम्न ११ लक्षण दर्शाये हैं ।

७—ऊर्ध्व देहमें पीनस (प्रतिश्याय), श्वास, कास, कन्धोंमें

वेदना, शिर दर्द, स्वरभेद और अरुचि, ये ७ ऊर्ध्वगत विकारसे उत्पन्न होते हैं ।

१—अधोगत दोषसे मल पतला हो जाना, और कभी-कभी कठजहो जाना ।

१—कोष्ठस्थ दोषसे वमन ।

१—तिर्य्यक्गत दोषसे पार्श्वपीडा ।

१—संधिगत दोषसे ज्वर ।

राजयक्ष्मासे उपद्रव—इस रोगमें श्री० वागभट्टाचार्यने लिखा है कि, कण्ठका नाश (स्वरभंग), उरोरुज (फुफ्फुसोंसे क्षत हो जाना), जम्भाई, अंग मर्द, कफमें रक्त आना, अग्नि नष्ट हो जाना और मुँहसे दुर्गन्ध निकलना ये ७ उपद्रव, रोग प्रबल होने पर कुछ कालके पश्चात् उत्पन्न होते हैं ।

साध्यासाध्यता—जिस राजयक्ष्मा रोगीके उपर्युक्त ११ लक्षण अथवा कास, अतिसार, पार्श्व पीडा, स्वरभेद, अरुचि और ज्वर, ये ६ लक्षण अथवा कास, श्वास और रक्तस्राव, ये ३ लक्षण पूर्ण बलयुक्त प्रतीत होते हों, ऐसे रोगीका त्याग कर देना चाहिये; अर्थात् इन ११, ६ या ३ लक्षणोंके साथ मांस और बल का क्षय हो गया हो, अथवा सब लक्षण प्रबल प्रतीत होते हों, तो उस रोगीको छोड़ देना चाहिये ।

जो रोगी दुर्बल और मांस-रक्तके अति क्षय वाला हो; उनके लक्षण चाहे स्वल्प ही प्रतीत होते हों, तो भी उसे त्याग देना चाहिये ।

जिस रोगीका आहार अत्यंत बढ़ गया हो, और बल-मांस का क्षय हो गया हो; या जिस फुफ्फुसक्षय रोगीको अतिसार (संग्रहणी) हो गया हो; अथवा जिस रोगीके वृषण और उदर पर शोथ आ गया हो, उनका परित्याग कर देना चाहिये ।

जिस रोगीके नेत्र निस्तेज सफेद हो गये हों, अरुचि, ऊर्ध्व

श्वास और जिसके मलका त्याग अति कष्ट पूर्वक होता हो, ऐसे मनुष्यको यह यक्ष्मा रोग मार डालता है ।

यदि लक्षण अधिक हो और अरिष्टकी प्रतीति न होती हो, तो भी उसका त्याग कर दें । कारण, लक्षण बढ़ जाने पर अरिष्ट-चिह्नोंकी उत्पत्ति, बिना निमित्त अकस्मात् हो जाती है ।

व्याधि और ओषधिके बलको जो रोगी सहन नहीं कर सकता ; चाहे अल्प लिङ्ग वाला ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देना चाहिये ।

कचित् अन्तर्कालके थोड़े दिन (११-२ मास) पहले रोगी के दोनों जबाड़ों पर बड़े-बड़े दाने निकलना, लगभग १ मास पहले शिरमें काला दाना होना, ४ दिन पहले शिर पर लाल फुन्सियाँ होना, मृत्युसे थोड़े दिन पहले जुधा बहुत बढ़ जाना, इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं । फिर निर्बल रोगियोंके जीर्ण रोगकी चिकित्सामें प्रायः सफलता नहीं मिलती । इस हेतुसे शास्त्रकारोंने ऐसे पूर्ण उपद्रव युक्त रोगियोंको त्याग देनेकी आज्ञा की है ।

इसके विरुद्ध जिस रोगीके मांस-शोणितका क्षय न हुआ हो, बलवान् हो और अरिष्ट की प्रतीति न होती हो; परन्तु सब शोष लक्षणोंसे युक्त हो, तो भी साध्य माना जाता है । जिस रोगीके बल-वर्ण कायम हैं, व्याधि और ओषधिके बलको सहन कर सकता है, वह बहुलिङ्ग वाला होनेपर भी अल्प लिङ्ग वाला ही माना जाता है ।

धातु शोष होनेका हेतु—क्षय रोगीको पौष्टिक भोजन देने पर भी धातु और देह क्यों पुष्ट नहीं होती ? इस शंकाके निवारणार्थ श्री वाग्भट्टाचार्य लिखते हैं कि, वात, पित्त, कफ, तीनों दोषोंमें कफका प्राधान्य हो जाता है; फिर दूषित कफका सर्वत्र उपलेप हो जाता है; नाड़ियोंके मुखका रोध हो जाता है; जठराग्नि मन्द और रस आदि धातुओंमें ऊष्मा अति स्वल्प होनेके हेतुसे भोजन

से उत्पन्न होने वाला रस स्वस्थानमें ही विदाही हो जाता है । फिर उसमेंसे रक्त-मांस आदि धातु नहीं बनती, और वह दूषित रस रक्तभावको प्राप्त होकर ऊपरकी ओर गति करता है । इस हेतुसे कफके साथ आ जाता है, कभी केवल रक्त गिरता है । कोष्ठ में अन्न पचता है, परन्तु उसका धातुओंमें सम्यक् रूपान्तर नहीं होता, उसमेंसे विशेष रूपसे मल बन जाता है । इस हेतुसे रक्त मांस आदि धातुओंकी पुष्टि नहीं होती ।

फिर आचार्य कहते हैं कि,—

रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु ।

उपस्तब्धः सशकृता केवलं वर्त्तते क्षयी ॥

भोजनका रस जब रक्तको पुष्ट नहीं बना सकता; तब मांस आदि इतर धातुओंको पुष्ट किस तरह कर सकेगा । राजयक्ष्मा रोगीके लिये भोजन केवल मल रूपमें ही अवस्थित हो जाता है ।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि, नाड़ियोंके मार्ग रुद्ध हो जाने से रस स्वस्थानमें बढ़ता रहता है । फिर कफ बनकर बहुत अधिक परिमाणमें खाँसी चल-चल कर निकलता रहता है ।

प्राचीन आचार्योंने इस क्षय रोगके कारणभेदसे ६ विभाग किये हैं । व्यवाय शोष, शोकज शोष, वार्द्धक्य शोष, अध्व शोष, व्यायाम शोष और व्रण (उरःक्षत) शोष ।

(१) व्यवाय शोष लक्षण—व्यवाय (अधिक स्त्री सेवन) से क्षय होने पर लिङ्ग और वृषणमें वेदना, मैथुन करनेमें अशक्ति, शुक्र क्षय होनेसे स्त्री दर्शन या विचार होने पर थोड़ा-सा उष्ण-वीर्य निकल जाना, स्त्री समागम होने पर अति देरसे थोड़ा-सा वीर्य या रक्त निकलना, देहका पाण्डु वर्ण, मज्जा, मांस आदिका विपरीत क्रमसे क्षय होना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

(२) शोकज शोष लक्षण—शोक करनेसे क्षय होने पर

चिन्तातुर मुखमण्डल, निस्तेज शरीर, मानसिक बेचैनी, हाथ-पैरों में शिथिलता और भ्रम आदि लक्षण होते हैं ।

(३) जरा शोष लक्षण—वृद्धावस्थासे क्षय होनेपर कृशता, वीर्य, बुद्धि, बल और इन्द्रियोंकी शक्ति मन्द होना, कम्प, अत्यन्त अरुचि, आवाज कांसीके फूटे बर्तन जैसी हो जाना, कफवृद्धि होकर कण्ठवाहिनीमें आनेपर भी सरलतासे बाहर न आना, शरीर भारी रहना, स्फूर्तिका अभाव, अरुचि, मुँह, नाक और नेत्रसे जलस्राव होते रहना, मलावरोध, मल शुष्क और काला बन जाना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

(४) अध्व शोष लक्षण—अत्यन्त मार्ग चलनेसे उत्पन्न शोषमें शिथिल गात्र, काली, शुष्क त्वचा, त्वचासे सम्बन्धवाली संज्ञावाहिनियोंकी शक्ति नष्ट होनेसे स्पर्श ज्ञानका अभाव हो जाना तथा कण्ठ, तालु और मुँहका सूखना इत्यादि लक्षण होते हैं ।

(५) व्यायाम शोष लक्षण—व्यायामजनित क्षय होनेपर अध्व शोषके सब लक्षण विशेषरूपसे होते हैं । तथा उरःक्षतके लक्षण भी होते हैं । केवल क्षत नहीं होता ।

(६) व्रण शोष निदान—रक्तक्षय (रक्तमेंसे रक्ताणुओंके नाश और रक्तस्राव अधिक हो जानेसे रक्तकी न्यूनता), व्रण-वेदना, भय, शोक आदि मानसिक क्षोभ, भोजन ग्रहण और पचन करनेमें कष्ट होना, इन कारणोंसे उत्पन्न क्षयरोगको असाध्य माना है ।

व्रण (उरःक्षत) निदान—अत्यन्त बलपूर्वक तीर चलाना, शक्तिसे अधिक बोझ उठाना, बलवानके साथ कुश्ती करना, अकस्मात् गिरना, ऊँचे या विषम-स्थानसे गिरना, दौड़ते हुए बैल, घोड़ा आदिको रोकनेकी चेष्टा करना, शिला, लकड़ी या शस्त्रको बलपूर्वक फेंकना, दूसरोंको मारना, बड़े जोरसे पढ़ना,

जोरसे दौड़ना, बड़ी नदियोंको तैरकर पार करना, घोड़ोके साथ दौड़ना, दूर तक कूदना, अकस्मात् उछलना, कूदना, कला खाना, अत्यन्त चपलता पूर्वक नाचना, इत्यादि साहस कर्मोंसे मनुष्यों की छाती और कुम्कुस फट जाते हैं । फिर उरःक्षत होकर शोष (क्षय) हो जाता है ।

एवं अत्यन्त स्त्रीसेवन या इतर रीतिसे अत्यन्त शुक्र और ओजका क्षय, शुष्क भोजन, दीर्घ काल तक अत्यल्प परिमाणमें भोजन, इन कारणोंसे भी उरःक्षत हो जाता है ।

उरःक्षत लक्षण—शूनसे भेदन करने और उरःस्थानके दो टुकड़े करनेके सदृश पीड़ा होना, पार्श्वभागमें अति पीड़ा, समस्त शरीर सूख जाना कम्प, वीर्य, बल, वर्ण रूचि और अग्निका क्षय हो जाना, उ्वर, पार्श्वपीड़ा, मनमें दीनता, दस्त पतला हो जाना, जठराग्नि नष्ट हो जाना और खांसी चलकर अति दूषित, मेला दुर्गन्ध युक्त पीला, बताशे सदृश बंधा हुआ बहुत सा कफ रक्त और पूय मिला हुआ बार-बार निकलना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं । एवं शुक्र और ओज धातुका क्षय हो जानेपर उरःक्षत रोगी विषम क्षयको प्राप्त हो जाता है ।

उरःक्षतका पूर्वरूप—इस रोगका पूर्वरूप अव्यक्त है; अर्थात् धनुष आकर्षण आदि बाह्य क्रिया करनेके पहले कुछ भी विकार नहीं होता ।

उरःक्षत क्षयोंके आसाधारण लक्षण—छातीमें पीड़ा, रक्त-ष्टीवन, अति कफ युक्त कास, मूत्रमें रक्त जाना, पसली, पीठ और कमर जकड़ जाना इत्यादि लक्षण हो जाता है ।

उरःक्षत साध्यसाध्यता—थोड़े लक्षण, तेज अग्नि और बलवान देहवालेका नया रोग है, तो साध्य, एक वर्ष हो गया हो तो याप्य और सब लक्षण उत्पन्न हो जानेपर असाध्य हो जाता है ।

क्षयरोगका डाक्टरी विवेचन ।

डाक्टरी मतानुसार क्षय रोग संक्रामक महाव्याधि है । यह शीत कटिबन्ध प्रदेश और समशीतोष्ण देशोंमें अधिक होता है । इनमें भी जिन देशोंमें ऋतुओंका परिवर्तन सत्वर सत्वर हो जाता है, वहाँ पर विशेष होता है । एवं जो लोग क्षयकीटाणुओंसे बचनेके साधनोंको नहीं जानते और आहार विहारमें स्वच्छन्दी बनते हैं, उनमें इस रोगका प्रसार अधिक होता है ।

इस रोगके कीटाणु सरलाकृति—शलाका सदृश होनेसे इसे बेसी-लस ट्यूबरक्युलोसिस (*Bacillus Tuberculosis*) कहते हैं । इन कीटाणुओंकी लम्बाई १/८००० इंच और चौड़ाई १/८०००० इंच होती है । यदि इन कीटाणुओंका वजन किया जाय; तो पद्म कीटाणुओंका वजन लगभग १ माशा हो सकेगा । इस परसे वे कितने छोटे हैं, इस बातकी कल्पना पाठक सहज कर सकेंगे । इन कीटाणुओंका चित्र पृष्ठ ५१६में घातक पाण्डुरोगके रक्तके चित्र के साथ दिया है ।

ये कीटाणु अति शनैः शनैः अद्भुत जमाते जाते हैं । प्लेग, इन्फ्लू-एन्ज़ाके कीटाणुओंके सदृश तीव्र वेग वाले नहीं हैं । लसोकाणुओंके साथ अति शान्तिसे युद्ध करते रहते हैं । इन कीटाणुओंकी आबादी बढ़ती ही जाती है; फिर फुफ्फुसमें रहे हुए पदार्थोंका विविध रूपान्तर होने लगता है; और रोग भयंकर रूप धारण कर लेता है पश्चात् व्रण होकर पूयकी उत्पत्ति हो जाती है; और कफसे मिश्रित होकर बाहर निकलता ही रहता है ।

ये कीटाणु देहके जिस भागमें पहुँच जाते हैं; उस स्थानमें वे छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ (*Tubercles*) उत्पन्न कर देते हैं । फिर ये ग्रन्थियाँ सूजती हैं और उनकी अक्क्रान्ति होकर मलाई सदृश पदार्थ (*केसिएशन—Caseation*) बन जाता है । तत्पश्चात् ये अधिक बढ़ते हैं; तो व्रण पैदा करते हैं । एवं इन कीटाणुओंके बलक

हुआ तो चारभरण (कैल्सफिकेशन-Calcification) होकर वे सूख जाते हैं । सूख जाने पर कीटाणु नष्ट होकर रोग निवृत्त हो जाता है ।

चारभरण एक प्रकारका अंतर्भरण (Infiltration) है । जीवाणुओंमें इतर नूतन पदार्थ भरने और अवस्थित पदार्थके अधिक परिमाणमें संचय होनेको अंतर्भरण कहते हैं । अंतर्भरणमें ३ प्रकार है ।

(१) मधुभरण—(Glycogenic Infiltration) यह मधुर होता है । यह विशेषतः यकृतमें होता है, और कुछ अंशमें जीवाणुओंके भीतर होता है । रोगावस्थामें यह कर्कस्फोट, पूयभाव, न्यूमो नया और इतर सक्रामक रोगकालमें रक्तके श्वेत कीटाणुओंके भीतर भर जाता है । आयोडीनसे यह कुछ रक्तवर्णके और कठोर हो जाते हैं ।

(२) मेदोभरण—(Fatty Infiltration) मेद सर्व जीवाणुओंमें कुछ अंशमें रहता है । अति भोजन, व्यायामका अभाव, शराब, वंशपरंपरागत स्वभाव या किसी घटनाका अतियोग (Anabolic habit) से मेदवृद्धि होती है ।

(३) क्षारभरण—(Calcareous Infiltration or calcification), मृतभागमें खटिकक्षार (Calcium salt) का संचय होना, धमनी, हृदय, हृदावरण, क्षयग्रस्त जीर्णभाग, अर्बुद, विद्रधि, बीजवाहिनीमें मृत गर्भ, ग्रैवेय ग्रन्थि और वृद्धावस्थामें तरुणास्थिर्ण (Cartilages) इनमें अनेक बार चारभरण होकर वे कठिन हो जाते हैं ।

क्षय रोगके कीटाणुओंके जलजीव, पक्षी, पशु और मनुष्यके देहमें रहनेवाले, ऐसे ४ प्रकार हैं । इनमें जलजीव और पक्षियोंके कीटाणु द्वारा मनुष्योंको क्षय रोग नहीं होता । पशुदेहमें बढ़ने वाले (Bovine) कीटाणु विशेषतः गौ आदिके दूध और मास द्वारा लसीका ग्रन्थियोंका क्षय और अन्त्र क्षयकी उत्पत्ति करा देते हैं, तथा मनुष्य देहमें उत्पन्न (Human) कीटाणु तो मनुष्योंके लिये सर्वांशमें घातक ही हैं ।

यक्ष्णकीटाणु सर्वदा क्षय पीडित मनुष्योंके कफमें निकलते ही रहते हैं। एवं खांसने पर कफ न निकले, तो भी थूक और बाष्पमें अनेक कीटाणु निकल कर वायुमें मिल जाते हैं। शुद्ध वायु और सूर्यका प्रकाश, ये दोनों इन कीटाणुओंको हानि पहुँचाते हैं। यदि मरुभूमिके सूर्यके प्रखर तापमें इन कीटाणुओंको रक्खा जाय, तो थोड़े ही समयमें (१५ २० मिनटमें) मर जाते हैं। किन्तु अन्धकार और सीज़ वाले मकानमें ये कीटाणु दीर्घजीवी और महाबली बने रहते हैं। इन कीटाणुओंका देहमें प्रवेश होनेपर ये अग्रा विष सर्वत्र फैलाते रहते हैं। सूखा हुआ कफ और धूलि-कण, जो प्रकाश रहित स्थानमें हों, उनमें ये कीटाणु दिनो तक जीवित रह जाते हैं। सामान्य कीटाणुनाशक विलयनमें ये कीटाणु बहुत देर तक नहीं मरते। एवं देहके भीतर आमाशयिक रस (Gastric juice) से इन कीटाणुओंको कुछ भी हानि नहीं पहुँचती।

सम्प्राप्ति—ये क्षय कीटाणु देहके किसी अवयवमें प्रवेश कर अपना स्थान जमानेके लिये छोटे-छोटे कण (ग्रन्थियां) बनाते हैं। इन कणोंके भीतर जीवकेन्द्र युक्त एक बृहत् कोष (Cell) या अधिक प्रतीत होते हैं। इन कोषोंमें क्षय कीटाणुओंकी आबादी निवास करती हैं। इनके बाहर लसिकाणुके सदृश कोषोंकी तह रहती है; और इनके आगे सौत्रिक तन्तुओंकी तहें लगी रहती हैं। इन कणोंकी अपक्रान्ति होकर पनीर या मलाईके सदृश पदार्थ केसियस (Caseous) बन जाता है। फिर राज्यक्ष्मा रोगीके श्लेष्मके साथ, आन्त्रिक क्षय वालोंके मल और बस्ति क्षय पीडितके मूत्रके साथ कीटाणु और विष बाहर निकलते रहते हैं।

ये कीटाणु देहमें रक्त, रसायनियां और श्लेष्मल त्वचा द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं; और इतर स्थानोंको दूषित कर देते हैं।

ये क्षय कीटाणु एक ओरसे विवर बनाते ही रहते हैं; दूसरी ओर

रोगनिरोधक शक्ति उनका प्रतिकार करती रहती है । इस हेतुसे विवर भर जाते हैं और नये भी होते रहते हैं; किन्तु कीटाणुबल अत्यधिक होनेपर क्षमता शक्तिकी हार हो जाती है, और अनेक रोगी शनैः शनैः अस्थिपञ्जरवत् बनकर मृत्युके मुखमें चले जाते हैं ।

यदि रोगनिरोधक शक्ति—(Immunity) प्रबल है; तो कणों के सौत्रिक तन्तुओंमें खटिकु क्षार (Calcium salt) संचित होने लगता है । फिर शनैः शनैः सब दानोंका क्षारभरण हो जाता है । यदि पूर्ण क्षारभरण हो जाता है, तो क्षारभरण रूप दीवारके नीचे रहे हुए क्षय कीटाणुओंको आहार मिलना बन्द हो जाता है । इस हेतुसे १ से ३ वर्षके भीतर नष्ट होजाते हैं ।

यदि देहमें यह क्षारभरण क्रिया अपूर्ण हुई है, तो क्षय कीटाणु क्षारभरण रूप कारागृहके भीतर मृत तुल्य स्थितिमें मनुष्यकी मृत्यु तक जीवित रह जाते हैं । कदाचित् भविष्यमें कभी कीटाणुओंको अनुकूल आहार अधिक मिलने लग जाय, तो पुनः आसुरी स्वरूपको धारण कर लेते हैं । इसी हेतुसे अनेक बालकोंकी गलगन्धिया सत्वर नहीं पकती; और मृत्युके मुखसे बचे हुए राजयक्ष्माके अनेक रोगी सामान्य अपथ्य या स्त्री समागमकी कुछ अधिकता होनेपर पुनः आक्रमित हो जाते हैं ।

इन कणोंकी उत्पत्ति अति समीप समीप होती रहती है । इसी हेतुसे कभी कभी अनेक कण परस्पर मिल जाते हैं । फिर अपक्रान्ति होकर फूट जाते हैं, और एक बृहद् विवर बन जाता है । पश्चात् उसमेंसे पूय और कीटाणु निकलते रहते हैं, किन्तु जब तक ये कण नहीं फूटते, तब तक श्लेष्ममें पूय और क्षयकीटाणुओंका प्रवेश नहीं होता ।

इन क्षयकीटाणुओंसे उत्पन्न क्षयरोग एक ही है; परन्तु इसे स्थान भेदसे पृथक् पृथक् सज्ञा दी जाती है । इस क्षयरोगके मुख्य दो विभाग हैं । सर्वाङ्ग क्षय और स्थानिक क्षय । सर्वाङ्ग क्षय देहमें

सर्वत्र फैल जाता है, और सब अङ्गोंको हानि पहुँचाता है । यह विशेषतः चोट लगने पर होता है । स्थानिक प्रकारमें फुफ्फुस क्षयके अतिरिक्त अनेक विभाग हो जाते हैं ।

संधि क्षय, अस्थि क्षय, कण्ठस्थ लसीकाग्रन्थियोंका क्षय, स्वरयन्त्र क्षय, उदर्याकला क्षय, अन्न क्षय, मस्तिष्क क्षय, मस्तिष्कावरण (Dura) का क्षय, यकृत क्षय, स्नीहा क्षय, फुफ्फुसावरण क्षय, मूत्राशय क्षय, गर्भाशय क्षय, उपस्थ क्षय, त्वचा क्षय, मांस क्षय, सुषुम्णा क्षय आदि विभाग स्थानिक क्षयमें प्रतीत होते हैं । इनमेंसे संधिक्षय और अस्थिक्षय बहुधा स्थानिक चोट लगने पर होता है ।

अस्थि क्षयमें अस्थियोंके भीतर वेदना होना, वहाँ पर शोथ आ जाना, जोड़ोंका फूलना, फिर पूयकी उत्पत्ति होना आदि लक्षण होते हैं ।

कण्ठस्थ लसीका ग्रन्थियों द्वारा कण्ठमालकी उत्पत्ति होती है । पहले ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं । फिर पूयकी उत्पत्ति होती है ।

स्वरयन्त्रमें क्षय होनेपर स्वर बैठ जाता है ।

उदर ग्रन्थियोंमें व्याधि होने पर उदरमें आफरा, अपचन, उदरमें जाँठें प्रतीत होना और उदरमें दर्द होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं ।

अन्न क्षयमें आँतोंमें व्रण, मलके साथ रक्त और पूय जाना, पेचिश आदि चिह्न होते हैं ।

त्वचाके क्षयमें दुष्ट व्रण हो जाता है ।

मस्तिष्क और मस्तिष्क आवरणके क्षयमें शिरमें दाह, शिरदर्द, कण्ठमें वेदना, गर्दनको मोड़नेमें वेदना, प्रलाप आदि प्रतीत होते हैं ।

इन विविध अवयवोंके क्षयमें राजयक्ष्मा (फुफ्फुसक्षय) सबसे अधिकतम घातक है । कारण देहमें फुफ्फुस इतर अङ्गोंकी अपेक्षा अधिक निर्बल है । इसमें लसीका कम मात्रामें पहुँचती है; पोषक रक्त मन्द वेगसे आता है; एवं फुफ्फुसोंमें शारीरिक उत्ताप कम होता है । इन सब कारणोंसे फुफ्फुसोंमें कीटाणुओंके साथ युद्ध करनेकी शक्ति कम होती है ।

उदरग्रन्थियोंके क्षयमें लसीकाग्रन्थियों जो सहायक हैं, वे सब मन्द वेगसे रसकी गति कराती हैं, तथा वहाँ पर रक्त दबाव और रक्ताभिसरणक्रियावेग भी कम होता है । इस हेतुसे यह भी घातक है ।

कण्ठमाला, अपची आदि रोगोंमें रक्ताभिसरण द्वारा सहायता अच्छी मिल जाती है । इस हेतुसे इन लसीकाग्रन्थियोंके रोगी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं । एव इतर क्षयकी अपेक्षा यह कम फैलता है ।

अस्थि क्षय बहुत कम होता है । अस्थि कठोर होनेसे वहाँ कीटाणुसत्त्वर नहीं पहुँचते । परन्तु एक समय पहुँच गये, तो अस्थि क्षय वालेकी मृत्यु ही हो जाती है । कारण अस्थिमें रक्तका पोषण कम मिलता है । यदि विकार वाली अस्थिको काटकर अलग कर दे, तो भी यक्ष्माविष नष्ट नहीं हो सकता । अस्थि क्षय होनेपर विष समस्त देहमें प्रवेश कर जाता है । इस हेतुसे नव्य चिकित्सक वर्ग अब अस्थि क्षयमें अस्त्रचिकित्सा का आश्रय नहीं लेते ।

इन सबमें फुफ्फुसक्षय (राजयक्ष्मा) को मुख्य माना है, और अत्र-विषय भी इसीका है । अतः अत्र इसीका प्रधानतासे वर्णन करेंगे । फुफ्फुसोंकी रचना, स्थान, आकृति और कार्य आदिका वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ४३८ में किया गया है ।

क्षय निदान ।

इस राजयक्ष्मा रोगकी उत्पत्तिमें डाक्टरों मतके अनुसार मुख्य कारण क्षयकीटाणु हैं । इन क्षय कीटाणुओं द्वारा राजयक्ष्माकी प्राप्तिमें कितनेक आन्तरिक और कितनेक बाह्य (सहायक) हेतु हैं ।

आन्तरिक क्षय निदान—प्रतिश्याय, कास, प्रसूति रोग, मधुमेह, इन्फ्ल्युएन्ज़ा, न्युमोनिया, काली खाँसी, रोमान्तिका, गलग्रन्थिप्रदाह आदि क्षीणता लाने वाली दीर्घकाल स्थायी व्याधियाँ, अग्निमान्द्य, अत्यन्त नाजुक प्रकृति, शारीरिक कृशता, दाँतोंमेंसे पूय आना आदि आन्तरिक हेतु हैं ।

सहायक निदान—बुद्धिमान्ध, बालविवाह, प्रसवका कुप्रबन्ध, दरिद्रता, शरीरपोषक भोजनमें न्यूनता शहरोंकी संकीर्ण गन्दी गलियोंके प्रकाश और शुद्ध वायुसे रहित मकानोंमें निवास, अन्धकार और सीलवाले मकानोंमें निवास, घनी बस्तीमें (Densely populated) रहना, दुर्गन्धयुक्त वस्तुओंका व्ययसाय, कल-कारखाने और मीलोंमें काम करना, निवासस्थानके समीप दूधित पदार्थ, कूड़ा आदि जमा करना, मकानको गन्दा करदेना, बार-बार धूलिके परमाणु श्वासमें जाते रहना, सिगरेट, गांजा, शराब आदिका व्यसन, क्षय-रोगिणीसे मैथुन, ब्रह्मचर्यका यथोचित पालन न होना, हस्तमैथुन, अधिक संभोग, स्त्रियोंको जल्दी-जल्दी गर्भधारण होना, ये सब क्षयके बाह्य अथवा सहायक साधन हैं ।

क्षय कीटाणुओंका निवासस्थान—क्षयरोगीका भूँठा अन्न-जल, मक्खियों द्वारा क्षय कीटाणु मिला हुआ भोजन, होटलोंके खाद्य-पदार्थ, जिस मकानकी दीवारोंपर क्षय रोगी थूकते रहते हैं, ऐसे गन्दे मकान, रेलगाड़ी, मोटर, धर्मशालाके कमरे आदिमें जहां क्षय रोगी रहा हो, ऐसे स्थान, क्षय पीड़ित गौका कच्चा दूध, ये सब क्षय कीटाणुओं के निवास स्थान हैं । इनका उपयोग होनेपर क्षय कीटाणुओंका संक्रमण हो जाता है ।

क्वचित् पहलवानोंको क्षय होता हुआ प्रतीत होता है; ऐसे ही बड़े जहाजोंमें नौकरी करनेवाले मल्लाहों (Shipmen), जो समुद्रकी पवित्र वायुमें रहते हैं, उनको भी क्षय हो जाता है । अतः साहस करने-वाले भी अनेकवार क्षयकीटाणुओंके शिकार बन जाते हैं ।

यह रोग बालक, तरुण, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, इन सबपर लिङ्गभेद और वयभेदका विचार किये विना समान भावसे आक्रमण करता है । फिर भी सार्वदैहिक क्षय बच्चोंको और राजयक्ष्मा (फुफ्फुस क्षय) तरुण आयुवालेको अधिकतर होता है । कण्ठमाला, उदरग्रन्थि क्षय आदि लसिकाग्रन्थियोंके क्षयकी प्राप्ति विशेषतर बालकोंको होती है ।

क्षय ग्रसित मनुष्योंके भीतर ३ से १४ वर्ष तकके ७५ प्रतिशत और १५ से ४० वर्षकी आयु वाले २५ प्रतिशत होते हैं ।

फुफुसक्षय (राजयक्ष्मा) बहुधा १५ से ४० वर्ष तक (युवा-वस्थामे) अधिकतर होता है । बच्चों और वृद्धोंको क्वचित् ही होता है । एव स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है । परन्तु अनेक स्थानोंमें पक्षके भीतर रहनेवाली निर्धन महिलाओंपर इस रोगका आक्रमण अधिक होता है ।

इन कीटाणुओंसे अनेक प्रकारके विष उत्पन्न होते हैं । इन विषोंमेंसे कई जहरोके रुधिरमे मिलनेपर सारी देहमें ज्वर आदि नाना प्रकार के लक्षण उपस्थित होते हैं ।

क्षयी मनुष्यके कफमें करोड़ों कीटाणु एकएक समयमें निकलते रहते हैं । डाक्टर कार्नेटके अनुमानसे तृतीयावस्था वाले क्षय रोगीकी देहसे प्रतिदिन लगभग सात अरब बीस करोड़ कीटाणु बाहर निकलते रहते हैं । इस तरह ये क्षय कीटाणु अन्त्रिक क्षय रोगी के मलमें बस्तिक्षय रोगीके मूत्रमें, क्षयज व्रण होनेपर पूयमे तथा अन्य-अस्थि या सन्धि आदिके छानोंमें प्रतीत होते हैं ।

ये कीटाणु (१) रुधिर (२) नासिका (प्राणवायु) या (३) मुख (अन्नजल) द्वारा प्रवेश करके क्षयोत्पत्ति कराते हैं ।

(१) रुधिर द्वारा क्षयकीटाणुओंकी प्राप्ति शवविच्छेद करने-वाले डाक्टर आदिको दूषित शस्त्रसे अकस्मात् होनेवाले घावके हेतुसे होती है । एव क्षयरोगी क्वचित् दूसरेको मुँहसे काट लेता है, तो उसके रक्तमें कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं ।

(२) रोगियोंके थूकमें अनेक क्षयकीटाणु होते हैं, जब रोगी थूकता है । उस समय उसमेंसे उड़नेवाले तुषार और सूखे हुए कफमेसे वायु द्वारा कीटाणु उड़कर सेवा करने वाले परिचारक या मिलनेके लिये आये हुए सम्बन्धीके देहमें श्वास द्वारा प्रवेश कर जाते हैं ।

अनेक क्षयरोगी, जो अन्धकार वाले गन्दे मकानमें रहते हैं; उनके

परिचारकोंको राजयक्ष्मा सहज हो जाता है । एवं धर्मशाला, सिनेमा, नाटकशाला, होटल, रेलगाड़ी, मोटर आदि द्वारा इन्हीं क्षय कीटाणुओंसे अनेक-अनेक निरपराधी क्षयग्रस्तित हो जाते हैं । एवं राजयक्ष्माके सदृश इतर स्थानोंके क्षयके कीटाणु भी पूय-मल-मूत्र आदिमें मिल सूखकर वायु द्वारा श्वासमें जा सकते हैं ।

रेलगाड़ी, मोटर, सिनेमा, नाटकशाला, धर्मशाला आदिमें रोगी चाहे जहाँ थूकते रहते हैं; जिससे वे असमझपूर्वक अनेक निरपराधियों को मारते रहते हैं ।

स्टेशन पर भाड़ू निकालनेके समय जो वहाँ बैठे हों, एवं जो भाड़ू निकालता हो, इनमेंसे अनेकोंके फुफ्फुसोंमें कीटाणु श्वास मार्गसे पहुँच जाते हैं । फिर जिनकी रोग निरोधक शक्ति निर्बल हो; उनको इस रोग की प्राप्ति हो जाती है ।

(३) मानव देहमें क्षयकीटाणुओंका तीसरा प्रवेश द्वार मुख है । रोगीके झूठे अन्नजलको ग्रहण करने वालों की देहमें कीटाणु सरलतापूर्वक प्रवेश कर जाते हैं ।

अनेक वैष्णव जन रेलवे स्टेशन पर अपने बर्तन स्टेशन की धूलसे साफ करते रहते हैं । जिस स्टेशन या जंक्शनसे प्रतिदिन लाखों या हजारों यात्री प्रवास करते रहते हैं, उनके मल-मूत्र और थूकमें रहे हुए कीटाणु स्टेशनके हाते (Compound) में सर्वत्र फैल जाते हैं । उस धूलको पवित्र मानकर जो प्रवासी अपने पात्रों को माँजते हैं; वे क्षय आदि अनेक रोगोंके कीटाणु अपने साथ ले जाते हैं । इनमेंसे अनेकों को राजयक्ष्मा हो जाता है ।

होटलोंमें चाय आदि पीने वालों को झूठे बर्तनों द्वारा राजयक्ष्मा आदि अनेक रोग उपहारमें मिल जाते हैं । होटलोंमें राजयक्ष्मा, कुष्ठ, उपदंश, सुजाक आदि रोगियोंके पात्रों को कभी अलग नहीं रखा जाता; इनके पात्रों को भी सामान्यतः जलसे धो लेते हैं । परन्तु जलसे

धोने पर ये कीटाणु कभी दूर नहीं होते । इसलिये होटल, ढाबा, लॉज आदि द्वारा राजयक्ष्मा खूब फैलता है ।

क्षय रोग ग्रसित गाय भैंसका दूध पीनेसे क्षय की प्राप्ति हो जाने की संभावना है । इनके अतिरिक्त यदि रोगी अपने कफको निगल लेता है; तो कफमें रहे हुए कीटाणु आमाशयमेंसे आँतोंमें जाकर आँतों की लसी का ग्रन्थियोंमें पहुँच कर आन्त्रिक क्षय की उत्पत्ति करा देते हैं । इसका वर्णन चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ६६२ में किया है ।

कवचित् आन्त्रिक क्षयके मल, या क्षयज ब्रणके पूयपर मक्खिया बैठती हैं; और समीपमें भोजनके रखे हुए पदार्थोंमें कीटाणुओं को पहुँचादेती है । फिर वह पदार्थ जिसके खानेमें आवे, उसकी देहमें कीटाणुओंकी आबादी हो जाती है ।

कवचित् परम्परागत उदर्याकलामें कीटाणुओंका प्रवेश हो जाता है; तब कीटाणु उदर्याकलाका क्षय (Peritoneal Tuberculosis) करा देते । कण्ठमें लसीकाग्रन्थियों को प्राप्त हो जाय, तो कण्ठमाला आदि व्याधियों की उत्पत्ति करा देते हैं ।

देहमें कीटाणुका प्रवेश होने पर रोग प्रसारके लिये ३ साधनोंका उपयोग किया जाता है । श्लैष्मिक त्वचा, रसायनिया और रक्त । इन तीनों मार्गों द्वारा कीटाणुओंका जहाँ जहाँ प्रवेश हो जाय, वहाँ वहाँ पर क्षयकी सम्प्राप्ति करा देते हैं । सार्वदैहिक और स्थानिक, दोनों प्रकारके क्षयका प्रसार इन साधनों द्वारा ही होता है ।

कभी कभी गल ग्रन्थियोंमें प्रविष्ट कीटाणु वर्षों तक प्रगति किये बिना रह जाते हैं । फिर जब रोगनिरोधक शक्ति क्षीण होती है; तब आक्रमण कर देते हैं । छोटे बालकोंमें इसी हेतुसे कुछ कालतक कण्ठमाला, गलगण्ड आदि ग्रन्थिया सत्वर नहीं बढ़ सकती ।

वशानुगत प्रवृत्ति—डाक्टरी मत अनुसार यह क्षय रोग वश परम्परागत सतानों को प्राप्त नहीं होता । जिनके माता पिताओं को क्षय हुआ हो, उनको क्षय होना ही चाहिये, यह नियमित नहीं । राजयक्ष्मा

रोगियोंके रज वीर्यमें इस रोगके कीटाणु नहीं मिलते । इस रोगके कीटाणु न मिलने पर भी इस रोगके द्वारा अनेक परिवारों को नष्ट होने के उदाहरण मिलते हैं । उन सबका रोग स्वसंपादित है; अर्थात् वे सब एक क्षय रोगीसे दूसरेको क्षय कीटाणु प्राप्त होनेके परिणाम स्वरूप है । सामान्य रीतिसे क्षय पीड़ित माता पिताकी संतानोंमें रोग निरोधक शक्ति और शारीरिक शक्ति, दोनों कम होती हैं; इस हेतुसे इनमें क्षयप्रवृत्ति अधिक तर होती है ।

यदि क्षयप्रसित माताओंसे उनकी छोटी-छोटी संतानोंको अलग कर शुद्ध वातावरणमें रखी जायं, तो वे क्षय रोगसे बच जाती हैं; परन्तु निरक्षर समाजमें बहुधा यह रिवाज है कि, क्षय रोगिणी जो दूषित गन्धे अंधकार वाले मकानमें पड़ी है, वहां ही उसके संसर्गमें बच्चोंको रख देते हैं । परिणाम यही आता है कि, बच्चेके कोमल अवयवोंको क्षय-कीटाणु जल्दी प्रभावित कर देते हैं ।

यह क्षय रोग अति प्राचीन कालसे होता रहता है । फिर भी पाश्चात्य सभ्यताका प्रभाव भारत और इतर देशोंमें जितना-जितना बढ़ता जाता है; उतना-उतना क्षय रोगका प्रसार भी अधिकतर हो रहा है । रेलगाड़ी, मोटर, हवाईजहाज, ड्राम, नाटक, सिनेमा, बड़े-बड़े कल कारखाने, होटल आदि विलास प्रधान साधनोंका जितना उत्कर्ष अधिक होता जाता है; उतना ही राजयक्ष्मा आदि रोगोंका ताण्डव नृत्य अधिक बलपूर्वक होता जाता है ।

यह रोग ग्रामोंकी अपेक्षा शहरोंमें अधिक फैलता है । यद्यपि ग्रामोंमें सफाई करनेके लिये म्युनिसिपैलिटीकी उचित योजना नहीं होती, तथापि ग्रामवासियोंका जीवन प्रकृतिके अधिक अनुकूल होता है । शुद्ध वायु और शुद्ध प्रकाश उनकी पर्याप्त मिल जाता है; तथा भोजन पवित्र और आरोग्यप्रद मिलता है । इन हेतुओंसे उनकी रोगनिरोधक शक्ति अति सबल होती है । जिससे वे क्षय रोग का भोग नहीं होते । इसके बिल्कुल प्रतिकूल, शहरोंमें म्युनिसिपैलिटीकी उचित योजना होने पर भी निर्धन

के रहनेके लिये प्रकाश और शुद्ध वायुसे रहित छोटी-सी कोठरियाँ रहती हैं, धनिक और निर्धन, सब नागरिक जनोका आहार विहार बहुधा इच्छानुरूप किन्तु स्वास्थ्यके प्रतिकूल होता है। धनिक और निर्धन, सबको शहरकी गन्दी वायुका सेवन करना ही पड़ता है। इनमें भी जिन मजदूरोंको कल कारखानों और मीलोंके भीतर दूषित वायुमें काम करना पड़ता है, उनको तो दूषित वायुके साथ द्वन्द्व युद्ध करना ही पड़ता है। उनके श्वास ग्रहणके साथ रुई, सन, रग, चमड़े, लकड़ी, कागज गेहूँ, आदिके सूक्ष्म परमाणु कण और कुफ़क़ुसमे प्रवेश करते रहते हैं। फिर इन पर क्षय कीटाणु जल्दी स्थान जमाते हैं।

रेल, मोटर, ट्राम आदिमें राजयक्ष्मा आदि रोगोंसे पीड़ित मनुष्य भी प्रवास करने रहते हैं। एव होटलोंमें चाय आदि पीनेके लिये जाते ही रहते हैं। अतः वे रोगी सर्वदा देशबन्धुओंको ज्ञानपूर्वक या अज्ञान-पूर्वक हानि पहुँचाते ही रहते हैं।

इस तरह राजयक्ष्मा रोगका प्रसार भारतवर्षमें अनेक साधनों द्वारा हो रहा है। इसका निग्रह निकटके भविष्यमें हो, ऐसा अभी अनुमान नहीं होता। केवल मनीषीजन अपने जीवनको नैसर्गिक नियम अनुरूप बनाकर अपना और अपने अनुयायियोंका सरक्षण कर सकते हैं।

जिन मनुष्योंकी शक्ति दुर्बल है; या दीर्घकालसे किसी सबल रोगसे पीड़ित है, और वे लोग यदि सूर्यप्रकाशसे रहित दूषित वायु वाले (सीलवाले) गंदे मकानोंमें रहते हैं; तो वे सरलतापूर्वक राजयक्ष्माके शिकार बन जाते हैं। जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण कास, रक्तपित्त, कुफ़क़ुस-प्रदाह, श्लैष्मिक ज्वर, जीर्ण विषमज्वर, जीर्ण प्रसूति रोग, जीर्ण मधुमेह और जीर्ण उपदंश आदि रोगोंसे पीड़ितोंमें से अनेकोंकी क्षमता शक्ति का हास हो जाता है। फिर उन पर क्षयकीटाणुओंका सक्रमण सहज हो सकता है।

यदि प्रबल रोगनिरोधक शक्ति वालो पर क्षयकीटाणुओंका आक्रमण हो, तो भी आपत्ति नहीं आती। क्षय कीटाणुओंका विनाश करनेके

लिये इनके रक्त और लसीकामें संवेदनाधिक्य (Hypersensitive-ness) की उत्पत्ति हो जाती है । फिर कीटाणुओंको नष्ट कर शनैःशनैः वह शमन हो जाती है ।

यद्यपि ऐसे लोग क्षयग्रस्त तो अवश्य माने जायेंगे, तथापि वे क्षय रोगसे पीड़ित नहीं कहलायेंगे । बड़े शहरोंमें ऐसे अनेक क्षय संक्रामित सबल मनुष्य मिलते हैं, जिनको क्षयका असर कथन मात्र होकर स्वतः अच्छे हो जाते हैं । यदि उनके मृत देहोंकी परीक्षा की जाय, तो सत्य जान सकते हैं । अनेक पाश्चात्य विशेषज्ञोंकी मान्यता अनुसार नगर निवासी सभ्य संसार में ६० प्रतिशत लोग क्षय कीटाणुओं से संक्रामित हो जाते हैं, और इसके विरुद्ध वनवासी असभ्य जातियों के मृत शरीरोंमें क्षय कीटाणुओंके आक्रमणका अणुमात्र चिह्न भी नहीं मिलता ।

इस राज्यक्षमा रोगके कीटाणु दूध पीने वाले शिशुओं पर (उनकी देह कोमल होनेसे) क्वचित् अति तीव्रतासे घातक आक्रमण करता है । छोटी आयुमें क्षय सम्प्राप्ति होने पर जीवन सदेहमें गिर जाता है ।

शैशवावस्थाके पश्चात् आयु जितनी जितनी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी रोग होनेकी भीति, रोगकी उग्रता और घातकता कम होती जाती है । आयु जैसी-जैसी बढ़ती जाती है, वैसी-वैसी त्वचाकी कोमलता कम होती जाती है; क्षय कीटाणुओंसे युद्ध कर हटाने वाली शक्ति सबल बनती जाती है । ४-५ वर्षकी आयुके बाद क्षयजनित घावोंको पूरने की चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है । फिर भी किशोरावस्थामें १५ वर्ष की आयु तक क्षयकीटाणुओंसे सरलता पूर्वक विजय हो, उतनी सबल शक्ति नहीं होती । इन रोगियोंमें बहुधा क्षय रोग जाग्रत और उन्नतिशील परिस्थितिमें ही मिला है, इस हेतुसे जिस ओर अनुकूलता मिले उस ओर फैलता ही जाता है । इस तरह अनेक बार सार्वदैहिक बन जाता है । फिर शनैः-शनैः १७ वर्षकी आयुके पश्चात् व्याधि स्थानाबद्ध (Localiyed) होने लगती है । क्षयज घाव भरने और जलने लगते

हैं । आयु वृद्धिके साथ निवृत्त घावोंकी संख्या भी क्रमशः बढ़ती जाती है ।

४० वर्ष की आयुके पश्चात् तो जाग्रत क्षयविकारकी अपेक्षा निवृत्त क्षय विकार वाले ही अधिक मिलते हैं । इस परसे विद्वानोंका विचार है कि, प्रौढावस्थाके बाद क्षय रोग की सम्भावना कम हो जाती है, और वृद्धावस्थामें तो भीति बहुत कम रहती है ।

आयुकी दृष्टि से पहले और दूसरे वर्षमें क्षय रोगसे पीड़ितोंकी मृत्यु संख्या अत्यधिक होती है । फिर ३ से १२ वर्ष की आयु तक क्षय सक्रमण अधिक होने पर भी मृत्यु संख्या न्यून होती जाती है ।

विद्वानोंकी खोज (Research) के अनुसार यदि पुरुष और स्त्री, इन दो विभागोंको पृथक् करे, तो १ से ६ वर्ष तककी आयुमें लड़कों की अपेक्षा लड़कियोंमें इस रोगका प्रसार कम हुआ है । फिर लड़कियोंकी संख्या बढ़ने लगती है । और १५ से ३० वर्ष की आयुके अन्तर्गत तो भारतवर्षमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ ही इस रोगके भोग अधिक हुई हैं ।

सामान्यतः तरुणावस्थामें भारतीय स्त्रियोंके भीतर मासिक धर्म, गर्भाधान और स्तनपान द्वारा सतानोका पोषण, इन कारणोंसे रोग प्रति-बधक शक्तिका बल कम हो जाता है । इसके प्रतिकूल विदेशोंमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियोंकी मृत्यु संख्याका अनुपात कम ही रहता है । भारत में क्षय रोगसे स्त्रियोंकी मृत्यु संख्या अधिक होनेका कारण निर्धनता, पराधीनता, बालविवाह, पर्दाप्रथा, प्रसवका कुप्रबन्ध, निःसत्व भोजन, मानसिक चिन्ताकी अधिकता, और अज्ञानता आदि अनेक हेतु हैं । प्रौढावस्थाके पश्चात् तो स्त्री और पुरुष, दोनोंकी मृत्यु संख्या अपने-अपने परिमाणसे न्यून हो ही जाती है ।

फुफ्फुसक्षय प्रकार ।

इसे आयुर्वेदमें राजयक्ष्मा सज्ञा दी है । इस राजयक्ष्मा रोगके

मुख्य दो भेद हैं । आशुकारी और चिरकारी । पुनः इनमेंसे आशु-
कारीके ३ चिरकारीके २, इतर रोगोंमें उपद्रव रूप १ और राजयक्ष्माके
उपद्रव रूप २ मिलकर ८ विभाग हो जाते हैं ।

१—आशुकारी पिटिका युक्त राजयक्ष्मा ।

२—आशुकारी फुफ्फुस खण्डीय प्रदाहज क्षय ।

३—आशुकारी फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाहज क्षय ।

४—चिरकारी सौत्रिक तन्तुमय क्षय ।

५—चिरकारी फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाहज राजयक्ष्मा ।

६—लसीका ग्रन्थिप्रदाहज राजयक्ष्मा ।

७—क्षतकासज राजयक्ष्मा ।

८—स्वरयन्त्र क्षय ।

(१) आशुकारी पिटिकायुक्त क्षय ।

आशुकारी पिटिकायुक्त क्षय—एक्युट मिलियरी पलमनरी ट्यूबर-
क्युलोसिज़—Acute Miliary Pulmonary Tuberculo-
sis ।

इस रोगमें बाजरीके दानेके सदृश पिटिकाओंका संग्रह होता है ।
इस प्रकारमें मलाईके सदृश अपक्रान्ति नहीं होती । यह रोग सर्वाङ्गमें
हो जाता है । तथापि इतर यन्त्रकी अपेक्षा किसी एक यन्त्र पर आक्र-
मण अधिकतर होता है । इतर प्रकारके क्षय जैसे क्षयकीटाणुओंका
देहाभ्यन्तर प्रवेश होने पर ही होते हैं; वैसे यह क्षय रोग नहीं होता ।
इसकी उत्पत्ति आभ्यन्तरिक सेन्द्रिय विष द्वारा ही होती है । यह रोग
इतना गुप्त रहता है कि, रोग निर्णय नितान्त दुष्कर हो जाता है ।
इस रोगमें स्थानिक वेदनाजन्य लक्षणोंका प्रकाश हुए बिना ही
रोगारम्भ हो जाता है । क्वचिन् मधुरा (Typhoid Fever) का
भ्रम हो जाता है । जब फुफ्फुस, ऊरुसन्धि और लसीकाग्रन्थियोंमें
स्थानिक लक्षण विदित होने पर रक्तविहीनता, दुर्बलता आदि सर्वा-

झिक घातक लक्षण प्रकाशित होते हैं । तब रोग निर्णय करनेमें कठि-
नता नहीं होती; परन्तु उस समय बहुधा चिकित्सा फलप्रद नहीं होती ।

लक्षण—पिटिकाएँ फुफ्फुसावरणके नीचे अधिक होती हैं । इतर
इन्द्रियोंमें भी रोग कुछ-कुछ फैल जाता है । फुफ्फुसप्रदाह और
फुफ्फुसके पीड़ित स्थानमें वायु भरा रहनेसे (Emphysematous)
कुछ कास (कफमें क्षय कृमि नहीं होते), ज्वर १०२ से १०४ डिग्री,
नाड़ी स्पन्दन १२०-१३०, अत्यन्त द्रुतगामी श्वासोच्छ्वास, क्वचित् श्वास
लेनेमें कष्ट, किसीको कोष्ठवद्वता, किसीको अतिसार, झीहा वृद्धि, त्वचा
में नीलापन और अग्निमान्द्य आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । कभी
कभी मस्तिष्क वेदनाके सब लक्षण उपस्थित हो जाते हैं । मस्तिष्कमें
वेदना, वमन, प्रलाप, बड़ी आवाज और प्रकाश सहन न होना, आदि
चिह्न विदित होते हैं ।

फुफ्फुसों पर अगुलियोंसे ठेगन करने पर तीव्र सौषिर ध्वनि (Tym-
panitic resonance), फुफ्फुसतलो पर ठेपन करने पर घन ध्वनि
और ध्वनियन्त्रसे सुनने पर द्रव ध्वनि (Crepitation) विदित
होती है ।

विकार प्रबल होनेपर ज्वर १०५-१०६ डिग्री तक बढ़ जाता है ।
प्रातःकाल प्रस्वेद आकर ज्वर कम हो जाता है । क्वचित् किसी-किसी
रोगीको रोगके प्रारम्भसे अन्त तक स्वाभाविक शारीरिक उत्तापकी अपेक्षा
भी कम उष्णता रहती है ।

यदि मस्तिष्ककला (Meninges) आक्रान्त हो जाय, तो अत्यन्त
शिरदर्द और क्वचित् प्रलाप आदि लक्षण बढ़ जाते हैं । इस रोगमें
अति सत्वर क्षीणता आ जाती है । यदि रोगी आन्त्रिक ज्वरके लक्षणोंसे
पीड़ित हो जाय, तो रोगीकी सत्वर मृत्यु हो जाती है ।

साध्यासाध्यता—यह रोग असाध्य माना गया है । रोगी कुछ
सप्ताह तक जीवित रहता है । इस रोगमें चिकित्सासे कोई लाभ नहीं होता ।

रोग विनिर्णय—इस रोगमें और चिरकारी राजयक्ष्मामे फुफ्फुसोंके

भीतर क्षय कण हो जाते हैं । इनमेंसे चिरकारी राजयक्ष्मामें क्षय कण होनेपर त्रण और विवर होकर फुफ्फुस भाग नष्ट हो जाता है; परन्तु इस तीव्र क्षयमें फुफ्फुस भाग नष्ट नहीं होता । इसके अतिरिक्त इस रोगमें फुफ्फुसके बाहर इतर इन्द्रियोमें भी क्षय कण कुछ कुछ प्रवेशित हो ही जाते हैं । इस रोगमें फुफ्फुसके भीतर सूक्ष्म पिटिकाएँ सर्वत्र हो जाती हैं, जो श्वच्छेद करने पर प्रतीत होती हैं । ये पिटिकाएँ कोमल होती हैं; किन्तु इनकी मलाई सदृश अपक्रान्ति नहीं होती ।

(२) आशुकारी फुफ्फुसखण्डीयप्रदाहज राजयक्ष्मा ।

आशुकारी फुफ्फुसखण्डीयप्रदाहज राजयक्ष्मा—एक्युट लोबर न्युमोनिक थाइसिज़—Acute Lobar Pneumonic Phthisis ।

इस रोगमें दोनों फुफ्फुसोंके एक या अधिक खण्ड सत्वर प्रभावित हो जाते हैं । प्रभावित स्थानके सैलोमें पूयमय अन्तर्भरण (Purulent Infiltration) हो जाता है । फिर क्षयकीटाणुओंका संचार हो जाता है ।

लक्षण—घोर अविसर्ग ज्वर, रात्रिको प्रचुर प्रस्वेद आना, रक्त-ष्टीवन, कफमें अत्यधिक पूय आना, कुछ दिनोंमें थूक पूयमय भारी हरित-सा बन जाना, जलमें डालने पर थूक डूब जाना, जिह्वा शुष्क और विकृत वर्ण युक्त हो जाना तथा दांत पर मैल जमना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

मूत्रकी डियाज़ो प्रतिक्रिया (Diazo reaction) अर्थात् $C_6H_4N_2SO_3$ द्वारा परीक्षा करने पर मूत्रका वर्ण अति रक्तमय बन जाता है ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना है । बहुधा रोगीकी मृत्यु ३॥ से ६ मासमें हो जाती है । ववचित् ही इससे अधिक काल निकलता है ।

(३) आशुकारी फुफ्फुसप्रणालीयप्रदाहज क्षय ।

आशुकारी फुफ्फुसप्रणालीयप्रदाहज क्षय—एक्युट केटर्हल थाइ-सिज-लोब्युलर और ब्रांकोन्युमोनिक थाइसिज—Acute Catarrhal Phthisis—Lobular or Broncho Pneumonic Phthisis ।

यह रोग चोरके समान आता है । यह रोग बहुधा बालकोंके काली खासी, रोमान्तिका, इन्फ्ल्युएन्जा, कण्ठरोहिणी आदि रोगोंके सहवर्त्ती भी (थोड़े ही दिनोंके पश्चात्) आजाता है । इस रोगके क्षय कीटाणु दोनो फुफ्फुसोंको प्रणालिकाओंको प्रभावित कर देते हैं । इस हेतुसे स्थान-स्थान पर क्षय विवर (Cavities) हो जाते हैं । इन क्षय विवरोंमें भी निम्न भागकी अपेक्षा फुफ्फुसखण्डोंमें अधिक होते हैं । इस रोगके साथ-साथ फुफ्फुसावरणका शुष्क प्रदाह भी होजाता है ।

क्वचित् ब्राकोन्युमोनियामें फुफ्फुसोंके दृढीभूत अश आरोग्योन्मुख न होने पर उसका रूपान्तर मलाई सदृश कोमल पदार्थमें होता है । फिर स्थान स्थान पर विविध आकारके विवर बन जाते हैं । बहुधा इस रोग में प्रणालिकाओंके साथ वायुकोष भी प्रभावित हो जाते हैं । फिर रोग की वृद्धि अति प्रबल वेगसे होती है ; इस हेतुसे इसे गेलोपिंग कन्जम्पशन—Galloping Consumption भी कहते हैं ।

लक्षण—स्थान स्थान पर सकीर्ण रूपसे क्षयविवर हो जानेसे कास, फुफ्फुसारवणप्रदाहके हेतुसे दो कलाओंका घर्षण और ब्राकोन्युमोनिया रोगके लक्षण प्रकाशित होते हैं । निदानार्थक बाह्य चिह्न रूप से सतत अनियमित ज्वर, कृशता, शोथ, रात्रिको अति प्रस्वेद आना, अनेक क्षयकीटाणु युक्त पूयमय हरा कफ निकलना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । रोगीका मुखमण्डल मलीन नीला-सा हो जाता है; तथा निम्न ओष्ठ नीला बन जाता है । निस्तेज चक्षु, बेचैनी, अत्यधिक तन्द्रा और निद्रा आदि भी उपस्थित हो जाते हैं ।

अंगुली ठेगन द्वारा परीक्षा करनेपर फुफ्फुसोंपर स्थान स्थानपर घन (Dull) ध्वनि, ध्वनियन्त्रसे सुनने पर वंशोध्वनि (Tubular), फिर आर्द्रध्वनि और साथ-साथ क्षुद्र बुद बुदवत् मंदतर द्रवध्वनि (Subcrepitant) तथा फुफ्फुसावरणके घर्षणके हेतुसे घर्षणध्वनि (Friction rale) सुननेमें आती हैं ।

साध्यासाध्यता—यह रोग रोगीको थोड़े ही महीनोंमें मार डालता है ।

चिकित्सोपयोगी सूचना—इस रोगके चिकित्साकालमें रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये । बार-बार पार्श्व बदलते रहना चाहिये । आवश्यक्ता होने पर शराबका प्रयोग करना चाहिये । भोजनमें दूध, मांसरस, अण्डे आदि क्षय रोगके समान देना चाहिये । रोगी सबल होने पर वमन कारक ओषधि देकर कफ निकलवा दिया जाय, तो विशेष हितकर माना जाता है ।

फुफ्फुसों पर तार्विन तैल आदिका मर्दन, सेक, पुल्टिस आदि सहायक प्रयोग करते रहना चाहिये । राजयक्ष्मा रोगके लिये कही हुई (चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ २५५) बाष्प सुंघाना हितकर माना गया है । विशेष चिकित्सा आगे राजयक्ष्मा रोगकी चिकित्सामें लिखे अनुसार करनी चाहिये ।

(४) चिरकारी सौत्रिकतन्तुमय क्षय ।

चिरकारी सौत्रिकतन्तुमय क्षय—क्रौनिक फाइब्रोइड थाइसिज़-सिरोसिस आफ धी लंग्स—Chronic Fibroid Phthisis—Cirrhosis of the Lungs ।

रोग परिचय—इस रोगमें फुफ्फुसोंकी प्रणालियोंके भीतर सौत्रिक तन्तुओंकी उत्पत्ति हो जाती है । इस रोगमें क्षयकीटाणुओंका वेग अति मन्द होनेसे कभी ज्वर रहता है; कभी नहीं रहता । रोगी चिरकाल तक जीवित रहता है । कभी-कभी धूलि आदिके कार्य करने वालोंको फुफ्फुसा-

चरण प्रदाहयुक्त न्युमोनिया और ब्राको न्युमोनिया रोग जीर्ण हो जाने पर ठपद्रव रूपसे भी इस व्याधिकी प्राप्ति हो जाती है ।

निदान—इस रोगकी उत्पत्ति धूलि, कोयला, आटा, रग, रुईके परमाणु आदि श्वासवायुके साथ फुफ्फुसमें प्रवेश करने पर होती है । जो लोग धूलिमें भाड़ू लगाना, कोयलेकी खदान या आटा, चावल, कपड़ा आदिकी मिलोंमें काम करना या खेतीके अनाजमें से धूल आदि को उड़ाना, कोयलोंको रेलगाड़ियोंमें से बाहर निकालना, छुरी आदिकी चार लगाना आदि कार्य करते हैं, उनके फुफ्फुसोंमें परमाणुओंका प्रवेश होकर प्रदाहकी उत्पत्ति होती है । फिर सौत्रिकतन्तु बनकर फुफ्फुसके कुछ भाग घन और निष्क्रिय हो जाते हैं । उसे डाक्टरीमें न्युमोकोनियोसिस (Pneumoconiosis) कहते हैं । इस तरह अश घन हो जाने पर उसके समीका इतग फुफ्फुस भाग विस्तृत वायुपूरित (Emphysematous) हो जाता है । फिर उसमें शनैः-शनैः कफसचय आदि होकर क्षयी उत्पत्ति हो जाती है ।

लक्षण—यह रोग अति मन्द गतिसे बढ़ता है । लक्षण दीर्घकाल तक अव्यक्त रहते हैं । प्रारम्भमें नाडीकी मृदुगति होती है । देहके स्वाभाविक उत्थायमें क्वचित् वृद्धि हो जाना, कास चलते रहना और श्वास कष्टपूर्वक लेना आदि लक्षण होते हैं ।

रोगी शनैः-शनैः क्षीण और दुर्बल होता जाता है । कभी-कभी अस्वेद आता है । यदि रोगी पथ्य पालनका लक्ष्य रक्खे, तो कई वर्षों तक जीवन रह जाता है । अन्यथा रुधिराभिसरण क्रियामें प्रतिबन्ध, शोथ, रक्त वर्णका मूत्र आदि होकर रोगीकी मृत्यु हो जाती है ।

न्युमोनिया और इस रोगमें प्रमेद यह है कि, इसमें घन फुफ्फुसाश विश्लिष्ट या विनष्ट हो जाता है; किन्तु सौत्रिकतन्तुयुक्त न्युमोनिया (Fibrous Pneumonia) में ऐसा नहीं होता । इस सौत्रिक क्षयमें चिरकारी क्षयकीटाणुओंकी उत्पत्ति भी फुफ्फुसोंमें हो जाती है । यह रोग न्युमोनियाके पश्चात् कभी कभी उत्पन्न हो जाता है ।

इस रोगमें फुफ्फुस प्रणालिकाओंका क्षय होनेपर फुफ्फुस गतिहीन हो जाता है । अंगुलिसे ठेपन करनेपर धन (Dull) ध्वनि आती है; और रोगाक्रान्त फुफ्फुस दूसरी ओरके फुफ्फुसकी अपेक्षा १-२ इंच संकुचित हो जाता है; इस संकोचका हेतु फुफ्फुस और उदरगुहाके विविध यन्त्रोंकी स्थान च्युति है ।

(५) चिरकारी फुफ्फुसप्रणालिकाप्रदाहज राजयक्ष्मा ।

चिरकारी फुफ्फुसप्रणालिकाप्रदाहज राजयक्ष्मा—क्रोनिक ब्रॉको-न्युमोनिक थाइसिज़—Chronic Broncho Pneumonic Phthisis ।

यह प्रकार विशेष रूपसे प्रतीत होता है । इसे ही आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने राजक्ष्मा-यक्ष्मा-क्षय आदि नाम दिये हैं । जैसे आयुर्वेदमें इस—व्याधिको महाघातक कहा है; वैसे ही डाक्टरी मतमें भी यह रोग अति भयानक माना गया है । यह रोग अति धीरे-धीरे बढ़ता है । रोगका प्रारम्भ हो जानेपर अनेक दिनों या महीनों तक रोगीको क्षयकीटाणु-ओंके संक्रमणकी कल्पना भी नहीं होती । रोग भीतर ही भीतर गुप्त रूपसे बढ़ता ही जाता है । जब यह अधिक प्रबल बन जाता है; तब लक्ष्य देने पर सत्वर शमन नहीं हो सकता ।

विशेषतः इस प्रकारके राजयक्ष्मामें क्षयकीटाणु प्राणवायुके साथ श्वासयन्त्रमें प्रवेश कर वायुकोष और श्वासप्रणालिकाओंके अग्रभागोंमें प्रदाह उत्पन्न कर देते हैं । विशेषतः इस रोगका प्रारम्भ फुफ्फुस शिखर (Apex of the Lung) और फुफ्फुसपिण्डोंके ऊपर रही हुई श्वासप्रणालिकाओंके मुखोंसे होता है । फिर शनैः-शनैः सारे फुफ्फुसमें फैल जाता है । कभी-कभी क्षयकीटाणु फुफ्फुसोंमेंसे फुफ्फुसावरणमें भी प्रवेश कर जाते हैं ।

इन कीटाणुओंका प्रसार रसायनियों द्वारा होता है; इस हेतुसे श्वासप्रणालिकाओंसे सम्बन्धवाली लसीकाग्रन्थियां भी क्षयपीड़ित

हो जाती हैं । एव इन क्षयक्रीटाणुओंकी जहा जहा आवादी होती जाती है, वहाँ-वहाँपर लसीकाणु और रक्तजीवाणु आदिकी अपक्रान्ति होने लगती है । फिर त्रण होकर खड्डे (Cavities) बनते जाते हैं ।

इस रोगके सामान्य लक्षण और अवस्थानयके पृथक्-पृथक् लक्षण आगे ६-७ और ८, इन तीन क्षय विभागोंका सक्षिप्त वर्णन कर लेनेपर किया जायगा ।

(६) लसीकाग्रन्थिप्रदाहज राजयक्ष्मा ।

लसीकाग्रन्थिप्रदाहज राजयक्ष्मा—स्कोफ्युलोस थाइसिज—
Scrofulous Phthisis ।

इस रोगमें पहले लसीकाग्रन्थियोंका दाह-शोथ (Adenitis) उत्पन्न होता है । फिर उसका परिवर्तन क्षय प्रदाह (Scrofula) में होजाता है । यह रोग सब आयुमें होता है, वृद्धकी अपेक्षा युवाको अधिक और युवाकी अपेक्षा बालकोको अधिक होता है । ग्रीवादेशमें यह अधिक होता है । इसका वर्णन गण्डमाल-अपची व्याधिरूपसे तृतीय-खण्डमें किया जायगा ।

इस रोगमें सार्वज्ञिक और स्थानिक, ऐसे दो प्रकार हैं । इनमें स्थानिक फुफ्फुसस्थ लसीकाग्रन्थिया आक्रमित होनेपर उनकी मलाई सदृश (Caseous) अपक्रान्ति हो जाती है । फिर फुफ्फुसमें और फुफ्फुसावरणमें क्षयक्रीटाणु फैल जाते हैं ।

इस विकारमें दिन प्रतिदिन शरीरका वजन घटता जाता है । परन्तु क्षुधा या अन्नकार्यमें किसी भी प्रकारकी विलक्षणता नहीं होती । बार-बार ज्वर आना, फुफ्फुसकी व्याधि प्रतीत न होने पर भी श्वास भर जाना ग्रीवादेशीय सब ग्रन्थिया विशेषतः अक्षोतरिका ग्रन्थियों (Supra clavi-
cular glands) का बढ़ जाना, और दृढ़ हो जाना, साथ-साथ उरो-
गुहामें रही हुई ग्रन्थियोंकी भी बहुधा यही अवस्था होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं । फिर उरःफलक (Sternum) के एक ओर पहले

और दूसरे पशुकाके मध्यमें अस्थिके समीप ठेगन करने पर ध्वनि जड़ और स्वल्पस्थानव्यापी होती है। रोग अतिशय बढ़ जाने पर दोनों अंसफलकके मध्यप्रदेशमें भी ठेपनध्वनि जड़ हो जाती है, और इन सब स्थानोंमें श्वासोच्छ्वासध्वनि भी बढ़ जाती है।

इस अवस्थामें वातवहा नाड़ियां, रक्तवाहिनिया और श्वासनलिकायें, इन सब पर दृढ़ और बड़ी ग्रन्थियोंका दबाव आ जानेसे विविध लक्षण उपस्थित होते हैं। बीच-बीचमें तीव्र वेगपूर्वक कास चलना, स्वरभंग, नाड़ी तेज होजाना, मुखमण्डल, ग्रीवा और वक्षःकी सब शिराओंमें रक्तवृद्धि हो जानेसे मोटी हो जाना, हाथोंकी अंगुलियोंके अंतिम पर्व मोटे हो जाना और कुछ नीले हो जाना, श्वासोच्छ्वासमें कुछ कष्ट होना, सां-सां आवाज़ निकलना तथा श्वासावरोध होना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

इस फुफ्फुसस्थ विकारमें इस चिरकारी विकारके अतिरिक्त आशुकारी विकार (Acute scrofulous phthisis) भी हैं; परन्तु वह अति विरल होता है। इसका स्थायित्व भी अति कम होता है।

आशुकारी लसीकाग्रन्थियोंके क्षयकी सम्प्राप्ति—विशेषतः फुफ्फुसान्तरिया (Mediastinal) लसीकाग्रन्थियोंमें जो ग्रन्थियां मध्यम श्वासनलिका (Bronchia) के समीपवर्ती हैं। वे जब क्षय कीटाणुओंसे प्रभावित हो जाती हैं; तब उनका प्रदाह होकर मलाई सदृश परिवर्तन हो जाता है। ग्रन्थियां सब बड़ी हो जाती हैं; और उनमें पूयोत्पत्ति हो जाती है। इसे डाक्टरीमें ब्रांक्वियल ट्यूबरक्युलर एडेनाइटिस (Bronchial tubercular adenitis) कहते हैं।

यदि फुफ्फुसान्तरिया रसग्रन्थियां प्रभावित हों; और बालकको डब्बारोग (ब्रांकोन्युमोनिया) की प्राप्ति हो जाय; या डब्बा रोगमें उपद्रव रूपसे क्षय कीटाणुजन्य प्रकोप हो कर फुफ्फुसस्थ रसग्रन्थियां पीड़ित हो जायँ; तो ये सब ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं; और उनकी अपक्रान्ति हो जाती है। फिर श्वासप्रणालिकाओंमें यक्ष्माकीटाणुओंका प्रवेश हो जाता है। तत्पश्चात् फुफ्फुसका दृढ़ीभूत अंश आरोग्योन्मुख नहीं होता। फिर

उसकी अपक्रान्ति होकर वह मलाई सदृश कोमल बन जाता है । जिससे फुफ्फुसमें सर्वत्र स्थान-स्थान पर विविध आकारके विवर हो जाते हैं; और आशुकारी लसीकाग्रन्थिद्वयकी सम्प्राप्ति हो जाती है ।

अनेक बार अग्रिम फुफ्फुसान्तरिया रसग्रन्थिया क्षयकीटाणुओंसे प्रभावित हो जाती हैं, फिर हृत्कोष (Pericardium) प्रभावित हो जाता है ।

आशुकारी लसीकाग्रन्थिद्वय लक्षण—अकस्मात् कम्प, घोर-ज्वर, वेदना, बेचैनी, श्वास लेनेमें कष्ट, रात्रिको अति प्रस्वेद आना, थोड़े ही दिनोंमें अतिशय निर्बलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । श्वासोच्छ्वासकी गति तेज हो जाती है; ध्वनिवाहक यन्त्रसे परीक्षा करने पर जुद्ध और बृहद् द्रव ध्वनि (Subcrepitant and crepitant rales) सुननेमें आते हैं ।

साध्यासाध्यता—इस रोगको असाध्य माना गया है । रोगी ५-६ सप्ताहमें मर जाता है ।

चिरकारी लसीकाग्रन्थिप्रदाहज क्षय निदान—यदि लसीकाग्रन्थियोके क्षयजनित प्रदाहवश सन्धि पीड़ा, अस्थि क्षत (Caries), अनुकटिका रसग्रन्थियो की विद्रधि (Lumler Abscess) या कटिलम्बिनी पेशी की विद्रधि (सोयास एब्सेस Psoas Abscess) हो जाने पर फुफ्फुसों पर आक्रमण होनेसे यक्ष्माके सदृश उपद्रव रूप क्षयकी उत्पत्ति हो जाती है ।

सामान्य रूपसे यक्ष्माके लक्षण और इस रोगमें यह प्रभेद है कि, इस रोगमें शारीरिक उत्ताप अत्यन्त अधिक बढ़ जाता है । प्रातःकाल को ६८ से ६९॥ डिग्री तक और सायंकाल को १०३-१०४ डिग्री तक बढ़ जाता है, तथा इस रोगमें अत्यन्त निशाघर्म (रात्रिको अति प्रस्वेद) और अत्यधिक क्षीणता, ये दो लक्षण विशेष रूपसे भेददर्शक होते हैं ।

साध्यासाध्यता—इस रोग को असाध्य माना है । रोगी अति क्षीण और पीड़ित होकर कुछ सप्ताहमें प्राणमुक्त हो जाता है ।

(७) क्षतकासज राजयक्ष्मा ।

क्षतकासज राजयक्ष्मा—हेमोहेजिक थाइसिज़—Hemorrhagic Phthisis ।

यह रोग बहुधा राजयक्ष्मामें उपद्रव रूपसे उत्पन्न हो जाता है । इस रोग (उपद्रव) की उत्पत्ति उरःक्षत बढ़ने पर एवं क्षत कास और श्वास-नलिका विस्तार (Bronchiectasis) होनेपर होती है । यह व्याधि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक आक्रमण करती है ।

निदान—उरःक्षत और क्षतकास, दोनोंमें रक्त और पूयमय श्लेष्मा बार-बार निकलता रहता है; कास प्रबल होती है; और क्षयकीटाणु अधिक विस्तारमें फैलते जाते हैं । फिर जब क्षयकीटाणु किसी बड़ी रक्त-प्रणाली को विदारित कर देते हैं; तब अकस्मात् रक्तस्राव होने लगता है । अति रक्तस्राव होने पर क्वचित् रोग घातक बन जाता है ।

लक्षण—आयुर्वेदके उरःक्षत और क्षत कास दोनोंके सम्पूर्ण लक्षण इस रोगमें प्रतीत होते हैं ।

(८) स्वरयन्त्रक्षय ।

स्वरयन्त्रक्षय—लेरिञ्जियल थाइसिज़—ट्यूबरक्युलोज़ लेरिञ्जि-इटिसिज़—Laryngeal Phthisis—Tuberculous Laryngitis ।

निदान—इस रोगमें स्वरयन्त्रके भीतर क्षयकीटाणुओंका संचय होता है । बहुधा इस रोगकी उत्पत्ति क्षय रोगमें उपद्रव रूपसे होती है । बार-बार कफ थूकते रहने पर भी जब कुछ समय तक वह कण्ठमें रुक जाता है, या रोक लिया जाता है; तब श्लेष्ममें रहे हुए क्षयकीटाणु स्वरयन्त्रको प्रभावित कर देते हैं ।

सम्प्राप्ति—क्षय कीटाणुओंका स्वरयन्त्रमें संचय होने पर उसकी कोमल त्वचापर ब्रण कर देते हैं । फिर उस स्थानका कोथ (Caries or Necrosis) होने लगता है । श्लैष्मिक कलाके इषत् प्रवर्द्धनके

सदृश क्षयक्रीटाणामय क्षुद्र पिटिकाये (Miliary Tubercles) हो जाती हैं । पश्चात् बहाँ पर क्षत हो जाता है, उसमें सौत्रिक तन्तु बनने लगते हैं, और सन्धिमें पूयोत्पत्ति होकर स्वरयन्त्रके तरुण अस्थि (Cartilages of the Larynx) विनष्ट हो जाते हैं ।

लक्षण—श्वासमें घरघर आवाज, अन्नगतिरोध (भोजन निगलनेमें कष्ट होना), कष्टदायक कास, कण्ठस्वरकी क्षीणता, ज्वर, शरीर गलते रहना, श्वासनलिकाकी लसीकाग्रन्थियोंका बढ़ जाना, फिर स्वरयन्त्र की वातवहा नाडियों पर दबाव पड़नेसे स्वरभंग (वाग्वध) हो जाना, इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं ।

चिरकारी राज्यक्षमाके लक्षण ।

नं० ५ में कहे हुए चिरकारी फुफ्फुस प्रणालिकाप्रदाहज राज्यक्षमा रोगमें सामान्य रूपसे पहले क्षणस्थायी अल्प कास उपस्थित होती है; आलस्य, बेचैनी, कभी-कभी रोगाक्रान्त फुफ्फुसमें अल्प वेदना और रक्तसंचालनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है । क्वचित् कीटाणुओंका प्रबल आक्रमण हो जाय, तो प्रारम्भसे ही रक्त निष्ठीवनसह कासकी उत्पत्ति होती है । मानसिक या शारीरिक परिश्रम अधिक होने पर या शीत लगने पर रोगके लक्षण प्रतीत होते हैं । अहोरात्र सतापदायक शुष्ककास, क्षुधामान्द्य, स्नेहमिश्रित आहारमें अरुचि, परिपाककी विलक्षणता, पुनः-पुनः रक्तनिष्ठीवन, शनैः-शनैः दुर्बलता वृद्धि, हाथ-पैरोंमें शीतलता, स्वल्प स्थायी श्वास, रात्रिको क्षीणता लाने वाला प्रस्वेद, प्रलेपक ज्वर (Hectic Fever) और उससे उत्पन्न तृतीय प्रहरमें मुखमण्डल पर प्रकाश आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । मृत्यु-पर्यन्त रोगीके हृदयमें आरोग्य प्राप्तिकी आशा अत्यन्त प्रबल बनी रहती है । कभी-कभी रोगीको कुछ समय तक शान्ति प्रतीत होती है, परन्तु फिर रोग प्रबलतापूर्वक प्रकाशित हो जाता है ।

इस रोगके रक्त निष्ठीवन, कास और शनैः-शनैः देहका क्षय होते

रहना, ये ३ प्रधान लक्षण हैं । पहले शुष्ककास, फिर भाग्युक्त कास, पश्चात् जैसे-जैसे रोगवृद्धि होती जाती है; वैसे-वैसे कफ घन होता जाता है; परिमाणमें भी बढ़ता जाता है; एवं वर्णमें परिवर्तन होता जाता है । पहले श्वेत, क्षत होने पर रक्तमिश्रित, फिर पीला और पूयवृद्धि होनेपर हल्दी सदृश वर्ण वाला (हरा-पीला) और मलिन हो जाता है । प्रारम्भमें कफ जल पर तैरता है । पूयोत्पत्ति होने पर कफ बताशे सदृश (Nummular) प्रतीत होता है और जलमें डालने पर डूब जाता है, तथा अग्निमें डालने पर मुर्दे सदृश दुर्गन्ध आने लगती है ।

भौतिक लक्षणों पर से राजयक्ष्माके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है, तथापि जीर्ण कास रोगमें कफ आदि लक्षण समान प्रतीत होते हैं । अतः कफमें अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा जब पूय, क्षयकीटाणु और फुफ्फुसके मांस, त्वचा आदि प्रतीत हों, तभी क्षयसम्प्राप्ति निश्चित कहलाती है । देहके उत्तापकी वृद्धि होना, यह यक्ष्मा रोगके प्रधान लक्षणोंमें से एक है । फुफ्फुसोंमें क्षयकीटाणुओंका संचय जितना बढ़ता जाता है, उतना ही उत्ताप (१०२-३ डिग्री तक) बढ़ता जाता है । एवं क्षयकीटाणुओंकी संचय क्रिया स्थगित होने पर या उसका दमन होने पर शारीरिक उत्ताप कम हो जाता है ।

रोगीका वजन दिन-प्रति-दिन घटते रहना, कफमें वृद्धि होना, ज्वर बना रहना, रात्रिको ज्वर अधिक बढ़ जाना, रोगबलकी वृद्धि हो जाने पर चलने-फिरनेकी शक्ति नष्ट हो जाना, फिर शय्या पर बैठे होनेके समय दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता रहना, तत्पश्चात् शय्यात्रण हो जाना, देह अस्थिपङ्जरवत् शेष रह जाना, और रोगी गल-गल कर स्वर्गधाम पहुँच जाना, ये सब लक्षण क्रमशः उपलब्ध होते हैं ।

यदि युवा स्त्री पर क्षयकीटाणुओंका आक्रमण होता है, तो पहले मासिक धर्मका स्राव कम हो जाता है । फिर मासिक धर्म देरसे आता है; और धीरे-धीरे बन्द हो जाता है ।

इस रोगका आक्रमण होने पर आयुर्वेद कथित पूर्व रूपके लक्षण प्रकाशित होते हैं। परन्तु इन लक्षणोंका बोध बहुधा नहीं होता। विद्वान् चिकित्सकोंको भी इसके आक्रमणका पता तत्काल नहीं लगता। यह रोग इतर रोगोंका अनुगामी हूँ नेसे जीर्ण विषम ज्वर, जीर्ण आन्त्रिक ज्वर, सूतिका ज्वर आदिके नये उपद्रव मानकर चिकित्सक दुर्लक्ष्य करते हैं। अनेक बार तो ऐसा मान लिया जाता है कि, किसी कुपथ्यका परिणाम है; या ओषधि अनुकूल न रहनेसे या रोगबल अधिक होनेसे नूतन उपद्रव उपस्थित हुए हैं। इस तरह क्षयके ८० प्रतिशत रोगी इतर रोगके मध्य या अन्तमे आक्रमित हो जाते हैं।

यदि आक्रमण होनेपर आयुर्वेद कथित पूर्वरूप परसे राजयक्ष्माको जानकर सत्वर उचित चिकित्साका प्रारम्भ कर दे, तो रोग सहज साध्य हो जाता है। उग्र रूप धारण कर लेने पर रोग कष्टसाध्य या असाध्य बन जाता है।

पूर्व रूप—रोगारम्भमें ज्वर अति स्वल्प रहता है, क्वचित् तो हाथ-पैरमें सामान्य उष्णताकी वृद्धि ही होती है। शुष्क कास, प्रतिश्याय, हाथ पैर टूटना, देहमें भारीन, बेचैनी आदि जीर्ण विषम ज्वरके सङ्ग लक्षण होते हैं।

अनेक रोगियोंमें शारीरिक उत्ताप केवल ९७ डिग्री ही प्रातःकाल रहता है। रात्रिको ९८½ तक बढ़ जाता है।

जिन रोगियोंको सामान्य रूपसे कुछ अधिक ताप बढ़ता है, उनको प्रातःकाल ९७½ से ९८½ डिग्री तक उष्णता रहती है, और शाम या रात्रिको शीत लगकर २-३ घण्टेके लिये ज्वर आ जाता है। फिर शारीरिक उत्ताप ९९ से १०१ डिग्री तक बढ़ जाता है। सुबह उठने पर खासी चलने लगती है। २-४ मास बाद रक्त निष्ठीवन होने लगता है; तथा देहमें पाण्डुता और निर्बलता आ जाती है। जब तक स्थान स्थान पर क्षयकीटाणुओंका स्वल्प संचय होता रहता है, तब तक वक्षके स्वाभा-

विक ठेपन (प्रतिघात) ध्वनिमें परिवर्तन नहीं होता । एवं स्वाभाविक श्वासमें भी विशेष विलक्षणता नहीं होती ।

क्षयकीटाणु फुफ्फुसोंके जिस स्थान पर आक्रमण करते हैं; उस स्थान पर प्रारम्भमें छोटी-छोटी ग्रन्थियोंकी उत्पत्ति होती है । फिर ये ग्रन्थियां निम्नानुसार त्रिविध अवस्थाओंको प्राप्त होती हैं । प्रारम्भमें ग्रन्थि-स्थान कठिन आकार (Consolidation) धारण करता है । यह प्रथमावस्था कहलाती है । फिर ग्रन्थियोंकी अक्रान्ति होकर विगलन होने लगता है; ग्रन्थियाँ फूटती हैं; और उनमेंसे गाढ़ा पूय विगलित तन्तु आदि पदार्थ निकलते रहते हैं । इस अवस्थाको द्वितीयावस्था कहते हैं । तत्पश्चात् विगलित स्थान गलकर नष्ट हो जाता है; और वहाँ गह्वर बन जाते हैं । एवं उनमेंसे श्लेष्म, रक्त, पूय, मांस, त्वचा आदि पदार्थ बराबर निकलते रहते हैं । इस अवस्थाको तृतीयावस्था कहते हैं ।

अनेक बार धातुक्षीणता और जीर्ण ज्वरजनित निर्बलतामें कई रोगियोंको अपचन, मलावरोध, मन्द ज्वर आदि होते हैं । ऐसे व्यक्तियों की देहमें यदि यक्ष्माके कीटाणुओंका आक्रमण हुआ हो, तो उनके जुल्म का पता नहीं चलता । फिर रोग प्रबल बन जाने पर विदित होता है । अतः संदेह होनेपर इस रोगके निर्णयार्थ परीक्षा करानी चाहिये । एवं क्षय विनाशक चिकित्साका भी आश्रय लेना चाहिये ।

(१) घनावस्था (Stage of Consolidation)—इस प्रथमावस्थामें अधिक कृशता, अधिक बलक्षय, शामको ज्वर अधिक रहना, रात्रिको अत्यंत प्रस्वेद, कफवृद्धि, पाण्डुताकी वृद्धि और उदासीन मुखमण्डल आदि लक्षण प्रतीत होते हैं । जब क्षयकीटाणु एक स्थान पर अधिक परिमाणमें संचित हो जाते हैं; तब फुफ्फुस विधान की स्थितिस्थापकतामें व्यत्यय हो जाता है । फिर धातु जीवाणुओं (Tissues) की घनताकी वृद्धि हो जाती है । आक्रान्त वक्षकी ठेपन परीक्षा करने पर जड़ ध्वनि (Dull) प्रकाशित होती है । ध्वनेवाहक यन्त्रसे परीक्षा करने पर वायुकोषीयनाद (Vesicular sound)

परिवर्द्धित हो जाता है । श्वासोच्छ्वासकी आवाज क्षीण हो जाती है, उसमें झटका (Jerking) लगता रहता है; और निःश्वास दीर्घ हो जाता है । जैसे-जैसे श्वासोच्छ्वासक्रियामें परिवर्तन होता जाता है, वैसे वैसे अक्षधरा धमनी (Subclavian Artary) और फुफ्फुसाभिगा धमनी (Pulmonary Artary) मेंसे “सा सा” ध्वनि निकलती रहती है । आक्रान्त स्थान पर मन्द और मध्यम द्रव ध्वनि (Crepitation rales) सुननेमें आती है । बहुधा पीठकी और पहले और आगेकी ओर कुछ दिनोंके पश्चात् होती है । यह आगन्तुक ध्वनि कभी कभी नहीं सुनी जाती । शब्दोच्चारणकी परीक्षा करने पर तीव्र शब्द नाद (Increased Vocal Resonance) की प्रतीति होती है ।

बाह्य चिह्न (Signs)—वक्षःपत्रजरकी आकृति विकृत हो जाना, छाती चापट (Flattening), लम्बी और गोल हो जाना, मांसमेंसे अस्थियाँ बाहर निकल जाना, निःश्वासके समय रुग्ण पार्श्वका कम फूटना, रुग्ण पार्श्व अधिक कुश होजाना आदि चिह्न प्रतीत होते हैं ।

इस अवस्थामें ज्वरवृद्धि होनेका हेतु कीटाणुविषका रक्तमें प्रवेश या फुफ्फुसके नूतन-नूतन अशका रोगग्रस्त होना, इन दोनोंमेंसे एक या दोनों होते हैं । रक्तमें प्रवेशित कीटाणुओंके साथ लसीकाणुओंका युद्ध होता है । इस युद्धमें दोनोंका जितना सहार अधिक होता है, उतना ही अधिक प्रस्वेद आता रहता है ।

द्वितीयावस्था—इस अवस्थाकी प्राप्ति होने पर वक्षःस्थल और ग्रीवा की प्रकृतिमें विशेष परिवर्तन हो जाता है । ग्रीवा हसकी गर्दनके समान नीचे चौड़ी और ऊपर पतली हो जाती है । धीरे धीरे ठेपन परीक्षा करने पर जड़ ध्वनि प्रकाशित होती है । हृदय पिण्ड पर ठेपन करनेके साथ ध्वनिवाहक यन्त्रसे सुनने पर वंशीनाद अति स्पष्ट श्रुतिगोचर होता है । श्वासप्रणालिकाओंके चारों ओर अन्तर्भरण होने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनिके साथ वंशीनाद भी सुननेमें आता है । अनेक बार इस अवस्थामें

प्रणालिकाप्रदाह (Bronchitis) जनित कफ कासके लक्षण सह-वर्त्ती रहनेसे श्वासोच्छ्वासके ध्वनिका निर्णय करना दुष्कर हो जाता है । क्वचित् फुफ्फुसावरण की दोनों कलाओंमें घर्षण होते रहनेसे घर्षणध्वनि या द्रवध्वनि सदृश सूक्ष्म चट-चट आवाज (Small Crackling rale) सुननेमें आती है ।

विवरावस्था—(Stage of Cavitation)—इस अवस्थाकी प्राप्ति होने पर द्वितीयावस्थामें कहे हुए लक्षण तीव्रतम हो जाते हैं । तीव्र ज्वर, अतिसार, उरःक्षतवृद्धि, स्वरयन्त्र विकृति, त्रासदायक कास, अर-बार कफ निकलना, बताशे सदृश गोल बँधा हुआ हरा-पीला दुर्गन्ध युक्त कफ, कफमें रक्त और पूय आना, हृदयकल्प, दिन-प्रति-दिन दुर्बलताकी वृद्धि होना, श्वासोच्छ्वासमें द्रुतत्व, मांस गल जाना, मुख, पैर और वृषण पर शोथ आ जाना, बालोंका अधिक गिरना, यकृत और प्लीहा बढ़ जाना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

बाह्य चिह्न—इस अन्तिमावस्थामें वक्षःस्थलके ऊपरके हिस्सेमें सै कुछ भाग नीचा हो जाता है । नापने पर वक्षःस्थलका परिमाण कम हो जाता है; तथा हृत्पिण्ड स्थानच्युत हो जाता है । विवरों पर धीरे-धीरे ठेपन करने पर उदराध्मानके समान (Tympanic) आवाज उत्पन्न होती है; और विवरके समीप फूटे बर्त्तन सी आवाज (Cracked pot resonance), या कौप्यक ध्वनि (Amphoric) उत्पन्न होती है । विवर बड़ा हो, उसमें कफ संगृहीत न हो तो विवरनाद (Cavernous) सुननेमें आता है । खाँसी चलकर कफ निकल जाने पर सीतकार ध्वनि निकलती है; अर्थात् ऐसा बोध होता है कि, किसी खड्डेमें वेगपूर्वक वायुका प्रवेश हो रहा है । गह्वर विशेष गम्भीर न हो, बो नालीय नाद सुननेमें आता है । गह्वरमें अति कफ है तो घड़-घड़ आवाज या बुदबुदे फूटनेके सदृश आवाज (Gurgling rale) सुननेमें आती है । बोलने पर कानाफुंसीकी आवाजकी भी तीव्र प्रति-ध्वनि (Pectoriloquy) या छागनिनाद (Aegophony) का

अनुभव होता है । वक्षःस्थान पर हाथ रख फिर रोगीसे बोलने पर आवाजकी अधिक वृद्धि होती है ।

आक्रान्त अश कुछ कोमल, कुछ अश दृढ़ और कुछ अशमें नये कीटाणु संचित होते रहते हैं । चट चट आवाज और द्रव ध्वनि (Crackling and Crepitant rales) सुननेमें आती है; वह कोमलावस्था (Softening stage) के प्रारम्भ होनेका चिन्ह है । यह मृदुभाग गलकर कफके साथ बाहर निकल जाने पर कुछ कालके लिये रोग स्थगित हो जाता है । परन्तु यह कोमल बनाने या गलानेकी क्रिया क्रमशः अधिक स्थानोमें फैलती जाती है, और विवरकी वृद्धि होती जाती है । यदि फुफ्फुसावरण प्रभावित हो जाता है, तो फुफ्फुसावरणकी कलाओंका परस्पर घर्षण होते रहनेसे घर्षणध्वनि भी सुननेमें आती है ।

विवरके ऊपरकी ठेगान ध्वनि सर्वत्र एक सम नहीं होती । यह उसके स्थान और अवस्थानर निर्भर है । यदि विवरके किनारेका प्रदेश स्थूल और घन हो, तो विवरनाद पूर्णरूपसे प्रकाशित होता है । परन्तु सड़ा फुफ्फुसावरणके समीप हो या खड्डोंके चारों ओरके प्रदेशकी दीवार पतली हो, तो उसमेंसे विविध प्रकारकी ध्वनि सुननेमें आती हैं । किसी स्थानपर फूटे बर्तनके सदृश आवाज आने लगती है । एव स्थान ओर विकृति भेदसे घन और सौषिर ध्वनि भी मिश्र हो जाती है ।

इस रोगमें सामान्य रूपसे निर्बलता और पाण्डुता बढ़ती जाती है । रोगीका वजन घटता जाता है । रक्तमें से रक्ताणु और श्वेताणु, दोनों दिन-प्रति-दिन कम होते जाते हैं । एव लसीकाणुओंकी मृत्युकी संख्या शनैः-शनैः बढ़ती जाती है । श्वास वेगसे चलता है; नाड़ी निर्बल होते हुए भी अति तीव्र वेगसे चलती है, नाड़ीकी चाल ज्वरकी अपेक्षा तेज ही रहती है । जिह्वापर कुछ मैल लगा रहता है । रात्रिको प्रस्वेद अति आना, अग्निमान्द्य, अरुचि और मलावरोध आदि बने रहते हैं । इतर ज्वरोंमें प्रस्वेद आजानेपर शरीर हलका हो जाता है; परन्तु इस क्षयज्वरमें

अस्वेदके पश्चात् अधिक निर्वलता और मनमें स्फूर्तिका नाश दृष्टि-
गोचर होता है ।

विषम ज्वरमें शीत लगती है । एवं क्षयज्वरमें भी शीत लगकर
शामको ताप बढ़ता है । विषम ज्वर क्विनाईन देनेसे बहुधा दूर हो
जाता है; और यह क्षय ज्वर क्विनाईनसे दूर नहीं होता । यद्यपि क्विना-
ईन अधिक बढ़े हुए ज्वरको कुछ कम करती है; तथापि रक्तस्राव,
मस्तिष्कमें उष्णताकी वृद्धि, निद्रानाश, हृदयमें धड़कनवृद्धि आदि
हानि पहुँचाती है । प्रथम श्रेणीमें रोगीका बल अधिक नहीं घटता;
और ताप भी सामान्य रहता है । परन्तु द्वितीय और तृतीय श्रेणीमें
ताप १०२-३ तक बढ़ जाता है; तथा दिन-प्रति-दिन निर्वलता अधिका-
धिक आती जाती है । ज्वरका वेग अधिक हो; तब निद्रा भी नहीं
आती । तृतीय श्रेणीके कतिपय रोगियोंको रोज दो बार ताप बढ़ता
रहता है । दो पहरको और रात्रिको भोजनके बाद एवं रात्रिको
शीतल स्वेद उतना अधिक आता है कि, कपड़े भी सब भीग जाते हैं ।

क्षयरोगी शकाशील, क्रोधी और खाऊ (Glutton) बन जाते
हैं । इस रोगमें प्रलेपक ज्वर (Hectic Fever) रहनेसे तीसरे
पहरको रोगीके कपोलपर तेजी (Hectic flush) भासती है । इसका
चर्णन चिकित्सा तन्त्रप्रदीप प्रथम खण्ड पृष्ठ ५७१ में किया गया है ।
शिरःशूल, अंगुलियोंके अग्रभागोंका मोटा हो जाना, नेत्र और नाखून
अधिकाधिक निस्तेज होते जाना, त्वचामें शुष्कता दिन-प्रति-दिन बढ़ती
जाना आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । यह रोग अति घातक होनेसे
इसके लक्षणोंको पुनः लक्षण क्रमसे दर्शाते हैं ।

नाड़ी—इस रोगमें नाड़ी चंचल और लुब्ध होती है । स्पन्दन प्रति
मिनट १०० से १४० तक बढ़ जाते हैं ।

श्वासोच्छ्वास—सामान्यतः श्वासोच्छ्वास तेज ही होते हैं । वेदना
वृद्धि या ज्वर वृद्धि होने पर श्वासोच्छ्वास और बढ़ जाते हैं ।

ज्वर—इस रोगमें ज्वर एक प्रधान लक्षण है । यह ज्वर विषम

ज्वरके सदृश होता है। कभी ज्वरमे सन्ताप, कभी-कभी अधिक मलाई सदृश अपक्रान्ति होने पर शारीरिक उत्ताप १०२ या १०४-१०५ डिग्री तक बढ़ जाता है। अतिशय प्रस्वेद आनेपर शारीरिक उत्ताप अति घट जाता है। किसी किसीको शीत, उष्ण और प्रस्वेद नियमित रूपसे होते हैं। रात्रिको अधिक प्रस्वेद आते रहनेसे रोगी अधिकाधिक दुर्बल होता जाता है।

कास—यह लक्षण इस रोगमें होता ही है। रोगवृद्धि अनुसार खासी बढ़ती जाती है। रोग दबने पर खासी कम हो जाती है। प्रारम्भ में शुष्क कास, फिर पतला कफ, पश्चात् शनैः शनैः गाढ़ा कफ होता है। प्रारम्भमें कफ सफेद होता है; फिर हरा, पीला और बताशे सदृश गोल हो जाता है। गह्वरमेसे धूमय कफ निकलने पर वह दुर्गन्ध युक्त होता है। इस कफको जलमें डालने पर डूब जाता है। एव अग्निमें जलाने पर मुर्दे जलने सदृश दुर्गन्ध आती है।

रक्त वमन—क्षय रोगमें कभी-कभी रक्तवमन उपस्थित होती है। रोगकी प्रथमावस्थामें रक्तवमन अधिक भयप्रद नहीं है; तो भी रोगी और उसके आत्मीय जनोको अति भय हो जाता है। रक्तवमन सर्व समयमें विपद् जनक नहीं मानी जाती। प्रबल रक्तवमन होने पर क्वचित् मृत्यु हो जाती है; परन्तु वह तृतीयावस्थामें। फुफुसकी बड़ी रक्त-बाहिनीका भेदन हो जाने पर रक्तस्राव अधिक होता है, तथा क्षुद्र प्रणालिकाओंका विदारण होने पर रक्तस्राव कम होता है। क्षुद्र रक्तप्रणालिकाओं (कैशिकाओं) के भेदनमे अधिक हानि नहीं पहुँचती। रक्तवमनमें २-४ बूदसे लेकर १-२ सेर तक रक्त बाहर निकल जाता है। रक्त वमनके पहले उबक और बेचैनी होती है, या अत्यन्त तीव्र वेगपूर्वक कास चलकर रक्तवमन होती है। कभी कभी रक्तस्राव होने पर रोगीको शान्तिका बोध होता है। रक्तवमनसे धमनिमे से स्राव होनेपर रुधिर लाल वायु मिश्रित और बुदबुदाकार निकलता है;

और शिराओंमेंसे साव होनेपर रुधिर कृष्ण वर्णका होता है । कुछ समय तक रक्त रुक जाने पर भी काला हो जाता है ।

वक्षःपर वेदना—क्षय कास होनेपर बहुधा छातीमें दर्द हो जाता है; परन्तु वह प्रारम्भमें नहीं होता । जब फुफ्फुसावरण आक्रान्त होता है; तब बहुधा यह वेदना होने लगती है । कभी-कभी यह वेदना वातिक शूलके सदृश तीव्र होती है ।

स्वरभंग—अनेक बार राजयक्ष्माकी अन्तिमावस्थामें अति कष्ट-दायक स्वरभंग उपस्थित होता है । कोई-कोई समय अकस्मात् स्वर बन्द हो जाता है । फिर भोजनको निगलनेमें वेदना होती है । यह उद्वव अति आपत्तिकर है ।

शारीरिक और मानसिक अवस्था—शरीर शनैः-शनैः क्षीण होता जाता है । अन्तमें अस्थिपञ्जरवत् देह बन जाती है । हाथ-पैरोंके नख बढ़कर मुड़ जाते हैं । गुल्फ पर शोथ आ जाता है । रक्तकी अति कमी हो जाती है । स्त्री रोगिणी हो, तो मासिक धर्म बन्द हो जाता है । शरीर में अति शिथिलता आजाने पर भी मनमें निराशा अन्त तक नहीं आती । रोगी मृत्युशय्या पर पड़े रहने पर भी विविध वासनायुक्त मानस सृष्टिकी रचना करता रहता है । अब शीतकाल आने पर यह कार्य करूँगा; वसन्त ऋतुमें अमुक कार्य कराऊँगा । फिर हिमालयका प्रवास करूँगा आदि-आदि कल्पनासृष्टि निर्माण करता रहता है ।

राजयक्ष्माके विशेष दृश्यचिह्न—(१) मुखमण्डल स्निग्ध और तेजस्वी भासता है; आवाजमें कुछ अन्तर पड़ जाता है; तथा नेत्रकी पुतलियाँ फैल जाती हैं ।

(२) ग्रीवा हंसके कण्ठ सदृश बन जाती है । अर्थात् नीचे चौड़ी ऊपर सिकड़ी ।

(३) हंसलीके दोनों ओरकी शिराओंमें अन्तर पड़ जाता है । एक अधिक उभरी हुई मालूम पड़ती है ।

(४) रोगी बैठ कर श्वास लेता है; तब क्षयकीटाणुओंसे आक्रांत फुफ्फुस प्रदेश काम फूलता है ।

(५) स्कंधकी आस्थियाँ पशुर्कासे बाहर निकल जाती हैं ।

(६) छाती चानट हो जाती है ।

(७) पशुर्काएँ मुड़ जाती हैं; भीतरकी ओर बैठ जाती हैं ।

(८) फुफ्फुसोमें ग्रन्थियोंके विगलन होने पर वह स्थान बैठ जाता है ।

(९) सक्रामित फुफ्फुस सकुचित् हो जाता है । श्वास लेने पर वह कम फूलता है ।

(१०) अँगुलियोंके अगले पर्व कुछ मोटे और गोल हो जाते हैं । नाखून लम्बे होकर मुड़ जाते हैं ।

(११) शारीरिक उत्ताप प्रातःकाल कम रहता है; और सायंकाल बढ़ जाता है ।

(१२) मध्यरात्रिके लगभग प्रायः प्रस्वेद आता है ।

सूचना—क्षय रोगीके कमरेमें गूगल और लोहवान की धूप करते रहनेमें श्वास द्वारा गूगल की वायु श्वासयन्त्रमें जाती है, जिससे कीटाणु नाश होनेमें अच्छी सहायता मिलती है ।

कोई रोगी कफहो बाहर निकालनेमें त्रास मानकर निगल जाते हैं । परिणाममें उसे आन्त्रिक क्षय होकर पतले दस्त आने लगते हैं; इस तरह फुफ्फुस और आंत, दो स्थानोंका क्षय हो जानेसे रोगी को सत्वर क्षीणता आ जाती है, इस हेतुसे मृत्यु भी जल्दी ही होती है । कोई रोगी कफको बाहर निकालनेमें देर करते हैं । स्वरयन्त्रमें कफ भरा रह जाता है, परिणाममें स्वरयन्त्र पर क्षयकीटाणुओंका आक्रमण हो जाता है ।

जो रोगी रोगका प्रारम्भ होने पर तुरन्त सावधान हो जाते हैं, उनमें से बलवान् शक्तिवाले और जिनको चिकित्साके लिये सब प्रकारकी अनुकूलता है, वे उच जाते हैं । रोग बढ़ जाने पर रोग बहुधा असाध्य माना गया है तथापि रोगकी दृष्टिमें मृत्युका समय अनिश्चय है ।

अनेक रोगी १ वर्ष के भीतर ही मर जाते हैं । जो रोगी ब्रह्मचर्यका पालन करता है; एवं पथ्य आहार सेवन करता है; वह २ वर्ष तक जीवित रह जाता है ।

सार्वज्ञिक क्षय

कभी-कभी क्षय रोग सर्वाङ्गमें फैल जाता है । उसे सार्वज्ञिक क्षय कहा है । सार्वज्ञिक क्षय बालकोंको विशेषतर होता है । इस क्षयमें दो प्रकार हैं—चिरकारी और आशुकारी ।

चिरकारी सार्वज्ञिक क्षय—इस विकारकी प्राप्ति होने पर जिन स्थानों पर यक्ष्माकीटाणुजनित ग्रन्थियाँ बनती हैं; उन स्थानोंकी अपक्रान्ति होकर ग्रन्थियाँ पनीरवत् बन जाती हैं । यह ग्रन्थियाँ बाजरीके दानेसे लेकर मटरके दाने बराबर हो जाती हैं । ये फुफुस, प्लीहा, वृक्क और मस्तिष्कमें दूर-दूर प्रतीत होती हैं । इनके अतिरिक्त श्वासनलिका और अन्त्रबन्धनी (Mesentery) से सम्बन्ध वाली ग्रन्थियाँ तो प्रारम्भसे ही रोगकेन्द्र बनती हैं ।

लक्षण—क्षुधानाश, उदासीनता, कास, प्रस्वेद वृद्धि, तथा आमाशय और अन्त्रके विकारजनित लक्षण प्रकाशित होते हैं । कभी-कभी नेत्रके चारों ओर कृष्णाभमण्डल होना, मन्द ज्वर बना रहना, त्वचाके नीचे रही हुई लसीकाग्रन्थियाँ बड़ी हो जाना, चिरकारी श्वासनलिका-प्रदाह, श्वासनलिकासे सम्बन्ध वाली लसीकाग्रन्थियाँ प्रभावित हो जाना, फुफुसखण्ड प्रदाहजनित अन्तर्भरण, यकृत और प्लीहाकी वृद्धि आदि लक्षण उपस्थित होते हैं । त्वचा पर स्थान स्थान पर रक्तविकारके धब्बेके सदृश शुष्क काली-सी ग्रन्थियाँ हो जाना, दिन-प्रति-दिन देह गलना, मांस पेशियाँ अति निर्बल बन जाना, हृदयकी गति बढ़ जाना, दाँतों पर मैल जमना, मसूढ़ों पर क्षत हो जाना, मुखमण्डल पर अर्ध-कोमल छोटी-छोटी पिटिकाएँ निकलना, इन पिटिकाओंका न पकना और न सूखना, पृष्ठ देशमें दोनों अंसफलक (Scapules) के मध्य-

वर्त्ती प्रदेशमें अस्थिकी विलक्षण वृद्धि हो जाना इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं । नाडी स्पन्दन १२० या इनसे भी अधिक प्रति मिनट होते हैं । श्वासोच्छ्वासका वेग बढ़ जाता है, शारीरिक उत्ताप १०४-१०५ डिग्री तक हो जाता है । कभी-कभी भयङ्कर वमन उपस्थित होती है; और आमाशयमें किसी भी प्रकारका आहार सहन नहीं होता । उदर में पीडा बनी रहती है ।

रोग जीर्ण होने पर शय्याव्रण उपस्थित होते हैं, एव रक्तका अत्यधिक हास हो जानेसे निम्न शाखाओमें शोथ प्रकाशित होता है । शोथका प्रारम्भ पैरोंकी गुल्फसंधिसे होता है । फिर क्रमशः ऊर्ध्वप्रदेश में बढ़ता जाता है । शनैः-शनैः पैर और ऊरु (साथल) शोथग्रस्त होते हैं । यदि वृक्कप्रदाह हो जाता है, तो समस्त शरीर पर शोथ हो जाता है । इनके अतिरिक्त किसी-किसी रोगीको अति दुःखदायी कास चलती रहती है । निद्रानाश, स्मरणशक्तिका लोप और ब्वचित् प्रलाप भी दृष्टिगोचर होता है । इतना होने पर भी रोगीके ज्ञानमें विलक्षणता नहीं होती । क्रमशः शारीरिक अवस्था शोचनीय होती जाती है, और अन्त में रोगी मृत्युके मुखमें गिर जाता है ।

आशुकारी सार्वान्त्रिक पिटिका युक्त क्षय—इसका विवेचन आशुकारी पिटिका युक्त फुफ्फुस क्षयमें पहले किया गया है ।

राजयक्ष्मा विनिर्णय ।

ऐसा भी देखा गया है कि, क्षय रोग न होने पर भी डाक्टर, वैद्य और हकीमोंने अनेक रोगियोंको भ्रममें डाल दिया था, और भ्रम में डाल रहे हैं । इस भयसे अनेक निर्बल मन वाले रोगियोंकी मृत्यु होती रहती है । हमे भी क्षय न होनेपर भयभीत हुए अनेक रोगी मिले हैं; जो सामान्य ओषधिसे ही थोड़े ही समयमें अच्छे हो गये हैं ।

रोग विनिर्णयकी भूलका एक जगप्रसिद्ध उदाहरण गत यूरोपीय महायुद्ध है । पलटनोंके अनेक सिपाहियोंको क्षय पीडित मानकर डाक्टरों

ने सेनिटोरियममें भेज दिया था । उनका अनुसन्धान करने पर केवल १२ प्रतिशत रोगी क्षयग्रस्त मिले थे । फ्रान्सके डाक्टर मेजररिष्ट लिखते हैं कि, फ्रेंच सेनाके १००० रोगियोंको क्षयग्रस्त मानकर अस्पताल भेज दिया था; उनमेंसे ८०७ मनुष्य तो निःसन्देह क्षय रोगसे रहित जाने गये । इस हेतुसे क्षयनिर्णयके समय निम्न बातों पर लक्ष्य देना चाहिये:—

(१) विषमज्वर, इन्फ्ल्युएन्ज़ा, न्यूमोनिया, प्रसूतिरोग, रोमान्तिका, कास, काली खाँसी, जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण-अजीर्ण रोग, पाण्डु, फुफ्फुसा-वरणप्रदाह (उरस्तोय), रक्तशीवन, कण्ठमाल, गलगण्ड, अपच, मधुमेह, क्षयज, स्वरभेद या इतर कोई क्षयोत्पादक रोग पहले हुआ था या नहीं ?

(२) इस कुटुम्बमें या जहाँ रोगी रहते हैं; वहाँ पर पहले किसी को क्षय रोग हुआ है या नहीं ? पहले किसी क्षयरोगीके संसर्गमें तो नहीं रहा ?

(३) रोगी अति व्यभिचारी, हॉटलोंके पदार्थोंको अति खाने वाला, अथवा आर्थिक या कौटुम्बिक चिन्तामें डूबा हुआ तो नहीं है ?

(४) ज्वर प्रातःकालमें कम फिर धीरे-धीरे बढ़ना, रात्रिको प्रस्वेद आना (प्रस्वेदसे सब कपड़े भीग जाना), स्वप्नमें अग्नि देखना, बताशे सदृश बँधा हुआ हरा-पीला कफ निकलना, धीरे-धीरे बलका हास अधिकाधिक होना आदि लक्षणोंमेंसे कौन-कौन मिलते हैं ? प्रातःकाल शारीरिक उष्णता ९७। डिग्री लगभग रहती है; और शामको विकृति अनुसार १०० से १०४ डिग्री तक हो जाती है । बल धीरे-धीरे कम होने लगता है । प्रातःकाल खाँसी प्रारम्भिक अवस्थामें शुष्क, फिर कुछ दिनोंके पश्चात् कफ युक्त हो जाती है । सूखी खाँसी होनेपर कष्ट अधिक होता है; और अनेक बार निद्राका भी नाश हो जाता है ।

(५) कफको जलाने पर मुर्दे सदृश दुर्गन्ध निकलती है । कफमें रक्त आता रहता है । अणुवीक्षणयन्त्रसे परीक्षा करने पर कफमें कीटाणु

प्रतीत होते हैं । यदि कफमें क्षय कीटाणु मिल जायें, तो परीक्षा एक ही पूर्ण हो जाती है ।

(६) कौककी ट्यूबरकुलिन (Koch's Lymph-Tuberculin) के सूचिकाभरणसे यदि ज्वरकी वृद्धि होती है, तो क्षयरोग माना जाता है ।

(७) क्षय किरण द्वारा फुफ्फुसोंका चित्र लेने पर परीक्षा हो जाती है । स्वस्थावस्थामें एक्सरेसे फुफ्फुसोंका चित्र निकाले, तो कोई छाया नहीं आती; और क्षयके कण हो जाने पर धब्बे पड़ जाते हैं ।

(८) इस रोगकी परीक्षाके लिये रोगी जाग्रत हो, तब तक २-२ या ३-३ घण्टे पर थर्मामीटरसे शारीरिक उष्णता देखकर लिखते रहना चाहिये; जिससे तापक्रम परसे रोगनिर्णयमें सहायता मिल सके ।

(९) क्षय रोगिणी युवा है, तो मासिकधर्मके दिनोमें ज्वर कुछ अधिक रहता है ।

(१०) क्षय रोगीको अपथ्य खानेकी और मैथुनकी प्रबल इच्छा बनी रहती है ।

(११) यदि अक्षकास्थियों (Clavicles) पर नीचे और ऊँचे तथा अश पृष्ठ (Supraspinous fossa) पर अँगुलीसे ताड़न करनेसे ध्वनि मन्द हो जाय; फुफ्फुसशिखर (Apex of the Lungs) पर मर्मर ध्वनिमें विलक्षणता हो, अथवा कोई आगन्तुक ध्वनि सुननेमें आवे; छाती एक ओरसे चापट प्रतीत हो, दीर्घश्वास लेने पर दोनों फुफ्फुस समभाव प्रसारित न हों, श्वासोच्छ्वासमें फुफ्फुसविकास स्वल्प हो, कास हो तथा स्वस्थता और शारीरिक वजनका हास देखनेमें आवे, तो निश्चित मानना चाहिये कि, राजयक्ष्माका प्रारम्भ कुछ कालसे हो गया है ।

अनेक बार कुशल चिकित्सक भी क्षय रोगका निर्णय नहीं कर सकते । क्ष-किरण द्वारा भी प्रारम्भमें पूरा पता नहीं लगता । अनेक क्षय रोग रहित मनुष्योंके फुफ्फुस शिखरोंमें भी बाहरसे परीक्षा करने पर

विकृत स्थितिका बोध होता है । अतः अनेक साधनों द्वारा निर्णय करने की आवश्यकता है ।

(१२) क्षय कीटाणुओंके विरुद्ध प्रतिक्रिया—क्षय कीटाणु बहुधा श्वासमार्गसे फुफ्फुसोंमें प्रवेश करते हैं; और फुफ्फुसोंकी मांसपेशियों पर आक्रमण करते हैं । उस समय लसीका और मांसपेशियाँ, उन कीटाणुओं को नष्ट करनेका प्रयत्न करती हैं । यह आघात प्रत्याघात रूपा क्रिया कुछ दिनों तक चालू रहनेसे उसमेंसे विष (विशिष्ट द्रव्य) उत्पन्न होकर रक्तमें मिल जाता है । फिर यह विष रक्त वाहिनियोंकी दीवारके मांस, वातवहा नाडियों और त्वचामें पहुँच जाता है । रक्तमें इस विषके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगती है । परिणाममें विष विरोधी शक्ति उत्पन्न होती है । इस शक्ति को डॉ० पिरकेट (Pirquet) ने अलेर्जी (Allergy) संज्ञा दी है । इस शक्तिकी उत्पत्तिमें लगभग १ से १॥ मास लग जाता है । शक्ति उत्पन्न हो जाने पर क्षयरोगका निर्णय क्षय कीटाणुओंके अर्क (ट्यूबरक्युलिनटेस्ट—Tuberculin test) द्वारा परीक्षा करके किया जाता है ।

क्षय कीटाणुओंकी अर्कविधि—क्षय कीटाणुओंके विषसे यह तैयार होता है । मांसके क्वाथमें ५ प्रतिशत ग्लिसरीन और १ प्रतिशत पेप्टोन मिला लेते हैं । फिर इसमें क्षयकीटाणु डालते हैं । पश्चात् इस मिश्रण को ३० डिग्री सेन्टिग्रेड उष्णता वाली पेटी या कमरेमें रखते हैं । १-१॥ मासमें इस मिश्रणके ऊपर मलाई रूपसे क्षय कीटाणुओंकी भयंकर आवादी आजाती है । इस तरह निश्चित परिमाणमें वृद्धि होने पर उसे अग्निपर चढ़ाते हैं; फिर दशवां हिस्सा शेष रहने पर उतार कर छान लेते हैं । ऑस्ट्रिया देशके विएना शहरमें इस अर्क को तैयार करने के पहले छान लेते हैं; फिर उबालते हैं । इस तरह अर्क (ट्यूबरक्युलिन) तैयार होने पर पशुओं पर प्रयोग करके निश्चय करते हैं । फिर छोटी-छोटी शिशियोंमें पैक कर बेचनेके लिए बाहर भेजते हैं ।

यद्यपि क्षयकीटाणुओंका यह अर्क विषारी है, तथापि यह क्षय

आक्रमित रोगियोंके लिये ही आपत्तिकर है । क्षयकीटाणुओंके संसर्गसे रहित मनुष्यो पर (यदि क्षमता शक्ति प्रबल है तो) इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु क्षय रोगके निर्णय करनेके लिये इस बात को भी लक्ष्यमें रखना चाहिये कि, क्षयरोगीके रक्तमें इसका अधिक परिमाणमें प्रवेश करा दिया जायगा, तो रोगीकी मृत्यु हो जायगी ।

इस अर्क द्वारा जर्मनी और ऑस्ट्रियामें अनेक क्षयरोगियों पर परीक्षा हुई है । जिन मनुष्यो को क्षय रोग होनेका क्षयकीटाणु अर्कसे जाना गया हैं; उन सब पर क्षयकीटाणुओंका आक्रमण निश्चित हो चुका है । परन्तु इस वचनका ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये कि, वे सब परीक्षाकालमें क्षय रोगसे ग्रसित हैं । पहले क्षय रोगका आक्रमण हुआ हो; और विष विरोधी शक्ति उत्पन्न होकर क्षय कीटाणुओंको दबा दिया हो, ऐसा भी हो सकता है ।

क्षय कीटाणु अर्ककी एक विधिका निर्माण १८८६ ईस्वी में प्रो० कोक (Koeh) ने किया है, उसे प्राचीन परीक्षाविधि (Old test) कहते हैं । उसका उपयोग वर्त्तमानमें प्रायः नहीं होता । फिर नूतन विधि १८८९ ईस्वीमें तैयार की है । वह सर्वत्र प्रचलित है ।

प्राचीन और नूतन विधिमें भेद यह है कि यह उग्ररोगोत्पादक सकल जीवाणुओंमेंसे बना हुआ (Culture) है । इसको प्रयोगमें लाने पर प्राचीन विधानके सदृश स्फोट नहीं होता । इस विधिमें क्षय कीटाणुओंका द्रव या मिश्रण (Emulsion) बन जाता है । इसमें उत्सादित विष पदार्थ वर्त्तमान नहीं रहता ।

प्राचीन विधिकी परीक्षामें अर्कका रक्तमें बिचकारी द्वारा इन्जेक्शन ही किया जाता है । यदि रोगी क्षयग्रस्त न हो, तो कोई भी स्थानिक या सार्वजनिक चिह्न या लक्षणकी उत्पत्ति नहीं होती । यदि रोगी क्षयकीटाणुओंसे आक्रमित हो, तो प्रतिक्रिया (Reaction) हो जाती है ।

क्षयकीटाणुके अर्क द्वारा परीक्षाविधि—यह परीक्षा त्वचापर मसल

कर, त्वचापर खुरचकर, त्वचामें प्रवेश कराकर, त्वचाके नीचे प्रवेश कराकर और नेत्रमें डालकर, इन पाँच प्रकारसे होती है। परन्तु अन्तिम दो प्रकारोका उपयोग बहुधा नहीं किया जाता। इनमें रोगीको हानि होनेकी सम्भावना है।

प्रथम प्रकार (Percutaneous Tuberculin test)—अर्क और वैसलीनको समभाग मिलाकर मलहम तैयार करते हैं। फिर छातीके बीचमें हड्डीपर १-१॥ इंच भागको इथरके फोहेसे साफ करते हैं। पश्चात् थर्मामीटर जिस नलीमें रखते हैं, उसके सिरेसे ज्वारके दाने जितना मलहम लेकर उस स्थानपर २-३ मिनट तक मसलते हैं; जिससे वह त्वचामें प्रवेश कर जाता है। पश्चात् १ या २ दिन बाद उस स्थानको देखते हैं। जो उस स्थानपर लाली आजाय, और छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जायँ, तो समझना चाहिये कि, इसे क्षयरोग हुआ था। यह परीक्षा ६ वर्षसे कम आयुवाले बच्चोंके लिये उपयोगमें ली जाती है।

द्वितीय विधि (Cutaneous test)—यह विधि कूर्पर (कहुनी) के नीचे की त्वचा पर की जाती है। पहले इथरके फोहेसे धोकर फिर वहाँ पर ट्यूबरकुलिनका एक बूंद डालकर २ इंच दूरीपर दूसरी बूंद डालते हैं। पश्चात् एक तीक्ष्ण सुईसे खुरचकर दो बूंदोंके बीच 'x' ऐसी आकृति करते हैं। तदन्तर दोनों बूंदों पर भी वैसी ही आकृति करते हैं। इस खुरचनेमें इस वातका खयाल रखा जाता है कि रक्त न निकले; और बीचकी चतुष्कोण आकृतिको ट्यूबरकुलिन भी न लगे। लगभग ५ मिनटमें ट्यूबरकुलिनकी बूंद सूख जाती हैं। फिर २४ या ४८ घण्टेके पश्चात् हाथको देखें। यदि उसे पहले क्षयरोग हुआ हो, तो बूंदों परके चिन्ह वाला १ से १ इंच व्यासका स्थान ट्यूबरकुलिनकी प्रतिक्रियाके अनुरूप लाल होकर सूज जाता है। बीचकी आकृतिसे निर्णय किया जाता है; अर्थात् बीचकी आकृति से उस स्थानकी विकृति कितनी अधिक हुई है। यदि यह परीक्षा नास्ति पक्षमें हुई हो, तो पुनः १ सप्ताहके पश्चात् परीक्षा की जाती है।

यदि अधिक बलपूर्वक प्रतिक्रिया होनेकी भोति हो, तो इस अर्कको ४-८ गुने जलमें मिलाकर फिर परीक्षा करते हैं । यह परीक्षा ६ से १५ वर्ष की आयुवालोके लिये सुविधा वाली है ।

तृतीय विधि (Intracutaneous test)—इस विधिमें ट्युबरक्युलिनको एक हजार या दश हजार गुने जलमें मिलाकर उपयोगमें लिया जाता है । फिर इस जल मिश्रित अर्कके $\frac{3}{4}$ से $\frac{5}{4}$ बूद या ($\frac{1}{10}$ से $\frac{1}{5}$ क्युबिक सेन्टीमीटर) जितना अश पिचकारीमें लेकर मूत्तम सुईसे हाथकी त्वचाके ऊपरकी पर्तमें प्रवेश करावे । ऊपरकी सतहमें टोचनेसे वह स्थान चने या मटर जितना उभर जाता है । परीक्षार्थ इसी तरह शुद्ध जलको भी इस हाथ पर या दूसरे हाथ पर टोचकर प्रवेश करावे । फिर २४ या ४८ घण्टे पश्चात् ट्युबरक्युलिन वाला स्थान $\frac{1}{2}$ इञ्च या अधिक भाग लाल होकर कुछ सूज जाय, तो अस्तिपन्न माना जाता है । बड़ी आयु वालोके लिये इस विधिसे निश्चय किया जाता है । अनेक डॉक्टर हाथके ऊपर असफलक स्थान (Intrascapular) में अर्कको प्रवेश कराते हैं । इस परीक्षासे पिचकारी द्वारा प्रयोग करने पर बहुधा १२ घण्टेके भीतर देहमें उत्ताप बढ़ जाता है । बहुधा २-३ डिग्री उष्णता बढ़ जाती है । साथ-साथ बेचैनी, मस्तिष्क, पीठ और पैरोमें पीड़ा और क्वचित् उबाक और वमन भी उपस्थित होते हैं । उत्ताप वृद्धि होनेके कुछ घण्टोके पश्चात् फिर घटकर स्वाभाविक अवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है, और सर्व लक्षण शमन हो जाते हैं ।

क्षयप्रसारके प्रतिबन्धक उपाय ।

समाज, शहर या ग्राममें क्षयकी उत्पत्ति रोकने या क्षय न फैलनेके लिये निम्न बातोको जाननेकी आवश्यकता है:—

१—प्रकाश और शुद्ध वायु आनेके लिये मकानके खिड़की और दर्वाजे खुले रखने चाहिये । गंदे मकान, घनी बस्ती वाले मकान और सील वाले मकानोंमें न रहे । मकानोंमें मकड़ीका

जाला न होने दें । कूड़ा-कचरा मकानके पास एकट्ठा न करें । मकानकी मोरी, नाली और टट्टी आदि स्थानोंको बार-बार साफ कराते रहें । मक्खी और मच्छरोंकी अधिक उत्पत्ति न हो यह बार-बार सम्हालते रहें । मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सू, जूँ आदि जन्तु मनुष्योंके शत्रु रूप हैं ।

२—मिट्टीके मकानोंमें लीपने-पोतनेके लिये जिस गोबरका उपयोग करें, उसे पहले देख लें । भैंसके गोबरका उपयोग न करें । कारण, उसमें हानिकर कीटाणु रहते हैं । केवल गौओंका ही गोबर उपयोगमें लें । इसमेंभी बीमार गौका गोबर न लें । एवं वर्षाऋतुमें, जब तक घास कच्चा हो तब तक पचन क्रिया ठीक न होनेसे गोबर पतला रहता है, इस लिये उस समय केवल मिट्टीसे ही जमीनको लीपना चाहिये । ऋतु प्रभावसे और कच्चे गोबरसे मक्खियाँ बहुत बढ़ जाती हैं; तथा वायु भी दूषित हो जाती है । इसलिये दुराग्रह छोड़कर स्वच्छता पर लक्ष्य देना चाहिये ।

३—कच्चे मकान या चूना-पत्थरके पक्के मकानोंमें भी वर्षा कालमें जमीन अधिक समय गीली न रहे; इस बातका सम्हाल रखना चाहिये ।

४—सुबह जल्दी उठे, जल्दी शौच शुद्धि और मुख शुद्धि (दंतौन) कर लें । फिर स्नान कर बाहर घूमने चले जायँ; या घूमनेके पश्चात् थोड़ी विश्रान्ति लेकर स्नान करें ।

५—प्रातः सायं नित्य आवश्यक व्यायाम करें; या खुली वायुमें घूमें ।

६—बालकोंको पढ़ानेके लिये पाठशाला खुली वायु वाले स्थान पर बस्तीसे दूर ही बनवानी चाहिये ।

७—शहरोंमें गंदे जलको निकालनेके लिये नालियों (गटर)

को ऊपरसे बन्द रखना चाहिये, और उनको बार-बार साफ़ कराते रहना चाहिये ।

८—भोजन नियत समय पर करें । बासी, दुर्गन्धयुक्त पदार्थ और जिस पर मक्खियाँ खूब बैठी हो, ऐसे भोजनका उपयोग न करें । भोजन कर लेने पर दूध (दूध अनुकूल न हो, उनके लिये मट्ठा) पीते रहे । शहरवासी गौओंके दूधको बिना गरम किये कभी काममें न लें । दो-तीन उफ़ाण आने पर हानिकर कीटाणु बहुधा नष्ट होजाते हैं । यदि साफ़ जाननेमें आजाय, अमुक दूध बीमार 'गौ' का है, तो काममें ही नहीं लाना चाहिये । एवं बार-बार भोजन, अति भोजन, विरुद्ध भोजन, अपथ्य भोजन आदि से सर्वदा दूर रहना चाहिये ।

९—ताजे फल और शाकका उपयोग आवश्यक परिमाणमें करना चाहिये ।

१०—गरम चाय, गरम कॉफी, कोको, सिगरेट, भांग, गांजा, शराब और अफीम आदिके व्यसनसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये । व्यभिचार, वेश्यागमन और हस्तमैथुन क्षयकी उत्पत्ति और प्रसार करता है; अतः उनसे दूर ही रहना चाहिये । अपनी स्त्रीसे भी मर्यादासे अधिक बार मैथुन नहीं करना चाहिये ।

११—शरीरको सीधा रखें; कमरसे मुड़कर न बैठें ।

१२—क्षय पीड़ित रोगियोंके संसर्ग से दूर रहे । क्षय रोगी का झूठा अन्न, जल, बीड़ी, चिलम आदिको ग्रहण न करें ।

१३—सिनेमा, नाटक, होटल आदिमें न जायें ।

१४—रेल और मोटरकी मुसाफिरीमें सावधानी रखें । प्रवासमें बाहरके पदार्थ न खायें । स्वच्छताका पूरा खयाल रखें । घर पर आकर वस्त्र बदल दें । हो सके तो स्नान करके धोये हुए साफ़ वस्त्र पहनें ।

१५—सर्वदा वस्त्र शुद्ध पहनना चाहिये । पहने हुए वस्त्रोंको

रोज साबुनसे धोकर सूर्यके तापमें सुखा देना चाहिये । सूर्यके तापसे पसीनेकी दुर्गन्ध उड़ जाती है ।

१६—दूसरोंकी गन्दी की हुई पुस्तकको न पढ़ें । पुस्तक पढ़नेके समय पन्ना उलटनेके लिये अँगुलियोंको धूँक न लगावें । एवं पेन्सिलको मुँहमें भी न डालें ।

१७—भोजनके पदार्थोंका मक्खियोंसे आग्रहपूर्वक संरक्षण करना चाहिए ।

१८—रुई, कोयला, धूल आदिके परमाणुओंको श्वासमें न जाने दें ।

१९—सोनेके समय मुँहको न ढकें । कारण श्वासोच्छ्वास के लिये शुद्ध वायुकी आवश्यकता है । मुँहको ढक देनेसे गन्दी वायु बार-बार श्वासमें आती रहेगी; जो अति हानिकर है ।

२०—कमरेमें मच्छर हों, तो मच्छरदानी लगा लेवें । एक कमरेमें अधिक मनुष्योंको नहीं सोना चाहिए; और एक बिछौने पर दो या अधिकका सोना भी हानिकर माना गया है ।

२१—ब्रह्मचर्यका पालन करना अति आवश्यक माना जाता है । स्त्रीको एक संतान होनेके पश्चात् दूसरी संतान ३ वर्षके पहले न होनी चाहिये ।

२२—बाल विवाह और छोटी आयुमें ब्रह्मचर्य भंग करना, यह क्षयको निमन्त्रण देनेके समान है ।

२३—आमदनीसे अधिक खर्च न करे । अन्यथा कर्ज बढ़ने पर चिन्ता शरीरको खाने लगती है ।

२४—अति साहस कर्म, अतिपरिश्रम, अधिक चिन्ता, अधिक पठन, अति व्यायाम, अति प्रवास, अति उपवास आदि नहीं करना चाहिये ।

२५—ईश्वरी नियम और सामाजिक मर्यादाके विरुद्ध कर्म-चोरी, ईर्ष्या, गुप्त पाप आदि कार्य नहीं करना चाहिये । वरन्

मानसिक निर्बलता आकर शरीर गलने लगेगा । फिर क्षय-कीटाणुओंका आक्रमण सत्वर हो सकता है ।

इन नियमोंका पालन करनेसे बहुधा क्षयकी उत्पत्ति रुक जाती है, उपर्युक्त कारणोंके अतिरिक्त चोट, न्युमोनिया, आन्त्रिक ज्वर आदि कतिपय रोग भी क्षयोत्पादक हैं, परन्तु इनका रोकना मनुष्यके अधीन नहीं है ।

क्षयकीटाणु प्रतिबन्धक उपाय ।

क्षयरोगी नित्य प्रति अनन्त क्षयकीटाणुओंको अपनी दहमें से बाहर निकालता रहता है । उन कीटाणुओंकी उत्पत्ति और प्रसारको रोकनेके लिये निम्नानुसार नियमोंका पालन करना चाहिये:—

१—रोगीको प्रकाश और शुद्ध वायु वाले कमरेमें रक्खें । कमरेमें नित्यप्रति भाँडू निकालें, और दीवारोंको साफ करे । रोगीके कमरेकी खिड़कियाँ सर्वदा खुली रक्खे । कुछ गन्दगी होनेपर जमीनको जलसे धो देवे; और दीवारों पर भी चूना पुतवा लेवें ।

२—रोगीके कमरेमें नित्यप्रति गूगल, लोहबान, आदिका धूम करते रहना चाहिये ।

३—क्षय रोगीके कफ और (अन्त्रक्षय हो जाने पर) मल कीटाणुयुक्त होते हैं, अतः इन दोनोंको एक हाथ गहरे गड्ढेमें गाड़ देना चाहिये, या घास और मिट्टीका तेल डालकर जला देना चाहिये । क्षय कीटाणुओंको किसी गन्दी नालियोंमें नहीं डालना चाहिये । कारण, वहाँ कीटाणु दीर्घ काल तक जीवित रह जाते हैं । जमीन पर फेंक देनेसे कफ सूखने पर कीटाणु उड़कर दूसरोंके श्वासमें प्रवेश कर जाते हैं । अतः उसे जला देना ही सर्वोत्तम माना जाता है ।

४—रोगीके पास थूँकनेके लिये फिनाइल, कार्बोलिक एसिड या मिट्टीका तैल डाला हुआ पीकदान, या बोतल रखें; अथवा कागजके लिफाफोंमें थूँकें, और उसे जला दें। दीवार या फर्श पर नहीं थूकना चाहिये ।

५—खाँसनेके समय मुँहके पास रुमाल या कपड़ा रख लें। कारण, कफके तुषार परिचारकोंके श्वासमें चले जाने पर उनको भी क्षय हो जानेकी भीति रहती है ।

६—क्षय रोगिणीके छोटे-छोटे बच्चोंको मातासे दूर ही रखना चाहिये । रुग्णाओंको चाहिये कि, अपनी संतान या इतर किसी बच्चे को चुम्बन न करें ।

७—क्षय रोगीके खाने-पीनेके वर्तन अलग रखना चाहिये, और रोज उसमें अग्नि डालकर शुद्ध कर लेना चाहिए ।

८—क्षय रोगीके वस्त्र रोज बदल देना चाहिए । इन वस्त्रोंको प्रतिदिन साबुन या सोडा मिले जलमें उबालकर धोना चाहिए ।

९—क्षय रोगी पेन्सिल, कलम आदिको मुँहमें न डालें । एवं पुस्तक पढ़नेके समय अँगुलीको थूँक लगाकर पन्नेको न छलटें; अन्यथा उन पेन्सिल, कलम या पुस्तक द्वारा दूसरों पर क्षयकीटाणु आक्रमण कर देते हैं ।

स्वास्थ्य गृह और दिनचर्या ।

वर्तमानमें इस क्षयके प्रतिबन्धार्थ पार्श्वत्य प्रदेशके अनुसार भारतवर्षमें भी अनेक स्वास्थ्य गृह (सेनेटोरियम-Sanatorium) बनाए गये हैं । धनिक रोगी वहाँ जाकर रह सकते हैं । उस स्थानके शुद्ध जलवायुसे सत्वर लाभ पहुँचता है । ओषधिकी अपेक्षा शुद्ध वायुको विशेष गुणदायक माना है । इस सम्बन्धमें कहावत भी है “सौ दवा और एक हवा” । परन्तु

निर्धन लोग इन स्वास्थ्य सदनोका पूरा लाभ नहीं ले सकते । राज्यकी ओरसे गरीबोंके लिये उचित प्रबन्ध नहीं है ।

यह भी खयाल चाहिये कि, जो मनुष्य जिस देशका है, उसी देशके सेनेटोरियम ही उसके लिये लाभदायक माने है । मद्रासवासीके लिये बंगलोरका जलवायु जैसा अनुकूल हो सकेगा वैसा गुलबर्ग (काश्मीर) का जलवायु लाभप्रद नहीं हो सकेगा । इस तरह काठियावाड़ वासियोंको समुद्र किनारेका जलवायु, बंगालवासियोंको वैद्यनाथ या जगन्नाथपुरीका जलवायु, सी० पी० वालोंको पचमढीका जलवायु, एवं गुजरात और मारवाड़ वासियोंको आबूका जलवायु जितना अनुकूल रहेगा; उतना दाजिलिगका जलवायु अनुकूल नहीं रहेगा; बल्कि हानि पहुँचायगा । इस तरह इतर देशोंके लिये भी समझ लेना चाहिये ।

सामान्य रीतिसे समुद्रके किनारेकी वायु अति हितकर मानी जानी है । नदी तट और स्वच्छ मैदानमें निवास करना भी लाभदायक है । प्रतिदिन नौकारोहण करके समुद्रमें थोड़े-थोड़े समय तक भ्रमण करनेका मिले तो वह रोगनाशमें सहायक होता है । समुद्र जलका स्नान भी अनेक रोगियोंके लिये हितावह होता है ।

पर्वतो पर जहाँ बार-बार वर्षा होकर ऋतुका परिवर्तन होता है, वहाँकी वायु उस प्रदेशवासियोंके लिये हितकर हो सकती है, किन्तु इतरोके लिये नहीं । अनेकोंको पर्वत पर अतिसार हो जाता है, और देह सत्वर निर्बल बन जाती है । अनेकोंको ज्वर और कफकी वृद्धि हो जाती है । फिर भी जिनकी प्रकृतिको अनुकूल हो, उनके लिये हितकर मानेंगे । जांगल देश वासियोंके लिये जांगल देश वातप्रधान होने पर भी अति हितकर है । जांगल देशमें कफकी वृद्धि अधिक नहीं होती ।

जीवन के लिये शुद्ध वायुकी नितान्त आवश्यकता है ।

यदि भोजन कुछ दिनों तक नहीं मिलेगा तो भी चल सकेगा । मनुष्य बिना जल भी कुछ काल निकाल सकेगा; किन्तु श्वासोच्छ्वासके लिये शुद्ध वायु न मिले, तो मनुष्यकी मृत्यु मिनटों में ही हो जाती है ।

शीत लगे तो कपड़े अच्छी तरह ओढ़ लें; किन्तु मुख पर वस्त्र न रक्खें । अन्यथा गंदी वायु श्वास द्वारा बार-बार फुफ्फुसों में जाती रहेगी; जो फुफ्फुसोंको दूषित बना डालती है ।

जो मनुष्य रात्रिको सोनेके समय कपड़ेसे अपने मुँहको ढक लेते हैं और शीत लगने के लिये कमरेकी खिड़कियोंको भी बन्द कर लेते हैं; वे लोग राजयक्ष्मा आदि रोगोंसे पीड़ित होकर अपनी संसारयात्रा सत्वर समाप्त कर डालते हैं ।

शुद्ध वायुके भीतर १०० भागमें ऑक्सिजन (Oxygen) २०.१२ भाग, नाइट्रोजन (Nitrogen) ७८.१० भाग, आर्गन (Argon) ०.९४ भाग और जहरी वायु अर्थात् कार्बोन डाइ ऑक्साइड (Carbon dioxide) ०.०४ भाग रहे हैं । इस वायुमेंसे अपना श्वास लेते हैं ।

जो वायु निःश्वास रूप बाहर निकलती है; उसमें ऑक्सिजन १६ भाग आर्गन मिश्रित नाइट्रोजन ७१ भाग और कार्बोनडाइऑक्साइड ४-४ भाग होती है । अर्थात् ऑक्सिजनका परिमाण कम होकर जहरी वायु बढ़ गई है । इस परसे पक्क सहज समझ सकते हैं कि, देहमें उत्पन्न विष को बाहर निकालनेके लिये शुद्ध वायुकी सर्वदा और सर्वथा आवश्यकता रहती है । सामान्य रीतिसे जितनी वायु श्वासमें ली जाती है; उसकी अपेक्षा बाहर निकलने वाली वायु $\frac{1}{10}$ हिस्सा कम रहती है ।

स्वस्थ युवा पुरुषके रक्तमें प्रतिदिन लगभग १ सेर ऑक्सिजन मिश्रित हो जाती है, और लगभग उतनी ही जहरी वायु बाहर निकलती है । निःश्वास की वायुमें ३० तोले जल भी बार निकलता रहता है । भीतर जो वायु आकर्षित होती है; वह शीतल होती है; और बाहर निकलती

है, वह रक्तकी उष्णताको भी बाहर निकालती रहती है। अतः निः-
श्वासकी वायु लगभग शारीरिक उष्णता जितनी उष्ण होती है ।

सामान्यतः स्वस्थ मनुष्य प्रति मिनट १७ श्वास लेता है । प्रतिश्वास ५०० घन शतांश मीटर ($2 \times 2 \times 2$, क्युबिक सेन्टीमीटर) या ३०.२ घन इंच वायु बाहर निकालता है । इस दृष्टिसे स्वस्थ मनुष्यको रहनेके लिये वायुके आने और निकलनेका पूरा प्रबन्ध हो, ऐसा मकान कमसे कम ८०० घन फीट (१० फीट लम्बा १० फीट ऊँचा और ८ फीट चौड़ा) चाहिये, और रोगियोंके लिये तो इससे दो तीन गुना बड़ा मकान रहना चाहिये ।

कारखाना, मील, धर्मशाला, मन्दिरोंके उत्सवकाल, रेलगाडी, ट्राम और मोटर आदिमें जब मनुष्योंकी भीड़ होती है, तब श्वासवायु कितनी दूषित मिलती होगी, इस बातका खयाल पाठक सहज कर सकेंगे ।

मनुष्यको सर्वदा चाहिये कि, नासिका से ही श्वास लेते रहे; मुँहसे कदापि न ले । नासिका से श्वास लेनेमें वायु छनकर स्वरयन्त्रमें होकर फुफ्फुसोंमें जाती है । वायुमें रहे हुए अनेक प्रकारके दूषित परमाणु नाकमें ही रह जाते हैं । यह लाभ मुँह से श्वास लेने वालोंको नही मिलता । जिन मनुष्योंको मुँहसे श्वास लेनेका अभ्यास हो जाता है; उनके ऊपरके जबड़ा (Jaw) और नाक की आकृति बिगड़ जाती है, तथा ऊपरका ओष्ठ ऊँचा खिच जाता है ।

रोग बढ़ने पर यदि रोगी शुद्ध वायुके सेवनाथ १-२ मील भ्रमण करता रहता है, तो वह अपनी मौतको स्वेच्छासे बुला रहा है, ऐसा कहना पड़ेगा । परिश्रम करने वालों को अच्छीसे अच्छी ओषधि भी कदापि लाभ नहीं पहुँचा सकती ।

यदि नाड़ीकी गति बढ़ जाती है; दिनके किसी भी समयमें ६६ डिग्री तक या अधिक ज्वर आ जाता है, तो मनुष्यका

समझना चाहिये कि, विषने मस्तिष्कमें जाकर उष्णता उत्पादक, नियामक और शाम्भक्त केन्द्रोंको प्रकुपित किया है; इसी हेतुसे उ्वरकी उत्पत्ति हुई है। ऐसी परिस्थितिमें ईश्वर या प्रकृति विश्राम लेनेके लिये आज्ञा करते हैं। जो मनुष्य इस दैवी आज्ञाका उल्लंघन करता है; वह घोर व्याधिसे पीड़ित होकर जीवनयात्राको समाप्त कर देता है।

यदि नाड़ीमें तेजी नहीं है; स्वाभाविक उष्णताकी अपेक्षा शारीरिक उष्णता नहीं बढ़ती, तो मनुष्य प्रारम्भिक अवस्थामें थोड़ा टहल सकता है; परन्तु थोड़े टहलनेमें ही शारीरिक उत्ताप की वृद्धि हो जाय, तो फिर कुछ कालके लिये विश्रान्ति लेनी चाहिये।

अनेक चिकित्सक क्षय रोगीको प्राणायाम करनेकी सलाह देते हैं। प्राणायामका अर्थ प्रातःकाल भोजनके पहले शुद्ध वायु में बैठकर दीर्घ श्वास लेना और तुरन्त शनैःशनैः निकाल देना है। प्राचीन शास्त्रीय प्राणायाम, जिसमें नाकके एक छिद्रको अंगुली से बन्द सब पूरक कर, फिर कुम्भक (श्वासको रोकना) करने के बाद रेचक किया जाता है। उसे प्रयोगमें नहीं लाना चाहिये। इस प्राणायामका अधिकार स्वस्थ मनुष्यको आसन की दृढ़ता होने (३ घण्टे तक एक आसनसे बैठने) पर मिलता है; और सद्गुरुकी सन्निधिमें रहकर किया सीखनी पड़ती है। रोगी केवल दीर्घ श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रातःकाल, उ्वर न होने पर, प्रथमावस्थाके प्रारम्भमें चिकित्सककी सलाह अनुसार कर सकता है। जब तक देहके बलका ह्रास न हुआ हो और क्षय ग्रन्थि विगलित न हुई हो; तब तक सम्हालपूर्वक दीर्घ श्वास क्रियाका प्रारम्भ कर दिया हो, तो वह क्षयग्रन्थियोंको सुखा कर नष्ट करनेमें सफलता प्राप्त कर सकता है। यह क्रिया प्रारम्भमें ५ मिनट करे। फिर १-१ मिनट प्रतिदिन बढ़ाता

जाय । १५ मिनट या २० मिनट तक बढ़ावें । परन्तु क्षय-ग्रन्थि फूट जाने पर पूय रक्त या रसका स्राव होने पर तथा सूक्ष्म विवर बन जाने पर दीर्घ श्वासका प्रारम्भ किया जायगा, तो वह हानि ही पहुँचाता है; अर्थात् विवरको बढ़ाने और बल को घटानेका ही कार्य करता है ।

रोगी मनोरंजनके लिये रेडियो, ग्रामोफोन, या बाजा आदि सुनते रहे; परन्तु अधिक वार्त्तालाप न करें । एवं अपने पास अधिक मनुष्योंको बैठने न दें । अधिक मनुष्य इकट्ठे होने पर वायु दूषित होती है; और मन लुब्ध होता है ।

रोगीके पैरोंके तलोंको सूखे और गरम रखना चाहिये । शीतकाल और वर्षाके समय पैरोंमें गरम मोजे पहनाना चाहिये ।

रोगीके कपड़े ढीले, हल्के और स्वच्छ होने चाहिये । तंग कपड़ेसे प्रस्वेद द्वारा विष बाहर आनेमें प्रतिबन्ध होता है । गर्मीके दिनोंमें सूती वस्त्र और शीतकालमें ऊनी वस्त्रको उपयोगमें लाना चाहिये ।

प्रति दिन प्रातः सायं ज्वर अधिक न बढ़ा हो, तो ऐसे समय पर दांतोंको दन्तमंजन या दतौनसे साफ करें, और अच्छी तरह कुल्ले करें ।

रोगीको ज्वर रहने और कफ वृद्धि होनेके पश्चात् शीतल जलसे स्नान नहीं कराना चाहिये; और प्रातःकालमें भी स्नान नहीं कराना चाहिये । शीतकालमें रोज स्नान न करावें । स्नान जब कराना हो; तब भोजनके १ घण्टे पहले निवाये जलसे निर्वात स्थानमें स्नान करावें । गरम जलमें कपड़ा भिगो, उससे देहको पोंछकर साफ करलें । फिर वस्त्र बदल दें ।

सूर्यस्नान—क्षयरोगीको रोज सूर्योदयके १ या २ घण्टेके पश्चात् सूर्यके तापका सेवन (सूर्यस्नान) कराना चाहिये । पहले ५ मिनट पैरोंसे घुटनों तक । दूसरे दिन १० मिनट कमर तक,

तीसरे दिन १५ मिनट छाती तक । चौथे दिन २० मिनट कण्ठ तक । फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जायँ । रोगीके शारीरिक बलके अनुसार नित्य बाल-किरणोंका १-१ घण्टे तक सेवन करानेसे क्षयकीटाणु सत्वर नष्ट हो जाते हैं । परन्तु सूर्यस्नानमें रोगीको शीत न लग जाय, इस बातका सम्हाल रख कर सूर्यस्नान कराना चाहिये ।

सूर्यके तापका सेवन करना हो, तब रोगी नम्र रहे, तो विशेष लाभ पहुँचता है । सूर्यस्नानके लिये स्थान जंगलमें ऊँचाई पर होना चाहिए । यदि ब्बर शामको या रात्रिको अधिक बढ़ जाता है, तो सूर्यके तापका सेवन कराना हानिकर होता है । सूर्यस्नानकी इच्छा वाले रोगीको पहले शुद्ध वायु और कमरेके भीतर आने वाली मंद किरणोंमें कुछ दिन रक्खें । फिर जंगलके शुद्ध वायु वाले स्थानमें सूर्यस्नान करानेका प्रबन्ध करें ।

जब रक्तमें रक्तरंजक (हिमोग्लोबिन-Haemoglobin) की मात्रा कम हो जाती है, तब सूर्यस्नान हितकर होता है । यदि नियमित २-४ मास तक सूर्यस्नान होता रहे तो बढ़ा हुआ राजयक्ष्मा, उरस्तोय, पाण्डु, मृद्वस्थि, दुष्ट व्रण, प्रतिश्याय आदि दूर हो जाते हैं ।

सूचना—सूर्यस्नान वायुमें उष्णता आजानेके पश्चात् नहीं कराया जाता । जब तक वायुमें कुछ शीतलता हो, तब तक ही कराया जाता है ।

जिस रोगीको ज्वर ११ डिग्रीसे अधिक बढ़ जाता है, या रक्तभार-वृद्धि हो जाती है, वह सूर्यस्नानका अनधिकारी माना जाता है । इस हेतु से फुफ्फुस क्षयकी द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी वालेको बहुधा सूर्यस्नान नहीं कराना चाहिये ।

रोगीको कोई प्रतिकूल चिह्न बढ़ जाय, तो ४-८ दिन तक सूर्यस्नानको बन्द कर फिरसे शान्तिपूर्वक प्रारम्भ कराना चाहिये । एवं रोगीको कभी ब्बरवेग अधिक हो जाय, तो उस दिन सूर्यस्नान नहीं कराना चाहिये ।

कृत्रिम वात चिकित्सा—वर्तमानमें फुफ्फुसधराकला (Pleura) में कृत्रिम वायु भरकर (आर्टिफिशियल न्यूमोथोरेक्स—Artificial Pneumothorax) क्षय रोगीके फुफ्फुसोंमें कृत्रिम संकोच (Artificial collapse) कराया जाता है, जिससे क्षयविवर निष्क्रिय होजाते हैं। फिर तदन्तर्गत विष रक्तमें नहीं मिल सकता, इस हेतुसे ज्वर वृद्धि और इतर अनेक लक्षण सत्वर शमन हो जाते हैं। इस चिकित्सा द्वारा प्रथम श्रेणीके रोगियोंको लाभ हो जाता है; ऐसी अनेक डाक्टरोंकी मान्यता है।

यह प्रयोग एक ही फुफ्फुस या दोनो फुफ्फुसोंके संकीर्ण भागमें क्षयग्रन्थियाँ होने पर लाभदायक होता है। एवं श्वास-प्रणालिका विस्तार (ब्रोकिएक्टेसिस—Bronchiectasis), उरःक्षतमें रक्तछीवन और क्षयज उरस्तोयमें भी इस प्रयोगसे लाभ पहुँचता है।

यदि रोगीको क्षय विस्तृत भागमें फैला हो, और फुफ्फुसोंके कोषोंमें दीवारोंकी संलग्नता (Adhesion) न हो, तो कृत्रिम चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। एवं क्षय रोगके साथ यदि हृदय की विकृति, जीर्ण श्वास, जीर्णकास, वृक्कविकार, अन्त्रक्षयजन्य अतिसार और मधुमेह, इनमेंसे कोई भी एक उपद्रव है, तो भी इस चिकित्साको प्रयोगमें नहीं लाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस चिकित्सामें यह भी कठिनता है कि, क्ष-किरणों द्वारा बार-बार चित्र लेकर परीक्षा करते रहना चाहिये।

सूर्यस्तान और कृत्रिम वात चिकित्साके अतिरिक्त महा-प्राचीरापेशीकी वातवहा नाड़ियों (Phrenico-exaimesis) में से अमुकोंको काट देना, या पसलीके टुकड़ेको निकाल देना आदि उपायों द्वारा चिकित्सा हो रही है। अनुमान है कि यह प्रयोग भविष्यमें हानिकर ही माने जायेंगे।

चिकित्सोपयोगी सूचना ।

यह रोग चाहे उतने स्वल्प परिमाणमें हो, फिर भी पूर्ण-स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिये २-३ वर्ष तक पथ्यपालनसह चिकित्सा करते रहना चाहिये । अनेक बार कीटाणु दब जाते हैं; और बाहरसे दोष नष्ट होगया, ऐसा भास होता है । फिर रोगी आहार-विहारमें दुर्लक्ष्य कर देता है; और ओषधिका त्याग कर देता है । परिणाममें पुनः उलटकर रोग आक्रमण कर देता है; पश्चात् रोग सम्हल नहीं सकता । इस हेतुसे चिकित्सक और रोगीको चाहिये कि, वे पहलेसे ही आर्थिक स्थिति, सम्बन्ध, स्थान, बाह्य अनुकूलता, रोगीकी पथ्यपालनमें दृढ़ता, श्रद्धा, आदिका विचार करलें । यदि निर्धनता या प्रतिकूलताके हेतुसे बीचमें हो चिकित्साका त्याग किया जाता है, तो पहले किया हुआ सब वृथा हो जाता है ।

राजयक्ष्मा रोगमें ब्वरका अनुबंध न हो; रोगी उपचार करने योग्य बलवान्, दीप्ताग्नि वाला हो; देह अति कृश न हुई हो; तथा रोगी यत्नवान्, धैर्यवान्, और मनोबल युक्त हो, तो ही चिकित्सा करनी चाहिये ।

जिस हेतुसे राजयक्ष्माकी उत्पत्ति हुई है; उस हेतुको जानकर उसे अवश्य दूर करना चाहिये । जैसे एक मनुष्यको अति व्यवायसे शोष रोग हुआ है, तो उसे ब्रह्मचर्यका पालन आग्रहपूर्वक करना चाहिये; और चिकित्सा विशेषतः शुक्रवर्द्धक करनी चाहिये । अपथ्यसेवनसे रोग उत्पन्न हुआ है, तो सत्वर कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये; और अपथ्य आहारका बिल्कुल त्याग करना चाहिये । किसी रोगके पश्चात् उपद्रव रूपसे क्षय उत्पन्न हुआ हो, तो शोषके साथ मूल रोगकी शामक चिकित्सा करनी चाहिये ।

शोष रोगीकी चिकित्सा स्थिरादि वर्ग (विदारीगन्धादिगण) से सिद्ध फ्रिये हुए बकरी या भेड़के घी द्वारा करनी चाहिये ।

विदारीगन्धादिगण—विदारीगन्ध (शालपर्णी), विदारीकन्द, सहदेवी, गगरेन, गोखरू, प्रश्नपर्णी, शतावरी, श्वेत सारिवा, कृष्ण-सारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, पुनर्नवा, एरंडमूल, हंसपदी (हंसराज) वृश्चिकाक्षी (मेष-शृंगी भेद) और कौंच, इन २० ओषधियोंको विदारीगन्धादिगण कहते हैं । इस गणकी ओषधियां पित्त और वातनाशक हैं । शोष, गुल्म, अंगमर्द, ऊर्ध्व श्वास और कासको नष्ट करती हैं ।

रोगी को स्निग्ध कर ऊर्ध्व और अधः भागका शोधन करे । फिर मृदु आस्थापन बस्ति देवे, और मृदु शिरोविरेचन करावें । इस वचनमें भगवान् धन्वन्तरिजीका यह भी आशय रहा है कि, यदि रोगी रूक्ष या दुर्बल है, तो उसे संशोधन ओषधि नहीं देनी चाहिये । इस तरह वाग्भट्टाचार्यने भी कहा है कि, रोगी बलवान् बहुदोष वाला है, तो ही स्नेहन और स्वेदन करा फिर ऊपर नीचेके भागका शोधन कराना चाहिये । इस बातको भी खयालमें रखें कि, देहमें कृशता न आ जाय । इसलिये शक्तिका विचार कर मृदु वमन और मृदु विरेचन देना चाहिये ।

वमन करानेके लिये मैनफलके चूर्णको दूध या मधुर फलों के रस या मांसरसके साथ देना चाहिये; अथवा घृत युक्त यवागूमें मैनफल आदि ओषधि मिलाकर देनी चाहिये ।

विरेचनके लिये सफेद या काली निसोत अथवा अमलतास की फलीके गर्भको मिश्री, शहद और घीके साथ देवें; अथवा दूध, इतर संतर्पण (पौष्टिक) पदार्थ, अंगूर, विदारीकंद और काली मुनक्का, इनमेंसे किसी एकके रस या मांसरसके साथ विरेचन ओषधि देवें ।

शोधन होने पर हृदय को प्रिय और सत्वर पचन हो सके

ऐसे वातहर आहार, जौ, गेहूँ, चावल आदिको मांसरसके साथ सेवन कराना चाहिये । फिर जठराग्नि बढ़ने और उपद्रव नष्ट होने पर बृंहण (मांसवर्द्धक-बलदायक) भोजन देते रहें ।

इस यक्ष्मा रोगमें स्वास्थ्यकी उन्नतिके निमित्त विविध ओषधियाँ व्यवहारमें लाई जाती हैं । इन सब ओषधियों द्वारा पचनयन्त्रकी क्रिया जितनी सबल बनती जाती है; उतनी ही चिकित्सा फलप्रद होती जाती है । अतः पचनेन्द्रिय संस्था पर दृष्टि रखकर चिकित्सा करना, यह चिकित्सकका मुख्य कर्त्तव्य है । पचन शक्ति पर दुर्लक्ष्य करके सुवर्ण, लोहभस्म आदि कीटाणु नाशक, रक्तवर्द्धक और बृंहण ओषधि देने पर भी यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता । बलकारक ओषधि पचन क्रिया सबल बनने पर सत्वर फल प्रदान कर सकती है ।

यदि आमाशयकी श्लैष्मिक कलाका तीव्र प्रदाह (Gastric Catarrh) उत्पन्न हो जाय; और उस हेतुसे जिह्वा उज्ज्वल रक्तवर्ण कांटेदार और फटी-सी हो जाय, तो प्रवाल भस्म या शौक्तिक भस्म, सितोपलादि चूर्ण और गिलोयसत्वको घृत या शहदमें मिलाकर प्रातः सायं भोजनके एक घण्टा पहले देना चाहिये । डाक्टरोंमें बिस्मथ कार्बोनेट (Bismuth Carbonate) १० से २० ग्रेन तक भोजनके आध घण्टे पहले दिनमें २ बार देते रहते हैं ।

लुधामान्द्य और उदरवात रहने पर द्राक्षारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, यवानीखाण्डव चूर्ण या तालीसाद्य चूर्ण (आगे इसी प्रकरणमें लिखा जायगा) को प्रयोगमें लाना चाहिये ।

जिह्वा पर मल उत्पन्न हो जाय, तो मल-शोधनार्थ मृदु सारक ओषधि सूक्ष्म मात्रामें देनी चाहिये । उदरमें दूषित मल रहने और अतिसार हो जाने, इन दोनोंसे हानि पहुँचती है । दूषित मलसे रक्तमें विष मिल जाता है; अतिसारसे शक्तिका ह्रास हो जाता है ।

इन विकारों पर द्राक्षादिष्ट, च्यवनप्राशावलेह, हरड़का मुरब्बा, आरग्वधादि काथ आदिका उपयोग किया जाता है ।

यदि उष्ण या वमन रहती है, तो एलादि बटी, एलादि चूर्ण या यवानीखाण्डव चूर्ण दिया जाता है । दुर्दमन वमन होने पर शुभ्राभस्म (२० पृ० २५५) और फिटकरी उपकारक मानी गई है ।

अति त्रासदायक शुष्क क्षयकास होने पर शृंग भस्म, अभ्रक भस्म, प्रवाल पिष्टी और सितोपलादि चूर्ण, चारोंको मिलाकर शर्बत अनारके साथ देवें । कफ अधिक होने पर सितोपलादि अवलेह देवें । रक्तनिष्ठीवन वालोंको वासा स्वरस अनुपान रूपसे देवें । इतर रोगियोंको बकरीका दूध अनुपान रूपसे देवें । डॉक्टरोंमें क्षयकास पर कॉडलिवर ऑइल (मच्छीका तैल) को प्रधान ओषधि माना है । मात्रा २-२ ड्राम भोजन कर लेने पर तुरन्त दूधमें मिलाकर दिया जाता है । जिन रोगियों को आम-शय विकृतिके हेतुसे कॉडलिवर तैल सहन न हो, उसे इमलसन बनाकर दिया जाता है । कभी-कभी कॉडलिवर तैलसे हानि पहुँचती है । इसमें रही हुई दुर्गन्ध आदिके हेतुसे अरुचि, जुधामान्द्य, अतिसार आदि हो जाते हैं । ऐसा होने पर तत्काल इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये ।

यक्ष्मा रोगकी प्रथमावस्थामें रक्तनिष्ठीवन होने लगे, तो रोगीको पूर्ण विश्राम लेना चाहिये । यदि रक्त निकलना बन्द हो जाय तो भी शय्याका त्याग कुछ दिनोंके बाद ही करना चाहिये । रोगीके कमरेमें प्रकाश और शुद्ध प्रचुर वायु आनेके लिये खिड़कियों को खुली रखनी चाहिये । दोनों पैरोंके तलोंको उष्ण रखने के लिये गरम मोजा पहना रखें, या गरम कपड़ेसे ढका रखें । भोजन तरल, लघु, पौष्टिक और शीतल देना चाहिये । गरम दूध, गरम चाय, गरम जल, शराब आदि उत्तेजक पदार्थ, बीड़ी, तमाखू

और सिगरेट आदि का बिल्कुल त्याग कराना चाहिये । बर्फके टुकड़े खाने को दे सकते हैं । इस अवस्थामें प्रवाल, मौक्तिक, तृणक्रान्तमणि पिष्टी और वासा आदि ओषधियाँ अति हितकर हैं । आवश्यकता पर उदरशुद्धि और उष्णता शमनार्थ नमक मिले हुए पंचसकार चूर्णका प्रयोग करना चाहिये ।

आक्रान्त स्थान पर ग्लास लगाने की (Dry cupping) क्रिया हितकर रहती है । विधि चिकित्सातत्त्वप्रदीप प्रथम खण्डके पृष्ठ २७८ में लिखी है ।

प्रथमावस्थामें क्षय कास और तीव्र ज्वर हों, तो रोगाक्रान्त फुफ्फुस पर राई या सरसोंकी पुल्टिस बाँधना, या सेक करना हितकर है ।

क्षयकासग्रसित रोगीको जलवायु परिवर्तन करा देना अति उपकारक माना गया है । किसी सेनेटोरियममें रहनेका प्रबन्ध हो, तो विशेष लाभदायक है । अति शीत और अति उष्ण स्थान इस रोगमें प्रतिकूल रहते हैं । अनेक बार जन्म-भूमिका शुद्ध जलवायु ही विशेष अनुकूल रहता है । बाहर जाने पर प्रकृतिमें विकृति हो जाती है ।

अत्यन्त ज्वर, फुफ्फुसस्थ पीड़ाका अति विस्तार, अतिशय कृशता, वायुकोषविस्तार (Emphysema) और पूयभृत फुफ्फुसावरण (Empyema) आदि उपद्रव उपस्थित होने पर स्थानान्तर करना युक्तिसंगत नहीं माना जाता ।

यथार्थमें ऐसे स्थान पर निवास करना चाहिये कि, जिस स्थानका जलवायु रोगीकी प्रकृतिको अनुकूल हो; अर्थात् ज्वरका ह्रास, क्षतमें शुष्कता, कफ और निशाघर्मका निवारण, रोगोत्पादक कीटाणुओं (Microbes) का नाश और पचनक्रिया की शुद्धि आदि कार्योंमें सहायक बनें ।

यद्मा रोगमें फुफ्फुससे जितना अधिक कफ बाहर निकाल

सकें, उतना निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये । कफ अधिकांश में रह जानेसे नूतन-नूतन अंशको रोगाक्रान्त करते जाते हैं । कफ निकालनेके लिये कास रहना आवश्यक है; परन्तु कासका अतियोग होकर निद्रामें विघ्न न हो, इस बातको भी सम्हालना चाहिये । वासाक्षार, अभ्रक, शृङ्ग आदि कफनाशक और कासशामक ओषधियाँ अति लाभदायक हैं । निद्रा लानेके लिये द्राक्षारिष्ट निर्दोष और उत्तम ओषधि है ।

डाक्टरों मत अनुसार रात्रिको निद्राका त्रास न होने और शान्त निद्रा लानेके लिये अफीम मिश्रित ओषधि देते हैं । कष्टदायक कास होने पर रेस्परेटर इनहेलर (Respirator Inhaler) यन्त्रमें ओषधि भर मुँह पर बाँध बलपूर्वक श्वासग्रहण कराते हैं । यन्त्रमें रुई रख ऊपर ३ भाग गोयाकोल और १ भाग क्लोरोफार्म मिला, उसकी कुछ बूंद डालकर प्रयोगमें लानेसे सत्वर लाभ पहुँचता है । इस यन्त्रके प्रयोगसे कफ सरलतापूर्वक बाहर निकल कर कम हो जाता है । इस यन्त्रका व्यवहार बार-बार करते रहना चाहिये ।

यदि कष्टदायक कासके हेतुसे वमन हो जाती है, तो प्रवाल-पिष्टी, कामदूधारस, गिलोय सत्व आदिको प्रयोगमें लाना चाहिये । अति त्रास होने पर फिटकरी या शुभ्राभस्म देना चाहिये; अथवा आमाशय पर स्फोट (जुद्र ब्लिस्टर) उठाना चाहिये । प्रयोगविधि चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृ० २८७ में दी गई है ।

रात्रिको प्रस्वेद आना, यह राजयक्ष्माका प्रधान लक्षण है । इस हेतुसे निद्रामें बाधा पहुँचती है; और रोगी दिन-प्रति-दिन कृश होता जाता है । अतः इसके लिये लक्ष्य रखकर प्रबन्ध करना चाहिए । अनेक रोगियोंको रात्रिको बलदायक भोजन देने से प्रस्वेद कम आता है । दूध और मुर्गेका अण्डा उत्कृष्ट भोजन

माना जाता है । आवश्यकता पर ओषधिका प्रयोग करना चाहिए । शिलाजीत मिश्रित जसदभस्म, प्रवालपिष्टी, रुद्रवन्ती, कनकासव आदि हितकर ओषधियाँ हैं । डॉक्टरीमें एक्सट्रैक्ट ऑफ बेलाडोना (Ext. Belladonnae) $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रेन तक और झिंक ओक्साइड (Zinc Oxide) २ से ३ ग्रेन मिलाकर सोने के पहले देनेसे प्रस्वेद कम हो जाता है । इस तरह एट्रोपिन $\frac{1}{100}$ ग्रेनका इन्जेक्शन किया जाता है ।

यक्ष्मामें फुफ्फुसके नूतन अंश रोग ग्रस्त होने और फुफ्फुसका दृढ़ अंश नष्ट होकर विषका शोषण होने, इन दोनों हेतुओंसे ज्वर उत्पन्न होता है । पहले हेतुसे उत्पन्न ज्वर अविराम रहता है ; और द्वितीय हेतुजनित ज्वर सविराम होता है ; अर्थात् विष जल जाने पर शमन हो जाता है । अनेक बार उभय कारण एकीभूत होकर ज्वरकी उत्पत्ति करते हैं । फिर भी इनमें एक कारण मुख्य और दूसरा गौण होता है ।

ज्वर उत्पादनार्थ दोनोंमेंसे कोई भी एक हो, या दोनों मिले हुए हों ; रोगीको ज्वर कालमें सम्पूर्ण विश्राम लेना चाहिए ; और सतत ज्वर शमनार्थ त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, जयमङ्गल रस, चतुर्मुख रस, पञ्चामृत रस, अभ्रक मिश्रित लक्ष्मीविलास रस, प्रवालपिष्टी, सुदर्शन चूर्ण आदिको प्रयोगमें लाना चाहिए ।

डॉक्टरी मद्य अनुसार यक्ष्माकी चिकित्सामें सोमल (Arsenic) विशेष रूपसे लाभदायक है । अत्यन्त दुर्बलता, शीघ्र-शीघ्र शक्तिपात, जीर्णज्वर, बार-बार ज्वर अधिक बढ़ जाना, अति : प्यास, उबाक, आमाशयप्रदाह, अरुचि, अतिसार, उदासीनता, अति श्वासकृच्छ्रता, फुफ्फुसोंमें तीक्ष्ण वेदना, हृत्स्पन्दन वृद्धि, आदि लक्षण प्रकाशित होनेपर स्वल्प मात्रामें मल्लभस्म या मल्लसिंदूर देनेसे लाभ पहुँचता है ।

डॉक्टरीमें क्षय ज्वरमें किनाइनका प्रयोग करते हैं ; परन्तु

ज्वर न होनेपर किनाइन देना चाहिये । किनाइन आमाशयमें उग्रता लाता है, अतः इस बातका विचार करके इसका व्यवहार करना चाहिये ।

यद्यपि चिकित्सा करते रहने पर भी बहुधा ज्वरका शमन नहीं होता, तथापि रुधिराभिसरणसंस्था और वातवहा नाड़ियों को सहायता पहुँचती है । अतः ज्वरशामक चिकित्साको व्यर्थ मानकर छोड़ नहीं देना चाहिये ।

शोष रोगीकी शारीरिक शक्तिका हो सके उतने अंशमें संरक्षण करना चाहिये । इसके लिये मांसाहारी पशु-पक्षियोंका मांस हितकर माना गया है ।

महर्षि आत्रेय शोष रोगीके लिये कहते हैं कि :—

“मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् ।”

मांसहारी जीवोंका मांस मांसवृद्धि अर्थ सर्वोत्तम है । इस तरह श्री वाग्भट्टाचार्य लिखते हैं कि :—

“आजं क्षीरं घृतं मांसं क्रव्यान्मांसं च शोषजित् ।”

बकरीका दूध, घी, मक्खन और मांस तथा मांसभक्षी पशु-पक्षियोंका मांस, ये सब राजयक्ष्मा रोगके जीतने वाले हैं ।

रोगीकी देहको भीतर और बाहरसे शुद्ध रखें । स्नान योग्य रोगियोंको स्नान करावे, नहीं तो गरम जलमें वस्त्र भिगो देहको पोछ कर नित्यप्रति वस्त्र बदल डालें । मैले वस्त्रोंको रोज सोडा या साबुन मिले हुए उबलते जलसे धोकर धूपमें सुखा दें । प्रातः काल और सायंकाल दांतोंको दन्तमंजन लगाकर साफ करावें । दन्तमंजनार्थ पाठादि चूर्ण और जातिफलदि चूर्ण (रसतन्त्रसार पृष्ठ ६६०) हितकर हैं । दन्तमंजन लगाने पर कसैले जल (मौलसिरी, आम, जामुन, या बबूलकी छालका काथ या सोहागा

मिले जल) से कुल्ले करावें । मुखशुद्धि होनेपर प्रायोगिक स्नेहन धूम (चि० त० प्र० प्रथम खण्ड २५६) का सेवन करावें ।

अति व्यवाय (मैथुन) से राजयक्ष्माकी उत्पत्ति हुई हो, तो स्निग्ध, वातशामक, वृंहण और दीपन चिकित्सा ही करनी चाहिये । बकरीका दूध, घी, मांसरस, मधुर पदार्थ, वृंहणीय और जीवनीयगणकी ओषधियाँ हितकर मानी जाती हैं । वृंहणीय (Nutritiouses) और जीवनीय ओषधियोंका विवेचन 'वैज्ञानिक विचारणा'के पृष्ठ १५७ और १०२ में किया गया है ।

उरःक्षतकी चिकित्सा स्निग्ध, दीपन, मधुर और शीतल ओषधियोंसे करनी चाहिये ।

शोक शोष वालोंके लिये दीपन, लघु, स्निग्ध, मधुर और शीतल गुणवाला भोजन, दूध, मनको प्रसन्न रखने योग्य वार्त्तालाप और क्रिया तथा धैर्य इत्यादि उपचार हितकारक माने गये हैं ।

अध्वशोषीको सुन्दर आसन या गद्दी पर बैठावें । भोजनके पहले कोमल शय्या पर दिनमें भी सुलावें; शीतल, मधुर और वृंहण चिकित्सा करें; और मांसरस आदि पौष्टिक भोजन दें ।

व्यायामशोषीके लिये क्षतक्षयमें कहे हुए हितकारक, शीतल, जीवनीय, स्निग्ध और कफवर्द्धक उपचार करें; तथा किञ्चित् अम्ल या अम्लजलहित यूष और मांसरस आदिका भोजन दें ।

मांसभक्षक रोगियोंको मांसके साथ अनुपान रूपसे शराब, प्रसन्ना, वारुणी, शीधु, अरिष्ट, आसव या मधु, इनमेंसे जो प्रकृति के अधिक अनुकूल हो, वह स्वल्प मात्रामें देते रहना चाहिए ।

मद्यमें तीक्ष्ण, उष्ण, विशद (फैलने वाला) और सूक्ष्म गुण होनेसे वह नाड़ियोंके मुखमें तत्काल प्रवेश कर जाता है; और नाड़ियोंके भीतर रहे हुए कफ आदि प्रतिबन्धको दूर कर मुखों को खोल देता है । इस हेतुसे सातों धातुएँ पुष्ट होती हैं; और शोष रोग शमन हो जाता है ।

परन्तु रोगीको बांडी आदि तीक्ष्ण दाहक शराब नहीं देनी चाहिए । वर्तमानमें विचारवान् नव्य चिकित्सकोने भी तेज शराब का घोर निषेध किया है । शराब न लेनेवालोंको यन्त्रसे खीचा हुआ द्राक्षासव देवें, अथवा इतर सामान्य रीतिसे जमीनमें गाड़ कर बनाया हुआ द्राक्षारिष्ट ५-५ तोले भोजनके बाद दिनमें दो समय देते रहे ।

मांस और मांसरसके साथ घीको सिद्ध करें, या १० गुने दूधके साथ घीको सिद्ध कर शहदके साथ सेवन करावें, अथवा दशमूल काथ और मधुर पदार्थोंके कल्कके साथ घीको सिद्ध करें । सिद्ध घृतको शहद मिलाकर देते रहनेसे क्षयकी निवृत्तिमें सहायता मिल जाती है ।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय लिखते हैं किः—

क्षीरमांससोपेतं घृतं शोषहरं परम् ।

दूध और मांसरससह सिद्ध घृतका सेवन श्रेष्ठ शोषहर है । नाड़ियोंके शोधनके लिये पीपल, पीपलामूल, चव्वय, चित्रकमूल, सोंठ और जवाखार, इन ६ ओषधियोंका कल्क, कल्कसे ४ गुना घी और घीसे ४ गुना दूध मिला यथाविधि घृत सिद्ध करके सेवन करानेसे नाड़ियोंमें रहा हुआ कफ दोप सत्वर दूर हो जाता है ।

शोष रोगके निवारणार्थ भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि—

**अजा-शकृन्मूत्र-पयो-घृतासृङ्मांसालयानि प्रतिसेवमानः ।
स्नानादि-नानाविधिना जहाति मासादशोषं निधमेन शोषम् ॥**

बकरीकी मँगनीका उपयोग उबटन रूपसे करें, फिर बकरियोंके मूत्रसे स्नान करें । पीनेके जलमें बकरीका मूत्र मिला लेवे । भोजनमें बकरेका मांसरस, बकरेका रुधिर, बकरीका घी और बकरीका दूध लेवें । मांसरस आदि भोजन मँगनीकी ही अग्नि पर

सिद्ध करें । इस तरह बकरा-बकरीके पदार्थोंका उपयोग करनेसे क्षय रोगके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं ।

इतर आचार्योंने भी लिखा है कि:—

छागमांसं पशुछागं छागं सर्पिः सशर्करम् ।

छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यत्ननुत् ॥

यक्ष्मारोगियोंको चाहिए कि, बकरेका मांस, बकरीका दूध, बकरीका घी और मिश्रीका सेवन करें; और बकरियोंकी सेवा तथा बकरियोंके बीच शयन करते रहें ।

प्रश्न होता है कि, बकरा-बकरीको शास्त्रकारोंने इतना महत्त्व क्यों दिया ? इसका प्रत्युत्तर आधुनिक विज्ञान देता है कि, संसारके सब प्राणियों पर क्षय रोगके कीटाणु आक्रमण करते हैं, केवल बकरे और कुत्तेकी जाति पर कीटाणुओंका आक्रमण नहीं होता ।

इस छागमांसादि प्रयोगमें 'सशर्करम्' इस शब्दके स्थान पर किसी आचार्यने 'स नागरम्' पाठ भी लिखा है । अर्थात् दूधके साथ सोंठ मिला कर सेवन कराना चाहिये ।

इस प्रयोगके अतिरिक्त इतर सामान्य प्रयोग भगवान् धन्वन्तरिजी कहते हैं कि:—

रसोनयोगं विधिवत् क्षयात्तः क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम् ।

सेवेत वा मागधिकाविधानं तथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य ॥

क्षयरोगीको विधिवत् लहशुनका सेवन करावे या दूधके साथ नागबला (गंगेरन) देवे; अर्थात् दूध-जलमें नागबलाको मिला दुग्धावशेष काथ करके देवे; अथवा वर्धमान पिप्पली प्रयोग (चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ ५६३) या शिलाजीतका सेवन करावे ।

लहशुन—लहशुनको संस्कृतमें रसोन कहते हैं । 'रसेनैकेनोनः रसोनः' अर्थात् लहशुनमें षट् रसोंमेंसे एक अम्लरसकी कमी है; शेष

रस हैं। इसमें स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, चरपरा, पिच्छिल, गुरु, सर, मधुर, बलदायक, वीर्यवर्द्धक, मेधा (बुद्धि), स्वर और वर्णको हितकर, चक्षुष्य तथा दृष्टी हुई अस्थिसंधियोंको जोड़ना आदि गुण रहे हैं। यह हृद्रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, विबन्ध (कब्ज), गुल्म, अरुचि, कास, शोषरोग, अर्श, कुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमि, वातरोग, श्वास और कफ प्रकोपको दूर करता है। (सु० सं० सूत्रस्थान अ० ४६)

लहशुन सततज्वर आदि विषमज्वरोंमें कीटाणुशोका नाश कर ज्वरका उपशम कराता है। दद्रुपर रगड़नेसे नूतन दद्रुरोगके कीटाणु नष्ट होते हैं। इसी तरह पामा रोगकी ओषधियोंमें लहशुनका रस मिलानेसे कीटाणुशोका सत्वर विनाश होता है।

इनके अतिरिक्त वर्णशूल, बधिरता, आघातजन्य व्रण, कटिशूल, गृध्रसी, आदि वातरोग, आमवात, प्रतिश्याय, श्वास रोग, उदरशूल, आध्मान, अजीर्ण, विसूचिका आदि रोगोंपर आयुर्वेदने लहशुनका उपयोग विविध ओषधियोंमें मिलाने या भावना देनेके लिये किया है।

इङ्गलेण्डके सुप्रसिद्ध डाक्टर मिचिन (Minchin) ने आन्त्रिक ज्वर, प्रलापक ज्वर (Typhus) और कण्ठरोहिणी (Diphtheria) में रोग निरोधक चिकित्सा रूपसे लहशुनके उपयोगको अच्छा माना है।

इन व्याधियोंमेंसे आन्त्रिक ज्वर और प्रलापक ज्वरपर लहशुनका स्वरस (Luccus Allii Sativi) १-१ ड्राम ४४ घण्टेपर शर्बत या मासके शोर्वेके साथ देते रहनेसे आतोंमें रहे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

कण्ठरोहिणीमें बारबार (१-१ घण्टेपर) लहशुनकी एक-एक कलीको चबाते रहनेसे दूषित आवरण दूर होकर सत्वर रोगी स्वस्थ हो जाता है। रोगका उपशम होनेपर भी एक दो सप्ताह तक प्रतिदिन ३-४ तोले लहशुन खाते रहना चाहिए।

रक्तभार वृद्धि (High blood pressure) को दूर करनेमें

लहशुन अत्युत्तम ओषधि मानी गई है । रोज सुबह २॥ २॥ तोले लहशुनको चटनीकी तरह पीस, सैधा नमक, जीरा और सरसोंका तैल मिलाकर खिलानेसे रक्तभारवृद्धिका हास होनेके अनेक उदाहरण मिले हैं । एवं यह लहशुन क्षयकीटाणुओंकी वृद्धिको भी रोक देता है ।

लहशुन खानेवालेके लिये मद्य, मांस और अम्ल पदार्थ (मट्ठा आदि) हितकर हैं । दूध अनुकूल नहीं रहता । यदि मद्य मांसका सेवन न करें, तो अधिक लाभ नहीं पहुँचा सकता । ऐसा भावप्रकाशकारका मत है ।

प्राचीन (नावनीतकम्) ग्रन्थमें लहशुन कल्प लिखा है; उसमें यक्ष्मापीडित रोगीके लिये लहशुनको घृत और दुग्धके साथ सेवन करने का लिखा है । इनके अतिरिक्त इस घातक रोग पर निघण्टु आदर्शकार ने “प्रेक्टीकल मेडीसीन” फेब्रुआरी १०२३ के लेख की नकल की है; जिसमें लिखा है कि, बेक्टेरियासे उत्पन्न सब प्रकारके रोगोंमें लहशुन हितकर है । श्वासयन्त्रके सब प्रकारके रोगोंको न्युमोनिया (पसली रोग), दुर्गन्धयुक्त कफकास, काली खाँसी, चिरकारी राजयक्ष्मा (द्वितीयावस्था तक) आदिको नष्ट करता है । फुफ्फुस कोथ (मांस सड़ना) पर भी लहशुनके अर्कसे सत्वर लाभ पहुँचनेके उदाहरण मिले हैं; तथा नाड़ीव्रणमें भी लहशुनके इन्जेक्शनसे आश्चर्यकारक लाभ मिला है ।

वर्त्तमानमें अमेरिकन डाक्टरोंने भी लहशुनका उपयोग किया है । उनको अति सन्तोषजनक फलका अनुभव हुआ है । अमेरिकाके ‘वर्ल्ड मेगज़िन’ नामक मासिकपत्रमें कुछ वर्षों पहले लहशुनके प्रयोगकी सफलता दर्शायी थी । एवं इङ्गलैण्डके दो प्रसिद्ध डाक्टर विलियम सी० मिंचन और एम० डब्ल्यु० मेकडफीने १०८२ में क्षय पीडित रोगियों पर लहशुनका प्रयोग किया है; और दोनोंने अति सन्तोषप्रद अभिप्राय दिया है ।

स्वरयन्त्रके क्षय पर लहशुनका स्वरस या लहशुनके तैलका उपयोग दिनमें २-३ बार करते रहनेमें अच्छा लाभ पहुँचता है ।

लहशुनके तैलमें ३० वाँ हिस्सा उग्र बाष्पीय रसोनगंधक (एलियम सल्फाइड—Allium Sulphide) रहा है; जो वायुमें तत्काल बाष्प रूप होकर उड़ता रहता है, वही कीटाणुनाशक है । इसी द्रव्यके योगसे तैलमें क्षयकीटाणुओंके विनाशका अद्भुत गुण प्रतीत होता है । यह तैल देहके भीतर जाने पर सत्वर कुम्फुष, त्वचा, मूत्रभिण्ड और यकृत आदि स्थानोंमें फैल जाता है ; और रक्तमें रहे हुए आक्सीजन और लसीकाके साथमें मिलकर गंधकके तिजाव (Acid Sulphuric) के सदृश अम्लतत्त्वको उत्पन्न करता है । यदि लहशुनको पीसकर या तैल रूपसे बाहर लगाया जाय, तो भी सत्वर त्वचामें से देह में प्रवेश कर क्षयकीटाणुओंका नाश करने लगता है । यदि तिर्यक् प्यातनसे तैल निकाला जाय, तो गंधक प्रधान कीटाणुनाशक द्रव्य—एलियम सल्फाइड उड़ जाता है ।

सल्फ्युरिक एसिड जो गंधकमें से तैयार होता है, वह विदाही होनेसे अधिक मात्रामें नहीं दे सकते । एव वह इच्छित काम भी नहीं कर सकता । परन्तु लहशुनमें रहे हुए तैलमेंसे रासायनिक नियम अनुसार देहके भीतर उत्पन्न हुआ नैसर्गिक तिजाव अच्छा प्रभाव दर्शाता है । इसी द्रव्यके हेतुसे लहशुन मलेरिया, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, वातवहा नाडियोंकी विकृति, ग्रहणी रोग, आन्त्रिक क्षय, कण्ठमाल (उदरशूल, विसूचिका, काली खाँसी-कण्ठरोहिणी) और अपस्मार आदि रोगोंका भी नाश करता है ।

आयुर्वेदकी सरल रीतिके अनुसार लहशुन और सैधेनमकको घी (या तैल) के साथ मिला खरल कर कल्क बना १ से २ तोले तक प्रातः सायं या भोजनके साथ खिलाते रहनेसे क्षय, क्षयज्वर, अग्निमान्द्य, अरुचि, अजीर्ण, आपरा, दूषित कफ, अन्त्रविकार, नाडीव्रण, वात-

वहानाड़ियोंकी विकृतिजन्य सब प्रकारके वातरोग, रक्तपित्त, शूल, श्वास और अपश्मार आदि रोग नष्ट होते हैं ।

लहशुनको समान मिश्री और दोनोंके समान शहद मिलाकर या मक्खन, मीठे नीमके पत्ते, जीरा और सैंधानमकके साथ मिला करके भी सेवन कराया जाता है ।

मद्रासके डॉक्टर लहशुनका अर्क (Tinct. Allii) निम्न रीति से बनाकर उपयोगमें लेते हैं:—

लहशुनकी साफ कलियाँ	२० ड्राम
तुलसीके पत्ते	२० „
जावित्री	२० „
रेकटीफाइड स्प्रिट	६० औंस

इन सबको मिलाकर ४८ घण्टे तक भिगो दें; फिर छानकर उपयोगमें लेंवें ।

अति शुक्रक्षीणता हो, तो नागबलाका सेवन हितकर है ।

मंद-मंद उ्वर, अरुचि, किञ्चित् कास, प्रतिश्याय आदि लक्षणोंसह नया क्षयरोग हो, तो वर्धमान पिप्पली प्रयोगका सेवन कराना चाहिये । यदि मेदवृद्धि, सड़े हुए मांस, या रक्त-विषको दूर करना हो, तो अस्थिकी सन्धियोंमें रही हुई मज्जाको शुद्ध करना चाहिये । यदि पित्तप्रकोपके कोई लक्षण न हों, तो शिलाजीतका सेवन कराना चाहिये । शिलाजीत रक्तको शुद्ध और सबल बनाता है; जिससे क्षयकीदागुओंका बल दबता जाता है ।

वमन होती हो, तो हृद्य (रुचिकर और हृदयके लिये हितकर), वातनाशक और हलके अन्नपानका सेवन कराना चाहिये ।

अतिसार होनेपर अग्निप्रदीपक, अतिसारनाशक, रुचिकर और मुखशुद्धिकर अन्नपान और ओषधियोंको प्रयोगमें लाना चाहिये ।

यदि क्षय रोगीको प्रतिश्याय, शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरक्षय और पार्श्व शूल आदि उपद्रवोंसे अधिक संताप होता है, तो उपद्रव अनुसार विविध क्रियाएँ करनी चाहिये ।

पीनसनिवृत्तिके लिये स्वेदन, अभ्यंग, धूम्रपान, लेप, परिषेक (शीतल या गरम सेक), अवगाहन, जौके यवागू या दलिया आदिको प्रयोगमें लाना चाहिये । इनमें से अभ्यंग, अवगाहन और यवागूका वर्णन पथ्यके साथ लिखा जायगा ।

यदि शिर, पसली या कन्धोंमें शूल चलता रहता हो, तो जलौका, तुम्बी या सिंगी लगवाकर दुष्ट रुधिरको निलवा देना चाहिये । रुधिर पित्तप्रकोपसे दुष्ट हुआ है, तो जलौकासे, कफदोषमें तुम्बीसे और वातविकृतिमें सिंगी लगवाकर निकलवाना चाहिये ।

राजयक्ष्माके रोगीके उदरको शुद्ध रखना चाहिये; परन्तु विरेचनकी ओषधि नहीं देनी चाहिये । इस सम्बन्धमें चरक-संहिताकार लिखते हैं कि:—

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषसंसनादपि ।

अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ॥

शोष रोगीका मल बलकी अपेक्षा अधिक गिरनेमें उसकी मृत्यु हो जानेकी भीति रहती है, अतः यदि कोई चिकित्सक विरेचन की ओषधि देकर मलको तोड़े, तो उसका मरण हो जाय, उसमें आश्चर्य ही क्या ? इस उद्देश्यसे आचार्यने इस वचनके पहले भी कहा है कि:—

तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः ।

सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विडुबलम् ॥

अर्थात् राजयक्ष्मा रोगीके मलका विशेष रूपसे संरक्षण करना चाहिये । कारण, सब धातुओंका क्षय हो जाने पर रोगी

की देहका आधार मलके बल (मल बँधा हुआ दुर्गन्ध रहित रहने) पर ही है ।

इस तरह इतर आचार्योंने भी कहा है, कि:—

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं हि जीवितम् ।

तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यदिमणो मलरेतसी ॥

मनुष्योंका बल शुक्र पर अवलम्बित है; और जीवनका आधार मल पर रहा है; इसलिये राजयक्ष्मा रोगीके मल और वीर्यका आग्रहपूर्वक संरक्षण करना चाहिये ।

मल बँधा हुआ होना और उसमें दुर्गन्ध की उत्पत्ति न होना, ऐसे मलके लिये यहाँ आचार्यका कथन है । यदि मल पतला हो गया है; या दुर्गन्ध उत्पन्न हुई है, या कच्चे अन्न सहित आमयुक्त मल जाता है; तो मलका बल दृष्टा जानकर सत्वर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये । मल दूषित बनने पर शरीर को हानि पहुँचाता है ।

नित्यं स्वदेहपूजी भक्तो भैषज्य-देवतागुरुषु ।

आरं मांस-पयोऽश्नञ्जीवति यक्ष्मी चिरं धृतिमान् ॥

जो राजयक्ष्माका रोगी अपनी देह को सम्हालता रहता है; औषध, देव, गुरु (वैद्य आदि) के प्रति पूज्यवृद्धि रखता है; बकरेका मांस और बकरीके दूधका भोजन करता है; तथा धैर्यवान् है वह चिरकाल तक जीवित रहता है ।

यदि क्षयरोग बढ़ जाने (कीटाणुओंकी अति वृद्धि होने) के पहले योग्य चिकित्साका प्रारम्भ हुआ हो, रोगी तरुण और आज्ञा पालक हो, चिकित्सक, औषधि तथा परिचारक आदि सब अनुकूल हों, तो रोगी की आयु १००० दिन की मानी जाती है । किन्तु जब यक्ष्मा घोर रूप धारण कर लेता है, फुफ्फुसोंमें खड्डे हो जाते हैं; पूय मिश्रित कफ निकलता है; ताप बना रहता है;

तब थोड़े ही समयमें रोगी चला जाता है । ऐसे रोगियोंके लिये हारीत मुनि लिखते हैं कि:—

संजीवेच्चतुरो मासान् षण्मासं वा बलाधिकः ।

उत्कृष्टैश्च प्रतीकारैः सहस्राहं तु जीवति ॥

सहस्रात् परतो नास्ति जीवितं राजयक्ष्मिणः ॥

राजयक्ष्मा रोगी ४ मास तक जीवित रहता है, यदि बल अधिक है; तो ६ मास तक और उत्कृष्ट चिकित्सा होती रही, तो १००० दिन (२१-३ वर्ष) तक जीवित रहता है, परन्तु १००० दिनसे अधिक काल तक तो राजयक्ष्मा रोगी जीवित नहीं रह सकता ।

इस रोगमें चिकित्सा अति सोच विचार कर करनी चाहिये । थोड़ीसी भूल हो जानेसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है । अनेक यूनानी हकीमोंने उरःक्षत होने पर 'वर्म जिगर' (यकृत व्याधि) मानकर उसके अनुरूप चिकित्सा करके अनेक रोगियोंके रोग को बढ़ा दिया था । कितनेक यूनानी ग्रन्थोंमें भी तपेदिकके भीतर वर्मजिगर होनेका लिखा है । इस तरह क्षय रोगमें प्रतिकूल चिकित्सा की जाय, तो थोड़े ही दिनोंके पश्चात् कुशल चिकित्सकसे भी यह रोग नहीं सम्हल सकता ।

यक्ष्मा रोगीके कमरेमें घी, एरंड तैल, तिल तैल, या अलसी के तैलकी बत्ती रखनी चाहिये । मिट्टीके तैलका उपयोग हानिकर है । एवं बिजलीका तेज प्रकाश भी हानि पहुँचाता है । बिजली रखना हो, तो अति मन्द प्रकाश वाली बत्ती रक्खें ।

यक्ष्मा रोगकी चिकित्सा करनेके समय रोगीके हृदयमें दुःख न पहुँचे, एवं सर्वदा मनसे सन्तुष्ट और प्रसन्न रहे, इस बातका सर्वथा खयाल रखना चाहिये ।

यद्यपि सब प्रकारके राजयक्ष्मा रोग तीनों दोष प्रकुपित होने

पर होते हैं; तथापि जिस दोषका प्राधान्य हो; उस दोषके अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये ।

वातका प्राधान्य होनेपर पार्श्वशूल, कंधोंमें पीड़ा, स्वरभेद, आदि लक्षण प्रबल होते हैं । पित्तका प्राधान्य होनेपर ज्वर, दाह, अतिसार, रक्तस्राव आदिकी अधिकता होती है; और कफोत्पन्नता होनेपर कफवृद्धि, अरुचि, कास, कण्ठमें पीड़ा, शिरमें भारीपन, आलस्य आदि लक्षणोंकी प्रबलता प्रतीत होती है । फिर रोगीको अनुलोम क्षय हुआ है या प्रतिलोम क्षय । किस धातुकी अधिक कमी हुई है ? रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्यमेंसे किस पर अधिक आक्रमण हुआ है ? इस बातका निर्णय करना चाहिये ।

रसक्षय होनेपर आमाशय रस, यकृत पित्त, आन्त्रिक रस आदि योग्य बने, ऐसी चिकित्सा करनी चाहिये । रक्तकी कमी होनेपर रक्तवर्द्धक उपचार करें । रक्तसे रक्तवृद्धि होती है । वर्तमानमें दूसरे निरोगी मनुष्यकी देहमेंसे सीधा रोगीकी देहमें रक्त प्रवेश करानेका सरल साधन हो गया है । यद्यपि क्षय रोगमें डॉक्टर बहुधा दूसरोंके रक्तका प्रवेश नहीं करते; तथापि रुधिर वृद्धि कराना इष्ट हो, तो हो सकता है । एवं लोह, मण्डूर आदि ओषधि भी रक्तवर्द्धक हैं । मांसक्षयमें मांसका भोजन और उसके अनुरूप ओषधि देते रहना चाहिये ।

मेदक्षयमें घृतादि चिकित्सा सर्वोत्तम है । अस्थि मज्जाका उपदंश, सुजाक या इतर रोगसे क्षय हुआ हो, तो उसके अनुरूप चिकित्सा करें । योग्य पोषण न मिलनेसे अस्थिक्षय हुआ हो, तो उचित अस्थि पोषक प्रवालपिष्टी आदि देवें । शुक्रक्षयमें शुक्रपान या शुक्रवर्द्धक चिकित्सा करनी चाहिये ।

रस, रक्त आदि धातुक्षयके शारीरिक और मानसिक लक्षण, दोनों चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७ से ४० तक स्पष्ट लिखे हैं । अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की ।

यदि क्षयकी उत्पत्ति सूतिका रोग या इतर रोगके उपद्रव रूप हुई हो, तो मूल रोगकी नाशक चिकित्सा करनी चाहिये ।

पचनशक्ति अच्छी होने और ज्वर न होनेपर अन्न देना हितकर है । अधिक ज्वर होनेपर दूध या फल फूल दें, अन्न नहीं देना चाहिये । अरुचि और अपचन होनेपर घृत आदि पदार्थोंकी मात्रा बहुत कम कर देनी चाहिये ।

कितनेक रोगियोंको दूध सहन नहीं होता । उनके लिये दूध के साथ समभाग जल मिलाकर उवालें । दूध शेष रहने पर उतार लेवे । फिर पिलानेसे पचन हो जाता है । आवश्यकतानुसार मिश्री मिलावें । एवं पीपल, सोठ और नागरमोथेका चूर्ण दूध उवालनेके समय मिला सकते हैं । प्रारम्भमें दूध १० तोले देवे, फिर शनैः शनैः बढ़ाते जायें ।

राजयक्ष्माशक शास्त्रीय प्रयोग ।

सूचना—कितनेक प्रयोग कास रोगमें क्षयकास पर लिखे हैं, वे सब राजयक्ष्मा रोगमें प्रयोजित होते हैं ।

(१) विन्ध्यवासि योग—सोठ, कालीमिर्च, पीपल, शतावरी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, गंगेरन और खरैटी, इन ६ औषधियोंको सम भाग मिलाकर कपड़झान चूर्ण करें । यह चूर्णका समभाग लोहभस्म मिलाकर २ से ४ रत्ती तक दिनमें ३ समग्र घृत-शहदके साथ सेवन करानेसे उरःक्षत, कण्ठरोग, कास, श्वास, बाहुस्तम्भ, अर्दित आदि रोगोसहित उग्र राजयक्ष्माको दूर करता है ।

(२) कबूतर, बन्दर, बकरा और हिरन, इनमें से किसी एकके मांसको भून चूर्णकर बकरीके दूधके साथ सेवन करानेसे क्षयरोग निवृत्त होता है ।

(३) अर्जुनझाल, गंगेरनकी छाल और कौंचके बीज,

तीनोंको समभाग मिला ६ माशे चूर्णको दूधमें मिलाकर पकावें । फिर उसमें शहद, घी और मिश्री मिलाकर पान करानेसे व्यवाय-शोष और यक्ष्माके कासकी निवृत्ति होती है ।

सूचना—दूध उबलने पर चूर्ण थोड़ा-थोड़ा सम्हालपूर्वक चारों ओर दूधमें फैलावें और चलाते रहें । एक ही स्थान पर डाल देनेसे गोली-सी बन जाती है ।

(४) **अश्वगन्धादि क्वाथ**—असगन्ध, गिलोय, शतावरी, दशमूल, खरैंटी, अड्डसाकी जड़, पुष्करमूल और अतीस, इन १७ ओषधियोंको समभाग मिला क्वाथ कर दिनमें २ समय पिलाते रहें । भोजनमें दूध और मांसरस देते रहें, तो क्षयरोग नष्ट हो जाता है ।

(५) **शिलाजत्वादि लोह**—शुद्ध शिलाजीत, मुलहठी, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, सुवर्ण माक्षिक भस्म और लोह भस्म, सबको समभाग मिला खरल कर चूर्ण बना लें । इसमेंसे ४ से ६ रत्ती चूर्ण दिनमें २ समय दूधके साथ सेवन कराते रहनेसे राजयक्ष्मा रोग नष्ट हो जाता है । एवं क्षयविवर, रक्तवमन, कोथ, अरुचि, निद्रानाश, कास इत्यादि सब उपद्रव दूर होते हैं ।

सूचना—यदि ताप अधिक रहता है, तो सुवर्णमाक्षिकको छोड़ शेष ओषधियाँ ही मिलानी चाहिये । सुवर्णमाक्षिकके बदले प्रबाल-पिष्टी मिला लें ।

(६) **क्षयकेसरी लोह**—त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल), त्रिफला, (हरड़, बहेड़ा, आंवला), इलायची, जायफल और लौंग, इन ६ ओषधियोंको १-१ तोला और लोहभस्मको ६ तोले लें । सबको मिला खरल कर १ से ४ रत्ती शहदके साथ दिनमें २ बार देते रहनेसे पाण्डुता, अरुचि और ज्वरसह राजयक्ष्मा रोग नष्ट होता है ।

(७) सुवर्ण भस्म या सोलेका वर्क चौथाई रत्ती मक्खन, मिश्री और शहदके साथ मिलाकर दिनमें २ समय देने रहनेसे क्षयरोग नष्ट हो जाता है ।

सूचना—ज्वरावस्थामे सुवर्णका सेवन नहीं कराना चाहिये । ज्वर उतर जाने पर सुवर्णमिश्रित ओषधि देनी चाहिये ।

(८) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमे लिखे हुए प्रयोग—सुवर्ण भस्म (२० २३६—गिलोय सत्व और सितोपलादि चूर्णके साथ), सुवर्णभस्म (शृङ्गभस्म, प्रवालपिष्टी और गिलोय सत्वके साथ), सुवर्णभस्म (दाडिमावलेहके साथ), अभ्रकभस्म और शृंगभस्मको गिलोयसत्वके साथ या शहद पीपलके साथ । वज्रभस्म (२० १६६—सुवर्ण भस्म और अभ्रक भस्मके साथ), वैक्रान्तभस्म (२० २०२), शृङ्गभस्म (२० २३६), मौक्तिकपिष्टी (२० २०२), प्रवालपिष्टी (२० २०६), शुभ्राभस्म (२० २५१), तालसिद्धर (२० २८८), सुवर्णभूपति रस (२० ३०२), सुवर्णमालिनी वसंत (२० ३८४), लघुमालिनीवसत (२० ३६३), लक्ष्मीविलास रस (२० ४५७), सितोपलादि अवलेह (२० ७६६), सितोपलादि चूर्ण (२० ६७४), त्रैलोक्यचिन्तामणि रस (२० ३५०), जयमंगल रस (२० ३५४), वसंतकुसुमाकर (२० ५१८), हेमगर्भ पोटली रस (२० ४५५), लोकनाथ रस (२० ५३६), च्यवन प्राशावलेह, योगराज रस (२० ४४८), ताप्यादि लोह (२० ४३७), महामृगाङ्ग रस (२० ४५५), पंचामृत रस (२० ६१३), चतुर्मुख रस (२० ६१६), बालचन्द्र रस (२० ६१६), योगेन्द्र रस (२० ६१६), जीवन्त्यादि घृत (२० ८२८) आदि हितावह है ।

सुवर्णभस्म—क्षयके कीटाणुओंके नाश करनेकी सर्वोत्तम ओषधि मानी गई है । ताप न हो, तब प्रयोगमें लाई जाती है । यदि प्रथमावस्था है, और शुष्क कास है, तो गिलोयसत्व और सितोपलादि चूर्ण मिलाकर

देवें । दूषित कफ अधिक है, तो शृङ्गभस्म और प्रवालपिष्टी मिलावें । अशक्ति नष्ट करनेके लिये च्यवनप्राशावलेहमें देवें । अतिसार हो, तो दाड़िमावलेहके साथ देवें । उरःक्षत होकर रक्तस्राव होता हो, या कफ सरलतासे बाहर न आता हो, तो वासावलेहके साथ देवें ।

अभ्रकभस्म—निर्जन्तुक क्षयमें उपकारक है । जन्तुजन्य क्षयमें सुवर्णभस्मके साथ देते रहनेसे शक्तिका क्षय नहीं होता । प्रथमावस्थामें अभ्रकभस्म, शृङ्गभस्म और गिलोयसत्व मिलाकर शहदके साथ देनेसे दाह, जीर्णज्वर, कास, कफविकृति आदि विकारों सह क्षय दूर होता है । जीर्णज्वर और मन्दाग्नि हो, तो शहद-पीपलके साथ दें ।

वज्रभस्म—कीटाणु मारने और शक्तिके संरक्षणार्थ अति लाभ-दायक है । आवश्यकता पर सुवर्णभस्मके साथ दी जाती है; अथवा त्रैलोक्यचिन्तामणि या वसंतकुसुमाकर रस (हीराभस्म मिला हुआ), इनमेंसे एक को प्रयोगमें लाना चाहिये ।

वैक्रान्तभस्म—वज्र भस्मके अभावमें मिलाई जाती है । यह भस्म वज्रके सदृश, किन्तु कुछ न्यून गुण पहुँचाती है ।

शृङ्गभस्म—निर्जन्तुक और जन्तुजन्य क्षयमें कफ शुद्धिकी जहाँ आवश्यकता हो, वहाँपर इतर ओषधियोंके साथ मिला दी जाती है । निर्जन्तुक क्षयमें अकेली भी दी जाती है । शृङ्गभस्म देते रहनेसे कीटाणुओंकी वृद्धिमें प्रबल प्रतिबन्ध हो जाता है ।

मौक्तिक पिष्टी—क्षयज्वर, दाह, उरःक्षत, व्याकुलता आदि दूर करने के लिये दी जाती है । एवं इतर ओषधिके साथ मिलानेसे भी सत्वर लाभ पहुँचाती है ।

प्रवाल पिष्टी—ज्वर, प्रस्वेद, रक्तस्राव, शुष्क कास, व्याकुलता, शारीरिक निर्बलता और हड्डियोंकी निर्बलता आदिको दूर करनेके लिये मुख्य ओषधिके साथ मिला लेना हितकारक माना जाता है । अत्रि प्रस्वेदको दूर करनेमें प्रवाल पिष्टी सर्वोत्तम ओषधि मानी जाती है ।

प्रवाल पिप्पली ज्वरजन्य विषको जलानेके लिये निर्दोष और हितकर ओषधि है ।

शुभ्रा भस्म—क्षयमें होनेवाली भयप्रद वमनको रोकनेके लिये शुभ्रा भस्म अथवा फिटकरीको मिश्रीके साथ दिया जाता है । एव रक्त वमनको भी सत्वर बन्द करती है ।

तालसिन्दूर—क्षयकीटाणुओंको नाश करने, विवरको भरने, शोथ को दूर करने, रसायनियोंको बलवान बनाने और ज्वरको शमन करनेमें हितकर है ।

सुवर्णभूपति—वातप्रकोप, पाण्डुता, पित्तदुष्टी, शूल, अन्त्रमें विषसंचय और कब्ज आदि सह राजयक्ष्माको दूर करता है ।

सुवर्ण मालिनीवसन्त—किसी भी प्रकारके ज्वरमेसे राजयक्ष्मा हुआ हो, लसीकाग्रन्थिया और रसायनियोंकी विकृति हुई हो, अरुचि, अग्निमान्द्य, मन्द-मन्द ज्वर, प्लीहावृद्धि, शुक्रकी शिथिलता आदि लक्षण हों, उन सबको सत्वर शमन करती है ।

लघुमालिनी वसत—सुवर्ण मालिनीवसतके अभावमे प्रथमावस्था के समय दी जाती है । एव निर्जन्तुक क्षयमे अति हितकर है । बालक, सगर्भा और नाजुक प्रकृति वालोंके लिये सौम्य और उत्तम ओषधि है ।

लक्ष्मी विलास रस—(सुवर्ण मिश्रित) पाण्डु, कामला, शुक्रक्षय, सूक्ष्म ज्वर, प्रतिश्याय, वातप्रकोप और शूल आदि उपद्रवो सह राजयक्ष्मा को नष्ट करता है, हृदय को सबल बनाता है; और शक्तिकी वृद्धि करता है ।

सितोपलादि अवलेह—सस्ता, सौम्य और निर्दोष औषध है । सब अवस्थाओंमें निर्भयतापूर्वक दिया जाता है । कीटाणुओंका नाश करता है; रक्तस्राव और कफप्रकोपको दूर करता है, ज्वरका शमन करता है, तथा शक्तिका सरक्षण करता है ।

सितोपलादि चूर्ण—प्रथमावस्था और द्वितीयावस्थामें अनुपानरूप

से सहायता पहुँचाता है । मंद ज्वर, अरुचि, रक्तनिष्ठीवन, शुष्क कास, दाह आदिको दूर करता है ।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस—दिव्य रसायन है । अति गिरी हुई हालत में भी लाभ पहुँचाता है । किसी कारण वश ज्वर बढ़ने पर दिया जाता है । एवं विवर बढ़ जाने पर भी अपना प्रभाव दर्शाता है ।

जयमंगल रस—अधिक ताप, मंद ताप, प्रथमा, द्वितीया और तृतीयावस्था अथवा सब समयमें दिया जाता है । ताप को अधिकारमें लानेके लिये हितकर माना जाता है । सुवर्णयुक्त रसायन होनेसे क्षयको भी दूर करता है; एवं शारीरिक शक्तिको भी बढ़ाता है ।

वसंतकुसुमाकर रस—शुक्लक्षय, रक्तपित्त, प्रमेह, प्रदर, रक्तमें विष-वृद्धि, दाह आदि उपद्रवसह राजयक्ष्माको दूर करता है । यकृत, वृक्क, मूत्राशय आदिकी विकृतिको दूर करता है । रस, रक्त आदि सातों धातुओंको पुष्ट करता है ।

हेमगर्भपोटली रस—यकृत-प्लीहावृद्धि, पित्तविकार, कफवृद्धि और ग्रहणीसह राजयक्ष्माको दूर करता है । अधिक दाह, अतिसार आदि हों, तो दूसरी विधि वाला रसायन दिया जाता है ।

लोकनाथ रस—अति वीर्यवान् तीव्र औषध है । क्षयके कीटाणुओं को नष्ट करने, कफ वृद्धिको रोकने और गाँठोंको बिखेरने (रक्तप्रसादन करने) में उत्तम है । एवं अतिसार, गुल्म, कास, श्वास आदि सह राजयक्ष्माको भी नष्ट करता है ।

च्यवनप्राशावलेह—शक्तिसंरक्षणार्थ सब अवस्थाओंमें निर्भय और हितकर है । च्यवनप्राशावलेह सेवन करानेके एक घण्टे तक दूध या भोजन आदि न दिया जाय, तो च्यवनप्राशावलेह २ तोले तक पचन हो जाता है; और लाभ भी अधिक पहुँचता है । मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये ।

ताप्यादि लोह और योगराज रस—दोनों यकृतकी विकृति सह

शोथ, रक्तमें न्यूनता, पाण्डु, क्षत क्षयका प्रारम्भ, वातप्रकोप आदि सह राजयक्ष्मामे हितकारक है ।

महामृगाङ्ग रस—अति दिव्य औषधि है । इसका उपयोग चिकित्सकवर्ग अधिक रूपसे करते हैं । दूषित कफ, कास, स्वरभेद, अरुचि, मन्द ज्वर, वातवहा नाड़ियोंकी शिथिलता, पित्तप्रकोप आदि नाना प्रकार के उपद्रवो सह राजयक्ष्मामें दिया जाता है । क्षयकी सब अवस्थाओंमें लाभ पहुँचाता है ।

पञ्चामृत रस—क्षय रोगमें ज्वर बढ़ जाने पर उसे मर्यादामें लाने के लिये यह रसायन अति हितावह है । विषको नष्ट करता है, और मूत्र द्वारा बाहर निकालता है, तथा शक्तिका सरक्षण करता है ।

बालचन्द्र रस—वमन, अतिसार, श्वासकृच्छ्रता, शुष्क कास और रक्तपित्त आदि उपद्रवो पर हितावह है ।

योगेन्द्र रस—वातपित्तज विकृति सह राजयक्ष्माको दूर करता है । अम्लपित्त, बहुमूत्र, पक्षाघात, उन्माद, मूर्च्छा, अपस्मार, हिस्टीरिया आदि सह क्षयका निवारण करता है ।

चतुर्मुख रस—यह रसायन पचनेन्द्रिय सस्थामे विकृति होकर राजयक्ष्मा होने पर अति लाभदायक है । अन्त्रमें रहे हुए सेन्द्रिय विष को जलाता है, पचनशक्तिको सबल बनाता है, शारीरिक शक्तिका सरक्षण करता है, और यक्ष्माको नष्ट करता है ।

जीवन्त्यादि घृत—अति सौम्य औषध है । औषध और भोजन रूप से उपयोग हो सकता है । किसी भा औषधिके साथ अनुगान रूपसे दे सकते हैं ।

(६) सुवर्ण मालिनीवसंत १ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती, शृङ्गभस्म १॥ रत्ती, ६४ प्रहरी पीपल २ रत्ती और गिलायमत्त्व ६ रत्ती ले । सबको मिलाकर ३ विभाग करें । प्रातः मध्याह्न और सायंकालको शर्बत अनारके साथ देते रहे । दोपहरको प्रवालपिष्टी १-१ रत्ती इस मिश्रणमें मिलाते रहनेसे राजयक्ष्माका निवारण

हो जाता है। अधिक दाह हो, तो प्रातःसायं भी प्रवालपिष्टी मिला लेनी चाहिये ।

(१०) अमृतप्राशावलेह—काकोलीका रस, क्षीर काकोली का रस, आंवलोंका रस, मजीठका काथ, पंच क्षीर वृक्षों (बड़, पीपल, पारस पीपल, पिलखन और गूलर) की छालका काथ, तथा गोघृत, ये १० ओषधियाँ ६४-६४ तोले, जीवनीयगण (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी), मुनक्का, श्वेत चन्दन, रक्त चन्दन, खस, मिश्री, कमल, पद्माख, महुवेके फूल, कृष्ण सारिवा, काश्मीरी (गंभारी) के फूल, रोहिष घास, इन २१ ओषधियोंको १-१ तोला लें। शहद ३२ तोले, मिश्री २०० तोले तथा दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने, तेजपात और नाग-केशर २-२ तोले लेवें ।

सब प्रकारके रस और काथको मिलाकर उबालें; आधा द्रव शेष रहने पर मिश्री मिलाकर अवलेह समान चाशनी करें । फिर २१ ओषधियोंका कल्क कर घृतमें मन्दाग्नि पर पचन कर चाशनी में मिला लेवें । शीतल होनेपर शहद और चातुर्जातका चूर्ण मिलावें ।

इसमेंसे १-१ तोला दिनमें २ समय चटाते रहनेसे रक्तपित्त, क्षत क्षय, तृषा, अरुचि, श्वास, कास, वमन, हिक्का, मूत्रकृच्छ्र और ज्वर आदि रोग नष्ट होते हैं । यह अवलेह बलवर्धक और कामोत्तेजक है । इस अवलेहके सेवनकाजमें दूध और मांसका भोजन करनेसे राजयक्ष्मा रोगकी निवृत्ति हो जाती है ।

(११) सुवर्ण लवण—(२० ७३५) $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ रत्ती तक अश्वगन्धारिष्ट या द्राक्षारिष्टमें मिलाकर दिनमें २ समय भोजन कर लेने पर देते रहनेसे क्षयकीटाणुओंका सत्वर नाश होकर

रोगी सशक्त बन जाता है । यदि रक्तस्राव अधिक होत हो, तो वासास्वरस या उशीरासवके साथ देवे । अतिसार हो, तो बबूला-रिष्ट या अतिसार नाशक तिहाई औषधके साथ देवें ।

(१२) **मृगाङ्ग रस**—शुद्ध पारद २ तोले, सुवर्णभस्म २ तोले, मोतीकी पिष्टी ४ तोले, शुद्ध गन्धक ४ तोले और सुहागे का फूना २ तोले लेवें । पहले पारद-गन्धककी कज्जली बनावें । फिर शेष औषधियोंको मिला, कांजोके साथ ३ दिन तक खरल कर गोला बनावे । फिर सूर्यके तापमें सुखाकर सरावसम्पुटमे बन्द करे । पश्चात् लवणयन्त्रमें रखकर ४ प्रहर तक अग्नि देवे । स्वांग शीतल होने पर निकालकर पीस लेवे । इसमें से $\frac{1}{2}$ से १ रत्ती तक तुरन्त पिसे हुए ७ या १४ नग सफेद मिर्चके चूर्ण और शहद या शहद-पीपलके साथ दिनमें २ बार देते रहे ।

भोजनमें लघु मांस, वकरीका दही, गौका मट्ठा और इलायची, जीरा, कालीमिर्च युक्त घीमें छौंके हुए व्यञ्जन (भात आदि) देवे । विदाही पदार्थ, हींग और चार न देवे । एवं बैगन, बेजफल, तैल, करेला, स्त्री सहवास और क्रोधका त्याग करावे, तो इस रसायनके सेवनसे राजयक्ष्मा रोग दूर होता है ।

(१३) **रत्नगर्भपोटली रस**—रससिदूर, हीराभस्म, सुवर्णभस्म, रौप्यभस्म, नागभस्म, लोहभस्म, ताम्रभस्म, मौक्तिकभस्म, प्रवालभस्म, सुवर्णमालिकभस्म, शंखभस्म और तुत्थभस्म, इन १२ औषधियोंको समभाग मित्राकर ७ दिन तक चित्रक-मूलकी छालके कत्राथके साथ मर्दन कर चूर्ण करें । फिर इसे शुद्ध पीली कौड़ियोमे भरें । पश्चात् आकके दूधमें सुहागाको मिलाकर उनके मुखको भली-भाँति बन्द करें, तदनन्तर सबको मिट्टीकी मजबूत छोटी हाँडीमें रख सराव ढक कपड़मिट्टी करें । सूखने पर गजपुट देवें । स्वांग शीतल होने पर निकालकर

कौड़ियों सहित पीसकर निर्गुण्डीके क्वाथकी ७, अदरखके रसकी ७ और चित्रकमूलकी छालके क्वाथकी २१ भावना देकर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बना लेवें ।

इनमें से १-१ गोली दिनमें २ बार शहद-पीपल अथवा सफेद मिर्च और घीके साथ देनेसे साध्य और असाध्य राज-यक्ष्मा रोग निःसन्देह दूर हो जाता है । यह ओषधि आठों प्रकारके महारोग, वात व्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूदगर्भ और उदर रोग, कास, श्वास और अतिसार, सबको उपद्रव सह नष्ट कर देता है ।

आमाशय और अन्त्रमें सेन्द्रियविष संचयको यह रसायन दूर करता है । पचनशक्तिको सवल बनाता है । अन्त्र प्रदाह और अतिसारका नाश करता है । यकृत-प्लीहाकी विकृतिको दूर करता है; वातवाहिनियों और रक्तवाहिनियोंकी निर्बलता को दूर करता है । क्षयकीटाणुओंका नाश करता है । फुफ्फुस, हृदय, मस्तिष्क, यकृत, प्लीहा, वृक्क, आमाशय, अन्त्र, सब पर यह रसायन लाभ पहुँचाता है । अमीरोंके लिये यह औषध अति हितावह है ।

(१४) राजमृगांक रस—रससिन्दूर ३ तोले, सुवर्ण भस्म और रौप्यभस्म १-१ तोला, शुद्ध मैन्सिल, शुद्ध मन्धक और शुद्ध हरताल २-२ तोले लेवें । सबको मिला खरल कर शुद्ध पीली कौड़ियोंमें भरें । फिर सुहागेको बकरीके दूधमें मिलाकर उससे उनके मुखको अच्छी तरह बन्द करें । पश्चात् मिट्टीके बर्तनमें बन्दकर मजबूत कपड़मिट्टी करें । सूखने पर मजपुट अग्नि देवें । स्वांग शीतल होने पर निकालकर कौड़ियों सह पीस लेवें । इसमें से १-१ रत्ती दिनमें २ समय १६ नग सफेद मिर्च या १० नग पीपल और शहद तथा घी मिलाकर

सेवन कराने से वातकफात्मक राजयक्ष्मा रोग सत्त्वर नष्ट हो जाता है ।

(१५) लोकाेश्वर पोटली रस—रससिंदूर ४ तोले, सुवर्ण भस्म १ तोला, और शुद्ध गन्धन ८ तोलेको मिला चित्रकमूलकी छालके काथमें ७ दिन तक खरल कर सुखा लेवें । फिर १६ तोले शुद्ध पीली कौड़ियाँ लेकर उनमें इस चूर्णको भरें, और सोहागे को आकके दूधमें खरलकर उससे इन कौड़ियोंके मुखोंको दृढ़ रीतिसे बन्द करे । पश्चात् चूना पुती हुई मिट्टीकी छोटी हॉडीमें रख सराबको अच्छी तरह ढक ऊपर तीन कपड़मिट्टी करें । फिर सूर्यके तापमें सुखाकर १ हाथके खड्डेमें अग्नि देवें । स्मॉग शीतल होने पर निकाल कर पस लेवें । इसमें से २-२ रत्ती शहद-पीपलके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे बल और वीर्य की वृद्धि होती है । कृशता, अग्निमान्द्य, कास और पित्तप्रकोप सह क्षय रोग पर ३ दिन तक सफेद मिर्च और घृतके साथ देने से ओषधिका प्रभाव प्रतीत हो जाता है । इस ओषधिके सेवन कालमें नमकका त्याग करना चाहिये । घी और दहीके साथ भोजन देवे । इस तरह २१ दिन तक मिर्च-घृतके साथ सेवन करावें । पथ्य मृगाङ्गके समान पालन करें । सोनेके समय पैर ऊँचा रहे, इस तरह योजना करें ।

जो रोगी विषमासन (असमय पर भोजन, अपथ्य भोजन, अति भोजन, दूषित भोजन) से शुष्क हो गये हों, जो राज-यक्ष्मा रोगी अष्ठीला रोगसे पीड़ित है, जो पाण्डुताको प्राप्त हो गये है; जो रोगी कुवैद्योंकी कुचिकित्सा होने पर चिन्तासे व्याप्त हो गये है; जो विविध प्रकारके ज्वरोंसे संतप्त रहते हैं, जो भ्रम, मद, अति शराबसेवन या उन्माद रोगके हेतुसे प्रमादयुक्त हो

गये हैं; इन सबके लिए यह लोकेश्वर पोटली रस अमृतके सदृश चपकारक है ।

(१६) बबूलाघरिष्ट — बबूलकी छाल ८०० तोले लेकर ४०६६ तोले जलमें मिलाकर काथ करें । चतुर्थांश जल शेष रहनेपर उतारकर छान लेवें । फिर ४०० तोले गुड़ मिलावें । प्रक्षेप रूपसे धायके फूल ६४ तोले, पीपल ८ तोले, जायफल, शीतल-मिर्च, दालचीनी, छोटी इलायचीके दाने, तेजपात, नागकेशर, लौंग, कालीमिर्च, प्रत्येक ४४ तोले डालें । एक मास तक बन्द करके रक्खें । परिपक्व होनेपर छानकर ३-४ मास रहने दें । पश्चात् इसमेंसे २१-२१॥ तोले दिनमें २ बार देते रहनेसे क्षय, कुष्ठ, अतिसार, प्रमेह, श्वास, और कास आदि रोग नष्ट होते हैं ।

(१७) क्षय नाशक घृत — गौ, घोड़ा, हाथी, भेड़, बकरी, इन नीरोगी पशुओंका ताजा गोबर (वर्षा ऋतुसे इतर ऋतुका गोबर) पृथक्-पृथक् लेकर रस निचोड़ लेवें । कठोर गोबर और मैंगनी आदिमें उतना जल मिलावें कि घोल बन जाय । फिर मूर्वा, हल्दी और खैरछालका अलग-अलग काथ करें । इस तरह ५ प्रकारके गोबरके रस और ३ प्रकारके काथमें १ भाग दूध और १ भाग घृत मिलाकर यथाविधि घृतको सिद्ध करें । घृत पकनेके समय त्रिफला, मधुर द्रव्य (काकोल्यादिगणकी ओषधियाँ, त्रिकटु और देवदारुका कल्क घृतसे चौथा हिस्सा मिला लेवें ।

इस घृतमेंसे १ से २ तोले तक दिनमें दो बार सेवन करानेसे अन्त्रमें उत्पन्न सेन्द्रिय विष, रक्तमें स्थित विष और क्षय कीटाणुओंका नाश होकर राजयक्ष्मा रोगका निवारण हो जाता है ।

(१८) **छागलाघ घृत**—बकरेका मांस ५ सेर और जल १८२४ तोले मिलाकर चतुर्थांश काथ करें । फिर छानकर ६४ तोले घी और निम्न ओषधियोंका कल्क मिलाकर यथाविधि घृतको सिद्ध करें । अष्टवर्गकी आठों ओषधियाँ ४-४ तोले लेकर कल्क करें । अष्टवर्गके अभावमें विदारीकन्द, वाराहीकन्द, शतावरी, असगन्ध, इन चारोंको ८-८ तोले लेवें । फिर घृतको निकाल ३२ तोले मिश्री और शहद १६ तोले मिला लेवे । इसमें से २ से ४ तोले तक सेवन करानेसे राजयक्ष्मा, क्षतक्षय, कास, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभेद, उरक्षत, और दारुण श्वासरोग, ये सब नष्ट हो जाते हैं । बल, मांस और वीर्यकी वृद्धि होती है; तथा अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(१९) **जीवन्त्यादि घृत**—जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पुष्करमूल, छोटी कटेली, गोखरु, खरैटीकी जड़की छाल, नीले कमल, भूमि आँवले, त्रायमाण, धमासा और पीपल, इन १४ ओषधियोंको समभाग मिलाकर ३२ तोले कल्क करें । फिर १२८ तोले गोघृत और घृतसे ४ गुना दूध (या जल) मिला यथाविधि घृत पाक करें । इसमेंसे १ से २ तोले तक दिनमें २ समय देते रहनेसे ११ प्रकारके लक्षणों युक्त उग्र राजयक्ष्मा रोगका नाश हो जाता है ।

(२०) **बलादि क्षीर**—खरैटीके मूलकी छाल, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बड़ी कटेली और छोटी कटेलीको मिला ८ गुने जलमें काथ करें । चतुर्थांश जल शेष रहनेपर दूध (शेष रहे हुए जलके समान) डालें तथा सोंठ, मुनक्का, पिण्डखजूर, और पीपलका कल्क मिलाकर दुग्धावशेष रहे पर्यन्त काथ करें । फिर उतार छान शीतल होनेपर शहद मिलाकर पिलानेसे ज्वर, कास और स्वरभेद आदि उपद्रवोंसह राजयक्ष्मा रोग दूर होता है ।

(२१) तालीसाद्य चूर्ण—तालीसपत्र १ तोला, सफेद मिर्च २ तोले, सोंठ ३ तोले, पीपल ४ तोले, वंशलोचन ५ तोले, दालचीनी और छोटी इलायची ६-६ माशे तथा मिश्री ३२ तोले लेवें । इन सबको मिलाकर कपड़छान चूर्ण करें । इनमेंसे २ से ३ माशे तक दिनमें २ बार शहदके साथ देवें । यदि इस चूर्णकी गोलियाँ बनाना हो, तो मिश्री की चाशानीमें चूर्ण मिलाकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बाँध लेवें ।

यह चूर्ण हृद्‌रोग, पाण्डु, प्रहृणी, शोष, प्लीहावृद्धि, ज्वर, वमन, अतिसार और शूल आदि रोगोंका नाशक तथा ऊर्ध्वगत मूढ़वातका अनुलोमन करनेवाला है । गोलियोंमें भी यही गुण है; किन्तु गुणमें अधिक लघुता आ जाती है ।

शुक्रक्षय या रजःक्षयपर—वसन्तकुसुमाकर रस (२० ५१८) चौथाई रत्ती दिनमें २ समय कपूर और शिलाजीत या शहदके साथ दें । वंगभस्म (२० १४०), रौप्यभस्म (२० ११५), वंगभस्म और सुवर्णमाक्षिक, बृहद् वंगेश्वर रस (२० ५२५), पूर्णचन्द्रोदय रस (२० २७४), वंगभस्म और रससिन्दूर, सुवर्णमाक्षिक भस्म, और शृंगभस्म, वंगभस्म और शृंगभस्म, ये सब प्रयोग हितावह हैं । इनमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन कराना चाहिए ।

वसन्तकुसुमाकर और बृहद् वंगेश्वर शुक्रवाहिनियोंको सुदृढ़ बनानेके अलावा क्षयकीटाणुओंको नष्ट करते हैं, और सब घातुओंको पुष्ट बनाते हैं । वंगभस्ममें मुख्य गुण शुक्राशयको सञ्चल बनानेका है । पूर्ण चन्द्रोदय और रससिन्दूर हृदयपौष्टिक, घातुओंको सुदृढ़ बनाने वाले दुष्ट कफके नाशक और विषघ्न हैं । शृङ्गभस्म दूषित कफकी उत्पत्तिको कम कराती है, और स्थित कफको बाहर निकालती है । रौप्य भस्म वातवहा नाडियोंको पुष्ट बनाती है । सुवर्णमाक्षिक भस्म

पित्तविकार, वमन, दाह, शीर्षशूल, निद्रा नाश आदिको दूर कर रजः-वीर्यको गाढ़ा और स्थिर बनाती है ।

प्रतिश्याय पर—(१) रीठेके एक छिलकेको एक छटांक गाय या बकरीके दूधमें पीसकर रक्खें । आध घण्टे पश्चात् ऊपर से नितरे हुए दूधको छान लें । फिर उसमें आध रत्ती कपूर और केशर खरल करके मिला लें । बादमें पलग पर रोगीको लिटा शिर नीचा रखवाकर दोनो नथनोमे ५-५ बूंद दूध फोहेसे डाजदे । पश्चात् रोगीको तुरन्त बैठा देनेसे उसी समय मुँह और नाक से बहुत कफ निकल जाता है । आवश्यकता पर २-३ दिन पश्चात् सुबहको दो-तीन बार यह प्रयोग करे । यह प्रयोग क्षय की प्रथमावस्थामें बलवान् रोगीके लिये हितकारक है ।

(२) रसतन्त्रसारमें लिखा हुआ प्रतिश्यायहर शर्वत दिन में २ बार ३-४ दिन तक सेवन करानेसे जुखाम दूर हो जाता है ।

अरुचि होने पर—(१) अजवायन और कोकम (अभावमें डांसरिया या आमचूर) के काथसे कुल्ले करें । एवं इनकी गोलियाँ बनाकर मुखमें धारण करे ।

(२) दालचीनी, नागरमोथा, इलायची और धनियोंके काथ से कुल्ले करें । एवं इनकी गोलियोंको मुखमें रखकर रस चूसते रहे ।

(३) नागरमोथा, अँवला और दालचीनीके काथसे कुल्ले करे, और इनकी गोलियोंको मुँहमें रक्खें या इनके कवल धारण करें ।

(४) सुरा, माध्वीक (शराब), शीधु, तैल, घी-शहद (मिश्रित), दूध, गन्नेका रस, इनमें से इष्ट पदार्थका कवल धारण करावें ।

(५) यवानीखाण्डव चूर्ण (२० ६७७), कपूरराद्य चूर्ण (२० ६२६), लवंगादि चूर्ण (२० ६२५), द्राक्षासव (२० ७५६),

आर्द्रकावलेह (२० ८१४), इनमेंसे जो ओषधि अधिक अनुकूल हो वह प्रयोगमें लानेसे अरुचिकी निवृत्ति होती है ।

यवानीखारडव—वमन, कब्ज, पतले दस्त सह अरुचिमें हितकर है । कर्पूराद्य चूर्ण—स्वरभंग, वमन और अरुचिमें लाभदायक है । इसका उपयोग भोजनके साथ मसाला रूपसे भी हो सकता है । लवंगादि चूर्ण—उरःक्षत, स्वरभंग, कास और अतिसारसह अरुचिमें हितकर है ।

द्राक्षारिष्ट—अरुचिको दूर करता है, शान्त निद्रा लाता है और मनको प्रसन्न रखता है । परन्तु तीव्र अतिसार हो, तो द्राक्षारिष्ट नहीं देना चाहिये । मुँह चिकना और मीठा रहता हो, तो द्राक्षारिष्ट या आर्द्रकावलेह देवें । यदि मुँह कड़वा रहता है, तो लवंगादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण (अनार शर्बतके साथ) या कर्पूराद्य चूर्णमेंसे एक का सेवन करावें । यदि व्यवायशोष रोगीका मुँह कसैला रहता है, तो वंग भस्म १-२ रत्ती च्यवनप्राशावलेहके साथ देते रहें ।

प्रस्वेद शमनार्थ—(१) प्रवालपिष्टी १ से २ रत्ती और गिलोय सत्व ४-४ रत्तीको मिलाकर शहदके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे प्रस्वेद आना कम हो जाता है ।

(२) रुद्रवन्ती (*Cressa Cretica*) में प्रस्वेदशामक अद्वितीय गुण हैं । केवल रुद्रवन्तीका चूर्ण शहद के साथ या प्रवालके साथ मिलाकर भी दिया जाता है ।

(३) सितोपलादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण या पहले कहा हुआ तालीसाद्य चूर्ण और एलादि चूर्ण, सबमें प्रस्वेदको कम करनेका गुण रहा है । इनमें जो अधिक हितावह हो, उसका उपयोग करना चाहिए ।

(४) ब्रह्मदण्डकी मूलका चूर्ण शहदके साथ दिनमें २ समय देनेसे प्रस्वेद कम हो जाता है ।

(५) जसदभस्म १ रत्ती, गिलोयसत्व २ रत्ती और

शिलाजीत २ रत्ती मिलाकर दूध या जलके साथ देनेसे प्रस्वेद कम होजाता है, विष शमन हो जाता है, और बल कायम रहता है ।

मन्द-मन्द ज्वर पर—जयमंगल रस (२० ३५४), जसदभस्म (२० १५४ शिलाजीतके साथ), सुवर्णमालिनीवसंत (२० ३८४), लघुमालिनी वसन्त (२० ३६३), चन्दनादि लोह (२० ३८४-पतले दस्त होने पर), प्रवालपिष्टी (२० २०६-सितोपलादि चूर्ण के साथ), माणिक्य रस (शुष्ककास सह), इसमेंसे अनुकूल ओपधिका सेवन कराते रहे ।

सुवर्णमालिनी वसंत, लघुमालिनी वसंत और चन्दनादि लोह प्रथमावस्थामें विशेष लाभदायक हैं । जयमङ्गलरस प्रथमा और द्वितीयावस्थामें उपकारक है । जसदभस्म और शिलाजीत सब अवस्थाओमें लाभदायक हैं ।

स्वरभेद पर—(१) पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पीपल, बड़ी कटेली और खरैटीके मूलकी छालका कल्क कर चार गुने घी और १६ गुने दूधमें मिला घी सिद्ध कर नस्य करानेसे स्वरभेद दूर हो जाता है ।

(२) जसद भस्म मक्खन-मिश्रीके साथ देवें । यदि उरःक्षत बड़े होनेसे ताप सतत रहता हो, तो जसद भस्म, शिलाजीत और वंशलोचनकी गोलियाँ बनाकर प्रातःसाथ देते रहनेसे स्वरभेद, उरःक्षत, ज्वर, निर्बलता और अति प्रस्वेद आदि दूर होते हैं; रसायनियों सबल बनती है, विषका शमन हो जाता है, और मानसिक बेचैनी दूर होती है ।

अतिसार पर—(१) सोंठ और इन्द्रजौको मट्टे या चावलो के धोवनके साथ देवें ।

(२) पाठा, बेलगिरी और अजवायनके ३-३ माशे चूर्णको मट्टेके साथ दिनमें ३ समय देते रहनेसे अतिसार नष्ट होता है ।

(३) अदरख और पाठाके चूर्ण ३-३ माशेको बबूलारिष्ट या सुरा (शराब) के साथ देनेसे अतिसार शमन हो जाता है ।

(४) जम्बूवादि चूर्ण—जामुनके बीजकी गिरी, आमकी गुठलीकी गिरी, कच्चे बेलफल, कैथ और सोंठको मिलाकर चूर्ण करें । इसमेंसे ३ से ६ माशे चूर्ण यवागू या मण्डके साथ सेवन करानेसे अतिसारकी निवृत्ति हो जाती है ।

(५) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रहमें कही हुई ओषधियाँ—सूतशेखर (२० ५५७), सुवर्ण पर्पटी (२० ३१८), पञ्चामृत पर्पटी (२० ३२५), प्राणदा पर्पटी (२० ३२७), हेमगर्भपोटली रस (२० ४५५ दूसरी विधि), अभ्रपर्पटी (२० ३२६), अभ्रक भस्म (२० १८०), मौक्तिक पिष्टी (२० २०२), शंखभस्म (२० २२३) और वराटिका भस्म (२० २२१), इन चारोंका मिश्रण (सोंठके ताजे चूर्ण और घृतके साथ), जातिफलादि चूर्ण (२० ६८४), तालीसादि चूर्ण (२० ६८२-भांगयुक्त) और बाल अतिसारहर चूर्ण (२० ६६६), ये सब लाभदायक हैं ।

सूतशेखर सुवर्णयुक्त होनेसे क्षयनाशक, वातपित्तहर, अम्लपित्त नाशक, हृद्य, वमन और अतिसारको दूर करने वाला है । प्रथमावस्था में खट्टे डकार या वमन सह अतिसार होने और सूतिका रोगमें से क्षय की सम्प्राप्ति होने पर सत्वर गुण दर्शाता है ।

सुवर्णपर्पटी सब अवस्थामें उपयोगी है; किन्तु ज्वर कम हो तब देना चाहिये । अधिक ज्वर होने पर नहीं दी जाती । यह क्षय कीटाणुओं का नाश कर जीवनीय शक्तिका संरक्षण करती है ।

पञ्चामृत पर्पटी सब अवस्थाओंमें लाभदायक है । ज्वर हो या न हो, रक्त-पूय हो या न हो, पेचिश हो या न हो, अन्त्रविकारजनित सब उपद्रवोंके लिये हितकर है । जब सुवर्णपर्पटी नहीं दी जाती; तब इसका निर्भयतापूर्वक उपयोग किया जाता है ।

प्राणदा पर्पटी का उपयोग ज्वरसह अतिसार और आम मिश्रित अतिसारमें विशेष लाभदायक है ।

हेमगर्भ पोटली रस (क्षय) रक्तनिष्ठोवन, रक्तलाव सह अतिसार या ग्रहणी, शिरदर्द, आफरा, अन्त्रप्रदाह आदिको निवृत्त करता है ।

अभ्रपर्पटी सगर्भा और अति नाजुक प्रकृतिवालोंको हितकर है ।

अभ्रक, मौक्तिक, शख, वराटिका मिश्रण, तीनों अवस्थाओंके अतिसारमें हितकर हैं । पित्तमें अम्लता आई हो, उसे दूर करता है, और शक्ति को कायम रखता है ।

जातिफलादि चूर्ण और तालीसादि चूर्ण सौम्य, पाचक, अरुनिनाशक और ग्रहणीनाशक हैं । ये चूर्ण अकेले दिये जाते हैं, एव इतर रस आदिके साथ अनुपान रूपसे भी मिलाये जाते हैं । दोनों चूर्णों में भाग होने से उपयोग सम्बलपूर्वक करना चाहिये ।

(६) चि० त० प्र० प्रथमखण्डके पृष्ठ ६२५, २६, २७ में लिखे हुए वृद्धगंगाधर चूर्ण, विजयावलेह, अतिविषाद्यवलेह, कपित्थाष्टक चूर्ण और दाड़िमाष्टक चूर्ण, इन ओपधियोंमेंसे अनुकूल ओषधिका सेवन करानेसे अतिसारकी निवृत्ति हो जाती है । इन सब ओपधियोंके गुणमें सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद रहा है । जो अधिक अनुकूल हो, उसे प्रयोगमें लाना चाहिए ।

सूचना—अतिसारको रोकनेके लिये बलात्कारसे मलको रोकनेवाली स्तम्भक ओषधि अफीम मिश्रित नहीं देनी चाहिए, अन्यथा विषका संग्रह होकर नाना प्रकारके उपद्रवोंकी उत्पत्ति हो जाती है ।

ग्राही और पाचक ओषधि थोड़ी-थोड़ी मात्रामे देने रहे, जिससे अन्त्र सबल बन आहारको पाचन कर धारण कर सकें ।

पक्का बेलफल क्षय रोगमें हानिकर माना गया है ।

शिरदर्दपर—(१) खरैटी, गिलोय और मुलहठीका सहन हो सके उतना गरम काथ शिरपर छिड़के ।

(२) बकरे या मछलीके शिरके काथसे नाड़ी स्नेद देने ।

नाड़ीस्वेद विधान—एक हाडी या घड़ामें क्वाथ भरें । जिस घड़ेको हाथीकी सूंडके अग्रभागके समान ५-७ फीट लम्बी पीतल आदि धातुकी नली लगी हो, जो नली दो-तीन स्थानोंसे मुड़ी हो, ऐसी नली वाला घड़ा लो; फिर सेक लेनेपर नलीके छिद्रपर सर्वत्र वातहर पत्ते लपेट देवें । पश्चात् रोगीको वातहर तैल या घृतकी मालिश कर यन्त्रके नीचे अग्नि जलावें; और स्वेदन करें । इस नाड़ी स्वेदमें वाष्पको मुड़-मुड़कर जाना पड़ता है । इसलिये त्वचाको तीव्र आघात नहीं पहुँचता ।

(३) बेल, अरनी, सोनापाठा, रास्ना, पाढल, खरैटी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बड़ी कटेली, छोटी कटेली और एरण्ड मूल आदि वातनाशक औषधियोंके काथसे नाड़ीस्वेद देवें ।

(४) जलचर और अनूपदेशके पशु-पक्षियोंके मांससे, लघु पंचमूलके काथसे या स्नेहमिश्रित कांजीसे नाड़ीस्वेद देनेसे शिर दर्द, पार्श्वशूल आदि नष्ट हो जाते हैं ।

पार्श्वशूलपर—(१) जीवन्ती, सोया, खरैटी, मुलहठी, बच, मसाला और गुड़-घी मिला हुआ भुना मांस, विदारीकन्द, मूली, और आनूप या जलचर जीवोंका मांस, इन सबको मिला उपनाह स्वेद देवें । उपनाह स्वेद विधि चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ २०० में लिखी है ।

(२) सोया, मुलहठी, कूठ, तगर और देवदारुको घीमें मिला निवाया कर पसली पर मोटा लेप करें । ऊपर रूई चिपका देनेसे शिर दर्द, पार्श्वपीडा, और अंसशूल (कंधोंकी वेदना), ये सब दूर होते हैं ।

(३) पुराना घी २ भाग और तार्पिनका तैल १ भाग मिलाकर मालिश करनेसे पार्श्वशूल, हृदय शूल और अंसपीडा आदि नष्ट हो जाते हैं ।

(४) तार्पिनके तैलमें अफीम और कपूर मिलाकर मालिश करनेसे शूलकी निवृत्ति होती है ।

(५) मुर्गीके कच्चे मांसको पीसकर मोटा-मोटा लेप करनेसे पसलोकी पीड़ा शमन हो जाती है ।

(६) दशमूल, धनियॉ, सोठ और पीपल, इन १३ ओषधियोंको मिला क्वाथ कर पिलानेसे पार्श्वशूल, ज्वर, श्वास और पीनस आदि उपद्रवोका निवारण होता है ।

(७) गूगल, देवदारु, तगर, सफेद चन्दन और नागकेशर, इन ५ ओषधियोंको मिला घीमें चटनीकी तरह पीस गरम कर शूल स्थान पर सुहाता-सुहाता मोटा लेप कर रूई चिपका कर कपड़े से बांध देनेसे वेदनाका नाश हो जाता है ।

(८) पोस्तके दोड़ेको जलमें उबाल उसकी बाष्पसे सेक करें । पात्रको चूल्हे पर रखें । ऊपर चालनी ढके । फिर चालनी पर फलालेनके टुकड़े रखे । गरम होने पर उनसे सेक करें । सेक करनेके लिये फलालेनके दो टुकड़े ले । एकसे सेक करें और दूसरा चालनी पर रखे । पहला शीतल होने पर उसे चालनी पर रखे, और चालनी पर रखे हुए टुकड़ेसे सेक करें ।

(९) दशमूल, खरैटी, रास्ना, पुष्करमूल, देवदारु और सोठका क्वाथ पिलानेसे पार्श्वशूल, स्कंधशूल, शिरःशूल और शुष्क वातिक कास आदि पीड़ा शमन होती है ।

(१०) षडग यूपके सेवनसे प्रतिश्याय, शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरक्षय, और पार्श्वशूल आदि उपद्रव नष्ट होते हैं ।

ज्वर नाशक सरल प्रयोग—(१) पीपलका चूर्ण १-१ माशा गुड़के साथ दिनमें ३ समय दें ।

(२) त्रिकटुका चूर्ण २-२ माशे दिनमें ३ समय शहदके साथ दें ।

(३) गिलोय, पित्तपापड़ा और नीमकी अन्तरछालका क्वाथ करके दिनमें दो बार पिलावें ।

कास और ज्वर श्मनार्थ—(१) मुलहठी और पोपलका चूर्ण या त्रिकटु २ माशेको शहद ६ माशेके साथ मिलाकर सेवन करानेसे कास और ज्वरकी निवृत्ति होती है ।

(२) क्षयकेसरी योग—जफेद मिर्च २ तोले, फिटकरीका फूला २ तोले, शुद्ध बच्छनाग ६ माशे और शुद्ध नौसादर १ तोला लें । इन सबको मिलाकर चूर्ण करें । इसमेंसे आध-आध रत्ती दो माशे मिश्रीके साथ मिलाकर सेवन करानेसे क्षयज्वर और कास नष्ट होते हैं ।

सूचना—इस योगमें बच्छनाग होनेसे मात्रा अधिक नहीं देनी चाहिये ।

(३) अभ्रकभस्म १। तोला, शृंगभस्म २।। तोले, गिलोय सत्व, मुलहठी, वासाक्षार, तीनों १०-१० तोले और सितोपलादि चूर्ण २० तोलेको अनार शर्बत ४० तोलेमें मिलाकर अवलेह बना लेवें । मात्रा ६ माशेसे १ तोला तक दिनमें २ या ३ बार देनेसे कास, ज्वर, श्वास, अरुचि, रक्तस्राव आदि विकार शमन हो जाते हैं ।

उरःक्षत पर—(१) खरैटी, असगंध, शालपर्णी (या गंभारीके फल) शतावरी और श्वेत पुनर्नवाकी जड़को समभाग मिलाकर चूर्ण करें । इसमेंसे ४-४ माशे चूर्ण दिनमें २ समय बकरी के दूध या गोदुग्धके साथ देनेसे उरःक्षत और शोष दूर होते हैं ।

(२) दूधमें से निकाला हुआ मक्खन, मिश्री और शहद मिला कर सेवन करनेसे क्षत नष्ट होते हैं; तथा शरीर पुष्ट होता है ।

(३) शुद्ध लाखका चूर्ण ३-३ माशे दिनमें दो बार घी और शहद के साथ देवें ।

(४) बिहीदानेके लुआबमें मिश्री मिला कर पिलानेसे रक्त-
स्राव की निवृत्ति होती है ।

(५) लाखके रस या क्वाथ २-२ तोलेमें ६-६ माशे शहद
मिलाकर सेवन करानेसे रक्तवमन दूर होती है । लाचारस विधि
रसतन्त्रसार के पृष्ठ ५१ में है ।

(६) स्वरस कृतिसे निकाला हुआ अड़ूसेके पत्तोका रस ६
माशे, शहद ६ माशे और पीपलका चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर देवे ।
ऊपर बकरीका दूध ५ से १० तोले पिलावे ।

(७) कुकुरोधेका रस २ तोले पिलानेसे रक्तवमन और कफमें
रक्त आना बन्द हो जाता है ।

(८) मुलहठी और रक्तचंदनको बकरीके दूधमें घिसकर
पिलानेसे रक्तवमन बन्द होती है ।

(९) रसतन्त्रसारोक्त लऊक सपिस्तौं (दूसरी विधि पृष्ठ
८१४) दिनमें २-३ समय चटानेसे सरलतासे कफ बाहर आता
है, और रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

(१०) अर्जुन छालके चूर्णको अड़ूसेके पत्तोंके स्वरसकी
७ भावना देवे । फिर इस चूर्णको मिश्री, घृत और शहदके
साथ ४-४ माशे दिनमें २ बार देते रहनेसे क्षयकास और रक्तपित्त
का नाश होता है ।

(११) गूलरके मूलका जल या कच्चे गूलरके फलोंका स्वरस
१ से २ तोले शहद मिलाकर पिलानेसे रक्तस्राव बन्द हो
जाता है ।

(१२) संगजराहत भस्म, तृणकान्तमणि पिष्टी, गिलोयसत्व,
वंशलोचन, छोटी इलायचीके दाने, सोनागेरू, हीराबोल (खून
खराबा—Myrrha) और हीरादोखी गोद (दमोलखबैन), इन
८ औषधियोंको समभाग मिलाकर १ से २ माशे दिनमें ३ समय

शहद या शर्बत अनारके साथ सेवन करानेसे रक्तस्राव सत्वर शमन हो जाता है ।

(१३) दर्दवाले भागपर फिटकरीके जलमें भिगोया हुआ कपड़ा रक्खें और आध-आध घण्टे पर बदलते रहें ।

रसतन्त्रसारमें लिखे हुए रक्तस्रावनाशक और कफहर प्रयोग—रससिंदूर (२० २७८), ताप्यादिलोह (२० ४३७), अग्निरस (२० ४६५), लवंगादि तालसिंदूर (२० ४६५), सुवर्णभस्म और प्रवालपिष्टी, एलादिवटी (२० ६४२), च्यवनप्राशावलेह (२० ७६७), वासावलेह (२० ७६६), संगजराहत भस्म (२० २४३), बोलपर्पटी (२० ३२३), वैडूर्यभस्म (२० २००), मधुकाद्यवलेह (२० ८०३—दूसरी विधि), दुर्वाद्यघृत (२० ८३१), बोलवृहदरस (२० ४२२) और शुभ्राभस्म (२० २५१) ।

रससिंदूर—रक्त न जाता हो, कफ पीला दुर्गन्धयुक्त हो, तो वासावलेहके साथ देना हितकारक है ।

ताप्यादि लोह—हरा, पीला कफ, खाँसीमें अधिक त्रास, किञ्चित् रक्त हो, तो वासावलेह या दाडिमावलेहके साथ देना चाहिये । दाडिमावलेहका पाठ चि० त० प्र० प्रथम खण्डके पृष्ठ ६२७ में लिखा है ।

अग्निरस—सरलतासे कफस्राव कराता है; रक्तको बन्द करता है; और उरःक्षतको भर देता है ।

लवंगादि तालसिंदूर—क्षय कीटाणु नाशक और अरुचिको दूर करने वाला है । वमन और उरःक्षतके रक्तको बन्द करनेमें हितावह है ।

सुवर्ण भस्म और प्रवालपिष्टी मिश्रण—वैदनाशामक, कीटाणुनाशक, विषघ्न, रक्तबन्द करने वाला और तीनों अवस्थामें हितकारी है । ज्वर कम हो तो ही सुवर्ण मिलाना चाहिये । ज्वरावस्थामें केवल प्रवाल देवें; प्रवाल सब अवस्थामें उपकारक है ।

एलादि वटी—सौम्य, वान्तिहर, अरुचिनाशक और अति हितकर ओषधि है । सब अवस्थामें लाभ पहुँचाती है । सब प्रकृति वालोंको

एव स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, सबको निर्भयता पूर्वक दी जाती है । वमन, हिक्का, रक्तस्राव, अरुचि और ज्वरको दूर करती है ।

च्यवनप्राशवलेह—रक्त बन्द करने वाला तथा शक्ति देने वाला रसायन है । मस्तिष्क, हृदय और रस-रक्त आदि सातों धातुओंको पुष्ट बनाता है । अधिक दस्त होते हों, तो नहीं देना चाहिये । यह सब अवस्थामें निर्भयतापूर्वक दिया जाता है । भस्म और रस आदि सेवन के साथ अनुपान रूपसे भी मिलाया जाता है । स्त्री-पुरुष, छोटे बड़े सबके लिये हितकारक है ।

वासावलेह—रक्तपित्त, अधिक रक्त जाना, कफ सरलतासे न निकलना और दाह आदिको दूर करता है । अकेला और अनुपान रूप से भी दिया जाता है ।

सगजराहत भस्म—शरीरके किसी भी भागमें से रक्त जाने पर सबको दिया है । अति निर्दोष ओषधि है । प्रदर, प्रमेह, सुजाक, दाह और मुखपाक आदिको भी दूर करती है ।

बोलपर्पटी प्रथम विधि और बोलबद्ध रस-रक्त अधिक जाने पर सत्वर रोकनेके लिये दिये जाते हैं । दोनों सौम्य ओषधियाँ हैं ।

वैडूर्य पिष्टी—रक्त बन्द करने, कीटाणु नष्ट करने और उरःक्षत भरनेमें अति लाभदायक है । आध-आध रत्ती वैडूर्यपिष्टीको प्रवालपिष्टी, गिलोयसत्व और शहदके साथ दिनमें २ या ३ समय देते रहनेसे कीटाणु नष्ट होते हैं, शारीरिक उत्ताप कम हो जाता है, और रक्तस्राव का स्तम्भन होता है ।

मधुकाद्यवलेह—कास और श्वाससह उरःक्षतको नष्ट करनेमें सौम्य और निर्भय ओषधि है । यह अवलेह अकेला एव दूसरे भस्म, रसायन आदिके साथ अनुपान रूपसे भी दिया जाता है ।

दुर्वाद्य घृत—अधिक रक्तस्राव होने पर उसे शीघ्र बन्द कर देता है ।

शुभ्राभस्म—राज्यदमाकी वमन, रक्तवमन, रक्तप्रदर, वाली खाँसी,

सूजाक जनित सूत्रदाह आदि अनेक रोगोंमें उपकारक है । बड़ी उत्तम और निर्भय ओषधि है ।

विषको मूत्र द्वारा बाहर निकालनेके लिये—(१) चन्दनादि अर्क (२० ७८३) दिनमें २ या ३ समय देते रहनेसे विष सरलतासे बाहर निकल जाता है; जिससे शिरदर्द, दाह, निद्रानाश और ज्वर आदि उपद्रवोंका बल न्यून हो जाता है ।

(२) जसद भस्म और लोहभस्म १ तोला तथा शिलाजीत २ तोले, तीनोंको मिला जलके साथ खरल कर १-१ रत्तीकी गोलियाँ बाँधकर वंशलोचनके चूर्णमें डालते जायँ; और तस्तरीको घुमाते रहें, जिससे वंशलोचन सवपर लग जाय । इन गोलियोंमें से २-२ गोली दिनमें दो समय दूधके साथ देते रहनेसे ज्वरकी वेचैनी, दाह, शिरदर्द, मूत्रमें दाह, स्वप्नदोष, अतिप्रस्वेद, निर्बलता आदि दूर होते हैं; और मूत्र शुद्धि होती है ।

वमन शमनार्थ—(१) एलादिवटी (२० ६४२), एलादिचूर्ण (२० ६५८), कपूरराद्य चूर्ण (२० ६८३), इनमेंसे अनुकूल ओषधि देते रहें । वमनका अधिक त्रास होनेपर शुभ्राभस्म (रसतन्त्रसार पृ० २५१) या कच्ची फिटकरीका चूर्ण (२० पृ० २५५) २ से ५ रत्ती तक मिश्रीमें मिलाकर देनेसे कै वन्द हो जाती है ।

(२) पीपल (अश्वत्थ) की छालकी राखको १६ गुने जलमें भिगो ऊपरसे नितरा हुआ जल निकालकर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहनेसे वमनकी निवृत्ति हो जाती है ।

कफ कास—(१) छोटी पीपल और गुड़का कल्क ४ गुने बकरीके घी और १६ गुने बकरीके दूधके साथ मिलाकर यथा-विधि घृत सिद्ध करें । इस घृतमेंसे ६-६ माशे दिनमें २ समय सेवन करनेसे कफकास शमन होती है; और अग्नि प्रदीप्त होती है ।

(१) मरिच्यादि गुटिका—एक-एक गोली मुँहमें रखकर रस चूसनेसे कफ सरलतासे बाहर आता है । दिनमें १०-१५ गोली तक सेवन करें ।

(३) शृंगभस्म—२ से ४ रत्ती तक ३-३ माशे मिश्रीके साथ दिनमें २ समय देते रहनेसे कफशुद्धि होती है, और दूषित कफकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है ।

शुष्क कासपर—(१) कर्पूरादिवटी (२० ६३३) या कास मर्दन वटी (२० ६४६), इन दोनोंमेंसे अनुकूल हो उसे मुँहमें रखकर रस चूसें । दिनमें १० १५ गोली तक ।

(२) माणिक्य रस (२० २६१) दिनमें २ समय मक्खन-मिश्रीके साथ देते रहनेसे सूखी खाँसी दूर हो जाती है ।

(३) रौप्यभस्म दिनमें २ समय वंशलोचन, छोटी इलायची, गिलोयसत्व और शहदके साथ देते रहने से वातपित्तज कास नष्ट होती है ।

(४) प्रवालपिष्टी दिनमें २ समय अनारके रस और मिश्री के साथ देते रहने से पित्तप्रधान कास दूर होती है ।

(५) अलसीकी पुल्टिस या रोटी बनाकर फुफ्फुस पर बार-बार बाँधते रहने से वेदना, दाह और कफका शमन हो जाता है ।

उपदंशज क्षय पर—अष्टमूर्तिरसायन (२० ३०५) आध-आध रत्ती अदरकके रस और शहदके साथ देते रहे ।

दाह शमनार्थ—(१) लाक्षादि तैल (२० ८४२), चन्दन बला-लाक्षादितैल (२० ८३५) या बकरीके दूधकी मालिश करनेसे दाहकी निवृत्त होती है; और त्वचा सुन्दर और मुलायम बनती है ।

(२) पुराने गोघृतको सौंवार जलसे धोकर मालिश करने से दाह शान्त हो जाता है ।

(३) दहीको कपड़ेमें बाँध जल निकाल थोड़ा कपूर मिलाकर मालिश करने से दाहजनित बेदना दूर होती है ।

(४) खरैँटी, रास्ना, तिल, मुलहठी और नीले कमलको घीमें मिलाकर लेप करनेसे दाह दूर होता है; और शूल भी नष्ट हो जाता है ।

हृदय शक्तिके संरक्षणार्थ—(१) अभ्रक भस्म और पूर्ण चन्द्रोदय रसको मिलाकर ज्यवनप्राशावलेहके साथ देते रहें ।

(२) नागभस्म, अभ्रकभस्म और लोहभस्म मिलाकर शहदके साथ देवें ।

(३) द्राक्षारिष्ट ५-५ तोले दिनमें दो बार देते रहने से हृदय को उत्तेजना मिलती है; और मन प्रफुल्लित होता है ।

(४) दिवालमुश्क (२० ८०८) दिनमें २ बार देते रहने से हृदय और मस्तिष्कको शान्ति मिलती है ।

निद्रा लानेके लिये—(१) पैरोंके तलोंमें कांसीकी कटोरीसे मक्खन या लाक्षादि तैलकी मालिश करें ।

(२) द्राक्षारिष्ट (२० ७५६) अथवा सारस्वतारिष्ट (२० ७५८) पिलावें ।

(३) सूतशेखर रस (२० ५५७) १-१ रत्ती शामको दूध-मिश्रीके साथ देवें ।

(४) निद्रोदय रस (२० ४८६) या अफोम $\frac{1}{2}$ रत्ती देनेसे रक्तस्राव बन्द होता है; और निद्रा भी आ जाती है । यह प्रयोग दुर्गन्धयुक्त अतिसार न हो, तो ही करना चाहिये ।

(५) जातिफलादि चूर्ण (२० ६८३) या तालीसादि चूर्ण (२० ६८२-भांगवाले) का सेवन कराने से निद्रा आजाती है ।

(६) चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ ४०७ में लिखे हुए प्रयोगों का उपयोग करें ।

मलावरोध होनेपर च्यवनप्राशावलेह (२० ७६७), अभयारिष्ट (२० ७६५) या आंवनीके मुरब्बाका सेवन कराना चाहिये ।

लक्ष्य देने योग्य सूचना ।

(१) सुवर्ण च्युरोगमे जन्तु नाश करनेके लिये उत्तम औषध है । किन्तु सुवर्णकी मात्रा $3\frac{1}{2}$ रत्ती और सुवर्ण भस्मकी मात्रा $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती से अधिक नहीं देनी चाहिये । अधिक मात्रा देनेसे जन्तु अधिक मर कर उनके विषसे ताप बढ़ जाता है ।

(२) ताप १६ डिग्रीसे अधिक होनेपर सुवर्णयुक्त औषध नहीं देना चाहिये । पहले पञ्चामृतस (२० ६१३), रौप्यभस्म (२० ११५), माणिक्य रस (२० २६१), या इतर औषधसे तापको कम करनेका प्रयत्न करे । अथवा सुबह जिस समय ताप कम हो उस समय सुवर्ण-मिश्रित औषधि दे ।

(३) ताप अधिक होनेपर तैलकी मालिश नहीं करनी चाहिये । मन्द ज्वर वाले और ज्वररहित रोगियोंके लिये तैल मर्दन लाभदायक है । तैलमर्दन सायंकालको हलके हाथसे करना चाहिये, दूसरे दिन सुबह गरम जलमे कपडा भिगोकर देहको पोंछ लेना चाहिये । लाक्षादि तैल की मालिशसे प्रस्वेद कम आता है, जिससे शक्तिपात कम होता है ।

(४) ताप दिनमें बार बार घटता-बढ़ता है । अतः च्युरोगीका ताप ३-२ घण्टे पर जाच करके लिखते रहना चाहिये । बगल, मुँह और गुदा, इन ३ स्थानोंसे तापका निर्णय होता है । बगलकी अपेक्षा मुँहमे १ डिग्री और गुदामे १ से ३ डिग्री गरमी बहुधा अधिक आती है । प्रस्वेद या तेज वायुके आघातके पश्चात् बगलकी उष्णता कम हो जाती है । मुहमें अधिक बोलनेके पश्चात् या मुखपाक होनेसे उष्णता निर्णय नहीं होता । थर्मामीटरको श्वासोच्छ्वासकी वायु लगते रहनेसे भी उष्णता कम आती है, तथा गुदामे शौचके पश्चात् तुरन्त देखनेसे गरमी कम

आती है । अन्य समयमें सच्चा बोध कराती है । अतः जैसी अनुकूलता हो उस अनुसार तापकी जांच करें ।

(५) भोजन, निद्रा, शौच और स्नानके परचात् एवं मानसिक चिन्ता होनेपर शारीरिक उष्णता कम हो जाती है; तथा मैथुन, परिश्रम मध्याह्नकाल, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि वृत्तिकी उत्पत्ति होनेपर एवं स्त्रियों का मासिक धर्म आने पर उष्णता बढ़ जाती है । इन कारणों पर भी लक्ष्य देकर तापक्रमकी जांच करनी चाहिये ।

(६) दूषित कफको सत्वर बाहर निकालनेका प्रयत्न करें; अन्यथा दूषित कफमें रहे हुए कीटाणु फुफ्फुसके नूतन नूतन भागको दूषित करते रहेंगे । रात्रिको अधिक कास चलने पर निद्रा नहीं मिलती, इस हेतुसे रात्रिके समय कफको अधिक उत्तेजना देने वाली ओषधिका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

(७) यदि रक्त गिरता हो, तो रक्तको बन्द करनेके लिये सबसे अधिक लक्ष्य देना चाहिये । और इतर उपद्रवोंकी चिकित्सा गौण रूपसे करनी चाहिये । रक्तस्रावके रोगीको पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये ।

(८) ज्वर शमनार्थ पसीना लाने वाली ओषधि नहीं देनी चाहिये ; एवं अतिसार बन्द करनेके लिये अफीममिश्रित ओषधि और पक्के बेल का उपयोग नहीं करना चाहिये ।

(९) लघु रोगकी एक भी ऐसी ओषधि नहीं है; जो १०-२० दिनमें रोगको दूर कर दे । इस रोगमें शान्ति और श्रद्धापूर्वक पथ्य-पालन सह दीर्घकाल पर्यन्त नियमित रूपमें ओषधिका सेवन करते रहने से ही लाभ होनेकी आशा रखी है ।

मन्त्रचिकित्सा ।

सबल मानसिक संकल्प वालों द्वारा सद्भावनापूर्वक यद्मा के नाशके लिये अथर्व संहिताके द्वितीय काण्डके निम्न सूक्तके पाठका विधान किया है:—

- (१) अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्म शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामिते ॥
- (२) ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य मंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥
- (३) हृदयात्ते परि क्लोमनो हलीक्षणात्पार्श्वभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहो यक्नस्ते विवृहामसि ॥
- (४) आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वमिश्रोस्तरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या विवृहामि ते ॥
- (५) ऊरुभ्यां ते अष्ट्रीवद्भ्यां पार्श्विभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो विवृहामि ते ॥
- (६) अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते ॥
- (७) अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यंते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वक्चं
च विवृहामसि ॥

अथर्व० २ । ३३ । १ से ७ मन्त्र ।

उपर्युक्त मन्त्र पुनः अथर्ववेदके काण्ड २० सूक्त ६६ के मन्त्र १७ से २३ तक भी लिखे हैं ।

हे राजयक्ष्मा गृहीत रोगी ! तेरे नेत्र, नासिका, कर्ण, चिबुक (होठके नीचेके प्रदेश), शीर्ष, जिह्वा और शिरमें प्रवेश किये हुए यक्ष्मारोगको बाहर निकाल लेता हूँ । १ ॥

हे रोगी ! तेरे ग्रीवा (सूक्ष्म सूक्ष्म १४ अस्थि), रक्तवाहिनियों कीकसा (कण्ठस्थ अस्थि) अनुक्य आदि ३३ अस्थिजाँ, कन्धे, और हाथ आदिमें से यक्ष्माको पृथक् कर देता हूँ । २ ॥

हे व्याधिपीडित ! तेरे हृदय कमल, हृदयके समीपमें रहे हुए क्लोम, हलीक्षणा संज्ञावाला मांसपिण्ड, दोनों पार्श्व, दोनों

मतस्न (वृक्क), प्लाहा और यकृतमें से यक्ष्मा रोगको नष्ट कर देता हूँ । ३ ॥

हे यक्ष्मगृहीत रोगी ! तेरे लघु अन्न, गुदा, बृहदन्न, उदर, प्लाशि (शिशनमूलकी नाड़ी या उपान्न) या फुफ्फुस और नाभि प्रदेशसे यक्ष्माको दूर करता हूँ । ४ ॥

हे रोगी ! तेरे दोनों ऊरु, दोनों जानु, दोनों पार्श्विण (एड़ी), दोनों पैरके अगले भाग, भसत् (कटि प्रदेश), दोनों श्रोणि (कटिके नीचेका दोनों ओरका प्रदेश), भासद् (गुह्य प्रदेशके भीतरका भाग) और भासमान (गुह्यस्थान), इन सब स्थानों से यक्ष्माको अलग कर देता हूँ । ५ ॥

हे व्याधि पीड़ित मनुष्य ! अस्थि और मज्जा आदि सब धातु, सूक्ष्म शिराएँ, धमनियाँ (स्थूल नाड़ियाँ), हाथ, अंगुलियाँ, नख आदि स्थानोंमें से यक्ष्मा निकाल देता हूँ । ६ ॥

हे रोगी ! तेरे न कहे हुए सब अङ्ग और सब रोम कूप, सब सन्धियों, त्वचा और चक्षु आदि समस्त अवयवोंमें व्याप्त यक्ष्मारोगको इस कश्यप ऋषि प्रणीत सूत्रसे आकर्षित कर बाहर फेंक देता हूँ । ७ ॥

ऋग्वेद संहिता अष्टक ८, मण्डल १०, सूक्त १६३ यक्ष्मनाशन प्रकरणमें इस प्रकार मन्त्र कहे हैं—

- (१) अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षेण्यं मस्तिकाज्जिह्वाया विवृहामि ते ॥
- (२) ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्यात् ।
यक्ष्मं दोषेण्य मंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥
- (३) आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो विनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्ताभ्यां यक्कः प्लाशिभ्यो विवृहामि ते ॥
- (४) ऊरुभ्यां ते अष्ठोवद्ध्यां पार्श्विभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो विवृहामि ते ॥

(५) मेहनाद्रनं करणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।

यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥

(६) अङ्गादङ्गाल्लोमनोल्लोमो जातं पर्वणि पर्वणि ।

यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥

इन उपरोक्त मन्त्रोका अर्थ पहले लिखा गया है अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की ।

इस तरह ऋग्वेद संहितामें यक्ष्मा नाशक इतर अनेक सूक्त गाये हैं । इनमेंसे दशम मण्डलके दो मंत्र यहाँ देता हूँ ।

आत्वागमं शंतातिभरथो अरिष्टतातिभिः ।

दक्षते भद्रमाभार्ष परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥

ऋ० सं० १० । १३७ । ३ ।

हे रोगी ! सुखकर, शान्तिप्रद, मंगलदायक और बलवान् मनोबल द्वारा आकर्षण करके तेरे यक्ष्मा रोग को नष्ट करता हूँ ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय ।

कमज्ञात्यक्ष्मादुतराजयक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यदि वै तदेनं ।

तस्याइन्द्राग्नी प्रमुमुक्षमेनम् ।

ऋ० सं० १० । १६१ । १ ।

हे यक्ष्माभिभूत मनुष्य ! इस चरु साधन द्वारा तेरे को अज्ञात यक्ष्मा रोग एवं चिरकालस्थायी राजयक्ष्मा रोगसे छुड़ा देता हूँ । यदि इस कालमें इस व्याधिग्रस्त व्यक्ति को ग्रहण करने वाले किसी देवता ने पीड़ित किया हो, तो हे इन्द्राग्नि देव ! इस रोगी को मुक्त कर दे ।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके १६१ वां सूक्त अथर्व वेदमें भी लिखा गया है । इस हेतुसे यह मंत्र अथर्ववेदमें भी आया है ।

समस्त व्याधि समूहोंका नाशक एक सूक्त अथर्ववेदका आगे ग्रहावेशित मूर्च्छा की चिकित्सामें दिया जायगा ।

वेदों में अनेक सूक्त और मन्त्र रोगनाशक कहे हैं । मन्त्र शास्त्रमें नाना प्रकारके मन्त्रोंका विधान है । शास्त्रकारोंने मन्त्र-चिकित्सा को श्रेष्ठ दैवी चिकित्सा कही है । मानसिक बलवृद्धि होने पर मनुष्य इस दैवी चिकित्साका उपयोग कर सकता है । वर्तमानमें मनोबल बढ़ाने की ओर जनता की रुचि कम है । एवं मन्त्र-तन्त्रमें श्रद्धा न होनेसे इसका अधिक विस्तार नहीं किया ।

डाक्टरी चिकित्सा ।

(१) लाइकर आर्सेनिक Liq Arsenic १ ड्राम
टिञ्चर फेरी पर क्लोराइड Tinct Ferri Perchloride ५ ड्राम
ग्लिसरीन Glycerine ५ ड्राम
तीनोंको मिलाकर १५-१५ बूँद दिनमें २ बार भोजनके बाद जल
मिलाकर देते रहें । यह यक्ष्माकी सामान्य स्थितिमें लाभदायक है ।

(२) क्रियोसोट Creosote Pour ३० बूँद
सिरेट सिनामोमी Spt Cinnamomi १५ बूँद
टिञ्चर ओरेन्सी Tinct Aurantii २॥ औंस
ग्लिसरीन Glycerine ad ४ औंस तक
इन सबको मिलाकर एक-एक ड्राम दिनमें ३ बार भोजनके
पश्चात् देते रहना चाहिये । यह मिश्रण यक्ष्माकी सामान्यावस्थामें
कीटाणुओंके नाशके लिये हितावह है ।

(३) गोयाकोल बेन्झोएट अर्थात् बेन्झोसोल (Benzozol)
५-५ ग्रेन मिश्रीके साथ मिलाकर दिनमें ४-६ बार देनेसे क्षय रोग
शमन हो जाता है ।

(४) सोडियम मोर्रुएट (Sodium Morrhuate) का इन्जे-
क्शन ३ सी० सी० की मात्रासे चौथे-चौथे रोज करनेसे क्षयकी प्रथमा-

वस्था, अन्त्रक्षय, ग्रन्थिक्षय और कुष्ठ नष्ट होते हैं । मात्रा शनैः-शनैः बढ़ानी चाहिये ।

(५) हीरोइन हाइड्रोक्लोराइड (Heroin Hydrochloride) $\frac{1}{2}$ ग्रैन से $\frac{1}{4}$ ग्रैन की मात्रामें क्षयकी शुष्क कास पर इन्जेक्शन किया जाता है । इस ओषधिको डायामोर्फिन हाइड्रोक्लोराइड (Diamorphine Hydrochloride) भी कहते हैं ।

(६) सोल्गनल (Solganal) का चौथे-चौथे दिन इन्जेक्शन करते रहनेसे क्षयकीटाणु नष्ट हो जाते हैं । इस इन्जेक्शनके दिनोंमें प्रतिदिन ब्राह्मोज (Glucose) को जलमें मिलाकर पिलाते रहना चाहिये ।

(७) सेनो फ्राइसिन (Sanocrysin) अर्थात् सोडियम और थियोसल्फेट (Sodium Aurithio Sulphate) का सप्ताहमें दो बार इन्जेक्शन किया जाता है । मात्रा $\frac{1}{16}$ ग्रैनसे १ ग्रैन तक शनैः-शनैः बढ़ावे । यह सोल्गनलकी अपेक्षा उग्र है; यह अग्नि सम्हालपूर्वक दिया जाता है । यदि ऋणवृद्धि, शिरदर्द, दाह, रक्त निष्ठीवन, अतिसार, पाण्डु, व्याकुलता और अग्निमान्द्य आदि उपद्रव हो जाय, तो तुरन्त बन्द कर दिया जाता है; तथा उपद्रवोके शमनार्थ सोडियम हाइपोसल्फेट (Sodium Hyposulphate) १० ग्रैनको १० सी० सी० (१६० बूँद) जलमें मिलाकर रक्तमें प्रवेश कराना चाहिये ।

(८) निद्रा उत्प्रेदक और कफ शामक (Cough Sedative)

कोडीन सल्फेट Codeina Sulphate ३ ग्रैन

लाइकर एट्रोपिन सल्फेट Liq Atropine Sulph १२ बूँद

सिरप टोलू Syrup Tolu १॥ औंस

इन्फ्युजन् रोस एसिडम् Inf Rose Acid ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । इसमेंसे आध आध औंस समान जल मिलाकर ४-४ घण्टे पर देते रहे । जब तक आवश्यकता हो; तब तक देते रहें ।

सूचना—दिनमें अफीमयुक्त ओषधि न दी जाय; तो अच्छा । हो सके तब तक अफीम मिश्रित ओषधिका व्यवहार प्रथमावस्थामें नहीं करना चाहिये ।

इन्फ्युसम रोक एसिडम् बनानेके लिये गुलाबके सूखे पत्ते २॥ भाग, एसिड सल्फ्युरिड डिल्युट १॥ भाग, शेष उबाला हुआ जल १०० भाग तक मिलावें । पहले जलको उबाल पत्ती मिलाकर ढक दें । १५ मिनट बाद छान लें । शीतल होनेपर तेजाब मिला लें । जल घट गया हो; उतना बाष्प जल मिला लें ।

इन्फ्युसम २४ घण्टे होनेपर बिगड़ जाता है । अतः रोज ताजा बना लेना चाहिये ।

(६) रात्रिको कफका अधिक त्रास होनेपर—

डायोनिन Dionin

$\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ ग्रेन

कोडीन फोस्फेट Codeine Phosphate

$\frac{1}{2}$ ग्रेन

इन दोनोंको मिलाकर गोली बना लें । रात्रिको देनेसे शान्त निद्रा आ जाती है । अति कब्ज हो या अतिसार हो, तो यह ओषधि नहीं देनी चाहिये । एवं क्षयकी प्रथमावस्थामें भी यह नहीं देनी चाहिये ।

(१०) कष्टदायक काससे वमन होनेपर—

एसिड हाइड्रोस्येनिक डिल० Acid Hydrocyanic Dil ३ बूँद

सोडा बाई कार्ब Soda Bicarb

१५ ग्रेन

स्पिरिट एमोनिया एरोमेट० Spt Ammon Aro

५ बूँद

इन्फ्युसम जेन्शन को० Inf Gention Co ad १ औंस तक

इन सबको मिलाकर भोजनके ५ मिनट पहले दिनमें ३ बार देते रहें ।

(११) तीव्र ज्वर शमनार्थ—एट्रोपिन सल्फेट (Atropine Sulphate) $\frac{3}{4}$ ग्रेनकी गोलियाँ बना लें । इनमेंसे १-१ गोली रोज रात्रिको या सुबह देते रहें । जो पचन क्रिया बिगड़ी हो, तो इन्जेक्शन रूपसे भी दे सकते हैं ।

(१२) रात्रिके प्रस्वेद और अतिसार पर—एसिड केम्फारिकम्

(Acid Camphoricum) दिया जाता है । रात्रिको प्रस्वेद आने के १ घण्टे पहले २० ग्रेन मात्रामें केचेटमे भरकर देनेसे प्रस्वेद और निर्बलता कम आती है । अतिसारके लिये कम मात्रामें दिनमें २-३ बार देना चाहिये ।

(१३) अतिसार होनेपर—

टिञ्चर ओपियाई Tinct Opu १ ड्राम

टिञ्चर केटेच्यु Tinct Catechu ६ ड्राम

क्वाथ हिमेटोक्सिली Decoct Haematoxyli ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । इसमेंसे ४-४ ड्राम समान जल मिलाकर दिनमें ३ समय आवश्यकता हो, तब तक देते रहे ।

हिमेटोक्सिलीके क्वाथके लिये—

लोग वुड (Log wood) ५ भाग, दालचीनी १ भाग, जल १०० भाग तक ले । सबको मिलाकर १५ से ३० मिनट तक उबालकर ढक देवे । शीतल होनेपर (२ घण्टे बाद) छान लेवे । जल कम हो गया हो उतना मिला लेवे ।

(१४) आंतोंमें क्षयकीटाणु होनेपर:—

क्रियोसोट Creosote १५ ६० बूँद

जेतुनका तैल Oil Olive ५ ड्राम

अण्डेकी जर्दी Oil Vitellus १ ड्राम

बाष्प जल Aqua Distillate ६ औंस

इन सबको मिलाकर पिचकारी द्वारा गुदामें प्रवेश कराना चाहिए ।

(१५) शुद्ध फिटकरी Alum १५ ग्रेन

मैगनेशिया सल्फास Mag. Sulph १५ ग्रेन

एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट Acid Sulphuric Dil १० बूँद

एक्वा क्लोरोफार्म Aqua Chloroform ad १ औंस तक

इन सबको मिलाकर पिला देवे । इस तरह ४४ घण्टेपर आवश्यकता हो तब तक देते रहना चाहिए ।

(१६) कैल्शियम क्लोराइड (Calcium Chloride) ५-१५ ग्रेन
या कैल्शियम लेक्टेट (Calcium Lactate) १० से ३० ग्रेन
तक देनेसे रक्तस्त्राव बन्द हो जाता है; और कफप्रकोप भी शमन
हो जाता है ।

(१७) कफ प्रकोप शमनार्थ—

क्रियोसोट (Creosote) ८ ग्रेन

आइडोफार्म Idoform ८ ग्रेन

पल्विशवेन्झोइन Pulv Benzoin ८ ग्रेन

पल्विश बालसम टोलू Pulv Balsam Tolu ४० ग्रेन

इन सबको कोकम अमचूरके तैलके साथ मिलाकर ३२ गोलियां
बनावें । इनमेंसे १-१ गोली ३-३ घण्टेपर देते रहें ।

(१८) मांस वृद्धिके लिये मच्छीके तैल (Cod liver Oil) का
सेवन कराना चाहिए ।

(१९) कासमें अधिक कष्ट होता हो, तो रेस्पिरैटर इनहेलर
(Respirator Inhaler) नामक यन्त्रमें निम्न ओषधि डालकर
रोगीके मुख पर बाँध दें । फिर मुँहसे बलपूर्वक श्वास लेनेसे कफ सर-
लतापूर्वक बाहर आ जाता है ।

गोयाकोल (Guaicol) ३ भाग

क्लोरोफार्म (Chloroform) १ ”

इन दोनोंको मिलावें । फिर यन्त्रमें थोड़ी-थोड़ी रुई का फोहा रख
ऊपर इसकी कुछ बूँद डालकर प्रयोग करें । इस तरह कुछ दिनों तक
प्रयोग करते रहनेसे कफ कम हो जाता है ।

(२०) श्वासनलिकाकी विकृति शमनार्थ क्रियोसोटको जेतुन या
आदामके तैल में १/८ से १/४ तक मिलाकर थोड़े बूँद यन्त्र द्वारा बड़ी
श्वासनलिका (Trachea) में पहुँचा देनेसे अनेक बार अच्छा लाभ
पहुँचा है । सब प्रकारके प्रबल लक्षण कम हो जाते हैं; कफ और कास
दोनों कम हो जाते हैं, और रोगीको अच्छा लाभ पहुँच जाता है ।

(२१) कफ प्रकोपमें बाष्प देनेका एक प्रयोग चि० त० प्र० पृष्ठ २५५ में लिखा है । वह भी अच्छा लाभदायक है ।

(२२) स्वरयन्त्रमें विकृति होने पर—

क्रियोसोट Creosote (Beechwood)	१ ड्राम
आइल किसिया Oil Cassia	२० बूँद
आइल युकेलिप्टस Oil Eucalyptus	२० बूँद
पेरेफीन लिक्विड Paraffine Liq	ad २ औंस तक

इन सबको मिला लेवे । इसमें से अटोमिझर यन्त्र (Atomizer) से कुछ बूँद छिड़के ।

(२३) अन्नगतिरोध—डिस्फेजिया (Dysphagia) होने पर—

कोकेन हाइड्रोक्लोराइड Cocaine Hydrochloride	१० ग्रेन
एसिड बोरिक Acid Boric	१५ ग्रेन
ग्लिसरीन Glycerine	१५ बूँद
बाष्पजल Aqua Distillate	ad १ औंस

इन सबको मिला ले । फिर ब्रुश (Throat brush) से ओषधिको कण्ठमें लगावे, या फुहारे सदृश यन्त्र अटोमिझर (Atomizer) से थोड़ी बूँद छिड़कें ।

(२४) त्वचा पर मर्दनके लिये—

क्रियोसोट Creosote	७० बूँद
भेड़ीके ऊनकी चर्बी Adeps Lanae	६ ड्राम
जैतुनका तैल Oil Olive	६ ड्राम

इन सबको मिलाकर बाहर मर्दनके लिये प्रयोगमें लावें ।

सूचना—डाक्टरों प्रयोगोंमें क्रियासोटका उपयोग अधिक होता है । परन्तु बीचवुडका विशुद्ध क्रियासोट ही लाभदायक है । अशुद्ध क्रियासोट द्वारा आमाशयकी उग्रतामें वृद्धि होती है । फिर अजीर्णके सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

पथ्यापथ्य ।

पथ्य—विधवत् मद्यपान (प्राचीन विधिसे बनी हुई शराबका मर्यादामें पीना), जंगलके पशु-पक्षियोंके सूखे मांस, मूंग, सांठी चावल, गेहूँ, जौ, शालि चावल, ये सब भोजन हितकर हैं ।

दोषोंकी अधिकता है, देह बलवान है, तो मृदु वमन विरेचन द्वारा कोष्ठशुद्धि करें। फिर गेहूँ, मूंग, चना, लाल शालि चावलोंके भात, बकरेका मांस, बकरीके घी, मक्खन और दूध, मांसाहारी पशु-पक्षियोंका मांस, जंगलके पशु-पक्षियोंका मांस रस, पक्के केलेका मोचा, पक्के कटहल, पक्के आम, आंवले, खजूर, पुष्करमूल, फालसे, नारियल, सुहिजनेकी फली, परवल, तालके नये फूल, अंगूर, सौंफ, सैधानमक, वासाके पत्ते, गौ और भैंस का घी, बकरियोंके बीच रहना, सोना, बकरीके मल-मूत्रका लेप, मत्स्यण्डिका (मिश्री), शिखरणी (श्रीखण्ड), मदिरा, रसाला (शिखरणीभेद), कपूर, कस्तूरी, श्वेत चन्दन, केशर, सुगन्धित तैल आदिकी मालिश, सुगन्धित पदार्थोंका लेप, स्नान, मनोहर वस्त्र आदिका धारण, अवगाहन (टबमें जल भरवा कर बैठना), ऊँची अट्टालिकाओंमें निवास, सुवासिक पुष्पमाला धारण, आनन्ददायक वार्त्तालाप, सुगन्धयुक्त मन्द वायुका सेवन, गीत श्रवण, नृत्य कराना, चन्द्रकी निर्मल चांदनी में बैठना, रमणीय दृश्य देखना और मोती मणियोंवाले आभूषणोंका धारण, होम, दान तथा देव, ब्राह्मण, वैद्य और पूज्योंकी सेवा आदि पथ्य हैं ।

इनके अतिरिक्त दूधमेंसे निकाला हुआ घी, ब्रह्मचर्यका आग्रह पूर्वक पालन, शराबमें प्रसन्ना, वारुणी, शीघ्र, वारुणी मण्ड आदि, आसव, अरिष्ट, शहद, अण्डे, चाङ्गेरी, अनारदाना, सोंठ, अदरक, पीपल, लौंग, कालीमिर्च, दालचीनी, इलाइची,

जौ, मूंगका चूष, कुलथीका चूष, धनिया, जीरा आदि पथ्य माने गये हैं ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने लहशुनको पथ्य माना है । इतना ही नहीं, बल्कि राजयक्ष्मा रोगको उत्तम औषधि रूप भी कहा है । आधुनिक विद्वानोंका भी वही मत है ।

परवल, बैंगन, गूलर, बथुआ, सुहिजनेकी फली, पुराना कुष्माण्ड, सैधानमक, अनारकी चटनी, साबूदाना, आरारोट, बार्लि, शरीरको कपड़ेसे सदा ढका रखना, औटाकर शीतल किया हुआ जल, समुद्रतट और पहाड़ पर रहना, गुगलका धूप, लोहवानकी धूप, देवदारु, सरल या बांसके जगलमें निवास, पक्के मीठे आम, अगूर, मीठे अनार, खजूर, छुहारे, फालसे, नारियल और बृंहण—मांसवर्धक भोजन इत्यादि पथ्य है । बकरीका दूध पचन हो उतने परिमाणमें दें । किसीको दूध पचन न होता हो, तो चूनेका नितरा हुआ जल या सोडा बाई कार्ब मिलाकर देनेसे पचन हो जाता है । इस तरह समान जल तथा थोड़ा नागरमोथा और सोठका चूर्ण मिला दुग्धावशेष क्वाथ कर देने से भी दूधका पचन हो जाता है ।

रोगीको मांसरस या मांस मिलाकर सिद्ध किया हुआ भोजन या छागलाघ घृतका सेवन कराना अति हितकारक है ।

मांसाहारी रोगियोंको कौआ, उल्लू, भेड़िया (Wolf), चीता, साँप, नौला, गीध, नीलकण्ठ आदि मांसभक्षी पशु-पक्षियोंका मांस खिलाना चाहिए । ऐसे रोगियोंको मयूरका मांस कह कर गीध और नीलकण्ठ आदिका मांस दें । तीतरके मांसके बहानेसे कौएका मांस, मछलीका कह कर साँपका मांस, घीमे भूनी हुई मछलीकी आँतोंके व्याजसे भूने हुए केचवे, खरगोशके नामसे लोमड़ी, नौला, बिल्ली, गीदड़के बच्चे आदिका मांस, हिरनके

बहाने सिंह, व्याघ्र, तरु (जरख) आदिका मांस तथा भैंसके व्याजसे हाथी, गैंडा, घोड़ा, ऊँट, आदिका मांस खिलाते रहें ।

यद्यपि घास खाने वाले पशुओंका मांस भी हितकर ही है ; तथापि मांस-भक्षी पशु-पक्षियोंका मांस मांस बढ़ानेमें अति विशेष है ।

इस हेतुसे महर्षि आत्रेय कहते हैं कि:—

मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् ।

अर्थात् मांसहारियोंका मांस मांस बढ़ानेमें सर्वोत्तम है ।

इस तरह मृग आदि पशु-पक्षियोंके मांस भी तीक्ष्ण, उष्ण और लघु होनेसे प्रशस्त हैं । मांस-भक्षी प्राणियों की अपेक्षा हिरन, खरगोश आदिका मांस लघु होता है । अतः प्रकृति-रोगबल, आयु, रोगीका आहार, ऋतु, सात्म्य, आदिका विचार करके अधिक हितकर मांसको प्रयोगमें लाना चाहिए ।

अनेक निन्दित मांसाहारी प्राणियोंका मांस खानेका रिवाज नहीं है । इसलिए नाम बदल कर देनेकी आचार्योंने आज्ञा की है । नाम बदल कर बेते हैं, तो सुखपूर्वक सेवन हो सकेगा । यदि सत्य कह दिया जायगा, तो घृणा आजानेसे उबाक आने लगेगी और वमन होकर मांस निकल जायगा । यदि केवल बेचैनी रहे, तो भी ऐसा आहार, बल और ओजकी वृद्धि नहीं कर सकता ।

मयूर, तीतर, मुर्गे, हंस, सूअर, ऊँट, गधा, गौ, भैंस आदिके मांस भी मांसवृद्धिके लिए उत्तम हैं ।

वातज शोषमें प्रसह जातिके पशु-पक्षी, भूशय जातिके पशु-अनूप देशके जलचर और स्थलचर जीवोंका मांस भोजनके लिए देना चाहिए । तथा कफपित्त प्रधान शोष रोगीको प्रतुद (गीध, बाज आदि पक्षी), विष्कर (तीतर, लावा, मुर्गा,

चिड़िया आदि पक्षी) और धन्वजों (निर्जल देशमें रहने वाले पशु-पक्षी) का मांस विधिवत् पकाकर देना चाहिए ।

मासके लिये प्राणियोंकी ८ जाति की हैं—(१) प्रसह (हमला कर दूसरे जीवोंको मारकर मास खानेवाले पशु-पक्षी), (२) भूशय (जलमें रहने वाले), (३) आनूर (अनूप देशवासी), (४) जलजा (जलमें निवास करने वाले), (५) जलचर (जलमें विचरने वाले), (६) स्थलजा (जगलमें रहने वाले मृग आदि), (७) विष्कर, (पैर और चंचूसे कुरेदनेवाले) और (८) प्रतुद (पजे और चोंचसे बार बार चोट लगाकर चुगने वाले) ।

इन सबके गुण पृथक्-पृथक् होनेसे जीवोंके नाम और गुणका सङ्गममें चरक सहित और सुश्रुत सहिताके आधारसे वर्णन करने हैं ।

इनमेंसे सामान्यरूपसे प्रसह, भूशय, आनूर, वारिजा, और वारि चारिण जीवोंका मास, गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, बलमासवर्धक, शुक्र-प्रद, वातहर और कफपित्तवर्धक हैं । ये मास नित्य व्यायाम करने वाले और दीप्ताग्निवालोंके लिये हितकर हैं ।

इनमें मास खानेवाले प्रसह जातिके जीवोंका मास, जीर्ण अर्श, ग्रहणी दोष और शोप रोगीको देना चाहिए ।

लावा आदि विष्कर वर्ग, प्रतुद वर्ग और मृग आदि जागल पशुओं का मास लघु शीतल, मधुर, कसैला और मनुष्योंके लिये हितकर है । पित्तकी अति वृद्धि, वातमध्य तथा कफकी हीनता होनेपर ये हितकर है । मलको भी बाधता है ।

बकरेका मास, किञ्चित् शीतल, गुरु, स्निग्ध, अल्प दोष वाला है । मनुष्य और बकरेके देहकी धातु समान होनेसे अभिध्यंशी नहीं है; और मासवर्धक है ।

प्रसह—गौ, गधा, घोड़ा, खच्चर, ऊट, चीता, सिंह, भालू, बन्दर, भेड़िया, बाघ, तरसु (जरख), वभ्रू (बहुत बाल वाले एक प्रकारके पर्वतके कुत्ते), बिल्ली, चूहा, लोमड़ी, गीदड़, श्येन (सकरा)

पक्षी, कुत्ता, चाष, कौआ, बाज, मधुहा (पक्षी भेद), सफेद चील, नीलकण्ठ, गीध, उल्लू, कुलिङ्ग (काली चिड़िया), धूमीका (चिड़िया) और कुरर (मछली खानेवाला पक्षी), ये सब पशु-पक्षी प्रसह जातिके कहलाते हैं ।

इस प्रसह जातिके जीवोंमेंसे सिंह आदि पशुओंको सुश्रुत संहितामें गुहाशय कहा है; तथा इनके मांसके गुण मधुर, गुरु, स्निग्ध, बल्य, वातनाशक और उष्णवीर्य हैं । इनके मांस नेत्र और गुह्य रोगोंमें सर्वदा हितकर हैं । प्रसह पक्षियोंके मांसके गुण, रस, वीर्य, विपाकमें सिंह आदि पशुओंके समान हैं । ये सब शोष रोगीको हितकर हैं ।

भूमिशय—सफेद, श्याम काला और चितकबरा जल सर्प, कूर्चीका, चिल्लट (चील पक्षी), मेंढक, गोह, शल्लक (सेह), गण्डक (गोह का भेद), कदली (बाघ जैसा पशु या अजगर), नौला और दूसरी प्रकारके सेह, ये सब भूमिशय कहलाते हैं ।

इन भूमिशय जातिके जीवोंके मांसके गुणके विषयमें सुश्रुत संहितामें कहा है कि, इनके मांसमें मल-मूत्रका संग्रह करना, उष्ण-वीर्य, मधुर विपाकी, वातहर, श्लेष्म और पित्त धातुको बढ़ाना, स्निग्ध तथा कास, श्वास और कृशताको दूर करना आदि गुण रहे हैं ।

खरगोश कसैला, मधुर, पित्तकफशामक, तथा वीर्यमें अति शीतल न होनेसे वायुको सामान्य लाभ पहुँचाने वाला है ।

गोह का मांस विपाकमें मधुर, रसमें कसैला और चरपरा, कफ-पित्तशामक, मांसवर्द्धक और बलवर्द्धक है ।

शल्यक (नौला) मधुर, पित्तनाशक, लघु, शीतल और विष-नाशक है ।

प्रियक (चित्र मृग) वायु रोगमें पथ्य है ।

अजगर बवासीरमें हितकर है ।

सर्पका मांस अर्श और वात रोगका नाशक है; कृमि और दूषि विषको नष्ट करता है; चक्षुके लिये हितकर, विपाकमें मधुर तथा बुद्धि

और अग्निको बढ़ाने वाला है । इनमें दार्वाकर—चौड़ी फन वाला साग और दीपक साग विपाकमें चरपरे, नेत्रके लिये हितकर तथा मल मूत्र और वायुको निकालने वाले हैं ।

वारिशया—कछुआ, ककोडा, मछली, शिशुमार (नाकु), तिमि-झिल (हेल मछली), छीप, शख, जलबिल्ली (ऊदबिलाव), कुम्भीर (घडियाल), चुलुकी (शिशुमार भेद) और बड़े मगरमच्छ आदि वारिशया कहलाते हैं ।

वारिचारिणा—हंस, कौच (कु जपत्नी), बलाका (समूह रूपसे उड़ने वाले बगुले), बगुल, कारण्डव (सफेद हंसभेद), प्लव, शरारी (आटी), पुष्कराह, केशरी, मानतुण्डक, मृणालकण्ठ (कमल की नाल सदृश कण्ठ वाला), मद्गु (जल कोआ), कादम्ब (कलहंस), काकतुण्डक (सफेद कारण्डव), उत्क्रोश (कुररीपत्नी भेद), पुण्डरी काक्ष (पुण्डर), मेघराव (पपीया-चातक), अम्बु कुकुटी (जलमुर्गा), आरा, नन्दीमुखा, बाटी, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, काशकानी, सारस, रक्तशीर्षक (सारसभेद), चक्रवाक (चकवा) और जलमें विचरने वाले अन्य पक्षी वारिचारण कहलाते हैं ।

वारिचर प्राणि, शख आदि और कछुए आदि रस और विपाक में मधुर, वातनाशक, शीतल, स्निग्ध, पित्त धातुको हितकर (पित्तको शान्त बनाने वाला), मलको बाधने वाला और श्लेष्म धातुको शुद्ध करने वाला है ।

काला ककोडा बलवर्धक, कुछ उष्ण, वातनाशक, सधि स्थानों को जोड़ने वाला, मल मूत्र निकालने वाला तथा वातपित्तनाशक है ।

नदीके मत्स्य मधुर, गुरु, वातहर, रक्तपित्तवर्धक, उष्ण, वृष्य, स्निग्ध, और मलको कम करने वाले हैं । तालावके मत्स्य स्निग्ध और स्वादु होते हैं । समुद्रमें रहने वाले मत्स्य भारी, स्निग्ध, मधुर, अति पित्तवर्धक नहीं, उष्ण, वातहर, वीर्यवर्धक, मल और श्लेष्मधातु को बढ़ाने वाले हैं । समुद्रके मत्स्य मासभोजी होनेसे विशेषतः बलवर्धक होते हैं ।

विष्कर—काली तीतर, बटेर, वार्त्तिक (बगुला या कपिञ्जल भेद), गोरा तीतर, चकोर, उपचक्र (काली नोक वाला चकोर), लाल वर्णका कुक्कुभ, ये सब विष्कर कहलाते हैं । एवं वर्त्तिक (वत्तक), वर्त्तिका (छोटी जातिकी बतक), मयूर, तीतर, मुर्गा, कंकु, सारपद, इन्द्राभ, मल्ल कङ्क, गोनदों (घोड़ा कङ्क), गिरी वर्त्तक, क्रकर (क्रया पक्षी), अक्कर, वारट (हंस) आदि भी विष्कर कहलाते हैं ।

ये दो प्रकारके विष्कर कहे हैं । इनके गुणमें कुछ अन्तर होनेसे दो समूह अलग-अलग कहे हैं ।

भगवान् धन्वन्तरिजीने इस विष्कर जातिवाले पक्षियोंके भांसका गुण हलका, शीतल, मधुर, कसैला और दोषशामक कहा है ।

लावा संग्राही, दीपन, कसैला, मधुर, लघु, विपाकमें चरपरा और त्रिदोष नाशक है ।

तीतर कुछ भारी, उष्ण, मधुर, वृष्य (वीर्यवर्धक), बुद्धि और जठराग्निको बढ़ाने वाला, सर्वदोष नाशक, ग्राही और वर्णको प्रसन्न करने वाला है । गौर तीतर विशेषतः हिक्का, श्वास और वातको हरण करने वाला है ।

कपिञ्जल रक्तपित्तनाशक, शीतल, और लघु है तथा कफ प्रधान रोग और मन्द वातमें अति हितकर है ।

क्रकर और उपचक्र, वातपित्तनाशक, वीर्य, बुद्धि, अग्नि और बल को बढ़ाने वाले, लघु और हृदयपौष्टिक हैं ।

मयूर कसैला, मधुर, नमकीन, त्वचा और बालोंको हितकर तथा रुचिप्रद है । स्वर, मेघा, जठराग्नि, आयु, नेत्र-शक्ति, कर्ण-शक्ति आदिको बढ़ाता है ।

जंगली मुर्गा, स्निग्ध, उष्ण, वातहर, वृष्य, और मांसवर्धक है । गांवके मुर्गोंमें वे ही गुण हैं; किन्तु कुछ भारी है । संग्रहणी बालोंको अति हानिकर है; तथा वातरोग, क्षय, वमन और विषम ज्वरको नाश करता है ।

प्रतुद—शतपत्र (राजशूक-कठफोड़ा), भृङ्गराज (काले रंगका पक्षी-पक्षिराज), कोयष्टि (कोपग-बड़ी जाध वाला पक्षी), जीव जीवक (विष देखनेसे जिसकी मृत्यु हो जाती है । भूतकालमें राजा लोग इस पक्षीको भोजन दिखाकर फिर भोजन करते थे), कैरात (कोकिल भेद), कोक्लि (कोयल), अत्यूह (डाहुक), गोयापुत्र, प्रियात्मज, लट्वा (बुलबुल-फेचाक), लट्पको (लट्वाका ही भेद है), वभ्रु (पिङ्गाल-चर्णका पक्षी), वट्टहा (बडहा), हिडिमानक (जो बहुत जोरसे चोलता है), जटी (जटायु), दुन्दुभि वाक्कार, लोहपृष्ठ (कुलिङ्ग भेद), कुलिङ्ग (वनका चिड़ा-बया), कपोत (जगली कबूतर), शुक (तोता), शारंग (चातक), चिरिटी (चिट्ठाई पक्षी), ककु (काउन-पक्षी), यष्टिक (या इटरक्षी), सारिका (मैना), कलविङ्ग (लाल शिर वाली चिड़िया), जगली चिड़िया, अङ्गारचूड़क (बुलबुल), पारावत (परेवा) और पानविक (कबूतर भेद), ये सब प्रतुद पक्षी कहलाते हैं ।

सुश्रुत संहितामें इन प्रतुद पक्षियोंके मांसको कसैला, मधुर, रुक्ष, चातुल, पित्तश्लेष्महर, शीतल, मूत्रको बद्ध करनेवाला और मलकी उत्पत्तिको कम करने वाला लिखा है ।

जगली कबूतर, कसैला, स्वादु नमकीन और भारी है । पारावत रक्तपित्तशामक, कसैला और विशद है; तथा बिगाकमें मधुर और भारी है ।

कुलिङ्ग मधुर, स्निग्ध, कफ धातु और शुकको बढ़ानेवाला तथा रक्तपित्त नाशक है ।

घरमें रहनेवाला चिड़ा अति वीर्यवर्धक है ।

व्यवाय शोषीको कौआ, उल्लू, नौला, बिलाव, गण्डूपदा (कैचवे), व्याल (चीता आदि) विलेशय जीव, चूहे और गीध आदिके मांसको सरस्रोके तैलमें भून सैधानमक मिलाकर देना चाहिये । इस तरह जांगल पशुओंका मांस तथा मूंग और

अरहरकी दालके यूषको स्वादिष्ट बनाकर देना चाहिये । एवं गधे, ऊंट, हाथी, खच्चर और घोड़ा आदिका मांस भी सुन्दर कल्पना कर (नाम बदलकर) देना चाहिये ।

मांस सेवन करने वालोंको साथ-साथ शराब देते रहना चाहिये । शराबसे नाड़ियोंका शोधन सत्वर होता है; जिससे धातु पुष्ट होकर शोष रोग सत्वर शमन होता है ।

कितनेक आचार्योंके मतमें मांस सेवन करने वाली स्त्रियोंके लिये मांस खाने वाले पशुओंका मांसरस और पुरुषोंके लिये पक्षियोंका मांसरस विशेष उपकारक माना गया है । किन्तु हिरन और बकरेके मांसको पीस चूर्णकर बकरीके दूधके साथ देना यह स्त्री-पुरुष, दोनोंके क्षय व्याधिका निवारण करने वाला है ।

गदहीका दूध मिश्री मिलाकर पिलानेसे निर्बलता सत्वर दूर हो जाती है; और कफ घट जाता है ।

यदि प्रस्वेद अधिक आता हो, तो दूधमें अण्डेका रस मिला कर सेवन कराना अति लाभदायक है ।

रक्तनिष्ठीवन होनेपर बर्फ चूसनेको दिया जाता है ।

रोगीको ताप ६६ डिग्रीसे अधिक रहता हो, तो ऊनी वस्त्र पहनाना चाहिये, और रोज सुबह बदलकर धो लेना चाहिये । फिर वस्त्रोंको धूपमें ही सुखाना चाहिये ।

बिछौनेकी गादीको रोज दोपहरके समय १-२ घण्टे तक तेज धूपमें डालें; और ऊपरकी चद्दरको रोज बदल दें ।

कोई भी वस्तु खिलाने के पहले हाथोंको जन्तुघ्न लोशनी, राख, या इतर कीटाणुनाशक ओषधिसे जरूर धुलवा लेना चाहिये ।

यदि रोगीको प्रतिश्याय हो, तो लावा, तीतर, मुर्गा और बटेर, इनमेंसे एकके मांसरसके साथ लवण, अम्ल, कटु (चरपरे) रसयुक्त, उष्ण, तथा घी आदि स्नेह युक्त भोजन दें ।

षडंग यूष—पीपल, जौ, कुलथी, सोठ, अनारदाने और आंवला, इन ६ पदार्थों को यूष स्वादिष्ट बने उतने परिमाणमें लेवें । अन्नकी अपेक्षा द्विगुण बकरेका मांस लेवें । फिर ८ गुने जलमें यथाविधि यूष तैयार कर घीसे छोककर राजयक्ष्मा रोगीको पिलानेसे प्रतिश्याय, श्वास, कास, शिरदर्द, स्वरक्षय और पार्श्वशूल, ये ६ विकार नष्ट होते हैं, तथा रुचिकी उत्पत्ति होती है ।

जौ ४ तोले, कुलथी ४ तोले, मांस १६ तोले और जल १६२ तोले मिलाकर पाक करें । फिर ४ तोले घीमें छौकें, तथा पीपल, सोठ, अनारदाने, आंवला और सैंधानमक आदि मसाले रुचि अनुसार मिला लेवे । यूष बनाने की विधि चि० त० प्र० प्रथम-खण्ड पृष्ठ ५६६ में लिखी है ।

क्षय रोगीके लिये मांसरसके सदृश अंडे भी उपकारी हैं । अण्डे की जर्दी, कच्ची ही खाना विशेष लाभदायक है ; १ अण्डे की जर्दीको निवाये दूधमें मिश्रित करदी जाय, तो वह अधिक सुपाच्य और पौष्टिक मानी जाती है । इस तरह न ले सके, तो अण्डे को थोड़ा उबाल फिर नमक या मीठा मिलाकर लेवें ; अथवा मक्खन, मलाई या बिस्कुट आदिके साथ लेवें । इस रोग में एक बार पूर्ण भोजन कर लेनेकी अपेक्षा थोड़ा-थोड़ा भोजन दिनोंमें ३-४ समय करना अधिक उपकारक है ।

अरुचि हो तो अदरखके टुकड़े पर नीबूका रस डाल सैंधानमक मिलाकर भोजनके साथ देवें, परन्तु दूधके साथ नीबूका रस नहीं देना चाहिये ।

रोगियोंको रोटी देनी हो, तो मोटे बिनाछाने आटेकी देनी चाहिये । बारीक आटे या मेदेकी रोटी देनेसे आँतोमें दूषित मल संग्रह होने लगता है । रोटीके लिये नये गेहूँकी अपेक्षा पुराना गेहूँ विशेष हितकर होता है ।

भोजन कर लेने पर १०-२० मिनट बैठकर बाँयी करवट लेट जाना चाहिये । फिर इच्छा होने पर करवट बदल दें । भोजनके पश्चात् १ घण्टा या अधिक लेटे रहना हितकर माना जाता है ।

भोजनमें दूध लिया हो, तो मुसंबी, अनार, आदि फल ३ घण्टे के पहले न लें । मुसम्बी आदि फल लिया हो, तो ३ घण्टे तक दूध नहीं लेना चाहिये ।

दूध और फल, दोनों परस्पर विरोधी हैं । इस तरह दूधके और भी शत्रु हैं । इन सब विरोधियों और दूधके मित्रोंका वर्णन चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ३३० हिताहितीय विचारणाके अन्तर्गत किया है ।

क्षय रोगीके लिये पूर्ण विश्रान्ति और अच्छी निद्राकी पूर्ण आवश्यकता है । निद्राके लिये 'अर्धरोगहरि निद्रा' यह परम्परागत आया हुआ वचन पूर्ण सत्य है । निद्रा आने पर भयंकर से भयंकर वेदना भी शमन हो जाती है; शरीर हल्का हो जाता है; और मन प्रफुल्लित बन जाता है ।

क्षय रोगीके शुकका भली प्रकारसे संरक्षण करना चाहिये । स्त्री समागमसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये । ऐसा विचार भी न लावें कि, स्वप्नदोष होता रहे । स्वप्नमें वीर्यपात होते रहनेसे भी निर्बलता बढ़ती जाती है । स्वप्नदोष होता हो, तो उसे सत्वर बन्द करनेका प्रयत्न करें । खट्टे, चरपरे पदार्थ और अधिक मधुर पदार्थ भी न खायें ।

रोगीको भोजन कब करना चाहिये, यह नियम ऋतु, स्वभाव और स्थान पर निर्भर है । सामान्य रूपसे जो रोगी प्रातःकाल जल्दी उठ सके, उनको भोजन जल्दी कराना हितकर है । उठनेके २-३ घण्टे बाद थोड़ा दूध, फिर ३ घण्टे बाद थोड़ा भोजन, दोपहरको ताजा फल या फलका रस, सायंकालके पहले या रात्रि को जल्दी भोजन, शयनके आध घण्टे पहले थोड़ा दूध इस तरह

दे सकते हैं । इनमेंसे प्रकृति या आर्थिक स्थितिके भेदसे उचित अन्तर हो सकता है ।

डॉक्टरीमें गेडसमोहु^१ (Gadus Morrhu) नामक मच्छी का तैल (Cod Liver Oil) को अति हितकर भोजन और ओषधिरूप माना है । इस तैलसे यद्यपि क्षयके कीटाणु नष्ट नहीं होते; तथापि यह मांसवर्धक और बलवर्धक माना जाता है । जो रोगी इस तैलको दूधमें मिलाकर ले सके, उनको भोजन कर लेने पर तुरन्त दे दें । मात्रा १से ४ ड्राम तक है । जो रोगी इस तरह न ले सके, उनको इमलशनके रूपमें देना चाहिये । अथवा इसकी गोलियाँ (ओस्टेलिन पिल्स आदि) देनी चाहिये ।

मांस सेवन न करने वालोंके लिये मूली या कुलथी आदिके यूषको घीका छोक देकर जौ, गेहूँ या शालि चावलोके साथ देते रहना चाहिये ।

पीनेका जल—(१) वारुणी (शराब) का ऊपरसे नितरा हुआ अंश देवे ।

वारुणी जल ज्वर, थकान, निद्रानाश और कीटाणुओंको दूर करता है, किन्तु रक्तपित्त, रक्तस्त्राव, विषमिश्रित ओषधि सेवन, विषप्रकोप आदिमेंसे कोई हेतु है, तो नहीं देना चाहिये ।

(२) लघुपञ्चमूलको जलमें मिला उबाल शीतल कर देते रहे ।

वातपित्तकी प्रधानता है, तो लघुपञ्चमूलका जल हितकर है ।

(३) सोठ और धनियाँ मिला जलको उबालकर दें । कफ अधिक है; और अतिसार होगया है, तो सोंठ वाला जल उपकारक है ।

(४) भूमिआंवले मिला, जलको सिद्ध करके देते रहे । भूमि आंवलेका जल रक्तस्त्राव, पित्त, तृषा, मूत्राघात आदिमें हितकर है ।

(५) शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, इन ४ पर्णियोंको जलमें मिला पका छानकर देते रहें । पर्णचितुष्टय युक्त जल रक्तस्राव और वातप्रकोपको दूर करता है ।

भोजन बनानेके लिये इन सिद्ध जलोंमेंसे जो अधिक अनुकूल हो उसे प्रयोगमें लाना चाहिये । जलपान सम्बन्धी नियम चि० त० प्र० प्रथम खण्ड पृष्ठ ३५८ और ५८६ में देखें ।

भोजन कर लेनेपर या भोजनके साथ दशमूलाद्य घृत या इतर सिद्ध घृत देनेसे शिरःशूल, पार्श्वशूल, अर्शशूल, कास तथा श्वास, ये सब नष्ट होते हैं ।

कफ अत्यधिक हो, तो जौ, गेहूँ, माध्वीक (शराब), शीधु (शराब), अरिष्ट, सुरा, (शराब), आसव और जंगलके पशु-पक्षियोंके मांस आदिका भोजन देना चाहिये । भोजन स्नेह (घी) मिला हुआ निवाया-निवाया देवे ।

अतिसार हो, तो चांगेरी, मट्ठा और अनारदाने मिली हुई चाबलोंकी यवागू तैयार कर पिलानी चाहिये । यवागू-विधि चि० त० प्र० प्रथमखण्ड पृष्ठ ५६४ में देखें ।

मुँह और दाँतोंको खूब साफ रखना चाहिये ।

योगरत्नाकरके राजयक्ष्माके पद्यके अन्तमें लिखा है किः—

ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ।

सत्येनाऽचारयोगेन रविमण्डलसेवया ॥

वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते ॥

ब्रह्मचर्य, दान देना, तप (मन और इन्द्रियोंका संयम), देवपूजा, सत्य पालन, सदाचार, रविमण्डल सेवा (सूर्य पूजा—सूर्यस्नान) और वैद्य-ब्राह्मणोंकी पूजा आदिका श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रकारसे पालन करने पर इस रोगराट्की निवृत्ति होती है ।

ब्रह्मचर्यके पालनमें न्यूनता रहेगी, तो पथ्य, चिकित्सा, सेना आदि सब निष्फल हो जाते हैं ।

सूर्यस्नानके जो अधिकारी हैं, उनको सूर्य भगवान् निःसन्देह प्राणदान देते हैं ।

अवगाहन विधि—राजयक्ष्मा रोगीको पहले लाक्षादि या चन्दनादि तैल या इतर तैलकी भली भांति मालिश कर स्नेह (तैल आदि), दूध और जल, तीनोंको मिलाकर कढ़ाई या टब (Tub) में बैठाकर स्रोतोके प्रतिबधकी निवृत्ति अर्थ तथा बलपुष्टि अर्थ अवगाहन कराना चाहिये ।

फिर रोगीको सुखसे बैठाकर हलके हाथोंसे घी या तैलका मर्दन करे । पश्चात् उत्सादन (उबटन) लगावे ।

यह विधि उबर न हो, ऐसी अवस्थामें (केवल प्रथमावस्थामें) करनी चाहिये । अवगाहनार्थ रोगीको प्रातःकाल भोजनके १ घण्टे पहले निर्वार्त स्थानमें १० से ३० मिनट तक बैठाना चाहिये । तैल बहुत थोड़ा (२-४ तोले) डालें । दूध जलकी अपेक्षा १६ वॉ या ८ वॉ हिस्सा लेंवें । जल को गरम कर मिलावे । सबको मिलाने पर निवाया हो जाना चाहिये । प्रकृति भेदसे तैल, दूध जलके परिमाणमें उचित अन्तर हो सकता है । रोगीके कण्ठ तक जल रहना चाहिये ।

खुली तेज वायु न लगे, इस बातका खयाल रखना चाहिये । आकाश स्वच्छ हो, ऐसे दिनोंमें यह क्रिया होती है । यह क्रिया कुछ दिनों तक रोज करा सकते हैं ।

उत्सादन—जीवन्ती, शतवीर्या (दूब), विकसा (मजीठ), पुनर्त्तवा, असगन्ध, अपामार्ग, तरकारी (विनया अथवा अरनी) मुलहठी, खरैटी, विदारीकंद, सरसों, कूठ, चावल, अलसी, उड़द, तिल, किएब (महुएके फल या शराब की गाढ़), इन सबको मिलाकर चूर्ण करें । चूर्णसे तीन गुना जौका आटा मिलावें । फिर

दही और थोड़ा शहद मिलाकर उबटन लगावें । इस उबटनसे पुष्टि, वर्ण और बल की प्राप्ति होती है ।

स्नान—उबटन लगानेके पश्चात् शीत और वर्षा ऋतुमें जीवनीय गणकी ओषधियोंको मिला जल उबाल कर स्नान करावें । जल निवाया रखें । उष्णकालमें सुगन्धित पदार्थ मिलाकर स्नान कराना चाहिये ।

अपथ्य—विरेचन, मत-मूत्र-अधोवायु आदि वेगोंका रोकना परिश्रम, स्त्री-समागम, स्वेदन, अंजन, रात्रिमें जागरण, साहस-कर्म, रुक्त अन्नपान, विषम भोजन, ताम्बूत, तरबूत, कुलथी, उड़द, बांसके अंकुरोंका शाक, हींग, खट्टे, कड़वे और कसैले पदार्थ, चरपरे पदार्थ, सम्पूर्ण पत्रशाक (पालक, मेथी, चंदलोई आदि) क्षार पदार्थ विरुद्ध भोजन, सेमकी फली, ककोड़ा—समस्त विंशही भोजन, करेला और बैंगन आदि अपथ्य हैं ।

अपथ्यके अंतमें भैषज्यरत्नावलीकार लिखते हैं कि:—

“वृन्ताकं कारवेल्लं च तैलं चित्त्वं च राजिकाम् ।

व्यायामं च दिवानिद्रां क्षयी कोपं विवर्जयेत् ॥”

क्षय रोगीको चाहिये कि, बैंगन, करेला, तैल, पक्के बेल, राई (सरसों), व्यायाम, दिनमें निद्रा लेना, तथा क्रोध इन सबको त्याग देवें । भोजनके पश्चात् थोड़ा आराम करनेमें बाधा नहीं है ।

इनके अतिरिक्त ओसमें बैठना, चिल्ला-चिल्ला कर बोलना, घूमना, घोड़े आदि पर सवारी करना, धूम्र पान (सिगरेट, बीड़ी गांजा आदि), अधिक नमक, लालमिर्च, मूजी, आलू, कंदूरी, रक्तनिष्ठीवन हो जानेके बाद सोंठ, पुनर्नवा, ज्वर रहता हो तो नदीका ताजा जल, ज्वरकालमें स्नान, तेज शीतल वायुका सेवन, तेज धूपका सेवन, अग्निसेवन, संगीत गाना, बाजरी, ज्वार,

रायता, अचार, सिरका, चिन्ता, शोक, ईर्ष्या, और कच्चा दूध इत्यादि हानिकर है ।

कुलथीका विपाक अम्ल होनेसे अम्लपित्त या पित्तकी विकृति होने पर अपथ्य मानी जाती है । इस तरह अम्लपित्त वालो को चावल भी बाधा पहुँचाता है ।

कदाच लहशुन कटु विपाकी होनेसे भैषज्यरत्नावलीवात्ने अपथ्य माना है । परन्तु भगवान् धन्वन्तरिजी और आधुनिक विद्वानोंने अति हितकर माना है । यदि किसी रोगीके लिये लहशुन चरपरे विपाक वाला और कामोत्तेजक होनेसे हानिकर होता हो, तो वे सेवन न करे । परन्तु जिन-जिन को पथ्य रहता हो, उनको सेवन कराना चाहिये ।

इस त्रिपयमे भगवान् धन्वन्तरिजीका मन चिकित्साके प्रारंभ में विस्तारपूर्वक दिया गया है । दिनमें निद्रा लेनेका निषेध किया है, फिर भी जिन रोगियों को रात्रिमें पूरी निद्रा न मिली हो, व्यायामशोषी या अध्वशोषी हो, अथवा रोगी बालक या वयोवृद्ध हो या वातवहा नाड़ियोंमें शिथिलता आई हो, ऐसे रोगियोंके लिये दिनमें निद्रा लेना हितकर है । यदि दिनमें निद्रा लेनेसे रात्रिको निद्रा कम आती हो, तो ऐसी परिस्थितिमें दिनमें लेटे लेटे वार्त्तालाप करते रहना हितकर माना जाता है । दिनमें निद्रा लेनेसे कफवृद्धि होती है ।

क्षय रोग को सामान्य कासरोग मानकर लंघन नहीं कराना चाहिये, या शुष्क भोजन नहीं देना चाहिये । एवं कफ या श्वास रोग मानकर कफस्राव कराने वाली धतूरा आदि ओषधियोंका धूम्रपान नहीं कराना चाहिये ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५	१	नल को	मल को
४२	२०-२१	लगा दें	उसे चिपका दें
४६	१०	देवदासी	देवदाली
५८	७	मिश्री	मिश्री
६६	१६	कंसरी	दूसरी
८०	१६	दशा के	दसों
८१	११	आमाशय शूलकी उत्पत्ति में अनेक	अनेक
८४	२०	रक्तज्ञाव के	रसज्ञाव के
८१	२७	इन तन्तुओं ने	ये
८२	१	भी	भी रहे हैं । इस पेशीके
८८	४	गोस्ट्रिक	गेस्ट्रिक
९८	२३	रक्तप्रवाह होने	रक्तप्रवाह के रुकने
१०३	१६	व्रण के	व्रणके स्थान सेदुके
१०३	३	वमन	वमनके भीतर
१०३	१२	प्रतिशत	प्रति शतको
१०६	३	पर आक्रमण	पुरुषों पर आक्रमण
१२५	१	मिला	मिला क्वाथ कर
१४०	२	बंध	बंध
११	३	बंध	बंध
११	४	बंध	बंध
११	१६	इन्द्रिय बंध	इन्द्रिय बंध
१५६	२६	डिस्पेसिया	डिस्पेसिया

४७	६	Tyachea	Trachea
४७	६	Gral	Oral
४७	७	Pharyno	Pharynx
६४	४	harta	parts
७२	२४	Seybalous	Scybalous
८४	५	Crifice	Orifice
८८	१४	Seybalous	Scybalous
९५	२५	Intussus Capton	Intussusception
९७	२१	Suvphrenie	Subphrenic
९८	४	Gostrie allcar	Gastric Ulcer
९८	१८	Scor	Scar
१०१	६	Crifice	Orifice
१०१	२५	diaphragmatic	diaphragmatic
१०२	२४	Hypersthesia	Hyperesthesia
१०३	२२	Halmatemesis	Haematemesis
१११	१	Cotheter	Catheter
१८१	११	Spmphysis	Symphysis
१८३	२३	Graaffia	Graaffian
४३०	८६	Degenaration	Degeneration
५६६	१६ १७	degenaration	degeneration
५६३	१४	Aaemia	Anaemia
६४२	२०	Haemeatemesis	Haematemesis
७१३	७	Laeryngoscope	Laryngoscope
७३३	६	Nerves	Nerves
७३५	१३	Crouh	Croup
७५०	१८	Cunliform	Cunifform
७६५	१८	Tulerculosis	Tuberculosis

इस ग्रन्थ के लिये प्राप्त हुई सम्मतियाँ

कविराज गयाप्रसादजी शास्त्री, साहित्याचार्य, आयुर्वेद वाचस्पति, भिषगाचार्य, भूतपूर्व प्रिंसिपल हिन्दी-विद्यापीठ प्रयाग, मेम्बर—आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड—निज़ाम गवर्नमेण्ट—हैद्राबाद ।

“चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप” द्वितीय-खण्ड मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा । चि० त० प्रदीप के प्रथमखण्ड में अत्यावश्यक, आयुर्वेदीय ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण ४८ पृष्ठों के “उपोद्घात के अतिरिक्त रोग परीक्षा प्रकरण, शरीर शुद्धि प्रकरण, चिकित्सा सहायक प्रकरण, ज्वर प्रकरण तथा पचनेन्द्रियसंस्था व्याधि प्रकरण, इन पांच प्रकरणों का विस्तृत वर्णन किया गया है ।” किन्तु उक्त खण्ड में अन्तिम प्रकरण “पचनेन्द्रिय-संस्था व्याधि प्रकरण” की समाप्ति नहीं हो सकी है । अतः “चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप” के इस द्वितीय खण्ड का आरम्भ “पचनेन्द्रियसंस्था व्याधि प्रकरण” के अवशिष्ट अंश से ही होता है ।

इधर पिछले ३ दशकों में कई एक आयुर्वेदिक प्रक्रिया ग्रन्थों का सङ्कलन हिन्दी भाषा में किया गया है । किन्तु इन ग्रन्थों में कहीं तो अनावश्यक विस्तार है और कहीं अति संक्षेप । इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के जो विद्यार्थी तथा जिज्ञासु आयुर्वेद के निदान एवं चिकित्सा प्रभृति सिद्धान्तों के साथ-साथ एलोपैथी के निदान तथा चिकित्सा आदि ज्ञातव्य विषयों का तुलनात्मक अध्ययन एक स्थान पर करना चाहते हैं, उनकी सुविधा के लिए हिन्दी भाषा में अब तक कोई भी प्रामाणिक प्रक्रिया ग्रन्थ न था । “चिकित्सा तत्त्व प्रदीप” ने इस बड़े भारी अभाव की पूर्ति की है । यह ग्रन्थ विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक अधिकार-

पूर्ण लेखनी के द्वारा लिखा गया है, अतः इसकी लेखन शैली में अपेक्षाकृत मौलिकता, विशेषता तथा आत्मनिर्भरता की छाप है। इसमें भिन्न-भिन्न रोगोंके वर्गीकरण तथा निदान एवं चिकित्सा आदि के वर्णन क्रम में यद्यपि आयुर्वेद के पूर्ववर्ती आचार्यों तथा आधुनिक एलोपैथी के ग्रन्थ लेखकों—दोनोंमें से किसीके भी क्रमका सर्वाङ्गीण अनुकरण नहीं किया गया है, फिर भी यह अनुभव करके अत्यन्त हर्ष होता है कि, लेखक महोदय ने श्रद्धापूर्वक आयुर्वेद के पूर्वाचार्यों के वर्णनक्रम तथा परम्परा की रक्षा करने में पूरा प्रयत्न किया है और उस प्रयत्न में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

“चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप” में आयुर्वेद के विद्वानों, विद्यार्थियों तथा प्रेमियों सभी के लिये ज्ञानवर्धन की पर्याप्त सामग्री है। चिकित्सा सम्बन्धी कोई भी विषय नहीं है, जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में न पाया जाता हो, अतः “यथा नाम तथा गुणः” के अनुसार इस ग्रन्थ के नाम की सार्थकता में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। यह ग्रन्थ अपनी मौलिकता तथा उपादेयता के कारण प्रत्येक आयुर्वेद विद्यालय के पाठ्यक्रम में स्थान पाने का अधिकारी है। ग्रन्थकार महोदय ने अपनी इस सफल एवं सुन्दरतम कृति के द्वारा आयुर्वेद-विज्ञान तथा जनता की अनुपम सेवा की है, उसके लिए वे सर्वथा धन्यवाद के पात्र हैं।

— — — — —

श्री० महन्त बाबा पूर्णदासजी उदासीन—सदस्य-गवर्नमेड आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड—हैदराबाद (दक्षिण)।

चिकित्सा तत्त्वप्रदीप प्रथमखण्ड और द्वितीय खण्डका अवलोकन कर बड़ी प्रसन्नता हुई। यह ग्रन्थ अपने नामसे बढ़कर काम करेगा। आयुर्वेदिक साहित्यमें तथा हिन्दी रचनामें अत्युत्तम और अनुपम है। इस ग्रन्थके भीतर प्राचीन-अर्वाचीन, पौराण्य-पार्श्वत्य पद्धतियोंका

तुलनात्मक समावेश कर आयुर्वेदकी उपादेयता की सफल चेष्टा की गई है। आयुर्वेद-संसारमें इस शैलीका ग्रन्थ नहीं था। लेखकने इस कमीको पूरा कर आयुर्वेद-प्रेमियोंको ऋणी बना दिया है। मैं लेखकको इस सफल प्रयत्नके लिये हार्दिक बधाइया देता हूँ; तथा आयुर्वेद प्रेमी साधु-मन्यासी, गृहस्थी, विद्यार्थी, उपाध्याय और वैद्य बान्धव प्रत्येक सज्जनोंको पढ़नेकी सम्मति देता हूँ। एवं प्रत्येक आयुर्वेद शालाओंके पाठ्यक्रममें इस पुस्तकका सम्मिलित कर लेनेकी जोरदार सिफारिश करता हूँ। यह ग्रन्थ आयुर्वेदीय साहित्य में सफलता का मुख्य स्रोत है।

— — —

श्री पं० राधाकृष्णजी द्विवेदी, भिरगाचार्य, प्रिंसिपल-निजाम गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद।

चिकित्सा तत्त्व प्रदीप के दोनों खण्ड देखकर मुझे अति हर्ष हुआ—लेखक ने “यथा नाम तथा गुण” कहावत को चरितार्थ कर दिया—भगवान् धन्वन्तरिजी की कृपा से आयुर्वेद-साहित्य-भण्डार की वृद्धि दिन-दूनी रात-चैगुनी जैसी हो रही है, परच यह ग्रन्थ इस भण्डार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

प्रदीप-प्रकाश का प्रतीक है जो आयुर्वेद-विद्यार्थी, रसिक वैद्य, धुरन्धर विद्वान् और चिकित्सक गण को उत्तरोत्तर लाभप्रद होने के अतिरिक्त निश्चय ही ऐलोपैथी चिकित्सकों को आयुर्वेदीय पथ-प्रदर्शन करेगा, यह मेरी धारणा है।

जहाँ रोग निर्णय करने में प्राचीन अर्वाचीन दोनों शैलियों को अपनाया है वहाँ आयुर्वेदीय चिकित्साक्रम को ही श्रेष्ठतम सिद्ध करने की सफल चेष्टा की गई है अतः ग्रन्थ उत्तम और सग्रहणीय तथा आयुर्वेद-कालेज, महाविद्यालय, पाठशालाओं के पाठ्य ग्रन्थों में स्थान पाने योग्य एवं आदरणीय है। एतदर्थ लेखक महात्मा और प्रकाशक सज्जन वैद्य जगत् से धन्यवादाहैं हैं।

— — —

श्री० शिववल्लभजी कविराज, प्रथमाध्यापक—निजाम आयुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद ।

श्री कृष्णगोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय कालेड़ा बोगला ने तो आयुर्वेद-सेवा में इस महायुद्धकाल में भी आयुर्वेद-ग्रन्थ-प्रकाशन का एकतन्त्रता से संचालन करके चमत्कार ही कर डाला है, और इसका सारा श्रेय श्रद्धेय पूज्यपाद स्वा० कृष्णानन्दजी महाराज को है । चिकित्सातत्त्वप्रदीप के बिना कोई भी नूतन चिकित्सक अपने मार्ग में ठोकरें खाये बिना नहीं रह सकता, और प्राणियों को ठोकरें खाने से बचाना यह महान धर्म कार्य है । 'प्रदीप'—प्रकाश पुञ्ज है और रहस्योद्घाटन मे—चिकित्सापथमें परम श्रेयस्कर है । कई जगह भाषा पर व नाम संस्करण में प्रान्तीयता की छाप है, परन्तु समझने में अधिक कठिनाई किसी-किसी स्थान पर ही पड़ती । इसी प्रकार यदि प्रचलित डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा आदि की परिभाषा से लाभ उठाया जाता तो पाश्चात्य चिकित्सा व शारीर सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की नवीन ही रचना न करनी पड़ती । इन बातों को छोड़कर उक्त प्रदीप सभी के लिये और विशेषतया वैद्यक विद्यार्थियों एवं वैद्यों व नूतन चिकित्सकों के लिये अत्यन्त लाभदायक तथा आयुर्वेद के नूतन साहित्य में एक अनुसमेय वृद्धि है । श्री स्वामीजी महाराज, ठाकुर नाथूनिहजी तथा सस्था पूरे आयुर्वेद जगत् से धन्यवाद के पात्र हैं । भगवान् आयुर्दा-धन्वन्तरि इन प्रयत्नों को चिरायु करे ।

वैज्ञानिक विचारणा (औषध-गुण-धर्म-विज्ञान)

‘वैज्ञानिक विचारणा’ आयुर्वेद के हिन्दी-पाठकों के लिये एक अपूर्व और अत्युपयोगी पुस्तक है। इस पुस्तक में औषध-गुण, औषध-परिणाम और व्याधि-प्रतीकार, इन तीन विषयोंकी मुख्य रूप से तथा इतर सहायक विषयोंकी गौण रूप से विचारणा की है।

(१) औषध-गुण—किन-किन रोगों में किन-किन औषधियों का प्रयोग किस हेतु से और कैसे करना चाहिये ?

(२) औषध-परिणाम—औषधि के साक्षात्-परम्परा परिणाम; स्थानिक दूरवर्त्ती परिणाम; भौतिक, रासायनिक और जीवनीय परिणाम, भौतिक परिणाम के शोषण, आवरण, तरलकरण ये त्रिविध भेद; परम्परागत परिणाम के विविध भेद आदि-आदि बातों का विज्ञान के नियमानुसार सूक्ष्म रूप से विचार किया है।

(३) व्याधि प्रतीकार—औषध सेवन करने पर देह में होने वाले अपतर्पण, संतर्पण, प्रवाहीकरण, संशोधन, कारण प्रतीकार, रोग-दमन, परिवर्तन, उत्तेजना, प्रत्युग्रता, रासायनिक प्रभाव, यान्त्रिक प्रभाव आदि विविध परिणामों की प्राप्ति सम्बन्धी नियम दर्शाये हैं।

संक्षेप में इस पुस्तकमें चिकित्सा में सहायक बातों का युक्ति-पूर्वक वैज्ञानिक शैली से शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल ही विचार किया है। अतः यह पुस्तक आयुर्वेद के विद्यार्थीवर्ग के लिये शिक्षाप्रद, नव्य चिकित्सकों के लिये चिकित्सा-पथ-प्रदर्शक, आयुर्वेदानुरागियों के लिये ज्ञानवर्द्धक और रोगियों के लिये

आरोग्य प्राप्ति की कुञ्जी रूप है। अनेक विद्वान् चिकित्सको ने इस पुस्तक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

मूल्य—२० × ३० साइज का १६ पेजी आकार, २८ पौण्ड का ग्लेज पेपर, पृष्ठ-संख्या ३२० होने पर भी मूल्य १।।) रु०। पोस्टेज ७ आने अलग।

चिकित्सातत्त्वप्रदीप (प्रथम खण्ड)

इस प्रथम खण्डमें ६ प्रकरण हैं। १-उपोद्वात । २-रोग परीक्षा प्रकरण । ३-शरीर शुद्धि प्रकरण । ४-चिकित्सा-सहायक प्रकरण । ५-ज्वर प्रकरण और ६-पचनेन्द्रियसंस्था-व्याधि प्रकरण ।

उपोद्वात प्रकरणमें रोगविनिर्णयार्थ, निदानपञ्चक, वातादि दोषो के गुण और चिकित्सा सम्बन्धी महत्त्वके विचार दिये हैं।

द्वितीय प्रकरण में आयुर्वेदिक अष्टविध परीक्षा और विविध प्रकारकी डाक्टरों परीक्षाएँ विस्तारपूर्वक, सरल भाषामें लिखी हैं।

तृतीय प्रकरण में सब प्रकार के नये और पुराने रोगों को जड़ मूलसे नष्ट करने के लिए वमन, विरेचन, वस्ति आदि शोधन विधियाँ दी हैं। साथ-साथ डाक्टरों विधि भी लिखी है।

चतुर्थ प्रकरण में अनुपान, पथ्यापथ्य, षड्रास-गुण-दोष विचार, परस्पर प्रतिकूल पदार्थ, औषध-मात्रा आदि चिकित्सा-कार्य में सहायक सभी आवश्यक बातों का संग्रह किया गया है।

पञ्चम प्रकरण में प्राचीन आचार्यों द्वारा दिये हुए और वर्तमान में सक्रामक रूप से उत्पन्न हुए सब प्रकार के ज्वर रोगों के आयुर्वेदिक और डाक्टरों निदान तथा अनुभूत चिकित्सा लिखी गई हैं।

पष्ठ प्रकरण में पचनेन्द्रिय संस्था की व्याधियाँ—अतिसार पेचिश, संग्रहणी, अर्श, अजीर्ण, कोष्ठवद्धता, कृमि आदि का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर आयुर्वेदिक पारिभाषिक शब्दों का डाक्टरी अर्थ लिखा है। जिनकी संख्या लगभग १००० से अधिक है। एवं शारीरिक अवयवों के १७ चित्र आर्टपेपर पर इकरंगे, दोरंगे और तीनरंगके दिये हैं। रोग-सम्प्राप्ति के वर्णनमें अवयवों के स्थान, कार्य, स्वरूप आदि का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ को अधिक से अधिक सरल, सर्वोपयोगी और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया है।

मूल्य—डिमाई अठ पेजी आकार, २० पौण्डका ग्लेज कागज, पृष्ठ संख्या ८५० होनेपर भी मूल्य अजिल्द का रु० ५) और सजिल्द का ५।।), पोस्टेज ।।।—) अलग।

आयुर्वेदिक प्रयोगों के सारसंग्रहरूप अनुभूत ग्रन्थ

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह

(संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण)

इस ग्रन्थ में भस्म, रसायन, गुटिका, चूर्ण, काथ, आसव, अरिष्ट, पाक, अवलेह, घृत, तैल, अञ्जन, लेप, मलहम आदि सब प्रकार की ओषधियों के अनुभूत प्रयोग दिये हैं। सैकड़ों बार के अनुभूत प्रयोग भी दिल खोलकर लिख दिये हैं। ओषधि बनाने की विधि खूब समझा-समझा कर लिखी है; एवं ओषधियों का गुण-विवेचन भी विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अन्तमें रोगानुसार औषध-सूची में उपद्रव-भेद और वातादि दोष-भेद से औषध-भेद दिखाये गये हैं।

मूल्य—डिमाई अठपेजी पृष्ठ संख्या ६०० होने पर भी मूल्य अजिल्दका ५) और सजिल्दका ५।।)। पोस्टेज ।।।—) अलग।

नोट—कृष्ण गोपाल धर्मार्थ औषधालय की रसायनशाला में उक्त ग्रन्थ में लिखे प्रयोगों के अनुसार ही औषधियाँ तैयार कराई जाती हैं।

ग्रन्थ-प्रकाशन और औषध-विक्रय

इस संस्था की ओर से ग्रन्थों का प्रकाशन और औषध-विक्रय ये दोनों कार्य सेवा-भाव से किये जाते हैं। इस हेतु से प्रत्येक वस्तु का मूल्य भरसक कम रक्खा है, और भविष्य में परिस्थिति अनुकूल होने पर और भी कम किया जायगा। हमारे ग्रन्थों का अन्य भाषाओं में कोई भी चिकित्सक अनुवाद कराना चाहेंगे, तो सहर्ष निःस्वार्थ भाव से अनुमति दी जायगी। इतना ही नहीं, भविष्य में कदाच किसी कारण से कृष्ण-गोपाल धर्मार्थ औषधालय द्वारा ग्रन्थ प्रकाशन बन्द हो जाय, तो कोई भी धर्मार्थ संस्था हमारे ग्रन्थों को प्रकाशित करा सकती है। हमारी ओर से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं किया जायगा।

हमने औषध प्रयोगों में से अभी तक एक भी प्रयोग गुप्त नहीं रक्खा; और भविष्य में भी प्रयोग छिपाये नहीं जायेंगे। प्रयोग-विधि गुप्त रखने से उनका इच्छानुसार दस-बीस गुना या अधिक मूल्य मिल सकता है, परन्तु ऐसा करने में आयुर्वेद साहित्य को और देश को हानि पहुँचती है। अतः इस नियम के सम्बन्ध में हमने अन्य फार्मिसियों का अनुकरण नहीं किया और न भविष्य में करेंगे। यह धर्मार्थ संस्था महाप्रभु कल्याण-राय की है। वे यदि इस संस्था को निभाना चाहते हैं, तो इसके संचालक वर्ग के हृदय में विशालता और सत्यपालन में दृढ़ता प्रदान करेंगे। ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

रसायन

[५]

भस्म, रसायन आदि औषधियाँ

इस धर्मार्थ औषधालय में से सब प्रकार की औषधियाँ मूल्य से बाहर भेजी जाती हैं। 'रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह' में लिखे हुए और 'चिकित्सातत्त्वप्रदीप' में आये हुए प्रयोग—भस्म, कूपीपक रसायन, पर्पटी, खरलीय रसायन, गुटिका, चूर्ण, कषाय, आसव, अरिष्ट, अर्क, शर्बत, पाक, अवलेह, घृत, तैल, अञ्जन, क्षार, लेप, मलहम आदि तथा शोधित द्रव्य और बनौ-षधियाँ एवं खनिज द्रव्य सब उचित मूल्य पर बाहर ग्राहकों को भेजे जाते हैं। मूल्य सूचीपत्र में देखें।

यह औषधालय किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। साथ ही यह व्यापार के लिये नहीं; बल्कि गरीबों की सेवा के लिए स्थापित हुआ है। किसी का निजी स्वार्थ न होकर पार-मार्थिक कार्य होने से यहाँ पूर्ण सत्यता-पूर्वक व्यवहार किया जाता है। सब औषधियाँ शास्त्रोक्त विधि अनुसार ही तैयार की जाती हैं, इसी हेतु से वे शास्त्रों में लिखे अनुसार पूरा-पूरा लाभ पहुँचाती हैं। औषधि और पुस्तक-विक्री में जो नफा होता है; उसका उपयोग दीन-दुःखी जनों की सेवा में ही किया जाता है। अतः इस औषधालय से औषधि खरीदने में चिकित्सकों और रोगियों को शास्त्रोक्त विधि से बनो हुई सच्ची औषधियाँ मिल जाती हैं; साथ-साथ वे परोक्ष रूप से गरीबों की सेवा में सहायता पहुँचा कर पुण्यके भागी भी होते हैं।

सब प्रकार के पत्र व्यवहार का पता—

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,

पो० कालेड़ा-बोगला (जिला अजमेर)-

